भारतीय

मध्ययुग का इतिहास

(१२००—१५२६ ई०)

लेखक

ईश्वरीप्रसाद एम० ए०, डी० लिट्०,

भूतपूर्व अध्यापक इतिहास तथा अध्यक्ष राजनीति विभाग एवं
इमैरिटस प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय, इतिहास शिरोमणि
(नैपाल), सदस्य विधान परिषद् उत्तर प्रदेश

प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

१९६८

मूल्य ११·०० रु०

प्रकाशक :
पी० एन० माथुर
इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग

मुद्रक :
पी० एल० यादव
इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग

विषय-सूची

भूमिका — क
प्रस्तावना — १–२
विषय-प्रवेश — ३–१७
मध्ययुगीन इतिहास के मूल स्रोत .. — १८–३०

प्रथम अध्याय

मुसलमान-आक्रमणों से पूर्व का भारत

उत्तर-भारत की दशा—काश्मीर; कन्नौज; अजमेर; चंदेल-वंश; मालवा के परमार; गुजरात के सोलंकी; विहार और बंगाल के पाल व सेन-वंश; राजपूतों की उत्पत्ति; धार्मिक-संघर्ष; कला और साहित्य; सामाजिक जीवन; राजपूत-शासन-प्रणाली; भारत में एकता का अभाव। — १–४८

दक्षिण-भारत के राज्य—चालुक्य-वंश; राष्ट्रकूट-वंश; कल्याणी का चालुक्य-वंश; सुदूर-दक्षिण।

द्वितीय अध्याय

मुसलमानों के आक्रमण

अरब-आक्रमण; सिन्ध पर मुहम्मदबिनकासिम का आक्रमण, ७१२ ई०; मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु; सिन्ध पर अरब-आधिपत्य; अरबों की विजय का अस्थायित्व; अरबों की विजय का संस्कृति पर प्रभाव।

तृतीय अध्याय

गजनी-वंश का अभ्युदय

तुर्क-आधिपत्य का प्रारम्भ; सुबुक्तगीन का आधिपत्य; उसके भारत पर आक्रमण; द्वितीय आक्रमण; महमूद के प्रारम्भिक प्रयास; राजसत्ता में क्रान्ति; महमूद के आक्रमण; वाहिन्द-नरेश जयपाल पर आक्रमण; भीरा तथा अन्य नगरों पर आक्रमण; आनन्दपाल पर आक्रमण; नगरकोट की विजय (१००८-९ ई०); उसकी निरन्तर विजयों के कारण; थानेश्वर पर आक्रमण; कन्नौज की विजय; चन्देल-शासक की पराजय; सोमनाथ पर

पृष्ठ

आक्रमण; जाटों पर आक्रमण; महमूद की सफलताएँ; महमूद का चरित्र; अलबरूनी का भारत-वृत्तांत।

चतुर्थ अध्याय

गजनी-वंश का पतन

मसऊद और उसकी राजसभा; हिन्दुस्तान के विजित प्रदेशों की स्थिति; अहमद नियाल्तगीन; हांसी दुर्ग पर अधिकार; मसऊद का भारत की ओर पलायन; मसऊद के निर्बल उत्तराधिकारी तथा सलजूक तुर्कों का उत्कर्ष; साम्राज्य की समाप्ति। १०३–१२२

पाँचवाँ अध्याय

भारत पर विजय तथा दास-वंश का अभ्युदय

मुहम्मद के भारतीय अभियान; पृथ्वीराज की पराजय; कन्नौज की विजय; बिहार की विजय; बंगाल की विजय; कालिंजर की विजय; परिस्थितियों ने पलटा खाया; मुहम्मद गोरी का चरित्र; कुतुबुद्दीन ऐबक का सिंहासनारोहण; कुतुबुद्दीन की विजयें; शासक के रूप में कुतुबुद्दीन; ऐबक के देहान्त के बाद अव्यवस्था। १२३–१४५

छठा अध्याय

दास-वंश के शासन का विस्तार तथा संघटन

इल्तुतमिश का सिंहासनारोहण; प्रतिद्वंद्वियों का दमन; चंगेज खाँ का आक्रमण; इल्तुतमिश की विजयें; कुबाचा का पराभव; खलीफा द्वारा अधिकार की स्वीकृति; बंगाल और ग्वालियर की विजय; सफलतापूर्ण जीवन का उपसंहार; इल्तुतमिश का चरित्र; इल्तुतमिश के निर्बल उत्तराधिकारी; सुलतान रजिया का सिंहासनारोहण; सुदृढ़ प्रभुत्व की स्थापना; रजिया की नीति से असंतोष; मलिक इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया का विद्रोह, १२३९ ई०; रजिया की मृत्यु के बाद अव्यवस्था। १४६–१६८

सातवाँ अध्याय

बलबन और उसके उत्तराधिकारी

नासिरुद्दीन महमूद; बलबन का प्रारम्भिक जीवन, विद्रोहो १६९–१९८
..; अन्तिम अभियान; बलबन के साहसिक कार्य; बलबन

का सिंहासनारोहण; शासन की व्यवस्था; शम्सी दासों का दमन; सुदृढ़ शासन-तन्त्र; आततायी मंगोल; तुगरिल का विद्रोह १२७९ ई०; राजकुमार मुहम्मद की मृत्यु; बलबन का व्यक्तित्व; दास-वंश का पतन; मुसलमानों की सफलता के कारण।

आठवाँ अध्याय

खिलजी सैनिक-शासन-तन्त्र का उद्भव और उत्कर्ष

जलालुद्दीन का राज्यारोहण, १२९० ई०; मलिक छज्जू का विद्रोह; मलिक ताजुद्दीन कूची; सीदी मौला को दण्ड; सुल्तान के सामरिक प्रयत्न; अलाउद्दीन का देवगिरि पर अभियान, १२९६ ई०; अलाउद्दीन की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ; मंगोलो का प्रतिरोध; जलाली सरदारों का विनाश; गुजरात की विजय; नव-मुसलमान; सुलतान की विशाल योजनाएँ; रणथम्भौर का घेरा; विद्रोह; रणथम्भौर की विजय; मेवाड़-विजय दक्षिण की ओर—देवगिरि की विजय, (१३०६-७); वारंगल की विजय; द्वारसमुद्र की विजय; मदुरा की विजय; शंकरदेव की पराजय; 'नव-मुसलमानो' का दमन; शासक के अधिकारों के विषय में अलाउद्दीन का सिद्धान्त; विद्रोहों का समूल विनाश; हिन्दुओं के प्रति व्यवहार; सेना का प्रबन्ध और बाजार का नियंत्रण; सुधारों के परिणाम; शासन-प्रणाली की निर्बलता; अलाउद्दीन के कार्यों का मूल्यांकन। १९९–२४५

नवाँ अध्याय

खिलजी साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया तथा तुगलक-वंश के शासन की स्थापना

अलाउद्दीन के शक्तिहीन उत्तराधिकारी; कुतुबुद्दीन मुबारक-शाह; खुसरो का शासन; खुसरो का पतन; गयासुद्दीन तुगलक; वारंगल पर अभियान; गयासुद्दीन का शासन-प्रबन्ध; गयास की मृत्यु; गयासुद्दीन का चरित्र। २४६-२५८

दसवाँ अध्याय

अभागा सिद्धान्तवादी मुहम्मद तुगलक

अभागा सिद्धान्तवादी मुहम्मद तुगलक; शासन-तन्त्र में नये प्रयोग—दोआब में कर-वृद्धि; राजधानी का स्थान-परिवर्तन २५९–२८५

पृष्ठ

(१३२६-२७ ई०); प्रतीक-मुद्रा—१३३० ई०; शासन-प्रबन्ध में उदारता; सुल्तान की विजय की योजनाएँ; मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में उपद्रव—अहसनशाह का विद्रोह; बंगाल में विद्रोह; ऐनुलमुल्क का विद्रोह (१३४०-४१); सिंध में उपद्रवों का दमन; दक्षिण में उपद्रव; सुल्तान का देहांत; मुहम्मद का चरित्र; इब्नबतूता।

ग्यारहवाँ अध्याय

फीरोज तुगलक (१३५१-१३८८ ई०)

फीरोज का प्रारम्भिक जीवन; फीरोज तुगलक का सिंहासनारोहण; फीरोज का व्यक्तित्व; वैदेशिक-नीति—बंगाल का प्रथम अभियान (१३५३-५४ ई०); दूसरा अभियान (१३५९-६० ई०); जाजनगर के राय का दमन; नगरकोट की विजय; थट्टा की विजय (१३६२-६३ ई०); दक्षिण; शासन-प्रबंध के सामान्य सिद्धान्त; सार्वजनिक शासन-प्रबन्ध; राज-कर; नहरों का निर्माण; सेना का प्रबन्ध; दण्ड-विधान, न्याय तथा सार्वजनिक हित के कार्य; दास-प्रथा; मुद्राओं में सुधार; सार्वजनिक हित के कार्य; शिक्षा की उन्नति; राज-सभा एवं राज-परिवार; खानजहाँ मकबूल; फीरोज के अंतिम दिन; फीरोज के कार्यों की समीक्षा। २८६–३२१

बारहवाँ अध्याय

परवर्ती तुगलक-शासक तथा तैमूर का आक्रमण

साम्राज्य के विघटन के कारण; फीरोज के अशक्त उत्तराधिकारी; तैमूर का आक्रमण (१३९८ ई०); दिल्ली की लूट; तैमूर का दिल्ली से प्रयाण; तैमूर के आक्रमण के पश्चात्। ३२२–३३८

तेरहवाँ अध्याय

साम्राज्य का विघटन

(१) छोटे-छोटे राज्यों का उद्भव

मालवा; गुजरात; अहमदशाह (१४११-१४४१ ई०); महमूद बीगड़ (१४५८-१५११ ई०); पुर्तगालियों से युद्ध; सुल्तान की मृत्यु; बहादुरशाह; (१५२७-१५३७ ई०); जौनपुर; बंगाल; खानदेश। ३३९–३६१

चौदहवाँ अध्याय
साम्राज्य का विघटन

(२) बहमनी राज्य

बहमनी-वंश का उदय; प्रथम मुहम्मदशाह; मुजाहिदशाह तथा उसके शक्तिहीन उत्तराधिकारी; फीरोजशाह; अहमदशाह; द्वितीय अलाउद्दीन; हुमायूँ; निजामशाह; तृतीय मुहम्मदशाह; बीदर में एथनेसियस निकितिन का आगमन; सुलतान; अमीर; सुलतान के आखेट; सुलतान का प्रासाद; काञ्ची पर धावा; शासन-प्रबन्ध; महमूद गावान की हत्या; महमूद गावान का चरित्र और उसकी उपलब्धियाँ; बहमनी राज्य का पतन; बहमनी वंश के शासन का सिंहावलोकन। ३६२–४०१

दक्षिण के पाँच मुसलमान राज्य; बरार; बीजापुर; इस्माइल आदिलशाह (१५१०-१५३४ ई०); प्रथम इब्राहीम आदिलशाह (१५३४-१५५८ ई०); अली आदिलशाह (१५५८-८० ई०); द्वितीय इब्राहीम आदिलशाह (१५८०-१६२७ ई०); अहमदनगर; बुरहान निजामशाह और उसके उत्तराधिकारी; गोलकुंडा; बीदर; बहमनी वंश के सुलतानों की तालिका।

पन्द्रहवाँ अध्याय
साम्राज्य का विघटन

(३) विजयनगर-साम्राज्य

विजयनगर-साम्राज्य का उद्भव (१३३६ ई०); प्रारम्भिक शासक; द्वितीय हरिहर; द्वितीय देवराय (१४१९-१४४९ ई०); निकोलो कोण्टी; अब्दुर्रज्जाक का विजयनगर का वर्णन; राय; नगर; सिक्के; नवीन-वंश का उदय; कृष्णदेव राय (१५०९-१५३० ई०); उसकी विजयें; बीजापुर से युद्ध; कृष्ण देवराय और पुर्तगाली; साम्राज्य का विस्तार अवनति का काल; सदाशिव राय; विशाल-संघ; तालीकोट का युद्ध (१५६५ ई०); विजयनगर की लूट; तालीकोट का युद्ध—एक निश्चयात्मक युद्ध; नवीन शासक-वंश; विजयनगर की शासन-प्रणाली; शासन-प्रणाली का स्वरूप; राजा और मन्त्रि-परिषद्; राजसभा; प्रांतीय ४०२–४४२

पृष्ठ

शासन; स्थानीय-शासन; अर्थ-व्यवस्था; न्याय-व्यवस्था; सेना; सामाजिक दशा।

सोलहवाँ अध्याय

शक्तिहीन शासकों का युग

परिस्थिति; खिज्र खाँ (१४१४-१४२१ ई०); मुबारक-शाह (१४२१-१४३४ ई०); दोआब में अभियान; जसरथ खोखर का पुन. दमन; पौलाद का विद्रोह; सुलतान के विरुद्ध षड्यन्त्र; मुबारकशाह के उत्तराधिकारी; अलाउद्दीन आलम-शाह—हि० स० ८४९ (१४४५ ई०)। ४४३–४५६

सत्रहवाँ अध्याय

अफगान साम्राज्य—उत्थान और पतन

साम्राज्य का विघटन; बहलोल का शक्ति-संचयन; प्रातो पर अधिकार; जौनपुर से युद्ध; बहलोल की उपलब्धियाँ; सिकंदर का सिंहासनारोहण; जौनपुर से युद्ध; जौनपुर तथा सुलतान हुसैन के विरुद्ध; अफगानों के विरुद्ध; छोटे-छोटे विद्रोह; आगरा की स्थापना; आगरा में भूकम्प; शासन के अन्तिम वर्ष; शासन-प्रबन्ध; सिकन्दर का व्यक्तित्व; अफगान शासन-तन्त्र का स्वरूप; सस्ते भाव; राजकुमार जलाल का विद्रोह; आजम हुमायूँ के विरुद्ध; मेवाड़ के साथ युद्ध; इब्राहीम और अफगान सरदार। ४५७-४८८

अठारहवाँ अध्याय

पूर्व मध्यकालीन समाज और संस्कृति

भारत में इस्लामी राज्य; जनता पर प्रभाव; सामाजिक दशा; आर्थिक दशा; कला; साहित्य; धार्मिक-सुधार—भक्ति-आन्दोलन; पूर्व-मध्यकाल अंधकार-युग नहीं था। ४८९–५५३

प्रमुख तिथियाँ; ५५४–५५७
दिल्ली के सुलतान ५५८–५५९
उद्धृत ग्रन्थों की सूची ५६१–५७०
सम्मतियाँ और समालोचनाएँ ५७१–५७६

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में पाठकों को भारतीय मध्य-युग के इतिहास का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। डा० स्टानले लेनपूल ने लिखा है कि मध्य-कालीन भारत का इतिहास राजाओं, उनके दर्बारों तथा युद्ध-विजयों का विवरण-मात्र है, यह राष्ट्रीय विकास का इतिहास नहीं है। यदि हम इतिहास का क्षेत्र उन संस्थाओं के विकास तक ही सीमित कर दें, जिन्हें आज सार्वजनिक संस्थाएँ समझा जाता है तो लेनपूल महोदय का यह कथन सर्वथा उचित प्रतीत होगा। विस्तृत अर्थ में इतिहास मानव जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है और यदि हम इस अर्थ को ग्रहण करें तो मध्यकालीन भारत का इतिहास भी केवल राजदर्बारों के घात-प्रतिघातों तथा अन्तःपुर के गुप्त षड्यन्त्रों की कथा न रहकर विजयों तथा शासन के क्षेत्र में महान् सफलताओं का और सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों का इतिहास बन जायगा।

अँगरेज विद्वानों के ग्रंथ हमारे देश में पढ़े जाते थे। एलफिन्स्टन का भारतीय इतिहास और लेनपूल का माध्यमिक भारत आजकल के विद्यार्थियों के लिए पर्याप्त नहीं है। एलफिन्स्टन का इतिहास फिरिश्ता के ग्रन्थ पर आधारित था और लेनपूल ने बहुत कुछ सामग्री इलियट डाउसन के इतिहास से ली थी। दोनों विद्वानों का प्रयास प्रशंसनीय है। भारतीय विद्यार्थी उनके बहुत आभारी हैं। परन्तु अब भारतीय तथा अन्य विद्वानों ने बहुत सी खोज की है और अनेक नये ग्रन्थों का पता लगाया है।

इस पुस्तक को प्रस्तुत करने में मैंने मुख्य तथा मूल-ग्रन्थों का आश्रय लिया है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर नया प्रकाश डाला गया है और पाठकों के लिए बहुत सी सामग्री ऐसी जुटा दी है जो अभी तक दुष्प्राप्य थी। इसके लिए अरबी, फारसी, संस्कृत तथा अँगरेजी के अनेक ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। यह कहना तो धृष्टता होगी कि मैंने पूर्ववर्ती इतिहासकारों की भूलों को शुद्ध किया है परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि मेरे कुछ निष्कर्ष पूर्ववर्ती इतिहासज्ञों से भिन्न हैं और मैंने उपलब्ध तथ्यों का भली भाँति विवेचन करके वास्तविक तथ्यों के आधार पर अपनी सम्मति प्रकट की है।

इतिहास का उद्देश्य सत्य की खोज करना है। इतिहासकार को अपने कार्य में एक वैज्ञानिक की सी उद्वेग-विहीन जिज्ञासा के साथ जुट जाना चाहिए। किसी एक पक्ष का पृष्ठ-पोषण करना इतिहासकार का काम नहीं है। इतिहासकार न तो दलबन्दी में पड़नेवाला राजनीतिज्ञ है और न किसी दल का प्रचारक हो। उसका कर्त्तव्य है कि वह निष्पक्ष भाव से उपलब्ध तथ्यों का यथार्थ वर्णन कर दे और उनकी सच्ची व्याख्या करे। मैंने इसी सिद्धान्त का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। व्यक्तियों अथवा घटनाओं का वर्णन करने में मैंने बद्धमूल धारणाओं राजनीति या राष्ट्रीयता को नैतिकता के सामने धूमिल नहीं होने दिया है। अपितु किसी की स्तुति अथवा आलोचना करने से पहले परिस्थितियों

पर पूर्ण विचार किया है और उन्हें यथार्थ रूप में पाठकों के समक्ष रख देने का प्रयत्न किया है। मुझे आशा है कि मैंने न किसी की असंगत प्रशंसा की है और न किसी के प्रति विद्वेष से प्रेरित होकर ही कुछ कहा है। ऐतिहासिक सत्य के उच्च आदर्शों को मैंने अपने सम्मुख रखने का निरन्तर प्रयास किया है।

इस पुस्तक के कई संस्करण हो चुके हैं। फ्रांसीसी भाषा में भी इसका अनुवाद हो चुका है जिसके कारण योरोपीय विद्वान् भी इससे परिचित हो गये हैं। इसके प्रकाशित होने के बाद कई ग्रन्थ मध्यकाल के इतिहास पर लिखे गये हैं और ऐतिहासिक अन्वेषण की भी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों का अवलोकन कर बहुत सी ऐतिहासिक भूलों को शुद्ध कर दिया है और नया दृष्टिकोण हमारे सामने उपस्थित किया है। इस संस्करण में विद्यार्थियों की सुविधा के लिए फारसी के प्रधान ग्रन्थों का आलोचनात्मक वर्णन भी कर दिया गया है जिससे मध्यकालीन इतिहास के स्रोतों का पता लगेगा। इसके अतिरिक्त नई खोज के परिणामों का भी उपयोग किया गया है और बहुत सी नई बातों का समावेश किया गया है। पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है। मुझे आशा है कि अब भी विश्वविद्यालयों तथा कालेजों के विद्यार्थी और इतिहास में रुचि रखनेवाले सज्जन इसके अध्ययन से लाभ उठायेंगे।

यदि यह पुस्तक विद्यार्थियों को मूल-इतिहासकारों तक ले जा सकी और उन्हें इतिहास के वास्तविक तथ्य का महत्व समझा सकी तो मैं अपने परिश्रम को पुरस्कृत समझूंगा। ऐतिहासिक घटनाओं के वास्तविक महत्त्व का परिज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक हम स्वयं को उस काल में न ले जायँ जिसमें ये घटित हुईं और जब तक हम उन सम-सामयिक इतिहासकारों के हृदय एवं बुद्धि में प्रवेश न कर लें जिन्होंने महान् व्यक्तियों एवं घटनाओं का आँखों देखा वर्णन किया है। सम-सामयिक इतिहासकारों की आँखों से तत्कालीन घटनाओं को देखने की योग्यता वास्तविक एवं वैज्ञानिक ऐतिहासिक गवेषणा की सर्वप्रथम आवश्यकता है। इस लक्ष्य तक यह पुस्तक पहुँच गई है यह तो नहीं कहा जा सकता परन्तु इस दिशा में यह एक प्रयास अवश्य है।

हिन्दी संस्करण को तैयार करने तथा प्रकाशित कराने में लखेडाजी से बड़ी सहायता मिली है। इसके लिए मैं उनका विशेष आभारी हूँ।

प्रयाग
ता० १० जून १९६८

—लेखक

प्रस्तावना

मैंने श्री ईश्वरीप्रसादजी के 'मध्यकालीन भारत का इतिहास' का प्रथम भाग बड़े चाव से पढ़ा है। मेरी इस रुचि का कारण केवल ग्रन्थ की पात्रता ही नहीं है, अपितु यह भी कि ग्रन्थकार मेरे पुराने मित्र है। जब मैं 'ऑल सोल्स' से प्रयाग विश्वविद्यालय में आधुनिक भारतीय इतिहास के विभाग का संघटन करने के लिए आया था तो मैंने यथाशीघ्र उन अनेक विद्यालयों में इतिहास-शिक्षण के निरीक्षण का सुयोग प्राप्त किया था, जो तब इस विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे। जब मैं आगरा गया तो वहाँ मैं आगरा कॉलेज के एक अध्यापक श्री ईश्वरीप्रसादजी के उत्साह एवं अध्यवसाय से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। सचमुच ही मैं इनसे इतना प्रभावित हुआ कि मैंने इन्हें यथाशीघ्र उस विभाग के गवेषणा-मडल में सम्मिलित कर लिया, जिसका मैं उस समय संघटन कर रहा था। दुर्भाग्यवश, कुछ ऐसी परिस्थितियाँ, जिन पर मेरा कोई अधिकार न था, मुझे थोड़े समय पश्चात् ही इलाहाबाद से खींच ले गईं, जिससे मुझे अपने नये-पुराने सहयोगियों से विदा लेनी पड़ी। परन्तु इस बीच मैं श्री ईश्वरीप्रसादजी का कार्य इतने पर्याप्त रूप से देख चुका था कि मैंने अनुभव किया कि इनकी कुशाग्रता और इनके अध्यवसाय के विषय में मैंने जो अच्छी धारणा बना ली थी, वह अधिक घनिष्ठ परिचय से पूर्णतः सत्य सिद्ध होती थी। सचमुच ही, सभवतः मुझे यह कहने का अधिकार है कि कुछ सीमा तक यह हमारे सम्पर्क का ही फल है कि उन्हे उस परिश्रम-साध्य एवं जटिल अध्ययन में धैर्यपूर्वक जुटे रहने का उत्साह मिला, जो इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय इतिहास के अध्यापकों की बहुत समय से यह शिकायत रही है कि अंडर-ग्रेजुएट कक्षाओं के लिए उपयुक्त पुस्तकों की भारी कमी है। जहाँ तक मध्यकालीन भारत का प्रश्न है, वहाँ यह बात विशेष रूप से लागू होती है। ऐसी कुछ सुन्दर रूपरेखाओं को छोड़कर जैसी कि डॉ० लेनपूल ने हमें दी है, अब तक प्रारम्भिक पाठ्य-पुस्तकों और भारी भरकम ग्रन्थों के बीच एक बहुत बड़ी खाई रही है, जो अब तक भरी न गई थी। इन दोनों श्रेणियों की रचनाएँ उन विद्यार्थियों के अधिक उपयुक्त नहीं हैं, जो पाठ्य-पुस्तक को त्यागने की इच्छा तो रखते हैं, परन्तु जो अभी विशेषज्ञ की विस्तृत गवेषणाओं में प्रवेश करने के लिए तैयार नहीं है। मेरे विचार से प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमुख

विशेषता इस खाई को पाटने की उपयुक्तता में, तरुण विद्यार्थी के सम्मुख विषय का उसकी पिछली पढ़ी हुई पुस्तकों से अधिक विस्तृत सामान्य विवरण उपस्थित करने में तथा उसके लिए एक ऐसा पुल बना देने में है, जिससे होकर वह विषय के विशेष ज्ञान के लक्ष्य तक पहुँच सके। ऐसे वांछनीय ध्येय को सफलतापूर्वक प्राप्त कर लेना बहुत कठिनाई का काम है; मेरे इस कथन का यह अर्थ न लगाया जाय कि मैं किसी भी रूप में भारतीय इतिहास के उन अध्यापकों के निर्णय को प्रभावित करना चाहता हूँ, जो श्री ईश्वरीप्रसादजी के इस प्रयास की सफलता या विफलता का निर्णय करने के लिए सर्वाधिक योग्य अधिकारी हैं। वे और केवल वे ही देख पायेंगे कि यह ग्रन्थ उनके विद्यार्थियों की सीमा के अन्दर है या नहीं अथवा ग्रन्थकार ने आलोचना की जो विधि अपनाई है—जो मेरी सम्मति में निर्दोष है—उसको उनके युवा विद्यार्थी समझ पाते हैं या नहीं। मैं इतना कहकर ही संतुष्ट हो जाऊँगा कि श्री ईश्वरीप्रसाद ने ऐतिहासिक विवेचना का प्रशंसनीय ज्ञान प्रदर्शित किया है; वे अपने निष्कर्षों को साहस और विश्वासपूर्वक प्रस्तुत करते हैं; उन्होंने उपलब्ध सामग्री की विवेचनापूर्ण जाँच-पड़ताल के बाद ही पूर्व-स्वीकृत निष्कर्षों का त्याग किया है। जहाँ वे अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की बहुत कुछ स्वतन्त्रतापूर्वक आलोचना करते हैं वहाँ साथ ही कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने ऐतिहासिक वाद-विवाद के नीरस जंगल में नवजीवन का संचार कर दिया है। उनके कुछ ऐसे निष्कर्षों का, जिनके विषय में प्रत्येक अधिकारी विद्वान् व्यक्तिगत निर्णय रखना चाहेगा जैसा कि मैं स्वयं भी चाहता हूँ, समर्थन अथवा पृष्ठपोषण किये बिना मैं इस ग्रंथ को उन सभी के सामने हार्दिक प्रशंसा सहित प्रस्तुत करते हुए सन्तोष का अनुभव करता हूँ जो भारतीय इतिहास के अध्ययन और अध्यापन में रुचि रखते हैं।

शिमला — एल० एफ० रशब्रुक विलियम्स

मई ४, १९२५

विषय-प्रवेश

प्रसिद्ध इतिहासकार एँडवर्ड ऑगस्टस फ्रीमॅन इतिहास की तात्विक एकता पर बहुत बल देते थे। इस बात से तो कोई इनकार नहीं कर सकता कि मानव जाति के कार्यों में एक प्रकार की निरन्तरता है और इतिहास का एक काल दूसरे काल के साथ अविच्छेद्य रूप से सम्बद्ध है। उग्र परिवर्तन कभी-कभी ही होते हैं और एक युग अदृष्ट रूप से दूसरे में परिणत हो जाता है। प्रायः ऐसा होता है कि संक्रान्ति-काल में महत्त्वपूर्ण घटनाओं के वास्तविक प्रणेता, इतिहास के रगमंच के यथार्थ अभिनेता, अपने अभिनय के महत्व को नहीं समझ पाते। वे कार्यों में इतने गहरे डूबे रहते है, अपने अभिनय और प्रयासों में इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें स्वयं अपने उद्योगों से प्रवर्तित परिवर्तनों का आभास ही नही होने पाता। क्रान्ति उठ खड़ी होती है; हमारी सामाजिक और राज-नीतिक स्थितियाँ बदल दी जाती है; निरंकुश शासन के स्थान पर स्वतंत्रता आ विराजती है; कट्टरता का स्थान उदार विश्वजनीन भावनाएँ ग्रहण कर लेती है; हमारे विचार और आदर्श नये रूप में ढाले जाने के लिए नये साँचों में जा पड़ते हैं, और तब भी हम नही देख पाते कि जिस धरती पर हम खड़े है, वह शायद हमारे ही द्वारा बदली जा रही है। हम अनजाने में ही महान् क्रान्तियों के सचालक और जन्मदाता बन जाते है और हम उस प्रभाव के विस्तार को शायद ही कभी अनुभव कर पाते हैं जो हम अपने युग पर डाल रहे होते हैं और जो हमारा युग हम पर फैला रहा होता है। ऐसे अवसर भी कम नहीं होते जब हम उन असंख्य नर-नारियों के विषय में विचार किये विना ही, जिन्होंने असीम परिश्रम और धैर्य से सामाजिक और राजनैतिक पुनरुत्थान का महान् कार्य सम्पन्न किया है और जिन्होंने अनेकानेक प्रकार से उस युग को गौरवान्वित किया है जिसमें हम रह रहे हैं, अपने महान् मानवीय रिक्थ का उपभोग करने लगते हैं और सामाजिक विकास के फलों का आनन्द लेने लगते हैं। योरोपीय सभ्यता के इतिहास में ऐसे असंख्य उदाहरण मिलते है जो नॉर्मन-विजय के इतिहास के यशस्वी लेखक फ्रीमॅन के ऊपर उल्लिखित सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। अठारहवी शताब्दी की फ्रांस की राज्य-क्रान्ति अपने समस्त अश्रुओं, मर्मवेदनाओं, मृत्यु-विभीषिकाओं, विनाश-लीलाओं और आदर्शों के घात-प्रतिघातों सहित, रिशल्यू और चौदहवें लुई की नीति में गहरी जड़ें फैलाये हुए थी। भूतकाल में फ्रांस का शासक-वर्ग प्रजा के साथ इतने घोर

अत्याचार कर चुका था कि त्यूरगो ने फ्रांस के पतनोन्मुख शासक-तंत्र में नवजीवन का संचार करने के जो अनवरत कल्याणकारी प्रयत्न किये, दाँतों ने इसके लिए जितनी सूझ-बूझ से काम लिया और अन्ततः यह कहते हुए फाँसी के तख्ते पर झूल गया कि 'मनुष्यों के शासन में दिमाग रगड़ने से तो एक मछुवा बनना ही अधिक अच्छा है', आरा के प्रसिद्ध न्याय-शास्त्री ने जो निर्दोष पवित्रता प्रदर्शित की और अब्बे सियें ने राजशास्त्र पर जो नवीन चिन्तन किये, वे सब मिलकर भी फ्रांस के तत्कालीन समाज को विनाश से उबारने में समर्थ न हो सके। इसी प्रकार इंगलैंड में स्टुअर्ट राजाओं के अत्याचारों के विरुद्ध प्युरिटनों ने जिस गौरवपूर्ण राज्य-क्रान्ति का सघटन किया; उसके प्रेरणा-स्रोत हेनरी एवं जॉन के चरित्र एवं ऐंग्लो-सैक्सन काल की शासन-समिति (Witan) थे। जर्मनी के जिस सांस्कृतिक-आन्दोलन ने १९१४ ई० में योरोप की शान्ति को संकट में डाल दिया था, वह बिस्मार्क के शासन-तन्त्र का और नीत्शे, ट्राटस्की तथा डालमैन, हौसर, ड्रायसेन, सिबल जैसे प्रख्यात विचारकों एवं लेखकों के उपदेशों का परिणाम था। यही बात रूस के इतिहास में भी दिखाई देती है। योरप के स्वतन्त्र राष्ट्र अपने राजनीतिक विकास में जाने-अनजाने अपनी प्राचीन परम्पराओं का अनुसरण करते आये है। इनके विकासक्रम में एक अविच्छिन्न निरन्तरता है। परन्तु भारत का इतिहास कुछ दूसरे ही मार्ग से अग्रसर हुआ है। समय-समय पर विदेशी आक्रमण भारत की प्राचीन परम्पराओं की शृंखला को भंग करते रहे हैं और कभी-कभी तो विदेशी शासन के घातक प्रभाव से भारतीय संस्थाओं और प्रणालियों को लुप्त होना पड़ा है; भारतीय जनता को अपनी शासन-प्रणाली छोड़कर, विजेताओं के साथ बाहर से आई हुई प्रणालियों के अनुसार शासित होना पड़ा है। इसके राजनीतिक विकास को समय-समय पर गहरे आघात लगते रहे हैं और विदेशी-शासन भारत में राष्ट्रीय और सार्वजनिक कर्तव्यों के आदर्शों के स्वस्थ विकास में महान् बाधाएँ पहुँचाते रहे हैं। परन्तु, यह सब कुछ सत्य होते हुए भी, भारत के सांस्कृतिक इतिहास का सूत्र किसी भी काल में टूटने नहीं पाया है और भारतीय जनता के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के मूलतत्त्व सदैव एक से बने रहे हैं; कोई भी इतिहासकार इस महान् सत्य से आँखें नहीं मूंद सकता।

आजकल की सर्व-सामान्य प्रणाली के अनुसार, भारत के इतिहास को भी तीन कालों में विभक्त किया जाता है—प्राचीन, मध्य और आधुनिक; यह काल-विभाजन बहुत सुविधाजनक और आवश्यक है। बेनेडिटो क्रोचे ने लिखा है कि "इतिहास के विषय में विचार करना इसको कालों में विभाजित करना है, क्योंकि विचार अवयव-संस्थान, तर्क, नाटक होता है और इस रूप में इसके

काल होते है, इसका प्रारम्भ होता है, इसका मध्य होता है, और इसका अन्त होता है तथा वे अन्य आदर्श सन्धियाँ होती हैं जो एक नाटक मे विवक्षित और अपेक्षित होते है।" दार्शनिक राजनीतिज्ञ त्यूरगो ने सॉरबॉन में "मानवीय मस्तिष्क का क्रम-विकास" शीर्षक अपने भाषण मे क्रोचे के इन विचारों का यह कहकर समर्थन किया था कि इतिहास मानवता का जीवन है, जो क्षय एवं पुनरुत्थान में से होता हुआ निरन्तर प्रगतिशील है, जिसका प्रत्येक युग, अपने से पहले के तथा अपने आगे के युग के साथ जुड़ा हुआ है। यह काल-विभाजन योरोप एवं भारत दोनो के ही इतिहास में अनुलक्षणीय है, क्योंकि दोनो में इन तीनो कालों का एक दूसरे से स्पष्ट स्वरूप-भेद दिखाई देता है। इसलिए इतिहास की मूलभूत एकता को, जो हमारे ज्ञान की आधार-शिला है, भंग न करते हुए, हम प्रत्येक काल की घटनाओं का वर्णन और उनके महत्व का प्रतिपादन कर सकते हैं। इतिहास का जो विशाल दृश्य-पट हमारे सामने विस्तृत है, उसमें दृश्यावलियाँ परिवर्तित हो जाती है, धरती पर चलनेवाली आकृतियाँ अपरिमेय अज्ञात में विलीन होती रहती है, परन्तु विकास-क्रम अविच्छिन्न अबाध गति से निरन्तर चलता रहता है। इतिहास हमारे सामने घटनाओ एवं परिस्थितियों को जो अनेकरूपता एव विविधता उपस्थित करता है, हमें उसकी तह में छिपी तात्विक एकरूपता की ओर प्रगति के शाश्वत सिद्धान्तों का अन्वेषण करना है; यही इतिहासकार का वास्तविक विषय है। इन पृष्ठों में यह दिखाने का प्रयत्न किया जायेगा कि भारतीय इतिहास में मध्य-काल की क्या देन है और वे कौन-से ऐसे स्पष्ट प्रभाव है जो हमारी आज की सभ्यता के आधार बने है।

हमारी प्राचीन सभ्यता की महानता के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। आधुनिक गवेषणाओं ने हमारे पूर्वजों पर लगाये गये राजनीतिक निष्क्रियता एव पिछड़ेपन के आक्षेपों का परिहार कर दिया है। हमारे विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है कि प्राचीन काल के हिन्दुओं का राज-तन्त्र बहुत विकसित अवस्था में था और वह अपने स्वर्ण-काल में यह राज-तन्त्र यूनानी दार्शनिको के 'पोलिस' (Polis) के आदर्शों को पूर्णतः क्रियान्वित करता था। राज्य धर्म पर आधारित था; प्रजा को सुखी बनाना राजा का कर्तव्य होता था और सभी राजनीतिक संस्थाओ का चरम लक्ष्य सारे समाज की भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करना एवं उसका नैतिक विकास करना होता था। प्राचीन भारत में सार्वजनिक संस्थाओं का भी अभाव न था। वैदिक काल तक में हमें प्रजापति की दो पुत्रियों 'सभा' एवं 'समिति' की झाँकी मिलती है, जो सार्वजनिक सहयोग एवं सहमति से सार्वजनिक कार्यों का संचालन करती थी। बौद्ध-साहित्य

में गणतंत्र राज्यों के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं; ये राज्य आज के पाश्चात्य जनतांत्रिक राज्यों जैसे सुसंघटित तो नहीं थे, परन्तु इनका संचालन जनमत से होता था। जातकों में बौद्ध-शासकों को 'गण-राजा' कहा गया है[1]; प्रो० राइस डेविड्स ने 'अट्ठ-कथा' के ऐसे स्थलों की ओर संकेत किया है, जिनमें स्वायत्त-शासन के प्रधान अधिकारियों—सभापति, उप-सभापति एवं 'गण' की सेनाओं के सेनापति—का उल्लेख किया गया है। लिच्छवियों की सभाओं, परिषदों एवं इनकी बैठकों में विचार-विमर्श का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है तथा पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा राजकाज चलाने के लिए सुव्यवस्थित विधियों का विधान भी बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध होता है।[2] 'विनय-पिटक' में बौद्ध-समितियों की बैठकों की कार्य-पद्धति का सुविकसित-विस्तृत विधान है; बौद्ध-समितियाँ इस विधान का पालन करती थीं। छोटे-छोटे बौद्ध-समुदाय पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा अपना कार्य-संचालन करते थे; इस प्रकार ये वस्तुतः छोटे-छोटे प्रजातन्त्र-राज्य थे। हिन्दू शासक को शास्त्रीय-विधान के अनुसार राज्याभिषेक के समय प्रजा की सुख-समृद्धि के लिए शासन करने की शपथ लेनी पड़ती थी।[3] श्री जायसवाल के शब्दों में "हिन्दू-शासकत्व-सिद्धान्त कभी भी ईश्वरीय पाखण्ड अथवा भ्रष्ट निरंकुशता के रूप में पतित नहीं होने दिया गया। सृष्टा के पवित्र नाम पर ढोंग रचना हिन्दू-शासक के लिए संभव न था, क्योंकि (हिन्दू) जाति ने पुरोहित के कृत्यों को शासक के पद के साथ कभी सयुक्त न होने दिया।"[4] राजा की सहायता एव परामर्श के लिए मंत्री एवं परिषदें होती थीं तथा न्याय एव शासन के भिन्न-भिन्न विभाग होते थे; समस्त शासन-तंत्र सुव्यवस्थित एवं सुनियोजित यंत्र के समान पारस्परिक अविरोध से कार्य

---

१. जातक, भाग ४, पृ० १४८।

२. भंडारकर, 'कारमाइकल लैक्चर्स' पृ० १८०।

३. महाभारत (शांतिपर्व,—५९ अध्याय; श्लोक सं० ११५, ११६) में राजा के लिए यह शपथ दी है—

प्रतिज्ञाञ्चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥
यश्चात्र धर्मो नीत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥

"मन-वचन-कर्म से इस प्रतिज्ञा पर आरोहण करो कि मैं इस पृथ्वी और ब्रह्म (वेदों) का बार-बार पालन करूँगा। जो नीति में कहा हुआ और दण्ड-नीति में स्वीकृत क्षात्र-धर्म है, उसका मैं निश्शंक होकर पालन करूँगा; मनमानी कभी न करूँगा।"

४. जायसवाल, एन्शेन्ट हिन्दू पोलिटी पृ० ५८-५९।

करता था, क्योंकि हिन्दू-राज-तंत्र पर भी आध्यात्मिक चिंतन का गहरा रंग चढ़ा हुआ था। हिन्दू राजा प्रजा से कर लेते थे और इस प्रकार एकत्र धन को प्रजा की सुख-सुविधा के लिए ऐसे व्यय कर देते थे जैसे कि सूर्य पृथ्वी के जल को सोखकर उसे आनन्ददायिनी वृष्टि के रूप मे पुनः पृथ्वी को लौटा देता है। स्मृतिकार मनु ने शासक-पद के विषय में कहा है कि—

स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा॥

"ब्रह्मा ने राजा को (देखने मे तो) स्वामिरूप परन्तु वस्तुतः (प्रजा के) पालन के लिए, उससे करो के रूप मे वेतन पानेवाला उनका सेवक बनाया है।"

आगे चलकर हमें मौर्यों के साम्राज्य-संघटन के दर्शन होते है, जिसकी झाँकी हमे कौटल्य के 'अर्थ-शास्त्र' मे मिलती है। 'अर्थ-शास्त्र' में राजनीतिक, दार्शनिक कौटल्य ने शासन-तंत्र के विधान का विस्तृत वर्णन किया है। यद्यपि इसमें शासक की निरंकुशता का भी स्थान-स्थान पर समर्थन किया गया है, परन्तु साथ ही शासक एवं पदाधिकारी-वर्ग के लिए ऐसे कल्याणकारी निर्देश भी दिये गये हैं, जिनसे वे अपने कार्यो को प्रजा के अधिकाधिक हित-साधन में समर्थ बना सकें। तब राज्य केवल एक केन्द्रीकृत निरंकुश सत्ता मात्र न था; वह जनता को कुचलनेवाला दानव न था। जैसा कि प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है, तब राज्य का उद्देश्य अपने अधीनस्थ विस्तृत देश के जीवन के प्रत्येक अंग का नियन्त्रण करना और इसके लिए कानून बनाना नही था, अपितु इसका लक्ष्य तो केवल संघ-राज्य की एक ऐसी उदार व्यवस्था स्थापित करना था, जिसमे राजधानी में स्थित केन्द्रीय-शासन के साथ, इसके अंगों के रूप में, देशज स्थानीय शासन भी सम्मिलित हों।[५] इस शासन-तंत्र में गाँव एक स्वायत्त और आत्म-निर्भर इकाई थी। गाँव की व्यवस्था घरेलू अर्थ-व्यवस्था के ढंग की होती थी, जिससे पारस्परिक कलह और संघर्ष न होने पाता था और प्रत्येक नागरिक को समुचित सहायता का आश्वासन मिल जाता था। श्रम-विभाजन, बाह्य-संसार से अलग एक सीमित स्थान में दीर्घकालीन निवास से उत्पन्न पारस्परिक सहयोग की भावना, सेवा के परस्पर विनिमय से उत्पन्न विश्वास और समानता की भावना—ये सब बातें ग्राम-व्यवस्था की शक्ति के तत्त्व थी। इससे ग्रामवासियों की बौद्धिक क्रियाशीलता का क्षेत्र परिमित हो गया; ग्राम-जीवन गाँव की परिधि में सीमित होकर प्रगतिहीन हो गया; परिणाम यह हुआ कि ग्रामवासी रूढ़िवादी बन गये और बाह्य प्रभावों के प्रति, वे चाहे

---

५. 'लोकल गवर्नमेंट इन एन्शेन्ट इंडिया' पृ० १०।

भले हों या बुरे, उनमें सदेह की भावना बद्धमूल हो गई। परन्तु इससे कलह और सामाजिक सघर्ष भी रुक गये, जो कि पाश्चात्य तथा कुछ सीमा तक पूर्वीय नगरो के जीवन की सामान्य घटनाएं होते है। ग्राम-व्यवस्था की रूढ़िवादिता ने हिन्दू सामाजिक-सघटन की प्रमुख विशेषताओ को अक्षुण रक्खा, क्रान्ति के अवसरो पर भी शाति एवं व्यवस्था को भग न होने दिया और इस प्रकार इसने हमारी सभ्यता को पूर्णत विनष्ट होने से बचा लिया। इस ग्रामीण समाज के विषय में एक प्रसिद्ध अँगरेज राजनीतिज्ञ ने लिखा है कि:—

"ये ग्रामीण-समाज, अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं से सम्पन्न, छोटे-छोटे जन-तंत्र होते हैं; और किसी विदेशी सम्बन्ध से लगभग स्वतन्त्र होते हैं। जहाँ कुछ भी बचता दिखाई नही देता, वहाँ भी वे बच रहते है। राज-वंश पर राज-वश धूल मे मिल जाते है; क्रान्ति पर क्रान्ति होती है; परन्तु ग्राम-सम.ज ज्यो का त्यो बना रहता हैं। अपने आपमे एक अलग छोटे राज्य के समान इन ग्राम-समाजों ने, भारतीय समाज को उन सभी क्रान्तियों और परिवर्तनों से, जो इसे झेलने पड़े हैं, सुरक्षित रखने मे सर्वाधिक योग दिया है और यह व्यवस्था अत्यधिक अश में उसकी (भारतीय समाज की) प्रसन्नता एव उसकी प्राप्त स्वतन्त्रता एव स्वायत्त शासन के एक बड़े भाग की जननी है।"[६]

वस्तुत. देश की विशालता के कारण केन्द्रीय सरकार के लिए नागरिकों के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर नियन्त्रण करना दुस्साध्य कार्य था; अतः बहुत सी बातें स्थानीय सस्थाओ पर छोड़ देनी पड़ती थी। सामाजिक एव सास्कृतिक जीवन अबाध गति से चलता रहता था; नागरिको की बौद्धिक एव नैतिक प्रगति में राजनीतिक परिवर्तन किसी प्रकार की बाधा न डालते थे। गुप्त-सम्राटो ने हिन्दू-महानता की परम्परा को अक्षुण्ण रखा; वे कला एव साहित्य को उदार सरक्षण प्रदान करते रहे। उनके शासन-काल मे हिन्दू-धर्म एवं संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ, शासन-तंत्र के क्षेत्र में कल्याणकारी सुधार हुए। हिन्दू-शासन-तंत्र की जन-हितकारिणी प्रवृत्तियाँ कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन के शासन-काल तक अक्षुण्ण रही। हर्ष के शासन-काल मे भारत-भ्रमण के लिए आये हुए चीनी यात्री ह्वेनसांग ने तत्कालीन शासन-तंत्र की विकसित अवस्था का, यद्यपि इसमे कुछ दोष भी आ गये थे, एव जन-हित के लिए राजा की तत्परता का वर्णन किया है। चीनी यात्री लिखता है कि:—

"देश का शासन जितना कल्याणकारी सिद्धान्तों पर चलता है, उतना ही सरल भी है। शासक के व्यक्तिगत कर्मचारी चार भागो में विभक्त है;

६. प्रवर समिति, हाउस आफ कामन्स १८३२ जिल्द तृतीय पृष्ठ ३३१।

पहले वे जो राज्य-संचालन एव धार्मिक क्रिया-कलापो की व्यवस्था करते है; दूसरे वे जो राज्य के मत्रियो एव प्रधान कर्मचारियों के स्थानापन्न होते है; तीसरे वे जो असाधारण योग्यता के पुरुषो को पुरस्कृत करते हैं। जनता पर कर हल्के हैं और उनसे ली जानेवाली बेगार साधारण हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सांसारिक सम्पत्ति को शांतिपूर्वक रख सकता है और सब अपने जीवन-निर्वाह के लिए भूमि जोतते है। जो राज्य की भूमि में खेती करते है, वे उपज का छठा भाग राज्य को भेंट करते है।

शिक्षा का खूब प्रचार था। ह्वेनसाग के वर्णन से ज्ञात होता है कि अनेक बौद्ध एव ब्राह्मण विद्वानों के लिए तो शास्त्रार्थ मानो उनका प्राण था। यह शास्त्रार्थ का युग था। कभी-कभी विद्वान् लोग अपने प्रतिपक्षियों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारने के लिए मठो के द्वारो पर चुनौतियाँ लिखकर टाँग देते थे। एक बार लोकायत-सम्प्रदाय के एक विद्वान् ने नालदा विद्यालय के द्वार पर अपने चालीस सिद्धान्तो को इस चुनौती के साथ लिखकर लटका दिया था कि "यदि कोई इन सिद्धान्तो का खंडन कर देगा तो मैं उसकी विजय के प्रमाण में अपना सिर काटकर उसे दूँगा।" यह चुनौती वास्तव में ह्वेनसाग को दी गई थी; ह्वेनसांग ने अपने नौकर से इसको फड़वा दिया[७] और शास्त्रार्थ में लोकायत-सम्प्रदाय के उस ब्राह्मण को परास्त कर दिया।[८] बौद्ध-भिक्षु, जनता के अज्ञानपूर्ण सघर्षो से दूर रहकर, अपना जीवन विद्यार्जन और शास्त्रार्थ में लगाते थे। इस काल में हमें अनेक सभाओं की सूचना मिलती हैं, जिनमें प्रतिपक्षी दल अपने सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए शास्त्रार्थ करते थे। ह्वेनसाग लिखता है:—

"भिक्खु बौद्धिक क्षमता की परीक्षा के लिए प्रायः शास्त्रार्थ के लिए एकत्र होते है और अपनी नैतिकता का प्रकर्ष प्रकट करते है। जो (भिक्खु) दर्शन-शास्त्र की सूक्ष्मताओं की व्याख्या या ठीक निर्धारण करते है और सूक्ष्म सिद्धान्तो को उनके उचित स्थान पर स्थित करते है, जो वाग्मी और सुसंस्कृत आलोचना में कुशाग्र होते हैं, वे सजे हुए हाथियों पर सवार होते है।

"नालन्दा-विद्यालय में दस हजार विद्वान् विभिन्न शास्त्रो के अध्ययन में रत रहते थे; इस विहार में प्रतिदिन लगभग सौ वेदियों से प्रवचन होते थे, जिनमें विद्यार्थियों को अनिवार्यतः उपस्थित होना पड़ता था। भिक्खुओं में बड़ा सहयोग था; इस विद्यालय के सात सौ वर्षों में कभी भी इसके नियमों

---

७. बील—'दि लाइफ ऑफ ह्वेनसाग' पृ० १६१।
८. बील—'दि लाइफ ऑफ ह्वेनसांग' पृ० १६१-६५।

की अवहेलना न हुई थी। राज्य इस संस्था को उदारतापूर्वक दान देता था और इसके हितों का ध्यान रखता था।"[९]

हर्ष स्वयं भी प्रवीण साहित्यकार था। उसने 'नागानन्दम्', 'रत्नावली' एवं 'प्रियदर्शिका' नामक तीन नाटकों की रचना की थी। ये नाटक 'विचारो की सरलता एव अभिव्यक्ति के सौदर्य' के लिए प्रशंसित हैं। सम्राट् अशोक के समान हर्ष भी धार्मिक-कृत्यो में सलग्न रहता था। हर्ष की धार्मिक प्रवृत्तियाँ बहुत विकसित थी; पहले वह बौद्ध-धर्म के हीनयान-सम्प्रदाय में दीक्षित हुआ, परन्तु बाद में उसने महायान-सम्प्रदाय को अपनाया। धर्म-प्रचार के प्रयत्नों में वह नीद और भूख भी भूल जाता था। उसने अपने समस्त राज्य में मास-भक्षण का निषेध कर दिया था। बाद में उसमें सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा का भाव विकसित हुआ और स्वय बौद्ध होते हुए भी वह शिव, सूर्य और बुद्ध की पूजा करने लगा तथा इन देवताओ के लिए उसने मंदिर बनवाये। जनता का बहुत बडा भाग पौराणिक हिन्दू-धर्म का अनुयायी था, परन्तु व्यवहार में जनता के धार्मिक विचार बहुत उदार थे। बौद्धों के प्रति सम्राट् हर्ष का पक्षपात ब्राह्मणों को बहुत खटकता था; उन्होने हर्ष के प्राण लेने का एक षड्यन्त्र भी रचा। कन्नौज के ऐतिहासिक धर्म-सम्मेलन में, जिसमें चार सहस्र बौद्ध विद्वानो और तीन सहस्र जैन एवं ब्राह्मण विद्वानों ने भाग लिया था और जो तथागत भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों की श्रेष्ठता की घोषणा करने के लिए आयोजित किया गया था, एक धर्मान्ध ब्राह्मण ने सम्राट् हर्ष को मारने की चेष्टा की, जिसके फलस्वरूप पाँच सौ ब्राह्मण बन्दी बनाये गये। अपराधियों ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और उन्हे देश-निकाले का हल्का-सा दड मिला।

हर्ष के विषय मे सर्वाधिक स्मरणीय बात यह है कि वह प्रत्येक पाँचवे वर्ष प्रयाग मे अपनी सारी सम्पत्ति बाँट देता था। सम्राट् हर्ष ने अपनी बहिन और मंत्रियों के साथ इस समारोह के हेतु प्रयाग की ओर प्रस्थान किया; ह्वेनसांग

---

९. बील—'दि लाइफ ऑफ ह्वेनसांग' पृ० ११२-११३।

राजा ने नालन्दा-विद्यालय के नाम १०० गाँवों का भूमि-कर लगा दिया था, इन गाँवों के २०० गृहस्थ प्रतिदिन विद्यालय में कई सौ 'पीकल' चावल तथा कई सौ 'कट्टी' मक्खन और दूध पहुँचाते थे। इतनी अधिक भोजन-सामग्री प्राप्त होने के कारण, विद्यार्थियों को किसी बात की चिंता न रह जाती थी। यही कारण था कि वे विद्याव्ययन में पूर्णतया दत्तचित्त हो पाते थे और अप्रतिम विद्वान् बन जाते थे।

एक पीकल=१३३⅓ पौंड

एक कट्टी=१६० पौंड।

भी उसके साथ था। चीनी यात्री ने इस समारोह का विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है[11] :—

"इस समय तक पांच वर्ष की अर्जित समस्त सम्पत्ति समाप्त हो गई। व्यवस्था बनाये रखने और राजकीय प्रदेश की रक्षा करने के लिए आवश्यक घोड़ों, हाथियों और सैनिक सामग्रियों के अतिरिक्त और कुछ भी शेष न रहा। इनके साथ-साथ राजा ने अपने जवाहरात और सामान, अपने वस्त्र और हार, कर्णाभरण, कंठ-हार, मालाएँ और दीप्त शिरोमणि, इन सबका मुक्त-हस्त दान कर दिया; ये सब उसने बिना किसी हिचक के दे दिये।

"सब कुछ दान कर देने पर उसने अपनी बहिन से एक साधारण सा पुराना वस्त्र मांगा और इसको धारण कर उसने दसों दिशाओं के बुद्धों की पूजा की और आनन्दपूरित हृदय से प्रार्थना के लिए दोनों हाथ जोड़कर उसने कहा; 'इस समस्त सम्पत्ति और कोष को एकत्र करने में मुझे हमेशा यही भय लगा रहता था कि यह किसी सुरक्षित स्थान में नहीं रखा गया है; परन्तु अब इसको धार्मिक कृत्यों के क्षेत्र मे लगा देने पर, मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि इसका अब समुचित उपयोग हुआ है। हे प्रभो! मैं अपने अगले जन्मों में भी अपनी सम्पत्ति मनुष्यों को इसी प्रकार धार्मिक कृत्यों में दान करता रहूँ और इस प्रकार मुझमें (बुद्ध के) दशबल (दस शक्तियों) पूर्णता को प्राप्त हों।"

चीनी यात्री के वर्णन से तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर बहुत प्रकाश पड़ता है। तब विधवा-विवाह का निषेध था; बाण के 'हर्ष-चरित' से ज्ञात होता है कि राज्यश्री का विवाह सार्वजनिक रूप से न हुआ था। बालविवाह की प्रथा न थी। सती-प्रथा प्रचलित थी; बाण ने लिखा है कि हर्ष की मां अपने पति के देहान्त से कुछ समय पूर्व ही सती हो गई थी। परन्तु स्त्रियों का समाज में सम्मान होता था; बाण ने राज्यश्री के गुणों एवं विद्वत्ता की प्रशसा करते हुए लिखा है कि वह सभी कलाओं में निपुण थी और अपने भाई को राज-काज में सहायता देती थी। लोग सीधे-सच्चे थे और उनका नैतिक स्तर स्तुत्य था। लेन-देन में वे जालसाजी से कोसों दूर थे और न्याय मे वे विवेकपूर्ण थे। कर्म-सिद्धान्त में लोगों का पक्का विश्वास था; अगले जन्म में दुष्कर्मों का फल मिलने का भय उन्हें बुरे मार्ग से दूर रखता था। व्यवहार में वे धोखेबाज या विश्वासघाती न होते थे और अपने वचनों एवं शपथों का पालन करते थे।

६४७ ई० में हर्ष की मृत्यु से देश को जो क्षति हुई उसकी पूर्ति न हो सकी। उसकी मृत्यु के साथ-साथ वह शासन-व्यवस्था भी समाप्त हो चली, जो भारत

---

१०. बील—'दि लाइफ ऑफ ह्वेनसांग' पृ० १८६-८७।
११. बील—'दि लाइफ ऑफ ह्वेनसांग' पृ० १८६-८७।

में चार शताब्दियों तक चलती रही थी। हर्ष के विशाल साम्राज्य के विघटन से भारत के विभिन्न प्रान्तों की एकसूत्रता नष्ट हो गई और जनता की दीर्घकाल से चली आती हुई धारणाएँ और कल्पनाएँ उनकी प्रवृत्तियाँ और आदर्श तथा दीर्घकालीन अनुभवों से प्राप्त स्थापनाएँ, क्षत-विक्षत होने लगीं। अब राजपूतों ने छोटे-छोटे सामंतशाही राज्यों की अपनी विशेष प्रणाली विकसित की, जिसका विस्तृत वर्णन पहले अध्याय में किया जायगा; परन्तु हर्ष की मृत्यु के पश्चात् की पांच शतियों में जो विभिन्न शासक-वंश भारत-भूमि के भिन्न-भिन्न भागों में प्रकट हुए उनमें एक भी ऐसा वंश न निकला जो चन्द्रगुप्त, अशोक या हर्ष जैसे किसी शासक को जन्म देकर देश की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र कर एकछत्र साम्राज्य का निर्माण कर सकता। राजपूतों ने शौर्यपूर्ण उदारता को अपना आदर्श बना लिया, जिससे वे आपस में ही जूझने लगे; वे कभी भी राष्ट्रीय संघटन या एकता के महान् आदर्श को ग्रहण न कर पायें। शायद राष्ट्रीय एकता की भावना उस युग के स्वभाव के अनुरूप न थी। दिल्ली, कन्नौज एवं अन्य राजपूत-राज्यों में योग्य ब्राह्मण-मंत्रियों का अभूतपूर्व अभाव स्पष्ट दिखाई देता है। राजपूतों ने युद्ध को ही अपने जीवन का प्रमुख व्यवसाय बना लिया था; राजपूत शासक प्रजा-पालन के उन महान् कर्तव्यों की ओर से विमुख हो गये जिनके पालन से अशोक और हर्ष के नाम भारत के इतिहास में अमर हो गये है। राजपूत-शासन-काल में शासन-सम्बन्धी सुधार या व्यवस्था के क्षेत्र में किसी स्मरणीय प्रयोग का लिखित प्रमाण नही मिलता; उनका समस्त इतिहास पारस्परिक युद्धों का ही इतिहास है। जो ब्राह्मण जाति भूतकाल में द्वेष-राग-रहित होकर जन-हित में संलग्न होने और महानतम धर्म का पालन करने के लिए विख्यात थी, अब अपने प्राचीन आदर्शों को भूल गई और उसके इस पतन से सारे हिन्दू-समाज का पतन प्रारम्भ हो गया।

शासन-तन्त्र की इस शक्तिहीनता का जीवन के दूसरे क्षेत्रों पर भी प्रभाव पड़ा। धर्म के क्षेत्र में परिवर्तन दिखाई देने लगा। हर्ष की धार्मिक उदारता ने धार्मिक-सहिष्णुता की भावना को दृढ़ किया था और शांति एवं व्यवस्था का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। लोग अपनी अपनी रुचियों के अनुसार शिव, विष्णु, सूर्य या अन्य किसी देवता की उपासना करते थे। परन्तु धर्म के सम्बन्ध में इस व्यक्तिगत स्वतंत्रता ने अनेक सम्प्रदायों को जन्म दे दिया था और जब आचार्य शंकर ने धर्म के क्षेत्र मे पदार्पण किया तब तक सारे देश में अनेकानेक सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे। अनन्त आनन्दगिरि ने अपने काव्य 'शंकर दिग्विजय' मे आठवी शती के भारत की धार्मिक स्थिति का सजीव वर्णन किया है; तब भारत में उच्चतम देवों से लेकर घृणिततम देवो की उपासना करनेवाले और मांस-मदिरा के आकंठ सेवन एवं विलासितामय

क्रिया-कलापों का विधान करनेवाले अनेकानेक सम्प्रदाय प्रचलित थे।[12] प्रतिद्वंद्वी सम्प्रदायों के नेता अपने सम्प्रदाय के समर्थन के लिए वेदों के उद्धरण देते थे और एक दूसरे को परास्त करने के दांव-पेचों में लगे रहते थे। कोई शिव के उपासक थे तो कोई अग्नि, गणेश, सूर्य, भैरव, कार्तिकेय, कामदेव, यम, वरुण, द्यौः, अप, नागों या भूत-प्रेतों अथवा किन्ही अन्य देवों की पूजा करते थे। उदयन ने बौद्ध-धर्म पर प्रबल प्रहार कर आचार्य शंकर के लिए बौद्धो के उन्मूलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। धर्म के इतिहास मे अप्रतिम शक्ति एवं साहस के साथ आचार्य शंकर ने नगर-नगर घूमकर, प्रतिपक्षियो को अपनी विलक्षण दैवी प्रतिभा एव तर्क-शक्ति से शास्त्रार्थ में परास्त कर धार्मिक दिग्विजय की। शकर के अद्वैत-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई; बौद्ध-विद्वान् शकर के अकाट्य तर्कों से प्रताडित होकर मगध एवं उत्तर भारत के कुछ स्थानो में जा छिपे। इस प्रकार एक महान् धर्म-सुधार आन्दोलन सम्पन्न हुआ; भ्रष्टाचरण वाले सम्प्रदायो का अन्त हुआ। जनता के अधिकाश भाग ने पुन. पौराणिक-धर्म का सहारा ग्रहण किया; विद्वानों ने अद्वैत सिद्धान्त का सहारा लिया, परन्तु शकर की धार्मिक विजय का प्रभाव चिरस्थायी न रहा। धार्मिक दृष्टि से नवी शताब्दी शास्त्रार्थ का युग था और प्रत्येक शास्त्रार्थ-युग के समान यद्यपि इसने विचारो को स्पष्ट कर दिया और विद्वानों की तर्क-शक्ति को नया उभार दिया, परन्तु यह जनता के सामने उपासना की कोई ऐसी पद्धति उपस्थित न कर सका, जो उसको सरलतया ग्राह्य हो सकती। परिणाम यह हुआ कि जनता में अधविश्वास और अनाचारपूर्ण धार्मिक क्रियाकलाप फैलने लगे, जो अनेक शताब्दियों तक धर्म को दूषित करते रहे और अन्ततः रामानन्द, कबीर, नानक जैसे संतों को इनका मूलोच्छेद करने के लिए इन पर कठोर प्रहार करने पड़े। दसवी शती के प्रारम्भ मे हमें प्रतिद्वंद्वी राजपूत राज्यों के श्रेष्ठता पाने के लिए पारस्परिक युद्ध सदा की भांति होते दिखाई देते हैं। बौद्ध धर्म शक्ति खो

---

१२. अनन्त आनन्दगिरि—'शंकरदिग्विजय' पृ० ३-७।

धार्मिक-क्षेत्र में शंकर के प्रवेश से पूर्व की धार्मिक स्थिति का आनन्दगिरि ने निम्नलिखित पद्यो में वर्णन किया है—

केचिच्चन्द्रपराः परे कुजपराः केचित्तु मन्दाश्रिताः॥
केचित्कालपराः परे पितृपराः केचित्तु नागेशगाः।
केचित्तार्क्ष्यपराश्च सिद्धनिचयं सेवन्ति केचिद्धिया॥
केचिद्गन्धर्वसाध्यादीन् भूतवेतालगाः परे।
एव नानाप्रभेदानां नृणा वृत्तिर्यथेप्सिता॥
केचित् स्ववृत्ति वेदार्थः प्रतिजायां समूचिरे।
केचिद्धर्मेऽयमुक्तिरिति जल्पसमास्थिताः॥
अन्योन्यमत्सरग्रस्ताः परस्पर जयैषिणः॥
निर्जेष्टाङ्कितमंगेषु धारयन्ति स्थान्विताः॥

चुका था, अतः हिन्दू और बौद्ध-धर्म की शत्रुता अब शान्त हो चुकी थी। जातियों में भी पारस्परिक तनातनी नहीं थी, क्योंकि एक तो जाति-व्यवस्था तब आज सरीखी कठोर न थी और दूसरे यह व्यवस्था समस्त देश में मान्यता भी प्राप्त कर चुकी थी। उत्तरकालीन स्मृतियों में सामाजिक हेल-मेल के लिए पर्याप्त छूट दी गई है; व्यास-स्मृति और पाराशर-स्मृति में अलग-अलग जातियों के लोगों में समानता के स्तर पर सामाजिक-सम्पर्क का आदेश दिया गया है। छोटे-छोटे राजपूत-राज्यों में शासन-व्यवस्था पर्याप्त रूप से जनहितकारिणी थी। राजकर हल्के थे; लगान बहुत सामान्य था, क्योंकि जोतने के लिए भूमि की कमी न थी; जनता के प्राण और सम्पत्ति सुरक्षित थे, क्योंकि राजपूत शासक अपनी प्रजा के जीवन और धन की रक्षा करना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझते थे। इस काल की राजनीतिक दशा के विषय में एक आधुनिक लेखक का निम्नलिखित कथन बहुत कुछ सत्य है—

"तब (सिन्ध को छोड़कर) कहीं भी आन्तरिक या बाह्य किसी प्रकार का विदेशी आधिपत्य न था। कन्नौज, मालखेड, मुंगेर के तीन विशाल साम्राज्य स्थानीय शासक वंशों द्वारा शासित थे। तब मराठों का बंगालियों या बगालियों का आसामियों पर—इस प्रकार का कोई शासन न था। सभव है काठियावाड़ एवं उत्तरी गुजरात में कन्नौज के शासन में विदेशी शासन की बुराइयाँ रही हों और वस्तुतः इनके परिणाम-स्वरूप गुजरात में स्थानीय चौड-वंश के राज्य की स्थापना भी हुई। परन्तु अन्य प्रदेशों में कन्नौज साम्राज्य को विदेशी न समझा जाता रहा होता। इसी प्रकार राष्ट्रकूटों का वास्तविक शासन दक्षिण में और दक्षिणी मराठा देश में था। निस्सदेह, वे सुदूर-दक्षिण के राज्यों के भी अधिपति थे; परन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, जहाँ स्थानीय शासकों को शासन में लगभग पूर्ण स्वतन्त्रता थी, वहाँ ऐसा आधिपत्य किसी को अखरता न था। वास्तव में, एक अरब यात्री के वर्णन का सारांश यह है कि भारत में जनता सर्वत्र अपने ही राजाओं द्वारा शासित थी।"[13] दसवीं शती के अरब यात्री अल मसूदी ने हिन्दुस्तान और सिन्ध के शासकों के वैभव एवं प्रभुत्व का बहुत प्रशंसापूर्ण वर्णन किया है और अल-इस्तखारी एवं इब्न हौकल ने भी भारतीय नगरों के वैभव का वर्णन कर उसके विवरण का समर्थन किया है।

समस्त भारत में जो अनेकानेक छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, उनमें से एक का भी शासक हमें इस योग्य नहीं मिलता, जो भारत की सुरक्षा के लिए इन सब राज्यों को एक साम्राज्य में मिला देता। इस समय भारत में पृथकत्व एवं आत्म-

१३. वैद्य—'हिस्ट्री ऑफ मेडीवल हिन्दू इंडिया' भा० २, पृष्ठ २५५। मालखेड को दक्षिण में राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेत का ही दूसरा नाम बताया जाता है। वैद्य—'मेडीवल इंडिया' भा० २; परिशिष्ट ६, पृ० २५४।

गौरव की भावनाएँ इतनी वलवती थी कि उन्हें दबाया न जा सकता था। अल-वरूनी के रोचक वर्णन से हमे तत्कालीन हिन्दू समाज की स्थिति का बहुत ज्ञान प्राप्त होता है। हिन्दू-मस्तिष्क अभी भी स्फूर्ति एव शक्ति-सम्पन्न था और विचारों की उर्वरा भूमि था; अल-वरूनी जैसा विद्वान् भी हिन्दुओं के गम्भीर दार्शनिक ज्ञान एवं संस्कृति को देखकर दाँतो तले उँगली दवा गया। अल-वरूनी के समय का भारत बौद्ध-भारत न होकर ब्राह्मण-धर्मानुयायी भारत था। तब बौद्ध-धर्म भारत से उठ चुका था; यही कारण है कि इस अरब विद्वान् का किसी बौद्ध-ग्रंथ अथवा भिक्षु से परिचय न हुआ, जिससे वह बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर सकता।[१४] तब विष्णु-पूजा का अधिक प्रचलन था; शिव-पूजा भी दब-सी गई थी। परन्तु, प्रसन्नता की बात यह है कि तब वर्ग-संघर्ष और धार्मिक-प्रतिद्वंद्विता के दर्शन न होते थे। कानून कठोर थे; अपराधी की जाँच के लिए अग्नि-परीक्षा इत्यादि दैवी-शक्ति विधानो का सहारा भी लिया जाता था। अल-वरूनी लिखता है कि हिन्दुओ के रीति-रिवाज सदाचार एव संयम के आधार पर बने है, वे चालवाजी से बहुत दूर हैं; कुछ जातियो के विशेषाधिकार सर्वत्र मान्य है और ब्राह्मणो का सभी सम्मान करते है; देश का शासन स्वतंत्र राज्यों द्वारा होता था, जिनमें से कुछ की शासन-व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। हिन्दुओं की सच्चरित्रता के विषय में अल-वरूनी के वर्णन का समर्थन बारहवीं शती के प्रारम्भ के अरब यात्री अल-इद्रिसी ने भी किया है।[१५] परन्तु महान् चरित्र-बल और गम्भीर विद्वता होते हुए भी, दर्शन-शास्त्र की गुत्थियो को सुलझाने में मग्न और पृथकत्व की भावना में डूबा हुआ भारत विदेशी आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा करने मे असमर्थ था। महमूद की प्रगति को रोकने के लिए देश में कोई शक्ति न थी। जब विश्व-स्वामिनी रोम-नगरी पर आक्रमण करने के लिए अलारिक बढ़ा था तो एक संत ने उसको ऐसा न करने के लिए कहा था; परन्तु इस संत का उत्तर देते हुए अलारिक ने कहा था कि मुझे ईश्वरीय इच्छा और प्रेरणा रोम की ओर बढ़ा रही हैं। यही ईश्वरीय इच्छा और प्रेरणा थी जो गाजी महमूद को भारत के उन पवित्र स्थानों का ध्वंस करने के लिए बढ़ावा दे रही थी, जो धर्म और आध्यात्मिकता के विश्व-विश्रुत केन्द्र थे और देश के बड़े-छोटे सभी जिनका सम्मान करते थे। महमूद के बार-बार के आक्रमण और लूट-पाटें भी हमारे देश के राजपूत शासकों को देश की रक्षा के लिए एक दृढ़ संघटन बनाने के लिए सचेत न कर सकी। राजपूत-शासकों का पारस्परिक वैमनस्य उनके विनाश का मार्ग प्रशस्त कर रहा था। महमूद के पश्चात् गजनी-साम्राज्य की समाप्ति के बाद भारत-विजय का कार्य एक ऐसे योद्धा ने

१४. सखाउ, भा० १, पृ० २४९।
१५. सखाउ, भा०—२, पृ० १६१।

अपने हाथ में लिया जिसके राजनीतिक उद्देश्य भी स्पष्ट थे। भाग्य ने उसका साथ दिया और वह भारत-भूमि में इस्लामी राज्य की स्थापना करने में सफल हुआ। इस्लाम की विजय से भारत को हानियों के साथ कुछ लाभ भी हुए। इससे परस्पर-युद्धरत राज्यों के स्थान पर एक साम्राज्य की स्थापना हुई और समस्त देश की जनता को एक शासक की वशवर्तिता की शिक्षा मिली। इससे हमारे राष्ट्रीय-जीवन में शक्ति के कुछ नये तत्त्वों का समावेश हुआ और एक नई संस्कृति का आगमन हुआ, जो प्रशंसनीय है। मुसलमान रीति-रिवाजों ने उच्च-वर्गीय हिन्दुओं की आदतों में बहुत कुछ काट-छाँट कर दी; आज के समाज में हमें जो परिष्कार और सौष्ठव दिखाई देता है, वह बहुत कुछ इस नई संस्कृति की देन है। मुसलमानों ने इस देश को एक साहित्य-सम्पन्न अभिनव भाषा से परिचित कराया और नये-नये भवनों का निर्माण कर भारतीय कला का पुनरुत्थान किया।

यद्यपि हिन्दुओं के हाथ से राजनीतिक शक्ति जाती रही, परन्तु जैसा कि प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है, हिन्दू-संस्कृति की धारा अबाध गति से प्रगति-पथ पर अग्रसर होती रही; मध्यकाल के अनेक धार्मिक एवं बौद्धिक आन्दोलन इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।[१६] मुसलमानों के प्रभुत्व-केन्द्र विशाल नगर थे; इनसे दूर देहातों में मुस्लिम-विजय से कोई गम्भीर परिवर्तन न हुआ। परन्तु फिर भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि मुसलमान-विजय ने भारत में क्रान्ति ला दी; बौद्ध-भिक्षुओं और ब्राह्मण दार्शनिकों के स्थान पर दृढ़ और कठोर तुर्क-योद्धाओं के आ जाने पर भारत के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हो गया।

इस प्रकार एक नई व्यवस्था ने प्राचीन परिपाटी का स्थान ग्रहण किया। भारत में हिन्दू-मुसलमान संघर्ष वस्तुतः दो विरोधी सामाजिक प्रणालियों की टक्कर थी। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उच्च आदर्शों की स्थापना करनेवाली प्राचीन आर्य सभ्यता भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता की ओर अत्यधिक झुकी होने के कारण पाशविक-शक्ति से रहित होकर दुर्धर्ष इस्लामी सभ्यता का शिकार बन गई। सुनिश्चित सामाजिक, धार्मिक और जातीय वर्गों में बँटी हुई भारतीय जनता सैनिक आधार पर सघटित धार्मिक भाईचारे की भावना से प्रेरित मुसलमान जाति से पराजित हुई। समग्र मुसलमान-जाति द्वारा समर्थित इस्लाम-धर्म पारस्परिक कलह से छिन्न-भिन्न छोटे-छोटे राजपूत-राज्यों की टक्करों को आसानी से झेल गया। सन् ११९२ ई० में तराइन की युद्ध-भूमि में जब युद्ध के कोलाहल और शस्त्रों की झंकार के बीच मुसलमानों की घुड़सवार सेना पारस्परिक वैमनस्य से छिन्न-भिन्न राजपूतों के सैन्य-दलों की पंक्तियाँ तोड़ रही थी,

१६. मुकर्जी प्राचीन भारत में स्थानीय स्वराज्य पृष्ठ १२।

तब मुहम्मद गोरी ने कल्पना भी न की होगी कि उसकी भारत-विजय भारतीय इतिहास को एक बिलकुल नया मोड़ दे देगी, और भारत की समस्याओं को और भी जटिल बना देगी। इस्लाम की सेनाओं की विजय हमारे देश के इतिहास की एक चिर-स्मरणीय एवं महत्त्वपूर्ण घटना है। उस समय के हिन्दुओं द्वारा लिखित इस महान् घटना का कोई वर्णन आज हमें उपलब्ध नहीं है, जिससे हम जान सकें कि तब हिन्दुओं ने इस घटना को कितना महत्त्व दिया था। आपस के छोटे-मोटे झगड़ों और ईर्षाओं से अन्धे बने हुए अनेकानेक राजपूत शासक अपने भविष्य को कल्पना करने में असमर्थ थे। संभव है, उनमें से बहुतों का यह विचार रहा हो, कि जैसे शक, हूण, सिथियन इत्यादि जातियाँ, धीरे-धीरे हिन्दू-समाज में विलीन हो गईं, उसी प्रकार मुसलमानों की भी भारत में पृथक् सत्ता न रह जायेगी। परन्तु यह न हुआ। मुसलमान विजेताओं ने हिन्दू-समाज में विलीन होना बिलकुल स्वीकार न किया। तब भी, मुसलमान-विजय ने हमारे इतिहास की गति को बहुत प्रभावित किया है और हमारे देश में अभूतपूर्व समस्याओं को जन्म दिया है। मुगलों को इन समस्याओं के समाधान में आंशिक ही सफलता मिल सकी। आलमगीर औरंगजेब के शासन-काल में प्रतिक्रिया की जो लहर सारे साम्राज्य में फैल गई उसने महान् सम्राट् अकबर के किये-कराये पर पानी फेर दिया। कालान्तर में अँगरेजी शासन की स्थापना हुई। अँगरेजी शासन ने 'फूट डालने की नीति' का अवलम्बन किया जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू और मुसलमानों के बीच की खाई और चौड़ी होती गई। अन्त में इसका परिणाम हुआ देश का विभाजन। स्वाधीनता के उपरान्त स्वतंत्र भारत में धर्म-निरपेक्ष लोकतंत्र की स्थापना हुई। और भारत के भिन्न-भिन्न वर्गों, जातियों, सम्प्रदायों के नर-नारी, आबाल-वृद्ध बिना धार्मिक संकीर्णता के विभ्रम में पड़े एक सामाजिक संस्कृति का विकास करते हुए राष्ट्र की उन्नति में अपना योग दे रहे हैं।

अपने भूतकाल को ठीक-ठीक समझ लेने पर ही भारत की विभिन्न जातियाँ राष्ट्रीय एकता के लक्ष्य तक पहुँच सकेंगी। इतिहास किसी ऐसी जादू की छड़ी से परिचित नहीं है, जिसके घुमा देने भर से ऐसा महान् कार्य सम्पन्न हो जाय। राष्ट्रीय एकता लाने की प्रक्रिया तो क्रमिक, धीमी और कष्ट-साध्य ही होगी। बर्क के इस कथन में एक गम्भीर सत्य निहित है कि एक विशाल जन-समूह में से एक राजनीतिक संस्थान उत्पन्न करना अत्यधिक कठिन कार्य है।

मुसलमान उच्चकोटि के इतिहासकार थे। उन्होंने ऐसे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अभिलेख दिये हैं जिनसे हमें उन घटनाओं के इतिहास की पुनर्रचना करने में सहायता मिलती है जिन्हें उन्होंने स्वयं अपनी आँखों देखा था। उन्हें हम आधुनिक अर्थों में ऐसे इतिहासकार की संज्ञा नहीं दे सकते जिसका सम्बन्ध कारण और प्रभाव के परिणाम से रहता है। उन्होंने अपनी सामग्री क्रमबद्ध रूप से न तो रखने का प्रयास किया था और न तथ्यों की ही आलोचनात्मक विवेचना की। वे ऐसे इतिवृत्तकार थे जिन्होंने प्राप्त सूचना की प्रामाणिकता की चिन्ता किए बिना उस सबको लिपिबद्ध कर दिया जिसे उन्होंने देखा था दूसरों से सुना था। उन्होंने बिना किसी भेद-भाव के, बिना यह देखे कि क्या आवश्यक है क्या अनावश्यक, क्या महत्त्वपूर्ण हैं क्या नहीं उपलब्ध सामग्री का उपभोग किया था। फिर भी वे उपयोगी है कारण, उनके द्वारा अतीत की घटनाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अतएव उनकी रचनाओं का हमें सावधानी से अध्ययन करना आवश्यक है. अध्येता को अनावश्यक सामग्री में से आवश्यक सामग्री को अलग कर देने के लिए स्वयं ही प्रयास करना श्रेयस्कर है। इनमें से अधिकाश इतिवृत्तों के अंग्रेजी रूपान्तर उपलब्ध हैं (कुछ के हिन्दी और अन्य भाषाओं में भी अनुवाद किए गए है) अतएव मध्ययुगीन इतिहास का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को उनका उपयोग करना चाहिए। यहाँ पर इन लेखकों का संक्षिप्त आलोचनात्मक वर्णन दिया जा रहा है, इनमें से कुछ व्यक्ति बड़े योग्य, बुद्धिमान और दूरदर्शी थे। इन्होंने बड़ी सावधानी से घटनाओं का अवलोकन किया था और बिना किसी पक्षपात या पूर्वाग्रह के अपने विचारों को लिपिबद्ध किया था। यह सत्य है कि वे चाटुकारिता एवं अतिशयोक्ति के दोषी ठहराए जा सकते हैं किन्तु यह मध्ययुग की लेखन-शैली की परम्परागत विशेषता थी।

तारीख-ए-फखरुद्दीन मुबारकशाही—इस रचना का प्रणेता फखरुद्दीन मुबारक मरवर-रूदी था। सर ई० डेनीसन ने एक अनुपम पाण्डुलिपि से इसका सम्पादन किया था तथा 'रायल एशियाटिक सोसायटी' द्वारा इसका प्रकाशन हुआ। सन् १९२२ ई० में प्रो० ई० जी० ब्राउन को समर्पित 'अजब नामा' या 'ओरियण्टल स्टडीज' में सर डेनिसन रास ने इस रचना पर प्रकाश डाला था। १२०६ ई० में इस ग्रन्थ को समाप्त करने के उपरान्त इसके लेखक

ने इस पर तेरह वर्ष और लगाये थे। १२०६ ई० में वह लाहौर में था और उसने कुतुबुद्दीन का राज्यारोहण स्वयं अपनी आँखों से देखा था। कुतुबुद्दीन दास था, परन्तु इस लेखक ने उसके विषय में ऐसी उपाधियों का उल्लेख किया है जिससे ऐसा आभासित होता है कि मुसलमान सरकार और योद्धा उसे अपना नायक मानते थे। इस ग्रन्थ के पृष्ठ ३५-३६ पर हमें निम्नलिखित पंक्तियाँ मिलती हैं: "आदम के समय से लेकर अब तक तुर्कों के सिवाय अन्यत्र ऐसा कोई खरीदा हुआ दास नहीं हुआ जो राजा बना हो।"

ताज-उल-मासिर—यह मुसलमानों के हिन्दुस्तान-विजय के विषय में लिखा गया प्राचीनतम इतिहास है। यह १२०५ ई० में प्रारम्भ हुआ, यह वह वर्ष था जब कि मुहम्मद गोरी की मृत्यु हुई थी। ऐबक की मृत्यु के सात वर्ष उपरान्त यानी १२१७ ई० तक यह चलता है। यह ११९१ ई० में मुहम्मद गोरी के अभियान से प्रारम्भ होता है। इसका ग्रन्थकार सदरुद्दीन मुहम्मद बिन हसन निजामी था जो निशापुर का निवासी था। वह राजनैतिक विपत्तियों के कारण अपना देश छोड़कर दिल्ली में आ बसा था। यहाँ उसे अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उसके मित्रों ने उससे अपने समय का इतिहास लिखने का आग्रह किया और इसके लिए वह सहमत भी हो गया था। इसमें मुहम्मद के अभियानों पर सक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इसमें हमें अनेक ऐतिहासिक विवरण नहीं मिलते। उसकी शैली गूढ़ एवं अतिशयोक्तिपूर्ण है, उसमें हमें अनेक दुःसाध्य और निरर्थक अतिशयोक्तियाँ मिलती है। मुहम्मद गोरी की मृत्यु जैसी साधारण घटना भी निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त की गई है:

"तीन या चार षड्यंत्रकारियों में से एक या दो ने सातों समुद्र के इस स्वामी पर पाँच या छः घातक प्रहार किए और उसकी आत्मा आठों जन्नत और नवों स्वर्गों को पार कर दसों देवदूतों में जा मिली।"

किसी समय ताजुल मासिर एक दुर्लभ ग्रन्थ माना जाता था परन्तु ऐसी बात नहीं है। ए० एस० बी० के पास एक प्रतिलिपि है परन्तु यह अशुद्धियों से भरी है। प्रयाग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में भी एक प्रतिलिपि है।

तबकात-ए-नासिरी—यह प्रारम्भिक मुसलमान शासकों पर लिखा गया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ है। इसके रचयिता का नाम अबू उमर मिनहाजुद्दीन उस्मान बिन सिराजुद्दीन जूर्जानी था जो कि गोरी सरदारों की सेवा में था। वह ५८९ हिज्री सन् ११९२ ई० में पैदा हुआ था। यह वह वर्ष था जब कि दिल्ली पर मुहम्मद गोरी ने अपना आधिपत्य जमा लिया था। जब वह वयस्क हुआ तो उसने भी गोरी सरदारों के यहाँ नौकरी कर ली तथा

गोर और खोरासान पर होनेवाले मुगलों के आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया। ६२४ हिज्री संवत् (१२२६-२७) में वह उच्छ (सिंध) पहुँचा और जब ईल्तुतमिश ने आक्रमण किया तो उसने उससे भेंट की और दिल्ली चला आया। अमीर हाजिब बलबन की सहायता से वह 'नसीरिया कालेज' का अध्यक्ष बना दिया गया साथ ही उसके कोष की व्यवस्था का कार्य भी उसे सौंप दिया गया।

तबकात-ए-नासिरी अनेक मुस्लिम राजवंशों का वृहत् इतिहास है जिसमें हिन्द के सुल्तानों का भी वर्णन है। यह कृति ईल्तुतमिश के पुत्र सुल्तान नासिरुद्दीन को जो रजिया का उत्तराधिकारी था समर्पित की गई है। यह रचना ६५८ हिजरी (१२५९) में समाप्त हुई जब कि इसका रचयिता अपने जीवन के ७० वें वर्ष में था। उसने अनेक राजत्वों की घटनाओं को अपनी आँखों से देखा था और इनका उसने यथातथ्य वर्णन करने का प्रयास किया है। उसकी मृत्यु बलबन के शासन-काल में हुई थी परन्तु निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है। वह अपने समय के धार्मिक उपद्रवों पर अच्छा प्रकाश डालता है और लिखता है कि एक समय कई महीनों तक वह अपने घर से बाहर न निकल सका और जामा मस्जिद में होने वाली जुमे की नमाज में सम्मिलित होने में असमर्थ रहा।

मिनहाज की यह रचना ईलियट के इतिहास के द्वितीय खंड में अनूदित है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ का सम्पूर्ण अनुवाद मेजर रेवर्टी द्वारा लिखित विस्तृत भूमिका के साथ उपलब्ध है। मूल पुस्तक 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' द्वारा प्रकाशित हुई है।

खजायन उल-फतूह या तारीख-ए-अलाई—इस ग्रन्थ का प्रणेता अमीर खुसरो था। अमीर खुसरो भारत के फारसी कवियों में सर्वश्रेष्ठ था। उसे 'भारतीय तोता' कहा जाता था। राजाओं और सामन्तों का उसे पूरा संरक्षण प्राप्त था। उसे कवि, योद्धा, राज्यविज्ञ, दरबारी तथा राजनीतिज्ञ के रूप में अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करने का अवसर मिला था। उसका जन्म सन् १२५४ ई० में उत्तर प्रदेश में एटा जिले के पटियाली नामक स्थान में हुआ था। जब वह केवल सात वर्ष का था, उसके पिता की मृत्यु हो गई किन्तु परिवार समृद्ध था। उसने बाल-काल से ही कविताओं की रचना प्रारम्भ कर दी थी। उसकी प्रतिभा से अनेक विद्वज्जन प्रभावित थे। कालान्तर में उसकी माता उसे देहली ले गई जहाँ उसे अच्छी शिक्षा मिली। केवल अपनी प्रतिभा से वह राज्य में उच्च पद पर पहुँच गया तथा उसे अनेक राजाओं के दरबारों में रहने का अवसर मिला। उसकी महानतम रचनाएँ अलाउद्दीन खिलजी

के शासनकाल में प्रणीत की गई। सम्भवतः इस युद्ध-वीर की शौर्यपूर्ण सफलताओं ने उसको प्रोत्साहित किया था। अमीर खुसरो पर तत्कालीन प्रख्यात एव लब्धप्रतिष्ठ सन्त निजामुद्दीन ओलिया का अच्छा प्रभाव पडा था। खुसरो शेख का शिष्य हो गया। उसकी पवित्रता एवं आध्यात्मिकता से वह पूर्णरूपेण प्रभावित हुआ था। सन् १३२५ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

अमीर खुसरो ने अनेक काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन किया। भारतीय विद्वान् इन ग्रन्थों से भली भाँति परिचित हैं। खजायनउल-फतूह एक गद्यात्मक रचना है जिसमें अधिकांश अलाउद्दीन की विजय-अभियानों का उल्लेख है। इसके छः भाग है: (१) प्रस्तावना, (२) प्रशासकीय सुधार एवं सार्वजनिक कार्य, (३) मंगोलों के विरुद्ध अभियान, (४) हिन्दुस्तान की विजय, (५) वारंगल-विजय (६) मावर-अभियान। इस ग्रन्थ का एक प्रमुख भाग दक्षिण के राज्यों के विजय-अभियानों पर प्रकाश डालता है। अमीर खुसरो द्वारा दिया गया वर्णन यह स्पष्ट करता है कि वह युद्ध-कला से भली भाँति परिचित था।

अलाउद्दीन खिलजी के अभियानों पर खुसरो ने इतने व्यापक रूप से क्यों विचार किया सम्भवतः इसका [प्रधान कारण यह था कि इस काल का राजकीय इतिहासकार ताजुद्दीन इराकी का पुत्र कबीरुद्दीन था। उसने 'फतहनामा' में अत्यन्त उत्कृष्ट गद्य-शैली में अपने स्वामी की विजयों एवं सामरिक उपलब्धियों पर विस्तार से विचार किया था। 'फतहनामा' की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। जैसा कि प्रो० हबीब ने लिखा है कि 'फतहनामा' लुप्त हो गया है; उसकी पाण्डुलिपि अब अप्राप्य हैं। सम्भवतः उसे तैमूर के आक्रमण के समय या मुगल सम्राटों द्वारा नष्ट कर दिया गया था। फरिश्ता ने उसका कोई उल्लेख नहीं किया है। बर्नी और खुसरो दोनो ही ने उसे देखा था। बर्नी ने उसे विजय-अभियानों पर प्रकाश डालने के लिए उत्प्रेरित किया जब कि स्वयं उसने नागरिक प्रशासन पर विचार किया।"

इस प्रकार बर्नी ने प्रमुखतया स्वयं प्रशासकीय कार्यों के विवरण तक अपना कार्य सीमित रखा जब कि खुसरो सैनिक विवेचन में डूब गया और इस प्रकार उसने कबीरुद्दीन से भी आगे निकलने का प्रयास किया।

खजायन दक्षिणी अभियानो का इतिहास है। यह तिथि एवं वृत्तान्त दोनों ही दृष्टियों से सही है और इससे हमें अलाउद्दीन के शासन-काल की उपयुक्त तिथि-क्रम के निश्चय करने में सहायता मिलती है। इसमें कतिपय प्रशासकीय सुधारों का भी वर्णन है परन्तु यह वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। यह खेद की बात है कि उस युग की प्रवृत्तियों के अनुसार खुसरो भी एक कट्टर मुसलमान था

और जिन लोगों को वह काफिर समझता था उनके विषय में विचार प्रगट करते हुए उसने अपनी धर्मान्धता का परिचय दिया है।

खुसरो की कृतियों का प्रकाशन अलीगढ में हुआ है। उसके जीवन एवं कृतियों का आलोचनात्मक वर्णन शिब्ली कृत शेर-उल-अजम (द्वितीय खंड) में मिलता है। ईलियट कृत इतिहास के तृतीय खण्ड में ग्रन्थ के मूल भाग और परिशिष्ट में खुसरो की कृतियों के उद्धरण मिलते हैं। अनेक साहित्यिक कृतियों में भी अमीर खुसरो की रचनाओं का उल्लेख है। प्रो० ई० जी० ब्राउन कृत 'हिस्ट्री आफ पर्शियन लिटरेचर' की भाँति प्रो० मुहम्मद हबीब कृत अमीर खुसरो और उसके संरक्षक सन्त निजामुद्दीन औलिया विषयक ग्रन्थ भी रोचक हैं। फारसी साहित्य के प्रत्येक इतिहास में अमीर खुसरो के काव्य-ग्रन्थों का विवेचन है।

खुसरो के वे काव्य ग्रन्थ जिनमें कि कुछ ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हो सकती है प्रधानतया निम्नलिखित हैं : (१) बलबन की प्रशंसा में खुसरो के प्रारम्भिक जीवन में लिखी गई 'तुहफतूहरिगार'।

(२) निजामुद्दीन औलिया, मालिक छज्जू और अन्य कतिपय लोगों के स्वस्तिवादन में लिखी गई 'वस्तुल हयात'।

(३) निजामुद्दीन औलिया, कैकुबाद प्रभृति लोगों के विषय में आत्मकथाओं का उल्लेख उसके 'गुर्रत-उल-कमाल' नामक ग्रन्थ में मिलता है।

(४) 'बकीया नकीया' का शाब्दिक अर्थ है चुनी हुई वस्तुओं का अवशिष्ट। इस ग्रन्थ में भी निजामुद्दीन औलिया और कुछ अन्य दिल्ली सुल्तानों की बढ़ी-चढ़ी प्रशंसा है।

तारीख-ए-फिरोजशाही—फीरोज तुगलक के सिंहासनारोहण के कुछ वर्षों उपरान्त तक के दिल्ली सुल्तानों के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इस ग्रन्थ का रचयिता उत्तर प्रदेश में बुलन्दशहर तत्कालीन बरन का निवासी जियाउद्दीन बर्नी था। उसका मध्ययुगीन इतिहासकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके जन्म की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है किन्तु जब फीरोज तुगलक के शासन-काल में ७५८ (१३५६-५७ ई०) में उसने यह ग्रन्थ समाप्त किया तब उसकी अवस्था ७४ वर्ष की थी। बर्नी का पिता राजस्व विभाग में काम करता था। इस कारण बर्नी को राजस्व विषयक मामलों की अच्छी जानकारी हो गई थी। उसकी शिक्षा देहली में हुई थी। वहाँ उसे अनेक महापुरुषों, विद्वानों और राज्यविज्ञों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला था। अपने समवर्ती अन्य लोगों की भाँति उस पर भी निजामुद्दीन औलिया का अच्छा प्रभाव पड़ा था। वह एक अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति था किन्तु उसे

धर्म निरपेक्षता में कोई आस्था नही थी। वृद्धावस्था में जब उसका साहस टूट गया और अंग शिथिल हो गए तो उसे युवावस्था का भोग-विलास याद आने लगा और अत्यन्त कष्ट और निराशा से वह विपन्न हो उठा। उसने अलाउद्दीन के शासन को अपनी आंखो देखा था और उसका वह विस्तारपूर्वक विवेचन करता है। कर, मूल्य आदि वित्तीय मामलो के विषय में उसने जो कुछ लिखा है उससे पता चलता है कि उसमे आर्थिक विश्लेषण की अभूतपूर्व क्षमता थी। उसे सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के दरबार में १७ वर्षों तक रहने का अवसर मिला था और सुल्तान से उसका घनिष्ठ सम्पर्क था। मुहम्मद की मृत्यु के उपरान्त उसके दुर्दिन आ गए और शेष जीवन अत्यन्त कष्ट तथा दरिद्रता में बीता। उसने स्वयं लिखा है :—

"मेरे दुर्दिन आ गए है और मैं स्वय अपने जीवन से ऊब गया हूँ। बिना कुछ पाए मेरे द्वार से भिखारी लौट जाते है। अच्छा होता कि ऐसे दिन देखने के पहिले ही मेरी मृत्यु हो जाती। मेरे पास न तो कोई काम है न मुझे कहीं से कोई पैसा मिलता है।"

उसने अपनी पुस्तक फीरोज शाह को समर्पित की किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसने उसे इतनी आर्थिक सहायता नही दी जिससे कि वह आराम से अपना जीवन बिता सकता। मृत्यु के समय उसके पास कफन तक के लिए पैसा नही था।

बर्नी को इतिहास मे अभिरुचि थी। उसने इतिहास की उपयोगिता पर भी प्रकाश डाला है। उसने उन अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाओं का उल्लेख किया है जिनका उपयोग उसने अपने इतिहास के तैयार करने में किया था। उसका विचार था कि केवल कुशाग्र बुद्धि व्यक्ति ही इतिहास के अध्ययन के अधिकारी है। वह अपनी पुस्तक में इतिहास दर्शन के विषय मे निम्नलिखित शब्दो में विचार करता है :—

"कुशाग्र बुद्धि वाले केवल थोड़े से ही व्यक्ति ऐसे होते है जो इतिहास के अध्ययन के अधिकारी हैं, तुच्छ, धूर्त, असंस्कृत, संकीर्ण हृदय, भ्रष्ट बुद्धि, पददलित, दुष्ट एव धोखेबाज व्यक्तियो के लिए इतिहास की कोई उपयोगिता नही है। इतिहास से उन्हें कोई लाभ नही होगा और यह पूर्णतया उनके लिए निरुपयोगी होगा।" 'इस्लामिक कल्चर' १९३८।

बर्नी का अभिप्राय सत्य से है। इतिहासकार को तथ्यों को विकृत नही करना चाहिए। मध्ययुगीन इतिहासकारों मे बर्नी ही अकेला ऐसा व्यक्ति है जो सत्य पर जोर देता है और चाटुकारिता तथा मिथ्या वर्णन से घृणा करता है। इतिहासकार को निष्पक्ष होना चाहिए और उसे यह स्मरण रखना

चाहिए कि अन्तःकरण और धर्म ऐसी अपेक्षाएं हैं जो इतिहास लिखने के लिए आवश्यक होती हैं। यदि अवसरोचित्य की यह मांग है कि इतिहासकार को सत्य पर प्रकाश डालना चाहिए तो उसे संकेत और सुझावों के द्वारा व्यक्त कर देना चाहिए। वह उनकी तीव्र भर्त्सना करता है जो सत्य पर पर्दा डालते हैं:—

"....और यह इतिहासकार का कर्त्तव्य है कि वह मिथ्याभाषी, चाटुकार, बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहने वालो, कवियों, एवं चारणो के तरीको से दूर रहना चाहिए क्योंकि वे घोंघे को लाल कहते और प्रलोभन देने पर मामूली पत्थर को जवाहरात कह देंगे। उनकी बहुत सी बातें मनगढन्त होती हैं। अन्तिम निर्णय के दिन इस प्रकार के धोखेबाज लेखकों को अत्यन्त कष्ट का सामना करना पड़ेगा।' बर्नी ए० एस० बी०, पाठ, २३७।

बर्नी, अलाउद्दीन खिलजी, गयासुद्दीन तुगलक और मुहम्मद बिन तुगलक के राजत्वकाल के विषय मे हमें महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करता है। इनके विषय में वह अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर ही लिखता है। वह अपने समय के अनेक गण्यमान्य राज्यविज्ञों के सम्पर्क में आया था और उनसे उसने बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। उसे पर्यवेक्षण की अच्छी दृष्टि थी और उसमें तथ्यों की व्याख्या एवं विश्लेषण करने की पूरी क्षमता थी। एक राजस्व अधिकारी का पुत्र होने के नाते उसे भूमि सम्बन्धी समस्याओं में पूरी रुचि थी तथा उसने कर, व्यवस्था, दुर्भिक्ष, तकावी, कृषि और कृषकों के विषय मे विस्तार से लिखा है। वह अलाउद्दीन के आर्थिक नियंत्रण का सावधानी से विश्लेषण करता है और जो गहन तथ्य प्रस्तुत करता है उससे वह अपने युग के प्रमुख इतिहासकार के रूप में हमारे सामने आता है। वह एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था और शिया तथा राफिजियों से घृणा करता था। इनकी पूरी तरह वह भर्त्सना करता है। उसके वर्णन में कुछ दोष भी हैं। उदाहरणार्थ वह मुहम्मद तुगलक के राजस्व काल की घटनाओं का विवेचन करते समय अनेक तिथियों का उल्लेख नहीं करता और कहीं-कहीं अनावश्यक सामग्री तथा असम्बद्ध प्रतिपादन का भी दोषी है। परन्तु उसके द्वारा प्रतिपादित समस्त सामग्री में यथार्थवादी दृष्टि है और हम उसकी स्पष्टवादिता एवं तथ्यों के यथावत विवेचन से प्रभावित हुए बिना नही रह सकते। कहीं-कहीं उसका विवेचन पूर्वाग्रह युक्त है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता। उसके समवर्ती लेखकों से उसके विवेचन का समर्थन होता है।

इलियट के इतिहास के तृतीय खंड में बर्नी के अनेक उद्धरण दिए गए हैं। डा० रिजवी ने भी तारीख-ए-फीरोजशाही के अधिकांश का हिन्दी अनुवाद ... है।

तुगलक नामा खुसरो देहलवी रचित—यह अमीर खुसरो की अन्तिम रचना है जिसे उसने सुल्तान तुगलक शाह के आदेशानुसार लिखा था। इसमें कुतुबुद्दीन मुबारकशाह की हत्या, खुसरो गुजराती से राजसत्ता का अपहरण, उसकी पराजय और पतन तथा राज-सिंहासन पर तुगलक शाह के आरोहण का वर्णन किया गया है। अमीर खुसरो ने सुल्तान और अपहर्त्ता के मध्य होने वाले वार्तालाप का मनोरंजक वर्णन दिया है। 'मसनवी' के अन्तिम पृष्ठ लुप्त हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें भी तुगलक शाह का छिटपुट वर्णन रहा होगा।

इसका सैयद हाशमी फरीदाबादी (औरंगाबाद दकन १९३३) द्वारा संपादन हुआ है।

इब्नबतूता का रिहल—इब्नबतूता एक अफ्रीकी यात्री था जिसने अनेक देशों की यात्रा की थी। उसके 'सफरनामा' में उसका अपनी आँखों देखा और कानों सुना चित्रात्मक वर्णन है। उसका जन्म १३०४ ई० में २४ फरवरी को तंजा (अफ्रीका) में हुआ था और अपनी यात्रा से वापस आने पर अपने देश में वह न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया गया था। १३६८-६९ ई० में उसकी मृत्यु हो गई। उसका नाम अब्दुल्ला का पुत्र मुहम्मद था। बतूता उसके परिवार का नाम था। उसने १३३३ ई० में भारत की यात्रा की, दिल्ली में सुल्तान की अनुपस्थिति में तुगलक की माता मखदूमाजहाँ द्वारा उसका भव्य स्वागत हुआ। बादशाह ने उसे दिल्ली का काजी नियुक्त कर दिया और इस पद पर उसने लगभग आठ वर्ष तक कार्य किया। उसे भारत में जो कुछ भी घटित हो रहा था उसके देखने का पूरा अवसर मिला। वह राजदरबार का, सुल्तान के चरित्र का, सरकार और उसके क्रिया-कलापों का, धार्मिक उत्सवों का, खानकाहों का तथा उस समय साम्राज्य के विभिन्न भागों में होने वाले उपद्रवों का वर्णन करता है। वह विचित्र व्यक्ति था, उसके विषय में ठीक ही कहा गया है कि उसमें पापी और धर्मात्मा दोनों की ही विशेषताएँ विद्यमान थीं। बर्नी की भाँति वह भी कहता है कि सुल्तान मुहम्मद एक अद्भुत व्यक्ति था जिसमें कि अनेक महान् गुण थे किन्तु इसके साथ ही वह एक हृदयहीन आततायी और निर्दयी स्वेच्छाचारी शासक था जिसके द्वार पर सदैव किसी न किसी वध किए हुए व्यक्ति का शव पड़ा रहता था। इब्नबतूता के विवरण का समर्थन बर्नी और इसामी द्वारा होता है और इससे उसके ऐतिहासिक महत्त्व का पता लगता है। वह राज दरबार का नयनाभिराम चित्रण करता तथा सुल्तान की सदाशयता की प्रशंसा करता है किन्तु इसके साथ ही वह उसके अत्याचार एवं शासन के दोषों की निन्दा भी करता है। वह उत्तरी भारत को संकटापन्न

करने वाले दुर्भिक्षों पर अच्छा प्रकाश डालता है। उसने सामन्तों और धर्माचार्यों के विषय में भी लिखा है। ये लोग जब सुल्तान की इच्छा के विरुद्ध जाते थे तो वे कठोर दंड के भागी होते थे।

उसने १३४२ ई० में त्याग-पत्र दे दिया और सुल्तान के राजदूत के रूप में चीन भेजा गया। वह अपने साथ मंगोल सम्राट् के लिए बहुमूल्य उपहार ले गया था, उसने इन उपहारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। स्वदेश में पहुँच कर उसने इब्न जुज्जी को बोल कर उन देशों का वृत्तान्त लिखवाया जिनकी उसने यात्रा की थी। उसका कहना है कि समुद्री यात्रा के दौरान में उसके यात्रा-विवरण विषयक कागज-पत्र सब खो गए थे। यदि यह सत्य है तो उसका "सफरनामा" उसकी स्मरण-शक्ति का आश्चर्यजनक नमूना है। इब्नबतूता के रिहल का सम्पूर्ण अरबी पाठ तथा फ्रांसीसी भाषा में किया गया सी० डिफेमरी तथा डा० बी० आर० सैंग्यूनेती ४ जिल्द पेरिस, १९१४ का अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। अँगरेजी में सैमुअल ली का अनुवाद तथा गिब्स का 'ट्रैवल्स आफ इब्नबतूता' के नाम से भावानुवाद भी उपलब्ध है। उर्दू में भी मुहम्मद हुसेन आजाद द्वारा टीका-टिप्पणी के साथ सफरनामा का अनुवाद किया गया है।

फतूह-उस-सलातीन—इस ग्रन्थ का लेखक कुशल कवि इसामी है। इसामी उसका प्रमुख नाम न होकर उपनाम (तखल्लुस) है। उसने अपनी पुस्तक में कहीं भी अपने नाम का उल्लेख नहीं किया किन्तु एक आधुनिक विद्वान् का कहना है कि उसका नाम ख्वाजा अब्दुल मलिक इसामी था। यद्यपि वह मूलतया एक कवि था परन्तु उसमें ऐतिहासिक घटनाओं को शुद्ध एवं तिथिक्रम से लिखने की आश्चर्यजनक क्षमता थी। उसका इतिहास महमूद गजनवी से प्रारम्भ होता है और मुहम्मद तुगलक पर उसका अन्त होता है। उसके पूर्वज बगदाद से आए थे और उन्होंने दिल्ली सुल्तानों की सेवा स्वीकार कर ली थी। इसामी के कथन का समर्थन बर्नी और इब्नबतूता जैसे लेखकों द्वारा होता है। मुहम्मद तुगलक के राजत्व काल में उसे अत्यन्त कष्ट और पीड़ा का सामना करना पड़ा था। तमाम अन्य लोगों की भाँति उसे भी दौलताबाद जाने और उस लम्बी यात्रा के कष्ट उठाने के लिए बाध्य होना पड़ा था। सम्भवतः इसीलिए वह मुहम्मद तुगलक का कटु आलोचक है और उसे एक ऐसे अत्याचारी शासक के रूप में चित्रित करता है जिसे अपनी जनता के दुःख-दर्द की कोई चिन्ता नहीं थी। उसने सुल्तान के निष्ठुर कृत्यों को अपनी आँखों से देखा था और वह स्वयं उसके कुशासन और विद्रोहों से ऊब गया था। जब वह दक्षिण में था तब काजी बहाउद्दीन ने जो कि उसकी कविताओं से अत्यन्त प्रभावित था उसका परिचय सुल्तान अलाउद्दीन बहमनी से कराया था। काव्य-रचना

मध्ययुग में एक महत्त्वपूर्ण गुण समझा जाता था और इसामी के लिए तो वह राज-कृपा प्राप्त करने का एक माध्यम बन गया था।

उसने अपनी रचना १० दिसम्बर १३४९ ई० में प्रारम्भ की और १४ मई १३५० को समाप्त की। इससे उसकी काव्यगत प्रतिभा का परिचय मिलता है। उसकी प्रवाहमयी शैली प्रभावोत्पादक है किन्तु इस सबसे अधिक प्रभावोत्पादक है उसकी उपयुक्तता।

तारीख-ए-फीरोजशाही—यह सुलतान फिरोजशाह तुगलक के दरबारी इतिहासकार शम्स-ए-सिराज 'अफीफ' द्वारा प्रणीत इतिहास है। उसका पिता अबूहर का जागीरदार था और जब फीरोज का जन्म हुआ तब अफीफ का परिवार दिपालपुर मे था। उसका पिता फीरोजशाह का अनुचर था और किसी समय उसकी नियुक्ति नहरो के निरीक्षक के रूप मे हुई थी। वह सुलतान की अनेक महत्त्वपूर्ण परियात्राओ मे उसके साथ रहा था और उसका पुत्र फिरोज जिसे कि शिकार का बहुत शौक था के आखेट-अभियानो मे उपस्थित था। इस इतिहासकार ने अपने पिता तथा तत्कालीन अन्य अधिकारियों के माध्यम से अपने इतिहास की सामग्री प्राप्त की थी।

उसके ग्रन्थ में फीरोज के शासन की राजनैतिक घटनाओं, प्रशासकीय उपलब्धियों और उसकी सदाशयता का उल्लेख है। वह सुलतान के सुधारो का विस्तार से वर्णन करता है और उसके द्वारा किये गये चमत्कारी कार्यों के वर्णन के साथ वह अपनी पुस्तक का अन्त करता है।

अफीफ में बर्नी जैसी न तो बौद्धिक उपलब्धि है और न इतिहासकार की योग्यता एवं सूक्ष बूझ तथा दृष्टि। अफीफ एक घटनाओं को तिथिक्रम से लिखने वाला सामान्य इतिहासकार है जिसने एक प्रशंसात्मक दृष्टि से अपने विचार व्यक्त किये हैं। वह सुल्तान की अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में प्रशंसा करता है। उसमें इतनी अतिशयोक्ति है कि फीरोज के सद् कार्यो के वर्णन को पढ कर सर हेनरी ईलियट ने उसकी तुलना अकबर से कर डाली। इस इतिहासकार के अनुसार उसकी अन्य रचनाएँ (१) 'मनाकिब-ए-अलाई' (२) 'मनाकिब-ए-गयासुद्दीन तुगलक' तथा (३) 'मनाकिब-ए-सुलतान मुहम्मद-बिन-तुगलक' हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात हुआ है ये रचनाएँ अप्राप्य है। अफीफ की रचनाओं के विस्तृत उद्धरण इलियट के इतिहास के तृतीय खंड में हैं और यद्यपि उनमें अनेक अशुद्धियां है फिर भी वे पर्याप्त रूप में उपयोगी है। फारसी संस्करण एशियाटिक सोसाइटी बंगाल द्वारा प्रकाशित हुआ है और उर्दू संस्करण उस्मानिया विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

फतूहात-ए-फीरोजशाही—इसमें स्वतः सुलतान फीरोज तुगलक द्वारा

लिखा गया आत्मकथात्मक संस्करण है। लेखन-शैली, कृत कार्य और प्रायः प्रथम पुरुष का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि इसका लेखक फीरोज तुगलक ही था। इससे उसकी धार्मिक दृष्टि का स्पष्टीकरण होता है और इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि किस प्रकार उसने अपने को कट्टर धर्म पंथियों के हाथों सौंप दिया था। फतूहात अब मुद्रित रूप में प्राप्य है। उसका आंग्ल संस्करण ऐतिहासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुका है।

सीरत-ए-फीरोजशाही—यह ऐसे लेखक द्वारा लिखी गई समवर्ती रचना है जिसने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है। पाण्डुलिपि में तिथि ७७२ हिजरी दी गई है। लेखक अत्यन्त विस्तार से फीरोज तुगलक के गुणों का वर्णन करता है तथा उसकी धार्मिक कट्टरता तथा मूर्ति-पूजा के अन्त करने के प्रयासों की प्रशंसा करता है। वह नहरों तथा उसके राज्य के प्रशासकीय सुधारों का वर्णन करता है।

इंशा-ए-माहरू—यह भी एक समवर्ती रचना है जो कि फीरोज तुगलक के राज्यकाल की घटनाओं पर प्रकाश डालती है। यह उस समय के प्रमुख सामन्त, ऐनुल्मुल्क के पत्रों तथा अन्य अहकामों, अभिलेखों और फरमानों का संकलन है जिनसे दिल्ली सल्तनत के प्रशासन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसे मुंशात-ए-माहरू भी कहते हैं। इस ग्रन्थ का विस्तृत विवरण 'पर्शियन मैनुस्क्रिप्टस इन दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' के विवरणात्मक सूचीपत्र में दिया हुआ है।

तारीख-ए-मुबारकशाही—इस ग्रन्थ का रचयिता यहिया बिन अहमद बिन अब्दुल्ला सरहिन्दी था। इसका प्रारम्भ मुहम्मद बिन साम से होता है और अन्त मुबारक शाह सैय्यद तक है जिसको यह ग्रन्थ समर्पित किया गया है। मुबारक शाह की मृत्यु १४३३-३४ ई० (८३७ हिजरी) में हुई और लेखक ने उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद के समय में इस ग्रन्थ को पूरा किया। यह एक सजग इतिहासकार है जिसकी शैली अतिरंजना और विशेषणों से मुक्त है। वह सीधे-सादे ढंग से लिखता है और फीरोज तुगलक के राजत्व की घटनाओं का वर्णन करने के उपरान्त वह यह कहता है कि इसकी परवर्त्ती सामग्री उसके वैयक्तिक अनुभव तथा विश्वसनीय व्यक्तियों द्वारा प्रदत्त सामग्री पर आधारित है। तारीख-ए-मुबारकशाही केवल ऐसी मौलिक समवर्त्ती रचना है जो सैयद वंश की जानकारी के लिए उपयोगी है। अन्य अनेक चीजों के लिए लेखक नई जानकारी प्रदान करता है। वह मुहम्मद तुगलक के राजत्व के विषय में कुछ तिथियाँ देता है जिससे यह पता चलता है कि उसने बर्नी की तारीख-ए-फीरोजशाही के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों का भी अवलोकन किया होगा। उसने घटनाओं का बड़ी

ईमानदारी से वर्णन किया है और फीरोज की मृत्यु के उपरान्त होने वाले उपद्रवों के लिए उसका ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक है। उसने उस समय देश की शान्ति-भंग करने वाले विद्रोहों का विस्तार से वर्णन किया है।

गायकवाड ओरियंटल ग्रन्थ-माला में तारीख-ए-मुबारकशाही का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

मलफूजात-ए-तैमूरी—यह चगताई तुर्की में लिखी तैमूर की आत्मकहानी है। अबू तालिब हुसेन जिसने कि इसे शाहजहाँ को समर्पित किया है इसका फारसी अनुवादक है। सर हेनरी इलियट कृत इतिहास के तृतीय खंड में इसके उद्धरण उपलब्ध हैं। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जाय कि इसका लेखक स्वयं तैमूर था। हाँ, यह हो सकता है कि यह उसके आदेश और निर्देशन के अनुसार तैयार की गई हो। इसीलिए इसे सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। मलफूजात का आंग्ल संस्करण करने वाले मेजर डेवी इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि परवर्ती तैमूरवंशजों यथा बाबर, जहाँगीर ने आत्मकथाएँ लिखी हैं जिनसे उनके वंश की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

मेजर डेवी 'दि इंस्टीच्यूट्स आफ तैमूर' शीर्षक ग्रन्थ मलफूजात का दूसरा संस्करण है। यह १७८३ ई० में आक्सफोर्ड में प्रकाशित हुआ था। मलफूजात का दूसरा अनुवाद 'ओरियण्टल ट्रान्सलेशन फण्ड' द्वारा १८३० ई० में प्रकाशित हुआ था।

जफरनामा—शर्फुद्दीन द्वारा संकलित यह तैमूर का इतिहास है जो मलफूजात पर आधारित है। तैमूर के १३९८ के भारतीय आक्रमण का विवरण उपरोक्त आत्मकथा से उद्धृत किया गया है।

अफगान इतिहास—अफगानों के इतिहास के लिए चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जिनमें उनके विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है। ये हैं 'तारीख-ए-दाऊदी', 'वाकयात-ए-मुश्ताकी', 'तारीख-ए-सलातीन अफगाना' और 'मखजन ए-अफगानी।' 'तारीख ए दाऊदी' जहाँगीर के राजत्व काल में अब्दुल्ला द्वारा लिखी गयी थी। 'वाकयात-ए-मुश्ताकी' का लेखक रिजकुल्ला मुश्तानी था जिसका जन्म १४९२ ई० में हुआ था और मृत्यु १५८१ ई० में हुई थी। उसने बहलोल लोदी से लेकर जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर तक का इतिहास लिखा है। उसका कहना है कि उसने जिन घटनाओं का उल्लेख किया है उनमें से अधिकांश को उसने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। परन्तु उसकी रचना में एक दोष है। उसने अनेक मनगढन्त कथाओं का समावेश कर लिया है किन्तु इनसे तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं पर प्रकाश पडता है इसलिए वे भी उपयोगी हैं।

अहमद यादगार कृत सलातीन-ए-अफगाना जैसा कि उसके लेखक का कहना है बंगाल के दाऊद शाह, जिसकी मृत्यु ९८४ हिजरी में हुई थी, के आदेशानुसार लिखा गया था। ग्रन्थ की अन्तिम घटना पानीपत में अफगानों के सरदार हेमू की मृत्यु है।

इस ग्रन्थ के मूल पाठ का प्रकाशन 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' द्वारा हुआ है, संपादक है खान बहादुर हिदायत हुसेन।

'मखजन ए अफगानी' का लेखक फरिश्ता का समकालीन नियामत उल्ला है किन्तु इसने उसका कोई उल्लेख नहीं किया। उसने अपना ग्रन्थ १०१८ हि० (१६०९) में खान-ए-जहां लोदी के आदेशानुसार तैयार किया था।

'हिस्ट्री आफ अफगान्स' नाम से 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' में प्राप्य प्रति का डार्न द्वारा किया हुआ अँगरेजी अनुवाद 'ओरियण्टल ट्रांसलेशन फंड' ने १८२७-३६ में प्रकाशित किया था।

इन सब ग्रन्थों के उद्धरण इलियट कृत 'हिस्ट्री आफ इण्डिया' में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक इतिहास हैं जो पूर्व मुगलकालीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निजामुद्दीन अहमद कृत 'तबकात-ए-अकबरी' और बदाऊनी का 'मुन्तखब-उत-तवारीख' और फरिश्ता कृत 'गुलशन-ए-इब्राहीमी' है। फरिश्ता एक ख्यातिलब्ध लेखक है जिसका अधिकांश ब्रिटिश इतिहासकारों ने अनुगमन किया है।

इन स्रोतों के अतिरिक्त राजपूतों की वीरगाथाओं, शिला-लेखों, जैन ग्रन्थों, हिन्दू धर्म सुधारकों तथा साहित्यकारों की कृतियों और चारणों की ख्यातों में प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है। यजदानी कृत 'एपीग्राफिआ इण्डो-मोस्लेमिका' में ऐसे शिला-लेख हैं जो प्रारम्भिक मध्ययुगीन इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। 'पुरातात्त्विक सर्वेक्षण प्रतिवेदन' (आर्कीयोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट्स), 'दि एपीग्राफिआ इण्डिका' और 'एपीग्राफिआ कर्नाटिका' में भी महत्त्वपूर्ण सामग्री है। मुद्रा और पुरातन स्मारकों का अध्ययन भी उपयोगी सिद्ध होगा।

अध्याय १

मुसलमान-आक्रमणों से पूर्व का भारत

उत्तर-भारत की दशा—हर्ष की मृत्यु (६४७ ई०) के पश्चात् भारत के इतिहास में जो काल प्रारम्भ होता है, वह राजनीतिक अव्यवस्था और विघटन का काल है। हर्ष का विशाल साम्राज्य ऐसे अनेक राज्यों में विभाजित हो गया, जो एकता या पारस्परिक सम्पर्क के किसी भी सिद्धान्त से सूत्रबद्ध नहीं थे। प्रत्येक राज्य अपनी-अपनी प्रधानता स्थापित करने के लिए परस्पर लड़ता रहता था और उस समय ऐसी कोई प्रमुख शक्ति न रह गई थी जो इनको सफलतापूर्वक नियन्त्रित कर विघटनकारी तत्त्वों को रोक सकती। यद्यपि कन्नौज बहुत समय तक इन सब राज्यों में सबसे शक्तिशाली और प्रमुख रहा, परन्तु उसकी भी प्रधानता सर्वमान्य नहीं थी। बहुधा ऐसा देखा गया है कि पूर्वीय देशों में जब कोई विशाल साम्राज्य समाप्त हो जाता है तो शीघ्र ही राजनीतिक संघटन छिन्न-भिन्न होने लगता है। सोलहवीं शताब्दी के जर्मनी की तरह इस समय भारत भी अनेक स्वतन्त्र राज्यों का समूह बन गया था।

काश्मीर—काश्मीर हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था यद्यपि यहाँ के शासक को हर्ष ने बुद्ध के एक महत्त्वपूर्ण अवशेष को देने के लिए बाध्य किया था। यद्यपि काश्मीर हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था तथापि कल्हण की 'राजतरंगिणी' से काश्मीर के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है और यह इस विषय का बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। जब ह्वेन-सांग काश्मीर आया था (६३१-३३ ई०) तो वहाँ के शासक (जो सम्भवतः कारकोट-वंशीय दुर्लभसेन था) ने उसका हार्दिक स्वागत किया। दुर्लभसेन के बाद उसके तीन पुत्र क्रमशः सिंहासनारूढ़ हुए, जिनमें सबसे प्रसिद्ध ललितादित्य मुक्तापीड़ था। वह बहुत योग्य शासक था। उसने काश्मीर तथा समीपवर्ती देशों के आगे अपने राज्य का विस्तार किया। उसने कन्नौज के यशोवर्मन पर आक्रमण कर उसे अधीन किया तथा तत्पश्चात् ही तिब्बतियों और भोटियों पर चढ़ाई की। प्रसिद्ध मार्तण्ड मन्दिर के निर्माण का श्रेय इसी शासक को प्राप्त है। इस मन्दिर के भग्नावशेष हिन्दू-स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और सर ऑरेल स्टाइन के शब्दों में "इस वर्तमान जीर्ण-शीर्ण अवस्था में भी यह अपने विशाल आकार, स्थापत्य की बनावट तथा सजावट की सुन्दरता—दोनों ही बातों के लिए प्रशंसनीय

है।" दूसरा विख्यात शासक मुक्तापीड़ का पौत्र जयपीड हुआ, जो अनुश्रुतियों के अनुसार विश्व-विजय के लिए चल पड़ा था। परन्तु उसके युद्ध-सम्बन्धी प्रयत्नों के विषय में निश्चित सूचना नहीं मिलती। नवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते-होते कारकोट-वंश का महत्त्व क्षीण हो चला और उत्पल-वंश ने उसका स्थान ग्रहण कर लिया।

इस नये वंश का प्रथम शासक अवन्तिवर्मन् (८५५-८३ ई०) था। इसके विषय में यह तो स्पष्ट विदित नहीं होता कि उसने बड़ी-बड़ी विजयें प्राप्त की परन्तु उसके शासन में आन्तरिक शान्ति और समृद्धि के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। उसके पश्चात् शंकरवर्मन् सिंहासनारूढ हुआ (८८३-९०२ ई०) जिसको अपने चचेरे भाई सुखवर्मन् तथा दूसरे प्रतिद्वंद्वियों का सामना करना पड़ा। शंकरवर्मन् ने भूमि-कर की ऐसी कठोर प्रणाली प्रचलित की कि वह प्रजा के लिए कष्टदायक सिद्ध हुई। प्रचलित करों के कारण जनता में असन्तोष फैल गया। नये-नये करों ने धार्मिक संस्थाओं तक का धन राज्याधीन कर लिया और इनकी अनिश्चितता तथा वसूल करने के ढंग में कठोरता ने वाणिज्य-व्यवसायों की उन्नति रोक दी। बेगार प्रथा ने किसानों की दशा और भी शोचनीय बना दी। कल्हण लिखता है:—

"इस प्रकार उसने गाँवों के लिए दुर्भाग्यसूचक तेरह प्रकार की कुख्यात बेगार-प्रथा प्रचलित की। स्कन्दकों, ग्राम-कायस्थों तथा अन्य अधिकारियों के वेतन के निमित्त धन वसूल कर और अनेक प्रकार के कर लगाकर उसने ग्रामीण जनता को धन-हीन बना दिया।"[1]

इसी बीच लल्लिय नामक ब्राह्मण ने अंतिम तुर्की-शाही वंश के राजा को हराकर नये हिंदू-शाही वंश की नींव डाली जो १०२१ ई० तक शासन करता रहा और अन्त में मुसलमानों द्वारा नष्ट किया गया।

शंकरवर्मन् की मृत्यु के बाद सबसे अधिक विख्यात शासक, जिसका उल्लेख मिलता है, क्षेमगुप्त हुआ (९५०-५८ ई०)। शासन के प्रारम्भिक वर्षों में वह अधिक प्रसिद्ध न हो सका, परन्तु दिद्दा के साथ, जो अपने मातृ-पक्ष से शाही-वंश से सम्बन्धित थी, विवाह होने के पश्चात् उसका प्रभाव बढ़ने लगा। दिद्दा बहुत योग्य स्त्री थी और अपने प्रभावशाली व्यक्तित्त्व के कारण ही वह काश्मीर में व्यवस्था बनाये रखने तथा पचास वर्ष तक निर्विरोध राज्य करने में सफल हुई। ९५८ ई० में क्षेमगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका अल्पवयस्क पुत्र सिंहासन का अधिकारी हुआ। दिद्दा अपने अधिकार के कारण

१. स्टाइन-संपादित 'राजतरंगिणी' जि० १, भा० ५ पृ० २०९-१०।

संरक्षक बन गई, परन्तु यह पद फूलों की सेज न था। सामन्तों ने उसका प्रबल विरोध किया और महिमन तथा पटल नामक दो सरदारों ने तो खुल्लमखुल्ला विद्रोह ही कर दिया। दिद्दा के साहस और प्रत्युत्पन्न बुद्धि ने इस संकट में उसकी अच्छी सहायता की। वह विद्रोह शान्त करने में सफल हुई और अपने शत्रुओं को निर्दयतापूर्वक मौत के घाट उतार कर तथा उनके परिवारो को नष्ट कर, बदला लेने में सफल हुई।

दिद्दा सफल तो हो गई, परन्तु शीघ्र ही दलबंदी के दलदल में फँस गई। वह अपने सामन्तों और सरदारो से लड बैठी और उनका विद्रोह दबाने के लिये उसको अनुचित उपाय अपनाने पड़े। परन्तु भाग्य उसका साथ देता रहा और जब तक वह जीवित रही, उसने काश्मीर को अपनी मुट्ठी में कसकर रखा। १,००३ ई० में उसके देहान्त के पश्चात् शासन-सूत्र लोहर के शासक उसके भाई उदयराज के पुत्र संग्रामराज के हाथ में आया। यहाँ से लोहर-वंश शासन का प्रारम्भ होता है।

इस वंश का उल्लेखनीय शासक हर्ष था (१०८९-११०१) कल्हण ने उसके चरित्र का सजीव वर्णन किया है जिसको सर ऑरेल स्टाइन ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :—

"हर्ष के विचित्र जीवन में दयालुता और निर्दयता, उदारता और लोभ, घोर स्वेच्छाचार तथा विचारहीन अकर्मण्यता, धूर्तता एवं विवेकहीनता और इसी प्रकार की असंगत प्रतीत होनेवाली विशेषताऍ क्रम से व्यक्त होती है। जिस प्रबलता के साथ ये गुण चरित्र में प्रकट होते है, उस पर जोर देकर कल्हण ने उसके चरित्र के मूल-तत्त्व का उद्घाटन किया है। कल्हण के लिखे हुए हर्ष के चरित्र एव शासन के वर्णन को पढ़कर आज का मनोवैज्ञानिक उसमें मानसिक अस्वस्थता के लक्षणों का निश्चित आभास सुगमता से पा सकता है, जो राजा के जीवन के अन्तिम भाग मे विक्षिप्तता के रूप में प्रकट हुए थे।"[२]

हर्ष अत्याचारी शासक था। उसने मंदिरों की सम्पत्ति को भी छीन लिया। उसके इस अधार्मिक कार्य से देश में अशान्ति फैल गई। उसने नये और अत्याचारपूर्ण कर लगाने शुरू किये तथा मल-विसर्जन पर भी कर लगाने की बात सोच निकाली। अत्याचारों की कोई सीमा न रह गई। गाथाएँ उसके द्वारा अपनी सगी बहिनों और अपने पिता की विधवाओ के साथ किये गये असंख्य दुराचारों का वर्णन करती हैं। ऐसा नर-पिशाच अधिक समय

---

२. स्टाइन, राजतरंगिणी, जि० १ भूमिका पृ० ११२।

तक शान्तिपूर्वक शासन नहीं कर सकता था। अतः देश में षड्यन्त्र रचे जाने लगे। उस पर आक्रमण हुआ और उसका महल जला दिया गया। प्राण-रक्षा के उसके सब प्रयत्न विफल हुए। वह पकड़ा गया और ११०१ ई० में मौत के घाट उतार दिया गया। हर्ष की मृत्यु के बाद दूसरा लोहर-वंश सत्तारूढ़ हुआ, परन्तु इसका इतिहास उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है।

चौदहवीं शताब्दी में मुसलमानों ने सत्ता हस्तगत कर ली। १३३९ ई० में शाहमीर नामक दक्षिण के एक शक्तिशाली साहसिक ने काश्मीर के अन्तिम हिन्दू राजा की विधवा पत्नी रानी कोटा को गद्दी से अलग कर एक नये राजवंश की नींव डाली। सर ऑरेल स्टाइन के कथनानुसार प्रारम्भ में इस्लाम ने काश्मीर की राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं किया। ब्राह्मणों को उच्च पदों पर नियुक्त किया गया और उन्हें शासन कार्य सौंपा गया। इस वंश ने कई योग्य शासकों को जन्म दिया, परन्तु बाद में इसका प्रभाव घटने लगा और सत्ता के लिये प्रतिद्वंद्व प्रारम्भ हो गया। इससे मुगलों को काश्मीर-विजय का सुअवसर मिल गया। 'तारीख-ए-रशीदी' के प्रसिद्ध लेखक मिर्जा हैदर दुगलात ने काश्मीर पर अधिकार जमाया, परन्तु शीघ्र ही दूसरे कार्यों में व्यस्त हो जाने के कारण उसको यह अधिकार छोड़ देना पड़ा। उसने फिर सन् १५४० ई० में काश्मीर को अपने अधीन किया और मृत्यु-पर्यन्त (१५५१ ई०) मुगल-सम्राट् हुमायूँ के नाम पर शासन करता रहा। उसके देहान्त के बाद काश्मीर में फिर अराजकता फैल गई और प्रतिद्वंद्वी दलों ने अपने-अपने पक्ष के नाम-मात्र के राजाओं को सत्तारूढ़ कराया। यह राजा व्यवस्थित शासन स्थापित करने में असमर्थ थे। यह अव्यवस्था अन्ततः तब समाप्त हुई, जब १५८६ ई० में अकबर ने काश्मीर को मुगल-साम्राज्य में मिला लिया।

कन्नौज—हर्ष की मृत्यु के पश्चात् परिहार या प्रतिहार-वंश द्वारा शासित **कन्नौज** पहला राज्य था जिसने प्रमुखता प्राप्त की। कन्नौज का राजा यशोवर्मन् शक्तिशाली शासक था। विदेशी राज्यों के साथ उसने कूटनीतिक सम्बन्ध जोड़ लिया था। विद्या-प्रेम के लिए भी वह विख्यात है।[३] उसके बाद बहुत से दुर्बल शासक सिंहासनासीन हुए, जो काश्मीर, बंगाल और दूसरे पड़ोसी राज्यों के आक्रमणों को रोक सकने में असमर्थ थे। लेकिन मिहिर-

---

३. यशोवर्मन् को काश्मीर के ललितादित्य ने ७४१ ई० में सिंहासन-च्युत किया। प्रसिद्ध नाटक *'मालती माधव'* तथा *'उत्तररामचरित'* का लेखक महाकवि भवभूति इसी की राजसभा में था।

स्टाइन सम्पादित *'राजतरंगिणी'* भा० ४, पृ० १३४।

भोज (८४०-८९० ई०) के हाथों कन्नौज का फिर उत्कर्ष हुआ। मिहिरभोज योग्य और शक्तिशाली शासक था। उसने विस्तृत विजयों से विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जिसमें पंजाब राज्य के सतलज के आसपास के जिले, राजपूताना का कुछ भाग, वर्तमान उत्तर-प्रदेश का बहुत बड़ा भाग और ग्वालियर प्रदेश सम्मिलित थे। भोज के उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल ने भी अपने पिता से प्राप्त विशाल साम्राज्य पर दृढ़ अधिकार रखा, परन्तु जब राजसत्ता उसके सौतेले भाई महिपाल के हाथ में आई तो कन्नौज को ९१६ ई० में राष्ट्रकूट-वंश के राजा तृतीय इन्द्र की शक्ति के सामने झुकना पड़ा।[४]

अधीनस्थ प्रदेश, जो केवल आंशिक रूप में ही राजभक्त थे अब स्वतन्त्र होने लगे और कन्नौज के आधिपत्य की अवहेलना करने लगे; परन्तु कन्नौज के सौभाग्य से इन्द्र ने अपनी विजय को आगे नहीं बढ़ाया और उसके लौट जाने के बाद महिपाल को अपने सहयोगियों की सहायता से अपने खोए अधिकार को पुनः प्राप्त करने में अधिक कठिनाई नहीं हुई। परन्तु इसके बाद भी वह विजय-लोलुप पड़ोसियों से अपनी रक्षा न कर सका और यशोवर्मन् चन्देल को, जिसने जेजाकभुक्ति राज्य के प्रधान नगर कालिंजर में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, विष्णु की एक बहुमूल्य मूर्ति देकर उसने अपनी जान बचाई। यमुना नदी पांचाल और जेजाकभुक्ति राज्यों की सीमा निश्चित हुई। कन्नौज की शक्ति का ह्रास होता गया और पहले का शक्तिशाली कन्नौज अब इतना शक्तिहीन हो गया कि अधीन प्रदेश एक-एक कर उसके हाथ से निकलने लगे। गुजरात स्वतन्त्र हो ही चुका था और दसवीं शताब्दी के मध्य में वहाँ सोलंकी-राज्य की स्थापना से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि उस समय कन्नौज का पश्चिम भारत के साथ सम्बन्ध न रह गया था।[५] ग्वालियर भी कन्नौज के अधिकार से निकलकर बुंदेलखण्ड के चन्देल शासक की अधीनता में चला गया था।

---

४. एपिग्राफिया इण्डिका, भा० ७ पृ० ३० व ४३।

५. गुजरात के ऐतिहासिक विवरणों के अनुसार मूलराज ने ९४२ ई० से ९९७ ई० तक राज्य किया। उसको कन्नौज के राजा 'राजी' का पुत्र कहा गया है। स्मिथ का कथन है कि 'राजी' महिपाल की एक सैनिक उपाधि थी और मूलराज सम्भवतः उसका प्रतिनिधि-शासक था, जो महिपाल की अधीनता ठुकरा कर स्वतन्त्र हो गया था। (स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' पृ० ३८१)।

ख्यातों (ऐतिहासिक गाथाओं) के अनुसार चालुक्य-वंश की अनहिलवाड़ शाखा के संस्थापक प्रथम मूलराज ने वि० सं० ९९८ से १०५३ तक राज्य किया। राज्यारोहण के थोड़े ही समय बाद उसको शाकंभरी के राजा और

चन्देलों की तरह चौहान और परमार-वंश के राजपूतों ने अजमेर और मालवा में अधिकार जमा लिया था। कन्नौज का परिहार-वंश मुसलमान-आक्रमणकारियों के निरन्तर आक्रमणों से, जिनका विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा, द्रुतगति से शक्तिहीन होता गया। जब १०१९ ई० में महमूद गजनवी अपनी युद्ध-निपुण सेना लेकर कन्नौज के दरवाजे पर आ धमका तो कन्नौज का शासक राज्यपाल उसके सामने ठहर न सका और घोर अपमानपूर्ण आत्म-समर्पण द्वारा उसने अपना पीछा छुड़ाया। उसके सहायक राजाओं ने जिन्होंने सुबुक्तगीन के हमले को रोकने में उसका साथ दिया था, इस कायरतापूर्ण आत्म-समर्पण को राजपूती शान पर अमिट कलंक समझा और उससे रुष्ट हो गये।

उसके इस प्रकार अधीनता स्वीकार कर लेने पर चन्देल राजा गंड रुष्ट हो गया और राज्यपाल को इस अपमानजनक कृत्य का दण्ड देने के लिये उसने राजाओं का संघटन किया। गंड के पुत्र विद्याधर ने इस सम्मिलित सेना का नेतृत्व किया। इसमें ग्वालियर का कछवाहा सरदार भी सम्मिलित था। इस सम्मिलित सेना ने राज्यपाल को बुरी तरह पराजित कर तलवार के घाट उतार दिया।[६] अब राज्यपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल शासक हुआ।

तैलप के सेनापति बरप्पा के आक्रमण का सामना करना पड़ा। शाकंभरी का राजा विग्रहराज चौहान रहा होगा।

मूलराज के शासन-काल का निश्चय अभिलेखों से हो जाता है। सबसे पुराना अभिलेख, जो ९७४ ई० का है, श्री ध्रुव की नजर में आया था और दूसरा अभिलेख 'काडी-प्लेट' है जो ९९७ ई० का है। मूलराज के सबसे बाद के अभिलेख पर ९९५ ई० की तिथि पड़ी है। यह कान्यकुब्ज के ब्राह्मण दीर्घाचार्य को चन्द्रग्रहण के अवसर पर दिये गये अनुदान से सम्बन्धित है।

देखिये, स्टेन कॉनो का 'बालेरा प्लेट्स ऑव मूलराज' निबंध-एपिग्रा० इण्डिका जि० १० पृ० ७६-७८।

हर्ष ने गुजरात के वल्लभी राजाओं को जीत लिया था, लेकिन उसकी मृत्यु के बाद वह ७६० ई० में स्वतन्त्र हो गये थे और अरबों ने उनकी राजधानी को नष्ट किया था। इनके पतन से गुजरात में एक दूसरे राजवंश का उदय सम्भव हो सका। यह वंश भी राष्ट्रकूटों और सोलंकियों के सामने दब गया जिन्होंने दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

(जनरल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, १९१३, पृ० २६६-६९, इण्डियन एण्टिक्वेरी, १३, पृ० ७०)।

६. ग्वालियर के समीप दुबकुण्ड-अभिलेख (एपिग्रा० इण्डि० जि० २, पृ० २३५) ग्वालियर के कछवाहा सरदार अर्जुन द्वारा, विद्याधर चंदेल के आदेश से, राज्यपाल का वध किया जाना लिखा है। महोबा में प्राप्त एक

मुसलमान आक्रमणकारियों के निरन्तर बढ़ते हुए दबाव और पड़ोसी राजाओं की ईर्ष्या के कारण वह भी अपनी शक्ति न बढा सका। आन्तरिक दुर्बलता और मुसलमानो के हमलो की चोटों ने कन्नौज के रहे-सहे प्रभाव को भी समाप्त कर दिया और त्रिलोचनपाल के उत्तराधिकारी[७] अपना अधिकार बनाये रखने का असफल प्रयास करते रहे। अन्त में १०९० ई० के लगभग गहरवार-वंश के राजा चन्द्रदेव ने, जिसने बनारस, अयोध्या और संभवतः दिल्ली की सीमा पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया था, कन्नौज के इस राजवश को पूर्णतः परास्त कर दिया।

अजमेर—राजपूतो का दूसरा प्रसिद्ध वंश राजपूताना में सांभर का चौहान-वंश था, जिसको कर्नल टॉड ने "राजपूतों में सर्वाधिक शूरवीर" कहा है। अजमेर सांभर-राज्य का एक भाग था। इस राज्य का प्रारम्भिक शासक जिसका कि प्रामाणिक विवरण प्राप्त होता है चतुर्थ विग्रहराज था जो वीसलदेव चौहान के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।[८] वह अत्यन्त बलशाली

अभिलेख में विद्याधर को युद्ध-कला-विशारद कहा गया है और कान्यकुब्ज के राजा के विनाश का श्रेय इसी को दिया गया है।

(एपिग्रा० इण्डि० जि० १, पृ० २१९)।

७. त्रिलोचनपाल के उत्तराधिकारी यशपाल के एक १०६६ ई० के प्रस्तर अभिलेख से, विदित होता है कि इस वर्ष तक कन्नौज में परिहारों का शासन रहा। परन्तु इसके बाद चन्द्रदेव राठौर ने उनको पराजित कर दिया और स्वय इस छोटे से राज्य का स्वामी बन बैठा, क्योंकि अब तक कन्नौज के अधीन प्रदेश इसके हाथ से निकल चुके थे। ('टॉड का राजस्थान'—गौरीशंकर हीराचंद ओझा सम्पादित पृ० ४४९)।

दिल्ली की स्थापना इस घटना से लगभग एक शताब्दी पूर्व ९९३-९४ ई० मे हो चुकी थी।

८. वीसलदेव अर्णोराज (अनलदेव) का दूसरा पुत्र था। अर्णोराज के तीन पुत्र थे—जगदेव, वीसलदेव और सोमेश्वर। जगदेव ने अपने पिता को मारकर अजमेर का सिंहासन हस्तगत कर लिया था। परन्तु उसके छोटे भाई बीसलदेव ने उससे गद्दी छीनकर और स्वयं अपने को राजा घोषित कर उस अमानुषिक अपराध का दण्ड दिया।

('टॉड का राजस्थान'—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पृ० ४००)।

सोमेश्वर के समय का एक प्रस्तर-लेख, जिस पर विक्रम सं० १२२६ (११६९ ई०) की तिथि पड़ी है, मेवाड़ में बिजोलिया नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इसमें वीसलदेव द्वारा दिल्ली-विजय का उल्लेख है। यह विजय ११६३ ई० के लगभग की गई थी। ऐसा ही उल्लेख और तीन स्थानों पर मिला है। स्मिथ ने बीसलदेव द्वारा दिल्ली-विजय की घटना पर संदेह प्रकट किया है ('अर्ली हिस्ट्री' पृ० ३८७)। अभिलेख (जरनल ऑव एशियाटिक सोसा० ऑव बगाल, १८८६, पृ० ५६) के २२वे श्लोक के अनुवाद से स्मिथ

था और युद्धों में शौर्य-प्रदर्शन एवं विजयों का यशलाभ करने के लिए सदा लालायित रहता था। विद्यानुराग में भी वह किसी से पीछे न था। वह विद्या-प्रेमी भी था और स्वयं भी उच्चकोटि का विद्वान् और कवि था। उसने तुर्कों से लोहा लिया तथा परिहारों से दिल्ली छीनकर हिमालय की तराई से विन्ध्याचल तक विस्तृत राज्य का निर्माण किया।[९] बीसलदेव ने विद्या की उन्नति और प्रसार के लिए भी बहुत प्रयत्न किया। अजमेर में उसने बहुत बड़ा विद्यालय स्थापित किया और अपने राजकवि सोमेश्वर-रचित 'ललिता-विग्रहराज' नाटक तथा अपने बनाये 'हरिकेलि' नाटक को प्रस्तरखण्डों पर

की यह धारणा पुष्ट होती दिखाई देती है, लेकिन ११६४ ई० के दिल्ली-शिवालिक-स्तम्भ अभिलेख में कहा गया है कि उसने हिमालय और विन्ध्याचल के बीच के सारे देश को जीत लिया था।

'पृथ्वीराज विजय' काव्य में, जिसकी रचना ११७८-१२०० ई० के बीच हुई, उत्तर-भारत के अन्तिम चौहान सम्राट् की पराक्रमपूर्ण विजयों का वर्णन है। इसका पता डा० बुहलरने काश्मीर में लगाया था। इस काव्य में चौहानों की वंशावली दी गई है, जो अभिलेखों से प्रमाणित हो जाती है। यह निम्न प्रकार है :—

अर्णोराज (११३९ ई०)

- नाम नही दिया है (हम्मीर महाकाव्य और ग्वालियर और कुमाऊँ से प्राप्त वंशावलियों से, जिनका जनरल कनिंघम ने विचार किया है, पता लगता है कि इसका नाम जगदेव था)
  - पृथ्वीभट्ट (११६७-६९ ई०)
- चतुर्थ विग्रहराज (११५३-६४ ई०)
  - अपर गांगेय या अमर गांगेय
- सोमेश्वर-कर्पूरदेवी (११७०-७७ ई०)
  - पृथ्वीराज (मृत्यु ११९२ई०) या राय पिथौरा
  - हरिराज (११९३-९५)

श्री कैनेडी का कहना है कि बीसलदेव की सबसे प्रसिद्ध विजय दिल्ली की विजय थी। उसने दिल्ली के तोमर-वंशी राजा को करद-राजा के रूप में राज्य करने दिया और अपने पुत्र सोमेश्वर का विवाह उसकी पुत्री से कर दिया। (इम्पीरियल गजेटियर भा० २, पृ० ३१४)।

९. प्रसिद्ध लोह-स्तंभ पर बीसलदेव का वि० सं० १२२० (११६३ ई०) का अभिलेख है। इसके अनुसार उसने देश को मुसलमानों से मुक्त कर पुनः आर्यभूमि बनाया। नादोल, जालोद और पाली पर उसने आक्रमण किया और दिल्ली को ११५३-६३ ई० के मध्य जीता।

कार स्टीफन—'आर्क्योलॉजी ऑव दिल्ली' पृ० १३८; 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' जि० २० पृ० २०१; 'शारदा—अजमेर पृ० १५३।

अंकित करवाया, जिससे वह सुरक्षित रह सके। यह नाटक आज भी अजमेर के 'राजपूताना संग्रहालय' में सुरक्षित है। 'हरिकेलि' नाटक का विवरण 'इंडियन एण्टिक्वेरी' जिल्द २०, पृ० २०१ में दिया हुआ है। डा० कीलहॉर्न ने निम्न शब्दों में भारतीय नरेशों की प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है—"यहाँ इस बात के यथार्थ और असंदिग्ध प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि प्राचीनकाल के शक्तिशाली हिन्दू-नरेश कवि के रूप में ख्याति प्राप्त करने के लिए कालिदास और भवभूति से स्पर्धा करने को उत्सुक रहते थे।" इस विद्यालय के भवन को मुहम्मद गोरी के सैनिकों ने ११९३ ई० में भूमिसात् किया और अपने सहधर्मियों को कृतकृत्य करने के लिए इसके स्थान पर एक मस्जिद का निर्माण करवाया। तुर्कों के प्रारम्भिक इतिहास में बर्बरता के ऐसे कार्यों की कमी नहीं है। शताब्दियों से पूज्य विद्या के स्थान और देवालय इन धर्मान्ध साहसिकों के प्रहारों से अपना अस्तित्व अक्षुण्ण न रख सके। इन साहसिकों की दृष्टि में तो ऐसे स्थानों का ध्वंस धर्म के प्रति पवित्र कर्त्तव्य का पालन करना समझा जाता था। बीसलदेव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र अमरगांगेय शासनाधिकारी हुआ। परन्तु वह अल्पवयस्क था, इसलिए उसके चाचा जगदेव के पुत्र पृथ्वीराज ने उसके प्रतिनिधि के रूप में शासन का संचालन अपने हाथ में ले लिया और थोड़े समय बाद ही सिंहासन छीनकर अपने नाम से शासन करने लगा। उसके देहावसान के बाद, जो सम्भवतः ११६९ ई० में हुआ, दिल्ली का सिंहासन बीसलदेव के छोटे भाई सोमेश्वर के अधिकार में आया। सोमेश्वर का आधिपत्य तोमर और चौहान दोनों ही वंशों के राज्यों पर स्थापित हो गया और दिल्ली तथा अजमेर के अधीन राज्यों ने भी उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। उसके बाद राजपूत-गौरव की अन्तिम विभूति विख्यात पृथ्वीराज चौहान[10]

---

१०. 'पृथ्वीराजरासो' में लिखा है कि दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल ने, जो पृथ्वीराज का नाना था, पृथ्वीराज को गोद लिया था; इस प्रकार वह दिल्ली के सिंहासन का अधिकारी हुआ था। यह कपोल-कल्पित कथा है। जैसा कहा जा चुका है, बीसलदेव चौहान ने तोमरों से दिल्ली को जीत लिया था और तब से दिल्ली अजमेर के चौहानों के अधीन थी।

चन्दबरदाई ने लिखा है कि सोमेश्वर का विवाह अनंगपाल की पुत्री कमला देवी से हुआ। परन्तु यह असत्य है। सोमेश्वर की रानी का नाम कर्पूरदेवी था और वह कलचुरि वंश के राजा की कन्या थी। इस विवाह से पृथ्वीराज का जन्म हुआ था, जिसने अपने पिता की मृत्यु के बाद दिल्ली और अजमेर दोनों ही राज्यों का शासन सँभाला। (जरनल रॉयल एशि० सोसा०, १९१३, पृ० २५९-८१)।

'हम्मीर-काव्य' से भी इसी मत का समर्थन होता है और ब्युहलर ने भी

सिंहासनारूढ़ हुआ, जिसके शौर्य और प्रेम के पराक्रमपूर्ण कार्यों की गाथाएँ आज भी उत्साही चारणों द्वारा समस्त उत्तर-भारत में गाई जाती है। मध्यकालीन योरप के वीर-योद्धाओ की भाँति समर-भूमि में वह बहुत आनन्द का अनुभव करता था। उसकी विजयों से उसका यश देश के कोने-कोने में फैल गया। ११८२ ई० में उसने चन्देलों के राज्य पर अभियान किया और महोबा के राजा परमर्दिन या परमाल को हराया। जब मुहम्मद गोरी ने भारत पर आक्रमण किया तो पृथ्वीराज ने राजपूत-राजाओ को संघबद्ध किया और उनकी सम्मिलित सेना ने ११९१ ई० में थानेश्वर के पास तराइन नामक स्थान पर मुसलमानों को पराजित किया। यह पराजय मुसलमान-आक्राता के हृदय में चुभती रही और अगले वर्ष वह पुनः असख्य सेना लेकर आ पहुँचा। वीर राजपूत जान हथेली पर रखकर लड़े और अन्तिम क्षण तक लड़ते-लड़ते खेत रहे। राजपूतों की पराजय हुई। मुसलमान इतिहासकारों का कहना है कि पृथ्वीराज को बदी बनाकर निर्दयतापूर्वक उसका वध किया गया।[11] इस पराजय और पृथ्वीराज के निधन से हिन्दू-शक्ति को विनाशकारी आघात लगा और विजयी आक्रांता हिन्दुस्तान का अधिपति बन गया। अभिमानी कन्नौज-नरेश जयचन्द ने इस युद्ध में भाग नही लिया और उदासीन

यही स्वीकार किया है। (प्रोसीडिंग्स० ऑव एशि० सोसा० ऑव बंगाल, १८९३, पृ० ९४)।

११. 'रासो' में लिखा है कि पृथ्वीराज को बदी बनाकर गजनी ले जाया गया, जहाँ अपनी धनुर्विद्या में निपुणता का प्रदर्शन करते हुए उसने सुलतान को तीर से बेध दिया और स्वयं भी टुकडे-टुकडे कर मार डाला गया। यह कथा सत्य नही है। सुलतान का वध खोखरों द्वारा हिजरी सन् ६०२ (१२०५-६ ई०) मे हुआ था।

चन्दवरदाई का कथन है कि युद्ध में पृथ्वीराज को जीतना असम्भव समझकर, जयचन्द्र ने एक चाल चली। उसने अपने भाई बालकराम को शहाबुद्दीन की सहायता के लिए भेजा और शहाबुद्दीन को दिल्ली पर चढाई करने के लिए उकसाया। यह कथन भी ठीक नही है। किसी भी मुसलमान इतिहासकार के कथन से इसका समर्थन नहीं होता।

(श्यामसुन्दरदास, 'रासोसार', पृ० १४३)।

श्री हरविलास सारदा ने अपनी पुस्तक 'अजमेर' में (पृ० १५५) में इस बात को असंदिग्ध रूप से स्वीकार कर लिया है कि कन्नौज के राठौरों और गुजरात के सोलंकियो ने मिलकर मुहम्मद गोरी को पृथ्वीराज पर चढ़ाई करने के लिए बुलाने का षड्यन्त्र रचा था। यह बात बहुत संदिग्ध है और स्पष्टतः रासो के आधार पर कही गई है। यदि जयचन्द ने मुसलमानो से सहयोग किया होता तो मुसलमान इतिहासकार इसका उल्लेख अवश्य और बड़ी प्रसन्नता से करते।

भाव से युद्ध का तमाशा देखता रहा। उसने चौहान-वंश पर आई हुई इस घोर विपत्ति को दूर करने में सहयोग न दिया। शायद उसका यह विश्वास था कि इस प्रकार उसके एक प्रबल-प्रतिद्वंद्वी का, जिसने उसको बहुत कष्ट दिया था, विनाश हो जाने से उसके मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा दूर हो जायगी और तब उत्तर-भारत की प्रमुखता प्राप्त करने के लिए उसका मार्ग निष्कंटक हो जायगा।

दिल्ली की विजय से मुसलमान-विजेताओं का मार्ग प्रशस्त हो गया। कन्नौज के राठौरों और दिल्ली के चौहानों के आपसी झगड़ों और हिन्दुस्तान में प्रमुखता प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा ने दोनों की शक्ति को क्षीण कर दिया था। अतः दोनों के विनाश की भूमिका तैयार हो गई थी। भीषण संग्राम में राय पिथौरा को हराकर मुहम्मद गोरी ने कन्नौज की ओर मुंह फेरा और अपनी दुर्जेय सेना की सहायता से जयचन्द को हराकर राठौरों के प्रभुत्व को समाप्त किया। मुसलमानों के विजय-प्रवाह को रोकने में स्वयं को असमर्थ देखकर, गहरवार-वंश के बहुत से लोग कन्नौज छोड़कर राजपूताना में जा बसे और वहां उन्होंने वर्तमान जोधपुर राज्य की नींव डाली। मुहम्मद के योग्य सेनापतियों ने ग्वालियर, अनहिलवाड़ और कालिंजर को जीतकर विजय का कार्य सम्पन्न किया। उसके गुलाम कुतुबुद्दीन को, जो दिल्ली के सिंहासन पर बैठ गया था, उत्तर-भारत के अनेक राज्यों ने अपना स्वामी स्वीकार कर लिया।

चन्देल-वंश—उत्तर-भारत के अन्य प्रसिद्ध राजपूत-शासक-वंशों में जेजाकभुक्ति (वर्तमान बुन्देलखण्ड) के चन्देल[12] और चेदि के कलचुरि जिनका

---

१२. चन्देलों की उत्पत्ति के विषय में स्मिथ लिखता है :—"स्वयं चन्देलों में एक अविश्वसनीय कथा प्रचलित है, जिसमें उनकी उत्पत्ति चन्द्र द्वारा एक ब्राह्मणी के सहवास से बताई गई है। इस कथा का महत्त्व इसमें छिपे हुए इस तथ्य में है कि इस जाति को उच्च-कुलोत्पन्न प्रमाणित करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया और 'चन्द्रवंशी' राजपूतों में मिला लेने और ब्राह्मणी-माता की बात गढ़कर सम्मान का पद दिला देने से भली भांति पूरी कर दी गई। वास्तव में अब भी चन्देलों को हीन-कुल का माना जाता है। स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके पूर्वज उत्तर-पश्चिम से नहीं आये थे और न इनका सम्बन्ध उन हूण तथा अन्य जातियों से था, जिनकी संतान वर्तमान काल के चौहान आदि 'सूर्यवंशी' राजपूतों के रूप में विद्यमान है। इस बात के इनमें पर्याप्त लक्षण दिखाई देते हैं कि इनकी उत्पत्ति गोंडों से हुई, जिनके साथ ऐसी ही अन्य जातियां भी सम्बद्ध हैं। (इण्डि० एण्टि०, १९०८, पृ० ११४-४८ पर स्मिथ का चन्देलों के इतिहास और सिक्कों पर लेख)। 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (१९२४ का संस्करण) पृ० २४९; जरन० ऑव एशि० सोसा० बंगाल, १८७७, भा० १, पृ० २३३।

आधिपत्य वर्तमान मध्य-प्रदेश के अन्तर्गत आनेवाला क्षेत्र था, उल्लेखनीय हैं। पडोसी राज्यों के शासक होने के कारण, इन वंशों में घनिष्ठ सम्पर्क रहा। इनका मध्यकालीन इतिहास, पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध, अधिकार-लोलुपता और सीमा-सम्बन्धी विवादों के कारण जो युद्ध हुए, उनका वर्णन है। कालिंजर पर अधिकार होने के कारण चेदि-शासकों को 'कालिंजराधिपति' भी कहा गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय तैलंग प्रदेश पर भी उनका अधिकार था।

अब यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि स्थानीय परिहार-सरदारों को अधिकार-च्युत कर चन्देलों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था। परन्तु यह वंश इतिहास के क्षेत्र में उस समय तक प्रकाशित न हो पाया जब तक कि नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में नन्नुक चन्देल ने अपने लिए एक छोटे से राज्य की स्थापना न कर ली, जो प्रारम्भ में जैजाकभुक्ति के दक्षिण-भाग तक सीमित था।[१३] जान पड़ता है कि पहले से चन्देल कन्नौज के पांचाल शासकों के अधीन रहे, परन्तु दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कन्नौज की पराधीनता से मुक्ति पाकर स्वतन्त्र हो गये।

हर्ष चन्देल महत्त्वाकांक्षी शासक था। ऐसा विदित होता है कि अपने समय की राजनीति में वह प्रमुख भाग लेता था। चौहान-राजकुमारी से विवाह कर उसने अपने परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ाई और कन्नौज के राजा महिपाल को उसके प्रबल शत्रु दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा तृतीय इन्द्र के विरुद्ध लड़ने में सहायता देकर अपने कुल को गौरवान्वित किया। उसके उत्तराधिकारी

इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है; इसलिए किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना बहुत कठिन है। ख्यातों में इनकी उत्पत्ति ब्राह्मणों से बताई गई है, जब कि चन्देल अपनी उत्पत्ति राठौरों से मानते हैं। ('टॉड का राजस्थान' ओझा सम्पा० पृ० ४९७; तथा 'टॉड्स राजस्थान' क्रुक सम्पा० (अँगरेजी) पृ० १३९-४०)।

१३. जैजाकभुक्ति का नाम चंदेल राजा जैजाक के नाम पर पड़ा। चंदेल-वंश के संस्थापक के पुत्र वाक्पति की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जैजाक सिंहासनारूढ हुआ था।

चन्देलों के राज्य की सीमा समय-समय पर बदलती रही। ९३० ई० से १२०३ ई० में परमाल की मृत्यु-पर्यंत इस राज्य में खजुराहो, कालिंजर और महोबा शामिल रहे। परगना हमीरपुर और उसके उत्तरवर्ती सुमेरपुर जिले में चंदेल-शासन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। सम्भव है यह प्रदेश इस समय जंगलों से ढँका रहा हो और इसमें इधर-उधर जंगली जातियाँ बसी हों।

पुत्र ,वीर यशोवर्मन् ने चेदि के कलचुरियों को परास्त कर कालिंजर का किला जीत लिया। इस प्रकार शक्ति बढ़ाकर उसने कन्नौज पर आक्रमण किया और वहाँ के शासक से बलपूर्वक विष्णु की एक बहुमूल्य प्रतिमा प्राप्त की, जिसको चन्देल राज्य के एक प्रधान नगर खजुराहो के मन्दिर में समारोहपूर्वक प्रतिष्ठित किया गया। मध्यकाल में प्रभुत्व स्वीकार करवाने की यह एक विशेष परिपाटी थी।

यशोवर्मन् के बाद उसका पुत्र धंग (९५०-९९ ई०) सत्तारूढ़ हुआ, जो चन्देल-वंश में महत्त्वपूर्ण शासक हुआ है। उसका राज्य उत्तर में यमुना से दक्षिण में चेदि-राज्य की सीमा तक और पूर्व में कालिंजर से पश्चिम में ग्वालियर और भिलसा तक फैला हुआ था। जब सुबुक्तगीन ने हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की उस समय उसका सामना करने के लिए जयपाल ने राजाओं का जो संघ बनाया उसमें धंग ने भी भाग लिया और अन्य सहयोगियों की भाँति वह भी पराजित हुआ। वह बहुत वृद्धावस्था तक जीवित रहा और अन्त में उसने गंगा-यमुना[१४] के संगम पर ध्यानावस्थित होकर प्राण-त्याग किया। उसके पुत्र और राज्याधिकारी गण्ड ने भी (९९९-१०२५ ई०) अपने पिता की युद्ध-नीति को जारी रखा और जब महमूद गजनवी ने शक्तिशाली सेना के साथ १००८ ई० में लाहौर राज्य पर चढ़ाई की तो आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर गण्ड ने भी आनंदपाल और उसके सहयोगियों का साथ दिया। परन्तु यह प्रयत्न सफल न हुआ। कन्नौज बुरी तरह पराजित हुआ और आक्रमणकारियों को अपना स्वामी स्वीकार कर लिया। राजपूतों को यह दयनीय आत्म-समर्पण बहुत बुरा लगा और गण्ड ने कन्नौज के शासक राज्यपाल को इस प्रकार राजपूती गौरव को लाञ्छित करने का दण्ड देने के लिए अपने पुत्र विद्याधर को भेजा। मुसलमानों द्वारा कुचला हुआ राज्यपाल प्रतिरोध न कर सका। वह पराजित हुआ और मारा गया। जब महमूद को इस अमानुषिक वध की सूचना मिली तो उसने अपनी सेना सुसज्जित कर गण्ड पर चढ़ाई की। गण्ड ने भी विशाल सेना के साथ उसका सामना किया। इस बार महमूद चन्देल राजा को न हरा सका और चन्देल

---

१४. एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि धंग ने प्रयाग में "आँख मूँदकर रुद्र का ध्यान करते हुए स्तुति-परायण होकर" प्राण-त्याग किया। अभिलेख में उसके 'शरीर-त्याग' करने का उल्लेख है, जिससे यह अर्थ नहीं लगता कि उसने आत्म-हत्या की।

(जरन० ऑव० एशि० सोसा० बंगाल, भा० १, जि० XLVII पृ० ४७)।

उस दुष्परिणाम से बच गया जो उसे बाद में भोगना पड़ा। इस विफलता से महमूद शान्त न रहा। उसने कुछ वर्षों बाद फिर आक्रमण कर चन्देल राजा को १०२३ ई० में संधि करने पर बाध्य किया। इस सन्धि के अनुसार गण्ड को कालिंजर से हाथ धोना पड़ा तथा महमूद का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। गण्ड की मृत्यु के बाद चन्देल और कलचुरि हिन्दुस्तान में अपनी प्रमुखता स्थापित करने के लिए आपस में भिड़ गये। इन झगड़ों का जन्मदाता गांगेयदेव कलचुरि था, (१०१५-४० ई०) जिसने पूर्व में तिरहुत तक अपने राज्य का प्रसार किया।[१५] उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र करणदेव ने (१०४०-७० ई०) अपने पिता की महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने का भार अपने ऊपर लिया। मगध और मालवा से उसने लड़ाई छेड़ दी। चन्देल राजा कीर्तिवर्मन् देव ने (१०४९-११०० ई०) उसके हाथों करारी हार खाई और उसे राज्य से हाथ धोने पड़े। परन्तु थोड़े ही समय बाद उसके ब्राह्मण-सेनापति गोपाल ने कलचुरि के राजा पर आक्रमण कर अपने स्वामी के वंश के प्रति किये गये दुर्व्यवहार का बदला लिया,[१६] और वह अपने स्वामी का खोया अधिकार लौटा लेने में समर्थ हुआ। इससे आगे चन्देलों का इतिहास पड़ोसी राज्यों के साथ निरन्तर युद्धों का वृत्तान्त है, जिसका परिणाम बहुत कुछ दोनों पक्षों के नेताओं के व्यक्तित्व पर निर्भर रहता था।

चन्देलों में मदनवर्मन् देव शक्तिशाली शासक हुआ, जिसने गुजरात के सोलंकी राजाओं से युद्ध किया और अपनी शक्ति को अक्षुण्ण रखा। परन्तु परमाल या परमर्दि देव (११६५-१२०३ ई०) के हाथ में शासन-सूत्र आने पर चंदेल वंश दिल्ली के चौहानों के साथ दीर्घकालीन भीषण युद्ध में फँस गया। परिणाम यह हुआ कि पृथ्वीराज चौहान अपनी विशाल सेना लेकर

---

१५. बैन्डाल—'हिस्ट्री ऑव नैपाल', जरन० ऑव एशि० सोसा०, ऑव बगाल, १९०३, जि० १, पृ० १८।

१६. 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में लिखा है कि करणदेव ने चन्देल शासक को सिंहासनच्युत कर दिया था। बाद में चन्देल-राजा ने गोपाल नामक ब्राह्मण-सेनापति की सहायता से अपना अधिकार पुनः प्राप्त किया। सिल्वेन लेवी महोदय ने इस नाटक का पूरा अनुवाद (ला थियेत्र इन्दियँन, पृ० २२९-३५) किया है। कीर्तिवर्मन् की पूर्ण विजय और इस नाटक की रचना कीर्तिवर्मन् के राज्यारोहण के कुछ समय बाद, १०६५ ई० या इसके लगभग अवश्य हो गई होगी। यह नाटक चंदेल-शासक की एक शानदार-विजय की स्मृति में लिखा गया। इस नाटक के सब पात्र लाक्षणिक हैं और नाटक का उपसंहार 'विष्णु-भक्ति' के आशीर्वाद से राजा 'विवेक' और रानी 'उपासना' के मधुर-मिलन द्वारा किया गया है।

चन्देलो पर चढ़ आया और ११८२-८३ ई० में उसने अपने चंदेल-शक्ति का पूर्णरूप से ह्रास कर दिया। फिर भी परमर्दिदेव अपनी शक्ति और अधिकृत प्रदेशों को सुरक्षित रखने के लिए वीरता से संघर्ष में डटा रहा। परन्तु मुसलमानों के सफल आक्रमणो से उत्तर-भारत की राजनीति में जो परिवर्तन हुआ, उससे वह मुसलमान-आक्रमणकारियों से अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए अकेला रह गया। लोक-कथाएँ परमर्दि को कायर के रूप में चित्रित करती हैं और महोवा के वीर आल्हा तथा ऊदल की दिल्ली के चौहान राजा से डटकर युद्ध करने के लिए प्रशंसा करती हैं; परन्तु यह सत्य नहीं है। जब कुतुबुद्दीन ने १२०२ ई० में कालिंजर पर आक्रमण किया तो परमर्दि ने अपने वंश की ख्याति के अनुरूप शौर्य का प्रदर्शन किया और अपने राज्य तथा सम्मान की रक्षा के हेतु वीरतापूर्वक लड़ते-लड़ते प्राणों का भी उत्सर्ग कर दिया। इसके बाद यद्यपि सोलहवीं शताब्दी तक राज्य के कुछ भाग पर चन्देलों का अधिकार बना रहा, परन्तु राजनीति के क्षेत्र में उनका कोई महत्त्व न रह गया। इसी प्रकार चन्देलों के प्रतिद्वंद्वी कलचुरियों का महत्त्व भी घटता गया। तेरहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे गोदावरी का समीपवर्ती प्रदेश उनके अधिकार से निकल कर वारंगल के गणपतियों और देवगिरि के यादवों के शासन में चला गया तथा उनके नर्मदा-तटवर्ती प्रदेश बघेल राजपूतों ने हथिया लिये, जिनके नाम पर इस प्रदेश का नाम बुन्देलखण्ड पड़ा।

मालवा के परमार—मालवा के परमार भी कम विख्यात न थे। विद्या-प्रेम और विद्वानों के उदार संरक्षण के कारण वे इतिहास में प्रसिद्ध हैं। मालवा-राज्य की नींव कृष्णराज (उपेन्द्र) ने नवी शताब्दी में डाली थी। उसके उत्तराधिकारियों ने इस राज्य का विस्तार प्राचीन अवन्ति-राज्य के अधिकांश भाग मे कर दिया और इसकी दक्षिणी सीमा नर्मदा तक हो गई। परमारों के चारो ओर शक्तिशाली विजय-लोलुप राज्य थे, जो अपनी सीमा बढ़ाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। इसलिए मालवा को महोबा के चन्देलों, चेदि के कलचुरियों, गुजरात के सोलंकियों और दक्षिण के चालुक्यों के साथ निरन्तर युद्ध-रत रहना पड़ता था। इस वंश के छठे शासक सीयक ने जो श्री हर्ष के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, हिन्दुस्तान पर आक्रमण करनेवाले हूणों को पराजित कर यथार्थ यश प्राप्त किया। उसका पुत्र मुंज (९७४-९९४—७ ई०) भी बहुत प्रसिद्ध शासक हुआ, जिसने चोल, चेदि, कार्णाट और केरल राजाओं से सफल युद्ध किये। उसकी शक्ति के उत्कर्ष से दक्षिण के चालुक्यों की ईर्ष्या जाग उठी और परिणामस्वरूप युद्ध छिड़ गया। मुंज ने द्वितीय तैलप को छः बार परास्त किया, परन्तु जब सातवीं बार मुंज ने उस पर

आक्रमण किया तो पाँसा पलट गया। वह पराजित हुआ और ९९३-९९७ ई० के बीच हुए घातक संग्राम में मारा गया।[१७] मुंज स्वयं उच्चकोटि का विद्वान् था और विद्वानों का आश्रयदाता भी था। धनपाल, पद्मगुप्त, धनञ्जय, धनिक और हलायुध जैसे विद्वानों को उसकी उदार छत्र-छाया में प्रश्रय मिला था। उसके पश्चात् उसका भतीजा भोज १०१० ई० के आस-पास सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अपने पूर्वजों के विद्यानुराग और सामरिक विजयों की महान् परम्परा को और आगे बढ़ाया। इसी कारण वह उत्तर-भारत के इतिहास में अपने नाम की अमिट छाप लगा गया है।[१८] उसने चालुक्यों पर आक्रमण कर अपने चाचा की मृत्यु का बदला लिया तथा गुजरात, चेदि, अनहिलवाड़ एवं कार्णाट[१९] के राजाओं को अपनी प्रबल शक्ति का

---

१७. मुंज का उल्लेख वाक्पति, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ आदि विभिन्न नामों से किया गया है।

मुञ्ज के दो अनुदान-सम्बन्धी-ताम्र-पत्रों से विदित होता है कि वह ९७४ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा। जब जैन-विद्वान् अमित गति 'सुभाषितरत्न-संदोह' नामक ग्रंथ लिख रहा था, जो ९९४ ई० के अन्तिम भाग में पूर्ण हुआ, तब मुञ्ज जीवित था। तैलप की मृत्यु ९९७ ई० में हुई, इससे स्पष्ट हो जाता है कि मुञ्ज का देहान्त ९९४-९७ ई० के बीच हुआ होगा। ब्यूहलर, स्मिथ और के० ए० आयंगर द्वारा अनुमानित तिथियाँ लगभग ठीक हैं।

इंडि० एण्टि०, जि० ६, पृ० ५१।

ब्यूहलर, एँपिग्रा० जि० १, पृ० २२२-२८, २९४, ३०२।

भण्डारकर, 'अर्ली हिस्ट्री ऑव दि डेकन' पृ० २१४।

स्मिथ—'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' पृ० ३९५।

१८. भोज का पिता मुञ्ज का भाई सिंधुराज था। मुञ्ज अपने भाई के प्रति घृणापूर्ण शत्रुता का भाव रखता था: अतः उसने अपने भाई को अंधा बनाकर लकड़ी के पिंजड़े में बन्द कर दिया था। भोज का जन्म अपने पिता की बंदी अवस्था में हुआ था। मुञ्ज ने भोज को मारने की चेष्टा की, परन्तु भोज ने जल्लाद के हाथ उसको जो पत्र दिया, उसे पढ़कर मुञ्ज अपने अधम कृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा। उसने भोज को मारने का विचार त्याग दिया और उसे ही अपना उत्तराधिकारी बनाया।

सिंधुराज के राज्यकाल और कार्यों के विवरण के लिए, देखिए—इण्डि० एण्टि०, १९०७, पृ० १७०-७२; 'आर्कालॉजीकल सर्वे रिपोर्ट' १९०३-४, पृ० २३८-४३; ऑफ्रेट केटेलॉग केटेलॉगोरम' जि० १, पृ० ४१८ व जि० २ पृ० ९५)।

१९. 'प्रबन्ध चिन्तामणि (पृ० ८०) में भोज की अनहिलवाड़ और कार्णाट विजय का उल्लेख है। यह कथन सत्य भी हो सकता है और असत्य भी, क्योंकि यह ग्रंथ ऐतिहासिक नहीं है; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन राज्यों के शासकों से भोज की बहुधा झड़प हो जाती थी।

परिचय दिया और उनसे अपना प्रभुत्व स्वीकार कराया। भोज निस्सन्देह अतुल बलशाली था, परन्तु उसकी ख्याति का प्रधान कारण उसकी साहित्यिक प्रतिभा है। वह स्वयं अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान्, कवि एवं ज्योतिष, शिल्प आदि अनेक शास्त्रों का ज्ञाता था, साथ ही विद्वानों का संरक्षक भी था। विद्या और संस्कृति के प्रसार के लिए उसने धारानगरी में 'सरस्वती-कण्ठाभरण' नाम से एक संस्कृत विद्यालय की स्थापना की, जहां नाटक, इतिहास आदि विविध विषयों के ग्रंथों को प्रस्तर-शिलाओं पर खुदवाकर रखा गया था। परन्तु मुसलमानों ने इस सांस्कृतिक केन्द्र को भी ध्वस्त कर दिया और अपने इस गौरवपूर्ण कृत्य की स्मृति बनाये रखने के लिए इसके स्थान पर 'कमाल मौला' नाम की मस्जिद खड़ी की। स्थापत्य-कला-कृतियों के निर्माण में भी भोज बहुत रुचि रखता था। भोपाल के दक्षिण की ओर २५० वर्गमील तक विस्तृत प्रसिद्ध भोजपुर-सरोवर उस ही के शासन-काल में बना था और यह तब तक उसके समय की वास्तु-कला की सुन्दरता का प्रमाण देता रहा, जब तक कि पन्द्रहवीं शताब्दी में मालवा के हुशंगशाह ने उसके पानी को न सुखा दिया। शासन के अन्तिम वर्षों में भोज के शत्रुओं ने जोर पकड़ा और भोज के हाथों हुई अपनी पराजयों का बदला लेने को उद्यत हो गये। गुजरात और चेदि के राजा, जो कभी उसके द्वारा पराजित हुए थे, द्विगुणित शक्ति के साथ उस पर चढ़ आये। परिणाम यह हुआ कि यह साहित्यिक योद्धा बुरी तरह हार गया। थोड़े समय बाद सन् १०५३-५४ ई० में भोज की मृत्यु हो गई। उसके देहान्त से परमार-वंश को गहरा धक्का लगा। अब इस वंश की शक्ति इतनी तेजी से ढलने लगी कि थोड़े ही समय में इसका सारा महत्त्व जाता रहा। उत्थान-पतन के अनेक उतार-चढ़ाव देखते-देखते परमारों का यह राज्य, जो अब बहुत छोटा सा रह गया था, अलाउद्दीन खिलजी द्वारा १३१० ई० में विजित हुआ। सोलहवीं शताब्दी में, अकबर के शासन-काल में, मालवा के तत्कालीन शासक के स्वतन्त्रता बनाये रखने के सब प्रयत्नों को विफल कर, मालवा मुगल-साम्राज्य में मिला लिया गया।

गुजरात के सोलंकी—गुजरात के सोलंकी अपनी उत्पत्ति आबू पर्वत पर वशिष्ठ के यज्ञ-कुण्ड से बताते हैं, परन्तु इनका प्रादुर्भाव चन्द्रवंश से जान पड़ता है। इस वंश के राज्य का संस्थापक मूलराज था, जिसने चौहराज सामंतसिंह को मारकर ९६० ई० में सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। मूलराज ने उत्तर और दक्षिण के राजाओं पर, जिनमें शाकंभरी का विग्रहराज और दक्षिण का तैलप प्रमुख थे, आक्रमण किया। ९९५ ई० में मूलराज का

देहावसान हो गया और तब उसका पुत्र चामुण्डराज गद्दी पर बैठा। वह इतना विलासी था कि स्वयं उसके ज्ञाति-बन्धु उससे रुष्ट हो गये और उसको पदच्युत कर उसके ज्येष्ठ पुत्र वल्लभराज को १००९ ई० में सिंहासन पर बैठाया।

इस वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक कुमारपाल हुआ (११४२-७३ ई०) जो प्रसिद्ध जैन-विद्वान् हेमाचार्य का श्रद्धालु भक्त और शिष्य था। वीर एवं युद्ध-निपुण कुमारपाल ने अजमेर के चौहान राजा पर आक्रमण किया और जान पड़ता है कि उस पर विजय प्राप्त करने में सफल भी हुआ क्योंकि अभिलेखों में उसको 'अपने भुज-बल से शाकम्भरी-नरेश का विजेता' कहा गया है। अजमेर के राजा की सहायता के लिए आया हुआ मालवा का राजा युद्ध में खेत रहा। इस सोलंकी-नरेश ने कोंकण के मल्लिकार्जुन पर दो बार आक्रमण किया जो भारी क्षति के साथ पराजित हुआ और अन्त में सोमेश्वर द्वारा मारा गया। मल्लिकार्जुन की राजधानी को खूब लूटा गया और वहाँ सोलंकी राजा का प्रभुत्व दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गया। महान् जैन मुनि और विद्वान् हेमाचार्य का कुमारपाल पर विशेष प्रभाव था। प्रतीत होता है कि कुमारपाल ने जैन-धर्म को सार्वजनिक रूपसे ग्रहण नहीं किया था, क्योंकि तत्कालीन लेखों में उसको 'शिव-कृपा-प्राप्त-वैभव' कहा गया है। परन्तु इतना अवश्य प्रमाणित होता है कि उसने जैन-धर्म के बहुत से नियमों को स्वीकार कर लिया था। हेमाचार्य की प्रेरणा से उसने अपने राज्य में पशु-वध बंद करवा दिया था और अहिंसा की घोषणा कर दी थी। भवन-निर्माण की ओर कुमारपाल ने बहुत ध्यान दिया। उसने बहुत से नये मंदिर बनवाये और पुराने मंदिरों की मरम्मत कराई, जिनमें सर्वप्रधान सोमनाथ का मंदिर था। ११७३ ई० में उसकी मृत्यु के बाद उसका भतीजा अजयपाल शासक हुआ। अजयपाल को ११७६ ई० में मूलराज ने मार डाला। उसके बाद शासन-सूत्र बहुत से अयोग्य हाथों में आया, जो इतने विशाल राज्य का शासन-सूत्र सँभालने में असमर्थ थे। बारहवें सोलंकी राजा त्रिभुवनपाल को सोलंकियों की बघेल शाखा ने १२४३ ई० के लगभग पराजित किया। इस नये वंश का अन्तिम शासक कर्ण था, जिसने दक्षिण में बढ़ती हुई इस्लाम की धारा को रोकने का भारी प्रयत्न किया परन्तु अन्त में अलाउद्दीन के सेनानायकों उलुगखाँ और नुसरत खाँ द्वारा पराजित होकर राज्य से भी हाथ धो बैठा। इसके साथ बघेल-शक्ति समाप्त हो गई।

बिहार और बंगाल के पाल व सेन-वंश—अपने उत्कर्ष-काल में हर्ष-साम्राज्य के अन्तर्गत कामरूप या आसाम तक बंगाल आता था। साथ ही पश्चिम तथा

मध्य-बंगाल पर भी उसका पूर्ण प्रभुत्व था। परन्तु हर्ष की मृत्यु के बाद जब साम्राज्य अस्त-व्यस्त होने लगा तो बंगाल, उड़ीसा तथा सुदूरपूर्व के प्रदेशों में भी अनेक छोटे-छोटे राज्यों ने जन्म लिया। हर्ष के देहान्त के बाद की एक शताब्दी तक बंगाल के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री का सर्वथा अभाव है। यह अंधकारमय स्थिति तब समाप्त होती है जब आठवीं शताब्दी में अराजकता से तंग आकर जनता ने गोपाल को अपना शासक चुना[20] और इसके साथ एक निश्चित सत्ता सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुई। गोपाल ने लगभग ४५ वर्ष तक राज्य किया और मगध एवं दक्षिण बिहार पर, जो कभी प्राचीन हिन्दू-राज्यों के केन्द्र थे, प्रभुत्व स्थापित किया। परन्तु राजपूताना के गुर्जर नरेश वत्सराज से उसे हार खानी पड़ी।[21] गोपाल धर्मपरायण बौद्ध था। बौद्ध-धर्म के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए उसने उद्दण्डपुर या उत्तन्तपुरी में एक मठ बनवाया।

गोपाल के बाद धर्मपाल (८७५-९५ ई०) ने शासन-सूत्र सँभाला। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने इसके राज्य का विस्तार बंगाल की खाड़ी से उत्तर में दिल्ली और जलंधर तक और दक्षिण में विन्ध्य-पर्वत तक बताया है। परन्तु यह कथन अत्युक्तिपूर्ण है; फिर भी इतना निश्चित है कि धर्मपाल शक्तिशाली शासक था और उसने पञ्चाल-नरेश इन्द्रायुध को हराकर समीपवर्ती राजाओं की सहमति से चक्रायुध को कन्नौज की गद्दी पर बैठाया था। यह पड़ोसी राजा भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गान्धार और कीर के शासक बताये गये हैं।[22] धर्मपाल भी बौद्धमतानुयायी था और उसी के अनुदान से विक्रमशिला के प्रसिद्ध बिहार का निर्माण हुआ, जिसमें १०७ मंदिर और बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा के लिए ६ विद्यालय थे।

---

२०. पाल राजाओं को 'ब्राह्मण-क्षत्रिय' बताया जाता है, परन्तु इस विषय पर निश्चित मत देना बहुत कठिन है। इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री प्रचुर रूप में उपलब्ध है। यहाँ पर इन सबका उद्धरण देना साधारण पाठक को झमेले में डालना होगा।

२१. इण्डि० एण्टि०, जि० ११, पृ० १३६; जि० १२, पृ० १६४। एपिग्रा० इण्डि० जि० ६, पृ० २४०-४८।

२२. इण्डि० एण्टि०, जि० १५, पृ० ३०४; जि० २०, पृ० ३०८। एपिग्रा० इण्डि० जि० ४, पृ० २५२। गौरीशंकर हीराचंद ओझा सम्पा० 'टॉड का राजस्थान' पृ० ५३३।

धर्मपाल के बाद देवपाल शासक हुआ, जिसको इस वश का सबसे अधिक शक्ति-सम्पन्न राजा बताया जाता है।[२३] उसने आसाम और कलिंग पर विजय प्राप्त की। परन्तु उसकी सबसे बड़ी सफलता अपने धर्म का प्रचार करने के लिए किये गये युद्धों में है। चालीस वर्ष तक शासन करने के बाद पालवश कुछ समय के लिए कम्बोजो द्वारा अधिकारच्युत किया गया। ९६६ ई० में कम्बोजो ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।[२४]

कम्बोजों का शासन थोडे समय तक ही रहा। प्रथम महिपाल ने अपने वंश के छीने हुए अधिकार को पुनः प्राप्त कर लिया और दसवी शताब्दी के पिछले चरण में अपना शासन स्थापित किया। वह कट्टर बौद्ध था और तिब्बत में बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान के लिए उसने बहुत कुछ किया। उसके पुत्र नयपाल ने भी बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए तिब्बत में प्रचारक भेजे। नयपाल के उत्तराधिकारी विग्रहपाल का देहान्त (१०८० ई०) हो जाने पर उसके बाद के दो शासकों के राज्य-काल में, इस वंश का प्रभाव बहुत घट गया, परन्तु रामपाल ने, जो १०८४ ई० में अपने पूर्वजों के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ, फिर से वश का गौरव बढाया। सैन्य-संचालन में कुशल रामपाल राज्य-विस्तार के प्रयत्न में जुट गया और थोड़े ही समय बाद उसने कैवर्त-राज भीम को पराजित कर बंदी बना लिया तथा मिथिला राज्य को भी जीत लिया, जिसमें चम्पारन और दरभंगा के जिले शामिल थे।[२५] इसके समय मे बौद्ध-धर्म का प्रभाव घटने लगा था; परन्तु उसने अपने और पड़ोसी राज्यों मे बौद्ध-धर्म को प्रभावशाली बनाने के लिए भर सक प्रयत्न किया। रामपाल के उत्तराधिकारियो में शासन-सचालन की योग्यता न थी और आन्तरिक दुर्बलताओं एवं बाह्य प्रभावो से उनका प्रभाव बहुत कम हो गया। पाल राजाओं के राज्य का बहुत बड़ा भाग सामंतसेन नामक एक प्रबल योद्धा ने छीन लिया, जो शायद दक्षिण से आया था और जिसने

---

२३. जरनल ऑव एशि० सोसा० ऑव बंगाल जि० Lxiii, भा० १ (१८९४), पृ० ४१।

२४. 'जरनल एण्ड प्रोसीडिंग्स एशि० सोसा० बंगा०, १९११ पृ० ६१५।

२५. सनाढ्यकार नांदी-रचित काव्य में लिखा है कि रामपाल ने कैवर्त राजा भीम को परास्त किया और बंदी बनाया। यह रचना नेपाल से प्राप्त हुई और एशि० सोसा० बंगा० के स्मरणपत्र, जि० ३, सं० १ (१९१०) में प्रकाशित हुई।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में बंगाल में[२६] एक नये राज-वंश की नींव डाली। पाल राजा विद्या और कला के प्रेमी थे। उनसे प्रोत्साहन पाकर ललितकलाएँ खूब समृद्ध हुईं और अनेक साहित्यिक एवं दार्शनिक ग्रंथों की रचना हुई।[२७]

सामंतसेन के पराक्रम से बंगाल में सेन-वंश के शासन की स्थापना हुई। उसके पौत्र विजयसेन ने, जिसका शासन-काल ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग या बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पड़ता है, अपने वंश के शासन की नींव दृढ़ करने के लिए अथक परिश्रम किया। उसके बाद सुविख्यात बल्लालसेन[२८] ११०८ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अपने पिता से प्राप्त राज्य को

---

२६. स्मिथ का कहना है ('अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' पृ० ४०२-३) कि सामंतसेन या उसके पुत्र हेमंतसेन ने दक्षिण से आकर वर्तमान मयूरभंज राज्य में काशीपुरी (आजकल कैंसारी) में अपने राज्य की नींव डाली। यह कथन डा० राजेन्द्रलाल मित्र के मत से समर्थित नहीं होता। सेन राजाओं को 'ब्रह्मक्षत्रिय' भी कहा जाता है। यह बहुत विवाद-ग्रस्त विषय है और इस पर काफी लिखा गया है। सेन-वंश की उत्पत्ति के विस्तृत विवेचन के लिए पाठक स्मिथ की 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (१९२४ का संस्करण) के० परिशिष्ट पृ० ४३१-३८ देखें।

२७. म० म० हरप्रसाद शास्त्री जी ने एक विद्वत्तापूर्ण लेख में (जरन० ऑव० बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसा०, जि० ५, भा० २, पृ० १७१-८३) पाल-शासनकाल के साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डाला है। बंगाल के ब्राह्मण विद्वानों को बौद्ध-दर्शन का कड़ा मुकाबला करना पड़ा। उन्होंने न्याय-वैशेषिक, दर्शन को अपनाया। बौद्धों ने भी संस्कृत और स्थानीय भाषाओं में साहित्य-सृजन किया तथा बौद्ध-प्रचारक सुदूर देशों में प्रचार के लिये गये।

२८. बल्लालसेन उच्चकोटि का विद्वान् था। उसने 'दान-सागर' और 'अद्‌भुत-सागर' नामक दो ग्रंथों की रचना की। परन्तु इस दूसरे ग्रंथ को पूर्ण कर सकने से पहले ही उसने पत्नी सहित गंगा-यमुना के संगम पर जाकर इसके पवित्र प्रवाह में देह विसर्जन कर दिया। उसके बाद लक्ष्मणसेन ने, जो स्वयं भी विद्या और साहित्य की वृद्धि को प्रोत्साहित करता था, इस ग्रंथ को पूर्ण किया। जयदेव ने प्रसिद्ध 'गीत-गोविन्द' की रचना इसी के शासनकाल में की। इस समय का साहित्य पर्याप्त उपलब्ध होता है, परन्तु स्थानाभाव के कारण उन सबका वर्णन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

जरनल ऑव एशि० सोसा० बंगा० जि० १, पृ० ४१, जि० २, पृ० १५, १५७।

सेन-वंश की उत्पत्ति और काल-निर्धारण के विषय में देखिए—स्मिथ 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (संशोधित संस्करण) पृ० ४३१-३८।

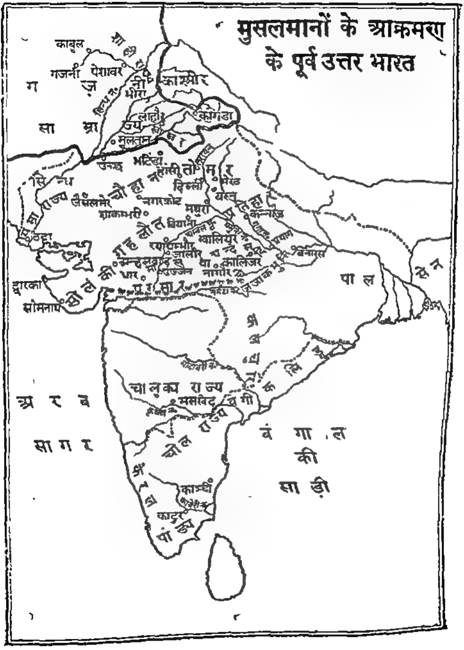
मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व उत्तर भारत
काबुल
गजनी
पेशावर
काश्मीर
कांगड़ा
लाहौर
मुलतान
भटिंडा
दिल्ली
मेरठ
नगरकोट
मथुरा
कन्नौज
जैसलमेर
शाकम्भरी
बियाना
ग्वालियर
कालिंजर
बनारस
उज्जैन
धार
द्वारका
सोमनाथ
पा ल
चालुक्य राज्य
चोल राज्य
काञ्ची
अ र ब
सा ग र
बं गा ल
की
खा ड़ी

सुरक्षित रखा और कला तथा साहित्य को खूब प्रोत्साहन दिया। बंगाल के ब्राह्मणों, वैश्यों और कायस्थों में 'कुलीन-प्रथा' का प्रारम्भ इसी ने किया। इसके परिणामस्वरूप वर्ण-व्यवस्था कठोर हो गई। मगध, भूटान, उड़ीसा, नैपाल तथा अन्य देशों में भी ब्राह्मण-धर्म के प्रचारकों के भेजे जाने से प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण-धर्म का फिर उत्कर्ष होने लगा था। बल्लालसेन के बाद उसका पुत्र लक्ष्मणसेन १११९ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा। मुहम्मद-बिन-बख्तियार के आक्रमण से बहुत पहले इसका देहान्त हो चुका था।[२९] मिनहाज-उस्-सिराज ने 'तबकात-ए-नासिरी' में इस आक्रमण का वर्णन किया है। इस मुसलमान सेनापति ने ११९७ ई० में बिहार पर और सम्भवतः ११९९ ई० में नदिया पर आक्रमण किया। मुसलमानों ने सम्पत्ति लूटकर, ब्राह्मणों का वध कर और नगर की शोभा बढ़ानेवाले विहारों का विध्वंस कर अपनी बर्बरता का नग्न-प्रदर्शन किया। सेनवंश को सिंहासन से हटाकर उन्होंने बंगाल में अपना राज्य स्थापित कर लिया।

राजपूतों की उत्पत्ति—राजपूतों का प्रादुर्भाव कहाँ से हुआ, यह प्रश्न बहुत विवाद-ग्रस्त है।[३०] इस प्रश्न का ठीक-ठीक समाधान पाने के लिए सूक्ष्म

---

२९. मिनहाज-उस्-सिराज द्वारा वर्णित घटना में बंगाली अनुसंधान-कर्ताओं ने सन्देह प्रकट किया है। श्री एस० कुमेर ने इण्डि० एण्टि० (१९१३, पृ० १८५-८८) में प्रकाशित अपने निबंध का उपसंहार इस कथन से किया है कि लक्ष्मणसेन की मृत्यु मिनहाज द्वारा वर्णित घटना से बहुत पहले हो चुकी थी और १११९ ई० या शक सं० १०४१ के आसपास बल्लालसेन का देहान्त तथा लक्ष्मणसेन का राज्यारोहण हुआ होगा। श्री आर० डी० बनर्जी ने भी अपने 'बल्लालसेन के नैहाटी अनुदान' सम्बन्धी लेख में (एपिग्रा० इण्डि० १९१७, पृ० १५६-६३) ऐसा ही मत प्रकट किया है। प्रो० कीलहॉर्न का [यह] सुझाव मान्य है कि ८० वर्ष के शासन-काल के विषय की कथा भ्रमवश चल पड़ी है और नदिया पर आक्रमण लक्ष्मणसेन द्वारा प्रवर्तित काल गणना के ८०वें वर्ष में ही हुआ था (इण्डि० एण्टि० १८९० पृ० ७)। इस आक्रमण की तिथि ११९९ ई० के आसपास ही होगी। जम्बीघा-अभिलेख भी जो इसी काल-गणना के ८३वें वर्ष (१२०२ ई०) का है और 'जरनल ऑव दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसा०' (जि० ४, भा० ३, १९१८, पृ० २६६ व २७३-८०) में दिया हुआ है, इसी मत का समर्थन करता है। स्मिथ की 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' के परिशिष्ट में इस विषय पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

३०. राजपूतों की उत्पत्ति के विषय पर, देखिए—
स्मिथ—'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (संशोधित संस्करण)।
टॉड—'एनेल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑव राजस्थान' क्रूक सम्पा० भा० पृ० ७३-९७।

ऐतिहासिक विवेचना का खूब प्रयोग किया गया, परन्तु ब्राह्मणों के साहित्य और चारणों की गाथाओं में वर्णित राजपूतों की विशाल वंशावलियों ने प्रश्न की जटिलता बहुत बढ़ा दी है। राजपूत अपनी उत्पत्ति वैदिक काल के क्षत्रियों से मानते हैं। वे सूर्य और चन्द्र को अपना मूल पुरुष बतलाते हैं। और बहुत से 'अग्नि-कुल' की कथा में विश्वास करते हैं। राजस्थान के कुछ राज्यों की बोलचाल की भाषा में क्षत्रिय सरदार या जागीरदार के अवैध पुत्र को 'राजपूत' कहा जाता है। 'राजपूत' संस्कृत के 'राजपुत्र' शब्द का अपभ्रंश रूप है। 'राजपुत्र' शब्द पुराणों में आया है और बाण के 'हर्षचरित' में भी उच्चकुल के क्षत्रिय के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में और सातवी-आठवी शताब्दी ईस्वी में भी इस शब्द का प्रयोग प्रचलित था।

राजपूतों की उत्पत्ति के विषय पर विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। कुछ विद्वान् उनको भारत में बस जानेवाली विदेशी जातियों की संतान मानते हैं, परन्तु दूसरे उनका मूल वैदिक काल के क्षत्रियों में ढूंढ़ते हैं। राजस्थान के इतिहास के प्रसिद्ध ज्ञाता कर्नल टॉड ने यह मत उपस्थित किया है कि राजपूत छठीं शताब्दी ईस्वी में भारत में आकर बसनेवाले सीथियन या शकों के वंशज हैं। अपने मत की पुष्टि में टॉड ने इन विदेशी आगन्तुकों और राजपूतों में निम्न बातों में सादृश्य दिखलाया है:—

(१) अश्व-पूजा।

(२) अश्वमेध-यज्ञ।

(३) युद्ध-प्रिय राजपूतों के धर्म और युद्ध के देवता 'हर' की पूजा-पद्धति में तथा ग्राम-देवताओं के उपासक शान्ति-प्रिय हिन्दुओं में कोई समानता नहीं है। राजपूत रक्त-प्रिय हैं; युद्ध देवता को वह रक्त और मदिरा की भेंट चढाते हैं।

(४) चारण।

(५) युद्ध के रथ।

(६) स्त्रियों की स्थिति।

(७) धार्मिक विश्वास और क्रिया-कलाप।

इम्पीरियल गजेटियर, जि० २, पृ० ३०८-९।

सी०वी० वैद्य—'हिस्ट्री ऑव मिडियवल हिन्दू इण्डिया' जि० २, पृ० १-६३।

जरनल ऑव एन्थ्रोपोलॉजीकल इन्स्टीट्यूट, १९११, पृ० ४२।

गौरीशंकर ओझा—'राजपूताना का इतिहास' भा० १।

(८) अतिशय मादक सुरा से प्रेम।
(९) शस्त्र-पूजा।
(१०) शस्त्र-धारण-संस्कार।

योरोपीय विद्वानों ने इस विषय में टॉड का मत मान लिया है। स्मिथ ने 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (संशोधित संस्करण, पृ० ४२५) में भारत में ईसा पूर्व प्रथम व द्वितीय शताब्दी में शकों तथा युइशि या कुशानों के आगमन का वर्णन करते हुए लिखा है—

"मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि जब शकों तथा कुशाणों ने हिन्दू-धर्म में प्रवेश किया, तो उनको हिन्दू-वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत क्षत्रिय-वर्ग में स्थान दिया गया; परन्तु इस बात का कालान्तर में निश्चित रूप से घटित होनेवाली घटनाओं की समानता के आधार पर अनुमान ही किया जा सकता है, सिद्ध नहीं किया जा सकता।"

हूण-आक्रमणों के परिणाम पर विस्तृत विचार करते हुए स्मिथ ने यह मत प्रकट किया है "जितना कि पुराणों और अन्य साहित्यिक रचनाओं को पढ़ने से विदित होता है उससे कहीं अधिक हूणों ने हिन्दू-संस्थाओं और सामाजिक-व्यवस्था को गहराई से आन्दोलित किया।" आगे स्मिथ कहता है कि पाँचवीं-छठीं शताब्दी में विदेशी जातियों के आक्रमणों ने उत्तर-भारत में हिन्दू-समाज की नींव को हिला दिया तथा जातियों एवं शासक-वंशों की नये सिरे से व्यवस्था कराई। डा० भण्डारकर[31] ने इस मत का समर्थन किया है और 'टॉड्स एनेल्स' के सम्पादक श्री क्रुक ने इस मत की पुष्टि करते हुए भूमिका में (भा० १, पृ० ३१) लिखा है—

"आधुनिक अनुसंधानों ने राजपूतों की उत्पत्ति के विषय पर बहुत प्रकाश डाला है। वैदिक-काल के क्षत्रियों और मध्यकाल के राजपूतों के बीच बहुत चौड़ी खाई है जिसको पाट देना अब असम्भव है। कुछ राजपूत जातियाँ चारणों की सहायता से बौद्ध-कालीन क्षत्रियों में, जो हिन्दू-समाज के प्रमुख अंग माने जाते थे और अपने ही विचार से तो स्वयं को ब्राह्मणों से भी उच्च समझते थे, अपना स्रोत खोजने में भले ही सफल हो जायें; परन्तु अब यह निश्चित रूप से ज्ञात हो गया है कि इनमें से अधिकांश जातियों की उत्पत्ति ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य में शकों और कुशानों के आक्रमणों के

---

३१. डा० भण्डारकर (जन० बम्बई ब० रा० एशि० सो०, ९०३, पृ० ४१३-३३) ने गुर्जराज पर एक विस्तृत लेख लिखा है जिसमें वे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि उनका सूत्रपात, आर्य न होकर सिथियन है।

समय में हुई। यदि अधिक निश्चयपूर्वक कहा जाय तो इनकी उत्पत्ति ४८० ई० के आसपास गुप्त-साम्राज्य को समाप्त करनेवाले श्वेत हूणों के आक्रमण-काल मे हुई। हूणो से सम्बन्धित गुर्जर जाति ने हिन्दू-धर्म ग्रहण कर लिया और इनके प्रमुख व्यक्तियों से उच्च राजपूत-वंशो का प्रवर्तन हुआ। जब राजकीय सम्मान के इन नवीन अधिकारियों ने ब्राह्मण-धर्म और समाज-व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, तब महाभारत, रामायण और पुराणो में वर्णित पराक्रमी योद्धाओं के साथ इन (नवागतुकों) का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया जाना स्वाभाविक ही था। यहीं से उन कथाओं का जन्म हुआ जो 'दि एनेल्स' में संग्रहीत है और जिनमें दो प्रमुख राजपूत-शाखाओं की उत्पत्ति सूर्य और चन्द्रमा से बताई गई है, जिस वंशानुक्रम पर पेरु देश की इंका और जापान की मिकाडो जैसी अन्य जातियाँ भी अपना अधिकार समझती हैं।"

परन्तु बहुत से आधुनिक भारतीय विद्वानों ने अपनी गवेषणाओं से टॉड आदि योरोपीय विद्वानो की भूलो को दिखाने का प्रयत्न किया है। राजपूत इतिहास के विद्वान् पं० गौरीशंकर ओझा ने अपनी पुस्तक 'राजपूताना का इतिहास' में इस प्रश्न का विवेचन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि राजपूत प्राचीन क्षत्रियों के वंशज है। उनका कहना है कि टॉड को राजपूतों और विदेशी आगन्तुक जातियों की प्रथाओं और व्यवहारो की समानता से भ्रम हुआ है। अपने मत की पुष्टि में ओझा जी ने जो प्रमाण दिये हैं, उनमे से कुछ निम्नलिखित हैं—

(१) शकों और राजपूतों के समान रीति-रिवाजो एव आचार-व्यवहारों को देखकर ही निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। वैदिक काल से ही भारत में सूर्य-पूजा प्रचलित थी और जैसा कि महाभारत से प्रमाणित होता है सती-प्रथा शको के आगमन के पहले से ही चली आ रही थी। अश्व-मेध यज्ञ की प्रथा भी प्राचीन थी और रामायण-महाभारत में इसका उल्लेख है। अश्व और शस्त्र-पूजा भी कोई नई बात नहीं थी। भारत का शासक-वर्ग सदैव से इनको पूजता आया है।

(२) कुछ विद्वानो ने पुराणो के इस कथन की ओर ध्यान आकर्षित कराया है कि अन्तिम शिशुनाग-वंशीय राजा महानन्द के बाद शूद्र राजाओं का प्रभुत्व स्थापित होगा। परन्तु यह असत्य है। इसके पर्याप्त प्रमाण हैं कि नंद और मौर्यवंशों के बाद भी क्षत्रियों का शासन चलता रहा।

(३) जब अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र सत्तारूढ़ हुआ तो उसने अश्वमेघ यज्ञ किये। उसके एक यज्ञ में महा-

भाष्यकार पतञ्जलि भी उपस्थित थे। यदि पुष्यमित्र शूद्र होता तो ऐसा विद्वान् ब्राह्मण उसके यज्ञ में कभी न आता।

(४) राजा खारवेल के एक अभिलेख (२ ई०) में जो कि कटक के पास उदयगिरि की गुफा में है, कुसम्बा के क्षत्रियों का उल्लेख किया गया है।

(५) यादव-क्षत्रिय मथुरा और इसके समीपवर्ती प्रदेश पर महाभारत-युद्ध के पहले से शासन कर रहे थे।

इन निष्कर्षों को कोई पूर्णरूप से स्वीकार करे या न करे, इतना तो निर्विवाद है कि भारत में बस जानेवाली इन विदेशी जातियों ने सामाजिक वर्गों का पुन. संगठन अनिवार्य कर दिया और राजनीतिक शक्ति के स्वामी होने के कारण वह अपने ब्राह्मण मन्त्रियों द्वारा क्षत्रिय-वर्ग में सम्मिलित कर लिये गये।

आज भी राजपूत 'अग्नि-कुल' की कथा में विश्वास करते चले आ रहे हैं, जिसके अनुसार दक्षिण राजपूताना में स्थित आबू पर्वत में वशिष्ठ के यज्ञकुण्ड से पँवार (परमार), परिहार (प्रतिहार), चौहान (चाहुमान) तथा सोलंकी या चालुक्य—इन चार जातियों की उत्पत्ति हुई। डॉ० भण्डारकर और अन्य विद्वान् इस आख्यान में विदेशी जातियों से राजपूतों की उत्पत्ति के अपने सिद्धान्त का समर्थन पाते हैं। श्री क्रुक का विचार है कि 'अग्नि-कुल' के विषय में प्रचलित यह कथा 'अग्नि-शुद्धि-संस्कार' की ओर संकेत करती है जिसके द्वारा विदेशी आगन्तुकों को शुद्ध कर वर्ण-व्यवस्था में प्रवेश का अधिकार दे दिया गया। यह विचार स्मिथ की "अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया" के सम्पादक श्री एडवर्ड स्वीकार करते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में 'अग्नि-कुल' की कथा का वर्णन है। रासो को चाहे कितना ही प्राचीन क्यों न माना जाय उसमें क्षेपक अवश्य है और इसमें पौराणिक अनुश्रुतियों के साथ इतिहास को इस प्रकार गूँथा गया है कि इसकी प्रत्येक बात ऐतिहासिक सत्य नहीं मानी जा सकती। स्पष्ट ही यह कथा कल्पित है और इसकी सत्यता स्थापित करने के लिए प्रमाण ढूँढना व्यर्थ है। यह कथा इन विदेशी जातियों को, जो समाज में उच्च स्थान प्राप्त कर चुकी थी, और जिनकी दान-दक्षिणा का अजस्र प्रवाह पुरोहितों की ओर प्रवाहित होता रहता था, उच्च कुलोत्पन्न सिद्ध करने के लिए ब्राह्मणों द्वारा गढ ली गई और इस रूप में ब्राह्मणों ने इनकी उदारता के प्रति अपनी कृतज्ञता का प्रदर्शन किया। राजपूतों को वेद-कालीन क्षत्रियों की सन्तान स्वीकार करना बुद्धिशून्यता-मात्र है। ऐसा समझ लेने से हमारा अभिमान अवश्य तृप्त हो जाता है, परन्तु ऐसी आत्म-श्लाघा सत्य से बहुधा बहुत दूर होती है। पहले के क्षत्रिय-वंश भी उन विदेशी आगन्तुक जातियों के साथ घुल-मिल गये जो ५वीं और ६ठी शताब्दी में भारत आये। स्मिथ का

कहना है कि कुछ राजपूत जातियाँ गोंड और भार जैसी आदि-वासी जातियों की सन्तान हैं और आज भी उनमें पाई जानेवाली विभिन्नताओं से उपर्युक्त कथन सिद्ध होता है। यह निष्कर्ष बहुत भ्रमपूर्ण है और आज तक हमें जितने ऐतिहासिक साधन उपलब्ध हो सके है, उनसे इसकी किंचित् मात्र भी पुष्टि नही होती। ब्राह्मणो में भी ऐसी ही पारस्परिक भिन्नताएँ विद्यमान है, परन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नही होता कि कुछ ब्राह्मणो की उत्पत्ति समाज के निचले वर्ग से हुई है। ऐसा नियम-निर्धारण ऐतिहासिक गवेषणा की किसी भी प्रणाली के अनुकूल नहीं है।

विदेशों से आकर बसी हुई विभिन्न जातियाँ धीरे-धीरे इतनी घुल-मिल गई कि कालान्तर में उनकी सब असमानताएँ लुप्त हो गईं और समान सामाजिक रीति-रिवाजों तथा धार्मिक-क्रियाओं को अपना लेने से उनमें अधिकाधिक ऐक्यता आ गई। धीरे-धीरे इन जातियों की निजी विशेषताएँ लुप्त होती गईं और इनमें इतनी समानता आ गई कि अलग-अलग जातियों के मूलरूप को पहचानना असम्भव हो गया। अतुल शौर्य और आत्म-सम्मान, स्वतन्त्रता और देशप्रेम की भावनाएँ सभी राजपूतों को समान रूप से अनुप्राणित करने लगी यद्यपि यह बादवाली भावना अपने निवास-स्थान तक संबद्ध और बहुत ही सकुचित होती थी। इस समानता का इन जातियों को जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न वंशों की संततियां थीं, एकरूप में ढाल देने मे बडा हाथ रहा।

धार्मिक-संघर्ष—बौद्ध-धर्म और अति प्राचीन हिन्दू-धर्म में बहुत पहले से संघर्ष चला आ रहा था। इन प्रतिद्वंद्वी धर्मों में से राजपूतों ने हिन्दू-धर्म को अपनाना अधिक लाभप्रद समझा। इन सबल सत्ताधारी अनुयायियों का प्रश्रय पाकर ब्राह्मण-धर्म अपने प्रतिद्वद्वी बौद्ध और जैन धर्मों को पूर्णतः पराभूत करने के लिए संघर्ष में जुट जाने को समर्थ हो गया। उधर बौद्ध-धर्म में पतन के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे थे। बुद्ध द्वारा प्रवर्तित पवित्रा-चरण की उदात्त और जीवनदायिनी भावनाओं से पूर्ण सीधा-सादा धर्म विधि-विधानों और कर्मकाण्ड के घटाटोप में दबकर अपना यथार्थ स्वरूप खो चुका था। बौद्ध-धर्म के अनुयायी वाह्याडम्बरों को ही सब कुछ समझ बैठे थे। बौद्ध-संघ में अंधविश्वास और दुराचारों ने प्रवेश पा लिया था और कुछ बौद्ध-भिक्षु ऐसा विलासी जीवन बिताने लगे थे, उसको देखकर संघ मे जनता का विश्वास उठ गया जिससे संघ की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा। जो बौद्ध-धर्म सब प्रकार के भेदभावों के प्रति प्रबल विद्रोह का भाव लेकर चला था, अब उसी के गृहस्थ और भिक्षु अनुयायियों में भेदभाव

की घृणित भावना ने घर कर लिया था। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि बौद्ध-धर्म पतन की किस सीमा तक पहुँच गया था। गृहस्थ-अनुयायियों को जिस हीन दृष्टि से देखा जाने लगा था, उससे उनका विक्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि भारतीय समाज में गृहस्थ का स्थान कभी नीचा नहीं माना गया और समाज का बहुत बड़ा भाग गृहस्थ-जीवन बिताते हुए सांसारिक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद को भोगते हुए ही आत्म-सौंदर्यानुभूति का इच्छुक रहा है। परन्तु बौद्ध-धर्म का पतनोन्मुख होना ही हिन्दू-धर्म की सफलता का एकमात्र कारण नहीं था। यथार्थ में हिन्दू-धर्म कभी भी निष्प्राण नहीं हुआ था।[32] जिन विषम परिस्थितियों का हिन्दू-धर्म को सामना करना पड़ा था, उनसे इसके नेताओं की श्रद्धा और उत्साह रंचमात्र भी क्षीण नहीं हो पाये थे इसलिए जब प्रचारकों का दल बढ़ाकर हिन्दू-धर्म फिर से अपने प्रभाव का विस्तार करने लगा, तो इसकी सफलता में कोई सन्देह न रह गया। राजपूत-राजाओं का ब्राह्मण-धर्म को संरक्षण देना, ब्राह्मणों का उत्कट उत्साह और अद्वितीय विद्वत्ता, सश्लिष्ट और सुनियोजित धार्मिक-क्रियाओं द्वारा जिनकी अवहेलना इहलोक और परलोक में घोर दुःखों का कारण मानी जाती थी, ब्राह्मणों का जनता पर गहरा प्रभाव और साथ ही उच्च वर्ग के लोगों की बौद्ध-धर्म के प्रति बढ़ती हुई उदासीनता—इन सबने मिलकर बौद्ध-धर्म को इतना शक्तिहीन बना दिया कि जब नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शंकराचार्य ने वेदान्त-दर्शन का प्रचार प्रारम्भ किया तो बौद्ध-धर्म को अपनी स्थिति बनाये रखना अत्यन्त दुष्कर हो गया। इसी समय अनेक विद्वानों के प्रयत्न से ब्राह्मण-धर्म का वेग से प्रचार होने लगा। इसके फलस्वरूप अनेक बौद्धों ने ब्राह्मण-धर्म स्वीकार कर लिया। राजपूत-काल का स्वभाव ही बौद्ध-सिद्धान्तों के प्रतिकूल था। अनवरत युद्धों के इस काल में, शौर्य और पराक्रम प्रदर्शन का महत्त्व धार्मिक कार्यों से कहीं अधिक समझा जाता था। इसलिए लोगों का ध्यान ब्राह्मण पुरोहितों की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था, जो महान् परम्पराओं के साथ अपने

---

३२. यह धारणा मिथ्या है कि बौद्ध-धर्म का विनाश ब्राह्मणों द्वारा किये गये अत्याचारों से हुआ। शशांक जैसे राजाओं ने विधर्मियों को दण्डित अवश्य किया, परन्तु भारत में ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान के कारणों में ऐसे दण्ड-विधानों का स्थान बहुत नगण्य है। स्मिथ के कथनानुसार हिन्दू-धर्म के इस पुनरुत्थान का मुख्य कारण बौद्ध-धर्म का धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म में मिला लिया जाना था। बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म इस प्रकार मिल गया था कि बौद्ध और हिन्दू पुराणों और मूर्तियों में कोई अन्तर नहीं रहा।
स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया', पृ० ३३९।

यजमानों का सम्बन्ध जोड देते थे। राजपूतों जैसी युद्ध-प्रिय जाति में अहिंसा का सिद्धान्त पनप नहीं सकता था। शौर्य और प्रेम की घटनाओं में जीवन बितानेवाले राजपूतों ने हिन्दू-धर्म में अपनी धार्मिक भावनाओं को सन्तुष्ट कर सकने की क्षमता पाई क्योंकि हिन्दू-धर्म का विशाल साहित्य, उसके धार्मिक क्रियाकलापों में सज-धज और उसकी पौराणिक अनुश्रुतियों की विशालता ही पराक्रमशील राजपूतों के हृदयों पर गहरा प्रभाव डालने में समर्थ हो सकती थी। इस प्रकार हिन्दू-धर्म का फिर उत्कर्ष होने लगा। बारहवीं शताब्दी के अन्त में जब मुसलमानों ने बिहार पर आक्रमण किया तो उन्होंने बौद्ध-विहारों और मठों को धूल में मिला दिया। जिस बौद्ध-धर्म के अनुयायी कभी हिमालय से कन्याकुमारी तक फैले हुए थे, उसका अब कोई चिह्न भी शेष न रह गया।

कला और साहित्य—इस काल में हिन्दू-स्थापत्य-कला की प्रवृत्ति मंदिरों के निर्माण में सीमित रही। उत्तर-भारत में भुवनेश्वर का मंदिर, जिसका निर्माण ईसा की सातवीं शताब्दी में हुआ था, बुन्देलखंड में खजुराहो का मंदिर और उड़ीसा में पुरी का मंदिर इस काल के सर्वाधिक प्रसिद्ध मंदिर हैं। आबू के जैन-मन्दिर का निर्माण ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में हुआ था। यह मंदिर मुसलमान-काल से पहले की भारतीय स्थापत्य-कला का सर्वांगसुन्दर उदाहरण है। दक्षिण भारत में भी अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ। इनमें से होयसल-वंशीय शासकों के द्वारा बनवाये गये मंदिर सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से पहला मंदिर सोमनाथपुर में विनादित्य बल्लाल ने ग्यारहवीं शताब्दी में, दूसरा बेलूर में विष्णुवर्धन होयसल ने बारहवीं शताब्दी में, और तीसरा मंदिर हलेबिड़ में इसी वंश के एक शासक ने बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में बनवाया था। पल्लव, चालुक्य और चोल शासक भी मन्दिर-निर्माण में किसी से पीछे न थे। पल्लवों ने अपनी राजधानी कांची नगरी को सुन्दर मन्दिरों से विभूषित किया था। इनमें से कुछ मन्दिर सातवीं शताब्दी के बने हैं। लगभग १००० ई० में राजराज चोल द्वारा बनवाया गया तंजोर का मन्दिर उस समय के दक्षिण-भारत के कुशल-शिल्पकारों की निपुणता का उत्कृष्ट उदाहरण है। चालुक्य-शासक भी बहुत कला-प्रेमी थे। उन्होंने भी विशाल मन्दिरों से अपनी राजधानी वातापि का सौन्दर्य बढ़ाया। इन्हीं में से एक शासक द्वितीय विक्रमादित्य ने (७३३-४७ ई०) दक्षिण भारत के प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र पट्टादाकल नगर में विरूपाक्ष या विरूपाक्ष मन्दिर बनवाया था। हिन्दू-शिल्प-कला में हिन्दुओं की धार्मिक-भावना को पूर्ण अभिव्यक्ति मिली है। हिन्दुओं के लिए तो सारा जीवन ही धर्म की क्रीड़ा-भूमि है। इसलिए उनके प्रत्येक व्यवहार का निर्धारण और नियमन धर्म

द्वारा होता है। समाज की सभी श्रेणियों पर धर्म का प्रभाव समान रूप से व्याप्त हुआ है। हिन्दुओं की धार्मिक भावना जितनी स्पष्टता से उनकी स्थापत्य और मूर्ति कलाओं में प्रकट हुई है, उतनी अन्य क्षेत्रों में नहीं हुई। जैसा कि एक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् ने बताया है, हिन्दुओं ने स्थापत्य और मूर्ति कलाओं में धर्म की सर्व-व्यापकता को साक्षात् करने की चेष्टा की है।

हिन्दू-राजाओं के बनवाये हुए मन्दिर, तालाब और बाँध अद्भुत कला-कृतियाँ हैं। भारतीय कृतियों के प्रति बहुत पक्षपात रखनेवाले अरब प्रेक्षक अलबरूनी को भी इन कला-कृतियों को देखकर कहना पड़ा, कि

"इसमें (स्थापत्य-कला में) उनकी कला बहुत ऊँचे धरातल पर पहुँच गई है, इतनी कि हमारे लोग (मुसलमान) जब उन (कृतियों) को देखते हैं तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं और उन जैसी वस्तुओं का निर्माण तो क्या, वह उनका वर्णन भी नहीं कर पाते।"

महमूद गजनवी जैसा मूर्ति-भंजक भी मथुरा के सुन्दर मन्दिरों को देखकर, उनकी उत्कृष्ट कला से प्रभावित हुए बिना न रह सका और उसने मुक्त-कंठ से उनकी प्रशंसा की। स्वयं उसके दरबारी इतिहासकार 'उत्बी' ने इस बात का उल्लेख किया है।

ब्राह्मण-धर्म के पुनरुत्थान से धार्मिक और लौकिक साहित्य में बहुत वृद्धि हुई। उस समय के धार्मिक वाद-विवादों के फल-स्वरूप बहुत बड़ी संख्या में दर्शन-ग्रंथों की रचना हुई जिनमें भगवद्गीता, उपनिषदों और ब्रह्म-सूत्रों पर 'शंकराचार्य' की टीकाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। धारा-नगरी की राजसभा में 'नवसहसांकचरित' के रचयिता पद्मगुप्त, 'दशरूपक'कार धनंजय, उसके टीकाकार धनिक, पिंगल 'छंदःसूत्र' के टीकाकार हलायुध और 'सुभाषित रत्न-संदोह' के रचयिता अमितगति जैसे विद्वान् विद्यमान थे। इस काल के नाटककारों में 'मालती माधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' के रचयिता भवभूति, जो ईसा की आठवीं शताब्दी में हुआ, 'मुद्राराक्षस' का लेखक विशाखदत्त, 'वेणीसंहार' का कर्ता भट्ट नारायण (८०० ई०), 'कर्पूरमंजरी' आदि का प्रणेता राजशेखर, जिसका रचनाकाल दसवीं शताब्दी ईस्वी का प्रारम्भिक भाग है, विशेष उल्लेखनीय हैं। भवभूति, कन्नौज-नरेश यशोवर्मन् का राजकवि था। परन्तु कहा जाता है कि जब काश्मीर के शासक ललितादित्य मुक्तापीड़ ने यशोवर्मन् को परास्त किया तो भवभूति को भी विजेता के साथ काश्मीर चला जाना पड़ा। भवभूति पर कालिदास का कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है, परन्तु वह स्वयं भी उच्चकोटि का कवि है। उसकी

रचनाओं में आश्चर्यजनक मौलिकता और मनोहर कल्पना की छटा है। भाषा पर पूर्ण अधिकार, भावाभिव्यंजन की उदात्त और प्रभावपूर्ण प्रणाली और विचारों की गम्भीरता उसकी रचनाओं में सर्वत्र दिखाई देती है। भवभूति की कविता कालिदास की कोटि की नहीं है, परन्तु जैसा डा० कीथ ने लिखा है, "उसमें कालिदास की सी मधुरता और रमणीयता की उतनी ही कमी है, जितनी कि पूर्ववर्ती (कालिदास) ने लाक्षणिक-शक्ति में प्रदर्शित की है। परन्तु थोड़े से शब्दों में किसी परिस्थिति या भाव की यथार्थ अवतारणा करने में उसकी निपुणता सर्वश्रेष्ठ है।" विशाखदत्त की शैली भवभूति की शैली के सर्वथा प्रतिकूल है। वह शब्दाडम्बर और अत्युक्ति-पूर्ण न होकर सशक्त, स्पष्ट और विषयग्राहिणी है। 'मुद्राराक्षस' में संस्कृत के अनेक प्रसिद्ध नाटकों से कहीं अधिक नाटकीय प्रभाव है और यह नाटक निस्सन्देह वीर-रस-पूर्ण है। 'वेणीसंहार' का कथानक महाभारत से लिया गया है। मौलिकता और रोचकता इस नाटक में पर्याप्त मात्रा में है परन्तु यह कहीं-कहीं पर दोषपूर्ण भी है।

यहाँ पर इस काल के काव्य-साहित्य का दिग्दर्शन भी आवश्यक हो जाता है। माघ का 'शिशुपालवध' महाकाव्य इस काल की बहुत प्रसिद्ध काव्य-रचना है। इसकी कथावस्तु महाभारत से ली गई है और इसका वर्ण्य विषय कृष्ण द्वारा शिशुपाल का विनाश है। दूसरा प्रसिद्ध महाकाव्य श्रीहर्ष (११५० ई०) का 'नैषधचरित' है। सम्भवतः श्रीहर्ष ने कन्नौज के महाराज जयचन्द्र के आश्रय में रहते हुए इस महाकाव्य की रचना की थी। इसमें महाभारत में वर्णित नल-दमयन्ती की करुण-कथा २२ सर्गों में प्रस्तुत की गई है। परन्तु श्रीहर्ष की अतिशय आलंकारिक शैली और संश्लिष्ट कल्पनाओं के भार से दबकर मूलकथा की सरलता समाप्त हो गई है। इस प्रकार के महाकाव्यों के अतिरिक्त ऐतिहासिक काव्य भी इस काल में लिखे गये। इनमें प्रसिद्ध काव्य हैं धारा-नरेश के राजकवि पद्मगुप्त का 'नवसाहसांक चरित' और कल्याण के चालुक्य शासक षष्ठ विक्रमादित्य की विजयों की स्मृति बनाये रखने के लिए विल्हण द्वारा लिखित 'विक्रमांकचरित'। विल्हण में अपूर्व वर्णन-कौशल है। उसकी शैली में प्रवाह एवं सरलता है और वह अर्थहीन पुनरुक्तियों और शब्दाडम्बर युक्त विद्वत्ता प्रदर्शन से मुक्त है। इस काल के पद्यबद्ध ऐतिहासिक ग्रंथों में सबसे प्रसिद्ध कल्हण की 'राजतरंगिणी' है, जिसकी रचना बारहवीं शताब्दी के मध्य में हुई। कल्हण काश्मीर का रहने-वाला था। वह उच्च शिक्षित होने के साथ ही, अपने देश की राजनीति में भी भाग लेता था और देश की दशा से पूर्ण परिचित था। उसने इस ग्रंथ में

काश्मीर का पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि मध्यकाल के इतिहासकारों की तरह उसने भी यथार्थ घटनाओं के साथ कल्पना को मिला दिया है, परन्तु इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली विविध सामग्रियों से सहायता लेने का भी उसने भरसक प्रयत्न किया है। कल्हण केवल इतिहासकार ही नहीं था, वह कवि भी था। इसलिए उसने यथासंभव कलात्मक ढंग से घटनाओं का वर्णन किया है। लेकिन जैसा कि प्रो० कीथ ने लिखा है "उसकी (कल्हण की) दृष्टि इतनी अंतर्भेदिनी नहीं है कि वह मनुष्य के मस्तिष्क और चरित्र की उलझनों को ठीक-ठीक समझ सके। मनुष्य-मात्र में भलाई और बुराई इस तरह घुली-मिली हैं कि उसके विषय में साधारणतया कोई बात कह देना असम्भव हो जाता है।"[33] यद्यपि कल्हण में व्यापक और महान् इतिहासकारों जैसी अन्तर्भेदिनी दृष्टि का अभाव है फिर भी उसकी रचना जैन-विद्वान् हेमचन्द्र की यथातथ्य, युक्तियुक्त विवेचना और साहित्यिक रमणीयता से शून्य बृहत् रचनाओं से कहीं अधिक रोचक है। इस काल के गीति-काव्य लेखकों में 'गीत-गोविन्द' का प्रणेता बंगाल निवासी जयदेव सर्वाधिक विख्यात है। इस कवि का रचनाकाल बारहवीं शताब्दी है। अगले अध्याय में इसका उल्लेख किया जायगा।

इस काल के गद्य-काव्य-लेखकों में दण्डिन् का स्थान सर्वोच्च है। 'दशकुमार-चरित' और खण्डित दशा में प्राप्त 'अवंतिसुन्दरी कथा' इसकी रचनाएँ हैं। शैली की मधुरता में दण्डी अद्वितीय है। दूसरा प्रमुख गद्य-लेखक धनपाल है जिसकी रचनाएँ 'तिलक मंजरी' और 'यशस्तिलक' मध्यकालीन संस्कृत-गद्य-साहित्य के उत्कृष्ट उदाहरण है। हिन्दुओं की साहित्यिक गति-विधि केवल इन्हीं रचनाओं तक सीमित नहीं रही। उत्तर और दक्षिण भारत में विद्वानों ने दर्शन, साहित्य और अन्य शास्त्रों पर अनेक ग्रंथ रचे। स्थानाभाव से इन सबका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता।

सामाजिक जीवन—इस काल में वर्ण-व्यवस्था बनी रही। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता सर्वमान्य हो चुकी थी और राजा तथा प्रजा दोनों की दृष्टि में वह सर्वोच्च आदर के पात्र बन गये थे। लेकिन राजपूतों का स्थान भी समाज में कम ऊँचा नहीं था। वीर और युद्ध-प्रिय राजपूत इंगलैंड के राजा आर्थर की गोलमेज के सरदारों की तरह महान् उद्देश्यों के संरक्षण में तत्पर रहते थे। टॉड ने अपने अधिकारपूर्ण ढंग से राजपूतों के स्वभाव का चित्रण इन शब्दों में किया है, "उच्चकोटि का साहस, देश-प्रेम, स्वामिभक्ति, आत्म-

---

३३. 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृ० ६८।

गौरव, अतिथि-सत्कार और सरलता ऐसे गुण है जो निस्सदेह उनके अपने हैं; और यद्यपि हम उन पर लगाये जानेवाले उन दोषों का निराकरण नहीं कर सकते, जिनसे प्रत्येक देश में मानव-स्वभाव लांछित हुआ है; यद्यपि हमको उनका वह चारित्रिक पतन स्वीकार करना ही पडता है, जो लोलुप विजेताओं के अनवरत आक्रमणों और परिणाम-स्वरूप उनके साथ संघर्षों के कारण, उनमें आ गया था; फिर भी हमको उनके उन गुणों की प्रशंसा करनी ही चाहिए, जिसको अत्याचार और दुष्ट संगति भी न मिटा सके। एशिया-वासियों के राष्ट्रीय चरित्र का चित्रण करनेवालों ने बिना किसी अन्तर के धोखेबाजी और झूठ के जिन तुच्छ दोषों का सभी एशियाई जातियों पर आरोप किया है, मैं सभी राजपूतों के विषय में उन दोषों को स्वीकार नहीं करता यद्यपि उनमें से कुछ जातियों को अपनी स्थिति के कारण सतत अत्याचारों के विरुद्ध निर्बलों के इन बचावों का उपयोग भले ही करना पड़ा हो।"[३४] राजपूतों में आत्म-सम्मान की भावना बहुत उग्र थी और वे सत्य के पालन में दृढ़ थे। अपने शत्रुओं के प्रति भी उनका व्यवहार उदारतापूर्ण होता था। विजय के मद में उन्मत्त होकर उन्होंने मुसलमान विजेताओं की भांति कभी बर्बरता का प्रदर्शन नहीं किया। युद्ध में भी उन्होंने कभी द्रोह या धोखेबाजी का आश्रय नहीं लिया और गरीब तथा निर्दोष व्यक्तियों को सताने से वह हमेशा दूर रहे। किसी जाति की सभ्यता की परीक्षा इस बात से हो जाती है कि वह जाति स्त्रियों का कितना सम्मान करती है। राजपूतों में स्त्रियों के प्रति बहुत आदर था और यद्यपि राजपूत रमणियों का जीवन शैशव से मृत्युपर्यंत 'दारुण कष्टों' से पूर्ण होता था, परन्तु आपत्तिकाल में वह जैसा अदम्य साहस और दृढ़ निश्चय का प्रदर्शन करती थी और जैसे शौर्य के कार्य उन्होंने कर दिखाये, वह संसार के इतिहास में अद्वितीय हैं। परदे में रखे जाने पर भी, उनके दृढ़ पातिव्रत का, आपत्ति के समय—जो कि उनके जीवन में कम नहीं आते थे—उनकी निर्भयता का राजपूत समाज पर बहुत कल्याणकारी प्रभाव पड़ा। परन्तु इन महिलाओं के उच्चकुलाभिमान, पति-भक्ति, आत्म-गौरव की प्रबल भावना और अदम्य साहस तथा कर्मठता ने उनके जीवन को बहुत ही अनिश्चित बना दिया था। टॉड ने राजपूत-स्त्रियों के भाग्य का सजीव वर्णन इन शब्दों में किया है; "अन्य देशों की रमणियों को राजपूत-स्त्रियों का भाग्य अवश्य ही घोर दुःखमय जान पड़ेगा। जीवन की प्रत्येक दशा में मौत उसके स्वागत को खड़ी रहती है; बचपन में अफीम के

---

३४. 'टॉड्स एनेल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑव राजस्थान' भाग २, पृ० ७४४।

रूप में और यौवन में अग्नि की लपटों के रूप में; और इनके बीच के समय में भी इनकी सुरक्षा युद्धों की अनिश्चितता पर निर्भर रहती है, (इस प्रकार) किसी भी समय उनका जीवन बारह महीने के लिए भी निश्चित नहीं है। युद्ध में हार या नगर का शत्रुओं के अधिकार में चला जाना, राजपूतनी के लिए मृत्यु से भी बुरी कैद और उससे प्राप्त होनेवाली घोर यातनाओं से बचने के लिए तैयार हो जाने का संकेत होता है।"[३५] राजपूत-रमणियों की आत्म-सम्मान और पवित्रता की प्रबल भावना ने आज के जमाने में घोर निर्दयतापूर्ण लगनेवाली 'जौहर' की प्रथा को जन्म दिया, जिसके अनुसार घोर संकटकाल में अपने पतियों को दुर्दम्य आक्रमणकारियों से घिरा हुआ देखकर और बचाव का कोई मार्ग न रह जाने पर, वीर राजपूतनियाँ चिता बनाकर उसमें अपना शरीर भस्म कर देती थी।

लेकिन यदि राजपूतों के गुण इतने उत्कृष्ट हैं, उनके दोष भी कम नहीं है। चित्त-वृत्ति की अस्थिरता, भावुकता, जातीय असमानता, सामंत-प्रथा के कारण उनमें हमेशा होनेवाले आपसी झगड़े, अफीम की आदत, मिलकर शत्रु का सामना करने की आदत का अभाव—इन सब बातों ने उनको इस योग्य न रखा कि वह किसी प्रबल शत्रु का सफलतापूर्वक सामना कर सकें। शिशु-हत्या की प्रथा भी उनमें प्रचलित थी और बड़े ऊँचे घरानों तक में कन्याओं को बचपन में ही समाप्त कर दिया जाता था। उनमें प्रचलित 'सती' प्रथा भी कम नृशंस नहीं थी। इसके अनुसार राजा की मृत्यु होने पर उसकी पत्नियों को, जिनकी संख्या अकसर बहुत अधिक होती थी, उसके साथ जल जाना पड़ता था। यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि साधारण घराने की स्त्रियाँ भी कभी-कभी तो अपनी ही इच्छा से परन्तु अकसर कुलाभिमान की झूठी भावनाओं से भरे माता पिताओं और रिश्तेदारों के दबाव से सती होने लगी। बाद में राजनीतिक पराधीनता ने तो राजपूतों को इतना गिरा दिया कि उनमें से बहुत से आगरा और दिल्ली के दरबारों में जीहजूरी करने लगे। लेकिन राजपूत-युद्धों ने साधारण कृषकों की शान्ति को भंग नहीं किया और वह निश्चिन्ततापूर्वक अपने व्यवसाय में लगे रहे। युद्धों, पराजयों, हत्याओं का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। परिणाम यह हुआ कि वे राजनीतिक उथल-पुथल से बिलकुल उदासीन हो गये और जब जो शासक बनने में सफल हो जाता, उसके प्रति भक्ति प्रदर्शित करने में उन्हें देर न लगती।

---

३५. 'टॉड्स एनेल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑव राजस्थान' क्रूक सम्पादित भा० २, पृ० ७४७।

इस काल में अनेक धार्मिक-आन्दोलन चले जिनमें भक्ति-आन्दोलन ने खूब जोर पकड़ा। यह आन्दोलन शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप चला था। रामानुजाचार्य ने भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार किया। उन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन कर इष्टदेव की उपासना पर जोर दिया और भक्ति को उपास्य का साक्षात् प्राप्त करने का साधन बतलाया। रामानुजाचार्य के प्रयत्नों से उत्तर और दक्षिण भारत का सम्पर्क बढ़ गया और समस्त भारत के बहु-संख्यक हिन्दुओं में उनका आचार्यत्व मान्य हो गया। तीर्थ-यात्राओं की ओर लोग अधिक झुकने लगे और विभिन्न तीर्थ-स्थानों की यात्रा करने के लिए लोग अधिकाधिक संख्या में जाने लगे। इससे लोगों में धार्मिक उत्साह बढ़ने लगा और इस काल के हिन्दू समाज की यह एक विशेषता बन गई। स्वयंवरों की प्रथा समाप्त हो चली थी और इस काल में केवल एक महत्त्वपूर्ण स्वयंवर का उल्लेख मिलता है। वह था कन्नौज-नरेश जयचन्द की कन्या का स्वयंवर। परन्तु सती प्रथा खूब प्रचलित हो गई थी। शत्रु के अधिकार में जो गढ़ या नगर आ जाते थे, उनमें अबलाओं के प्रति कोई दया का भाव नहीं दिखाया जाता था। श्री केनेडी ने राजपूत-सभ्यता का वर्णन इन शब्दों में किया है :—

"...........यद्यपि सर्वोच्च श्रेणी के ब्राह्मण राजनीतिक चालों से बहुत दूर थे, परन्तु निम्न श्रेणी के ब्राह्मण बहुत घुटे हुए नीतिज्ञ होते थे और शाप और धार्मिक प्रायश्चित्तों का भय दिखाकर अपने स्वार्थों को तृप्त करते रहते थे। राजाओं को देव-तुल्य माना जाता था और वह वेतन-भोगी सैनिकों या दासों का दल एकत्र किये रहते थे। सरदारों ने भी राजा का अनुकरण करते हुए, दुर्गम्य स्थानों में अपने लिए मजबूत गढ़ बना लिये थे और वह खरीदे हुए सैनिकों की सहायता से अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने में लगे रहते थे। नगर-पालिकाओं में तो अपनी स्वाधीनता बनाये रखने की पर्याप्त शक्ति थी, परन्तु ग्रामीण जनता बिलकुल स्वत्वहीन कर दी गई थी।

देश के विभिन्न भागों में यातायात खूब चलता रहता था। व्यापार उन्नत दशा में था, कवि और पण्डित राजसभाओं में आते-जाते रहते थे, कहा जाता है कि सोमनाथ के मंदिर में नित्यप्रति काश्मीर के पुष्प और गंगाजल चढ़ता था। राजाओं और मन्दिरों के पास अपार सम्पत्ति थी। तीर्थ-यात्राओं का रिवाज-सा चल पड़ा था और सर्वश्रेष्ठ शासक धार्मिक स्थानों की रक्षा का भार अपने ऊपर लेते थे।"[१६]

---

१६. इम्पी० गजेटि० जि० २, भा० २, पृ० ३१५।

राजपूत-शासन-प्रणाली—राजपूतों की शासन-प्रणाली सामंती ढंग की थी। राज्य को अनेक जागीरों में बाँटा जाता था और प्रत्येक जागीर एक 'जागीरदार' के अधिकार में होती थी, जो बहुधा राज्य-कुल का होता था। राज्य की शक्ति और सुदृढ़ता इन जागीरदारों की स्वामिभक्ति और आज्ञाकारिता पर निर्भर रहती थी। राज्य की 'खालसा' भूमि स्वयं राजा के अधिकार में रहती थी और वही इस प्रदेश पर शासन करता था। सामंतों के भी अनेक वर्ग होते थे और अति प्राचीन काल से चली आती हुई प्रथाओं से उनका व्यवहार निर्धारित होता था। अपने वर्ग के अनुसार व्यवहार पर बहुत ध्यान दिया जाता था। 'खालसा' भूमि पर लगाये गये कर से राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग प्राप्त होता था, बाकी वाणिज्य-व्यवसायों पर लगाये गये करों से पूरा किया जाता था। सामंतों को आवश्यकता पड़ने पर सैनिक-सहायता देनी पड़ती थी। टेसीटस के ऐतिहासिक विवरण में जैसा जर्मन-नेता के अनुयायियों का वर्णन है, यह राजपूत सामंत भी अपने राजा का वैसा ही सम्मान करते थे और उसके प्रति उत्कट प्रेम रखते थे। उसके साथ युद्ध-क्षेत्र में जाने में वह बहुत आनन्द का अनुभव करते थे। राजा और उसके सामंतों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत दृढ़ होता था। राजा के प्रति सामंतो की भक्ति और सेवा-भाव इस सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाये हुए थे। आपत्ति के समय राजा के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सामंत सदैव उत्सुक रहते थे। वह किसी भी मूल्य पर शत्रु के साथ मिलने को तैयार न होते थे, और कैसा भी बड़े से बड़ा लालच उनको अपने राजा से अलग नहीं कर सकता था। राजा को सामंतों से कुछ निश्चित धन प्राप्त होता था। इस बात में इन सामंतों में और मध्यकालीन योरोप के सामंतों में बहुत कुछ समानता है। नजराना और भेंट की प्रथा भी थी। सामंती कर्तव्यों का परस्पर सम्मान किया जाता था और बहुधा देखने में आता है कि धन-लोलुप राजा भेंटों के रूप में धन बटोरने में प्रयत्नशील रहते थे। ऐसी शासन-प्रणाली कभी सुसंगठित नहीं हो सकती थी। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था से व्यक्तिगत अधिकार की भावना को प्रोत्साहन मिला और राज्य की सामूहिक समस्याओं को सुलझाने के लिए विभिन्न राजनीतिक शक्तियों का संगठन न हो पाया। सारे राज्य-तन्त्र का केन्द्र राजा होता था और राज्य के सब कार्य तभी तक व्यवस्थित रूप से चल पाते थे जब तक कोई दृढ और शक्तिशाली राजा सिंहासन पर होता था। परन्तु शक्तिहीन राजा सिंहासन पर बैठने के थोड़े ही समय बाद राज्य-व्यवस्था में अधिकार-शून्य हो जाता था। राज्य की आन्तरिक शान्ति बहुधा वाह्य आक्रमणों के अभाव पर निर्भर रहती थी। लेकिन कभी-

इस काल में अनेक धार्मिक-आन्दोलन चले जिनमें भक्ति-आन्दोलन ने खूब जोर पकड़ा। यह आन्दोलन शंकराचार्य के अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप चला था। रामानुजाचार्य ने भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार किया। उन्होंने अद्वैतवाद का खण्डन कर इष्टदेव की उपासना पर जोर दिया और भक्ति को उपास्य का साक्षात् प्राप्त करने का साधन बतलाया। रामानुजाचार्य के प्रयत्नों से उत्तर और दक्षिण भारत का सम्पर्क बढ़ गया और समस्त भारत के बहु-संख्यक हिन्दुओं में उनका आचार्यत्व मान्य हो गया। तीर्थ-यात्राओं की ओर लोग अधिक झुकने लगे और विभिन्न तीर्थ-स्थानों की यात्रा करने के लिए लोग अधिकाधिक संख्या में जाने लगे। इससे लोगों में धार्मिक उत्साह बढ़ने लगा और इस काल के हिन्दू समाज की यह एक विशेषता बन गई। स्वयंवरों की प्रथा समाप्त हो चली थी और इस काल में केवल एक महत्त्वपूर्ण स्वयंवर का उल्लेख मिलता है। वह था कन्नौज-नरेश जयचन्द की कन्या का स्वयंवर। परन्तु सती प्रथा खूब प्रचलित हो गई थी। शत्रु के अधिकार में जो गढ़ या नगर आ जाते थे, उनमें अबलाओं के प्रति कोई दया का भाव नहीं दिखाया जाता था। श्री केनेडी ने राजपूत-सभ्यता का वर्णन इन शब्दों में किया है :—

"...........यद्यपि सर्वोच्च श्रेणी के ब्राह्मण राजनीतिक चालों से बहुत दूर थे, परन्तु निम्न श्रेणी के ब्राह्मण बहुत घुटे हुए नीतिज्ञ होते थे और शाप और धार्मिक प्रायश्चित्तों का भय दिखाकर अपने स्वार्थों को तृप्त करते रहते थे। राजाओं को देव-तुल्य माना जाता था और वह वेतन-भोगी सैनिकों या दासों का दल एकत्र किये रहते थे। सरदारों ने भी राजा का अनुकरण करते हुए, दुर्गम्य स्थानों में अपने लिए मजबूत गढ़ बना लिये थे और वह खरीदे हुए सैनिकों की सहायता से अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने में लगे रहते थे। नगर-पालिकाओं में तो अपनी स्वाधीनता बनाये रखने की पर्याप्त शक्ति थी, परन्तु ग्रामीण जनता बिलकुल स्वत्वहीन कर दी गई थी।

देश के विभिन्न भागों में यातायात खूब चलता रहता था। व्यापार उन्नत दशा में था, कवि और पण्डित राजसभाओं में आते-जाते रहते थे, कहा जाता है कि सोमनाथ के मंदिर में नित्यप्रति काश्मीर के पुष्प और गंगाजल चढ़ता था। राजाओं और मन्दिरों के पास अपार सम्पत्ति थी। तीर्थ-यात्राओं का रिवाज-सा चल पड़ा था और सर्वश्रेष्ठ शासक धार्मिक स्थानों की रक्षा का भार अपने ऊपर लेते थे।"[१]

---

३६. इम्पी० गजेटि० जि० २, भा० २, पृ० ३१५।

राजपूत-शासन-प्रणाली—राजपूतों की शासन-प्रणाली सामंती ढंग की थी। राज्य को अनेक जागीरों में बाँटा जाता था और प्रत्येक जागीर एक 'जागीरदार' के अधिकार में होती थी, जो बहुधा राज्य-कुल का होता था। राज्य की शक्ति और सुदृढ़ता इन जागीरदारों की स्वामिभक्ति और आज्ञाकारिता पर निर्भर रहती थी। राज्य की 'खालसा' भूमि स्वयं राजा के अधिकार में रहती थी और वही इस प्रदेश पर शासन करता था। सामंतों के भी अनेक वर्ग होते थे और अति प्राचीन काल से चली आती हुई प्रथाओं से उनका व्यवहार निर्धारित होता था। अपने वर्ग के अनुसार व्यवहार पर बहुत ध्यान दिया जाता था। 'खालसा' भूमि पर लगाये गये कर से राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग प्राप्त होता था, बाकी वाणिज्य-व्यवसायों पर लगाये गये करों से पूरा किया जाता था। सामंतों को आवश्यकता पड़ने पर सैनिक-सहायता देनी पड़ती थी। टेसीटस के ऐतिहासिक विवरण में जैसा जर्मन-नेता के अनुयायियों का वर्णन है, यह राजपूत सामंत भी अपने राजा का वैसा ही सम्मान करते थे और उसके प्रति उत्कट प्रेम रखते थे। उसके साथ युद्ध-क्षेत्र में जाने में वह बहुत आनन्द का अनुभव करते थे। राजा और उसके सामंतों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत दृढ़ होता था। राजा के प्रति सामंतों की भक्ति और सेवा-भाव इस सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाये हुए थे। आपत्ति के समय राजा के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सामंत सदैव उत्सुक रहते थे। वह किसी भी मूल्य पर शत्रु के साथ मिलने को तैयार न होते थे, और कैसा भी बड़े से बड़ा लालच उनको अपने राजा से अलग नहीं कर सकता था। राजा को सामंतों से कुछ निश्चित धन प्राप्त होता था। इस बात में इन सामंतों में और मध्यकालीन योरोप के सामंतों में बहुत कुछ समानता है। नजराना और भेंट की प्रथा भी थी। सामंती कर्त्तव्यों का परस्पर सम्मान किया जाता था और बहुधा देखने में आता है कि धन-लोलुप राजा भेंटों के रूप में धन बटोरने में प्रयत्नशील रहते थे। ऐसी शासन-प्रणाली कभी सुसंगठित नहीं हो सकती थी। इस प्रकार की शासन-व्यवस्था से व्यक्तिगत अधिकार की भावना को प्रोत्साहन मिला और राज्य की सामूहिक समस्याओं को सुलझाने के लिए विभिन्न राजनीतिक शक्तियों का संगठन न हो पाया। सारे राज्य-तन्त्र का केन्द्र राजा होता था और राज्य के सब कार्य तभी तक व्यवस्थित रूप से चल पाते थे जब तक कोई दृढ़ और शक्तिशाली राजा सिंहासन पर होता था। परन्तु शक्तिहीन राजा सिंहासन पर बैठने के थोड़े ही समय बाद राज्य-व्यवस्था में अधिकार-शून्य हो जाता था। राज्य की आन्तरिक शान्ति बहुधा बाह्य आक्रमणों के अभाव पर निर्भर रहती थी। लेकिन कभी-

कभी बाह्य आक्रमणों के भय से मुक्ति मिल जाने पर राज्य के सामंत ही बेचैन हो उठते थे और विभिन्न सामंत परिवारों में घोर युद्ध होने लगते थे। सत्रहवीं शताब्दी में जहाँगीर के राज्यकाल में चाँडावत और शक्तावत राजपूतों में ऐसा ही संघर्ष छिड़ गया था।

भारत में एकता का अभाव—भारत में राजनीतिक एकता और सामाजिक सुदृढ़ता का अभाव था। दोनों क्षेत्रों में नेताओं की भरमार थी। छोटे-छोटे राज्यों की पारस्परिक लड़ाइयों में देश की शक्ति नष्ट हो रही थी। इस काल का भारत भौगोलिक संज्ञा-मात्र रह गया था। ऐसे संकट के समय, जब भारत की शस्य-श्यामला भूमि पर विदेशी आक्रमणकारियों के निरन्तर प्रबल आक्रमण हो रहे थे और देश जीवन-मरण के संघर्ष में जुटा हुआ था, इस विश्रृंखलता ने शोचनीय स्थिति पैदा कर दी। देश असहाय हो गया। राजपूतों के असंघटित राज-तन्त्र को उखाड़ फेंकने में मुसलमान विजेताओं को अधिक कठिनाई नहीं हुई और बारहवीं शताब्दी में उन्होंने अपने साम्राज्य की नींव डाल दी। मुसलमानों की विजय की कहानी का वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

दक्षिण-भारत के राज्य

चालुक्य-वंश—आन्ध्र-वंशीय सातकर्णी राजाओं ने लगभग २३० ई० पू० से २६६ ई० तक ४५० वर्ष तक शासन किया। इस वंश के एक राजा ने २७ ई० पू० में मगध के अन्तिम कण्व-वंशीय शासक को हराया। अधिकार-लोलुपता के कारण शातकर्णी राजाओं और मालवा तथा गुजरात के क्षत्रपों में युद्ध होने लगे, जिनमें कभी शातकर्णी विजयी हुए तो कभी क्षत्रप-शासक।

इस वंश के शासन-काल का इतिहास विशेष रूप से संक्षिप्त है। परन्तु कहा जाता है कि पल्लव नाम की एक विदेशी जाति ने दक्षिण में प्रवेश कर शातकर्णियों से शासनाधिकार छीन कर गोदावरी के सुदूर दक्षिण तक के सारे देश में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। राष्ट्रकूटों ने इन विदेशियों को अधिकार-च्युत करने के असफल प्रयत्न किये। परन्तु राजपूतों की एक शाखा चालुक्य-वंश ने छठीं शताब्दी ईस्वी में दक्षिण में प्रवेश कर पल्लवों को हमेशा के लिए अधिकारहीन कर दिया।[*] चालुक्यों ने उनकी राजधानी वटपीपुर (वदामी)

---

३७. चालुक्यों का राजपूताना से आकर दक्षिण में बस जाना विश्वसनीय है। चालुक्य गुर्जर-जाति से संबद्ध हैं।

'बॉम्बे गजेटियर', १८९६, १, भा० १ पृ० १२७, १३८, ४६३, ४६७ व टिप्पणी २।

देखिए, एपिग्रा० इण्डि० जि० ८, परिशिष्ट २ में दी हुई वंशावलियाँ।

को जीत लिया और धीरे-धीरे सारे देश पर ही अधिकार जमा लिया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध शासक पुलकेशिन् द्वितीय हुआ, जो ६११ ई० में सिंहासन पर बैठा था।[38] उसने युद्धों की परम्परा ही प्रारम्भ कर दी और गुजरात, राजपूताना, मालवा और कोंकण के शासकों से सफल युद्ध किये। वेंगी और काञ्चीपुर के पल्लवों ने सरलता से पुलकेशिन् की अधीनता स्वीकार नहीं की; वह संघर्ष में डटे रहे, परन्तु अन्त में पराजित हुए और उनका राज्य चालुक्य-साम्राज्य में मिला लिया गया। लेकिन कुछ ही वर्षों बाद पुलकेशिन् के भाई विष्णुवर्धन ने, जो इन विजित प्रदेशों का शासक नियुक्त किया गया था, साम्राज्य के प्रभुत्व को ठुकराकर एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी। यह इतिहास में पूर्वीय-चालुक्य-वंश के नाम से प्रसिद्ध है। यह नया राज्य ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में चोल-राज्य में मिला लिया गया था। कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन ने, चालुक्यों की बढ़ती हुई शक्ति को समाप्त करने के लिए, स्वयं सैन्य-संचालन करते हुए पुलकेशिन् पर आक्रमण किया, परन्तु पुलकेशिन् ने ६२० ई० में हर्ष को हरा दिया।[39]

दक्षिण के चोल और पाण्ड्य राजाओं ने पुलकेशिन् की प्रबल सैन्य-शक्ति से डरकर, उसके साथ मित्रता स्थापित कर ली। चीनी यात्री ह्वेनसांग ६३९ ई० में दक्षिण भारत में गया था। पुलकेशिन् की शक्ति और वैभव से वह बहुत प्रभावित हुआ। उसका वर्णन करते हुए वह लिखता है :—

"वह (पुलकेशिन्) क्षत्रिय-वंशीय है। उसका नाम पुलकेशिन् है। उसके विचार उदात्त और गंभीर हैं और अपनी सहानुभूति और कृपाओं का वह खूब विस्तार करता है........राज्य ने सैकड़ों वीर-योद्धाओं की सेना का संघटन किया है। जब कभी युद्ध के लिए प्रयाण होता है, यह योद्धा ढोल की आवाज के साथ आगे-आगे चलते हैं। साथ ही, वह बहुत से भयंकर हाथियों को नशे में चूर कर देते हैं.....युद्ध में कोई शत्रु उनके सामने टिक नहीं

---

३८. 'बॉम्बे गजेटियर, १, भा० २, पृ० १८३।
यह डा० भण्डारकर की स्वीकृति तिथि है।
स्मिथ ने उसके राज्यारोहण की तिथि ६०८ ई० लिखी है।

३९. उसके उत्तराधिकारियों ने इस विजय को उसकी सबसे महान् सफलता माना और उनके अनुदान सबंधी ताम्रपत्रों पर पुलकेशिन् की केवल इसी विजय का उल्लेख किया गया है। पुलकेशिन् महाराष्ट्रक नाम से विख्यात तीन प्रदेशों का स्वामी बन गया था, जिनमें ९९ हजार गाँव थे। कलिंग और कोशल के राजा उसके अभियान का समाचार पाकर डर के मारे कांप उठे और उसकी शरण में आ गये।

सकता। इन योद्धाओं और हाथियों का स्वामी होने के कारण राजा अपने पड़ोसी राज्यों को तुच्छ समझता है।"[४०]

यद्यपि पुलकेशिन् की शक्ति इतनी विशाल थी, तथापि वह अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। प्रतिद्वंद्वी शक्ति के साथ उसके निरन्तर युद्धों ने उसकी सेना और राज्य-कोष को क्षीण कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जब नरसिंहवर्मन् के नेतृत्व में पल्लवों ने उस पर चढ़ाई की तो उसको करारी हार खानी पड़ी। चालुक्य-शक्ति लुप्त-सी हो गई और दक्षिण में पल्लवों की शक्ति प्रबल हो गई। परन्तु यह अपमान चालुक्यों के हृदय में चुभता रहा और पुलकेशिन् के पुत्र प्रथम विक्रमादित्य ने पल्लवों पर आक्रमण कर उनकी राजधानी काञ्ची को छीन लिया तथा अपने पिता की मृत्यु का बदला लिया।[४१] चालुक्य और पल्लवों का संघर्ष विभिन्न परिणामों के साथ चलता रहा। अन्त में आठवीं शताब्दी के मध्यभाग में राष्ट्रकूट-वंश के एक सरदार दंतिदुर्ग ने चालुक्यों को हराकर शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया।[४२]

राष्ट्रकूट-वंश—चालुक्य-वंश की मुख्य शाखा के पतन के साथ दक्षिण भारत का प्रभुत्व राष्ट्रकूटों के हाथ में आ गया। राष्ट्रकूट राजाओं ने दक्षिण के राज्यों पर आक्रमण कर अपने राज्य की सीमा बढ़ाने का प्रयत्न किया। राष्ट्रकूट-वंश की महानता के संस्थापक दंतिदुर्ग के बाद प्रथम कृष्ण शासक हुआ। उसने चालुक्यों द्वारा अधिकृत समस्त प्रदेश पर अधिकार स्थापित किया और अपने सफल शासन के स्मारक के रूप में एलोरा में, जो अब निजाम के राज्य में है, चट्टानों से काटकर बनाये हुए मन्दिर का निर्माण किया, जो इस प्रकार की वास्तु-कला का सुन्दर नमूना है। उसके उत्तराधिकारी द्वितीय गोविन्द और तृतीय गोविन्द ने राज्य को अन्य विजयों द्वारा और बढ़ाया तथा अमोघवर्ष के शासन-काल में, जो सम्भवतः ८१५ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था, पूर्वीय चालुक्यों के साथ अनेक बार युद्ध हुए। राष्ट्रकूटों

---

४०. इण्डि० एण्टि०, जि० ७, पृ० २९०-९१।

४१. इण्डि० एण्टि०, जि० ६, पृ० ८६, ८९, ९२; जनरल ऑव बॉम्बे ब्रांच ऑव रायल एशि० सोसा०, जि० ३, पृ० २०३; इण्डि० एण्टि०, जि० ९, पृ० १२७, १३०-३१।

४२. दंतिदुर्ग के एक अनुदान-सम्बन्धी ताम्र-पत्र में उसके विषय में कहा गया है कि वल्लभ-राज को हराकर उसने प्रभुत्व प्राप्त किया। (जरनल बॉम्बे ब्रांच ऑव रायल एशि० सोसा० जि० २, पृ० ३७५) राजा कृष्ण ने ७५३ और ७५५ ई० के मध्य में राज्य किया।

को अपनी सैन्यशक्ति का बहुत अभिमान था और अमोघवर्ष के शासन-काल में उनके शासन में वह सारा प्रदेश आ गया था, जो द्वितीय पुलकेशिन् के साम्राज्य में थे। अमोघवर्ष जैन-धर्म का अनुयायी था और उसका संरक्षण पाकर जैनधर्म का प्रभाव इतना बढ़ गया कि प्रतिद्वंद्वी हिन्दू-धर्म की ईर्षा जाग उठी।[43] इन दोनों धर्मों की टक्कर ने राष्ट्रकूटों और दक्षिण के अन्य ब्राह्मण-धर्मानुयायी राज्यों में शत्रुता का भाव और भी प्रबल कर दिया।[44] तृतीय कृष्ण ने ९१५ ई० के लगभग चोल राजा को हराकर काञ्ची या काञ्जीवरम् और तञ्जोर पर अधिकार कर लिया।

निरन्तर लड़ाइयों में लगे रहने से राष्ट्रकूटों का धन और सैन्य-बल क्षीण होने लगा। उनके अधिकार में ह्रास के लक्षण प्रकट होने लगे। इधर जब राष्ट्रकूट युद्धों में अपनी शक्ति नष्ट कर रहे थे, चालुक्य शक्ति-संचय करने में लगे हुए थे और ९७३ ई० में चालुक्य-वंशीय द्वितीय तैलप ने अन्तिम राष्ट्रकूट शासक द्वितीय कक्कल या कक्का को हराकर गद्दी से अलग कर दिया और एक नये शासक-वंश की नीव डाली जो कल्याणी का चालुक्य-वंश कहा जाता है। आठवीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों द्वारा अधिकारच्युत किये गये चालुक्य-वंश के साथ सम्बन्ध होने से द्वितीय तैलप ने इस नई-नई पाई हुई प्रभुता पर अपना न्यायोचित अधिकार सिद्ध किया।

राष्ट्रकूट राजा योग्य और शक्तिशाली शासक थे। उन्होंने राज्य का विस्तार ही नहीं किया अपितु उन सभ्य कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया जिनसे सैनिक शासन की कठोरता मंद हो जाती है। उनका संरक्षण पाकर राज्य में जैन-धर्म का खूब प्रचार हो गया था[45] लेकिन धर्म के नाम पर किसी

---

४३. नवसारी-अनुदान-पत्र में अमोघवर्ष को 'वल्लभ' के नाम से कहा गया है, 'वीर नारायण' नाम भी आया है और उसे राजाओं का राजा बताया गया है।

४४. जैन-ग्रंथ 'उत्तरपुराण' के परिशिष्ट भाग में अमोघवर्ष को जैन-मुनि जिनसेन का भक्त कहा गया है। जिनसेन इस ग्रंथ के लेखक का गुरु था और इस ग्रंथ का प्रथम भाग उसी का लिखा है। भण्डारकर ने 'अर्ली हिस्ट्री ऑव डेकन' (बॉम्बे गजेटियर, जि० १, भा० २ पृ० २००) की टिप्पणी में उन संस्कृत श्लोकों को उद्धृत किया है जिनमें अमोघवर्ष का नाम आया है।

इस राजा के दिगम्बर जैनों का सरक्षक होने के पर्याप्त लिखित प्रमाण मिलते हैं।

४५ जैन-धर्म ने इस समय खूब उन्नति कर ली थी। दिगम्बर सम्प्रदाय का यहाँ सर्वाधिक प्रचार था। इस काल में दिगम्बर-सम्प्रदाय के अनेक ग्रंथ रचे गये।

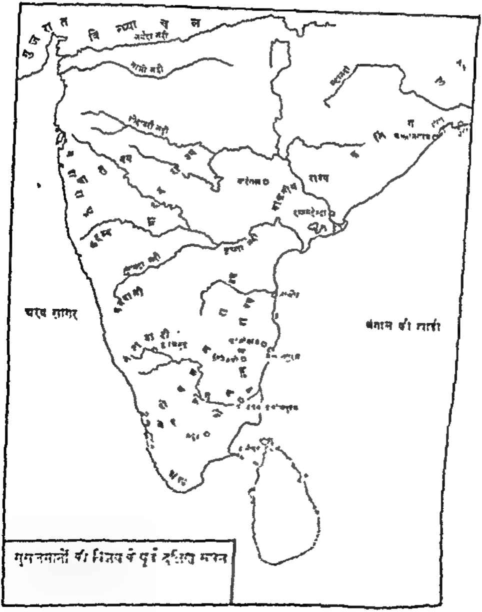

मुसलमानों की विजय के पूर्व दक्षिण भारत

प्रकार का अत्याचार नहीं किया गया। धार्मिक सहिष्णुता में भारत, संसार के इतिहास में अद्वितीय रहा है। भारतीय स्वभाव के अनुकूल राष्ट्रकूट राजाओं ने भी अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति सद्व्यवहार रखा। विद्वानों को राज-दरबार में सम्मानित किया जाता था और साहित्यिक प्रगति को हमेशा प्रोत्साहन प्राप्त होता था। इसलिए राष्ट्रकूट-शासन में अनेक कवियों और चारणों ने साहित्य की वृद्धि की और अपने आश्रयदाता का गुणगान किया। स्थापत्य-कला की ओर भी ध्यान दिया गया और हिन्दू देवताओं के अनेक मन्दिरों का इनके शासन-काल में निर्माण हुआ। एलोरा का गुफा-मन्दिर, जो चट्टान को काटकर बनाया गया है और अजन्ता की गुफाओं के भित्ति-चित्र इस काल की शिल्प-कला और चित्रकला के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। भिनमाल के गुर्जरों के विपरीत राष्ट्रकूट राजाओं ने अरबों के साथ मित्रता का सम्बन्ध रखा। इससे व्यापार की उन्नति हुई। अनेक अरब व्यापारी भारत में आते रहे और राष्ट्रकूट-शासकों के प्रति, जिनका यश दूर-दूर तक फैल गया था, अपना आदर भाव प्रकट करते रहे।

कल्याणी का चालुक्य-वंश—द्वितीय तैलप योग्य और शक्ति-सम्पन्न शासक था। राष्ट्रकूटों पर प्राप्त विजय ने उसकी महत्त्वाकांक्षा को बल दिया और थोड़े ही समय में उसने उस सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया, जिस पर कभी चालुक्यों का शासन रहा था। वह धार के परमार राजा मुञ्ज के साथ कभी समाप्त न होनेवाले युद्धों में फँस गया और छः बार मुंज के हाथों पराजित हुआ। इस घोर अपमान को तैलप कभी न भुला सका और जब सातवीं बार मुञ्ज ने उस पर आक्रमण किया तो उसने पहले की पराजयों का पूरा-पूरा बदला लिया।[४६] मुञ्ज को परास्त कर बन्दी बनाया गया और वह अन्त में सम्भवतः ९९५ ई० में तैलप द्वारा मारा गया। मुञ्ज को भिखारी के वेश में घर-घर घुमाकर तैलप ने अपनी प्रतिशोध की भावना को तृप्त किया।

राजराज चोल के रूप में, जिसका राज्यारोहण ९८५ ई० में हुआ था, तैलप को शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी का सामना करना पड़ा। तैलप की मृत्यु के

---

४६. मुञ्ज धार के विख्यात शासक भोज का चाचा था। तैलप ने मुञ्ज को कैद कर लिया था। पहले तो उसके साथ अच्छा व्यवहार किया गया, परन्तु जब उसने भागने की चेष्टा की तो उसको अपमानपूर्ण व्यवहार सहन करना पड़ा। उससे घर-घर भीख मँगवाई गई और अन्त में मार डाला गया। इस घटना का तैलप के एक अभिलेख में उल्लेख किया गया है।

(जरनल रायल एशि० सोसा०, जि० ४, पृ० १२; इण्डि० एण्टि०, जि० २१, पृ० १६८।)

बाद, इस चोल-शासक ने वेंगी की सीमा पर विशाल सेना लेकर आक्रमण कर दिया और जनता को बुरी तरह सताया। लेकिन प्रथम सोमेश्वर ने (१०४०-६९ ई०) जिसका उपनाम 'आहवमल्ल' अर्थात् रणस्थल का योद्धा था, १०५२ ई० में तत्कालीन चोल राजा को तुंगभद्रा के तट पर कोप्पम नामक स्थान पर हराकर इन अत्याचारों का बदला लिया।[४७] सोमेश्वर ने धार, काञ्ची और चेदि के शासकों पर सफल आक्रमण कर अपने यश का विस्तार किया। लेकिन १०६८-६९ ई० में आत्म-हत्या द्वारा उसने अपना जीवन समाप्त किया।[४८] १०७६ ई० में अपने बड़े भाई को सिंहासन से हटाकर सोमेश्वर का छोटा पुत्र षष्ठ विक्रमादित्य गद्दी पर बैठा। उसने ५० वर्ष तक शासन किया तथा उसके शासन-काल में पूर्णतया शान्ति स्थापित रही। उसका समसामयिक चोल राजा प्रथम कुलोत्तुंग (१०७०-१११८ ई०) शान्तिप्रिय शासक था और उसने पड़ोसियों के साथ पारस्परिक सद्भावना की नीति अपनाई। इस लम्बे शान्ति-काल में राजकीय संरक्षण पाकर साहित्य और कला ने उन्नति की। राजकवि विल्हण ने अपने आश्रयदाता विक्रमादित्य का यश-गान किया और 'मिताक्षरा' के विद्वान् प्रणेता ने, हिन्दू-धर्म-शास्त्र के इस प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना, इसी शासक के समय में की।

लेकिन चालुक्यों का यश अधिक समय तक स्थिर न रह सका। विक्रमादित्य की मृत्यु के बाद चालुक्य-शक्ति का तीव्र गति से ह्रास होने लगा। चोल-वंश का भी यही हाल हो रहा था और इन दोनों वंशों को नवोदित बल्लाल-वंश की शक्ति का आघात सहन करना पड़ा। बल्लाल-वंश के शासन की नींव कलचुरि जाति के विज्जल या विज्जन ने डाली थी, जो तैलप का युद्धमंत्री था। विज्जल ने कुछ अर्ध-स्वतन्त्र सरदारों की सहायता से अपने स्वामी के सिंहासन

---

४७. १०७०-७१ ई० के एक विवरण में इसका वर्णन इन शब्दों में किया गया है—"अन्त में चोल राजा ने युद्ध में अपना सिर सोमेश्वर की भेंट चढ़ा दिया और इस प्रकार प्राणों से हाथ धोकर अपने वंश को निर्मूल कर दिया।"

४८. आयंगर—'साउथ इण्डिया एण्ड हर मुस्लिम इनवेडर्स' पृ० २३१।
के० वी० एस० अय्यर—'हिस्टोरिकल स्केचेज ऑव दि डेकन', भा० १, पृ० २६१।

विल्हण—'विक्रमचरित', भा० ४, पृ० ४६-४८।

उसने तुंगभद्रा में डूबकर प्राण-त्याग किया। इस प्रकार प्राण त्यागने को 'जलसमाधि' कहा जाता है। यह मृत्यु स्वेच्छा से हुई थी। चौदहवीं शताब्दी में भारत में आनेवाले यात्री इब्नबतूता ने भी इस प्रकार की मृत्यु का उल्लेख किया है। (इब्नबतूता, पेरिस संस्करण भा० ३, पृ० १४१)।

पर अधिकार करने की योजना बना डाली और ११५७ ई० तक उसको अपने अधिकार में रखा। तैलप धारवार जिले में अण्णीगेरी नामक स्थान की ओर भाग गया और वहाँ से सुदूर दक्षिण जाकर वनवासी में उसने अपना अधिकार जमाया।

इधर जब विज्जल गद्दी पर अधिकार जमाने के प्रयत्न में लगा था, दक्षिण भारत में प्रसिद्ध धर्म-सुधारक वासव, शिवोपासना के पुनरुत्थान में लगा था। उसने वर्ण-व्यवस्था की असमानता का घोर विरोध किया और शिव के भक्तों को एकता का उपदेश दिया। अनुश्रुतियों के अनुसार विज्जल ने दो लिंगायत-मतानुयायियों को अंधा बनाकर जो धार्मिक असहिष्णुता प्रकट की उससे देश में विद्रोह की आग फैल गई जिसमें इस विख्यात धर्म-सुधारक और उसके प्रबल प्रतिद्वंद्वी दोनों को ही प्राणों से हाथ धोना पड़ा। लिंगायत[४९] सम्प्रदाय बढ़ने लगा। वैश्यों में उसके अनुयायियों की संख्या खूब बढ़ी। इसके प्रसार से जैन और बौद्ध-धर्मों को आघात लगा और वह लुप्त-प्राय हो गये। राष्ट्रकूट और बल्लाल-वंशों की समाप्ति से चालुक्यों ने फिर शासन सूत्र हस्तगत कर लिया। परन्तु उनके निर्बल हाथों में वह अधिक समय तक न ठहर सका और समस्त दक्षिण भारत देवगिरि के यादवों, वारंगल के काकतीयों और द्वारसमुद्र के होयसलों, जिनका राज्य उत्तर में कृष्णा तक विस्तृत था, में बँट गया।[५०] यह तीनो शक्तियाँ दक्षिण में अपनी-अपनी प्रधानता स्थापित करने के लिए आपस में भिड़कर निर्बल हो गईं और इससे मुसलमानों की विजय का मार्ग प्रशस्त हो गया। यादव-वंश के अन्तिम शक्तिशाली शासक रामचन्द्र यादव को अलाउद्दीन के प्रसिद्ध सेनापति काफूर ने १३१० ई० में

---

४९. मि० एडवर्ड राइस ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑव केनारीस लिटरेचर' (हेरिटेज ऑव इण्डिया सिरीज) पृ० ३७-४१ में लिंगायत सम्प्रदाय का वर्णन किया है। लिंगायतों में केवल शिव की उपासना होती है। वह निरामिष भोजी होते हैं इसलिए ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सब वर्णों के लोग उनके हाथ का बना भोजन ग्रहण कर लेते हैं। लिंगायत दर्शन ब्राह्मणों के अद्वैत दर्शन के समान है।

५०. चतुर्थ सोमेश्वर चालुक्य ने ११८९ ई० तक शासन किया और उसका शासन राज्य के दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भाग तक सीमित था। उसके 'सिंद' सरदारों ने उसके प्रति विद्रोह किया और उसको अपने राज्य के उत्तर-पश्चिम की सीमा की ओर भागने के लिए बाध्य किया। इसके बाद उसके बारे में कुछ सुनाई नहीं पड़ा। इसके बाद प्रभुत्व के लिए संघर्ष छिड़ गया और दक्षिण की तीनों प्रमुख शक्तियों ने विशाल चालुक्य साम्राज्य अपना-अपना अधिकार जतलाया।

पराजित कर दिया और काकतीय-वंश के शासक द्वितीय प्रताप रुद्रदेव को हराकर उसने दिल्ली के सुलतान को कर देने के लिए वाध्य किया। तृतीय वीरवल्लाल मुसलमानो से वहुत समय तक टक्कर लेता रहा लेकिन अन्त में वह भी पराजित हुआ और अपने प्रतिद्वंद्वियो की तरह उसको भी दिल्ली के सुलतान की अधीनता स्वीकार करने और कर देकर अपना शासनाधिकार वनाये रखने के लिए वाध्य होना पडा।

सुदूर दक्षिण—प्राचीन काल में सुदूर दक्षिण मे तीन प्रमुख राज्य थे, पाण्डय, चोल और चेर या केरल। पांडय राज्य का विस्तार आज के मदुरा और तिनेवेली जिलो और त्रिचनापल्ली और त्रावनकोर राज्य के कुछ भागों में था। चोल राज्य में आज का मद्रास और पूर्ववर्ती अनेक जिले एवं मैसूर राज्य का प्रदेश सम्मिलित थे। चेर या केरल राज्य की सीमा का ठीक-ठीक निर्धारण नही किया जा सकता, परन्तु विद्वानों का मत है कि आज का मालावार जिला और त्रावनकोर एवं कोचीन राज्य का अधिकाश इसके अन्तर्गत रहे होंगे। इन राज्यो के इतिहास का विस्तृत वर्णन यहाँ सम्भव नही है। इनके पारस्परिक सम्बन्ध और अन्तिम गति का ही यहाँ पर दिग्दर्शन मात्र किया जायेगा। ईसा से पूर्व की शताब्दियो में यह राज्य काफी शक्ति-सम्पन्न और प्रभावशाली थे। प्राचीन रोम और मिस्र के साथ इनका व्यापारिक सम्वन्ध था। परन्तु ईसा की दूसरी शताब्दी में पल्लव नामक एक नई शक्ति उदित हुई जिसने एक विस्तृत राज्य की स्थापना की और अपने पड़ोसी राज्यों के साथ लड़ाइयाँ छेड़ दी। जान पड़ता है पल्लवो को पडोसी राज्यों की सीमा में लूटमार की आदत-सी पड गई थी। धीरे-धीरे उन्होने अपनी शक्ति इतनी बढाई कि सुदूर दक्षिण के सभी राज्यों पर उनका अधिकार हो गया और इस प्रकार चालुक्यो से उनकी मुठभेड़ हुई। चालुक्य राजा द्वितीय पुलकेशिन ने पल्लव-शासक प्रथम महेन्द्रवर्मन को वुरी तरह परास्त किया और वेंगी प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया। अपने राज्य के इस महत्वपूर्ण भाग को खोकर हताश हुए पल्लवों ने पुनः सैन्य-संगठन करना प्रारम्भ किया और अगले वर्ष ही चालुक्य-शासक से अपनी हार का वदला चुका लिया। आठवीं शताब्दी के मध्य में जब चालुक्यो के स्थान पर राष्ट्रकूटो का अधिकार स्थापित हुआ तो वे भी इन परम्परागत युद्धो में निहित रहे। इस शक्तिशाली नवोदित राज्य-वंश के सामने पल्लव ठहर न सके। आन्तरिक अव्यवस्था और दक्षिण के गगों के विद्रोहों ने पल्लव-शक्ति को नष्ट कर दिया। अव दक्षिण की प्रधानता चोल वंश के अधिकार मे आ गई और राजराज चोल, जिसने ९८५ ई० में प्रमुखता का पद ग्रहण कर लिया था, दूर-दूर तक अपने साम्राज्य का विस्तार

करने लगा।[५१] १००५ ई० के अन्त तक वह अपने प्रतिद्वंद्वियों को हराकर विशाल साम्राज्य की स्थापना करने में सफल हो गया। लेकिन निरन्तर युद्धों के भार ने दक्षिण के इस अद्वितीय बलशाली शासक की सबल भुजाओं को भी थका दिया और उसने १०११ ई० में युद्धों को त्यागकर शासन-व्यवस्था को सघटित करने में ध्यान लगाया। उसका पुत्र राजेन्द्र चोल (१०१८-१०४२ ई०) भी, चोल परम्परा के अनुसार, शासन-कार्य में उसका हाथ बँटाता था। बाद में वह अपने पिता का सच्चा उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ और उसने फिर से अपने पिता की युद्ध-परम्परा प्रारम्भ कर दी। उसकी विजयवाहिनी ने वर्तमान काल के वर्मा में सम्मिलित प्रोम और पेगू प्रदेशों तक उसकी विजय-पताका फहरा दी। बंगाल का राजा महीपाल परास्त होकर उसके अधीन हो गया। उड़ीसा पर भी आक्रमण हुआ और अण्डमान तथा निकोबार टापू तक जीत लिये गये। मैसूर का गग-वंश, जो सदा से पल्लवों की आँखों में तीर-सा चुभता रहा था, अब पराजित हुआ। इस पराक्रमी शासक ने अपने प्रबल प्रतिद्वंद्वी कल्याणी के चालुक्य-वंश के साथ विवाह-सम्बन्ध जोड़कर कुल की प्रतिष्ठा बढाई। इस विवाह-सम्बन्ध से प्रथम कुलोत्तुग (१०७०-१११८ ई०) का जन्म हुआ, जिसका व्यक्तित्व चोल और चालुक्य दोनो महान् वंशो की शक्ति का समन्वित रूप था।

राजेन्द्र की मृत्यु के बाद चोल-राज्य के बुरे दिन आ गये और जो पड़ोसी राजा इनसे हार खा चुके थे, अब उनके विरुद्ध शक्ति सगठित करने लगे। चालुक्य-सेना ने १०५२ या १०५३ ई० मे चोल राजा को कोप्पम के युद्ध में हरा दिया और इस पराजय से चोल और चालुक्यों की राज्य-सीमा में फिर परिवर्तन हो गया। पांड्य, चेर और गंग शासको ने चोल राजा की प्रभुता का तिरस्कार कर दिया। चोल राज्य मे फैली हुई अव्यवस्था का अनुमान इससे लग जाता है कि अब थोड़े-थोड़े समय बाद नये-नये शासक सिंहासनारूढ होने लगे, जिनको या तो सैन्य-शक्ति से या मौत के घाट उतारकर अधिकार-च्युत किया जाने लगा। १०७० ई० में द्वितीय सोमेश्वर और उसके छोटे भाई विक्रमादित्य में और दूसरी ओर वीर राजेन्द्र चोल एवं उसके प्रबल प्रतिद्वंद्वी पूर्वीय चालुक्य-वंश के राजेन्द्र चोल मे सिंहासन के लिए युद्ध छिड गया। इस गृह-युद्ध में विक्रमादित्य की विजय हुई; उसने चालुक्यों के सिंहासन को भी छीन लिया और अपने बहनोई अधि-राजेन्द्र चोल को उसके

---

५१. श्री कृष्णस्वामी आयंगर ने अपनी खोजपूर्ण पुस्तक 'एनसियन्ट इण्डिया' मे चोल-वश का विस्तृत इतिहास दिया है।

पैतृक अधिकार पर स्थापित कराया। लेकिन जैसी कि कहावत है, तलवार के जोर से सब कुछ किया जा सकता है, सिर्फ उस पर बैठा नहीं जा सकता। यही हाल यहाँ भी हुआ। चालुक्य-शक्ति की सहायता से अधि-राजेन्द्र चोल राजा तो बन गया, परन्तु प्रजा का विश्वास न पा सका। थोड़े समय बाद उसका वध कर दिया गया। उसके कोई सन्तान न थी इसलिए सिंहासन राजेन्द्र चालुक्य, जो प्रथम कुलोत्तुग (१०७०-१११८ ई०) के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, के अधिकार में आ गया।

प्रथम कुलोत्तुग योग्य और नीति-निपुण शासक था। उसने राज्य में व्यवस्थित शासन का संघटन कर अपने विशाल साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति स्थापित की। उसने बड़ी-बड़ी विजयें भी प्राप्त की। परन्तु अपने पूर्ववर्ती शासकों से उसकी विशेषता इस बात में है कि उसने दृढ़ आधार पर सुसंगठित शासन-व्यवस्था स्थापित कर दी। उसके शासन के अन्तिम वर्षों में होयसल राजा वित्तिदेव या विष्णुवर्धन (११००-११४१ ई०) ने गंग-राज्य की सीमा से चोल शासक के प्रतिनिधियों को खदेड़ दिया और उसकी मृत्यु से पहले ही वर्तमान मैसूर-राज्य के प्रदेश में अपना अधिकार जमा लिया।

इसी बीच पाड्य-वंश ने भी अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और अब चोल शासकों को होयसल, काकतीय और पाड्य—तीनों शक्तियों के आघात सहन करने पड़े। पाड्य-वंश का अन्तिम शक्तिशाली राजा सुन्दरम् पांड्य हुआ,[५२] जिसकी मृत्यु १२९३ ई० में हुई। तब तक वह सारे तामिल प्रदेश और लंका को विजय कर चुका था। वेनेसिया का महान् यात्री मार्कोपोलो तेरहवीं शताब्दी में दक्षिण-भारत में आया था। उसने पाड्य राजाओं के विपुल धन और शक्ति का वर्णन किया है। लेकिन १३१० ई० में धर्मान्ध काफूर के आक्रमणों ने दक्षिण भारत के राज-तन्त्र को छिन्न-भिन्न कर अराजकता की स्थिति पैदा कर दी। चोल और पांड्य राजाओं की शक्ति का तेजी से ह्रास होने लगा और मुसलमानों के निरन्तर आघातों ने उनको बिलकुल शक्तिहीन कर दिया। इसके बाद १३३६ ई० में विजयानगरम् साम्राज्य की स्थापना से पहले दक्षिण भारत संगठित न हो सका।

---

५२. मार्को पोलो के समय में वह मदुरा में राज्य कर रहा था।

अध्याय २

मुसलमानों के आक्रमण

अरब-आक्रमण—भारत को जिन मुसलमान आक्रमणकारियों का सबसे पहले सामना करना पड़ा, वे तुर्क न होकर अरब थे, जो महान् पैगम्बर के देहावसान के बाद अपनी रेगिस्तानी जन्मभूमि से सारे संसार में उस धर्म का प्रचार करने के लिए निकल पड़े थे जिसे वे स्वर्ग और नरक की कुंजी कहते थे। समान राष्ट्रीयता की भावना से उद्दीप्त, निर्भयता और शक्ति से ओतप्रोत तथा धर्म-प्रचार के उत्साह से अनुप्राणित ये अरब जिस ओर भी निकल पड़े, विजय उनके हाथ रही। बीस वर्ष के अल्प काल में ही सीरिया, फ़िलिस्तीन, मिस्र और फ़ारस पर उनका अधिकार हो गया।[1] फ़ारस को जीत लेने के बाद उनकी लालसा पूर्व की ओर साम्राज्य बढ़ाने की हुई। जब उन्होंने शीराज और हुरमुज के बन्दरगाहों से चलकर भारत के समुद्रतटवर्ती प्रदेशों के साथ व्यापार करनेवाले व्यापारियों से भारत की अतुल सम्पत्ति और मूर्ति-पूजकता का वर्णन सुना तो उनकी धार्मिक तथा राजनैतिक विजय की लालसा और भी तीव्र हो उठी तथा मार्ग में पड़नेवाली प्राकृतिक बाधाओं की चिन्ता न करते हुए उन्होंने भारत पर अभियान का निश्चय कर लिया। इनके जिस सर्वप्रथम अभियान का उल्लेख मिलता है, वह खलीफा उमर के शासन-काल में सन् ६३६-३७ ई० में उमन नामक स्थान से भारत के समुद्रतटवर्ती प्रदेश को लूटने के लिए किया गया था।

---

१. डौलिञ्जर महाशय ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि "क्या धर्म-प्रचार का विशुद्ध उत्साह तथा नये-नये धर्म-मत की पवित्रता से ओत-प्रोत नवीन शक्ति ही अरबों की सर्वत्र विजय के तथा इतने कल्पनातीत अल्प काल में संसार के सबसे बड़े साम्राज्य की स्थापना के कारण थे ?" आर्नल्ड महोदय ने इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार कर यह परिणाम निकाला कि बात ऐसी नहीं थी। उनका कहना है कि धर्म की उत्कट अभिलाषा से बहुत कम लोगों ने इस्लाम धर्म ग्रहण किया; इस्लाम के अनुयायियों में अधिक संख्या ऐसे लोगों की थी, जिन्होंने किसी भय या लालच के कारण यह धर्म ग्रहण कर लिया था। आर्नल्ड महोदय आगे लिखते हैं कि अरबों की इतनी विस्तृत विजयें उनके धार्मिक उत्साह के कारण इतनी नहीं हुईं जितनी कि अपने सम्पन्न एवं समृद्ध पड़ोसियों की सम्पत्ति पर अधिकार जमाने की तीव्र इच्छा के कारण।

आर्नल्ड—'प्रीचिंग ऑव इस्लाम' पृ० ४५-१०१।

इन प्रारम्भिक हमलों का उद्देश्य केवल लूटमार करना ही था, न कि राज्य-विस्तार करना। लेकिन इन हमलो में इतनी कठिनाइयाँ और सकट अनुभव किये गये कि खलीफा ने इन बहुत दूर-दूर देशों पर अभियानों को उचित न समझा और आज्ञा दे दी कि भविष्य में इस दिशा में कोई प्रयत्न न किया जाय। खलीफा सामुद्रिक अभियानों के बहुत विरुद्ध था। इसका कारण यह था कि उसके एक सेनापति ने उसके पास समुद्र का वर्णन इन शब्दों में किया था, कि "वह एक बहुत बड़ा तालाब है जिसमें कुछ बेवकूफ लोग, जो लकड़ी के डडों पर चढ़े हुए कीड़ो की तरह दिखाई देते हैं, खेने की कोशिश करते हैं।"[२] इस प्रकार मरुभूमि के निवासी अरब सामुद्रिक विजयों से वंचित हो गये और खलीफा के निषेध एवं दण्ड के भय से सामुद्रिक-अभियान बंद हो गये। लेकिन उमर के बाद, खलीफाओं ने इस निषेधाज्ञा पर अधिक बल न दिया, इसलिए समुद्री हमलों की फिर से योजनाएँ बनने लगी और अरब-निवासी समुद्र के पार नये-नये प्रदेशों की विजयों के लिए तत्पर होने लगे। अब्दुल्ला-बिन-अमर-बिन-रबी ने ६४३-४४ ई० में किरमान पर आक्रमण किया तथा सीस्तान अथवा सिविस्तान की ओर बढ़कर वहाँ के शासक को उसकी राजधानी में घेरकर संधि करने के लिए बाध्य कर दिया। सन्धि हो जाने पर यह विजयी सेनापति मेकरान की ओर बढा। मेकरान तथा सिन्ध के राजाओं की सम्मिलित सेना ने उसका सामना किया। परन्तु रात के युद्ध में मेकरान का शासक परास्त हुआ। अब्दुल्ला और आगे बढकर सिन्ध नदी के पार के प्रदेशों को भी जीतना चाहता था परन्तु खलीफा के निषेध ने उसकी इच्छा को पूरा न होने दिया और उसकी प्रगति रोक दी।

इस्लामी सेनाएँ सर्वत्र विजयी हुईं। मिस्र, सीरिया, कार्थेज, अफ्रीका—इन सभी देशों में उन्होंने थोड़े ही वर्षों में अधिकार कर लिया और ७१० ई० में गुआदालेत के युद्ध-क्षेत्र में गौथ जाति के शासन को समाप्त कर उनके शासित देश पर मूरों ने आधिपत्य जमा लिया। इस प्रकार योरोप की अर्द्ध-सभ्य जातियों में अरब-संस्कृति ने प्रवेश किया। ऑक्सस नदी तक फारस पर इनका अधिकार हो ही चुका था तथा इस नदी की दूसरी ओर के प्रदेशों को खलीफा के साम्राज्य में मिलाने का प्रयत्न चल रहा था। इन पूर्वीय विजयों

---

२. यह बात मिस्र पर अमरू-बिन-आसी द्वारा किये गये अभियान के समय खलीफा के पास लिखकर भेजी गई थी। इसको पढकर खलीफा ने मुसलमानों के लिए समुद्र-यात्रा का निषेध कर दिया तथा इस आज्ञा का उल्लंघन करने-वाले के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की।

इलियट—हिस्ट्री ऑव इंडिया, भा० १, पृ० ४१६।

ने खलीफा के साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा को बहुत बढ़ा दिया। उमय्यद-वंश के शासन-काल में इस साम्राज्य का उत्कर्ष चरम सीमा पर पहुँच गया। इराक में खलीफा के प्रतिनिधि-शासक कट्टर साम्राज्यवादी हज्जाज के रूप में, जो फारस-साम्राज्य के अन्तर्वर्ती समस्त प्रदेश पर शासन करता था, विजय-लालसा अपनी समस्त प्रचण्डता के साथ मानो मूर्तिमान हो उठी। उसके नेतृत्व में मुसलमान सेनाओं ने बुखारा, खोजन्द, समरकन्द और फरगाना को जीत लिया। कुतैब को काशगर भेजा गया और उसने स्थानीय चीनी-शासक के साथ सन्धि कर ली। एक सेना काबुल के शासक के विरुद्ध भेजी गई तथा दूसरी सिन्ध में देवल[3] के लुटेरों को दण्डित करने के लिए। इन लुटेरों ने लंका के शासक द्वारा खलीफा और हज्जाज के लिए भेजे गये उपहारों से लदे आठ जहाजों को लूट लिया था। लेकिन देबल पर किया गया यह अभियान, जिसके लिए खलीफा ने हज्जाज के विशेष आग्रह पर आज्ञा दी थी, अपने कार्य में विफल रहा। सिंधियों ने अरब-सेनापति को बंदी बना लिया और बाद में उसको मृत्यु के घाट उतार दिया। इस घोर अपमानजनक पराजय से प्रताड़ित दुर्दान्त हज्जाज ने सिंधियों से बदला लेने की प्रतिज्ञा कर ली और इस विफल आक्रमण से कहीं अधिक संगठित एवं सुसज्जित अभियान का आयोजन किया। इस अभियान का नायकत्व, मुहम्मद-बिन-कासिम को सौंपा गया, जिसको ज्योतिषियों ने इस कार्य के लिए सबसे अधिक भाग्यशाली व्यक्ति बताया था।

सिन्ध पर मुहम्मद-बिन-कासिम का आक्रमण, ७१२ ई०—सिन्ध पर मुहम्मद-बिन-कासिम का आक्रमण इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उसका यौवनकालीन बल, उसकी वीरता और साहस, अभियान में आदि से अन्त तक उसका उदार व्यवहार, एवं उसकी करुणाजनक मृत्यु ने उसके समस्त कार्यों को एक बलिदान के तेज की आभा से दीप्त कर दिया है। यौवन के मद से भरपूर युद्ध-निपुण सेनानायक ने बड़ी-बड़ी आशाओं के साथ और युद्ध-सामग्री से सुसज्जित होकर भारत पर चढ़ाई के लिए प्रस्थान किया। उसको युद्ध-सामग्री से सुसज्जित करने में कोई कमी न की गई थी। हज्जाज ने उसके साथ सीरिया और इराक के ६,००० चुने हुए योद्धा, इतने ही ऊँटों

---

३. यह एक बन्दरगाह था जो कि वर्तमान ठट्ठा नगर से २४ मील दूर दक्षिण-पश्चिम में स्थित था। एबेट ने अपने सिन्ध पर लिखे मोनोग्राफ (पृ० ४३-५५) में इसका विस्तृत वर्णन किया है। देखो मेजर रैवर्टी द्वारा अनुवादित तबकात-ए-नासिरी पृ० २९५ (नोट २)।

पर सवार सशस्त्र सैनिक और सामान से लदे हुए ३,००० वैक्ट्रिया के ऊँट भेजे थे। खलीफा ने भी उसके साथ आवश्यकता और विलास की विपुल सामग्री भेज दी थी, क्योंकि खलीफा ने उसकी नियुक्ति उसके गुणो पर मुग्ध होकर ही नही अपितु सगोत्री होने के कारण की थी। जब मुहम्मद मेकरान पहुँचा तो स्थानीय गवर्नर भी अपनी सेना एव युद्ध-सामग्री लेकर उसके साथ हो लिया। इसने पाँच प्रक्षेपण-यंत्र (पत्थर आदि की वर्षा करनेवाले यंत्र) भी उपयुक्त सामग्री के साथ देवल की ओर भिजवा दिये थे। इन सबके अतिरिक्त मुहम्मद ने जाटों और मेड़ों को भी अपने दल में मिला लिया जो असहिष्णु हिन्दू-शासन में अपने प्रति किये जानेवाले अपमानपूर्ण दुर्व्यवहार के कारण क्षोभ से भरे हुए थे। हिन्दुओं ने इन लोगों को कसे हुए घोड़ो पर सवारी करने, सुन्दर वस्त्र पहनने तथा सिर नंगा रखने से रोक दिया था और इनकी स्थिति लकड़हारों और पानी भरनेवालो जैसी कर दी गई थी। इससे हिन्दू-शासन के प्रति इनकी भावनाएँ इतनी कटु हो गई थी कि इन्होंने बड़ी प्रसन्नता से विदेशी आक्रमणकारी के साथ मिल जाना स्वीकार कर लिया। यद्यपि इस देश में पैर जमा लेने के बाद मुहम्मद भी इन लोगों को उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखने लगा, परन्तु देश की भीतरी बातो का ज्ञान प्राप्त करने में उसको इन लोगो का सहयोग बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

सन् ७१२ ई० की वसन्त ऋतु में मुहम्मद देबल पहुँच गया। वहाँ उसकी सहायता के लिए और सेनाएँ, शस्त्र और युद्ध-यंत्र भेजे गये। पहुँचते ही उसके सैनिको ने खाइयाँ खोदनी शुरू कर दी। हर एक खाई की रक्षा के लिए भाले लिये हुए सैनिक नियुक्त किये गये। प्रत्येक सैनिक टुकड़ी का अपना-अपना झंडा था। इस सारे प्रबन्ध के लिए 'मन्जनीक' अर्थात् 'वधू' को ५०० सैनिकों के साथ नियुक्त किया गया। देबल मे एक विशाल मन्दिर था, जिसके शिविर पर रक्त-ध्वज फहराता था। मुसलमानों ने इस ध्वज को उखाड़ गिराया। मूर्ति-पूजक भय से काँप उठे। इसके बाद भीषण संग्राम छिड़ गया। हिन्दुओं को मुसलमानो ने परास्त कर दिया। सारा नगर लूटा गया और जहाँ-तहाँ भीषण नर-संहार के दृश्य उपस्थित किये गये। तीन दिन तक यह विनाश-लीला चलती रही। नगर का शासक विजेता के लिए खुला मैदान छोड़कर, आक्रांताओं का सामना किये बिना ही डरकर भाग गया था। मुहम्मद ने यहाँ मुसलमानो का निवासस्थान बनाया। एक मस्जिद का निर्माण किया और नगर की रक्षा के लिए ४,००० सैनिकों का दल नियुक्त किया। फिरिश्ता का कहना है कि १७ वर्ष और इससे अधिक अवस्था के जिन लोगों ने इस्लाम ग्रहण करना स्वीकार न किया उनको तलवार के घाट उतार दिया गया। विजेता के हाथ

बहुत सम्पत्ति लगी। नियमानुसार इस सम्पत्ति का पाँचवाँ भाग तथा ७५ कन्याएँ हज्जाज के लिए भेजी गईं, बाकी सम्पत्ति सैनिकों में बाँट दी गई।[४]

देवल पर अधिकार कर लेने के बाद मुहम्मद ने नीरूँ[५] नामक स्थान की ओर कूच किया। नीरूँ के निवासियों ने आत्म-समर्पण कर दिया और आक्रांता को विविध सामग्रियाँ देकर अपनी जान बचाई। इसके बाद मुहम्मद ने सिन्ध नदी को पार करने के लिए नावों का पुल बनाने की आज्ञा दी। शत्रु की इस असम्भावित प्रगति से दाहिर को सावधान होने का अवसर न मिल पाया और उसने रावर के किले में आश्रय लेकर आक्रांता का सामना करने के लिए अपनी सेना को व्यवस्थित करना प्रारम्भ किया। यहाँ मुसलमानों को दाहिर तथा दाहिर के ठाकुरों के नायकत्व में स्थित मुसलमानों से युद्ध-पिपासु प्रबल सेना तथा युद्ध के लिए लाये गये भयकर हाथियों से मुठभेड़ करनी पड़ी। अल-बिलादूरी[६] लिखता है कि ऐसा भीषण संग्राम पहले देखने या सुनने में न आया था। 'चाचनामा'[७] के लेखक ने भी दाहिर और उसके राजपूत सहायकों की युद्ध में वीरता का विशद वर्णन किया है। अल-बिलादूरी के अनुसार "ऐसा घोर संग्राम छिड़ गया, जैसा कि पहले सुनने में न आया था। दाहिर ने हाथी से उतरकर घोर संग्राम किया। लेकिन शाम होते-होते वह मारा गया। इस समय मूर्ति-पूजकों ने भागना शुरू कर दिया था और मुसलमान उनके खून से अपनी युद्ध-पिपासा शान्त करने में लगे थे। अल-मदैनी के कथनानुसार दाहिर कलाब जाति के एक सैनिक के हाथों मारा गया, जिसने इस घटना-सम्बन्धी कुछ पद्य लिखे।"[८] एक 'नफ्ता' तीर दाहिर के हौदे पर लगा और हौदे में आग लग गई। इस संकट के अवसर पर दाहिर का हाथी प्यास बुझाने के लिए पानी की ओर दौड़ा और जब वह लौटा तो अरबों ने दाहिर को चारों ओर से घेरकर उस पर भीषण बाण-वर्षा प्रारम्भ कर दी। दाहिर जमीन पर गिर पड़ा, परन्तु शीघ्र ही वह उठ खड़ा हुआ

---

४. ब्रिग्स, भा० ४, पृ० ४०५।

५. नीरूँ स्थान थट्टा से हैदराबाद को जानेवाले प्रधान मार्ग पर जारक स्थान से कुछ नीचे स्थित था। इलियट भा० १, पृ० ३९६-४०१।

६. अल-बिलादूरी—इलियट भा०१, पृ० १२१।

७. 'चाचनामा'—इलियट, भा० १, पृ० १७०।
बहुत से विद्वानों का मत है कि मुहम्मद ने रावर नामक गाँव आक्रमण करके जीता था। 'चाचनामा' में किले पर अधिकार किये जाने और ... परिवार की स्त्रियों के अग्निदहन का विस्तृत वर्णन किया गया है।

८. इलियट, भा० १ पृ० १७०।

और एक अरब सैनिक से भिड़ गया, जिसने "उसके सिर के ठीक मध्य भाग पर तलवार का प्रहार किया और उसके गले तक तलवार उतार दी।" अपने वीर राजा की मृत्यु से हताश हिन्दुओं ने प्राणों की बाजी लगाकर मुसलमानों पर उग्र आक्रमण किया, परन्तु उनका आक्रमण विफल हुआ और इस्लाम-भक्तों ने "नर-संहार से अपनी तृप्ति की।" दाहिर की पत्नी रानीबाई[१] और उसका पुत्र जयसिंह रावर के किले में आ गये। यहाँ पर भीषणतम कठिनाइयों से घिरे हुए उन असहाय नर-नारियों के दीप्तिमान गुण प्रकट हुए जिनकी प्राण-प्रतिष्ठा पर घोर संकट मँडरा रहा था। अपनी जाति के स्वभावानुसार इस वीर रमणी ने अपने पति के शत्रुओं से लोहा लेने की ठान ली। उसने बची हुई सेना को फिर संगठित किया। किले में १५ हजार सैनिक थे। शीघ्र ही किले की दीवारों के नीचे डेरा डाले हुए शत्रु-दल पर पत्थरों, तीरों और भालों की वर्षा शुरू कर दी गई। लेकिन अरबों की शक्ति रावर के इन वीर रक्षकों से बहुत भारी सिद्ध हुई। अरबों ने बहुत निर्भयता और बल के साथ किले का घेरा जारी रखा। जब रानी ने देखा कि बचने की कोई भी आशा शेष नहीं है तो उसने किले की सब स्त्रियों को एकत्रित कर उनसे कहा,

---

१. इस रमणी के नाम के विषय में बड़ा संदेह है। 'चाचनामा' के लेखक ने उसका नाम 'रानीबाई' (कुछ पोथियों में मांई) दिया है और इसके विषय में एक बड़े आश्चर्य की बात लिखी है कि यह दाहिर की बहन थी और तब दाहिर की पत्नी बनी थी। दूसरे स्थल पर उसने दाहिर की पत्नी का नाम 'लाड़ी' दिया है और ब्राह्मणावाद में अपने सम्मान की रक्षा के लिए उसके द्वारा वीरतापूर्वक युद्ध करने का उल्लेख किया है। अल-बिलादूरी का कहना है कि मुहम्मद ने रावर नामक गाँव पर आक्रमण किया। इस स्थान पर दाहिर की एक पत्नी थी, जिसने पकड़े जाने के भय से अपनी दासियों सहित अपने आप को भस्म कर दिया था। 'चाचनामा' का वर्णन 'अल-बिलादूरी' के वर्णन से मिलता-जुलता है। इसमें लिखा है कि दाहिर की मृत्यु के बाद रानी रावर के किले में अपने रिश्तेदारों और आश्रितों के साथ चली गई और जब उसके आश्रित एवं सम्बन्धी स्थानीय लोगों की सहायता पाकर अधिक सुरक्षित ब्राह्मणावाद के किले में चले गये तो रानी ने अरबों के साथ वीरतापूर्वक युद्ध किया और विजय की कोई आशा न रह जाने पर अपने आप को जला डाला। रावर पर आक्रमण के बाद ब्राह्मणावाद का किला हस्तगत किया गया; इसी स्थान पर 'राड़ी' ने अपनी वीरता दिखाई। किले पर मुसलमानों का अधिकार हो गया और वह अपनी दो अविवाहिता कन्याओं के साथ पकड़ी गई। सम्भवतः यह 'लाड़ी' और 'रानीबाई' दोनों दाहिर की पत्नियाँ थीं। सर वूलजले हेग ने दोनों को दाहिर की पत्नियाँ कहा है। इलियट, भा० १, पृ० १२२, १८१।

कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, जि० ३ पृ० ५।

"इन गो-भक्षको के हाथ पड़कर जान बचाने से भगवान् हमारी रक्षा करे। इससे हमारा सम्मान सुरक्षित नहीं रह सकता। हमारी सुरक्षा के साधन समाप्त हो चुके हैं और बच निकलने का अब कोई मार्ग नहीं है। इसलिए हम लकड़ी, कपड़े, तेल एकत्र कर चिता रचें क्योंकि मैं समझती हूँ कि अब हम अपने शरीर को भस्मसात् कर अपने पतियो से मिलने के लिए प्रस्थान करें। यदि तुममें से कोई जीवित रहने की इच्छा रखती हो, तो वह जा सकती है।"[10] इसके बाद सब स्त्रियों ने एक घर में प्रवेश कर अपना शरीर अग्निसात् कर दिया और इस प्रकार मुसलमानों के हाथ से अपनी और अपने वंश की प्रतिष्ठा को बचाया।

मुहम्मद ने किले पर अधिकार कर किले के ६,००० आदमियों का वध करवा दिया। दाहिर की सारी सम्पत्ति पर उसने अधिकार कर लिया। इस विजय से फूला न समाकर, वह ब्राह्मणाबाद[11] की ओर बढ़ा। यहाँ उसका कोई विरोध न हुआ। लोगों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इन विजयों के बाद शीघ्र ही शासन-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया गया। जिन लोगों ने इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लिया उनको दासता, करों और 'जजिया' से मुक्त किया गया लेकिन जो अपने धर्म को छोड़ने के लिए तैयार न हुए उन पर 'जजिया' लगाकर भूमि और सम्पत्ति पर उनका अधिकार रहने दिया गया। 'जजिया' की तीन श्रेणियाँ रखी गईं। पहली श्रेणी के अनुसार ४८ दिरहम के बराबर सोना देना पड़ता था, दूसरी श्रेणी में २४ दिरहम और सबसे निचली श्रेणी में १२ दिरहम।[12] जब ब्राह्मणाबाद के निवासियों ने पूजा-पद्धति की स्वतन्त्रता के लिए मुहम्मद से निवेदन किया तो उसने यह मामला हज्जाज के पास निर्णय के लिए भेजा। हज्जाज ने इस विषय में निम्नलिखित आदेश भेजा—

"क्योंकि उन्होंने अधीनता स्वीकार कर ली है और खलीफा को कर देना प्रारम्भ कर दिया है, इसलिए नियमानुसार उनसे और अधिक कुछ

---

१०. 'चाचनामा', इलियट भा० १, पृ० १७२।

११. यह बम्बई प्रान्त के सिन्ध जिले के अन्तर्गत थार और परकार के सिझोरो नामक ताल्लुका में एक विध्वस्त नगर है, जो २५°५२' उत्तर और ६८°५२' पूरब में, हैदराबाद के शाहदादपुर नामक स्थान से ११ मील दक्षिण-पूर्व की ओर और हाला नामक स्थान से २१ मील की दूरी पर स्थित है। इम्पीरियल गजेटियर, जि० ९, पृ० ८। ब्राह्मणाबाद पर इलियट के (परिशिष्ट, जि० १, पृ० ३६९-७४) भी द्रष्टव्य है।

१२. चाचनामा—इलियट, भा० १, पृ० १८४।

नही लिया जा सकता। वह हमारी सुरक्षा में आ गये है, इसलिए हम किसी भी रूप में उनके प्राणों और सम्पत्ति पर हाथ नहीं लगा सकते। उनको अपने-अपने देवताओं को पूजने की आज्ञा दी जाती है। किसी को अपने धर्म का पालन करने से नही रोका जाना चाहिए। वह अपने घरों में अपनी इच्छानुसार किसी भी ढंग से जीवन बिता सकते है।"[१३] यह सब हो जाने पर मुहम्मद ने देश की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। सारी जनता को चार वर्गों में विभक्त किया गया और प्रत्येक व्यक्ति को १२ दिरहम तोल की चाँदी दी गई, क्योंकि उनकी सम्पत्ति राज्य ने ले ली थी। ब्राह्मणों के साथ अच्छा व्यवहार किया गया और उनके सम्मान की उचित व्यवस्था रखी गई। उनको ऊँचे पदों पर नियुक्त कर देश का शासन उनके हाथों में सौंप दिया। भूमि-कर की व्यवस्था के लिए नियुक्त अधिकारियों को मुहम्मद ने आज्ञा दी कि "जनता और सुलतान के बीच न्यायपूर्वक व्यवस्था बनाओ और यदि दोनों के बीच बँटवारे की आवश्यकता हो तो बँटवारा समान रूप से करो। कर उतने ही लगाओ, जितना लोग दे सकते हों। परस्पर सहमति से कार्य करो और एक दूसरे का विरोध न करो, जिससे देश को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे।"[१४] सबको धार्मिक स्वतन्त्रता दी गई और पूजा-पद्धति में ब्राह्मणों की इच्छाओं का आदर किया गया।

ब्राह्मणाबाद की विजय के बाद अरोर (अलोर) के किले पर ध्यान दिया गया। इस किले का अध्यक्ष दाहिर का 'फूफी' नामक पुत्र था। उसको अभी तक अपने पिता के निधन का समाचार न मिल पाया था। इसलिए वह सेना एकत्र करने के लिए अपने प्रदेश में चक्कर लगा रहा था। अलोर की जनता को दाहिर की मृत्यु का विश्वास कराने के लिए मुहम्मद ने लाड़ी को भेजा, परन्तु लाड़ी को गालियों की बौछार सहनी पड़ी और वह अपने कार्य में विफल रही। आखिर एक जादूगरनी के द्वारा फूफी को अपने पिता के मारे जाने का विश्वास हुआ। तब वह अपने सम्बन्धियों और अनुचरों को लेकर किले से निकल आया और चित्तौर की ओर चल पड़ा। फूफी के युद्ध करने के विचार से अवगत होने पर मुहम्मद ने किले पर आक्रमण कर इसको हस्तगत कर लिया। व्यापारियों और व्यवसायियों ने अधीनता स्वीकार कर ली और किले में स्थित सेना ने कायरतापूर्वक किले की कुंजियाँ निर्विरोध मुहम्मद के सामने रख दीं।

---

१३. चाचनामा—इलियट भा० १, पृ० १८५-८६।
१४. वही पृ० १८४।

अलोर की व्यवस्था करने के बाद मुहम्मद मुलतान की ओर बढ़ा और मार्ग में दाहिर के एक चचेरे भाई कक्सा को जो अलोर के किले से भाग निकला था, अपने अधीन किया। आगे चलकर उसने एक गढ़ पर आक्रमण किया—इस गढ़ का स्थान-निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है—जिसकी रक्षा के लिए वहाँ के लोगों ने सात दिन तक वीरतापूर्वक युद्ध किया। इस गढ़ का अध्यक्ष मुलतान के शासक का भतीजा था। किले के घिर जाने पर वह रावी के किनारे 'सिक्का' नामक किले में चला गया। सत्रह दिन के घेरे के बाद सिक्कागढ़ भी जीत लिया गया। इस किले को जीतने में मुहम्मद को अपने २५ योग्यतम सेनानायकों और २१५ सैनिकों से हाथ धोना पड़ा।

इस विजय के पश्चात् मुहम्मद ने सिन्ध नदी के ऊपरले भाग के प्रधान नगर मुलतान की ओर कूच किया। चाचनामा का लेखक लिखता है कि इस नगर के लिए विधर्मियों (हिन्दुओं) और धर्मानुयायियों (मुसलमानों) में सात दिन तक भीषण युद्ध हुआ। मुलतान के शासक के भतीजे ने मुसलमानों पर प्रचण्ड रूप से आक्रमण किया। लेकिन उसके आक्रमण को विफल कर मुसलमानों ने विजय प्राप्त कर ली। किले की सेना को तलवार के घाट उतारा गया और मुलतान के सरदारों और योद्धाओं के परिवारों को, सब मिलाकर जिनकी संख्या ६ हजार थी, दास बना लिया गया। अमीर दाऊद नसर उस नगर का शासक नियुक्त हुआ और अन्य प्रधान किलों को अरब-अधिकारियों की अध्यक्षता में रखा गया। मुलतान के व्यापारियों, व्यवसायियों और हिन्दू शासकों के अत्याचारों से पीड़ित जाट और मेड़ों ने भी विजेता का स्वागत कर भक्ति-भाव प्रकट किया। शीघ्र ही भूमि आदि की व्यवस्था की गई। मुहम्मद-बिन-कासिम ने सभी-विधर्मियों के प्रति सहिष्णुता का भाव प्रदर्शित किया और उनसे 'धर्म-कर' लेकर उनकी जान बख्श दी। उसने घोषणा की कि "हिन्दुओं के मन्दिरों को उसी प्रकार कोई क्षति न पहुँचाई जायेगी जैसे कि ईसाइयों के गिरजे, यहूदियों के सिनोद (उपासना-गृह) और मॅगियों के 'अल्तार' (यज्ञ-वेदी) सुरक्षित रखे गये हैं।" इतनी उदार-नीति अपनाने पर भी अरबों का कोष लूट-पाट के धन से भर गया। 'चाचनामा' में लिखा है कि एक मन्दिर से २३० मन सोना और स्वर्ण-चूर्ण से भरे ४० गगरे प्राप्त हुए थे। इन गगरों को तौला गया था और इनमें तेरह हजार दो सौ मन सोना निकला था।[15] अरबों ने स्वयं उस स्थान के निवासियों की सहायता से अपना कार्य सरलतापूर्वक सम्पन्न किया। कभी-

---

१५. चाचनामा— लियट, भा० १, पृ० २०६।

कभी बर्बरता के कार्य भी किये जाते थे, लेकिन ऐसे प्रसंग बहुत ही कम आते थे। अरबों ने बाद में आनेवाले तुर्क आक्रांताओं से कहीं अधिक उदारतापूर्ण व्यवहार रखा। मुलतान पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लेने के पश्चात् मुहम्मद ने अपने एक सेनानायक आबू हकीम को दस हजार घुड़सवारों के साथ कन्नौज की ओर वहाँ के शासक को इस्लाम-धर्म ग्रहण करने को बाध्य करने के लिए भेजा, लेकिन इस नये अभियान को प्रारम्भ कर सकने के पहले ही उसको खलीफा की वह आज्ञा मिली जिसने उसके विजयोल्लास से तरंगित जीवन की दयनीय समाप्ति कर डाली।

मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु—सिन्ध में मुहम्मद ने एक से एक बढ़कर गौरवपूर्ण विजयें प्राप्त की, परन्तु इन सबके पीछे उसका भाग्य-चक्र उसके लिए जिस असंभावित दारुण परिणाम की सृष्टि कर रहा था, उससे उसकी समस्त कीर्ति भी उसको बचा न सकी। उसका पतन वैसा ही आकस्मिक हुआ जैसा उसका उत्थान हुआ था। चाचनामा के लेखक और मीर मासूम ने,[१६] बहुत थोड़े अन्तर के साथ, मुहम्मद की मृत्यु की हृदय-विदारक कथा का वर्णन किया है। दोनों ने लिखा है कि राजा दाहिर की कन्याएँ परमाल-देवी और सूरजदेवी जब खलीफा के हरम में पहुँचाई गईं तो अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के विचार से उन्होंने खलीफा से यह मनगढ़न्त बात कही कि उसके पास भेजने से पहले ही मुहम्मद-बिन-कासिम ने उनके सतीत्व को नष्ट कर दिया है और अब वह सद्धर्मानुयायियों के नायक (खलीफा) के योग्य नहीं रह गई हैं। यह बात सुनकर खलीफा के क्रोध का ठिकाना न रहा और क्रोधावेश में उसने आज्ञा दे दी कि मुहम्मद को बैल की कच्ची खाल में सिलवाकर राजधानी में भेज दिया जाय।[१७] खलीफा की शक्ति और प्रभाव इतना उग्र था कि यह आज्ञा पाते ही मुहम्मद ने स्वयं बैल की कच्ची खाल में अपने आप को सिलवा लिया और मासूम लिखता है कि "तीन दिन बाद उसके प्राण-पखेरू उसका शरीर छोड़कर स्वर्ग की ओर उड़ गये।" उसका शव एक संदूक में बन्द कर खलीफा के पास भेजा गया। खलीफा ने दाहिर की लड़कियों के सामने वह संदूक खुलवाया। राजकुमारियों ने [अपने पिता के

---

१६. वही, पृ० २०९। जारेट—आइन-ए-अकबरी, अ० २, पृ० ३४५। इलियट, अ० १, पृ० ४३७-३८।

१७. खलीफा का नाम 'वलीद-इब्न-अब्दुल मलिक' था। वह हिजरी सन् ८६ (७०५ ई०) में खलीफा बना था और हिजरी सन् ९६ (७१५ ई०) में उसका देहान्त हुआ।

हत्यारे की मृत्यु पर पूर्ण सन्तोष प्रकट किया, साथ ही खलीफा के सामने यह भी स्वीकार कर लिया कि मुहम्मद निर्दोष था और प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर उन्होने उस पर यह झूठा आरोप लगाया था। यही नही उन राजकुमारियों ने खलीफा की भर्त्सना करते हुए कहा कि उसे न्याय करते समय भविष्य में और भी सावधानी रखनी चाहिए। खलीफा को बहुत पश्चात्ताप हुआ; परन्तु अब क्या किया जा सकता था। उसने आज्ञा दी कि इन राजकुमारियों को घोड़ो की पूँछ से बाँधकर तब तक घसीटा जाय जब तक इनके प्राण न निकल जायें।[१८] इस प्रकार सिन्ध के विजेता उस महान् योद्धा की इहलीला समाप्त हुई जिसने भारत-भूमि पर खलीफा का आधिपत्य स्थापित किया था। यह कहानी बहुत कुछ किवदन्ती है। मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु के विषय में विद्वानो की सम्मतियो में बहुत विरोध है लेकिन 'फ़ुतुहू-ए-बुलदान' के लेखक का यह कथन अन्य वर्णनों से अधिक सत्य जान पड़ता है कि खलीफा की आज्ञा से मुहम्मद को हथकड़ियाँ पहनाई गई और सता-सताकर मारा गया।

सिन्ध पर अरब-आधिपत्य—इच्छा न होने पर भी आवश्यकता से बाध्य होकर अरबों को शासन-कार्य स्थानीय लोगो पर छोड़ देना पड़ा। लेकिन इस विजय से अरबों के अधिकार में पर्याप्त भूमि आ गई थी। 'इक्ता' भूमि पुरस्कार के रूप में वितरित की गई और इसके अधिकारियों को आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता देनी पड़ती थी। लेकिन भेंट के रूप में दिये गये धन (सदका) के अतिरिक्त उनको और कोई कर न देना पडता था। मुसलमान सैनिकों को खेती करने की आज्ञा न थी इसलिए कृषि-कार्य का सारा भार स्थानीय लोगों पर पड़ा, जिनको "स्वत्वहीन कृषक और मजदूर बना दिया गया।" कुछ सैनिको को वेतन के रूप में भूमि दी गई थी और कुछ को निश्चित वेतन मिलता था। कुरान शरीफ में दिये गये नियमों के अनुसार लूट के माल का पाँचवाँ हिस्सा खलीफा को मिलता था और बाकी सैनिकों में बँट जाता था। इस नियम के पालन में खलीफा ईमानदारी से काम लेते थे, क्योंकि सैनिको के विरोध से वह हमेशा घबराते थे। धार्मिक संस्थाओं को दान दिया जाता था और धार्मिक पुरुषों को बिना किसी मूल्य या कर के

---

१८. चाचनामा का अनुसरण करते हुए मीर मासूम ने भी लिखा है कि राजकुमारियाँ खलीफा के सामने लाई गई और एक दुभाषिया बुला लिया गया। उनके चेहरे से जब पर्दा उठाया गया तो खलीफा उनकी सुन्दरता पर मोहित हो गया। उन्होंने खलीफा को बताया कि मुहम्मद ने इनको तीन दिन तक अपने हरम में रखा था।

तारीख-ए-मासूमी—खुदाबख्श, पाण्डुलिपि 'ऐफ' (५)।

(वक्फ) भूमि दी जाती थी। अरब सैनिक इस देश में बस गये, उन्होंने भारतीय स्त्रियों से विवाह कर लिया और इस प्रकार धीरे-धीरे बहुत-सी अरब बस्तियाँ बस गईं, जिनमें पारिवारिक सुख का अनुभव करते हुए अरब सैनिक निर्वास का दुःख भूलने लगे। इन बस्तियों को 'जुनुद' और 'अम्सार' कहते थे, जिनका अर्थ होता है 'सेनाएँ' तथा 'नगर'। कुछ स्थानों पर यह बस्तियाँ विशाल नगरों के रूप में विकसित हुईं और विद्या एवं संस्कृति के केन्द्र बन गईं। सिंध में ऐसी बस्तियों में मुख्य बस्तियाँ थीं मनसूरा, कुजदार, कन्दावेल, बैजा, महफूजा और मुलतान। स्थानीय सेनाओं में से कुछ तोड़ दी गईं और कुछ अरब शासकों की सेवा में रहने दी गईं। युद्ध-समाप्ति के बाद अरब-सैनिक आराम और विलासमय जीवन बिताने लगे। इससे उनका धार्मिक जोश और युद्ध-पिपासा इतनी दब गई कि सैनिक अभियानों को चलाने के लिए बाहर से सैनिक भर्ती करने की आवश्यकता पड़ने लगी। व्यापार द्वारा सम्पत्ति बढ़ाने की इच्छा ने भी इनकी सैनिक प्रवृत्तियों को दबा दिया था। व्यापार ने खूब उन्नति की और सिन्ध में बस जानेवाले अरब अन्य मुसलमान-देशों के साथ जल और स्थल मार्ग से हमेशा व्यापार करते रहे। विभिन्न जातियों के व्यापारी भारतीय माल को सिन्ध से होकर तुर्किस्तान, खुरासान और वहाँ से कुस्तुन्तुनिया तक पहुँचाते रहते थे। अरब के घोड़े भारत में लाये जाते थे और सिन्ध नदी के मुहाने की ओर शस्त्र तथा अन्य युद्ध-सामग्रियाँ भेजी जाती थीं जिससे देश में सैनिक अभियान चलाये जा सकें। किरमान और मेकरान के समुद्र तटवर्ती प्रदेश में फैली हुई 'अबदिम' जाति के अरबों की बस्तियाँ विदेशों के साथ व्यापार से बहुत लाभान्वित होती जा रही थीं।

अरबों ने हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार रखा। इसका कारण यह नहीं था कि वे दूसरे धर्मों का आदर करते थे, अपितु यह था कि वे भली भाँति अनुभव कर चुके थे कि इन विजित लोगों को बल प्रयोग द्वारा अपने धर्म से च्युत कराना असम्भव है। प्रारम्भ में बहुत से स्थानों पर धर्मान्ध बर्बरता का प्रदर्शन किया गया और बहुत से मन्दिरों को भूमिसात् किया गया। देवल, नारून और अलोर के मन्दिरों को तोड़कर उनके स्थान पर मस्जिदें निर्मित हुईं। कुछ स्थानों पर इन विजेताओं का विरोध करनेवालों को मारकर उनकी स्त्रियों और बच्चों को बंदी बनाया गया था। मुलतान में मार्तण्ड-मन्दिर को विध्वस्त कर उसकी सम्पत्ति पर मुहम्मद-बिन-कासिम ने अधिकार कर लिया था। आय के मुख्य साधन भूमि-कर और 'जजिया' थे। सार्वजनिक नहरों से सींची जानेवाली भूमि पर गेहूँ और जौ की उपज

का २/५ भाग और सिंचाई न की जानेवाली भूमि पर उपज का ३/१० भाग 'भूमि-कर' के रूप में लिया जाता था। छुहारों, अगूरो और अन्य फलों पर १/३ भाग उपज के रूप में या नकदी के रूप में कर वसूल किया जाता था तथा शराव, मछली, मोती आदि कृषि के अतिरिक्त अन्य साधनों से आनेवाली वस्तुओं पर पैदावार का १/५ भाग वसूल किया जाता था। इनके अतिरिक्त और भी 'कर' थे जिनको सबसे ऊँची वोली वोलनेवाले को ठेके पर दे दिया जाता था। 'चाचनामा' मे किसानो पर लगाये जानेवाले 'वाज', 'उशोरी' आदि अन्य करो का भी उल्लेख है। कुछ जातियो पर ऐसी वस्तुओं की वसूली लगाई गई जो उनके लिए अपमानजनक थी। एक समय अराल नदी के पार रहनेवाले जाटों को यह आज्ञा दी गई कि जब वे अरव-शासक के सामने अपना भक्ति-भाव प्रकट करने के लिए आवें तो अपने साथ एक कुत्ता अवश्य लावें; इसके अतिरिक्त इन लोगो के हाथों पर जलते लोहे से निशान भी लगाया जाता था। पारिवारिक खर्चों को नियंत्रित करनेवाले नियमों का कड़ाई से पालन कराया जाता था। कुछ जातियो को घोड़े की सवारी करने, सुन्दर वस्त्र पहनने तथा सिर और पैरों को नंगा रखने को भी मनाही कर दी गई थी। अधीन जातियों के किसी व्यक्ति द्वारा की गई चोरी वहुत वड़ा अपराध माना जाता था और इसकी सजा के तौर पर उस चोर की स्त्री और बच्चो को जला दिया जाता था। स्थानीय लोगों को तीन दिन और रातो तक किसी भी मुसलमान यात्री को भोजन देना पड़ता था। इसी प्रकार की वहुत सी अपमानजनक आज्ञाओं का मुसलमान इतिहासकारों ने उल्लेख किया है। 'जजिया' सदैव "सख्ती से ठीक समय पर और बहुधा अपमानपूर्ण व्यवहार के साथ" वसूल किया जाता था। 'जजिया' की वसूली को धार्मिक एवं राजनैतिक कर्त्तव्य समझा जाता था और यह 'कर' इतना महत्त्वपूर्ण था कि मुहम्मद-बिन-कासिम के समय में भी इसकी वसूली के लिए हज्जाज किसी दूसरे अधिकारी को भेजता था। जिनके लिए विधर्मी (जिम्मी) अपनी आय के अनुसार यह कर देते थे। इस्लाम ग्रहण करनेवाले को इस कर से मुक्ति मिल जाती थी। जब शासन की शक्ति उतनी प्रवल न रह गई और खलीफा भी आय का अधिकाधिक भाग वसूल करने लगा तो मुसलमानों पर भी वहुत से 'कर' लगाये जाने लगे। परिणामस्वरूप देश में जगह-जगह उपद्रव और विद्रोह होने लगे। इस नीति के बुरे परिणाम के विषय में मुसलमान इतिहासकारों में सबसे अधिक दार्शनिक इब्नखलदून ने लिखा है, "जीवन में विलासिता बढ़ जाने से सरकार और उसके अधिकारियों की आवश्यकताएँ बढने लगीं और उनका उत्साह ढीला पड़ने लगा। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि शासन-कार्य चलाने के लिए

अधिक लोगों को नियुक्त कर उनको अधिक वेतन दिया जाय। परिणाम-स्वरूप 'कर' धीरे-धीरे बढाये जाने लगे, यहाँ तक कि भूमि के स्वामियों और मजदूरों को उनका चुकाना असम्भव हो गया। इससे सरकार में निरन्तर परिवर्तन होने लगे।"[१९] हिन्दू और मुसलमानों के बीच हुए झगड़ों को निपटाने के लिए कोई न्यायालय न थे। अमीर और सरदार जो अब भी अपनी स्वतन्त्रता बनाये हुए थे, अपनी सीमा के अन्दर अपराधियों को मृत्यु-दण्ड देने तक का अधिकार रखते थे। काजी लोग कुरान के अनुसार न्याय करते थे और हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों का फैसला भी इन्हीं नियमों के अनुसार किया जाता था, जिससे हिन्दुओं के साथ बहुत अन्याय होता था। सार्वजनिक और राजनैतिक अपराधों का दण्ड-विधान हिन्दू-मुसलमान सबके लिए समान होते हुए भी हिन्दू अपने ऋण, सुलह, व्यभिचार, उत्तराधिकार, सम्पत्ति और इसी प्रकार के अन्य विषयों से सम्बन्धित झगड़ों का निपटारा अपनी पंचायतों में कर लेते थे, जो बहुत व्यवस्थित रूप से कार्य करती थीं। सरकार द्वारा स्थापित सार्वजनिक न्यायालय तो हिन्दुओं के लिए 'धन चूसने और बलपूर्वक धर्म परिवर्तन कराने' के साधन-मात्र थे। विदेशी शासन में हिन्दू हमेशा पीड़ित और दुःखित रहे। परन्तु यह उन्हीं की आपसी फूट का परिणाम था। सिन्ध में अरबों के शासन-काल में शासक और शासित जनता के बीच उस सहानुभूति का सर्वथा अभाव रहा जो पारस्परिक विश्वास से उत्पन्न होती है।

अरबों की विजय का अस्थायित्व—यह विजय ऐसे लोगों द्वारा हुई थी जो विचार एवं स्वभाव में परस्पर इतनी भिन्न थीं कि उनसे एक होकर काम करने की कभी भी आशा नहीं की जा सकती थी। जब धार्मिक जोश ठंडा पड़ गया तो ये लोग "एक जैसी जीवन-परिपाटी अपनाने और एक नियंत्रण में चलने में वैसे ही अयोग्य सिद्ध हुए जैसे कि उनकी जन्म-भूमि के रेत के कण।" विभिन्न परिवारों के वंश-क्रमागत झगड़ों ने इनकी शक्ति को निर्बल कर दिया और धार्मिक-विचारों में उदार 'शिया' आदि सम्प्रदायोंके दमन ने मुसलमान-शक्ति को अत्यन्त क्षीण कर दिया। विभिन्न धार्मिक-सम्प्रदाय बढ़ने लगे और इस साम्प्रदायिक-भावना का सरकार द्वारा कठोर दमन किये जाने पर भी खारिजी, जिन्दिक, ख्वाजा, शरिया, मुलाहिद, करमातिया आदि धार्मिक सम्प्रदाय उन्नति करने लगे और अपने-अपने मत के प्रचार में लगे रहे। अरबों की विजय, जैसा कि स्टानले लेनपूल ने ठीक ही लिखा है, केवल "भारत तथा इस्लाम के इतिहास में एक घटनामात्र रह गई। यह ऐसी विजय थी,

---

१९. इलियट—भा० १, पृ० ४७७-७८।

'जिससे कोई फल प्राप्त न हुआ।" सिन्ध-प्रदेश की भूमि बहुत कम उपज के लिए प्रसिद्ध है, इसलिए इस पर अधिकार कर लेने से खलीफा के साम्राज्य की आय पर कोई अच्छा प्रभाव न पड़ा। धार्मिक विचारों में कट्टर और दार्शनिक प्रवृत्तिवाली हिन्दू जाति पर इन विजेताओं की विपुल सम्पत्ति और सज-धज का कुछ भी असर न हुआ और हिन्दुओं के जीवन में इनके कारण कुछ भी परिवर्तन न आ सका। भारत में स्थायी रूप से अधिकार जमाना अरबों के लिए असम्भव था, क्योंकि उत्तर और पूरब में अब भी राजपूत राज्य विद्यमान थे, जो अपनी सीमा के अन्दर घुस आनेवाले किसी भी विदेशी आक्रांता से चप्पा-चप्पा भूमि के लिए युद्ध करने को प्रस्तुत रहते थे। मुहम्मद-बिन-कासिम की मृत्यु के बाद विजय का कार्य अधूरा ही छूट गया और इस प्रदेश पर खलीफा के प्रतिनिधि शासकों को उससे इतनी अपर्याप्त सहायता मिलने लगी कि उनके लिए अपनी स्थिति बनाये रखना दुष्कर हो गया। खलीफा-साम्राज्य की अवनति से उसके दूर-दूर के अधीनस्थ प्रदेशों पर अत्यन्त बुरा प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे यह प्रदेश साम्राज्य के आदेशों की अवहेलना करने लगे। सिन्ध भी अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित हो गया, जो यद्यपि राजनैतिक मामलों में सर्वथा स्वतन्त्र थे, तथापि सुविधा के विचार से धार्मिक मामलों में खलीफा की प्रधानता को स्वीकार करते थे। सन् ८७१ ई० में जब से खलीफा मुअतमाद ने बल्ख, तुर्किस्तान, सिजिस्तान और करमान के शासक याकूब-बिन-लैस के अधिकार में सिन्ध का शासन भी सौंप दिया, तब से यह प्रदेश खलीफा की अधीनता से बिलकुल मुक्त हो गया। सिन्ध में बस जानेवाले अरबों ने मुलतान और मनसूरा में अपने-अपने वंशों का शासन स्थापित कर लिया था और सिन्ध नदी के उपरले तथा निचले भाग पर सैयद-वंश ने अधिकार जमा लिया था। इस प्रकार अरबों की विजय के चिह्न के रूप में थोड़ी-सी अरब बस्तियाँ तथा कुछ स्थानीय शासक-परिवार शेष रह गये। अरबों ने इमारतों, सड़कों आदि के रूप में अपनी कोई स्मृति न छोड़ी थी। भाषा, शिल्पकला, रीति-रिवाज, रहन-सहन के ढंग आदि पर उनका कुछ भी प्रभाव न पड़ सका। उनकी याद दिलाने के लिए केवल नष्ट किय हुए मन्दिरों के भग्नावशेष रह गये जो पुकार-पुकार कर अपने विध्वंसकों की बर्बरता का उद्घोष करते हैं। पवित्र स्थानों को नष्ट कर उनकी सामग्री से उन्होंने महल, नगर और किले बनवाये जिनको काल के कराल हाथों ने नष्ट कर दिया है।"[२०]

---

२०. इस विषय का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करने के लिए पाठक सर हेनरी इलियट के 'हिस्ट्री ऑव इण्डिया' भा० १, परिशिष्ट पृ० ४६०-८३ पर सिंध में अरब-आधिपत्य विषयक लेख अवश्य पढ़ें।

अरबों की विजय का संस्कृति पर प्रभाव—यह तो अविलम्ब स्पष्ट हो जाता है कि राजनैतिक दृष्टि से अरबों की विजय का कोई भी प्रभाव न पड़ा और यह विजय इस्लाम के इतिहास में बिलकुल महत्त्वहीन रही। लेकिन इस विजय का मुसलमान-संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। जब अरब भारत में आये, वह इस देश की सभ्यता की श्रेष्ठता देखकर आश्चर्यचकित रह गये। हिन्दुओं के दार्शनिक-विचारों की उदात्तता एवं हिन्दुओं की प्रखर तथा सूक्ष्म बुद्धि-वैभव, उनके लिए बहुत आश्चर्य की बातें थीं। उन्होंने देखा कि मुसलमानी एकेश्वरवाद का मूल सिद्धान्त हिन्दुओं को पहले से ही विदित है और मनुष्य का गौरव बढ़ानेवाली ललित-कलाओं में हिन्दू उनसे बहुत बढ़-चढ़कर हैं। हिन्दू गायकों, शिल्पियों एवं चित्रकारों ने अरबों को उतना ही प्रभावित किया जितना कि हिन्दू दार्शनिकों और विद्वानो ने। तबरी ने लिखा है कि एक बार खलीफा हारूँ ने अपने पुराने और बहुत दु:खदायी रोग का इलाज कराने के लिए भारत से चिकित्सक बुलाया। इस वैद्य ने खलीफा के रोग को दूर कर दिया और तब सुरक्षापूर्वक उसको भारत आने दिया गया। शासन-व्यवस्था में भी अरबों ने हिन्दुओं से बहुत कुछ सीखा और शासन-कार्य में उन्होने बहुत बडी संख्या में ब्राह्मणों को इसीलिए नियुक्त किया क्योंकि शासन-संचालन में ब्राह्मणो का ज्ञान, अनुभव और निपुणता अरबों से बहुत अधिक थी। मुसलमान इतिहासकार भारतीय आर्य-संस्कृति द्वारा अरब संस्कृति को दिए गए योगदान को या तो बिलकुल भुला देते है या बहुत हीन दृष्टि से देखते है। परन्तु सत्य यह है अरब संस्कृति के वे अनेक तत्त्व भारतीय संस्कृति की ही देन थे जिन्होंने बाद में योरोपीय संस्कृति पर आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। उस समय भारत में अरबों से कहीं अधिक बौद्धिक विकास हो चुका था और दर्शन, ज्योतिष, गणित, वैद्यक, रसायन इत्यादि विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अरब-विद्वानो को बौद्ध-भिक्षुओं या ब्राह्मण पंडितों के चरणो मे बैठना पड़ता था। बगदाद के दरबार ने भारतीय विद्याध्ययन को प्रोत्साहित किया और खलीफा मनसूर (७५३-७७४ ई०) के शासन-काल में भारत से बगदाद जानेवाले अरब विद्वान् ब्रह्मगुप्त लिखित 'ब्रह्म-सिद्धान्त' और 'खण्ड-खाडधक' ग्रन्थों को अपने साथ ले गये। वहाँ अलफजरी ने भारतीय विद्वानों की सहायता से इन ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया। इन्हीं ग्रन्थों से अरबों ने पहले पहल ज्योतिषविज्ञान के प्रारम्भिक सिद्धान्त सीखे।"[२१] धार्मिक कट्टरता ने हिन्दू-संस्कृति की अच्छी बातें अपनाने में कोई बाधा न डाली और अरबों ने अपने उपयोग की बहुत-सी बातें

२१. अलबरूनी-लिखित—'भारत' सखाओ द्वारा अनूदित, भूमिका पृ० ३१।

स्वतन्त्रतापूर्वक अपना लीं, संख्याओं का ज्ञान उन्होंने हिन्दुओं से प्राप्त किया, इसीलिए इनका नाम उन्होंने 'हिन्दसे' रखा। खलीफा हारूं के समय में (७८६-८०८ ई०) बरमक-जातीय मंत्रि-परिवार से हिन्दू विद्याओं की शिक्षा को बहुत प्रोत्साहन मिला। यद्यपि बरमकों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था, परन्तु इस्लाम के प्रति उनमें अधिक रुचि न जाग सकी और हिन्दुओ की ओर उनका अधिक झुकाव होने के कारण उन्होंने बहुत से विद्वानों को ज्योतिष, वैद्यक आदि शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत में भेजा।[२२] उन्होने भारतीय विद्वानों को बगदाद बुलाया और उनको चिकित्सालयों में नियुक्त किया तथा उनसे वैद्यक, दर्शन, ज्योतिष, आदि विषयों के संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया। लेकिन इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि अरबों ने हिन्दुओं से प्राप्त ज्ञान को पूरी तरह से पचाकर अपना बना लिया और योरोप निवासियों के समक्ष ऐसे रूप में रखा जो उन्हें अधिक ग्राह्य हो सका। हुलागू द्वारा अब्बासिद-वंश के अन्त के बाद जब खलीफाओं का प्रभाव-सूर्य अस्त होने लगा, तो सिन्ध का अरब-शासक भी व्यावहारिक रूप में पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। अब भारत और बगदाद का सांस्कृतिक सम्बन्ध भी टूट गया और भारतीय ज्ञानियों के सम्पर्क से दूर अरब विद्वान् यूनानी कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान का अध्ययन करने लगे। हैवेल का यह कथन सर्वथा समर्थनीय है कि "इस्लाम के प्रारम्भिक प्रभाव ग्रहण करने योग्य वर्षों में यूनान की अपेक्षा भारत ने ही उसको शिक्षित किया। उसकी दार्शनिक भावनाओं तथा मूल धार्मिक आदर्शों का निर्माण किया और साथ ही साहित्य, कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में उसकी सर्वाधिक प्रमुख अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित किया।[२३]

---

२२ वही, भूमिका पृ० ३१।

२३. हैवेल—'आर्यन रूल इन इण्डिया' पृ० २५६।

अध्याय ३

गजनी-वंश का अभ्युदय

तुर्क-आधिपत्य का प्रारम्भ—अरबों की विजय का भारत में स्थायी प्रभाव न पड सका। उनकी विजय केवल एक ऐसे प्रदेश तक सीमित थी, जो न उर्वर था और न समृद्ध ही। लेकिन उनके तीन शताब्दी पश्चात् तुर्कों ने भारत-विजय का कार्य प्रारम्भ किया। अफगानिस्तान की पर्वत-श्रेणियों को पार कर इनके दल अधिकाधिक संख्या में भारत पर आक्रमण करने लगे। अब तक खलीफा-शासन का प्रभाव क्षीण-प्राय हो गया था। उमय्यद-वंश के खलीफा स्वपदोचित धार्मिक कर्त्तव्यों को भूलकर सांसारिक वैभव एकत्र करने में व्यस्त हो गये थे। अतः उनका पतन अनिवार्य था। ७५० ई० में खलीफा द्वितीय मरवान की पराजय तथा तत्पश्चात् वध के साथ उमय्यद-वंश का शासन समाप्त हो गया और अब्बासिया-वंश ने खलीफा पद ग्रहण किया। इन्होंने दमिश्क को त्यागकर अलकूफा में राजधानी स्थापित की और अरब तथा दूसरी जातियों का भेदभाव दूर कर दिया। खलीफा-पद का रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया। धार्मिक-क्षेत्र में इसका पहले जैसा एकाधिकार न रह गया एवं राजनैतिक-क्षेत्र में भी नवीन स्वतन्त्र शासक-वंशों की स्थापना हो जाने के कारण यह प्रभावहीन हो गया। अरबों की शक्ति और युद्ध का उत्साह शिथिल पड़ने लगा था। उनमें विलासिता इतनी बढ़ गई थी कि उनका अधिकांश समय 'हरम' (अन्तःपुर) के हास-विलासों में बीतने लगा था। इस्लाम की सेवा को भूलकर वह संकुचित जातीय स्वार्थों से प्रेरित होकर परस्पर लड़ने-भिड़ने लगे थे। अब्बासिया-वंश के खलीफाओं ने अरबों को उच्च पदों से हटाकर उनकी रही-सही शक्ति को भी समाप्त कर दिया। अब अरब-अधिकारियों के पद फारसियों को प्राप्त होने लगे। परिणाम यह हुआ *कि खलीफा-शासन-तंत्र पूर्णतया फारसी प्रभाव से अभिभूत हो गया।*[1] ईरानी अधिकारी शासन-कार्य चलाने लगे। जैसे-जैसे केन्द्रीय-शासन शक्तिहीन होता

---

१. दोज़ी लिखित 'हिस्ट्री दे इस्लामिज्म' का विक्टर शौविनकृत अनुवाद पृ० २२८-२९—"अरबों पर फारसियों अर्थात् विजेताओं पर विजितों के प्रभाव की भूमिका बहुत समय से तैयार हो रही थी। फारसियों की सहायता से प्रभुत्व प्राप्त करनेवाले अब्बासिद-वंश के सिंहासनासीन होने पर इस भूमिका ने प्रत्यक्ष-रूप प्राप्त किया। यह शासक अरब-लोगों से सदा सावधान

गया, प्रान्तीय प्रतिनिधि-शासकों में स्वतन्त्र होने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। खलीफाओं ने तुर्कों को अपना अंग-रक्षक बनाना प्रारम्भ किया। तुर्क बर्बर-जाति के तो थे ही; अत. अरब-सरदारों को महत्त्वहीन बनाकर खलीफा पर अपना प्रभाव स्थापित करने मे उन्हें अधिक समय न लगा। इन्होंने अपना प्रभाव इस सीमा तक बढ़ा लिया कि खलीफा उनके हाथ का खिलौना-मात्र बन गया फलत. एक समय जो अरब जाति पराक्रम तथा सभ्यता मे सर्वश्रेष्ठ थी, वह अब उच्च पदों को खोकर निस्तेज हो गई। खलीफा की सेना में भी तुर्क-सैनिकों का बोलबाला था; इससे अंगरक्षक तुर्कों की धृष्टता और भी बढ गई थी। राजनैतिक पतन के साथ-साथ खलीफाओं का नैतिक पतन भी होने लगा था, और उनकी राजसभा विलासमय रंगरेलियों का क्रीड़ास्थल बन गई थी। शिया तथा सुन्नियों में बढ़ते हुए दलगत वैमनस्य ने मुसलमानों के राष्ट्रीय-जीवन के स्रोत को ही विषाक्त कर दिया था। राज्य के उच्चतम राजनीतिज्ञों के विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जाने लगे। इसलिए कोई भी राजकर्मचारी अपना जीवन सुरक्षित न समझता था। गुप्तचरों के जंजाल से सामाजिक जीवन शंकापूर्ण बन गया। प्रत्येक 'अमीर' अपने-अपने गुप्तचर नियुक्त करने लगा, जो अन्य अमीरों की सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवन की गतिविधियों से अपने स्वामी को परिचित कराते रहते थे। खलीफा मे इतनी भी शक्ति न रह गई थी कि वह झूठे-सच्चे दोषारोपों से स्वयं अपनी रक्षा कर सके और उन दुष्टों को दण्ड दे सके जो उसके विषय में कपोल-कल्पित एवं कुत्सित कथाएँ कहते फिरते थे। केन्द्रीय शासन की शक्तिहीनता का प्रान्तीय शासकों पर

होकर विदेशियों अर्थात् फारसियों और विशेषतया खुरासानवासियों को विश्वास-पात्र बनाने लगे और इसलिए उनसे मित्रता स्थापित करने लगे। परिणाम-स्वरूप राजसभा में प्रमुख पदों पर फारस-निवासी आसीन होने लगे.......। यथार्थ में अब अरबों के प्रजातन्त्रीय दृष्टिकोण का स्थान फारसियों के राजतन्त्र के विचारों ने ग्रहण किया।"

ब्राउन, 'लिटरेरी हिस्ट्री ऑव परशिया' पृ० २५२।

देखिये, अल-फकरीकृत अब्बासिद-वंश का वर्णन। ब्राउन, पृ० २५२-५३; "(अब्बासिद-वंश) एक विश्वासघाती, स्वेच्छाचारी एवं अविश्वसनीय राजवंश था, जिसके शासन-काल में शक्ति एवं पराक्रम की अपेक्षा षड्यन्त्र तथा विश्वासघात अधिक प्रयोग में लाये गये और विशेषतया शासन-काल के अन्तिम भाग में। निस्सन्देह इस वंश के अन्तिम शासकों ने शक्ति एवं साहस के गुणों को बिल्कुल खो दिया था और वह चालों और चालाकियों पर ही पूरा भरोसा रखते थे।"

फ्रॉन क्रेमर के वर्णन से भी इस कथन की पुष्टि होती है। देखिए, ब्राउन, पृ० २५९, २६०, २६१।

शोचनीय प्रभाव पड़ा। स्थानीय शासक निरंकुश बन गये तथा स्वयं अपने लिए छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने लगे। इस प्रकार राजधानी में व्याप्त अव्यवस्था के परिणामस्वरूप खलीफा-साम्राज्य ईरानी, तुर्क, कुर्द, अरब तथा अन्य जातियों के शासकों द्वारा शासित अनेक राज्यों में विभक्त हो गया। मावरा-उन्-नहर अथवा ट्रांसोक्सियाना प्रान्त (ऑक्सस नदी के पार का प्रान्त) का प्रतिनिधि-शासक समानी-वंशीय[2] इस्माइल केन्द्र के आधिपत्य की अवहेलना कर स्वतन्त्र-शासक बन बैठा। समानी-वंशीय शासक अपने तुर्क जातीय दासों पर बहुत विश्वास रखते थे। इसी वंश के शासक अब्दुल मलिक (९५४-६१ ई०) ने अपने योग्य एवं साहसी दास अलप्तगीन को खुरासान का शासन-भार सौंप दिया। लेकिन अपने कृपालु स्वामी के देहान्त के पश्चात् उसको इस पद से हटना पड़ा और तब वह गजनी की ओर चल दिया, जहाँ उसका पिता समानी-वंश की अधीनता में शासन करता था। इस सुरक्षित प्रदेश में प्रभु-शक्ति की अवहेलना कर अलप्तगीन बहुत कुछ स्वतन्त्र शासक के रूप में राज्य करने लगा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र आबू-इशाक-इब्राहीम तथा उसके दास बिलक्तगीन के शासन-काल में इस राज्य की सीमा का विस्तार न हो पाया, परन्तु २० अप्रैल ९७७ ई० में उसके दूसरे दास सुबुक्तगीन के सिंहासनारोहण करने के पश्चात् नई-नई विजयों द्वारा गजनी का यह छोटा-सा राज्य एक विशाल एवं समृद्ध राज्य के रूप में विकसित होने लगा।

सुबुक्तगीन का आधिपत्य—सुबुक्तगीन[3] प्रारम्भ में एक दास था। अलप्तगीन ने उसको नसर हाजी नामक व्यापारी से खरीदा था जो उसे तुर्किस्तान से बुखारा ले आया था। यह दास बहुत होनहार जान पड़ा; इस-

---

२. समानी-वंश का संस्थापक बल्ख-निवासी समन-ए-खुदात था। वह पहले जरथुस्त्र-धर्मावलम्बी था, परन्तु खुरासान के तत्कालीन शासक तथा खलीफा हारून-अल-रशीद के पुत्र अलमामून के द्वारा उसने इस्लाम-धर्म ग्रहण किया। समानी-वंशीय अब्दुल मलिक के शासन-काल में अलप्तगीन की अधीनता में गजना और बस्त प्रदेश स्वतन्त्र हुए।

३. 'तारीख-ए-मजदूल' के लेखक का कहना है कि अमीर सुबुक्तगीन अन्तिम ईरानी शासक यज्दिजुर्द-ए-शहयार का वंशज था। खलीफा उसमान के शासन-काल में उसका परिवार अपने अनुयायियों सहित तुर्किस्तान में भाग आया था और वहीं बसकर वहाँ के निवासियों के साथ उन्होंने विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। दो या तीन पीढ़ियों के बाद वह तुर्क बन गये। दूसरे इतिहासकार का कथन है कि अलप्तगीन ने उसको निशापुर में खरीदा था।

रैवर्टी—'तवकात-ए-नासिरी' भा० १, पृ० ७०।

लिए अलप्तगीन ने उसको सम्मानपूर्ण पदों पर नियुक्त किया और बाद में उसकी योग्यता के प्रति अपना प्रशंसा-भाव व्यक्त करने के लिए उसको 'अमीर-उल-उमरा' की उपाधि से विभूषित किया। अलप्तगीन की मृत्यु के बाद सभासदों ने उसको सिंहासनारूढ़ कराया। सुबुक्तगीन एक योग्य एवं आकांक्षी शासक था। अपने स्वामी से उत्तराधिकार में प्राप्त छोटे से राज्य से सन्तुष्ट न होकर उसने अफगानों का सुदृढ़ संगठन किया और उनकी सहायता से सीस्तान तथा लमगान को विजय कर अपना प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत किया। बुखारा में समानी-वंश के शासक पर तुर्कों के आक्रमणों से उसको अपनी प्रभुत्व-लालसा को तृप्त करने का सुयोग प्राप्त हो गया और वर्षों तक निरन्तर युद्ध के पश्चात् वह अपने पुत्र मुहम्मद को ९९४ ई० में खुरासान का शासक बनाने में सफल हो गया।

उसके भारत पर आक्रमण—अफगानिस्तान की पहाड़ियों में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाकर, सुबुक्तगीन ने धार्मिक यश प्राप्त करने के लिए लालायित कट्टर मुसलमान के समान विधर्मी मूर्तिपूजकों के देश भारत को विजय करने की ओर ध्यान दिया। उसके आक्रमण का प्रतिरोध करनेवाला सबसे पहला भारतीय नरेश शाही-वंश का जयपाल ही हो सकता था, क्योंकि उसका राज्य सरहिन्द से लमगान और काश्मीर से मुलतान पर्यन्त विस्तृत था।[४]

९८६-८७ ई० में सुबुक्तगीन ने प्रथम बार भारत की सीमा में आक्रमण किया और जनता को घोर यातनाएँ पहुँचाई। उसने ऐसे अनेक गढ़ों (दुर्गों) एवं नगरों पर विजय प्राप्त की। "जिनमें इससे पहले केवल विधर्मियों का ही निवास था और जो मुसलमानों के ऊँटों तथा घोड़ों के द्वारा पहले कभी पद-दलित नहीं किये गये थे।" अपनी हानि एवं अपनी प्रजा पर किये गये अत्याचारों का समाचार पाकर जयपाल को अत्यन्त क्षोभ हुआ और उसने मुसलमानों से बदला लेने का संकल्प किया। उसने अपनी सेना को एकत्र कर लमगान से आगे बढ़कर अमीर के राज्य की सीमा को आक्रांत कर दिया। तत्कालीन मुसलमान राजकीय इतिहासकार के शब्दों में "शैतान ने जयपाल के दिमाग में एक अंडा दिया था और सेकर उसको बड़ा किया। फलस्वरूप उसको घमण्ड हो गया और मूर्खतापूर्ण विचार उसके मस्तिष्क में स्थान करने लगे तथा वह अपनी असम्भव इच्छाओं की पूर्ति के स्वप्न देखने लगा।"[५]

---

४. ब्रिग्स, भा० १, पृ० १५।

५. उतबी, इलियट, भा० २, पृ० १९।

स्वीकार किये। अपना वचन पालन करने का विश्वास दिलाने के लिए जयपाल से अपने प्रतिनिधि अमीर के पास भेजने के लिए कहा गया और अमीर ने अपने दो अधिकारियों को जयपाल के पास यह देखने के लिए भेजा कि वह कहीं संधि की शर्तों को भंग तो नहीं करता। लेकिन जैसे ही जयपाल ने देखा कि खतरा टल गया है, उसने सुबुक्तगीन के भेजे हुए दोनों अधिकारियों को कारागार में डाल दिया।

द्वितीय आक्रमण—जयपाल के प्रतिज्ञा-भंग करने का समाचार पाकर अमीर की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी और फिरिश्ता के शब्दों में जयपाल को इस "दुष्टता एवं विश्वासघात" का दण्ड देने के लिए उसने "प्रखर निर्झर" के समान हिन्दुस्तान की ओर ससैन्य प्रयाण किया। जयपाल के राज्य के सीमावर्ती प्रदेश को नष्ट-भ्रष्ट करते हुए अमीर लमगान नगर पर अधिकार स्थापित कर गजनी को लौट आया। अपनी क्षति का अनुमान कर तथा "अपने सामंतों को गृध्र एवं व्याघ्रों का आहार बनते हुए देखकर और अपनी भुजाओं में निर्बलता का प्रवेश होना जानकर, जयपाल ने पुनः मुसलमानों से युद्ध करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।" ९९१ ई० के लगभग उसने अजमेर, कालिंजर तथा कन्नौज के सहयोगी राजाओं का संघ बनाया। इन राजाओं ने धन एवं जन-शक्ति द्वारा उसकी सहायता की। इस प्रकार उतबी के कथनानुसार १ लाख सैनिकों की विशाल सेना लेकर जयपाल अपने शत्रु से युद्ध करने के लिए पहलेवाले रणक्षेत्र में ही आ उपस्थित हुआ।

युद्ध का परिणाम सुनिश्चित था। सुबुक्तगीन ने धर्मोन्माद एवं दुर्दान्त शक्ति से पूर्ण अपने सैनिकों को धर्म के गौरव की रक्षा के हेतु प्राणपण से युद्ध करने के लिए ललकारा। उसने अपनी सेना को पाँच-पाँच सौ सैनिकों की टुकड़ियों में विभाजित किया। इन सैनिक टुकड़ियों ने शत्रु-सेना पर भीषण गदा-प्रहार प्रारम्भ कर दिया। एक सैनिक के शिथिल होते ही दूसरा उसकी सहायता के लिए उपस्थित हो जाता। ऐसे सुसंघटित आक्रमण ने हिन्दू-सेना को क्षण भर भी विश्राम न लेने दिया। इस प्रकार जब हिन्दू-सेना थककर चूर हो गई, मुसलमानों की सैनिक टुकड़ियों ने उन पर संगठित आक्रमण कर घोर संग्राम के बाद उनको परास्त कर दिया। अपने स्वाभाविक अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग में मुसलमान-इतिहासकार लिखता है कि "हिन्दुओं ने भयभीत कुत्तों के समान सिर की ओर दुम घुमाकर पलायन किया और राजा ने अपनी चोटी काटे जाने से बचने के हेतु अपने सुदूरस्थ प्रदेशों की सुन्दरतम वस्तुओं को भेंट के रूप में देकर सन्तोष की साँस ली।"[८] सुबुक्तगीन ने जयपाल से 'कर'

८. उतबी—'तारीख-ए-यमीनी' इलियट भा० २, पृ० १३।

के रूप में विशाल धन-राशि ग्रहण की तथा लूटपाट में असंख्य सामग्री प्राप्त की जिसमें २०० युद्ध के हाथी भी थे। उसका प्रभुत्व स्वीकृत हुआ और उसने पेशावर में १० सहस्र अश्वारोहियों सहित अपना एक अधिकारी नियुक्त किया। इस विजय से यद्यपि भारत विजित नहीं हुआ परन्तु भारत की उर्वरा भूमि तक पहुँचानेवाले मार्ग का ज्ञान मुसलमानों को अवश्य हो गया। सतत युद्धों एवं विजयों के परिश्रम से श्रान्त सुबुक्तगीन अपने पुत्र एवं उत्तराधिकारी महमूद के लिए विशाल एवं सुव्यवस्थित राज्य छोड़कर हिजरी सन् ३८७ के शाबान महीने (अगस्त ९९७ ई०) में इस संसार से प्रयाण कर गया।[९] वह बहुत पराक्रमी एवं गुण-सम्पन्न शासक था जिसने बीस वर्ष तक बुद्धिमानी, समान व्यवहार तथा उदारतापूर्वक अपनी प्रजा पर शासन किया था।

महमूद के प्रारम्भिक प्रयास—सुबुक्तगीन की मृत्यु के पश्चात् गजनी का सिंहासन उसके होनहार पुत्र महमूद के अधिकार में आया। बचपन से ही महमूद में विलक्षण गुणों का प्रादुर्भाव होने लगा था। कहा जाता है कि उसके जन्म से थोड़े समय पहले ही सुबुक्तगीन ने स्वप्न देखा कि उसके घर के मध्य में स्थित अग्निकुण्ड में से एक वृक्ष निकला और बढते-बढ़ते उसने इतना विशाल रूप धारण कर लिया कि सारे संसार पर उसकी छाया छा गई। ठीक उसी क्षण उसको पुत्र-जन्म का समाचार प्राप्त हुआ। स्वप्न सत्य सिद्ध हुआ। महमूद ने एशिया के महान्‌तम शासकों में स्थान ग्रहण किया और सुदूर देशों में उसकी विशाल सम्पत्ति, प्रबल पराक्रम तथा निष्पक्ष न्याय की ख्याति फैल गई। वीर एवं युद्ध-निपुण होने के साथ ही अपने पिता की निर्भयता एवं उच्चाकांक्षाएँ भी उसने उत्तराधिकार में प्राप्त की थीं और जन्मजात योद्धा के गुणों के साथ-साथ उत्कट धर्मोन्माद ने मिलकर उसको इस्लाम के श्रेष्ठतम नेताओं की पंक्ति में बैठा दिया। सुसंस्कृत अरब तथा ईरानी लोगों में स्वभाव की उस प्रचण्डता एवं धर्मोन्माद की उग्रता का अभाव था जो मनुष्य को सुसंस्कृत बनानेवाले गुणों से सर्वथा विहीन तुर्क लोगों के स्वभाव की सर्वप्रधान विशेषताएँ थीं। अरबों की-सी सहिष्णुता (यद्यपि वह अधिक मात्रा में न थी)

---

९. सुबुक्तगीन के अनेक पुत्र थे, जिनमें से दो अल्पावस्था में ही मर गये थे तथा महमूद, इस्माइल, नसूर और यूसुफ नामक पुत्र उसके देहान्त के बाद भी जीवित थे। महमूद का जन्म १ और २ नवम्बर, ९७१ ई० की रात्रि में हुआ था। उसकी माँ गजनी के समीपवर्ती प्रान्त जबुलिस्तान के अमीर की पुत्री थी। सुबुक्तगीन ने इस्माइल को किन्हीं अविदित कारणों से अपना उत्तराधिकारी चुना था और सिंहासन पर अधिकार करने के लिए महमूद को संघर्ष करना पड़ा था।

के लिए इन यायावर तुर्कों के हृदय में कोई स्थान न था। लूटमार एवं धर्म-प्रसार का लोभ दिलाकर कोई भी निपुण धर्मोन्मत्त नायक इनकी बर्बरता को प्रचण्ड बनाने में सरलतापूर्वक सफल हो जाता था। महमूद भी धन एवं अधिकार का पिपासु, उग्र शक्ति-सम्पन्न एवं धर्मोन्मत्त नायक था। बहुत छोटी अवस्था में ही उसने तलवार के बल पर पैगम्बर साहब के धर्म का प्रचार करने और विधर्मियों के देश में विनाश-लीला रचाने का कठोर निश्चय कर डाला था। तत्कालीन खलीफा अल-कादिर-बिल्ला से अपने अधिकार की मान्यता प्राप्त हो जाने पर उसका उत्साह और भी बढ़ गया और अब वह सार्वजनिक रूप से स्वयं को इस्लाम का प्रचारक तथा मूर्तिपूजक विधर्मियों का घोर शत्रु घोषित करने लगा। ऐसे लोलुप धर्मान्ध को असंख्य मतमतान्तरों में विभक्त भारत जैसे वैभव-सम्पन्न देश के रूप में अपनी धार्मिक एवं राजनैतिक उच्चाकांक्षाओं को तृप्त करने का अभिलषित क्षेत्र प्राप्त हो गया। उसने पुनः-पुनः भारत के उर्वर प्रदेशों को आक्रांत करना प्रारम्भ कर दिया तथा भारत के अन्तर्वर्ती सुदूरस्थ प्रदेशों में प्रवेश कर मन्दिरों की लूट से प्राप्त असख्य सम्पत्ति से अपनी राजधानी को श्रीसम्पन्न बनाने में लग गया। हिन्दुस्तान पर होनेवाला उसका प्रत्येक आक्रमण 'जिहाद' माना जाता था, अतः अप्रतिहत शक्तिशाली दुर्दमनीय उत्साहपूर्ण तुर्कों के दल इन आक्रमणों में सदैव उसका अनुगमन करते रहे।

राजसत्ता म क्रान्ति—महमूद के सिंहासनारोहण के थोड़े समय पश्चात् समानी सम्राट् नूह ने उसके शासनाधिकारों एवं उपाधियों की मान्यता प्रदान कर दी और उसको बल्ख, हिरात, बोस्त एवं सरमध का शासनाधिकार सौंप दिया। समानी-वंश की शक्ति का तीव्रगति से ह्रास हो रहा था और राजमुकुट समय-समय पर विभिन्न दलों के हाथ में चला जाता था। इन अधिकार-लिप्सु प्रतिद्वंद्वियों में से एक ने जब रूपवान् युवक समानी सम्राट् मनसूर की आँखें निकाल डाली, तो महमूद का क्रोध जागृत हो गया और इस नृशंस कार्य में भाग लेनेवाले, शक्ति प्राप्त करने के लिए लालायित अधिकारियों के विरुद्ध उसने ससैन्य प्रयाण किया। महमूद ने इन लोगों के द्वारा सिंहासन पर प्रतिष्ठित शासक का आधिपत्य स्वीकार न किया और स्वयं को खुरासान तथा गजनी का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। खलीफा अल-कादिर-बिल्ला ने उसके शासकत्व को स्वीकार करते हुए उसके पास 'मान्यता-पत्र' भेज दिया और उसको यमीनउद्दौला (साम्राज्य की दक्षिण-भुजा) तथा 'अमीन-उल-मिल्लत' (धर्म-संरक्षक) की उपाधियों से विभूषित किया। अब वह अपने लिए 'अमीर' की उपाधि छोड़कर 'सुलतान' की पदवी का प्रयोग करने लगा, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'सशक्त' या 'अधिपति'। महमूद

प्रथम मुसलमान शासक था जिसने 'सुलतान' की पदवी ग्रहण की और प्रो० ब्राउन के कथनानुसार 'उतबी' के वर्णन से ज्ञात होता है कि ओटोमन-वंशीय सुल्तानों के समान वह भी अपने नाम के साथ 'इस पृथ्वी पर भगवान् की प्रतिच्छाया' जैसे विशेषण धारण करता था। महमूद ने किसी भी राजनैतिक शक्ति का प्रभुत्व स्वीकार न किया और यद्यपि वह खलीफा को मुसलमान-संसार का धार्मिक अधिपति मानकर उसके अधिकार के सम्मुख नत-मस्तक होता था, परन्तु वास्तव में वह पूर्णतया स्वतन्त्र शासक था।

महमूद के आक्रमण—अपने राज्य की आन्तरिक व्यवस्था को सम्पन्न कर महमूद ने भारत की ओर ध्यान दिया। भारत की अतुल सम्पत्ति एवं भारत में सर्वव्यापी मूर्तिपूजा ने उसकी विजयाकांक्षा को उद्दीप्त कर दिया था। १,०००-१०२६ ई० के मध्य उसने सत्रह बार[१०] भारतभूमि को आक्रांत किया। उसका पहला आक्रमण १००० ई० में भारत के सीमावर्ती प्रदेशों पर हुआ। इस आक्रमण के परिणामस्वरूप अनेक गढ़ों तथा नगरों पर उसका अधिकार हो गया। इन विजित स्थानों पर उसने अपने प्रतिनिधि शासक नियुक्त किये और विपुल सम्पत्ति लेकर वह गजनी लौट गया।

वाहिन्द-नरेश जयपाल पर आक्रमण—इस प्रारम्भिक अभियान से ही महमूद जैसे उग्र प्रकृति के विजयेच्छु की तृप्ति न हो सकी और हिजरी सन् ३९१ (१००० ई०) के शव्वाल मास में उसने पुनः १० सहस्र चुने हुए अश्वारोहियों सहित "धर्म-ध्वजा को उन्नत करने, अधिकार के क्षेत्र का विस्तार करने, सत्य-वाक्यों को प्रकाशित करने तथा न्याय की शक्ति को सुदृढ़ करने" के उद्देश्य से गजनी से प्रस्थान किया। महमूद के पिता के प्रबल शत्रु जयपाल ने भी इस आक्राता का प्रतिरोध करने के लिए विशाल सैन्य-सगठन किया, जिसमें १२ सहस्र अश्वारोही, ३० सहस्र पदाति तथा तीन सौ हाथी थे। हिजरी सन् ३९२ में आठवीं मोहर्रम (२८ नवम्बर, १००१ ई०) के दिन पेशावर में भीषण युद्ध हुआ। हिन्दुओं की पराजय हुई और "पन्द्रह सहस्र हिन्दुओं का वध कर, उनके शवों से पृथ्वी को गलीचे की तरह ढककर और उन्हें हिंस्र पशु-पक्षियों का भोज्य बनाकर" मुसलमानों ने विजयोल्लास प्रकट किया। जयपाल अपने पन्द्रह परिजनों तथा अनेक अनुचरों सहित बंदी हुआ। मणि-माणिक्यों

---

१०. सर हेनरी इलियट ने उसके सत्रह आक्रमण गिनाये हैं और यही स्वीकार किये जाने चाहिएँ। बहुत से इतिहासकारों ने उसके आक्रमणों की संख्या केवल बारह बताई है, जो ठीक नहीं जान पड़ती (जि० २, परिशिष्ट, टिप्पणी डी०, पृ० ४३४-७८)।

तथा आभूषणों की विशाल राशि विजेता के हाथ लगी।[11] जयपाल को महमूद से सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार २,५०,००० दीनारें देकर उसने बंधन से मुक्ति प्राप्त की तथा ५० हाथी देने का वचन दिया और अपने पुत्र एवं पोते को महमूद के संरक्षण मे भेजना स्वीकार किया, जिससे महमूद को सन्धि के पूर्ण होने का विश्वास हो सके। इस सन्धि के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर भी जयपाल इस घोर अपमान को भूल न सका और ऐसा अपमानित जीवन बिताने की अपेक्षा उसको मृत्यु का आलिंगन ही अधिक श्रेयस्कर प्रतीत हुआ। अपमानित जीवन बिताने की अपेक्षा उसने अपनी कुलोचित विधि के अनुसार चिता रचवाकर, अपना शरीर अग्नि को अर्पित कर दिया।[12]

भीरा तथा अन्य नगरों पर आक्रमण—महमूद का तीसरा आक्रमण नमक की पहाड़ियों के नीचे झेलम नदी के बायें तट पर स्थित भीरा[13] नगर पर हुआ (१००४-५ ई०)। इस नगर को विजय कर उसने गजनी-राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसके पश्चात् उसने मुलतान पर आक्रमण किया। मुलतान का शासक अब्दुलफतह दाउद करमत[14] सम्प्रदाय का अनुयायी था।

---

११. 'तारीख-ए-यमीनी' का लेखक मुसलमान इतिहासकार उतबी लिखता है कि महमूद के हाथ लगनेवाला लूट का माल ६०० सहस्र दीनार मूल्य का था। इसके अतिरिक्त ५०० सहस्र नर-नारी दास-दासी के रूप में विजेता के हाथ लगे। (इलियट, भा० २, पृ० २६)।

निस्सन्देह यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है।

फिरिश्ता लिखता है कि जयपाल का एक ही हार १,८०,००० दीनार मूल्य का था। (ब्रिग्स, भा० १ पृ० ३८)।

१२. फिरिश्ता ने हिन्दुओं की एक प्रथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार कोई राजा दो बार शत्रु से पराजित होने पर वह शासन करने के योग्य न रह जाता था। (ब्रिग्स भा० १, पृ० ३८)। उतबी ने भी थोड़ी-सी भिन्नता के साथ इस प्रथा का उल्लेख किया है। (इलियट भा० २, पृ० २७)।

१३. एलफिस्टन ने गलती से इस नगर को मुलतान के दक्षिण की ओर स्थित लाहौर राज्य का अधीन नगर बताया है। 'खुलासत-उत्-तवारीख' में इसका नाम भिरई दिया है। देखिए, इलियट भा० २, परिशिष्ट पृ० ४३९-४०। यह नगर पिंडदादनखां के नीचे झेलम के बाएँ किनारे पर है और बाबर ने इसका बहुधा उल्लेख किया है। जनरल कनिंघम का कथन है कि पिंडदादन-खां नगर के प्रधानता में आने से पूर्व यही इस प्रदेश का प्रमुख नगर था (इलियट, भा० २, पृ० ३९२: कनिंघम 'एनशियन्ट ज्योग्रफी ऑव इण्डिया' पृ० १५५)।

१४. कर्मत सम्प्रदाय का नामकरण हमदान करमत के नाम पर हुआ। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कट्टर-इस्लाम को न मानते थे। धीरे-धीरे इनका

महमूद ने गजनी से प्रस्थान किया परन्तु मार्ग की विकटता देखकर उसने पंजाब के शासक आनन्दपाल से अनुरोध किया कि वह अपने राज्य से होकर उसको जाने दे। आनन्दपाल स्वयं मुलतान के शासक का मित्र था; अतः उसने महमूद के अनुरोध को स्वीकार न किया। अतः महमूद ने पहले उसी पर आक्रमण किया। आनन्दपाल ने उसका विरोध किया परन्तु पराजित हुआ। उतबी लिखता है कि मुलतान ने राय का उसके राज्य की ऊँची पर्वत-मालाओं तथा नीची घाटियों में, कोमल तथा कठोर भूमि में सर्वत्र पीछा किया और राय के अनुगामी या तो हिंस्र वन-पशुओं का आहार बन गये या तंग आकर काश्मीर के समीपवर्ती प्रदेश में जा छिपे। तत्पश्चात् महमूद ने मुलतान पर आक्रमण कर उसको विजय कर लिया और "वहाँ की जनता से उनके पापों का प्रायश्चित करने के लिए बीस सहस्र दिरहम वसूल किये।"[15]

इसी समय महमूद को समाचार मिला कि उसके राज्य पर काशगर के शासक ने आक्रमण कर दिया है। यह चिन्ताजनक समाचार पाते ही महमूद

प्रभाव बढ़ने लगा और ९३० ई० में मक्का पर आक्रमण कर इन्होंने अपनी प्रबल शक्ति का परिचय दिया। यहाँ से वह 'काला प्रस्तरखण्ड' तथा अन्य धार्मिक चिह्न उठा ले गये। इस्लाम के विधि-विधानों के यह बहुत विरोधी थे और पवित्र स्थानों की पूजा तथा तीर्थ-यात्रा से घृणा करते थे तथा मुसलमानों के लिए हराम माने जानेवाले मांस को खाने में भी इन्हें कोई आपत्ति न थी। (ब्राउन—'लिटरेरी हिस्ट्री ऑव परशिया' पृ० ४०१, ४०३, ४०४)।

विस्तृत अर्थ में, 'करमातियान' शब्द उस महान् आन्दोलन का वाचक है जो ईसा की नवीं से बारहवीं शताब्दी तक मुसलमान-संसार में सामाजिक सुधार एवं समानता के आधार पर स्थित न्याय की भावना भरने के लिए प्रारम्भ हुआ था। इस आन्दोलन का नियंत्रण इसमाइली-वंश के द्वारा होता था, जिसने खिलाफत के विरुद्ध 'फातमिद' की २९७-९१० ई० में स्थापना कर दी थी।

यह सम्प्रदाय तर्क, सहिष्णुता तथा समानता पर आधारित था और क्रमिक भाव-परिवर्तन द्वारा ही इसमें नये अनुयायियों का प्रवेश कराया जाता था तथा निकाय-पद्धति का इसमें अनुसरण किया जाता था, जिससे व्यापारिक निकायों तथा शिक्षण-संस्थाओं को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। जान पड़ता है इनकी इस निकाय पद्धति ने पश्चिम में पहुँचकर योरोपीय व्यापारिक, निकायों तथा स्वेच्छा से मानव-सेवा-परायण लोगों के संगठनों के निर्माण की प्रेरणा दी। (एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम, नं० २९, पृ० २६७, इलियट, भा० २, पृ० ५७१-७५)।

१५. यह उतबी-कृत वर्णन है। फ़िरिश्ता का कहना है कि उस पर बीस सहस्र स्वर्ण दीनारों का वार्षिक 'कर' निर्धारित किया गया (ब्रिग्स भा० १, पृ० ४१)।

तत्काल अपने राज्य की ओर लौटा तथा विजित भारतीय प्रदेशों को सेवक पाल (नवासाशाह)[१६] नामक धर्मान्तरित हिन्दू को सौंप गया। लेकिन महमूद के पीठ फेरते ही सेवकपाल ने इस्लाम धर्म त्याग दिया तथा गजनी के आधिपत्य की अवहेलना कर दी। उसके इस विश्वासघात से महमूद का प्रचण्ड कोप उस पर बरस पडा। उस पर आक्रमण कर महमूद ने उसको पराजित कर दिया और उसकी स्वतन्त्रता का अपहरण कर विश्वासघात तथा धर्म-त्याग के लिए उसको ४०० सहस्र दिरहम दण्ड-स्वरूप देने के लिए बाध्य किया।

आनंदपाल पर आक्रमण—महमूद का छठा आक्रमण लाहौर के राजा आनंदपाल पर हुआ जिसने मुलतान के शासक दाउद को महमूद का विरोध करने में सहायता दी थी। परम पराक्रमी राणा संग्रामसिंह के समान जिसने १५२७ ई० में खानवा के रणक्षेत्र में बाबर के साथ हिन्दुस्तान के प्रभुत्व के लिए लोहा लिया था, आनंदपाल ने भी एक संघ बनाया और एक विशाल एवं दुर्जेय सेना के साथ इस विदेशी आक्रमक विरोध करने के लिए प्रयाण किया। इस संघ में उज्जैन, ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, दिल्ली तथा अजमेर के राजा सम्मिलित थे। राजाओं का संघ बनाने की बात फिरिश्ता के वर्णन से ज्ञात होती है परन्तु यह वर्णन वास्तविक स्थिति से बहुत दूर है। इतना तो अभिलेखों से भी प्रमाणित होता है कि आनंदपाल ने साथी राजाओं को इस संघ में आमंत्रित किया था, परन्तु यह असम्भव प्रतीत होता है कि जिन-जिन राज्यों का फिरिश्ता ने नामोल्लेख किया है उन सभी ने इस युद्ध में भाग लिया हो। दिल्ली और अजमेर के राज्य इस समय तक इतने शक्तिशाली न हो पाये थे कि आनंदपाल द्वारा निर्मित इस संघ में योग दे सकते। आनंदपाल को सहयोग देनेवाले चाहे जो भी राजा रहे हों, इतना तो निस्संदेह

---

१६. 'तबकात-ए-अकबरी' में इसको सुखपाल नाम दिया गया है और हिन्द के राजा का पौत्र बताया गया है। फिरिश्ता ने उसके नाम को अनेक प्रकार से लिखा है। 'उतबी' ने उसका नाम 'नवासाशाह' दिया है और हम सरलतापूर्वक उसके कथन को असत्य भी नहीं कह सकते। सम्भव है महमूद ने प्रसन्न होकर उसको 'शाह' की पदवी दी हो, सम्भव है वह जयपाल की किसी पुत्री की संतान रहा हो और 'नवासा' शब्द का भी यही अर्थ प्रकट होता है क्योंकि 'उतबी' ने कन्नौज-अभियान के वर्णन में जयपाल के एक प्रपौत्र भीमपाल से यह कहलवाया है कि उसके चाचा को बलात् मुसलमान बनाया गया था। सर हेनरी इलियट का विचार है कि सम्भवतः जयपाल ने उसको महमूद के संरक्षण में भेजा था और गजनी-निवास के समय उसने इस्लाम ग्रहण कर लिया था।

(देखिए—इलियट, भा० २, परिशिष्ट, पृ० ४४४)।

प्रतीत होता है कि तुर्कों से अपने देश तथा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के हेतु उसने एक विशाल सेना एकत्र कर ली थी। हिन्दू-सेना की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। विदेशी आक्रांता का विरोध करने के लिए जनता का उत्साह उमड़ पड़ा। धनी स्त्रियो ने इस विरोध में योग देने के लिए अपने बहुमूल्य रत्न बेच दिये तथा बहुमूल्य स्वर्णाभूषण गला डाले। निर्धन लोगों ने भी शारीरिक श्रम द्वारा उपार्जित धन देकर अपनी देश-प्रेम तथा देश के लिए सर्वस्व त्याग की उदात्त भावना का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित किया। खोखर-जाति[१७] के लोगो ने भी हिन्दुओं को पूर्ण सहयोग दिया।

हिन्दुओं के उत्कट उत्साह से महमूद बहुत प्रभावित हुआ। इस समय उसके 'बर्बर आक्रमण' से हिन्दू सभ्यता एव संस्कृति की रक्षा के लिए जातीय स्वाभिमान, धर्म-प्रेम एव देश-प्रेम से ओतप्रोत विशाल हिन्दू सेना सन्नद्ध हो गई थी महमूद के ६ सहस्र धनुर्धारी सैनिकों ने युद्ध का श्रीगणेश किया। परन्तु ३० सहस्र खोखरों के दल ने उनको पीछे ढकेल दिया। नगे सिर और नंगे पाँव खोखरो ने खाँडे व भाले लेकर निर्भयतापूर्वक घमासान युद्ध के मध्य प्रवेश कर तीन या चार सहस्र मुसलमानो को धराशायी कर दिया। इस प्रबल आघात से भयभीत होकर महमूद ने पीछे हटकर युद्ध बद करने की सोची परन्तु तभी आनदपाल का हाथी भयभीत होकर रणक्षेत्र से भाग गया अतः पाँसा पलट गया। हिन्दू सेना ने इसको पलायन का सकेत समझा और भय-संत्रस्त्र हिन्दू सैनिक अस्तव्यस्त होकर चतुर्दिक पलायन करने लगे। सुलतान के सेनानायक अब्दुल्ला तई तथा अर्सियान जजीब ने दो दिन और रातों तक भागते हुए शत्रु का पीछा किया। उन्होंने बहुत बड़ी सख्या में हिन्दुओं को पकड़कर तलवार के घाट उतार दिया। महमूद को लूट मे विशाल सम्पत्ति प्राप्त हुई, जिसमे २०० युद्ध के हाथी भी सम्मिलित थे।

नगरकोट की विजय (१००८-९ ई०)—इस अप्रत्याशित विजय से बल पाकर महमूद ने कांगड़ा के दुर्ग को प्राप्त करने के लिए प्रस्थान किया।

---

१७. खोखर-जाति घक्करों से सर्वथा भिन्न है। खोखर-जाति मुलतान जिले में तथा सिंधसागर दोआब में सिन्धु नदी की ओर के सुदूर उत्तर-पश्चिम-वर्ती जिलो में पाई जाती है।

घक्कर जाति इनसे भी और आगे उत्तर की ओर पाई जाती है। फिरिश्ता ने खोखर तथा घक्कर-जाति को बिना किसी अन्तर के एक दूसरे के स्थान पर लिख दिया है।

इस दुर्ग को नगरकोट या भीमनगर भी कहा जाता है।[१८] यह दुर्ग पर्वत के शिखर पर बना था और यहाँ मूर्तियों पर भेंट की गई अपार सम्पत्ति एकत्र थी। मुसलमानों ने दुर्ग को घेर लिया। हिन्दुओं ने जब टिड्डी दल के समान शत्रु सेना को आते हुए देखा तो भयभीत होकर उन्होंने दुर्ग के द्वार खोल दिये और "बाज के सामने कबूतर के समान या विद्युत् के सम्मुख वर्षा के समान वह भूमि पर गिर पड़े।" दुर्ग-रक्षक सैनिक शत्रु की प्रबल शक्ति देखकर हताश हो चुके थे और दुर्ग के अन्दर मुख्यत. पुजारी लोग थे जो रक्तपात एवं युद्ध से कोसों दूर भागते थे। ऐसी स्थिति में महमूद को इस दुर्ग का स्वामित्व प्राप्त करने में क्या कठिनाई हो सकती थी। उसको इस दुर्ग से विपुल सम्पत्ति प्राप्त हुई, जिसका अनुमान 'उतबी' के बहुत कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से लग सकता है। वह लिखता है कि "जितने भी ऊँट उनको प्राप्त हो सके, उन पर 'कोष' लादा गया और फिर भी जो धन छूट गया वह अधिकारियों में विभक्त कर दिया गया। वहाँ ७० सहस्र राजकीय दिरहम के मूल्य के टकसाली सिक्के तथा ७० लाख चार सौ मन सोना चाँदी प्राप्त हुई। इनके अतिरिक्त सूस की पोशाकें तथा वस्त्र हाथ लगे जिनके विषय में वृद्धों का कहना है कि ऐसे सुन्दर, कोमल तथा कारीगरी का काम किये हुए वस्त्र पहले कभी उन्होंने अपनी याद में न देखे थे। लूट की इस सामग्री में सफेद चाँदी का एक मकान भी था, जो धनी लोगों के मकानों जैसा था और ३० गज लम्बा तथा १५ गज चौड़ा था। इसको खण्ड-खण्ड कर पुनः जोड़ा जा सकता था। इस सामग्री में एक ४० गज लम्बा और २० गज चौड़ा सुन्दर रूम वस्त्र का बना हुआ चँदोवा भी था जो दो स्वर्ण तथा दो रजत के साँचे में ढाले गये स्तंभों पर टिका रहता था।"[१९]

---

१८. 'हबीब-उस्-सियर' तथा 'तबकात-ए-अकबरी' में लिखा है कि यह आक्रमण हिजरी सन् ४०० (१००९ ई०) में किया गया था। 'तारीख-ए-यमीनी' में जो अधिक विश्वसनीय ग्रंथ है, लिखा है कि शत्रु का पीछा करते-करते महमूद भीमनगर तक पहुँच गया था। इससे विदित होता है कि युद्ध भीम नगर तक चलता रहा।

नगरकोट या काँगड़ा पंजाब के काँगड़ा जिले में स्थित है। अति प्राचीन काल से यह कटोच-वंशी राजाओं का प्रधान गढ़ था। महमूद ने जिस मंदिर को लूटा वह इस दुर्ग के अन्दर स्थित था और यह धारणा गलत है कि वह भवान में स्थित देवी का मन्दिर था। (इम्पी० गजेट० जि० १४ पृ० ३९७)।

१९. उतबी—'तारीख-ए-यमीनी' भा० २ पृ० ३५।
इलियट, २, पृ० ३५।

फिरिश्ता ने लिखा है कि महमूद विपुल सम्पत्ति साथ ले गया जिसमें ७,००,००० स्वर्ण दीनारें, ७०० मन स्वर्ण एवं रजत पात्र, २०० मन शुद्ध स्वर्णमुद्राएँ, २,००० मन अपरिष्कृत रजत और २० मन रत्न, मोती, हीरे, पन्ने आदि बहुमूल्य मणियाँ सम्मिलित थीं। यद्यपि उतबी तथा फिरिश्ता के यह वर्णन बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, परन्तु इतना निश्चित है कि इस अभियान में लूटपाट से महमूद को प्रचुर धन प्राप्त हुआ।

विजयोल्लास से प्रफुल्लित सुल्तान गजनी लौट आया, जहाँ उसने *"आभूषणों, अनाविद्ध मोतियों तथा अग्निस्फुलिंगों के समान देदीप्यमान* अथवा हिमखण्डों में जमाई गई सुरा जैसी आभावाले लालों, हरित द्युति-युक्त मरकत मणियों और आकार एवं भार में अनार के समान रत्नों" का सार्वजनिक प्रदर्शन किया। उसकी इस अतुल सम्पत्ति को, जो संसार के किसी भी महानतम शासक के कोष से कहीं अधिक थी, देखने के लिए, विदेशों से राजदूत, स्वयं उसके सामन्त तथा प्रजाजन गजनी में एकत्र होने लगे।

महमूद की निरन्तर विजयों के कारण—अतुल सम्पत्ति की प्राप्ति से इन साहसिकों की धन-पिपासा और भी तीव्र होती गई और वह अनवरत रूप से भारत को आक्रांत करने लगे। राजपूत शासकों के पारस्परिक वैमनस्य ने इन आक्राताओं का कार्य बहुत सरल बना दिया और यद्यपि संख्या में हिन्दू उनसे बहुत अधिक थे परन्तु सामूहिक रूप से शत्रु का प्रतिरोध करने की प्रवृत्ति के अभाव में उनके सब प्रयत्न निष्फल होते रहे। हिन्दुओं में राष्ट्रीय-चेतना लुप्त हो चुकी थी, और न इसको जागृत करने की कोई चेष्टा ही की जा रही थी। प्रत्येक राजा को अपनी रक्षा के लिए एकाकी युद्ध करना पड़ता था और जब कभी यह राजा संघबद्ध हुए भी तो अनुशासन के नियमों की अवहेलना कर परस्पर मतभेद-ग्रस्त होते रहे। वह अपने संकुचित पारिवारिक या जातीय अभिमान के सम्मुख संघ के नियमों की अवहेलना करते थे। एक नेता की आज्ञानुवर्तिता न निभा सकने के कारण सामरिक सफलता के वह कभी दर्शन न कर सके और संघ का आयोजन व्यर्थ सिद्ध होता रहा। अपने घरबार की रक्षा के निमित्त वह सामूहिक प्रतिरोध के लिए प्रवृत्त अवश्य होते थे परन्तु क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर हिन्दुस्तान की रक्षा के उद्देश्य को ही लक्ष्य बनाकर न चल पाते थे। उधर मुसलमान आक्रामक धर्मप्रसार का उत्साह उत्पन्न कर तथा लूट में प्राप्त होनेवाली अपार सम्पत्ति का प्रलोभन देकर अपने अनुगामियों की संख्या को इच्छानुसार बढ़ा लेता था। उसके सुसंगठित एवं सशक्त आक्रमण को हिन्दुओं की अनुशासन-विहीन सेनाएँ कभी विफल न कर सकीं और वह प्रत्येक अभियान में विजय-लाभ करता चला

गया। गोर प्रदेश को विजय कर लेने के उपरान्त महमूद ने १०१० ई० में मुलतान के विद्रोही शासक दाऊद पर आक्रमण किया और उसको पराजित कर गुराक के दुर्ग में बंदी बना लिया। इसके तीन वर्ष पश्चात् उसने नारदीन अथवा नन्दनाथ के शासक भीमपाल को आक्रांत किया।[20] उतबी ने इस शासक का नाम 'निडर भीम' लिखा है। उसके दुर्ग पर अधिकार कर महमूद ने अपार सम्पत्ति प्राप्त की। भीमपाल काश्मीर की ओर भागा परन्तु वहाँ भी मुसलमानों ने उसका पीछा किया। महमूद ने इस दुर्ग के शासन के लिए अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया और काश्मीर को लूटते हुए तथा अनेक हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाकर वह गजनी लौट आया।

थानेश्वर पर आक्रमण—इन आक्रमणों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थानेश्वर पर १०१४ ई० में किया गया अभियान था। उतबी ने इस अभियान का उद्देश्य यह बताया है कि "सुलतान को विदित हुआ कि थानेश्वर में सेलमान (सिंहल) जाति के हाथी बहुत अधिक संख्या में हैं, जो युद्ध के लिए विख्यात हैं। इससे थानेश्वर का शासक विधर्माचारी तथा नास्तिकतापरायण हो चला है। इसलिए इस्लाम का ध्वज स्थापित करने तथा मूर्तिपूजा का विनाश

---

२०. फिरिश्ता ने यह आक्रमण थानेश्वर के आक्रमण के बाद रखा है। उसने जयपाल के पौत्र को यहाँ का शासक बताया है। उसने निन्दुनाह् दुर्ग का स्थान निर्धारित नहीं किया है और साधारणतया लिख दिया है कि यह दुर्ग बालनात पर्वत पर स्थित था। बालनात पर्वत झेलम नदी के तट पर स्थित है। लेकिन 'तारीख-ए-यमीनी' के अधिक विश्वसनीय वर्णन के अनुसार यह आक्रमण बालनात के आक्रमण के बाद किया गया था। निज़ामुद्दीन अहमद का कथन है (बिब्लिओथि इण्डि० पृ० ८) कि; "सुलतान ने हिजरी सन् ४०४ में बालनात की पहाड़ियों में स्थित नन्दानाह् के दुर्ग पर अभियान किया। नारो जयपाल ने सधे हुए योद्धाओं को दुर्ग की रक्षा के लिए नियुक्त किया और स्वयं काश्मीर चला गया। सुल्तान ने पहुँचते ही दुर्ग पर घेरा डाल दिया, खाइयाँ खुदवाईं तथा किले को हस्तगत करने के लिए आवश्यक सब प्रकार के आयोजन प्रारम्भ कर दिये। दुर्ग में स्थित लोगों ने प्राण-रक्षा का आश्वासन प्राप्त करने पर दुर्ग का समर्पण कर दिया।"

श्रीमान् दे ने 'तबकात' के अनुवाद की एक टिप्पणी में लिखा है कि नारो जयपाल सम्भवतः जयपाल का पौत्र त्रिलोचनपाल है। सर हेनरी इलियट इसको भीमपाल बताते हैं। उतबी ने 'तारीख-ए-यमीनी' में इस अभियान का वर्णन किया है। नन्दानाह् अथवा निन्दुनाह् का स्थान-निर्धारण करना कठिन है। विद्वानों में इसकी स्थिति के विषय में बहुत मतभेद है।

यह सम्भवतः वही स्थान है जिसको 'वस्साफ' में जुद की पहाड़ियों में ही बसा हुआ एक प्रमुख नगर बताया गया है।

करने के लिए सुलतान ने उस पर आक्रमण किया।" थानेश्वर नगर से होकर बहनेवाली नदी के तट पर हिन्दुओ ने प्राणो का मोह त्यागकर मुसलमान आक्रामक से घोर संग्राम किया। परन्तु वे पराजित हुए। इसके बाद इतना भीषण नर-संहार हुआ कि नदी का जल ही रक्तमय हो गया। थानेश्वर नगर पर आक्रांता का अधिकार हो गया और उसने नगर तथा मन्दिरों को जी भर लूटा।[२१]

कन्नौज की विजय—भारत मे महमूद की इन अद्वितीय विजयों से उसका यश समस्त मुसलमान-संसार में फैल गया और ट्रासोक्सियाना, खुरासान एवं तुर्किस्तान के सत्वसम्पन्न योद्धा गाजी (धर्म-रक्षक) महमूद के नेतृत्व में उत्साहपूर्वक एकत्र होने लगे। विधर्मियों से युद्ध करने के लिए उत्सुक मुसलमान वीर स्वेच्छा से अपनी सेवाएँ महमूद को अर्पण करने लगे। इस प्रकार अल्पकाल में ही उसकी सेना ने विशाल रूप धारण कर लिया। इतनी विशाल सेना की भक्ति प्राप्त हो जाने से महमूद का साहस बहुत बढ़ गया। अब उसने पूर्व-भारत की प्रमुख राजधानी कन्नौज पर आक्रमण करने का विचार किया। अतः १०१८ ई० में उसने गजनी से प्रयाण किया और पंजाब की नदियों तथा मार्ग मे पड़नेवाले विशाल वन-प्रदेशों को पार करते हुए उसने २ नवम्बर १०१८ ई० में यमुना को पार किया। मार्ग मे बाधक दुर्गों को

---

२१. यह नदी सम्भवतः सरस्वती होगी, जो थानेश्वर के समीप बहती है।

फिरिश्ता ने इस अभियान का जैसा वर्णन किया है (ब्रिग्स, भा० १ पृ० ५०-५३) वह तिथि तथा घटनाक्रम दोनों दृष्टियों से त्रुटिपूर्ण है। उसने इसकी तिथि १०११ ई० दी है तथा लिखा है कि महमूद के थानेश्वर आक्रमण की आयोजना का समाचार पाकर आनन्दपाल ने पत्र-द्वारा अपना विरोध प्रकट किया, जिसका महमूद ने यह उत्तर दिया कि मूर्तिपूजको के विरुद्ध 'जिहाद' में प्रवृत्त होना मुसलमानों का धार्मिक कर्त्तव्य है। इस धमकी भरे संदेश को पाकर दिल्ली-नरेश ने सहयोगी राजाओं से महमूद के आक्रमण का प्रतिरोध करने की प्रार्थना की लेकिन हिन्दुओं को पराभूत कर महमूद ने थानेश्वर पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् उसने दिल्ली पर आक्रमण करना चाहा, परन्तु उसके सामंतो ने उसको ऐसा करने से रोका। यह सब कपोल-कल्पित वर्णन है, क्योंकि आनंदपाल इस समय तक जीवित न था और दिल्ली नगर का कोई प्रमुख स्थान न रह गया था।

अलबरूनी तथा उतबी इस विषय में मौन हैं। महमूद के भारतीय आक्रमणों के सम्बन्ध में अलबरूनी तथा उतबी का वर्णन फिरिश्ता से अधिक विश्वसनीय है। देखिए, कार स्टीफेन लिखित 'आर्कालाजी ऑव दिल्ली' पृ० १०-११।

वह हस्तगत करता चला। जब वह बरन् (वर्तमान बुलन्दशहर)[२२] पहुँचा तो स्थानीय शासक हरदत्त ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली तथा १० सहस्र अनुयायियों सहित इस्लाम ग्रहण कर लिया। इस स्थान पर एक ताम्र-पत्र अभिलेख प्राप्त हुआ है जो इस राज-वंश से सम्बन्धित है। इसमें हरदत्त द्वारा महमूद की अधीनता स्वीकार कर लेने का उल्लेख है। तत्पश्चात् महमूद ने यमुना तटवर्ती महाबन[२३] प्रदेश के अधिपति कुलचन्द पर आक्रमण किया। हिन्दुओं ने वीरतापूर्वक युद्ध किया परन्तु वे पराजित हुए। ५० सहस्र हिन्दुओं को मारकर नदी में प्रवाहित किया गया। निराशा से अभिभूत कुलचन्द ने सम्मान की रक्षा के हेतु अपनी स्त्री को तलवार से काट दिया और तब उसी तलवार से आत्महत्या कर ली। सुलतान को विशाल सम्पत्ति प्राप्त हुई जिसमें १८५ हाथी भी थे। इस विजय के पश्चात् वह हिन्दुओं के तीर्थस्थान मथुरा की ओर बढ़ा। उतबी ने मथुरा को सुदृढ़ एवं सर्वांगसुंदर मन्दिरों का नगर कहा है लेकिन इन देवालयों का विशाल आकार तथा भव्य शिल्प महमूद की धर्मान्धता से इनकी रक्षा न कर सका। विजेता महमूद की आज्ञा से यह देवालय भूमिसात् कर दिये गये। इनसे आक्राता को अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई। उतबी के निम्न उद्धृत मथुरा-वर्णन से पाठक तत्कालीन मथुरा की समृद्धि का अनुमान कर सकते है।

"उस स्थान पर नगर के रूप में भारतीयों की एक पूजास्थली थी; और जब वह उस स्थान पर पहुँचा तो उसने आश्चर्यजनक सामग्री एवं निर्माण कौशल से निर्मित एक नगर देखा, जिसको देखकर दर्शक यही कहेगा कि वह स्वर्ग का ही कोई भवन है लेकिन इसके गुण या दोष नारकीय संबंध से ही सभव हुए होंगे, जिनका वर्णन कोई भला आदमी रुचिपूर्वक सुनने को भी प्रस्तुत

---

२२. निजामुद्दीन और फिरिश्ता ने इस अभियान का विपरीत वर्णन किया है। फिरिश्ता के कथनानुसार सुल्तान पहले कन्नौज फिर मेरठ, महावन, मथुरा होता हुआ चांदराय के सम्मुख आया। परन्तु यह क्रम सही नहीं है। इस पुस्तक में तारीख-ए-यमीनी, रोजत-उस-सफा तथा हबीब-उस-सियार का मत प्रदर्शित किया गया है जो कि वास्तव में सही है।

फिरिश्ता का यह मत गलत है कि हरदत्त मेरठ का राजा था।

(ब्रिग्स, भा० १, पृ० ५७)।

स्टेनली लेनपूल (मेडीवल इण्डिया, पृ० २४-२५) ने भी भूल से अभियान का यही क्रम माना है। उसने संक्षिप्त रूप मे लिखा है कि महमूद ने यमुना को पार किया तथा मथुरा को लूटकर कन्नौज पहुँच गया।

२३. वर्तमान काल में महावन मथुरा जिले की एक तहसील का प्रमुख स्थान है।

न होगा। उन्होंने विशाल प्रस्तरों को एकत्र किया है और सोपानों के ऊपर समतल आधार-भूमि बनाई है। इसके चतुर्दिक् तथा पार्श्व भागों में उन्होंने प्रस्तर-निर्मित एक सहस्र प्रासादों को खड़ा किया है, जिनको उन्होंने अपनी मूर्तियों का मंदिर बनाया है तथा दृढ़तापूर्वक संलग्न किया है। नगर के मध्य भाग में उन्होंने सर्वोच्च मन्दिर बनाया है जिसकी सजधज एवं सुन्दरता को चित्रित करने में लेखकों की लेखनियां तथा चित्रकारों की कूचियां शक्ति-हीन होंगी तथा इस पर ध्यान एकाग्र करने व विचार कर सकने की शक्ति भी वह कभी प्राप्त न कर सकेंगे। सुल्तान ने अपने लिखे हुए इस यात्रा संस्मरण में स्वीकार किया है कि यदि कोई इस प्रकार के भवन-निर्माण का कार्य प्रारम्भ करे तो उसको एक-एक सहस्र दीनारों की दस लाख थैलियां व्यय करनी पड़ेंगी और निपुणतम शिल्पियों की सहायता से वह २०० वर्षों में भी इसको पूरा न कर पायेगा। मूर्तियों के समूह में पांच मूर्तियां शुद्ध स्वर्ण-निर्मित तथा ५ क्यूबिट (९० या ११० इंच) ऊँची थीं; और इस मूर्तियों के सग्रह में दो (विशेष) थीं, जिनमें से एक पर इतनी बहुमूल्य मरकत मणि जड़ी थी कि यदि सुलतान ने इसको बाजार में बिकता हुआ देखा होता, तो ५० सहस्र दीनारें भी इसके यथार्थ मूल्य से बहुत कम समझी होती और बड़े चाव से इसको क्रय कर लिया होता। दूसरी मूर्ति पर समुद्री आभा लिए हुए नीलम का एक ही इतना बड़ा ठोस टुकड़ा जटित था जिसका मूल्य मिस्काल (१½ दिरहम के तौल का पाँच गुना) के ४०० भारों जितना था, और एक अन्य मूर्ति के दोनों चरणों से उनको ४,००,००० मिस्काल तौल का स्वर्ण प्राप्त हुआ। चाँदी की मूर्तियां तो इनसे सौ गुनी अधिक थीं, जिनको तौलने में उनकी ठीक-ठीक तौल जानने के लिए नियुक्त लोगों को बहुत समय लगाना पड़ा। उन्होंने सारे नगर को विध्वस्त कर दिया और वहाँ से कन्नौज की ओर बढ़ चले.... ।"[२४]

हिन्दू-स्थापत्य-कला के सौन्दर्य ने महमूद को बहुत प्रभावित किया। परन्तु कला के प्रति यह प्रशंसाभाव उसके संहारमय अभियानों में बाधक न हुआ और दोआब की ओर उसके विनाशकारी आक्रमणों की गति बढ़ती गई। मथुरा के "कायर हिन्दू" अपने पवित्र देवालयों को इस निर्दय आक्रांता की कृपा पर छोड़कर अपने प्राणों की रक्षा के लिए भाग गए। मथुरा को लूटकर महमूद ने अपार सम्पत्ति प्राप्त की, जिसमें मूर्तियों से प्राप्त ९८,३०० मिस्काल स्वर्ण, २०० रजत मूर्तियां ५,००० दीनार मूल्य के दो लाल, ४५०

---

२४. 'किताब-ए-यमीनी' रेनॉल्ड्स महोदय द्वारा अनूदित, पृ० ४५५-५६।

मिस्काल तौल का एक नीलम तथा अन्य ऐसी बहुमूल्य वस्तुएँ सम्मिलित थीं जैसी कि एक वैभव-सम्पन्न इतिहासप्रसिद्ध नगर से प्राप्त हो सकती थी। मथुरा को लूटकर गजनी के सैनिक वृन्दावन की ओर बढ़े, जो चारों ओर दुर्गों से सुरक्षित था। नगर का शासक शत्रु के आगमन का समाचार पाकर दुर्गों तथा मन्दिरों को अरक्षित छोड़कर भाग खड़ा हुआ। यहाँ भी लूट-पाट से महमूद के हाथ अपार सम्पत्ति लगी।

तत्पश्चात् महमूद ने कन्नौज की ओर प्रयाण किया और जनवरी सन् १०१८ ई० में वह कन्नौज के प्रवेश द्वार पर आ पहुँचा। मुसलमान इतिहासकार लिखता है कि इस नगर में ७ दुर्ग तथा १० सहस्र मन्दिर थे, जिनके विषय में लोगों का विश्वास था कि यह स्मरणातीत प्राचीन काल से विद्यमान हैं। कन्नौज के परिहार-वंशीय नरेश राज्यपाल ने निर्विरोध आत्मसमर्पण कर दिया। एक ही दिन में महमूद ने सातो दुर्गों पर अधिकार कर समस्त नगर को पद-दलित कर दिया। इतिहासकार उतबी लिखता है कि कन्नौज में दस सहस्र देवालय थे, जहाँ हिन्दू पूजा किया करते थे। इन मन्दिरों को विध्वस्त किया गया। नगर-निवासियों का वध कर, उनकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया गया। तत्पश्चात् बुंदेलखण्ड प्रदेश से होते हुए महमूद गजनी लौट गया। लौटते समय उसने मार्ग में पड़नेवाले मुञ्ज, अस्नी और शारवा के दुर्गों के[२५] रक्षकों को परास्त कर हस्तगत कर लिया। इन सब आक्रमणों में वह ३०,००,००० दिरहम मूल्य की सम्पत्ति, ५५,००० दास तथा ३५० हाथी लूट में प्राप्त कर गजनी ले गया।

चन्देल-शासक की पराजय—परिहार शासक राज्यपाल के निर्विरोध आत्मसमर्पण को राजपूत-गौरव पर कलंक समझकर अन्य राजपूत-नरेशों के हृदय में उसके प्रति क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी। कालिञ्जर के चंदेल राजा गण्ड ने सर्वप्रथम अपना क्रोध प्रकट किया।[२६] उसके पुत्र विद्याधर ने

---

२५. मुञ्ज नामक स्थान इटावा से उत्तर-पूर्व की ओर १४ मील दूरी पर है। अस्नी इटावा में पश्चिम की ओर ६ मील की दूरी पर है; और शारवा सभवतः बुंदेलखण्ड में शिरवागढ़ नामक स्थान है।

२६. 'तबकात-ए-अकबरी' (बिब्लिओथि० इण्डि०) पृ० १२।
ब्रिग्स, भा० १, पृ० ६३।

उतबी ने चंदेल राजा का नाम नहीं लिखा है परन्तु वह लिखता है (इलियट, भा० २, पृ० ४७) कि चंदेल राजा सतत विजयपरायण रहता था और एक बार उसने कन्नौज-नरेश पर आक्रमण कर उसको भागने के लिये बाध्य कर दिया था। गण्ड तथा महमूद के युद्ध के विषय में हमें बाद के

ग्वालियर के शासक की सहायता से राज्यपाल को परास्त कर मार डाला। महमूद ने जब अपने अधीन राजा के वध का समाचार पाया तो उसके क्रोध की सीमा न रही और उसने चंदेल राजा को इस अपराध के लिए दण्डित करने का निश्चय कर लिया। अतः १०१९ ई० की हेमन्त ऋतु में उसने गजनी से प्रयाण किया। यमुना पार करने पर वह यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि राज्यपाल के विरुद्ध संघबद्ध आक्रमण करनेवाले गण्ड की सहायता के लिए प्रतिहार शासक त्रिलोचनपाल वहाँ ससैन्य उपस्थित है। प्रबल विरोध का सामना करते हुए महमूद ने चंदेल के राज्य में प्रवेश किया जहाँ विशाल सेना के साथ गण्ड उससे युद्ध करने को तत्पर था। गण्ड की सेना में फिरिश्ता के अनुसार ३६,००० अश्वारोही, ४५,००० पदाति तथा ६४० हाथी थे और निजामुद्दीन के अनुसार ३६,००० अश्वारोही, १,४५,००० पदाति तथा

इतिहासकारों के वर्णन का आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि उतबी का वर्णन यहीं पर समाप्त हो जाता है।

इस अभियान के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। विन्सेन्ट स्मिथ ने उपर्युक्त मत ही स्वीकार किया है। लेकिन कुछ भारतीय विद्वानों ने निजामुद्दीन के वर्णन की तीव्र आलोचना इस कारण की है कि वह बहुत बाद का लेखक है। आँख मूँदकर केवल इसी तर्क के आधार पर निजामुद्दीन के वर्णन को अस्वीकार करना ठीक नहीं है क्योंकि अनेक स्थलों पर निजामुद्दीन ने बहुत विश्वसनीय स्रोतों से सामग्री एकत्र की है। समकालीन इतिहासकार उतबी का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है, अतः इससे घटना पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। डा० मजुमदार ने राज्यपाल का जैसा वर्णन किया है, वह साधारणतया स्वीकृत घटना-क्रमों से बहुत भिन्न है। उनका कथन है कि अल उतबी के वर्णन में राज्यपाल का अपनी कायरता के लिए भारतीय नरेशों के द्वारा वध किये जाने का कोई उल्लेख नहीं है। डा० मजुमदार का विचार है कि दुबकुण्ड अभिलेख के अनुसार राज्यपाल का वध कच्छपघाट के शासक अर्जुन ने किया जो चंदेल शासक गण्ड के पुत्र विद्याधर का मित्र या अधीन राजा था। उन्होंने निजामुद्दीन अहमद के वर्णन में संदेह प्रकट करते हुए यह मत प्रकट किया है कि चंदेलराज को राज्यपाल से क्रुद्ध होने का कोई कारण न था, क्योंकि वह स्वयं भी इस घटना के पूर्व तथा पश्चात् भी ऐसी कायरता प्रदर्शित कर चुका था। श्री चिंतामणि वैद्य ने भी अपने 'हिस्ट्री ऑव मिडियवल इण्डिया' (जि० ३ पृ० ८१-८६) में ऐसा ही मत प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है—"घटनाक्रम इस प्रकार था। बारहवें अभियान के समय (१०१९ ई०), जो कन्नौज पर किया गया था, राज्यपाल अधीन नहीं हुआ, अपितु बारी नामक स्थान में भाग गया। तेरहवें अभियान के समय महमूद ने राज्यपाल तथा बारी स्थान के विरुद्ध सैन्य-संचालन किया और राहिब के युद्ध में उसको जीत कर भेंट देने की शर्त पर उसको अधीन कर लिया। मई में राज्यपाल पर नंद (गंड) ने ग्वालियर के शासक की सहायता से आक्रमण किया तथा मार

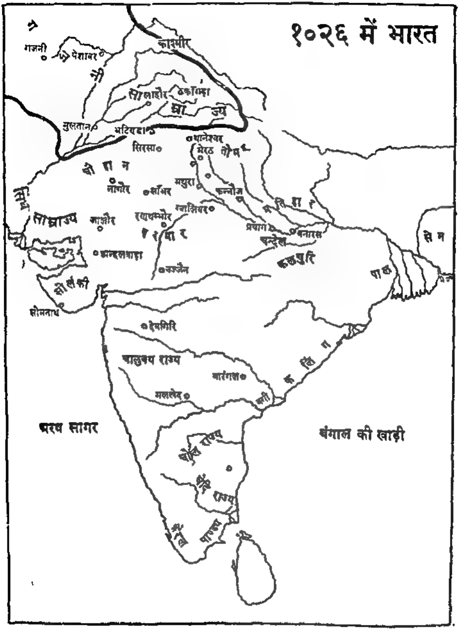
१०२६ में भारत
गजनी
पेशावर
कास्मीर
लाहौर
कांगड़ा
मुलतान
भटिण्डा
थानेश्वर
सिरसा
मेरठ
नागौर
साँभर
मथुरा
कन्नौज
ग्वालियर
जालौर
रणथम्भोर
प्रयाग
बनारस
चन्देल
अन्हलवाड़ा
उज्जैन
सोलंकी
सोमनाथ
कलचुरि
पाल
सेन
देवगिरि
चालुक्य राज्य
वारंगल
मलखेद
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी

३९० हाथी थे।[२६] इस विशाल सेना को देखकर महमूद के छक्के छूट गये। वह अपने अविचारपूर्ण निश्चय पर पश्चात्ताप करने लगा। लेकिन इस विकट संकट के अवसर पर उसने धर्मपरायण मुसलमान के स्वभावानुरूप एक टीले पर नतजानु होकर ईश्वर से इस्लाम के गौरव की रक्षा के लिए प्रार्थना की। उसके सौभाग्य से रात में गण्ड को घोर निराशा ने ग्रस्त कर दिया और वह समस्त युद्ध-सामग्री वहीं छोड़कर रात्रि के अंधकार में ही भाग गया।[२८] अब तो महमूद के सैनिकों ने स्वच्छन्दतापूर्वक चंदेल-शिविर लूट लिये। उनके हाथ बहुत सामग्री लगी जिसमें ५८० हाथी भी थे। इस सफल अभियान के बाद महमूद १०२१-२२ ई० में फिर भारत पर चढ़ आया। उसने ग्वालियर के दुर्ग को घेर कर दुर्ग के शासक को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। तदुपरांत वह चंदेल राजा गण्ड के प्रसिद्ध दुर्ग कालिञ्जर की ओर बढ़ा। गण्ड इस शत्रु की शक्ति का परिचय पहले प्राप्त कर चुका था। अतः विरोध करने की अपेक्षा उसने संधि कर लेना ही श्रेयस्कर समझा।[२९] इस प्रकार गण्ड की बहुमूल्य भेंटों को ग्रहण कर महमूद गजनी लौट गया।

डाला जिसका समाचार महमूद को १०२२ ई० में लाहौर में मिला और तब उसने दिसम्बर १०२२ में ग्वालियर तथा कालिञ्जर पर आक्रमण कर जनवरी १०२३ ई० में दोनों को अधीन किया। इस दृष्टि से गंड वैसा कायर नहीं जान पड़ता, जैसा उसको बताया जाता है।" श्री वैद्य जी की यह देशभक्ति से उद्भावित धारणा प्रमाणों से समर्थित नहीं होती। डा० मजुमदार ने निजामुद्दीन का वर्णन केवल इस आधार पर अस्वीकार किया है कि वह उतबी के वर्णन द्वारा समर्थित नहीं होता; परन्तु उतबी का वर्णन भी तो विस्तृत तथा पूर्ण नहीं है। उन्होंने अपने मत को निर्विवाद सत्य सिद्ध करने के लिए स्वयं भी कोई प्रमाण नहीं दिये हैं।

देखिए—डा० मजुमदार का निबंध 'दि गुर्जर प्रतिहार्स'—कलकत्ता विश्वविद्यालय के 'जरनल आव दि डिपार्टमेंट ऑव लैटर्स' जि० १० (१९२३, पृ० १-७६) में प्रकाशित।

२७. 'तबकात'—बिब्लियो० इण्डि० पृ० १२।

२८. श्री वैद्य जी ने ('हिस्ट्री ऑव मिडियवल इण्डिया' जि० ३, पृ० ८६) इस वर्णन में संदेह प्रकट किया है कि गण्ड रात में भाग निकला, जब कि उसके पास इतनी विशाल सेना थी। वैद्यजी ने उतबी के वर्णन को स्वीकार किया है, जिसका कहना है कि चन्दराय (गण्ड) अपनी सम्पत्ति, हाथियों तथा कोष सहित अत्युच्चपर्वतीय प्रदेश में गुप्त रूप से चला गया और वहाँ के घनघोर जंगलों में जा छिपा। (इलियट, भा० २, पृ० ४८, ४९)।

२९. निजामुद्दीन और फिरिश्ता दोनों ने लिखा है कि महमूद को चाटुकारिता द्वारा प्रसन्न करने के लिए गण्ड ने हिन्दी पद्यों में उसकी प्रशस्ति लिख भेजी, जिससे वह बहुत प्रसन्न हुआ। इसके बदले में महमूद ने उसको १५ दुर्गों का शासन सौंप दिया। (ब्रिग्स, भा० १ पृ० ६७; तबकात पृ० १४)।

सोमनाथ पर आक्रमण—महमूद का सबसे महत्त्वपूर्ण आक्रमण हिजरी सन् ४१६ (१०२६ ई०) में सोमनाथ के मंदिर पर हुआ। इस मंदिर की अपार सम्पत्ति का समाचार पाकर, महमूद ने इस पर आक्रमण करने के विचार से ३०,००० अश्वारोही सैनिकों का दल लेकर गजनी से प्रयाण किया। विकट मार्ग से प्रस्थान करता हुआ वह मुल्तान होकर अजमेर पहुँचा। समस्त नगर को खूब लूट कर तथा आसपास के प्रदेश को विनष्ट कर[30] वह नेहरवाल की ओर बढ़ा और वहाँ के शासक भीम के विरोध को कुचलकर इस नगर पर भी उसने अधिकार कर लिया। इसके थोड़े दिनों बाद वह सोमनाथ के द्वार पर आ पहुँचा। इब्न असीर के 'कामिल-उत-तवारीख' के आधार पर अल-काजवीनी[31] ने सोमनाथ के मंदिर का इन शब्दों में वर्णन किया है: "उस स्थान की आश्चर्यकारिणी वस्तुओं में वह मंदिर था जिसमें सोमनाथ की मूर्ति स्थापित की हुई थी। यह मूर्ति मंदिर के मध्य भाग में निराधार लटक रही थी। हिन्दू इसका बहुत आदर करते थे और इसको अधर में लटकते हुए देखकर, चाहे वह मुसलमान हों या विधर्मी, सभी दर्शक आश्चर्य-चकित रह जाते थे। हिन्दू इस मंदिर की चन्द्रग्रहण के अवसर पर यात्रा करते थे और लाख से भी अधिक संख्या में वहाँ एकत्रित होते थे। उनका विश्वास था कि शरीर त्यागने के बाद मनुष्य-आत्माएँ यहाँ एकत्रित होती है और यह मूर्ति पुनर्जन्म के सिद्धान्तानुसार उनको स्वेच्छा से नवीन शरीरों में स्थान देती है। समुद्र की लहरों का मंदिर की ओर निरन्तर प्रवाह इस मूर्ति के प्रति समुद्र की अभ्यर्चना समझा जाता था। सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तुएँ वहाँ भेंट चढ़ाई जाती थी और इस मंदिर को दस सहस्र से अधिक गाँव भेंट के रूप में प्राप्त थे। (इस देश में) एक पवित्र माने जानेवाली नदी (गंगा) है; इसके तथा सोमनाथ के मध्य २०० परसंग का अंतर है। नित्यप्रति इस नदी का जल सोमनाथ में लाकर उससे मंदिर धोया जाता था। मंदिर में पूजा तथा यात्रियों का स्वागत करने के लिए १ सहस्र ब्राह्मण नियुक्त थे तथा

---

३०. यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि श्री एच० बी० शारदा ने महमूद का घायल होना तथा घेरा उठाकर १०२४ ई० में अनहिलवाड़ चला जाना किस आधार पर लिखा है।

३१. असर-उल-बिलाउद, इलियट, १, पृ० ९७-९८ तथा इलियट, २ पृ० ४६८-६९।

मंदिर के अधिक वर्णन के लिए देखिए, इलियट, २ पृ० ४७१, ४७२, ४७६।

मूर्ति के नाम संबंधी किंवदन्ती के लिए देखिए, अलबरूनी का भारत-वर्णन २, पृ० १०३।

५०० सुंदरियाँ इसके द्वार पर नृत्य-गान करती थीं—इन सब पर व्यय होनेवाला धन भेंट से प्राप्त होता था। इसका भवन सागौन के शीशे से मढे हुए ५६ स्तंभों पर आश्रित था, मूर्ति-गृह अधकारमय था, परन्तु बहुमूल्य रत्नजटिल दीप-समूहों से ज्योतित रहता था। इसके समीप २०० मन की एक स्वर्ण शृंखला रखी थी। रात्रि का एक प्रहर समाप्त होने पर पूजा के लिए ब्राह्मणों के नवीन दल को सचेत करने के लिए यह शृंखला घंटियों के समान हिलाई जाती थी।"[३२]

महमूद ने समुद्रतट पर स्थित समुद्र-तरंग-विधौत इस दुर्ग को घेर लिया। दूर-दूर देशों के राजपूत राजा मंदिर की रक्षा के लिए एकत्र होने लगे। उन्हें आशा थी कि भगवान् सोमनाथ शत्रु को नष्ट कर देंगे, इसलिए वह आक्राता की धृष्टता का उपहास करने लगे। मुसलमानों ने 'अल्लाहो अकबर' का उद्घोष करते हुए मंदिर की प्राचीर पर आक्रमण प्रारम्भ किया, परन्तु हिन्दू सेना का प्रबल आघात पाकर उनको अपने स्थान से भी पीछे हटना पड़ा। दूसरे दिन प्रभातकाल में आक्राताओं ने प्राचीर पर आरोहण करने का पुनः प्रयत्न किया, परंतु अंतिम क्षण तक युद्ध करने के लिए कृतसंकल्प मंदिर की रक्षक सेना ने प्रचण्ड शक्ति से आघात करते हुए उनको नीचे लुढ़का दिया। इसी समय गुजरात नरेश भीमदेव ने ससैन्य वहाँ पहुँचकर हिन्दुओं का साहस बहुत बढ़ा दिया।[३३] इतनी प्रचण्ड शक्ति को अपने विरुद्ध उपस्थित देखकर महमूद निराशाभिभूत हो गया। परन्तु शीघ्र ही घोड़े से उतरकर उसने पुनः सर्वशक्तिमान प्रभु से सहायता की हार्दिक प्रार्थना की। इस्लाम के प्रति प्रगाढ भक्ति के इस नाटकीय प्रदर्शन से प्रभावित होकर धर्मान्ध मुसलमान सैनिकों ने उसका अनुसरण करते हुए उसके लिए प्राणों तक का होम कर देने का संकल्प कर लिया। इस प्रकार अपने सैनिकों में नवीन उत्साह का संचार कर महमूद ने पुनः आक्रमण प्रारम्भ किया। भीषण संग्राम छिड़ गया। चारों

---

३२. सोमनाथ पट्टन अथवा सोमनाथ नगर काठियावाड़ के पश्चिम में समुद्रतट पर स्थित है और वर्तमान गुजरात राज्य के अन्तर्गत है। प्राचीन मंदिर भग्नावस्था में पड़ा है और उसी के समीप अहिल्याबाई ने नया मंदिर बनवा दिया है; परन्तु इन भग्नावशेषों से भी प्राचीन मंदिर की विशालता का अनुमान हो जाता है। जैसा कि एक अभिलेख से विदित होता है, इस प्राचीन मंदिर का निर्माण मालवा-नरेश भोज ने कराया था। अब प्राचीन मन्दिर का भी जीर्णोद्धार हो गया है।

३३. मुसलमान इतिहासकारों ने भीम को दाबशिलीम लिखा है। 'इण्डिया', जि० २, पृ० १०३।

और भयंकर नर-संहार प्रारम्भ हो गया। ५००० हिन्दू धराशायी हुए। तब महमूद ने ५६ रत्नजटित एवं शिल्पकलाविभूषित स्तम्भों पर आश्रित उस विशाल मंदिर में प्रवेश किया। सोमनाथ की मूर्ति के समीप आकर उसने इसके दो खण्ड करने की आज्ञा दी। यह खण्ड गजनी भेजे गये और "सत्य-धर्मावलम्बियों" के संतोष के लिए विशाल मस्जिद के द्वार पर पटक दिये गये। कहा जाता है जब महमूद इस मूर्ति को खण्डित करने के लिए तैयार हुआ तो ब्राह्मणों ने उससे प्रार्थना की कि वह अपार धन-राशि लेकर इस मूर्ति को खण्डित करने से विरत हो जाय, लेकिन इस्लाम के इस प्रचारक ने कठोरता-पूर्वक उत्तर दिया कि वह आगामी पीढ़ियों में मूर्तिभंजक की अपेक्षा मूर्ति-विक्रेता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक नहीं है।[34] इस हृदयहीन धर्मान्ध पर भारत की लक्ष-लक्ष जनता को आत्मिक शांति प्रदान करनेवाले धर्म के श्रद्धालु भक्तों की दया की याचना का तथा असीम सम्पत्ति समर्पण कर देने के वचन का कुछ भी प्रभाव न पड़ा और दूसरे आघात से उसने पवित्र लिंगम् को भी खण्ड-खण्ड कर दिया। मुसलमान सैनिक मंदिर का कोष लूटने में व्यस्त हो गये। महमूद के सम्मुख मणि-माणिक्यों का ढेर लग गया। सख्यातीत सम्पत्ति महमूद के अधिकार में आई। फिरिश्ता के वर्णन से प्रकट होता है कि यह मूर्ति भीतर से खोखली थी और महमूद की गदा का प्रहार होते ही इसमें से रत्न तथा बहुमूल्य मणियाँ निकल पड़ीं। यह कथन संदिग्ध है क्योंकि इन घटनाओं से सुपरिचित अल-बरूनी का कहना है कि 'लिंगम्' ठोस पत्थर का बना था। इसका ऊपरी भाग सुलतान ने तोड़ दिया था तथा निचला भाग गजनी भेज दिया गया था। अल-बरूनी लिखता

---

३४. आधुनिक लेखक श्री हबीब तथा नाजिम दोनों फिरिश्ता द्वारा वर्णित इस कथा का खण्डन करते है।

श्री हबीब का कहना है ('महमूद ऑव गजनीन' पृ० ५३ में) कि यह कथा असभव है। एक तो इस कथा का उल्लेख तत्सामयिक साहित्य में कहीं नहीं मिलता, दूसरे सोमनाथ की मूर्ति ठोस लिंगम् के रूप मे थी, न कि खोखली मूर्ति के रूप में। इस विषय में अधिक सूक्ष्म तथा विस्तृत अनुसधानकर्ता डा० नाजिम ('महमूद ऑव गजना' पृ० २२१) ने लिखा है कि मूर्ति के खोखलेपन की बात बिलकुल मनगढन्त है। प्राचीन लेखकों ने इस कथा का उल्लेख नहीं किया है। यदि यह कथा सत्य होती तो कम से कम फर्रुखी ने स्वलिखित इस अभियान-सबंधी विस्तृत 'कसीदे' मे इसका अवश्य उपयोग किया होता। अल-बरूनी के वर्णन से ज्ञात होता है कि मूर्ति का कुछ भाग तोड़ा गया था और यह भी असभव नहीं प्रतीत होता कि महमूद ने ब्राह्मणों की विपुल धन की भेंट को अस्वीकार कर दिया हो क्योंकि धर्मान्धता के युग मे ऐसे कार्य सर्वथा संभव हैं।

है, "महमूद ने इस मूर्ति को हिजरी सन् ४१६ में खण्डित किया। उसने आज्ञा दी कि इसका ऊपरी भाग तोड़ दिया जाय तथा वस्त्राभरणों सहित शेष भाग उसके निवास-स्थान गजनी में पहुँचा दिया जाय। थानेश्वर से लाई गई 'चक्रस्वामिन्' की धातु-मूर्ति सहित इसका कुछ भाग नगर के घुड़दौड़ के मैदान में फेंका गया है। सोमनाथ की मूर्ति का दूसरा खण्ड गजनी की मस्जिद के द्वार पर पड़ा है, जिस पर लोग अपने गंदे और गीले पैरों को साफ करने के लिए रगड़ते हैं।"[३५] फोरब्स ने अपनी 'रसमाला' में इस मूर्ति के खोखलेपन का कोई उल्लेख न कर साधारण ढंग से लिख दिया है मूर्ति को खण्ड-खण्ड किया गया तथा "लूट का कार्य चलता रहा और मंदिर के गर्भ-गृह के निम्नस्थ भागों में वर्णनातीत कोष की प्राप्ति से यह कार्य पूरा हुआ।"[३६]

इस प्रकार महमूद ने मुसलमान-गौरव की भावना को परितृप्त किया। उसके अनुयायी उसको इस्लाम का उत्कट भक्त एवं प्रचारक मानने लगे। इसलिए जहाँ भी उसने उनको ले जाना चाहा, वह सहर्ष उसका अनुगमन करते रहे। सोमनाथ के विध्वस के बाद[३७] महमूद ने अनहिलवाड़ के राजा पर आक्रमण किया, क्योंकि उसने सोमनाथ की रक्षा करने में भाग लिया था। राजा ने सोमनाथ से ४० फरसख की दूरी पर स्थित समुद्र-परिवेष्टित खन्दाह नामक दुर्ग में शरण ली। महमूद ने मार्गप्रदर्शकों की चेतावनियों पर ध्यान न देकर, भाटे के समय समुद्र पार किया। उसके आगमन का समाचार पाकर राजा भाग गया। देश पर शत्रुओं ने सरलता से अधिकार कर लिया। आक्रांताओं ने नगर में प्रवेश कर पुरुषों का नृशंस वध किया तथा स्त्रियों को दासी बना लिया। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि गुजरात की जलवायु तथा वहाँ के निवासियों की सुंदरता एवं सम्पत्ति ने महमूद को इतना आकर्षित किया कि उसने गजनी को त्यागकर अनहिलवाड़ को अपनी राजधानी बनाने की इच्छा प्रकट की, लेकिन उसके सामंतों ने ऐसे प्रस्ताव का बहुत विरोध किया। उन्होंने उसको समझाया कि ऐसी चेष्टा से वह विशाल साम्राज्य आपत्तिग्रस्त हो जायगा, जिसकी स्थापना मुसलमान-रक्त की बलि

---

३५. श्री हबीब, 'महमूद ऑव गजनीन्' पृ० ५३; डॉ० नाजिम 'महमूद ऑव गजना' पृ० २२१।

३६. फोब्स, रसमाला, जि० १, पृ० ७७।

३७. 'हबीब-उस्-सियर' का लेखक लिखता है (इलियट, ४ पृ० १८४-८५) कि सुलतान ने सोमनाथ का शासन दावशिलीम अथवा देवशीलम् को सौंप दिया, जिसने भेंट देना स्वीकार किया। देखिए, उपरि निर्दिष्ट ग्रंथ में खोन्दामीर का सोमनाथ अभियान का वर्णन (इलियट, ४, पृ० १८०-८३)।

चढ़ाकर उसने पश्चिम एशिया में की है। यह कथा असत्य प्रतीत होती है, क्योंकि गुजरात जैसे सुदूरस्थ स्थान से अपने विशाल साम्राज्य की व्यवस्था कर सकने की दुःसाध्यता का महमूद को अवश्य ही ज्ञान हुआ होगा। अनहिलवाड़ का शासन भीमदेव को सौंपकर महमूद अपने देश की ओर वापस गया। राजपूतों की प्रबल शक्ति से भयभीत होकर उसने अधिकाधिक पश्चिम-मार्ग से गमन करना ही निरापद समझा और सिंध के मार्ग से गजनी की ओर प्रस्थान किया। परन्तु यह मार्ग भी कम आपत्ति-संकुल सिद्ध न हुआ। सोमनाथ के एक पुजारी ने जो महमूद का मार्गप्रदर्शन कर रहा था, उसको मरुभूमि में खूब भटकाया। अपार कष्टों को झेलते हुए महमूद की सेना १०२६ ई० में गजनी पहुँची।

सोमनाथ की विजय से महमूद की कीर्ति और भी दीप्त हो उठी। उसके तथा उसके अनुयायियों के लिए यह विजय इस्लाम की गौरवपूर्ण विजय थी जिसके प्रसार के लिए वह प्राण-पण से प्रयत्न रत थे। विधर्मियों के देश में मुसलमानों की विजय से प्रफुल्लित हृदय खलीफा ने महमूद तथा उसके पुत्रों के लिए सम्मान-पत्र एवं वस्त्र भेजे। मुसलमान-संसार महमूद की प्रशंसा से गुंजायमान हो उठा और बहुतों की दृष्टि में वह पृथ्वी से विधर्मियों का नाश करने के लिए अवतरित योद्धा माना जाने लगा। इससे उसके विषय में अनेक दंतकथाएँ चल पड़ीं।

जाटों पर आक्रमण—महमूद का अंतिम आक्रमण हिजरी सन् ४१७ में[३८] (१०२७ ई०) नमक के पहाड़ पर बसे हुए जाटों पर हुआ। लाहौर राज्य के विघटन के पश्चात् जाट बहुत शक्तिशाली हो गये थे और निकटवर्ती प्रदेशों में लूटमार करते रहते थे। सोमनाथ से लौटते समय महमूद की सेना को इन्होंने बहुत तंग किया था। इस धृष्टता का दण्ड देने के लिए महमूद ने यह आक्रमण किया। निजामुद्दीन तथा फिरिश्ता दोनों ने लिखा है कि इस अभियान के लिए महमूद ने १४०० नावों का बेड़ा तैयार कराया, तथा प्रत्येक नाव की रक्षा के लिए बीस-बीस धनुर्धर तथा बारूद एवं नफ्ता से सुसज्जित सैनिक नियुक्त किये। जाटों ने भी तुर्कों का सामना करने के लिए आठ सहस्र नावों का बेड़ा प्रस्तुत किया, परन्तु उनको तुर्कों के हाथ पराजित होना पड़ा तथा उनमें से

---

३८. कुछ लेखकों का कथन है कि महमूद ने इस अभियान के लिए हिजरी सन् ४१८ के प्रारम्भ में (मार्च १०२७ ई०) प्रयाण किया।

महमूद का चरित्र—प्रवल विजेता होने पर भी महमूद बर्बर नहीं था। यद्यपि वह स्वयं निरक्षर था, परन्तु विद्वानों तथा कवियों के प्रति उसके हृदय में बहुत आदर-भाव था और उनके संरक्षण में वह सदैव तत्पर रहता था। कवियों की रचनाएँ तथा विद्वानों के शास्त्रार्थ सुनने में उसको बहुत आनन्द प्राप्त होता था और उसकी दानशील उदारता के कारण उसकी राजसभा तत्कालीन विख्यात कवियों एवं विद्वानों की उपस्थिति से प्रकाशित रहती थी। एशिया के कोने-कोने से विद्वान् लोग उसकी राजसभा में आते रहते थे और निपुण कवि उसका यश-गान करने में सतत संलग्न रहते थे। कविता के प्रति उसका इतना प्रबल आकर्षण था कि युद्ध की विभीषिका में भी सुमधुर गीत अथवा ओजपूर्ण कविता सुनने के लिए वह कुछ क्षण—निकाल ही लेता था। उसकी राजसभा में पूर्वीय-संसार के प्रमुख विद्वान् स्थान ग्रहण करते थे जैसे कि गणित, दर्शन, ज्योतिष तथा संस्कृत का उच्च कोटि का विद्वान् बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न अल-बरूनी, इतिहासकार उतबी, दर्शन-शास्त्र का विद्वान् फराबी, तथा 'तारीख-ए-सुबुक्तगीन' का लेखक बैहाकी, जिसको स्टानले लेनपूल ने पूर्वीय पैप्स' की उपाधि दी है। यह कविता के विकास का काल था और महमूद की राजसभा के प्रमुख कवि समस्त एशिया में विख्यात थे। इनमें से सर्व-प्रमुख फारस में राय नामक स्थान का निवासी उजारी, जिसकी छोटी सी प्रशस्ति रचना पर महमूद ने १४,००० दिरहम पुरस्कार दिया था; खुरासान निवासी असादी तूसी; तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ विद्वान् उन्सुरी जिसके विषय में फिरिश्ता ने लिखा है कि गजनी विद्यापीठ के विद्यार्थी तथा अन्य ४०० कवि और विद्वान् इसको अपना गुरु मानते थे; अस्जदी; तथा उन्सुरी का शिष्य फर्रुखी जिसको सुलतान से पेंशन मिलती थी, आदि थे। परन्तु इनमें सर्वाधिक विख्यात विश्व-प्रसिद्ध काव्य 'शाहनामा' का रचयिता फिरदौसी था, जिसके काव्य ने महमूद का नाम इतिहास में अमर कर दिया है। 'शाहनामा' की रचना पूर्ण कर लेने पर फिरदौसी को ६० सहस्र मिस्काल स्वर्ण दिये जाने का वचन प्राप्त हुआ था; परन्तु जब यह रचना पूर्ण हो चुकी तो उसको केवल ६० सहस्र चाँदी के दिरहम ही देकर टाल दिया गया।[४१] इस व्यवहार से फिरदौसी इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने वोल्तेर की शैली पर सुलतान के

४१. फिरदौसी का जन्म खुरासान के अंतर्गत तूस नामक स्थान में हिजरी सन् ३३९ (९५० ई०) में तथा मृत्यु हिजरी सन् ४११ (१०२० ई०) में हुई। महमूद ने उसको बहुमूल्य पुरस्कार देने का वचन दिया था, परन्तु महमूद के कृपापात्र अयाज के षड्यन्त्र से, जो फिरदौसी से घृणा करता था, यह वचन पूर्ण न किया गया। (इलियट ४, पृ० १९०-९२)।

विषय में निन्दात्मक कविता लिखकर होरेस द्वारा कवियों पर लगाये गये बात-बात पर उबल पड़ने के आरोप को सत्य सिद्ध कर दिया और तत्पश्चात् उसने सदैव के लिए गजनी का परित्याग कर दिया।[४२] अन्त में महमूद ने अपने अनुचित व्यवहार के लिए क्षमायाचना सहित ६० सहस्र स्वर्णमुद्राएँ तथा राजसी वस्त्र भेजकर अपनी भूल का परिशोध करने का प्रयत्न किया, परन्तु जब तक उसका उपहार पहुँच पाया, तब तक फिरदौसी की अर्थी अंतिम संस्कार के लिए चल चुकी थी।

न्याय-व्यवस्था करने में महमूद बहुत कठोर तथा अविचलित रहता था और अपनी प्रजा के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहता था। उसकी न्याय-परायणता के विषय में अनेक कथायें आज भी सुनने में आती हैं। एक बार एक आदमी ने उससे विनय की कि उसका (सुलतान का) भतीजा उसकी (प्रार्थी की) स्त्री के साथ अनुचित संबंध रखता है और बार-बार विरोध किये जाने पर भी उससे मिलना बन्द नहीं करता। महमूद ने प्रार्थी से कहा कि जब वह दुष्ट फिर उसकी स्त्री से भेंट करने को आनेवाला हो तो वह महमूद को सूचित कर दे। सुलतान की आज्ञानुसार वह प्रार्थी यथावसर उपस्थित हो गया और सुलतान ढीले-ढाले चोगे से शरीर ढँककर उसके साथ उसके घर पहुँचा। सुलतान ने इस भय से कि कहीं दया और ममता न्यायोचित दण्डविधान में बाधा उपस्थित न कर दे, प्रकाश बुझा दिया और अपराधी का सिर धड़ से अलग कर दिया। एक बार राजकुमार मसूद पर एक व्यापारी ने ऋण न चुकाने का दावा किया और राजकुमार को तभी छुटकारा मिला जब काजी के द्वारा बुलाये जाने पर दरबार में उपस्थित होकर उसने व्यापारी का ऋण चुका दिया। उस बूढ़ी स्त्री की कथा तो सर्वविदित ही है जिसने महमूद को विजित देशों में सुचारु शासन-

---

४२. फिरदौसी की निंदात्मक कविता का अनुवाद इस प्रकार है—
"इस शाहनामा को पूरा करने में लम्बे वर्षों तक मैंने श्रम किया
जिससे सुलतान मुझको उचित पारिश्रमिक से पुरस्कृत करे,
परन्तु शोक तथा निराशा से छटपटाते हुये हृदय के अतिरिक्त
उन वायु के समान रिक्त वचनों से मुझे कुछ भी न मिला!
यदि सुलतान का बाप कोई प्रसिद्ध शासक होता
तो मेरे सिर को मुकुट द्वारा सुशोभित किया जाता!
यदि उसकी माता किसी उच्च वंश की होती,
तो मैं घुटनों में सोने-चाँदी में डुबाया जाता।
लेकिन जन्म से राजकुमार न होकर गँवार होने के कारण,
उच्च कुलवालों की प्रशंसा वह सहन न कर सका।"

व्यवस्था स्थापित न कर सकने के लिए जली-कटी सुनाई थी। उस पर लगाये जानेवाले धनलोलुपता के आरोप का विस्तृत विवरण देने की यहाँ कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। वह तो सुस्पष्ट ही है। मुसलमान इतिहासकारों ने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि मरते समय उसने अपनी समग्र संपत्ति को अपनी आँखों के सामने उपस्थित किये जाने की आज्ञा दी थी।[43] इन्हीं लेखकों का कथन है कि अपनी अतुल संपत्ति से विछोह का ध्यान आने पर महमूद रो पड़ा था, परन्तु उसने किसी को इसमें से एक कौड़ी भी नहीं दी। इस आरोप का खण्डन नहीं किया जा सकता। महमूद बड़ा धनलोलुप था और धन के प्रेम के कारण ही उसने सुदूर देशों में अपार कष्ट सहन करके भी अनेक युद्ध किये। लेकिन इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि इस दोष के साथ ही साथ उसमें उदारता का गुण भी था। यदि वह धन पर प्राण खोता था तो मुक्तहस्त से व्यय भी करता था। उसने गजनी में एक विद्यापीठ, एक पुस्तकालय तथा विजित प्रदेशों की विचित्र वस्तुओं के एक संग्रहालय की स्थापना कर विद्या-प्रसार में बहुत योग दिया। उसके उदार प्रोत्साहन के फल-स्वरूप ही गजनी में उन सुंदर भवनों का निर्माण संभव हुआ, जिनसे गजनी पूर्व के सुंदरतम नगरों में स्थान प्राप्त कर सका।

महमूद में रचनात्मक प्रतिभा का पूर्ण विकास था और वह सदैव नई नई योजनाओं को कार्यान्वित करने में तत्पर रहता था। उसका शासन न्यायपूर्ण था। वाणिज्य-व्यवसायों की सदैव रक्षा करता था और देश में शांति बनाये रखता था जिससे व्यापारी दल खुरासान और लाहौर के मध्य निःशंक होकर यातायात करते थे। प्रान्तीय शासकों पर महमूद का दृढ़ नियन्त्रण था; इसलिए वह जनता पर अत्याचार न कर पाते थे। उसका भाई नस्र, जो निशापुर का प्रतिनिधि-शासक था, बहुत योग्य एवं जनकल्याणपरायण था। इसके विषय में उतबी ने लिखा है कि "उसका स्वभाव इतना उदात्त, पवित्र, दयामय एवं उदारतापूर्ण था कि उसके जीवन के अंत तक किसी ने उसके मुँह से कठोर शब्द नहीं सुना और उसने किसी के साथ बुरा या निर्दयता का व्यवहार नहीं किया।"[44] व्यापार की मण्डियों की गतिविधि पर महमूद का बहुत ध्यान रहता था और व्यापारियों द्वारा प्रयुक्त नाप-तोल के बाटों की परीक्षा के लिए वह अपने अधिकारी भेजता रहता था। धार्मिक संस्थाओं

---

४३. मीरखोन्द, रौजत-उस्-सफा, इलियट, ४, पृ० १३४-३५।
'तबकात-ए-अकबरी,' बिब्लिओ० इण्डि० पृ० १७।

४४. रेनॉल्ड्स—'किताब-ए-यमीनी' पृ० ४८५-८६।

को भी उससे दान प्राप्त होता था और उतबी लिखता है कि "उसने जनता में न्याय तथा सुखों की अभिवृद्धि में और पवित्र एवं सम्मानपूर्ण (संस्थाओं के प्रति) उदारता-प्रदर्शन में लगभग १ सहस्र दीनार व्यय किये।"

प्रो० ब्राउन ने निम्न शब्दों में महमूद का चरित्र-चित्रण किया है :—

"महमूद के चरित्र के संबंध में, उसके राजकवियों (फिरदौसी जैसों को छोड़कर जिनकी आशाएँ विफल हुईं) की कविताओं में तथा राजकीय इतिहासकारों के ग्रंथों में जैसा स्वाभाविक ही है, हम उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा मात्र पाते हैं, लेकिन इब्नुल असीर ने (हिजरी सन् ४२१, तदनुसार १०३० ई० में) इस सम्राट् की मृत्यु-सूचना में इसकी बुद्धिमत्ता, धर्म-परायणता, गुण सम्पन्नता, विद्वानों का संरक्षण तथा विधर्मियों के विरुद्ध युद्ध करने में पराक्रम की प्रशंसा करने के उपरान्त कहा है कि उसमें एकमात्र दोष था धर्म-परायणता तथा धन-प्राप्ति के लिए व्यवहृत उपायों के औचित्य-अनौचित्य पर ध्यान न देता था। वह लिखता है "वह किसी भी उपाय से धन-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता था, इसके अतिरिक्त उसके चरित्र में कुछ भी निंदनीय नहीं था", इस विषय में यह कथा उदाहरणीय है कि एक बार निशापुर के किसी व्यक्ति के संबंध में यह सूचना पाकर कि वह अतुल संपत्ति तथा अपार धन का स्वामी है, महमूद ने उसको गजनी बुला भेजा और उससे कहा 'सुना है तुम करामातियान विधर्मी हो।' उस अभागे ने उत्तर दिया 'मैं करामातियान तो नहीं हूँ, मेरे पास जो संपत्ति है, उसमें से (सुलतान) इच्छानुसार ग्रहण कर लें, जिससे मुझे इस उपाधि से मुक्ति मिल जाय।' तब सुलतान ने उसकी संपत्ति का कुछ भाग ले लिया और उसके धार्मिक विचारों की शुद्धता को प्रमाणित करते हुए एक 'राज-शासन-पत्र' दे दिया। मुसलमानों की दृष्टि में उनके धर्म का इतना महान् योद्धा, जो मूर्तिपूजकों के लिए यम समान था तथा कट्टर मूर्तिभंजक था, सब प्रकार की आलोचनाओं से दूर है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि इब्नुल असीर ने सुलतान के चरित्र के दोषमय भाग पर भी प्रकाश डाला है तथा धनलोलुप होने के साथ-साथ (जिससे भारतीय अभियानों में प्रदर्शित उसकी दृढ़ता का कारण स्पष्ट हो जाता है) वह धर्मोन्मादी, मुसलमान तथा हिंदू (जिनका उसने अगणित संख्या में संहार किया) दोनों ही जातियों के विधर्मियों के प्रति निर्दय, अदृढ़ एवं अनिश्चित मनोवृत्तिवाला तथा विश्वसनीय मित्र व उदारतापूर्ण शत्रु की अपेक्षा दुर्दमनीय विजेता के रूप में अधिक ख्यातिलब्ध था।"[४५]

---

४५. 'हिस्ट्री आव परशियन लिटरेचर'—पृ० ११८-११९।

इतिहास मे महमूद का स्थान-निर्धारण करना कठिन नही है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि उसका व्यक्तित्व कितना प्रभावशाली था। अपने समय के मुसलमानों की दृष्टि में वह इस्लाम के लिए युद्धरत 'गाजी' था जिसने विधर्मियो के देश में अधर्म के विनाश का सतत प्रयत्न किया। हिंदुओ के लिए वह उनके पवित्रतम स्थानो का विध्वंसक तथा उनकी धार्मिक भावनाओ पर घोर आघात करनेवाला बर्बर हूणों जैसा अमानुषिक अत्याचारी था। परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर निष्पक्ष भाव से विचार करनेवाले जिज्ञासु उसके विषय में इनसे भिन्न सम्मति देगा। उसके विचार मे तो महमूद अपने समय का महान् जन-नायक, अपनी धारणाओ के अनुसार न्यायपूर्ण तथा निष्पक्ष शासक, निर्भीक तथा रण-निपुण सेनानी, न्याय का वितरण करनेवाला, विद्वानो का आश्रयदाता और संसार के श्रेष्ठ शासकों की पंक्ति में स्थान पाने के योग्य शासक ही प्रतीत होगा।

लेकिन महमूद के प्रयत्नो का फल चिरस्थायी न हो सका। उसकी योजनाओं में विजय तथा दृढ़ शासन-व्यवस्था की स्थापना सहगामी न हो सकी, जिसके परिणामस्वरूप उसके द्वारा निर्मित साम्राज्य का यह विशाल ढाँचा उसके निर्बल उत्तराधिकारियो के हाथ में आते ही ढह गया। लेनपूल महोदय ने ठीक लिखा है कि उसने किसी भी नई संस्था या शासन-व्यवस्था को जन्म नही दिया और अपने विजित प्रदेशों को सुसघटित करने तथा सुदृढ शासन में लाने का प्रयत्न नही किया इसलिए उसके साम्राज्य मे पतन के लक्षण दिखाई देने लगे और उसकी मृत्यु होते ही साम्राज्य का ह्रास होने लगा। उसका साम्राज्य विभिन्न जातियों का ऐसा विशाल जमघट था कि इस पर नियन्त्रण रख सकना उस जैसे सहस्राक्ष के लिए ही संभव था। उसके द्वारा पराजित शत्रु अपनी स्वाधीनता पाने के लिए सुअवसर की प्रतीक्षा में थे। गजनी में उसके द्वारा एकत्रित अपार संपत्ति ने विलासिता को प्रोत्साहित किया, जिसके परिणामस्वरूप युद्धों में निर्भयतापूर्वक सुल्तान का अनुगमन करनेवाले योद्धाओं का नैतिक पतन प्रारंभ हो गया। गजनी का राजसभा शक्तिहीन अधिकारियो की पोषक-स्थली बन गई और शीघ्र ही इन निर्बल शासकों से शासन-सूत्र उन लोगों ने छीन लिया जो राजदण्ड का प्रयोग भली भाँति जानते थे।

अल-बरुनी का भारत-वृत्तांत—अल-बरुनी का जन्म खीवा प्रदेश में ९७३ ई० में हुआ था। जब महमूद ने खीवा प्रदेश पर विजय प्राप्त की तो अल-बरुनी बंदी बनाकर गजनी लाया गया। महमूद के दल के साथ वह भारत आया और उसने हिंदुओ की सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति का पूरा विवरण

लिखा, जिससे तत्कालीन इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है। अल-बरूनी बहुमुखी प्रतिभान्वित विद्वान् था तथा हिंदू-शास्त्रों के अध्ययन में उसने बहुत रुचि प्रकट की। उसने ब्राह्मण दार्शनिकों के साथ विचार-विमर्श किया तथा उनकी बुद्धि की सूक्ष्मग्राह्यता एवं आध्यात्मिक विचारों से वह बहुत प्रभावित हुआ। भारतीय विद्याओं के प्रति उसका हार्दिक प्रेम उसके विवरण में स्पष्ट झलकता है तथा उसकी भारत-संबंधी धारणाएँ उत्साहवर्धक हैं। भारत पर महमूद के आक्रमणों के विनाशकारी प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए वह लिखता है; "महमूद ने इस देश की समृद्धि को पूर्णतया समाप्त कर दिया तथा ऐसा आश्चर्यजनक उत्पीड़न किया जिससे हिंदू जाति चतुर्दिक बिखरे हुए धूलि-कणों के समान हो गई तथा लोगों के मुख में पुरानी कहानी के रूप में रह गई। इस जाति के अवशिष्ट अंश अपने मन में मुसलमान-मात्र के प्रति घोर घृणा की भावनाओं का पोषण करने लगे है। यही कारण है कि भारतीय विद्याएँ उन स्थानों से बहुत दूर हट गई हैं जिनको हमने विजय कर लिया है और काश्मीर, बनारस तथा अन्य ऐसे स्थानों में चली गई है, जहाँ तक अभी हमारे हाथ पहुँच नहीं पाते।" अलबरूनी के मतानुसार हिंदुओं में कुछ प्रधान दोष हैं जैसे कि उनका संसार की जातियों के संपर्क से सर्वथा दूर रहना, बाह्यसंसार का अज्ञान तथा अन्य जातियों या 'म्लेच्छों' से असंपर्क और असहानुभूति।

समस्त देश अनेक राज्यों में विभक्त था, जो बहुधा परस्पर युद्ध-रत रहते थे। इनमें प्रमुख राज्य काश्मीर, सिंध, मालवा तथा कन्नौज थे। वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी, तथा विभिन्न जातियों में भेदभाव रखा जाता था। बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी तथा जिन स्त्रियों के पति का देहांत हो जाता था उनको मृत्यु-पर्यंत वैधव्य का दुःख भोगना पड़ता था। माता-पिता अपनी संतान के विवाह का प्रबंध करते थे। दहेज-प्रथा न थी, पति अवश्य पत्नी को उपहार-स्वरूप द्रव्य प्रदान करता था जो उसका 'स्त्री-धन' बन जाता था। हिंदू अनेक देवताओं की पूजा करते थे लेकिन यह बात केवल अज्ञान तथा ग्रामीण जनता तक ही सीमित थी। शिक्षित हिंदू भगवान् को 'एक, शाश्वत, आदि-अन्त विहीन, स्वेच्छा से प्रवृत्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, चैतन्यमय, जीवनदाता, शास्ता तथा पालनकर्ता' मानते हैं। न्याय-व्यवस्था का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि न्याय के लिए साधारणतया लिखित आवेदन-पत्र प्रस्तुत किये जाते थे, जिनमें प्रतिवादी पर लगाये गये आरोपों का उल्लेख किया जाता था। मौखिक न्याय-प्रार्थनाएँ भी विचार के लिए स्वीकृत होती थी। शपथ दिलाने की प्रणाली प्रचलित थी, तथा गवाहियों के अनुसार निर्णय

दिया जाता था। दण्ड-विधान ईसाई धर्म की मूल-प्रवृत्ति के समान बहुत ही कोमल था। हिंदुओं की प्रथाएँ तथा रीति-रिवाज सदाचार तथा दुष्टता से निवृत्ति के आधार पर बने थे। न्याय की दृष्टि में मनुष्य मात्र की समानता नहीं मानी जाती थी। ब्राह्मण प्राणदण्ड से मुक्त थे। यदि कोई ब्राह्मण हत्या कर देता था तो उसका दण्ड व्रतोपवास, प्रार्थना तथा दान द्वारा प्रायश्चित्त करना होता था। चोरी का दण्ड गये धन के मूल्य के अनुसार दिया जाता था, तथा कुछ अपराधों के दण्डस्वरूप अंगच्छेद भी विधिविहित था। राजा खेतो की उपज का छठा भाग लेता था तथा मजदूरो, शिल्पकारो तथा व्यवसायियों को अपनी आय पर 'कर' देना पडता था। केवल ब्राह्मण करों के भार से मुक्त थे। मूर्तिपूजा का सर्वत्र प्रचार था तथा देश भर में अनेक मंदिर थे। 'सती' की निर्दय प्रथा का खूब प्रचलन था और विधवा-विवाह का कड़ा निषेध था।

यह दसवीं शताब्दी का भारत था। जैसा कि अलबरूनी ने देखा। हिंदू-धर्म निष्प्राण हो चुका था। अधविश्वास, लोलुपता तथा अज्ञान ने विद्या, सदाचरण तथा विश्वजनीनता का स्थान ग्रहण कर लिया था। राजनैतिक ऐक्य का पूर्णतया अभाव था। बहुधा शक्तिशाली नरेश स्वयं अपने सजातीयो के विरुद्ध विदेशी आक्राता का पक्ष ग्रहण कर अपने क्षुद्र स्वार्थों की तृप्ति के लिए मातृभूमि के हितों का बलिदान करने में लज्जित न होते थे। समाज में भी सूत्र-बद्धता न रह गई थी और समाज के घटक विभिन्न समुदाय, वर्ण-व्यवस्था के प्रभाव से, स्वनिर्मित नियमो का अनुवर्तन करते थे तथा बहुधा एक दूसरे के विपरीत आचरणो मे प्रवृत्त होते थे। सार्वजनिक हित का ध्यान भुला दिया जाता था। विघटन की प्रवृत्तियाँ पूर्ण वेग के साथ कार्य कर रही थी। इस प्रकार विशृंखलित हिंदू समाज तथा शासक-वर्ग को प्रचड शक्ति के साथ हमारे शस्य श्यामल एवं समृद्ध देश पर चढ़ आनेवाले इन विदेशी आक्रांताओ के सम्मुख अपनी संपत्ति तथा स्वाधीनता का समर्पण कर देना पड़ा जिन्होंने हमारी प्राचीन सभ्यता को एक दूसरी ही दिशा में मोड़ दिया।

अध्याय ४

गजनी-वंश का पतन

मसऊद और उसकी राजसभा—महमूद के देहान्त के पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद ने स्वयं को शासक घोषित किया। परन्तु उसके छोटे भाई मसऊद ने सेना की सहायता से १०३१ ई० में उसको अधिकार-च्युत कर दिया तथा राजा के निजी दासों ने मुहम्मद को अंधा बना दिया। तत्पश्चात् मसऊद ने गजनी की ओर प्रस्थान किया और सामंतों की सहायता से वह सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ। साहस, उच्चाकांक्षाओं तथा युद्धोत्साह से पूर्ण मसऊद अपने पिता की यथार्थ प्रतिकृति था। वीर एवं वाक्पटु यह राजकुमार प्रारंभ से ही निर्भीक था और एक बार अपने पिता को रुष्ट करके भी उसने इस कहावत पर कि 'साम्राज्य सबसे लम्बी तलवार के वशीभूत होता है' अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की थी। उदारता उसमें इतनी अधिक थी कि उसके समसामयिकों ने उसको 'खलीफा' कहना प्रारंभ कर दिया। उसकी शारीरिक शक्ति के विषय में पश्चात्कालीन इतिहासकार 'मिनहाज-उस-सिराज' ने लिखा है कि उसकी गदा इतनी भारी थी कि अकेला आदमी एक हाथ से उसको धरती से उठा नहीं सकता था और उसके बाण का आघात इतना प्रबल होता था कि कोई भी लौह-लक्ष्य इसके सम्मुख टिक न पाता था। उस समय गजनी की राजसभा का वैभव अद्वितीय था। बैहाकी ने अपने संस्मरण में सुल्तान द्वारा अपने ऐश्वर्य तथा संपत्ति प्रदर्शन के दृश्य का वर्णन किया है। कभी-कभी सुल्तान गजनी के मनोहरतम स्थल 'फीरूज' उद्यान में गमन करता था, और वहाँ अपने अतिशय विनीत सामंतों तथा दरबारियों के साथ हरित वितान के नीचे आसन ग्रहण कर राजकीय सेना का निरीक्षण करता था। सेना के निरीक्षण के बाद सुल्तान अपने परिजनों सहित गीतवाद्य के मुखर तथा यथेच्छ सुरापान संयुक्त प्रचुर-व्यय-साध्य सहभोज का आनद लेता था। एक छोटे से शिविर में सुरा के ५० चषक तथा वितरण-पात्र रखे रहते थे और सुल्तान आग्रहपूर्वक सुरापान के लिए आमंत्रित करते हुए कहता था "हम यथेष्ट मात्रा में आसव ग्रहण करें और पान-पात्रों को समान रूप से पूरित करें, जिससे पक्षपात न होने पावे।" भोज में भाग लेनेवाले सभ्य आकण्ठ आसव पान करते थे और धीरे-धीरे सुरा के मद से

आघूर्णित सभासद सुल्तान की उपस्थिति से हटकर अचेत अवस्था में लुढ़क पड़ते थे लेकिन अमीर जब तक सुरा के २७ चषक अंतिम बूँद तक गले से न उतार लेता, पानोत्सव का आनंद लेता रहता था क्योंकि गजनी के राजवंश के उच्छृंखल सदस्यों के सुरापान की यही सम्मानपूर्ण मात्रा थी। तदनंतर प्रार्थना का आसन मँगवाकर, आसन के स्पर्श से भी दूर रहनेवाले की सी शालीनता के साथ नमाज पढ़कर वह अपने प्रासाद में लौट आता था। मुसलमान-राजसभा में इस प्रकार के विलासपूर्ण समारोहों का आयोजन अद्भुत बात न थी। स्वयं महान् धर्मपरायण महमूद भी ऐसे आनन्दोत्सवों से विलग न रहता था, परन्तु मसऊद ने तो इनको चरम सीमा पर पहुँचा दिया और स्वयं सुराप्रेमी विषयासक्त दुश्चरित्रों के दल का नायक बन बैठा।

लेकिन मसऊद के सौभाग्य से उसको ख्वाजा अहमद मैमन्दी के रूप में एक कार्यकुशल मन्त्री प्राप्त हो गया था। मसऊद ने मैमन्दी को कारागार से मुक्त कर इस पद पर प्रतिष्ठित किया था।[1] पहिले तो ख्वाजा ने इस पद को ग्रहण करने में अन्यमनस्कता प्रगट की परन्तु सुल्तान के बहुत आग्रह करने पर वह सुल्तान की इच्छा के सम्मुख नत-मस्तक हो गया और मंत्री-पद स्वीकार कर लिया। जब उसने राजसभा में विधिपूर्वक पदार्पण किया तो मसऊद ने उसको सुल्तान के पद के योग्य गौरव के बाद सर्वोच्च सम्मान से विभूषित किया और उपस्थित जनों को आदेश किया कि वह ख्वाजा की आज्ञा का स्वयं उसकी आज्ञा मानकर पालन करे। अंगरक्षकों के नायक हाजिब बिल्कतगीन को आज्ञा दी गई कि वह मंत्री को उसके पद की मर्यादा के अनुकूल वस्त्र धारण कराने के लिए राजकीय वस्त्रागार में ले जाये। इस प्रकार अपने पूर्वपद पर पुनः प्रतिष्ठित मंत्री को बेलबूटों से कढ़े हुए बगदाद के मखमली वस्त्रों से सुसज्जित किया गया और उसके सुंदरतम मलमल की विचित्र किनारीदार पगड़ी, लम्बी स्वर्ण शृंखला तथा जटित सहस्र मिस्काल का कटिवस्त्र धारण किया।

राजकीय प्रथानुसार सुल्तान के सम्मुख उपस्थित किये जाने पर उसने दस सहस्र दीनारों के मूल्य का एक मुक्ता-गुच्छ सुल्तान को भेंट किया और सुल्तान ने अपना कृपा भाव व्यक्त करने के लिए पन्ना-रत्न-जटित स्वनामांकित मुद्रा उसको प्रदान की। ख्वाजा ने बड़े भक्ति भाव से यह राज-प्रसाद

---

१. ख्वाजा ने मंत्री के रूप में १८ वर्ष तक महमूद की सेवा की थी परन्तु अमीरों के षड्यन्त्र के कारण उसको कारागार में डाल दिया गया था। 'दस्तूर-उल्-उर्जा' इलियट ४, पृ० १५१।

ग्रहण किया तथा सिंहासन के प्रति कर्तव्यपरायण रहने की शपथ ली। राजसम्मान प्राप्त कर जब वह अपने निवासस्थान पर आया तो उच्च पदस्थ राजकर्मचारी तथा सम्मान्य प्रजा-जन उसको अभ्यर्थना के लिए वहाँ एकत्र होने लगे। चारों ओर से उस पर उपहारों की बौछार की जाने लगी। स्वर्ण एवं रौप्य की बहुमूल्य वस्तुएँ, सुंदर वस्त्र, तुर्की दास, घोडे और ऊँट उपहार में आने लगे। उसने भी कृतज्ञता दर्शाते हुए यह उपहार अपने स्वामी के पास भेज दिये। ख्वाजा की निःस्वार्थ भक्ति से प्रभावित होकर सुल्तान ने उसकी कृतज्ञता के बदले में उसको १० सहस्र दीनार, ५०० सहस्र दिरहम, दस बहु-क्रीत तुर्की दास, राजकीय अश्वशाला के पाँच अश्व, तथा दस अब्दूस जाति के ऊँट प्रदान किये। इस प्रकार सुल्तान का विश्वास प्राप्त कर ख्वाजा अपने पूर्ववर्ती मंत्री के समय से शिथिलता तथा विलंब के लिए कुख्यात सचिवालय को सुव्यवस्थित करने में सलग्न हो गया। आज तक राजकार्यों के प्रति व्यवहार मे कोई भी अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नही करता। लेकिन मन्त्रिपद पर आसीन होते ही ख्वाजा ने सार्वजनिक तथा सैनिक अधिकारियों को कठोर स्वर मे उनके कर्तव्यों के प्रति सचेत किया और उनको प्रजा से सबधित कार्यों के निर्वाह मे तत्परता एव नियमितता की आवश्यकता का भान कराया। अब प्रजा की प्रार्थनायें ध्यानपूर्वक सुनी जाने लगी और सबंधित पक्षो को पूर्णतया संतुष्ट कर देनेवाले निर्णय दिये जाने लगे। सपूर्ण राजतन्त्र में नवीन शक्ति एव क्रियाशीलता का संचार हो गया।

जब एक ओर ख्वाजा इस प्रकार सम्मानित किया जा रहा था, तभी दूसरी ओर उसके पूर्ववर्ती मत्री को शृखलाओं में जकड़कर घोर निर्दयतापूर्वक उत्पीड़ित किया जा रहा था। एक समय जिस हस्नक (मत्री) की शक्ति एव प्रभाव की कोई सीमा न थी, वही आज दुर्दिनों तथा दुर्वचनों का आखेट बन गया था। उस पर करमत विधर्मी होने का दोषारोपण किया गया था और कट्टर पथी उसके प्राण लेने के लिए व्याकुल हो रहे थे। उसने इस आरोप को अस्वीकार किया परन्तु न्यायकर्ताओं ने उसको अपराधी ठहराकर उसके लिए मृत्यु-दड के निर्णय की घोषणा कर दी। उसके प्राण-पिपासुओं में ख्वाजा बू सुहल भी सम्मिलित था जिसने उसके लिए मृत्युदण्ड के विधान का उग्रतापूर्वक समर्थन किया था और समय-समय पर इस उदात्त अपराधी के तीक्ष्ण व्यंगों का लक्ष्य बना था। किसी समय मंत्री पद को शोभित करने-वाले हस्नक ने तत्कालीन मंत्री मैमन्दी से दया की याचना की तथा अपने परिवार के संरक्षण की प्रार्थना की। दया से अभिभूत ख्वाजा की आँखें डबडबा आईं और उसने इस अभागे की इच्छाओं को पूर्ण करने का वचन

दे दिया। परन्तु न्यायाधिकरण का निर्णय अपरिहार्य था। बगदाद के खलीफा ने मिस्र की गद्दी के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित करनेवाले करमत संप्रदाय के इस अनुयायी के वध की वाछनीयता खूब जोर देकर समझाई थी। मृत्यु-दड के लिए नियुक्त समय पर हस्नक को शूलि के स्थान पर ले जाया गया और वहाँ केवल सलवार व पगड़ी पहने हुए, हाथ बाँधे हुए तथा "चाँदी के समान श्वेत हो गये शरीर तथा सहस्त्रश. चित्रो के समान मुखाकृति" धारण किये हुए दुर्दैव के मारे इस भाग्यहीन को खड़ा किया गया। दर्शक शोकाकुल हो गये तथा उसके प्रति सहानुभूति और उसके प्राण लेने के इच्छुक लोगो के प्रति घृणा प्रकट करने लगे। जनसमूह ने भीषण कोलाहल किया, परंतु इस पर कोई ध्यान न देकर घोषणा कर दी गई कि खलीफा की आज्ञानुसार उस पर पत्थरों से प्रहार किया जायेगा; इस नृशस दृश्य को देखने के लिए एकत्र जनता में शोकपूर्ण मौन छा गया। हसन को शूलि पर ले जाकर निर्दयतापूर्वक लटका दिया गया। तत्पश्चात् हस्नक के सिर को एक थाल मे रखकर बू सुहल द्वारा आयोजित सहभोज में प्रदर्शित किया गया। अभ्यागत भय-त्रस्त हो उठे। तत्कालीन गजनी का समाज ऐसी निर्ममताओं से विनोद प्राप्त करता था; प्रतीत होता है कि इस नृशंस आचरण से सज्जन अवश्य व्यथित हुए, परतु जनता द्वारा इसका सामूहिक विरोध नही किया गया। हस्नक का सिर उसी सूली पर लटका दिया गया और वहाँ वह सात वर्ष तक टँगा रहा। बैहाकी ने लिखा है कि वहीं लटके लटके उसकी टाँगें झड़ गई थी और शव इतना सूख गया था कि प्रथा के अनुसार दफनाने के लिए बाद में उसके शरीर का कोई भी भाग शेष न रह गया। उसकी माता ने जब अपने पुत्र की इस निर्मम समाप्ति का समाचार पाया तो वह शोकाकुल होकर विलाप करती हुई चीत्कार कर उठी "मेरे पुत्र का भाग्य भी कैसा विचित्र था; महमूद जैसे शासक ने उसको इहलोक प्रदान किया था और मसऊद जैसे शासक ने परलोक प्रदान कर दिया।[१]" पतनोन्मुख गजनी-वश के शासन-काल में जीवन तथा पद-प्रतिष्ठा की अनिश्चितता ऐसी ही थी।

---

२. ख्वांदमीर ने 'दस्तूर-उल-वुजरा' में लिखा है हस्नक अपने मंत्रि-काल में सुलतान महमूद से मसऊद की निन्दा किया करता था। सिंहासनारूढ़ हो जाने पर मसऊद ने उसके प्रति अपनी प्रतिशोध की भावना को तृप्त किया। (इलियट, ४, पृ० १५३)।

निशापुर के एक कवि ने हस्नक के करुणापूर्ण अंत पर एक शोकपूर्ण कविता लिखी, जिसका छायानुवाद निम्नलिखित है—

हिन्दुस्तान के विजित प्रदेशों की स्थिति—विलासी होने पर भी मसऊद अकर्मण्य नहीं था। उसमें अपने पिता के युद्धोत्साह, शासन की योग्यता तथा अवसर आने पर काम करने की सामर्थ्य जैसे गुण भी विद्यमान थे। उसके समय के लोग उसमें शारीरिक बल तथा राजकीय प्रभाव का प्रकर्ष इन दोनों ही कारणों से उससे भयभीत होते थे। अब उसने भारत की ओर ध्यान दिया, जहां का कार्यभार अब तक अर्यारिक पर छोड़ दिया गया था।

हिन्दुस्तान मे गजनी साम्राज्य का स्वभाव से ही उच्चाकांक्षी सेनापति, विशाल प्रदेश पर निर्बाध अधिकार पाकर सब प्रकार के नियन्त्रणों से मुक्त होने के कारण निरंकुश के समान आचरण करने लगा था तथा अपने अधिपति की आज्ञाओं का भी उपहास करने लगा था। उस पर सबसे बड़ा आरोप यह था कि वह आज्ञाविमुख और धृष्ट था तथा जब कभी उसको अधिपति के प्रभुत्व के विषय मे चेताया जाता तो वह उत्पात प्रारंभ कर देता था। महमूद के जीवन काल में ही वह अपनी उच्चाभिलाषापूर्ण योजनाओं का आभास दे चुका था, परंतु प्रबल विजेता महमूद का प्रभाव इतनी उग्रता से व्याप्त था कि उसके जीते जी अर्यारिक की योजनाओं को पनपने का अवकाश प्राप्त न हो सका। सुरापान तथा वासनाओं का दास होते हुए भी मसऊद में एक गुण बहुत प्रबल था। वह अपने अधिकार पर आंच आते देखकर विपक्षी को अपने प्रभाव से अभिभूत कर देना भली भांति जानता था। इस समय जब कि सलजूक तुर्क अपनी शक्ति बढ़ाकर अपने विस्तार के लिए क्षेत्र खोजने मे लगे थे, भारतीय प्रदेशों का हाथ से निकल जाना असभव बात न होती, क्योंकि यह प्रदेश गजनी-साम्राज्य से मुसलमान शासन को प्रारभ से ही घृणा करते आ रहे थे। ऐसी संभावना को रोकने के लिए प्रयत्नशील तथा नीतिनिपुण ख्वाजा ने अपनी चतुराई से अर्यारिक को गजनी चलने के लिए तैयार कर लिया और वचन दिया कि सुल्तान के सामने वह उसका पक्ष-समर्थन करेगा। ख्वाजा की चाल सफल हुई और अर्यारिक उसके "कोमल शब्दों तथा कृपापूर्ण दृष्टि" से प्रभावित होकर उसके साथ राजधानी की ओर चल पड़ा। उसे स्वप्न में भी कल्पना न थी कि उसके प्रति कैसा निर्दय व्यवहार किया जानेवाला है। प्रारंभिक मध्यकाल के अन्य मुसलमान अधिकारियों की भांति अर्यारिक भी सुराप्रेमी था; इसलिए जब उसको

"उन्होने उसका सिर काट डाला जो प्रधानो का भी प्रधान था,
जो अपने देश का भूषण, अपने काल का मुकुट था,
भले ही वह करमत रहा हो या यहूदी या विधर्मी,
लेकिन सिंहासन से सूली पर पहुँचना कष्टमय था।"

सुरापान के लिए निमन्त्रित किया गया तो उसने सहर्ष पानोत्सव में भाग लिया। परन्तु वहाँ उसका स्वागत दूसरे ही प्रकार से किया गया। अंग-रक्षक-नायक बक्तगीन ने उसको बंदी बना लिया, उसके पैर बेड़ियों में जकड़े गये और हिजरी सन् ४२२ में रबी-उल्-अव्वल की १९ ता० को (मार्च, १०३१ ई०) उसको कारागार में डाल दिया गया, जहाँ सम्भवतः कुछ समय पश्चात् उसको विष देकर मारा गया और उसकी विशाल संपत्ति राजकीय कोष में डाल दी गई। इसके साथ ही उसके स्थान पर अन्य अधिकारी को नियुक्त करने की योजना बनी और अहमद नियाल्तगीन भारतीय प्रदेशों के शासन के लिए नियुक्त किया गया। नियाल्तगीन अनुभवी अधिकारी था। महमूद के शासन-काल में वह कोषाध्यक्ष रह चुका था और जन-कार्यों से भली भाँति परिचित हो चुका था। ख्वाजा ने उसको पदो-चित सम्मान के वस्त्र प्रदान किये और सुल्तान को दिये गये वचनों का पूरा-पूरा पालन करने का उपदेश दिया। तब उसने निम्न शब्दों में वह चेतावनी दी जो स्वेच्छाचारी शासन के अधीन कार्य करनेवाले अधिकारी के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण थी. "तुम्हें राजनैतिक अथवा भूमिकर सबंधी कोई बात किसी से भी नहीं कहनी चाहिए, जिससे कोई तुम्हारे विरुद्ध प्रचार करने के लिए सामग्री न प्राप्त कर सके, परन्तु तुम्हें सेनानायक के कर्तव्यों का पूर्ण तत्प-रता से पालन करना चाहिए, जिससे कोई भी तुम्हें नीचा न दिखा सके।" उसको चेताया गया कि वह सार्वजनिक कार्यों के अधिकारी काजी शिराज के कार्यों में हस्तक्षेप न करे और गुप्तचरों के निरीक्षक को भी सहयोग दे, जो कि सुल्तान को भारतीय घटनाओं की सूचना देता था कुछ दैलामी सरदार तथा उद्दण्ड दास, जिन्होंने विश्वासघात के कार्यों में भाग लिया था उसके साथ भारत भेजे गये, जिससे वह राज सभा से दूर रखे जा सकें और ख्वाजा ने नियाल्तगीन को आदेश दिया कि वह इन पर सतर्क दृष्टि रखे तथा इनमें सामाजिक सपर्क तथा सहभोज आदि समारोहों को रोके। इस उपदेश तथा चेतावनी के साथ नियाल्तगीन को अपने नवीन पद का कार्यभार ग्रहण करने के लिए भेजा गया और राजनैतिक व्यक्तियों के साथ व्यवहार करने में निपुण ख्वाजा ने नियाल्तगीन के पुत्र को गजनी में ही यह बहाना बना कर रोक लिया कि वहाँ उसकी शिक्षा-दीक्षा की अधिक सुन्दर व्यवस्था हो सकेगी जिसमे वह अंगरक्षकों का साथ छोड़कर अपने पिता के उच्चपद के गौरवानुरूप सुसंस्कृत बन सके। कुछ दिनों के बाद शाहाबार की मरुभूमि में जब यह नया प्रतिनिधि-शासक राजकीय-वैभव से अलंकृत सुल्तान की अभ्यर्थना के लिए उपस्थित हुआ, तो सुल्तान ने उसको संबोधित करते हुए

कहा : "अहमद, आनंद मनाओ और प्रसन्न हो, इस कृपा का मूल्य सावधानी से समझो, प्रतिक्षण मेरी मूर्ति अपनी आँखों के सामने रखो और मन लगाकर सेवा करो, जिससे तुम उच्च सम्मान प्राप्त कर सको।" उस समय मसऊद को क्या पता था कि यह नया प्रतिनिधि पालन की अपेक्षा उल्लघन द्वारा ही उसकी आज्ञाओं का स्वागत करेगा। बैहाकी के शब्दों में, अल्प काल में ही यह प्रतिनिधि "सच्चाई के मार्ग से भटककर कुटिल मार्ग पर चलने लगा।"

अहमद नियाल्तगीन—भारत में पदार्पण करने पर अहमद नियाल्तगीन को अनुभव होने लगा कि काजी शिराज जैसे क्रोधी, झगड़ालू तथा दूसरों पर सदा अपनी इच्छाओं को लादने के लिए सचेष्ट सहयोग के साथ कार्य करना सरल नहीं है। गजनी में ही राजमंत्री ने काजी तथा प्रतिनिधि-शासक के अधिकार-क्षेत्र की सीमा स्पष्टतया निर्धारित कर दी थी और नियाल्तगीन को सार्वजनिक कार्यों के अधिकारी की उन चालों से सचेत कर दिया था, जिनसे वह अपने सहयोगियों पर अपना प्रभाव जमा लेता था। इसलिए यह नया प्रतिनिधि शासक अपने कार्यों में काजी से परामर्श नहीं करता था। शीघ्र ही इन दोनों अधिकारियों में एक अभियान के नायक की नियुक्ति को लेकर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इस विषय में काजी का हस्तक्षेप करना सर्वथा अनुचित था, इसलिए जब यह विवाद निर्णय के लिए गजनी भेजा गया तो केन्द्रीय शासन ने भी अहमद नियाल्तगीन का पक्ष लिया और अभियान का नायकत्व उसी को इस आधार पर प्रदान किया कि वह काजी द्वारा समर्थित व्यक्ति अब्दुल्ला से इस कार्य के लिए कहीं अधिक योग्य था। काजी की खूब भर्त्सना की गई और उसको सामरिक कार्यों से विलग रहने की आज्ञा दी। अपने प्रतिद्वंद्वी एवं सहयोगी की इस भर्त्सना से नियाल्तगीन को बहुत संतोष हुआ और उसने शीघ्र ही पूर्व में गंगातटवर्ती हिंदुओं के प्रसिद्ध तीर्थस्थान बनारस पर आक्रमण कर दिया। आज तक कोई भी मुसलमान सेना बनारस तक न पहुँच पाई थी, अतः लूट में प्रचुर धन-प्राप्ति की आशा ने मुसलमान सैनिकों में युद्धोत्साह भर दिया। अभियान पूर्णतया सफल रहा। वस्त्र-विक्रेताओं, गंधियों एवं स्वर्णकारों की दुकानें लूटी गईं और विजयी सेना ने सोना, चाँदी, सुगंधित पदार्थ तथा आभूषण विपुल परिमाण में हस्तगत किये। काजी अपने प्रतिद्वंद्वी की अपूर्व विजय सहन न कर सका और उसने अपने गुप्तचर तथा पक्षपाती लोगों को सुल्तान के पास यह सूचित करने के लिए भेजा कि नियाल्तगीन जनता को पथ-भ्रष्ट करने के लिए स्वयं को सुल्तान महमूद का पुत्र बताता है और उसने प्रचुर धनराशि से अपने व्यक्तिगत कोष को भर लिया है तथा तुर्किस्तान से

७० दास प्राप्त किये है जो सुल्तान के प्रति भक्ति-भाव नही रखते। इस प्रकार उसने सुल्तान को अप्रत्यक्ष रूप से यह जतलाने की चेष्टा की कि नियाल्तगीन स्वतन्त्र होने की योजना बना रहा है उधर नियाल्तगीन की विजय का यह समाचार भी इस सूचना के साथ सुल्तान के पास पहुँचा। बनारस के ठाकुरों से भेंट ग्रहण की गई है और विपुल सपत्ति लूट में प्राप्त हुई है, जिसमें कुछ हाथी भी सम्मिलित है। सुल्तान ने काजी का पत्र बिलकुल गुप्त रखा परंतु भारत से संदेश पर संदेश आने लगे कि लाहौर की सेना तथा तुर्कमान सेना पूर्णतया नियाल्तगीन के पक्ष में हो गई है और लाहौर के सभी वर्गों के "बहुसख्यक उद्दंड लोग" उसकी ध्वजा के आश्रय में आ गये हैं। नियाल्तगीन के शत्रुओ ने हर सभव प्रकार से सुल्तान के मन में स्थिति की गंभीरता का भान कराने का अकथ प्रयास किया और इस बात पर जोर दिया कि शीघ्र उसके उपायो को रोकने की चेष्टा की जाय। इस प्रकार की परस्पर विरोधी सूचनाओं से, जिनकी सत्यता की तत्काल परीक्षा सरलतया संभव न हो सकती थी, सुल्तान द्विविधा में पड़ गया। अत. उसने 'सुधाजारा' नामक उद्यान में इस विषय पर अपना-अपना मत प्रकट करने के लिए अपने उच्चपदस्थ कर्मचारियो की सभा का आयोजन किया। वस्तुत. स्थिति गंभीर थी, पश्चिम की ओर खुरासान, खत्लान और बुखारिस्तान में विद्रोह उठ खडे हुए थे तथा भारतीय प्रदेशों के शासन के लिए आशिक भक्तिपूर्ण एवं अधिकारलिप्सु प्रतिनिधियो की नियुक्ति साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हो रही थी।

अनेक अधिकारियों ने हिन्दुस्तान में उत्पन्न विवादमय अशांत स्थिति को समाप्त कर व्यवस्था स्थापित करने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित कीं, परंतु अंततः तिलक[1] नामक एक नीच कुलोत्पन्न लेकिन कार्यनिपुण एव साहसी हिंदू

---

१. बैहाकी ने तिलक को हिंदू बताया है, परन्तु फिरिश्ता और निजामुद्दीन ने 'तिलक-बिन-जाइसन' के नाम से उसका उल्लेख किया है (कुछ प्रतियो में 'तिलक-बिन-हुसैन' नाम मिलता है)। 'तबकात-ए-अकबरी' की कलकत्ता से प्राप्त प्रति में 'तिलक-बिन-हुसैन' नाम दिया है। इससे विदित होता है कि तिलक हिन्दू था और धर्म परिवर्तन द्वारा मुसलमान बना था। ब्रिग्स (१, पृ० १०५) ने उसको हिन्दू माना है, परन्तु ब्रिग्स का मत निर्विवाद स्वीकार्य नही है। बैहाकी ने इस विषय को स्पष्ट नहीं किया है, परन्तु उसके विवरण को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यही परिणाम निकलता है कि तिलक ने धर्म परिवर्तन नहीं किया था। बैहाकी लिखता है (इलयिट २, पृ० १२८) कि तिलक ने बहुत से कटोरो (ठाकुरों) तथा अन्य सरदारों को सुल्तान मसऊद की अधीनता में लाकर उसकी अमूल्य सेवा की थी। यदि तिलक हिन्दू न होता तो यह कभी सभव न हो सकता। महत्व की बात तो

को इस कठिन कर्म के लिए चुना गया। तिलक एक नाई की संतान था। वह भव्य आकृति का तथा वाक्पटु था और हिंदी तथा फारसी के सुन्दर अक्षर-विन्यास मे प्रवीण था। अपने हृदय के भावों के संगोपन, संमोहन तथा तन्त्र-विद्या में वह बहुत निपुण था। इन कलाओं की शिक्षा उसने काश्मीर में प्राप्त की थी। वह शीघ्र ही काजी शिराज, बू'-ल-हसन का कृपापात्र हो गया जो उसकी आकर्षक आकृति और निपुणताओं पर मुग्ध हो गया था। काजी सदैव उस पर दृष्टि रखता था, परंतु तिलक गुप्त रूप से काजी के प्रबल प्रतिद्वंद्वी ख्वाजा अहमद हसन के पास भाग आया और उससे काजी के व्यवहार के विरुद्ध निवेदन किया। यह बात सुल्तान महमूद तक पहुँचाई गई और संभवत उसने इस अप्राकृत व्यवहार के लिए काजी की भर्त्सना की। तिलक के आकर्षक व्यवहार से उसके संपर्क में आनेवाले लोग उसकी ओर आकृष्ट होने लगे और शीघ्र ही वह सुल्तान महमूद का कृपापात्र बन गया। तिलक पर उसका इतना स्नेह हो गया कि उसने उसे अपना व्यक्तिगत मन्त्री तथा हिंदुओं और गजनी-राज्य के बीच का दुभाषिया बना दिया। राज-सम्मान के चिह्न के रूप में उसको स्वर्ण-शिल्पित वस्त्र, रत्न-जटित सोने का कंठा, एक चंदोवा तथा एक छत्र प्राप्त हुआ था और उच्च पद की गौरव-प्राप्ति की घोषणा करने के लिए हिंदू-पद्धति के अनुसार उसके निवासस्थान पर स्वर्णचूड़ित ध्वज फहराते थे और निशाने बजते थे। इस प्रकार एक हिंदू को महत्त्वपूर्ण राजकार्य भार सौंपा गया। दार्शनिक मनोवृत्तिवाले बैहाकी ने ठीक ही लिखा है कि "बुद्धिमान् लोग ऐसी घटनाओं पर आश्चर्यान्वित नही होते, क्योंकि कोई भी जन्म से महान् नही होता, अपितु मनुष्य (स्वयं) ऐसा बनता है। लेकिन महत्त्व की बात तो यह है कि ऐसे लोग मृत्यु के पश्चात् अच्छा नाम छोड जायें।" भारत के मुसलमान शासकों ने नीच कुलोत्पन्न लेकिन गुणसपन्न व्यक्तियों को उच्चपद पर प्रतिष्ठित करने की नीति का सदैव अनुसरण किया और आगे चलकर हम देखेंगे कि इस नीति के अनुसरण से भारत में मुसलमान शासन को कितनी शक्ति एवं दृढ़ता प्राप्त हुई।

हिजरी सन् ४२५ के रमजान में (जुलाई, १०३३ ई०) लाहौर से समाचार आया कि नियाल्तगीन विशाल सेना के साथ वहाँ पहुँच गया है और काजी और उसके बीच अनवरत युद्ध चल रहा है, जिसके कारण निकटवर्ती प्रदेश

यह है कि यदि तिलक हिन्दू था तो इस प्रारंभिक काल मे गजनी की सेवा में हिन्दू अवश्य रहे होंगे। यह सत्य है कि हिन्दू समाज में इतनी अनैतिकता थी कि कोई भी हिन्दू द्रव्य के लालच में विदेशी सेना की ओर से अपने देशवासियों के विरुद्ध युद्ध कर सकता था।

में अव्यवस्था व्याप्त हो गई है। इस विद्रोही का दमन करने के लिए तिलक ने प्रबल सैन्य समूह सहित हिंदुस्तान की ओर प्रयाण किया। जब वह लाहौर पहुँचा तो उसकी उपस्थिति से नियाल्तगीन[4] के अनुयायियों के हृदय में भय का संचार हो गया और विद्रोहियों को दिये जानेवाले दंड का स्मरण कर उन्होंने भयभीत होकर नियाल्तगीन का पक्ष त्याग दिया तथा तिलक से क्षमा-याचना की। मित्रों तथा अनुयायियों द्वारा परित्यक्त नियाल्तगीन ने ऐसी स्थिति में विरोध करना व्यर्थ जानकर, प्राणरक्षा के लिए पलायन कर दिया लेकिन तिलक के दल ने, जिसमें अधिकांश हिंदू थे, उसका पीछा किया। रात्रि के युद्ध में वह परास्त हुआ और उसकी ओर से लड़नेवाले तुर्कमान सैनिकों ने उसका पक्ष छोड़कर दया की प्रार्थना की। परन्तु यह पराजित विद्रोही रण-क्षेत्र से भाग गया और पीछा करनेवालों के चंगुल में फँसने से बच निकलने में सफल हो गया। इस प्रकार इस विद्रोही को हाथ लगते न देखकर तिलक ने उसके सिर के लिए ५,००,००० दिरहम का पुरस्कार रखा और इस घोषणा को सुनकर पंजाब के जाट तथा अन्य जातियों के लोग शीघ्र ही उसको ढूँढ़ निकालने में लग गये। मरुभूमि तथा वन-प्रदेशों से सुपरिचित जाटों का परिश्रम सफल हुआ। उन्होंने अहमद को घेर लिया और बाणों, भालों तथा तलवारों से उस पर प्रहार करना प्रारंभ किया। तुर्क का रक्त भी खौल उठा और इस प्रकार शत्रुओं से स्वयं को घिरा हुआ देखकर वह अकेला ही प्रचंड शक्ति से युद्ध करने लगा। परंतु वह अकेला कब तक टिक सकता था। अंततः वह धराशायी हुआ और जाटों ने उसका शिरच्छेद कर दिया। बहुत झगड़ा करने के बाद उन्हें तिलक से केवल १,००,००० दिरहम प्राप्त हो सके। विजय का समाचार पाकर मसऊद बहुत प्रसन्न हुआ और उसने तिलक को हिंदुस्तान में व्यवस्था स्थापित करने में उसके द्वारा प्रदर्शित वीरता और कुशलता के लिए अभिनंदन-पत्र भेजा। इस सफलता से उत्साहित होकर सुल्तान ने हांसी[5] के दुर्ग को विजय करने की अपनी पुरानी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने का निश्चय किया और भारत में अभियान करने की इच्छा प्रकट की। दुराग्रह के कारण

---

४. बैहाकी ने लिखा है कि संकट से घिर जाने पर नियाल्तगीन ने अपने हाथों से अपने पुत्र का वध करना चाहा, परन्तु जाटों ने उसको छुड़ाकर हाथी पर बैठाकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया।

५. हांसी नगर हिसार से ११ मील पूर्व की ओर है। यहाँ एक भग्न दुर्ग है। (ताइफेन्थेलर, १, पृ० १३४)। यह दुर्ग 'कुमारी' कहा जाता था, क्योंकि इससे पूर्व कोई इसको विजय न कर पाया था।

या भूल से/उसने पश्चिमवर्ती प्रदेशों की राजनैतिक स्थिति को अनुकूल बताकर टाल दिया और उस ओर से साम्राज्य पर फिर आनेवाली आपत्तियों को कुछ भी महत्त्व न दिया। अनुभवी ख्वाजा ने उसको भारत-अभियान की व्यर्थता समझाने का विफल प्रयत्न किया; उसने सुल्तान को समझाया कि साम्राज्य के एक भी प्रान्त में तुर्कों द्वारा की जानेवाली लूट-पाट, नरहत्या तथा अग्निकांडों से होनेवाली क्षति की पूर्ति हाँसी पर दस बार धार्मिक-अभियान करने से भी न हो पायेगी। लेकिन दुराग्रही सुल्तान ने इस सत्परामर्श पर ध्यान न देकर उत्तर दिया "यह मेरी व्यक्तिगत प्रतिज्ञा है।" उसने अपने अधिकारियों को आदेश दिया कि वह सहयोग से, एक मन से, एक-मत होकर कार्य करें जिससे उसकी अनुपस्थिति में भी राजकार्य सुचारु रूप से चलता रहे। मंत्रियों ने स्वामिभक्तिपूर्ण हृदय से सिर झुका दिया और उसकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करने का वचन दिया। राजकुमार मादूद को बल्ख का शासक नियुक्त किया गया और गजनी का शासन-भार पूर्णतया ख्वाजा को सौंपा गया।

हाँसी दुर्ग पर अधिकार—सुल्तान ने अक्टूबर सन् १०३७ ई० में गजनी से काबुल होते हुए प्रयाण किया। लेकिन झेलम नदी के पास पहुँचने पर वह अस्वस्थ हो गया और १४ दिन तक शय्या से न उठ सका। प्रथम मुगल सम्राट् बाबर की खनुआ के रण-क्षेत्र में की गई प्रतिज्ञा के समान उसने भी प्रायश्चित्त रूप में सुरा का त्याग कर दिया, सुरापात्र नदी में प्रवाहित कर दिये और सब अधिकारियों को इस अभियान की सफलतापर्यंत किसी भी प्रकार के आसव पान से विरत रहने का आदेश दिया। लम्बी यात्रा के बाद सुल्तान हाँसी पहुँचा। मुसलमानों ने हिंदुओं की दृष्टि में अजेय हाँसी के दुर्ग पर घेरा डाल दिया। दुर्ग की घिरी हुई सेना ने वीरतापूर्वक आत्म-रक्षा की और अंत तक प्रतिरोध को शिथिल न होने दिया। अंत में मुसलमानों ने दुर्ग में पाँच स्थानों पर सुरंगें बनाईं और बारूद से उड़ाकर रबी-उल्-अव्वल मास की समाप्ति से दस दिन पूर्व दुर्ग पर अधिकार कर लिया। ब्राह्मणों तथा अन्य सम्मानित व्यक्तियों का वध किया गया, स्त्रियों और बच्चों को दास बनाया गया तथा दुर्ग में प्राप्त संपत्ति का सेना में वितरण किया गया। दुर्ग में विश्वसनीय अधिकारी नियुक्त कर सुल्तान ने दिल्ली के समीपवर्ती नगर सोनपत[६] की ओर प्रस्थान किया।

---

६. यह नगर दिल्ली के उत्तर में स्थित है।
(ताइफेन्थालेर, १, पृ० १३३)।

स्थानीय शासक आक्रांता का कोई विरोध न कर, अपनी संपत्ति छोड़कर वन में भाग गया। मुसलमानों ने उसकी संपत्ति हस्तगत कर ली। विजयी सुल्तान गजनी लौट आया और जमाद-उल्-अव्वल मास की ३ ता० को नव-वर्ष का समारोह मनाया। बहुत बड़े सहभोज का आयोजन किया गया और सुल्तान ने इतनी अधिक मात्रा में सुरा पान किया कि भारत-निवास के समय अनिच्छापूर्वक ग्रहण किये गये सुरा-त्याग के व्रत की सारी कमी पूरी हो गई।

भारतीय अभियान सुल्तान की बहुत बड़ी भूल सिद्ध हुआ। उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर सलजूक तुर्कों ने उसकी राज्य सीमा पर प्रबल वेग से आक्रमण कर दिये थे।[७] १०३२ ई० में तुर्की सेनापति अलप्तगीन द्वारा गजनी के सेना-नायक इल्तुतमिश के पराजित हो जाने पर इनके साथ की गई संधि अस्थाई सिद्ध हुई। वह गजनी-साम्राज्य के प्रांतों को आक्रांत करते रहे और जब बल्ख निवासियों ने इन आक्रामकों के अत्याचारों से त्राण करने की प्रार्थना की तो मसऊद ने इन आक्रांताओं के प्रतिरोध के लिए ससैन्य प्रयाण करने का निश्चय कर लिया। इसी बीच सलजूक-जातीय तुगरिलबेग ने गजनी पर आक्रमण कर नगर का कुछ भाग लूट लिया; उसने १०३७ ई० में निशापुर पर अधिकार कर लिया, खुरासान पर भी आधिपत्य स्थापित कर लिया और सलजूक-वंश की नींव डाल दी। एक वर्ष उपरांत जब तुर्क सेनापति ने वादर्विद और तेदजेन पर आक्रमण कर दिया, तब मसऊद को इस आपत्ति का पूर्ण अनुभव होने लगा और एक विशाल सेना लेकर उसने आक्रामक के विरुद्ध अभियान किया, परन्तु २३ मार्च १०४०

---

७. इनकी शक्ति की स्थापना करनेवाला सलजूक का पिता लुकाक था, जो तुर्किस्तान को छोड़कर ट्रांसोक्सियाना में बस गया था और इस्लाम ग्रहण कर लिया था। उसने तथा उसके उत्तराधिकारियों ने महमूद को बहुत तंग किया और उसकी मृत्यु के बाद खुरासान पर अधिकार जमा लिया, परन्तु वे शीघ्र ही खदेड़ दिये गये। मसऊद के सिंहासन पर बैठते ही गज ने खुरासान पर आक्रमण कर दिया और साम्राज्य के विभिन्न भागों में विद्रोह होने लगे परन्तु उसने साहस से काम लिया और भारत से लाई गई विशाल सेना की सहायता से गज को तुस और निशापुर से हटा दिया और तबरिस्तान पर पुनः अधिकार कर लिया। परन्तु १०३७ ई० में तुगरिल बेग ने खुरासान पर अधिकार कर सलजूकवंश के आधिपत्य की स्थापना की।

ई० में तुर्कों ने मर्व के समीप दन्दान्कन[८] के स्थान पर उसको पूर्णतः पराभूत कर दिया। इस पूर्ण पराजय का गजनी साम्राज्य के भविष्य पर गंभीर प्रभाव पड़ा। तीन वर्ष पश्चात् मसऊद के पुत्र मादूद ने सलजूक तुर्कों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयास किया, परन्तु वह भी पराजित हुआ और अब खुरासान में सलजूक-वंश की शक्ति दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गई। गजनी-वंश के अधीनस्थ पश्चिमी प्रदेश उनके अधिकार से निकलने लगे और अब उनको भारत की ओर अपनी शक्ति केन्द्रित करनी पड़ी।

मसऊद का भारत की ओर पलायन—अत्यंत भय-संत्रस्त सुल्तान ने भारत-यात्रा की तैयारी करने की आज्ञा दी। 'हरम' की रमणियों को अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को बाँधने के लिए कहा गया और प्रासाद की संपत्ति भारत भेजे जाने के लिए एकत्र की जाने लगी। वृद्ध मंत्री ने सुल्तान से गजनी को न छोड़ने की प्रार्थना की और समझाया कि उसके इस प्रकार शीघ्रता में भारत की ओर चले जाने से साम्राज्य पर विपत्तियाँ टूट पड़ने का भय है, परंतु मसऊद ने उसकी बुद्धिमत्तापूर्ण मंत्रणा पर कुछ भी ध्यान न दिया। मंत्री ने उसका ध्यान उसके पिछले दुराग्रह के दुष्परिणाम की ओर आकर्षित किया, परंतु इस सत्परामर्श का मंत्री को यह उत्तर मिला कि बुढ़ापे के कारण उसकी बुद्धि सठिया गई है और वह बच्चों जैसी मूर्खतापूर्ण बातें कर रहा है। सुल्तान ने अपने परिजनों तथा अनुचरों सहित भारत की ओर प्रस्थान कर दिया, परन्तु जब वह मारीगलाह[९] नामक स्थान पर पहुँचा, तो उसके हिंदू और तुर्क दासों ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने सुल्तान को बंदी बनाकर उसके भाई मुहम्मद को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया, जिसको अंधा बनाकर मसऊद स्वयं सिंहासनारूढ़ हुआ था। इस राजकीय बंदी को बाद में गिरि नामक दुर्ग में ले जाकर हिजरी सन्

---

८. अबुलफिदा ने दन्दान्कन के विषय में लिखा है कि यह खुरासान का एक-छोटा सा नगर है और सूती वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध है। इस युद्ध की तिथि के विषय में अधिकारी विद्वानों में मतभेद है। साधारणतया तीन तिथियाँ दी गई हैं—हिजरी सन् ४३०, ४३१ और ४३२। 'हबीब-उस्-सियर' में १०४० ई० का समर्थन प्रतीत होता है। (इलियट, ४, पृ० १९८; ब्रिग्स १, पृ० ११०; रैवर्टी, तबकात-ए-नासिरी, १, पृ० ९२)।

९. यह रावलपिण्डी व अटक के मध्य, हसनअब्दाल से कुछ मील पूर्व की ओर स्थित एक दर्रा है। इसके आसपास की पहाड़ियों में डाकुओं के दल बसते थे, जो यात्रियों तथा व्यापारियों के दल के इस दर्रे पर आने पर उन पर आक्रमण कर लूट लेते थे।

४३३ (१०४१ ई०) में मार डाला गया।[10] इस प्रकार वधिकों के निर्दय हाथों से उस शासक का अंत हुआ जिसको फरिश्ता ने लिखा है कि "वह असाधारण शारीरिक शक्ति एवं साहस-संपन्न, स्नेहपूर्ण और सुगम्य तथा अतिशय उदार-हृदय शासक था और विद्वानों के प्रति तो इतना अधिक कृपालु था तथा उनके साहचर्य का इतना अभिलाषी था कि कोने कोने से विद्वानों को बल दे देकर उसकी राजसभा में लाया जाता था।" मसऊद ने अपने पिता के समान विद्वानों का सदैव संरक्षण किया, मस्जिदें बनवाईं और अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न नगरों में स्थापित पाठशालाओं तथा विद्यापीठों को दान दिया।[11] उसमें राजाओं का सा प्रभाव बहुत अधिक मात्रा में था; उसकी इच्छा-शक्ति प्रबल थी, उसकी सेना विशाल थी, उसके मंत्री कार्यकुशल थे और सभी प्रकार की राजोचित वस्तुएँ उसको सुलभ थीं। लेकिन भाग्य के अमिट लेख को विफल करने में यह समस्त वैभव असमर्थ था। गजनी-साम्राज्य के ऐश्वर्यपूर्ण काल तथा विपन्नावस्था दोनों का ही पर्यवेक्षक बैहाकी को भाग्यवादी के से बुझे स्वर में कहना ही पड़ा; "भाग्य के विरुद्ध संघर्ष करने की शक्ति मनुष्य में नहीं है।"

मसऊद के निर्बल उत्तराधिकारी तथा सलजूक तुर्कों का उत्कर्ष—बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि मसऊद का भय निराधार था और उसका भारत-गमन महान् मूर्खतापूर्ण कार्य था। तुर्कों का ध्यान फारस तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों की ओर लगा हुआ था और गजनी की ओर ध्यान देने का उन्हें थोड़ा भी अवकाश न था। मसऊद की मृत्यु के

---

१०. 'तबकात-ए-नासिरी' में मसऊद की मृत्यु का काल हिजरी सन् ४३२ दिया है। परन्तु विदित होता है कि हिजरी सन् ४३३ के जमाद-उल्-अव्वल मास की ११ ता० तक उसका वध न किया गया था और इस तिथि को अंधे मुहम्मद के पुत्र अहमद ने उसका वध किया। कहा जाता है कि मुहम्मद को इस षड्यन्त्र का बाद में पता चला और तब उसने इस अपराध में भाग लेनेवालों की खूब भर्त्सना की।

ख्वांदमीर ने इस घटना की तिथि हिजरी सन् ४३३ (१०४१-४२ ई०) दी है (हबीब-उस्-सियर, इलियट, ४, पृ० १९८)।

११. ख्वांदमीर ने मसऊद को "विद्वानों का संरक्षक" कहा है। उसने बहुत से विद्वानों का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने ग्रंथ उसको समर्पित किये। इस काल के जिन ग्रंथों का उल्लेख किया गया है, वह हैं आबू रिहान लिखित ज्योतिष विषयक ग्रंथ 'तफ्हीम-उत-तन्जीम', इसी लेखक का 'कानून-ए-मसऊदी' तथा आबू मुहम्मद नैसी द्वारा लिखित कानून-विषयक ग्रंथ "किताब-ए-मसऊदी"।

पश्चात् उसके पुत्र मादूद ने शासन-सूत्र सँभाला, परन्तु इससे पूर्व उसको अपने चचा मुहम्मद से युद्ध करना पड़ा; जिसको पराजित कर उसने अपने पिता के वध का प्रतिशोध किया। उस नृशंस कार्य में भाग लेनेवाले मुहम्मद के सभी सहयोगियों का निर्दयतापूर्वक वध कर मादूद ने अपने दिवंगत पिता के प्रति संतानोचित कर्त्तव्य का पालन किया। उसके बाद निर्बल शासकों की परंपरा ने शासन-भार सँभाला, परन्तु उनके शासन-काल में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। सलजूकों के आक्रमण होते रहे और गजनी-साम्राज्य से अनेक प्रदेश निकल गये। परंतु हिजरी सन् ४५१ (१०५९ ई०) में इब्राहीम के सिंहासनासीन होने पर साम्राज्य की दशा में पर्याप्त सुधार हुआ। उसने शासन-तंत्र में नवीन शक्ति का संचार किया तथा विद्रोही जातियों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। १०७९ ई० में उसने शकरगंज के शेख फरीद के दुर्ग अजोधन (वर्तमान पाकपाटन) पर अधिकार कर लिया और तत्पश्चात् रूपल दुर्ग को भी हस्तगत कर लिया। काजी मिनहाज लिखता है:— "परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव तथा अनवरत युद्धों के कारण साम्राज्य में जो उत्पात तथा अव्यवस्था प्रारंभ हो गई थी, वह सब इसके शासन-काल में दूर कर दी गई और महान् महमूद के साम्राज्य के कार्यों में एक नवीन शक्ति का संचार हो गया।" हिजरी सन् ४९२ (१०९८ ई०) में इब्राहीम की मृत्यु के पश्चात् अलाउद्दीन मसऊद सिंहासनारूढ़ हुआ। तुर्कों के भय से उसने सुलतान सन्जर की बहन तुर्की राजकुमारी से विवाह कर लिया। यह गजनी-वंश की शक्ति के ह्रास का स्पष्ट लक्षण था। गंगा-तटवर्ती प्रदेश पर अभियान तथा गोर प्रदेश के शासन के लिए साम के पुत्र हुसेन की नियुक्ति (इससे विदित होता है गोर प्रदेश अभी तक गजनी-साम्राज्य में सम्मिलित था) इस शासक के शासन-काल की प्रमुख घटनाएं हैं। कुछ वर्षों के बाद अपने भाइयों का रक्त बहाकर (जिनमें से अकेला बहराम ही बच पाया) मलिक अर्सलान शासक बना। अर्सलान ने अपनी विमाता के साथ अपमानपूर्ण व्यवहार किया[12] और उसके इस दुर्व्यवहार से क्रुद्ध होकर उसकी विमाता के भाई सन्जर ने सिंहासन के लिए अर्सलान के प्रतिद्वंद्वी बहराम का पक्ष-समर्थन किया। सन्जर ने विशाल सेना लेकर गजनी पर आक्रमण कर अर्सलान को पूर्णतः पराजित कर दिया। अपमान और मृत्यु से बचने के लिए वह हिन्दुस्तान भाग आया और यहीं हिजरी सन् ५११ (१११७ ई०) में बहुत विपन्नावस्था में उसकी मृत्यु

१२. कहा जाता है कि उसने अपनी सौतेली माँ से आग्रह किया कि वह उसके सामने नृत्य करे। यह अपमान सन्जर को सहन न हो सका और उसने बहराम का पक्ष ग्रहण किया।

हुई।[13] इस प्रकार गजनी के शासन में सलजूक-वंश का प्रभाव स्थापित हो गया और क्योंकि वहराम सन्जर की सहायता से ही सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो सका था अतः सन्जर का गजनी के शासन में प्रमुख हाथ होना स्वाभाविक ही था। वहराम योग्य एवं शक्तिशाली शासक था; उसने विद्रोही सामंत मुहम्मद वहलीम का दमन करने के लिए भारत में अनेक आक्रमण किये तथा मुहम्मद को पराजित कर उसके सब पुत्रों तथा अनुचरों को वंदी वना लिया।[14]

सलजूकों ने गजनी में अपना प्रभाव अवश्य बढा लिया था, परन्तु इस हिन्दूकुश-प्रदेश में स्थायी रूप से टिकने का उन्होंने कभी विचार न किया था। खुरासान की हरी-भरी धरती उनको अफगानिस्तान के पर्वतीय प्रदेश से वहुत अधिक प्रिय थी और वे सदैव पश्चिमी प्रदेशों की ओर लौट जाने के लिए उत्कण्ठित रहते थे। यद्यपि भारतीय प्रदेश गजनी-साम्राज्य में कभी भी पूर्णतया विलीन न हो पाये, परंतु वहाँ की स्थिति शांतिपूर्ण थी और वहलीम के विद्रोह का दमन कर वहराम ने पुनः इन प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। पंजाव तथा मुलतान प्रदेश पूर्णतः विजित किये गये थे और उन पर गजनी-साम्राज्य का अधिकार दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गया था। १०४३ ई० में जिस प्रकार हिन्दुओ ने मुसलमानो के विरुद्ध सघ बनाकर लाहौर पर घेरा डाला था उसी प्रकार अव भी वे प्रयत्न करते रहते थे। परन्तु उनके प्रयत्न सदैव विफल हुए और प्रत्येक बार मुसलमान सेनाओं ने उन पर विजय प्राप्त की। पुन. हिन्दू-विद्रोह उठ खडा होने का अभी कोई भय न था और पजाव को अधीन रखने में गजनी-शासक को किसी कठिनाई का अनुभव न हो रहा था।

यदि गजनी और हिरात के मध्य मे स्थित छोटे से पर्वतीय प्रदेश गोर के शान्सवानियों के साथ वहराम झगडों में न फँसता तो उसका शासन-काल वहुत गौरवपूर्ण रहा होता। निर्भीक तथा युद्ध-प्रिय शान्सवानी जाति इस पर्वतीय प्रदेश में वस गई थी और उसने सूरी-वंश के सरदार का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था। महमूद के व्यक्तित्त्व से आकर्षित होकर, इस महान् नेता के प्रति भक्ति से प्रेरित इन लोगों ने उसकी ध्वजा के नीचे दूर-

---

१३. मुहम्मद वहलीम को अर्सलान ने पजाव का प्रतिनिधि शासक (वाइसराय) नियुक्त किया था।

१४. मिनहाज तथा फिरिश्ता ने लिखा है कि सन्जर ने ४० दिन तक गजनी में निवास किया, परंतु उसके पीठ फेरते ही अर्सलान ने पुनः अपनी राजधानी को हस्तगत करने का प्रयत्न किया। सन्जर पुनः स्वयं रण-क्षेत्र में उपस्थित हुआ और उसने अर्सलान को गजनी से निकाल दिया।

दूर के विपत्ति-सकुल प्रदेशों में युद्ध किये थे। परन्तु जब गजनी का शासन-सूत्र महमूद के शक्तिहीन उत्तराधिकारियोंके हाथ में आया, तब इन लोगों का सम्मान कुछ भी न रह गया। इन युद्ध प्रियपर्वतवासियों को तो साहसपूर्ण तथा पराक्रम-प्रदर्शन का अवसर देनेवाले सैनिक-अभियानों में संलग्न रखकर ही नियन्त्रण में रखा जा सकता था और इनको वशीभूत करने में युद्ध-नायक के गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही समर्थ हो सकता था। अतः महमूद के निर्बल उत्तराधिकारी इनको प्रभावित न कर सके। बहराम के आदेश से एक सूरी-वंशीय राजकुमार के वध के कारण तो स्थिति ने उग्र रूप धारण कर लिया। इस निर्दय वध से उनमें रोष फैल गया और अपने सरदार के वध का प्रतिशोध करने के लिए उन्होंने शस्त्र सँभाल लिये। मारे गये सूरी सरदार के भाई सैफुद्दीन सूरी ने गजनी पर आक्रमण कर दिया और ११४८ ई० में उसको हस्तगत कर लिया। बहराम को अपने राज्य से निर्वासित किया गया, परन्तु एक षड्यन्त्र रचकर उसने शीघ्र ही अपना खोया अधिकार पुनः प्राप्त कर लिया। विजयोल्लास के साथ उसने पुनः राजधानी में प्रवेश किया और सैफुद्दीन को परास्त कर सारे नगर में घुमाने के बाद तलवार के घाट उतार दिया।

इस नृशंस हत्या का विनाशकारी परिणाम हुआ। वध किये गये सरदार का छोटा भाई अलाउद्दीन हुसैन, जिसका उपनाम 'जहाँ-सोज' (विश्व को भस्म करनेवाला) था, इस हत्या का समाचार पाकर क्रोध से उबल पड़ा और उसने गजनी के राज-वंश का रक्त बहाकर अपने भाई के रक्त का प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की। विशाल सेना के साथ उसने गजनी पर आक्रमण किया। बहराम शाह ने अपनी सेनाओं को एकत्रित कर प्रतिरोध किया, परन्तु सूरी के हाथों पराजित हुआ और उसका पुत्र दौलत शाह समरभूमि में धराशायी हुआ। विजयोन्मत्त अलाउद्दीन ने गजनी नगर पर अधिकार कर लिया। उसने नगर के सुन्दरतम भवनों को, जो महमूद की महानता तथा वैभव के स्मारक थे, भूमिसात कर दिया, और इस नगर में इस गोरी-सरदार के सात दिनों के निवास-काल में "धुएँ की कालिख से सनी हुई हवा के कारण (नगर में दिन में भी) रात छाई रही; और रातें नगर में उठनेवाली अग्नि-शिखाओं के कारण दिन के समान प्रदीप्त होती रहीं। लूटपाट तथा हत्याकाण्ड भीषणतम कठोरता एवं प्रतिशोधपूर्ण भावना के साथ अनवरत चलते रहे और स्त्रियों, बच्चों तथा पुरुषों को या तो सदैव के लिए समाप्त किया गया, या दास बना लिया गया। महमूद, प्रथम मसऊद तथा इब्राहीम को छोड़कर गजनी-वंश के अन्य सभी शासकों के शवों को कब्रों से निकालकर अपमानित किया गया और तत्पश्चात् भस्म कर दिया गया। प्रतिशोध की भावना को तृप्त

कर अलाउद्दीन गोर लौट गया और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगा। वह सुल्तान सन्जर के प्रति भी शत्रुता का भाव प्रदर्शित करने लगा, जिससे क्रुद्ध होकर सन्जर ने विशाल सेना-सहित उस पर आक्रमण कर उसको बंदी बना लिया। कुछ समय पश्चात् उसको मुक्त कर गोर जाने की आज्ञा दे दी गई और पुन. पूर्व-पद पर प्रतिष्ठित किया गया। गज तुर्कमानों ने अफगानिस्तान में विनाश फैलाते हुए गोर और गजनी वंश के शासन को कुछ काल के लिए समाप्त कर दिया। इसी अराजकता के काल (११६१ ई०) में अलाउद्दीन का देहान्त हो गया।

गजनी पर अलाउद्दीन के आक्रमण के समय बहराम हिन्दुस्तान की ओर भाग गया था और मार्ग में उसका देहान्त हो गया था। तत्पश्चात् उसका पुत्र खुसरो मलिक सत्तारूढ हुआ, जिसका सिंहासनारोहण लाहौर में सम्पन्न हुआ। वह विलासी युवक था। उसमें न शासन की योग्यता थी और न प्रबल इच्छा-शक्ति ही थी; अतः उसके शासन-काल में विघटन के तत्त्व द्विगुणित प्रबलता से प्रकट होने लगे। शासन-तंत्र अव्यवस्थित हो गया और अमीर तथा निम्न-पदस्थ कर्मचारी भी स्वेच्छाचारी हो गये। सुल्तान स्थिति को सँभाल न सका और राजधानी तथा अधीन-प्रांतो में भी उसके आदेश उपेक्षित होने लगे। विषयासक्त खुसरो मलिक ने गोर-आक्रमण से भी अपनी रक्षा का कोई उपाय न किया। गजनी का पतन तथा गोरी-वंश का उत्थान होने लगा। ११६३ ई० में अलाउद्दीन जहाँ-सोज के पुत्र की मृत्यु के उपरांत उसका भतीजा गियासुद्दीन बिन साम गोर-प्रदेश का शासक बना। उसने गुज-जाति के लोगो से युद्ध किया, गजनी को अधीन कर अपने भाई मुईजुद्दीन को जो इतिहास में मुहम्मद गोरी के नाम से विख्यात है वहाँ का शासन सौंप दिया। गियास अपने जन्म-स्थान फीरूजकोह के ही शासन तक संतुष्ट रहा। स्वभाव से ही युद्ध एवं साहसिक कार्यो में रुचि रखनेवाले मुईजुद्दीन ने गजनी को आक्रांत किया तथा हिन्दुस्तान पर अनेक बार आक्रमण किये। हिजरी सन् ५७७ (११८१ ई०) में वह लाहौर में आ धमका और उसने खुसरो मलिक को संधि करने के लिए बाध्य कर दिया तथा उसके चतुर्वर्षीय पुत्र को संधि में दिये गये वचनों के पालन की प्रतीति के लिए अपने पास रख लिया। इतने से ही उसकी उच्चाकांक्षाएँ तृप्त न हुई। वह फिर आ पहुँचा और लाहौर पर घेरा डाल दिया। सारे प्रदेश को पददलित करते हुए उसने स्यालकोट के दुर्ग पर अधिकार कर वहाँ अपनी सेना नियुक्त कर दी। ११८६ ई० में उसने पुनः लाहौर पर आक्रमण किया। सम्मान तथा उदारता की उदात्त भावनाओं से यह बर्बर कोसों दूर थे। इसलिए शत्रु को समाप्त करने

के लिए अनुचित उपायों से काम लेने में गोरी ने कुछ भी संकोच न किया। झूठे वचन एवं आश्वासन देकर खुसरो मलिक को दुर्ग से बाहर आने के लिए तैयार किया गया[15] और जैसे ही वह बाहर आया उसको बंदी कर लिया गया। तदुपरांत उसको गजनी भेजा गया और वहाँ से भी हटाकर फीरूजकोह ले जाया गया। वहाँ गियास ने उसको गुर्जिस्तान जिले में स्थित बालाखान के दुर्ग में बंदी कर दिया और वहीं कुछ वर्षों के बाद, स्यात् हिजरी सन् ५९८ (१२०१ ई०) में मार डाला गया। उसके पुत्र बहराम शाह का अत भी इसी प्रकार से हुआ और उसके साथ सुबुक्तगीन के वंश की असम्मानपूर्ण समाप्ति हो गई। गजनी में शासक-वंश में महान् परिवर्तन हुआ और "ईरान का प्रभुत्व, हिन्दुस्तान का सिंहासन तथा खुरासान का प्रदेश शान्सवानी वंश के मलिकों तथा सुल्तानों के अधिकार में आ गये।"

साम्राज्य की समाप्ति—इस प्रकार दो शताब्दियों में ही गजनी साम्राज्य इतिहास से लुप्त हो गया। सैनिक-शक्ति पर आश्रित साम्राज्य योग्य तथा रण-निपुण शासकों के अभाव में अधिक समय तक नहीं चल सकता था। महमूद यद्यपि बहुत निपुण युद्ध-नेता था परन्तु उसने अपने विशाल साम्राज्य के सुचारु शासन के लिए न इस कार्य में समर्थ संस्थाएँ स्थापित की थीं और न ऐसे नियम ही बनाये थे। साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों को एक सूत्र में बाँधने के लिए कोई सिद्धांत निर्धारित नहीं किये गये थे। साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों में तो बाह्य आक्रमणों से धन-जीवन की रक्षा की भी कोई समुचित व्यवस्था न थी, जैसा कि महमूद को विजित प्रदेशों में सुव्यवस्थित शासन स्थापित न कर सकने के लिए वाचाल बुढ़िया द्वारा किये गये व्यंगों की कथा से प्रकट होता है। उसके द्वारा भारत से लाई गई विपुल सम्पत्ति ने विलासिता को खूब प्रोत्साहित किया था; अतः उसके उत्तराधिकारियों का नैतिक पतन होने लगा था। ऐसे शक्तिहीन शासक उन उद्दण्ड जातियों को नियन्त्रण में रखने के सर्वथा अयोग्य थे, जिन पर महमूद ने शासन स्थापित किया था। मरुभूमि तथा पर्वतीय प्रदेशों में और दूर-दूर के कष्टमय अभियानों

---

१५. निम्न शब्दों में फिरिश्ता ने इस चाल-पूर्ण युक्ति का वर्णन किया है—मुईजुद्दीन ने खुसरो मलिक को सूचित किया कि वह आपस में शान्तिपूर्ण व्यवहार स्थापित करना चाहता है। अपने वचन की सचाई के हेतु उसने अपने सामन्तों के साथ खुसरो के पुत्र को वापिस कर दिया। खुसरो अपने पुत्र से मिलने के लिए आगे बढ़ कर आया और अचानक ही गोरी घुड़सवारों ने रात में उसे घेर लिया। प्रातः जब सुल्तान सोकर उठा तो उसने अपने को बन्दी पाया। मुईजुद्दीन ने लाहौर की माँग की। इस माँग की पूर्ति हुई और उसने नगर में प्रवेश किया। (ब्रिग्स, १, पृ० १५८-५९)

में महमूद का अनुगमन करनेवाले शौर्यसम्पन्न सरदार भोग-विलासों में निमग्न रहने के कारण सामरिक-उत्साह-विहीन इन निर्बल शासकों के प्रति भक्तिभाव कैसे रख सकते थे? सल्जुक तुर्कों के आक्रमणों का वेग बढ़ता गया; साम्राज्य के अमीर तथा कर्मचारी राजाज्ञा की अवहेलना करने लगे और जैसे ही शासन-तंत्र की अशक्तता प्रकट होने लगी साम्राज्य के विभिन्न भागों में उपद्रव होने लगे। तुर्क गजनी-साम्राज्य के प्रदेशों में अपना अधिकाधिक प्रभाव-विस्तार करते रहे और गजनी के शासक उनकी बढ़ती हुई शक्ति का दमन न कर सके। तुगरिल और सन्जर जैसे शक्तिशाली योद्धाओं के सामने गजनी के निःसत्व शासकों की एक न चली। यह ववंडर के समान आते थे और धृष्टता एवं शक्ति से शत्रुओं को प्रभावित तथा परास्त कर देते थे। जब यह अव्यवस्था हिन्दूकुश से आगे भी बढ़ने लगी तो हिन्दुस्तान का असंतोष भी दबा न रह सका। वस्तुतः उस समय गजनी से हिन्दुस्तान का सफलता-पूर्वक नियन्त्रण कर सकना असंभव था। हिन्दुस्तान की समस्या ने गजनी के शासकों को सदैव चिंतित रखा, परन्तु अनेक आपत्तियों से घिर जाने के कारण वह हिन्दुस्तान की समस्याओं का उचित समाधान न कर पाये। गजनी-वंश का स्थान ग्रहण करनेवाले गोर के सरदार इनसे सर्वथा भिन्न प्रकृति के थे। समर-भूमि के कष्टमय कर्तव्यों के समुचित पालन के अभ्यस्त होने के कारण वह दुर्धर्ष तुर्कों का नेतृत्व तथा शासन करने के अधिक योग्य थे। आत्मप्रतिष्ठा के उन्नयन के लिए अपने पराक्रम तथा पौरुष का प्रयोग करना वह भली भाँति जानते थे। मुहम्मद गोरी अपने सजातियों में सबसे प्रबल था, जिसने अपनी मातृभूमि में प्रतिद्वन्द्वियों को समाप्त कर, हिन्दुस्तान की विजय का प्रयत्न किया तथा वहाँ के राजाओं तथा प्रजाजनों पर अपना अधिकार जमाया।

अध्याय ५

भारत पर विजय तथा दास-वंश का अभ्युदय

मुहम्मद के भारतीय अभियान—मुसलमानों द्वारा शासित भारतीय प्रदेशों को हस्तगत करने में मुहम्मद गोरी को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। उच्छ के भट्टी राजपूतों पर उसने सरलतापूर्वक विजय प्राप्त कर ली थी, क्योंकि उनकी नीच एव विश्वासघाती रानी ने अपने पति की हत्या कर इस विदेशी आक्रांता का मार्ग निष्कंटक कर दिया था।[1] हिजरी सन् ५७० में उसने उदार-पंथी करमतों से मुलतान छीन लिया था। तत्पश्चात् मुहम्मद ने उच्छ और मुलतान के मार्ग से होते हुए नेहरवाल के राजा पर आक्रमण किया, परन्तु अनुभवहीन होते हुए भी युवक राजा ने उसको परास्त कर लौट जाने के लिए विवश कर दिया। इसके बाद उसने पेशावर को हस्तगत किया तथा देवल और समुद्र-तट पर्यन्त समस्त सिंध-प्रदेश पर अधिकार स्थापित किया। इन विजयों से उसको अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई। तत्पश्चात् उसने लाहौर की ओर ध्यान दिया। खुसरो मलिक की सेनाओं ने प्राणों का मोह त्याग कर प्रतिरोध किया और आक्रांता के प्रयत्नों को सफल न होने दिया। मुहम्मद को खुसरो के साथ संधि करनी पड़ी और

---

१. मुहम्मद गोरी ने राजा को दुर्ग में घर लिया था, परन्तु दुर्ग को आसानी से अधिकार में आते न देखकर उसने रानी को संदेश भेजा कि यदि वह अपने पति को उसके हाथ सौंप दे तो वह उससे (रानी से) विवाह कर लेगा। रानी ने उत्तर भेजा कि वह स्वयं विवाह के योग्य अवस्था की नहीं है, परन्तु यदि सुलतान उसकी पुत्री से विवाह करना स्वीकार करे और राज्य की सम्पत्ति पर उसका अधिकार रहने दे तो वह थोड़े दिनों में अपने पति को उसके मार्ग से दूर कर देने के लिए प्रस्तुत है। सुल्तान ने यह बात स्वीकार कर ली और रानी ने कुछ दिनों बाद अपने पति का प्राणहरण कर शत्रु के लिए दुर्ग के द्वार खोल दिये। मुहम्मद ने अपने वचनों का पालन नहीं किया। उसने रानी की कन्या से तो विवाह कर लिया, परन्तु रानी को गजनी भेज दिया, जहाँ वह निराशा तथा दुःखों से तड़प-तड़प कर मर गई। उसकी पुत्री भी अधिक समय तक दुःख सहन न कर सकी और दो वर्ष बाद ही चल बसी।

यह फिरिश्ता द्वारा वर्णित कथा है। इस कथा की सत्यता को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका समर्थन कहीं नहीं मिलता। (ब्रिग्ग, १, पृ० १६९-७०)।

स्यालकोट के दुर्ग[२] को ससैन्य छोड़कर वह गजनी लौट गया। मुहम्मद के लौट जाने पर खुसरो मलिक ने खोखरों की सहायता से इस दुर्ग पर आक्रमण किया, परन्तु इस पर अधिकार न कर सका।[३] खुसरो मलिक के इस प्रयत्न का समाचार पाकर सुलतान मुहम्मद ने लाहौर पर पुनः आक्रमण किया और कूटनीतिक चालों से, जिनका पीछे वर्णन किया जा चुका है, ११८६ ई० में खुसरो मलिक को बन्दी बनाकर सुबुक्तगीन के वंश के शासन को सदा के लिए समाप्त कर दिया। इस प्रकार लाहौर पर विजेता का अधिकार हो गया और उसने इसकी शासन-व्यवस्था का भार मुलतान के शासन अली-ए-करमख को सौंप दिया और 'तबकात-ए-नासिरी' के लेखक के पिता को प्रधान न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया।

यद्यपि मुहम्मद ने भारत के मुसलमान-प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था, परन्तु इतने से ही उसको भारत का स्वामित्व नहीं मिल सकता था। देश के अन्तर्वर्ती भागों में सम्पत्ति एवं शक्ति-सम्पन्न राजपूत राज्य थे जो अपने राज्य की सीमा पर आक्रमण करनेवाले विदेशी आक्राता से लोहा लेने के लिए सदैव कटिबद्ध रहते थे। पराक्रम तथा वीरता के लिए विख्यात राजपूतों में अपने कुल तथा गौरव के अभिमान की भावना कूट-कूटकर भरी थी। गजनी और गोर के पर्वतीय प्रदेशों के निवासियों ने सलजूक तथा ट्रांसोक्सियाना की अन्य तुर्क जातियों से सफल युद्ध किये थे, परन्तु राजपूतों जैसे निर्भीक योद्धाओं से अभी उनका पाला न पड़ा था। युद्ध-प्रेम राजपूतों के रक्त के कण-कण में समाया हुआ था। युद्ध में ही उनका समग्र जीवन व्यतीत होता था और घोरतम संग्राम से भी मुँह मोड़ना या शस्त्र छोड़ना उनके

---

२. स्यालकोट के दुर्ग का जीर्णोद्धार कर, वहाँ सेना नियुक्त की गई। मेजर रेवर्टी ('तबकात-ए-नासिरी', १, पृ० ४५३ टिप्पणी ४) का कथन है कि फिरिश्ता ने मुईज़ुद्दीन को स्यालकोट दुर्ग का संस्थापक बताने में भूल की है। लेकिन मुझे फिरिश्ता के वर्णन में यह बात कहीं नहीं मिली। फिरिश्ता ने केवल दुर्ग के जीर्णोद्धार एवं वहाँ सेना की नियुक्ति का उल्लेख किया है।

३. खोखर जाति गक्कर जाति से सर्वथा भिन्न है। अबुलफजल ने 'आईने-अकबरी' में इन दोनों जातियों में भेद रखा है।

देखिए—'तबकात-ए-नासिरी', १, पृ० ४५५ पर रेवर्टी की टिप्पणी नं० ४।

फिरिश्ता का कथन है (ब्रिग्स, १, पृ० १७१) कि खुसरो मलिक ने इस दुर्ग पर पुनः अधिकार कर लिया था, परन्तु यह कथन अन्य इतिहासकारों के कथन के विरुद्ध है। 'तबकात-ए-नासिरी' के लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि खुसरो को अपने प्रयत्न में विफल होकर फिर लौट जाना पड़ा।

स्वभाव के विरुद्ध था। लेकिन सामंत-प्रथा के आधार पर आश्रित होने के कारण राजपूत-समाज में शक्ति एकसूत्र में बद्ध न हो पाई। इन राजपूत-राज्यों में राजा सर्व-नियन्ता होता था। राज्य अनेक छोटे-छोटे भागों में विभक्त होता था और प्रत्येक भाग एक जागीरदार के अधिकार में रहता था, जो आवश्यकता पड़ने पर राजा को सैनिक सहायता देता था। इन जागीरदारों की भी अनेक श्रेणियाँ थी और इनमे प्रभुत्व एव अधीनता का सबध विभिन्न सामाजिक श्रेणियों के अनुसार भूमि-स्वत्व के आधार पर निर्धारित होता था। राजपूतो की विभिन्न शाखाओ की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता एव लड़ाई-झगड़ो ने उनको कभी एक होकर शत्रु का सामना न करने दिया और आपस में ही उच्च-नीच के भेदभावों के कारण निम्न श्रेणी के राजपूत उच्च-श्रेणी के राजपूतों से कभी न मिल सके तथा निम्न-वर्ग के घरानो में जन्म लेने-वाले निपुण एवं कार्यकुशल व्यक्तियों को अपने में मिलाकर अपनी शक्ति बढाने से राजपूत सदैव दूर रहे। इसलिए केवल उच्च कुलोत्पन्न राजपूत ही जागीरदार हो सकते थे। इस प्रकार अभिजात कुलों के एकाधिकार की भावना ने सामंत-शाही को प्रश्रय दिया; जागीरें पैतृक हो गईं और जागीरदार स्वार्थ-परायण। राज-कर्मचारियों के पद भी पैतृक हो गये। परिणाम यह हुआ कि राज्य की व्यवस्था एवं रक्षा का कार्य केवल एक वर्ग तक ही सीमित हो गया और वह वर्ग भी धीरे-धीरे अपने कुलागत अधिकारों के लिए आग्रह-युक्त परन्तु कर्त्तव्यो के निर्वाह मे असमर्थ होता गया। ऐसी सामंत-प्रथा के आधार पर स्थित यह राजपूत-राज्य अधिक समय तक टिक न सकते थे; अत. यदि मुसलमान-आक्रमण के प्रथम आघात ने ही इनकी नीव हिला दी, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है।

अपनी सेनाओं को सुसंघटित कर मुहम्मद ने भारत के सीमावर्ती नगर सरहिन्द[४] पर आक्रमण कर इसको हस्तगत कर लिया। सामरिक दृष्टि से इस

---

४. सरहिन्द बहुत महत्त्वपूर्ण नगर है। मध्य-काल में इसका बहुत सामरिक महत्त्व था। (रेनेल, 'मेम्वायर ऑव ए मैप ऑव हिन्दुस्तान' पृ० ६७-६८)। फिरिश्ता ने इसका नाम भटिण्डा दिया है। 'तबकात-ए-नासिरी' मे इसको तबरहिन्द के नाम से लिखा गया है। (रेवर्टी—'तबकात', १, पृ० १७२-४५७)। परन्तु अन्य सभी लेखको ने इसका नाम सरहिन्द ही दिया है।

सरहिन्द नाम ही ठीक है। भटिण्डा थानेश्वर से लगभग १०० मील पश्चिम की ओर है। रेनेल के 'मेम्वायर ऑव ए मैप ऑव हिन्दुस्तान' के पृ० ६५ के सामने दिये हुए मानचित्र में देखने से स्पष्ट हो जाता है कि सरहिन्द पर ही आक्रमण किया गया था। सरहिन्द को तबरहिन्द भी कहा जाता था।

नगर का बहुत महत्त्व था। मुहम्मद गोरी के आगमन के समाचार से राजपूत राज्यों में हलचल मच गई और इस आक्रांता का प्रगति रोकने के लिए वे सन्नद्ध होने लगे। उत्तर-भारत में शासन करनेवाले राजपूत वंशों में प्रमुख थे—(१) गहरवार-वंश, जो बाद में कन्नौज के राठौर कहे जाने लगे, (२) दिल्ली[५] एवं अजमेर का चौहान-वंश, (३) बिहार और बंगाल के पाल एवं सेन-वंश, (४) गुजरात का बघेल-वंश, (५) जैजाकभुक्ति (वर्तमान बुंदेलखण्ड) का चंदेल-वंश। इन वंशों के अभ्युदय का वर्णन पहले अध्याय में किया जा चुका है। इनमें सर्वप्रधान थे दिल्ली और कन्नौज के राज-वंश जिनकी प्रतिद्वंद्विता की अग्नि ने समग्र भारत को तपा दिया था और दोनों में से किसी को भी विदेशी आक्रमणों का सफल प्रतिरोध करने में असमर्थ बना दिया था। दोआब प्रदेश के सबसे शक्तिशाली राज-वंश होने के कारण, इनको ही सर्वप्रथम मुसलमानों की शक्ति से लोहा लेना पड़ा और उनके आक्रमणों के आघातों को झेलना पड़ा।

दिल्ली तथा अजमेर के शासक, शौर्य एवं पराक्रम के लिए विख्यात पृथ्वीराज ने विशाल सेना लेकर जिसमें फिरिश्ता के कथनानुसार, २,००,००० अश्वारोही तथा ३००० गज थे, सहयोगी राजपूत-राजाओं के साथ गोरी सरदार का सामना करने के लिए प्रयाण किया और थानेश्वर से १४ मील की दूरी पर स्थित तराइन[६] नामक स्थान पर ११९१ ई० में मुसलमान सेना का सामना किया। कन्नौज का राठौर-नरेश जयचन्द ही एक ऐसा राजा था जो इस युद्ध से तटस्थ रहा। कारण यह था कि पृथ्वीराज ने उसकी कन्या का बलपूर्वक हरण कर उसको अपमानित किया था।[७] राठौर राजा ने इस कन्या-हरण को

---

५. दिल्ली की स्थापना ९९३-९४ ई० के लगभग हुई थी।

६. अधिकांश इतिहास-ग्रंथों में इस स्थान का नाम नराइन लिखा है, परन्तु यह नाम गलत है।

इस गाँव का नाम तराइन है। यह गाँव थानेश्वर तथा करनाल के बीच में स्थित है। सभवतः यह अशुद्धि फारसी-लिपि के कारण हो गई है। ब्रिग्स ने लिखा है कि इस स्थान का नाम तराइन है जो अब तरावरी के नाम से पुकारा जाता है (१, पृ० १७२)।

लेनपूल ने अशुद्धि से नराइन नाम लिखा है।

(मेडियवल इण्डिया, पृ० ५१)।

७. टॉड ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि जब पृथ्वीराज ने सिंहासनारोहण किया तो जयचन्द ने केवल उसका प्रभुत्व स्वीकार करने से ही इन्कार नहीं किया अपितु इस गौरव-शाली पद पर अपना अधिकार भी जताया। पाटन अनहिलवाड़ के शासकों तथा मंडौर के परिहारों ने भी जयचन्द के प्रभुत्व का समर्थन किया। टॉड का लिखना है कि पाटन तथा कन्नौज के शासकों

अपना घोर अपमान समझा और जब वीर चौहान नरेश मुसलमानों के आक्रमणों का सामना कर रहा था तो वह मन ही मन सन्तोष का अनुभव करते हुए मुहम्मद गोरी के हाथों अपने प्रतिद्वंद्वी की पराजय की कामना करने लगा। सुलतान ने अपनी सेना को दक्षिण, वाम तथा मध्य—तीन भागों में व्यवस्थित किया तथा स्वयं सेना के मध्य भाग में डट गया। राजपूतों ने मुसलमान सेना के पार्श्व भागों पर प्रचण्ड वेग से आक्रमण कर उनको चतुर्दिक तितर-बितर कर दिया। इस प्रकार अपनी सेना से बिलग होकर तथा चारों ओर दुर्दमनीय विरोधियों से घिरकर सुलतान ने स्वयं को घोर संकट में पड़ा हुआ पाया।

परन्तु ऐसे समय में भी सुलतान ने धैर्य न छोड़ा और आश्चर्यजनक साहस के साथ पृथ्वीराज के भाई गोविन्दराज के मुँह पर तलवार का वार कर उसका जबड़ा तोड़ दिया।[८] वीर राजपूत ने भी तत्क्षण प्रतिघात किया और अपने प्रबल विपक्षी की भुजा पर सशक्त आघात कर उसको आहत कर दिया। इस आघात से विचलित होकर सुलतान रणभूमि से मुड़ चला और घाव से रक्त का प्रवाह बह चला। उसकी शक्ति क्षीण हो गई और वह घोड़े से गिरने ही वाला था कि एक साहसी खिलजी योद्धा ने पीछे से उछलकर उसको अपनी भुजाओं में थाम लिया और उसको समरभूमि से बाहर ले गया।[९]

ने तातार सैनिकों को अपने यहाँ स्थान देने की भयंकर भूल भी कर डाली, जिससे गजनी के शासक को उनके आंतरिक झगड़ों से लाभ उठाने का सुयोग प्राप्त हो गया।

परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि जयचन्द ने मुहम्मद गोरी को भारत पर आक्रमण के लिए निमन्त्रित किया था। संभव है जयचन्द सारे हिन्दुस्तान का प्रभु बनने का अभिलाषी रहा हो और इस पद के लिए पृथ्वीराज के अधिकार को उसने चुनौती दी हो।

'टॉड्स एनेल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑव राजस्थान'—क्रुक सम्पादित १, पृ० २९९।

८. फिरिश्ता ने चंदराय नाम लिखा है और 'तबकात-ए-अकबरी' में खंदराय नाम दिया गया है; परन्तु 'तबकात' की प्राचीनतम उपलब्ध प्रतियों में गोविन्द नाम दिया है। हिन्दू चारण—चंद बरदाई ने इसका नाम राय गोविन्द बताया है और यही नाम ठीक भी है।

९. विभिन्न इतिहास-ग्रंथों में इस युद्ध का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया गया है। इन वर्णनों की अशुद्धियों पर विस्तृत विचार करना यहाँ अनावश्यक है। ऊपर दिया गया वर्णन रण-क्षेत्र में घटित घटनाओं का यथार्थ चित्रण है। हिन्दू-गाथाओं में भी ऐसा ही वर्णन है।

मिनहाज-उस्-सिराज ने अपने ग्रंथ ('तबकात' १, पृ० ४६०) में लिखा है—

नगर का बहुत महत्त्व था। मुहम्मद गोरी के आगमन के समाचार से राजपूत राज्यों में हलचल मच गई और इस आक्रांता का प्रगति रोकने के लिए वे सन्नद्ध होने लगे। उत्तर-भारत में शासन करनेवाले राजपूत वंशों में प्रमुख थे—(१) गहरवार-वंश, जो बाद में कन्नौज के राठौर कहे जाने लगे, (२) दिल्ली[५] एवं अजमेर का चौहान-वंश, (३) बिहार और बंगाल के पाल एवं सेन-वंश, (४) गुजरात का बघेल-वंश, (५) जैजाकभुक्ति (वर्तमान बुंदेलखण्ड) का चंदेल-वंश। इन वंशों के अभ्युदय का वर्णन पहले अध्याय में किया जा चुका है। इनमें सर्वप्रधान थे दिल्ली और कन्नौज के राज-वंश जिनकी प्रतिद्वंद्विता की अग्नि ने समग्र भारत को तपा दिया था और दोनों में से किसी को भी विदेशी आक्रमणों का सफल प्रतिरोध करने में असमर्थ बना दिया था। दोआब प्रदेश के सबसे शक्तिशाली राज-वंश होने के कारण, इनको ही सर्वप्रथम मुसलमानों की शक्ति से लोहा लेना पड़ा और उनके आक्रमणों के आघातों को झेलना पड़ा।

दिल्ली तथा अजमेर के शासक, शौर्य एवं पराक्रम के लिए विख्यात पृथ्वीराज ने विशाल सेना लेकर जिसमें फिरिश्ता के कथनानुसार, २,००,००० अश्वारोही तथा ३००० गज थे, सहयोगी राजपूत-राजाओं के साथ गोरी सरदार का सामना करने के लिए प्रयाण किया और थानेश्वर से १४ मील की दूरी पर स्थित तराइन[६] नामक स्थान पर ११९१ ई० में मुसलमान सेना का सामना किया। कन्नौज का राठौर-नरेश जयचन्द ही एक ऐसा राजा था जो इस युद्ध से तटस्थ रहा। कारण यह था कि पृथ्वीराज ने उसकी कन्या का बलपूर्वक हरण कर उसको अपमानित किया था।[७] राठौर राजा ने इस कन्या-हरण को

---

५. दिल्ली की स्थापना ९९३-९४ ई० के लगभग हुई थी।

६. अधिकांश इतिहास-ग्रंथों में इस स्थान का नाम नराइन लिखा है, परन्तु यह नाम गलत है।

इस गाँव का नाम तराइन है। यह गाँव थानेश्वर तथा करनाल के बीच में स्थित है। संभवतः यह अशुद्धि फारसी-लिपि के कारण हो गई है। ब्रिग्स ने लिखा है कि इस स्थान का नाम तराइन है जो अब तरावरी के नाम से पुकारा जाता है (१, पृ० १७२)।

लेनपूल ने अशुद्धि से नराइन नाम लिखा है।

(मेडियवल इण्डिया, पृ० ५१)।

७. टॉड ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि जब पृथ्वीराज ने सिंहासनारोहण किया तो जयचन्द ने केवल उसका प्रभुत्व स्वीकार करने से ही इन्कार नहीं किया अपितु इस गौरव-शाली पद पर अपना अधिकार भी जताया। पाटन अनहिलवाड़ के शासकों तथा मंडौर के परिहारों ने भी जयचन्द के प्रभुत्व का समर्थन किया। टॉड का लिखना है कि पाटन तथा कन्नौज के शासकों

अपना घोर अपमान समझा और जब वीर चौहान नरेश मुसलमानों के आक्रमणों का सामना कर रहा था तो वह मन ही मन सतोष का अनुभव करते हुए मुहम्मद गोरी के हाथों अपने प्रतिद्वंद्वी की पराजय की कामना करने लगा। सुल्तान ने अपनी सेना को दक्षिण, वाम तथा मध्य—तीन भागों में व्यवस्थित किया तथा स्वय सेना के मध्य भाग में डट गया। राजपूतों ने मुसलमान सेना के पार्श्व भागों पर प्रचण्ड वेग से आक्रमण कर उनको चतुर्दिक तितर-बितर कर दिया। इस प्रकार अपनी सेना से विलग होकर तथा चारों ओर दुर्दमनीय विपक्षियों से घिरकर सुल्तान ने स्वयं को घोर सकट में पड़ा हुआ पाया।

परन्तु ऐसे समय में भी सुल्तान ने धैर्य न छोड़ा और आश्चर्यजनक साहस के साथ पृथ्वीराज के भाई गोविन्दराज के मुँह पर तलवार का वार कर उसका जबड़ा तोड़ दिया।[8] वीर राजपूत ने भी तत्क्षण प्रतिघात किया और अपने प्रबल विपक्षी की भुजा पर सशक्त आघात कर उसको आहत कर दिया। इस आघात से विचलित होकर सुल्तान रणभूमि से मुड़ चला और घाव से रक्त का प्रवाह बह चला। उसकी शक्ति क्षीण हो गई और वह घोड़े से गिरने ही वाला था कि एक साहसी खिलजी योद्धा ने पीछे से उछलकर उसको अपनी भुजाओं में थाम लिया और उसको समरभूमि से बाहर ले गया।[9]

ने तातार सैनिकों को अपने यहाँ स्थान देने की भयकर भूल भी कर डाली, जिससे गजनी के शासक को उनके आतरिक झगड़ो से लाभ उठाने का सुयोग प्राप्त हो गया।

परन्तु इससे यह अर्थ नही निकलता कि जयचन्द ने मुहम्मद गोरी को भारत पर आक्रमण के लिए निमन्त्रित किया था। सभव है जयचन्द सारे हिन्दुस्तान का प्रभु बनने का अभिलाषी रहा हो और इस पद के लिए पृथ्वीराज के अधिकार को उसने चुनौती दी हो।

'टॉड्स एनेल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑव राजस्थान'—क्रुक सम्पादित १, पृ० २९९।

८. फिरिश्ता ने चंदराय नाम लिखा है और 'तबकात-ए-अकबरी' में खंदराय नाम दिया गया है; परन्तु 'तबकात' की प्राचीनतम उपलब्ध प्रतियों में गोविन्द नाम दिया है। हिन्दू चारण—चद बरदाई ने इसका नाम राय गोविन्द बताया है और यही नाम ठीक भी है।

९. विभिन्न इतिहास-ग्रंथो मे इस युद्ध का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार से दिया गया है। इन वर्णनो की अशुद्धियो पर विस्तृत विचार करना यहाँ अनावश्यक है। ऊपर दिया गया वर्णन रण-क्षेत्र में घटित घटनाओ का यथार्थ चित्रण है। हिन्दू-गाथाओ में भी ऐसा ही वर्णन है।

मिनहाज-उस्-सिराज ने अपने ग्रंथ ('तबकात' १, पृ० ४६०) में लिखा है—

सुलतान के इस पराभव से भयभीत मुसलमान सेना के पाँव उखड़ गये और वह चारों दिशाओं में तितर-बितर हो गई। शत्रु ने ४० मील तक मुसलमानों का पीछा किया, परन्तु वह शीघ्र एक सुरक्षित स्थान में पहुँच गये, जहाँ थोड़ी देर बाद सुलतान भी आ पहुँचा। मुसलमान-सैनिक अपने नेता के चारों ओर एकत्र हो गये और उनमें पुनः शक्ति एवं जीवन का संचार हो गया। सुलतान ने शीघ्रता से सिंधु नदी पार कर अपने देश की ओर गमन किया। इससे पूर्व मुसलमानों को विधर्मियों के हाथ ऐसी पराजय का सामना न करना पड़ा था। राजपूतों ने सरहिन्द के दुर्ग पर भी आक्रमण कर दिया; दुर्ग में घिरी हुई सेना ने १३ मास तक दृढ़तापूर्वक आत्म-रक्षा की और राजपूत आक्राताओं को अपनी इच्छानुसार शर्तें स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। गोर पहुँचते ही, सुलतान ने रण-क्षेत्र से पीठ दिखानेवाले सैनिकों तथा नायकों को दण्डित किया। उनको सबके सामने अपमानित किया गया और सारे शहर में उनको घुमाकर सब प्रकार के अपमानों तथा दुर्व्यवहारों का पात्र बनाया गया।

पृथ्वीराज की पराजय—राय पिथौरा के हाथों अपनी घोर पराजय को मुहम्मद गोरी भूल न सका। *पराजय का शल्य उसके हृदय को कचोटता रहा* और राजपूत राजाओं से इस पराजय का प्रतिशोध लेने का उसने दृढ़ निश्चय कर लिया।[१०] तुर्क, अफ़गान तथा अन्य जातियों के १,२०,००० सैनिकों

"सुलतान ने अपने घोड़े का मुंह घुमाया और भाग चला, तथा घाव की वेदना से वह घोड़े पर और न चल सका। इस्लाम की सेनाओं की पराजय हुई जिससे उनको अपार क्षति हुई और सुलतान तो घोड़े से गिरा जा रहा था; यह देखकर, एक शेर-दिल योद्धा ने, एक 'खाई' नवयुवक ने सुलतान को पहचान लिया और उसके पीछे से उछल पड़ा और उसको अपनी बाहों में थामकर, घोड़े को ललकारा और रण-क्षेत्र से उसको बाहर ले गया।"

१०. मेजर रेवर्टी ने 'हिस्ट्री ऑव जम्मू' का उद्धरण दिया है, जिसके अनुसार पृथ्वीराज के द्वारा किये गये अपमान से प्रताड़ित कन्नौज के जयचन्द ने गोरी से गठबन्धन कर लिया था; परन्तु खेद है कि इस उद्धरण की सत्यता की कभी भी परीक्षा नहीं की जा सकती। टॉड महोदय ने भी लिखा है कि "कन्नौज तथा पटन के नरेशों ने चौहान को अपमानित करने के हेतु अपने षड्यन्त्र में सहायता देने के लिए शिहाबुद्दीन को आमंत्रित किया।" देखिए, 'तबकात-ए-नासिरी' १, पृ० ४६६, ६७ में रेवर्टी की टिप्पणी १।

यह वर्णन चन्द बरदाई के वर्णन के आधार पर किया गया है। बरदाई ने 'रासो' में लिखा है कि जयचन्द ने गोरी को चौहान पर आक्रमण करने के लिए बुलाया था। परन्तु किसी भी मुसलमान इतिहासकार ने इस कथन का समर्थन नहीं किया है। यदि यह घटना सत्य होती तो मुसलमान इतिहासकार अवश्य इसका उल्लेख करते। देखिए, पहला अध्याय।

की विशाल, सुसंघटित एवं सुसज्जित सेना लेकर सुलतान ने ११९२ ई० में गजनी से हिन्दुस्तान की ओर प्रयाण कर दिया। इसी प्रयाण के अवसर पर एक वृद्ध साधु ने सुलतान से उन बंदियों की मुक्ति की प्रार्थना की जो तराइन की पराजय के बाद अपमानित कर बंदी बनाये गये थे। आगे बढकर सुलतान ने सेना सहित तराइन में डेरा डाला तथा सेना को चार भागों में विभक्त कर और युद्ध के लिए विभिन्न स्थानों पर नियुक्त किया। मुसलमानों के साथ पुनः भीषण संग्राम की संभावना से पृथ्वीराज भी सतर्क हो गया। हिंदू भारत की स्वतन्त्रता को शत्रुओं से बचाने के लिए उसने अन्य राजपूत राजाओं को अपने ध्वज के नीचे एकत्र होकर युद्ध के लिए सन्नद्ध होने का आमन्त्रण दिया। राजपूत नरेशों ने उसके आमन्त्रण को सोत्साह स्वीकार किया और अपनी अपनी सेनाएँ लेकर उसके ध्वज के नीचे एकत्र होने लगे। इस उत्साहपूर्ण सहयोग को पाकर पृथ्वीराज ने शीघ्र ही एक विशाल सेना संघटित कर ली, जिसमें अगणित पदाति, ३००,००० अश्वारोही तथा ३००० हाथी थे। १५० राजपूत राजाओं ने पृथ्वीराज का नायकत्व स्वीकार कर भली बुरी सभी प्रकार की परिस्थितियों में उसका साथ देने की शपथ ली। 'रासो' में चंद ने लिखा है कि पृथ्वीराज-के बहनोई चित्तौड़ के राणा समरसी ने भी इस आक्रमण में भाग लिया था। लेकिन यह उल्लेख असत्य है क्योंकि समरसी का शासनकाल- १२७३ १३०१ ई० है और यह युद्ध ११९२ ई० में लड़ा गया। प्रो० कीलहार्न ने बहुत समय पहले ही इस बात की ओर ध्यान दिलाया था।

युद्ध प्रारंभ होने पर, हिंदू अश्वारोहियों ने मुसलमानों की गति को अवरुद्ध कर दिया। यह देखकर सुलतान ने मध्य भाग की सेना को पीछे रखकर, शेष सेना को पाँच भागों में विभक्त किया, जिनमें से १०,००० अश्वारोहियों की चार टुकड़ियों को शत्रु पर चारों ओर से आक्रमण करने तथा थोड़े समय बाद रण-क्षेत्र से पलायन करने का अभिनय करते हुए पीछे हटने का आदेश दिया। सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यंत भीषण संग्राम हुआ और तब गोरी के सेना-नायकों ने पूर्वनिश्चित चाल से काम लिया। इस प्रकार जब विपक्षी सेना थककर चूर हो गई तो सुलतान ने १२,००० अश्वारोहियों के साथ उन पर प्रचण्ड वेग से आक्रमण किया और "हिंदू दल में मृत्यु तथा विनाश फैला दिया।"[११] इन अश्वारोही धनुर्धरों के सामने राजपूतों की वीरता

११. फिरिश्ता ने मुहम्मद गोरी की उस चाल का वर्णन किया है जिनके कारण भारतीय सेना को अत्यन्त कष्ट हुआ और तितर-बितर हो गई और आशानुसार यह नीति सफल रही। (ब्रिग्स, १ भा०, पृ० १७६-७७)।

कुछ काम न दे सकी और चारों ओर भयकर नर-संहार प्रारंभ हो गया। हिंदूसेना-नायकों ने पिछले युद्धों से कोई शिक्षा न ग्रहण की थी और शत्रु पर आक्रमण करने में तीव्र-गामी अश्वारोही सेना का महत्त्व वह कभी न समझ पाये। ऐसी स्थिति में युद्ध का परिणाम सुनिश्चित था। अगणित संख्या में होते हुए भी हिंदू पराजित हुए। पृथ्वीराज ने रणभूमि से पलायन किया, परन्तु सिरसुती[१२] नामक स्थान के समीप पकड़ा गया और अन्ततः "दोजख में भेज दिया गया।"[१३] गोविंदराय युद्धभूमि में मारा गया और उसके दो टूटे हुए दाँतों के कारण सुलतान ने उसको पहिचान लिया। पृथ्वीराज की पराजय राजपूत-शक्ति पर असह्य आघात थी। संभवत. जयचन्द्र अपने इस दुर्धर्ष प्रतिद्वंद्वी की पराजय से बहुत हर्षित हुआ, परतु उस समय उसे स्वप्न में भी यह न खटका होगा कि दो वर्ष बाद उसका भी यही हाल होनेवाला है। इस पराजय

रैवर्टी 'तबकात-ए-नासिरी', १ भा०, पृ० ४६८।

'तबकात' के लेखक का मत इस विषय पर अधिक स्पष्ट नही है।

बदाऊँनी, १ भा०, पृ० ७० तथा तबकात अकबरी के लेखक (बिब्लोथ इण्डिका, पृ० १९) का कहना है कि सेना केवल चार भागो मे बाँटी गई थी।

इस विषय पर फरिश्ता का कथन अन्य लेखकों के अतिरिक्त पूर्ण है।

१२. यह नगर प्राचीन नदी सरस्वती के तट पर बसा था। अकबर के समय में सिरसुती सभल सरकार का एक महाल था। १३३४ ई० में इब्नबतूता ने इसको एक विशाल नगर बताया है।

(पेरिस संस्करण ३, पृ० १४३)।

१३. चद का यह कथन कि पृथ्वीराज को बदी बनाकर गजनी ले जाया गया और वहाँ अधा किया गया, असत्य है। टॉड का कहना है कि पृथ्वीराज ११९२ ई० मे पराजित हुआ, बदी बनाया गया और तब मारा गया।

टॉड लिखता है "सफल प्रयत्न होने से पूर्व शिहाबुद्दीन के द्वारा ६ बार आक्रमण किये गये। वह बहुधा दिल्ली के हिंदू नरेश द्वारा परास्त किया गया और दो बार बंदी बनाया गया, परन्तु राजपूती स्वभाव के अनुरूप उदात्त एवं अंधी अभिमान की भावना से भरे हुए पृथ्वीराज ने उसको मुक्त कर दिया।" यह वर्णन स्पष्टतः यथार्थ नही है।

'ट्रान्जेक्शन्स' ऑव दि रायल एशियाटिक सोसायटी ऑव ग्रेट ब्रिटेन, १, पृ० १४७-४८।

'ताज-उल-मासिर' के लेखक का कथन है कि पृथ्वीराज युद्धभूमि से भाग निकला, परंतु सिरसुती (सरस्वती) के समीप पकड़ा गया और तलवार के घाट उतारा गया। ('ताज-उल-मासिर', इलियट, २, पृ० २९६-९७)।

देखिए बी० एन राउ लिखित 'एनशियन्ट हिन्दू डाइनेस्टीज' (हिंदी) भा० १, पृ० २५९-६०।

के परिणामस्वरूप भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग में ऐसी निराशा छा गई कि अब मुसलमानों के आक्रमणों का प्रतिरोध करने के लिए राजपूत-नरेशों को एक ध्वज के नीचे एकत्र कर सकने का दुर्दमनीय उत्साह रखनेवाला कोई भी राजपूत-योद्धा न रह गया। अतः मुसलमानों का कार्य बहुत सरल हो गया और उन्होंने बडी सरलता से सिरसुती, सामाना, कुहराम तथा हाँसी पर अधिकार कर लिया। तदुपरांत सुलतान अजमेर की ओर बढ़ा और वहाँ पहुँचकर खूब लूट-मार की गई तथा सहस्रों नगर-निवासियों को तलवार के घाट उतारा गया। अजमेर निवास के समय सुलतान ने "मूर्तियोवाले मंदिरों के स्तंभ तथा नीवें उखड़वा दी और उनके स्थान पर मस्जिदें व मकतब बनवाये तथा इस्लाम की आज्ञाओं एवं कुरान में विहित प्रथाओं को स्थापित किया।" अजमेर का शासन पृथ्वीराज के एक पुत्र[१४] को सौंपा गया, जिसने नियमित रूप से कर देने का वचन दिया। अपने भारतीय प्रदेशों का शासन अपने विश्वस्त नायक कुतुबुद्दीन ऐबक को सौंपकर सुलतान गजनी लौट गया।

---

१४. अजमेर गोला या कोला नामक पृथ्वीराज के एक औरस पुत्र को सौंपा गया। फिरिश्ता (ब्रिग्स १, पृ० १७८) का कथन है; "बाद में, नियमित रूप से कर के रूप में विशाल धन-राशि देने का वचन प्राप्त होने पर उसने अजमेर प्रदेश पृथ्वीराज के एक वैध-पुत्र गोला को सौंप दिया।

'ताज-उल्-मासिर' में पृथ्वीराज के पुत्र की प्रशंसा की गई है, "जिसके गुणों और आदतों में साहस का प्रमाण तथा बुद्धिमानी के लक्षण दिखाई देते थे और जो घर में और बाहर सर्वत्र ही न्याय-परायणता तथा भलाई के कामों के प्रति अपनी रुचि का परिचय देता था।" (इलियट २, पृ० २१६।)

'ताज-उल्-मासिर' (इलियट २, पृ० २१४) में अजमेर के राय के कोला (वैध पुत्र) का वर्णन है। इसमें लिखा है कि राय को बंदी बनाया गया था, परंतु बाद में मुक्त किया गया। फिर उसको किसी षड्यन्त्र में भाग लेते हुए पाया गया, अतः मार डाला गया (पृ० २१५)।

आगे इसी ग्रंथ में लिखा है कि अजमेर के राय के भाई हिराज (इसका शुद्ध रूप हरिराज है) ने विद्रोह कर दिया था और रणथंभौर दुर्ग पर घेरा डालने का उद्योग किया था; पिथौरा का पुत्र, जिसको उच्च पदस्थ राजकर्मचारियों की सुरक्षा में रखा गया, बहुत संकट में आ पड़ा था।

यहाँ पर राय के उपर्युक्त पुत्र का ही उल्लेख है और फिरिश्ता के वर्णन का इसमें आश्रय लिया गया है। 'तबकात-ए-नासिरी' में इसका नाम राय कोला दिया है (१, पृ० ४५८)।

रेवर्टी ने अपनी टिप्पणी में (सं० ६, १, पृ० ४५८) इसका नाम कोला लिखा है। पृथ्वीराज के बारे में उसने लिखा है कि राय कोला पिथौरा के बहुत समीप आ गया था। परंतु पृथ्वीराज के लिए यह नाम अशुद्ध है।

कुतुबुद्दीन ने अल्पकाल में ही मिरात (मेरठ), कोल[१५] तथा दिल्ली को विजय कर लिया और दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया।

कन्नौज की विजय—यद्यपि मुसलमानों ने दिल्ली और अजमेर पर अधिकार कर लिया था और चौहान शक्ति को समाप्त कर दिया था, परंतु हिंदुस्तान का प्रभुत्व अभी उनसे बहुत दूर था। दिल्ली के आगे दोआब प्रदेश में राठोरों का राज्य था, जिसका शासक जयचन्द्र, जो इतिहास तथा लोक-कथाओं में समान रूप से विख्यात है, अपने समय का सबसे अधिक शक्तिशाली नरेश माना जाता था। उसका राज्य पूर्व में बनारस तक विस्तृत था और उसकी राजधानी कन्नौज, राजनीतिक एवं सामरिक दोनों ही दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण थी। संभव है, जयचन्द्र को आशा रही हो कि पृथ्वीराज के पराभव के बाद वही हिंदुस्तान का निर्विवाद सम्राट् स्वीकृत होगा, परन्तु उसकी यह आशा भग्न हुई। हिंदुस्तान में मुसलमान-प्रभुत्व की स्थापना के लिए कन्नौज के राठौर-वंश को परास्त करना अनिवार्य था; अतः ११९४ ई० में सुलतान मुहम्मद ने कन्नौज

---

१५. कोल नामक स्थान अलीगढ़ के समीप है। यहाँ अभी भी एक पुरानी गढ़ी है। (इलियट २, २१९-२२)।

इब्नबतूता ने जाम-ए-मस्जिद के अभिलेख को पढ़ने में गलती कर, दिल्ली-विजय का समय हिजरी सन् ५८४ (११८८ ई०) बताया है। परंतु यह उसकी भूल है। 'तबकात-ए-नासिरी' में लिखा है कि ऐबक की मृत्यु दिल्ली-विजय के २० वर्ष उपरांत हुई और उसकी मृत्यु की तिथि हिजरी सन् ६०७ (१२१० ई०) दी है। एडवर्ड टॉमस का कथन है कि 'ताज-उल-मासिर' में दिल्ली-विजय की तिथि हिजरी सन् ५८७ (११९१-९२ ई०) दी हुई है; लेकिन मूल पुस्तक में यह तिथि कहीं नहीं दी गई है। 'तबकात-ए-नासिरी' के वर्णन से स्पष्टतया विदित होता है कि राय पिथौरा की पराजय के बाद कुतुबुद्दीन ने दिल्ली को जीता और राय पिथौरा के परास्त होने का समय हिजरी सन् ५८८ (११९२-९३ ई०) बताया गया है। परन्तु ठीक समय हिजरी सन् ५८९ के आसपास है। फिरिश्ता ने लिखा है कि मुहम्मद गोरी ने हिजरी सन् ५८८ में कुतुबुद्दीन ऐबक को अपने जीते हुए भारतीय प्रदेशों की व्यवस्था के लिए नियुक्त किया। उसने मेरठ को हस्तगत कर दिल्ली पर घेरा डाला और कड़े प्रतिरोध के बाद इसको भी जीत लिया। फिरिश्ता के वर्णन से विदित होता है कि यह घटना हिजरी सन् ५८८ के अंत में हुई।

इब्नबतूता, पेरिस संस्क० २, पृ० १६१; मेजर रेवर्टी, 'तबकात-ए-नासिरी' १, पृ० ४६९, ५२८; एडवर्ड टॉमस 'दि क्रॉनिकल्स ऑव पठान किंग्स', पृ० ३३, कार स्टीफन, 'आर्कालाजी ऑव देहली; पृ० ३६, फिरिश्ता, लखनऊ संस्करण, पृ० ६१।

के शासक के विरुद्ध प्रयाण कर दिया। राठौर-राजा एक विशाल सेना लेकर जिसमें ३०० से भी अधिक हाथी थे युद्ध-क्षेत्र में स्वयं उपस्थित हुआ। जान पड़ता है मुसलमानों का सामना करने के लिए उसने राजाओं का संघ नहीं बनाया था; संभवतः पृथ्वीराज की पराजय से राजपूतों का उत्साह मद हो गया था और प्रतिरोध की भावना कुचली जा चुकी थी, जिससे वह कन्नौज राज की सहायता के लिए उसके ध्वज के नीचे एकत्र न हुए। अधिकारी इतिहासकारों ने इस युद्ध का बहुत संक्षिप्त वर्णन किया है। 'ताज-उल्-मासिर' में लिखा है कि सुलतान ने ५० सहस्र "कवचधारी अश्वारोहियों" की सेना लेकर गजनी से 'मूर्तिपूजा तथा विधर्माचरण' के प्रमुख आश्रयदाता बनारस के राय के विरुद्ध प्रयाण किया, जिसको अपनी विशाल सेना तथा गज सेना पर बहुत अभिमान था। उसको पराजित कर मौत के घाट उतार दिया गया और लूटपाट से विजेता को अतुल संपत्ति प्राप्त हुई, जिसमें ३०० हाथी भी सम्मिलित थे। 'तबकात-ए-नासिरी' में भी इस बात का समर्थन किया गया है, इसमें लिखा है कि सुलतान ने हिजरी सन् ५९० (११९३ ई०) में गजनी से प्रयाण किया और कन्नौज तथा बनारस की ओर बढ़ा तथा चन्दवार[१६] के समीप राय जयचन्द्र को परास्त किया और ३०० के लगभग हाथी प्राप्त किये। संक्षेप में युद्ध की घटनाएँ इस प्रकार हैं; राजपूत सेना चन्दवार तथा इटावा के मध्यवर्ती मैदान में युद्ध के लिए सन्नद्ध थी; मुसलमान सेना की अग्रपंक्ति ने हिंदुओं को बुरी तरह परास्त कर दिया। अपनी सेनाओं तथा हाथियों का अभिमान करनेवाला जयचन्द्र बाण के आघात से बुरी तरह घायल होकर भूमि पर गिर पड़ा। उसका सिर भाले की नोंक पर टाँगकर मुसलमान सेनापति के समक्ष ले जाया गया और उसका शव "अपमान की धूलि में फेंक दिया गया।" तदुपरांत मुसलमान सेना ने असनी[१७] के दुर्ग की ओर प्रस्थान किया, जहाँ राय ने

---

१६. चन्दवार आगरा जिले में फिरोजाबाद के समीप एक गाँव है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया' (३, पृ० ४३) में लिखा है कि चन्दवार वर्तमान फिरोजाबाद है; यह कथन ठीक नहीं है। चन्दवार आज भी मौजूद है। यहाँ के चतुर्वेदी लोग प्रसिद्ध हैं।

१७. असनी का स्थान-निर्धारण नहीं किया जा सकता। उतबी (इलियट, २, पृ० ४७) ने असी नामक स्थान का उल्लेख किया है, और इसके विषय में लिखा है कि यह स्थान चारों ओर विकट वन से घिरा है, जो ऐसे भयंकर साँपों से भरा है कि कोई भी सँपेरा मन्त्र से उनको वश में नहीं कर सकता और वह काले इतने होते हैं कि पूर्णिमा के चन्द्र की किरणें भी उनके शरीर पर प्रतीत नहीं होतीं। 'इटावा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' (पृ०

अपना कोष रखा हुआ था। इस दुर्ग पर अधिकार किया गया और यहाँ सुल्तान के हाथ बहुत धन लगा। इसके बाद बनारस पर आक्रमण किया गया और इस पवित्र नगरी में इस्लाम की सेनाओं ने "लगभग एक सहस्र मंदिरों को नष्ट किया और उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाईं; शरियत (क़ुरान के नियमों) को कार्यरूप में लाया गया तथा धर्म की नींव जमाई गई।" विजयोल्लास में विनाश के इन कार्यों को प्रबल प्रेरणा देनेवाली होती थी वह "हृदयहीन भावना जो नरहत्या को विधिविहित, लूटपाट को नियमानुमोदित तथा विनाश को पवित्र कृत्य बना देती थी।" हिंदू सरदार सुल्तान के प्रति आदर-भाव प्रकट करने को आने लगे और सुल्तान के नाम के सिक्के ढाले जाने लगे। जान पड़ता है मुसलमानों को नाम-मात्र के विरोध का भी सामना न करना पड़ा और बड़ी सरलता से उनका समग्र देश पर अधिकार स्थापित हो गया। इस पराजय के बाद गहरवार राजपूताना में जा बसे और वहाँ इन्होंने जोधपुर राज्य की नींव डाली। तत्पश्चात् सुल्तान ने कोल की ओर प्रयाण किया और कुतुबुद्दीन को भारतीय प्रदेशों का शासन सौंपकर, लूटपाट से प्राप्त विपुल संपत्ति लेकर वह गजनी लौट गया।

भारत में कुतुबुद्दीन ने सतत विजयों का गौरव प्राप्त किया। अजमेर के राय को, जो गजनी की अधीनता में था, हरिराज ने अधिकार-च्युत कर स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। राय ने कुतुबुद्दीन से सहायता की याचना की और कुतुबुद्दीन ने विशाल सेना लेकर हरिराज पर आक्रमण कर दिया। हरिराज ने कुतुबुद्दीन से युद्ध करने का साहस किया, परन्तु रणभूमि में मारा गया। राय को पुनः सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया गया; परन्तु उस पर नियन्त्रण रखने के लिए एक मुसलमान प्रशासक नियुक्त किया गया। अजमेर से ऐबक ने हिजरी सन् ५९३ के सफर मास में (९ जनवरी, ११९७ ई०) नेहरवाला के राजा भीमदेव के विरुद्ध प्रयाण किया और उसको परास्त कर अपने स्वामी की उस पराजय का पूरा पूरा बदला लिया जो उसको भीमदेव के हाथों सहन करनी पड़ी थी। हसन बिन निजामी लिखता है; "उनके अधिकांश नेता बंदी बनाये गये और लगभग ५० सहस्र

---

१२७) के लेखक का कथन है कि असी नामक स्थान पूर्व की ओर कन्नौज से आगे है और असी के दुर्ग का स्थान निर्धारण निश्चयता से नहीं किया जा सकता। परन्तु 'जाम-उल्-तवारीख-ए-रशीदी' (इलियट लिखित 'हिस्टोरियन्स' १, पृ० ३७-३८) से ज्ञात होता है कि असी कन्नौज से दक्षिण-पश्चिम की ओर १८ फर्लांग की दूरी पर स्थित था।

विधर्मियों को तलवार के द्वारा नरक में भेज दिया गया, तथा वध किये गये लोगों के ढेर से पहाड़ और मैदान समतल हो गये।" विजेता के हाथ २० सहस्र दास, बीस हाथी, पशु तथा अगणित अस्त्र-शस्त्र लूटपाट में लगे। कुतुबुद्दीन ने अल्पकाल में ही ग्वालियर, बियाना आदि स्थानों को विजय कर लिया और उनके शासकों को गजनी का प्रभुत्व स्वीकार करने को विवश कर दिया।

बिहार की विजय—बिहार की विजय का कार्य मुहम्मद-बिन-बख्तियार खिलजी[१८] द्वारा आश्चर्यजनक सरलता से संपन्न किया गया। खिलजी बहुत "निर्भीक, साहसी तथा विचारशील" नायक था और उसकी सैनिक कार्यों में ख्याति के कारण कुतुबुद्दीन ने सम्मान के वस्त्र प्रदान किये थे। बिहार की सीमा में अनेक लूटपाट के अभियानों के पश्चात् उसने संभवतः ११९७ ई० में २०० अश्वारोहियों का दल लेकर इस प्रदेश पर सुनियोजित आक्रमण किया। साहसपूर्ण आक्रमण द्वारा उसने दुर्ग पर अधिकार कर लिया और उसके हाथ अपार संपत्ति लगी। भारत में बिहार ही केवल ऐसा प्रान्त बच रहा था जहाँ कट्टर बौद्धपाल-शासकों के प्रोत्साहन के कारण अभी तक बौद्ध-धर्म जीवित था। निस्संदेह यहाँ वह पश्चात्कालीन बौद्धधर्म प्रचलित था, जिसमें उसके महान् धर्म-प्रवर्तक के उच्चादर्शों का अभाव था और मूर्तिपूजा जैसी अनेक ऐसी विधियाँ चल पड़ी थीं जो भगवान् बुद्ध के मूलसिद्धांतों के प्रतिकूल थीं। मुसलमान इतिहासकार ने दो प्रत्यक्ष रूप से देखनेवाले व्यक्तियों से प्राप्त सूचना का आधार लेकर विधर्मियों के विभिन्न सम्प्रदायों में भिन्नता न दिखाते हुए लिखा है कि नगरनिवासियों को जो सबके सब मुण्डित ब्राह्मण थे तलवार के घाट उतार दिया गया। यह सब बौद्ध भिक्षु थे और 'विहार' में निवास करते थे। इस विहार को भूमिसात् किया गया तथा पुस्तकालय की पुस्तकों को छीनकर इन आक्रामकों ने जहाँ-तहाँ बखेर दिया।[१९] मध्यकाल में बौद्धधर्म में स्थान पानेवाली मूर्तिपूजा ने

---

१८. खिलजी लोग तुर्क थे, जिनमें से कुछ गर्मसीर में बस गये थे और बाद में भारत में आकर सुलतान मुईजुद्दीन की सेवा में रहने लगे थे। खिलजियों की उत्पत्ति के विषय में अनेक अनुमान किये गये हैं, परन्तु यहाँ पर इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि वह तुर्क-अफगान जाति के थे और जीविका की खोज में भारत आ गये थे।

इस विषय पर ८वें अध्याय में विस्तृत विचार किया गया है।

१९. 'तबकात-ए-नासिरी' के लेखक का कथन है कि वहाँ एक भी हिंदू जीवित न बचा था, जिससे इन पुस्तकों में वर्णित विषय का ज्ञान प्राप्त हो सकता। लेकिन अगली पंक्ति में यही लेखक कहता है कि जब यह

मुसलमानों की विनाश की प्रवृत्ति को और भी प्रोत्साहित किया। आज भी उस काल के बौद्ध विहारों तथा स्तूपों के जो खंडहर मिलते हैं उनसे तत्कालीन बौद्ध समाज में मूर्तिपूजा के प्रति व्याप्त उत्साह के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। विहार पर मुसलमानों के आक्रमण से बौद्ध-धर्म को प्राणान्तक आघात लगा; परंतु संवत् १२७६ (१२१९ ई०) के विद्याधर के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि मुसलमान-आक्रमण से उत्तर भारत में बौद्ध-धर्म पूर्णतया लुप्त नहीं हो गया था।[२०] विहार पर अधिकार स्थापित कर, तथा लूटपाट से प्राप्त अपार संपत्ति साथ लेकर मुहम्मद कुतुबुद्दीन के समक्ष उपस्थित हुआ। कुतुबुद्दीन उसके सफल प्रयत्नों से बहुत प्रसन्न हुआ और उसके प्रति अपना विश्वास प्रदर्शित करने के लिए उसको अपने विशेष वस्त्रालय से सम्मान के वस्त्र प्रदान किये।

बंगाल की विजय—विहार की विजय के सम्भवतः दो वर्ष पश्चात् बंगाल को जीता गया। फरग़ाना के निवासी शमसुद्दीन नामक सैनिक से, जो मुहम्मद-बिन-बख्तियार की सेना में था, बंगाल के अभियान का वर्णन सुनकर, उसके आधार पर मिनहाज-उस्-सिराज ने लिखा है कि—"मुहम्मद बख्तियार ने एक सेना तैयार कराई, विहार से प्रबल वेग के साथ प्रस्थान किया और वह अप्रत्याशित रूप से नदिया नामक नगर के सम्मुख इस ढंग से आ धमका कि उसके पार्श्व में १८ से अधिक अश्वारोही न चल पायें और शेष सैनिक उसके पीछे पीछे चले आ रहे थे। नगर के प्रवेश-द्वार पर पहुँचने पर मुहम्मद-ए-बख्तियार ने किसी के साथ छेड़छाड़ नहीं की और इतनी दृढ़ता तथा शांतिपूर्वक आगे बढ़ा कि लोगों ने समझा कि संभवतः यह कोई व्यापारियों का दल है और घोड़े बेचने के लिए लाया है और तब तक उन्हें यह कल्पना भी नहीं हुई कि यह मुहम्मद-ए-बख्तियार है, जब तक कि उसने राय लखमनिया के निवास के द्वार पर पहुँचकर तलवार खींच कर काफिरों का वध करना प्रारंभ न कर दिया।"[२१] इसी लेखक ने आगे

पुस्तकें पढ़ी गईं तो विदित हुआ कि यह गढ़ी एक विद्यालय थी, जिसको बौद्ध लोग 'विहार' कहते थे।
रेवर्टी 'तबकात-ए-नासिरी', १, पृ० ५२२।

२०. फ्युरर—'दि शर्की आर्किटेक्चर ऑव जौनपुर' पृ० ७०-७१।

२१. 'तबकात-ए-नासिरी' १, पृ० ५५७-५८। मिनहाज (१,पृ०५५१-५२) लिखता है कि फरगना-निवासी दो भाई निजामुद्दीन व शमसुद्दीन मुहम्मद-बिन-बख्तियार की सेना में थे। शमसुद्दीन से उसकी भेंट १२४३ ई० में लखनौती में हुई और उसी से प्राप्त सूचना के आधार पर उसने

लिखा है कि राजा उस समय भोजन कर रहा था; और जब बाहर से प्रताड़ित व्यक्तियों का चीत्कार उसके कानों तक पहुँचा तो उसके हाथ के तोते उड़ गये और वह महल के चोर दरवाजे से नंगे पाँव भाग निकला। महल का कोष लूटा गया तथा राजा की स्त्रियों, अनुचरो और आश्रितो को पकड़ लिया गया। राय लखमनिया (लक्ष्मण सेन) भागकर ढाका[२२] पहुँचा, जहाँ उसके वंशज छोटे से राज्य पर बहुत समय तक शासन करते रहे। यह वास्तव में जो कुछ घटित हुआ उसका अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है और 'वयोवृद्ध राय' के नाम सम्बन्धी भूल का आधुनिक गवेषणाओं से सुधार हो गया है। मुहम्मद ने नदिया नगर को नष्ट कर दिया और लखनौती या गौड़ को अपनी राजधानी बनाया। सारे बंगाल पर आधिपत्य स्थापित कर उसने मुसलमान-शासन-प्रणाली प्रचलित की। खुतबा पढ़ा गया और सिक्के संभवतः सुल्तान मुईजुद्दीन[२३] के नाम पर ढाले गये, जिसके प्रति इस नायक के हृदय में बहुत आदर था तथा सतो के लिए मकतबों (विद्यालयों) की स्थापना की गई। नदिया में लूटपाट से प्राप्त विपुल संपत्ति का बहुत बड़ा भाग मुहम्मद ने अपने स्वामी कुतुबुद्दीन के पास भेज दिया।

'तबकात-ए-नासिरी' में मुहम्मद-बिन-बख्तियार के तिब्बत-अभियान का सविस्तार वर्णन किया गया है; परन्तु इस वर्णन के घटना-क्रम में बहुत अस्पष्टता है। तुर्किस्तान एवं तिब्बत को विजय करने की इच्छा से प्रेरित होकर उसने दस सहस्र अश्वारोहियों की सेना एकत्र की और पर्वतों तथा घाटियों को पार करता हुआ यह १५ दिन की कठिन यात्रा के बाद तिब्बत पहुँच गया। तिब्बत-निवासी बहुत वीरता से लड़े और 'मुसलमान सेना के अनेक वीर मारे गये तथा आहत हुए।' इस विपत्ति-संकुल देश में

बंगाल के अभियान का वर्णन लिखा। बंगाल को विजय किया गया, इतना तो निर्विवाद है, परन्तु विजय करने के ढंग के विषय में बहुत मतभेद है।

२२. राजा भागकर सोनारगाँव के समीप विक्रमपुर नामक स्थान में गया। यह गौड़ से भागकर आनेवालों के लिए सुरक्षा पाने का स्थान था। उसकी मृत्यु १२०५ ई० के लगभग हुई।

२३. 'तबकात-ए-नासिरी' के मूल उद्धरण का इलियट (२. पृ० ३०९) ने अनुवाद किया है, जिससे ज्ञात होता है कि उसने खुतबा अपने ही नाम का पढ़वाया, परंतु मेजर रेवर्टी के अनुवाद से ऐसा विदित नहीं होता। रेवर्टी ने टिप्पणी (१, पृ० ५५९) में स्पष्ट कर दिया है कि मूल पुस्तक के वर्णन से ऐसा प्रकट नहीं होता।

देखो, टामस, क्रानिकल्स, पृ० ११०।

शत्रुओं से अपने आपको घिरा हुआ पाकर मुसलमानों ने लौट जाने का निश्चय किया। अनेक मुसलमान वागमती नदी (संभवतः ब्रह्मपुत्र की एक सहायक नदी) को पार करने के प्रयत्न में डूब गये, क्योंकि यह नदी थोड़ी दूर तक ही पार करने योग्य थी; मुहम्मद-इब्न-बख्तियार भी बड़ी कठिनाई से वहाँ से बचकर पार हो सका।[२४]

कालिंजर की विजय—१२०२ ई० में कुतुबुद्दीन ने बुंदेलखंड के चंदेल शासक परमर्दि या परमाल पर आक्रमण किया। पृथ्वीराज तथा जयचन्द्र जैसे पराक्रमी योद्धाओं के विजेता मुसलमानों के सामने परमाल कैसे टिक सकता था?

परमाल पराजित हुआ और दृढ़ता के लिए समस्त भारत में प्रसिद्ध कालिंजर का दुर्ग विजेता के अधिकार में आ गया। परमाल के वीर आमात्य अजयदेव ने आक्राता से टक्कर ली परंतु उसका प्रयत्न विफल रहा। मंदिरों को भूमिसात् किया गया तथा "पचास हजार मनुष्यों के गले में दासत्व का फंदा डाला गया और हिंदुओं के शवों से धरती पट गई।"[२५] तदुपरांत ऐबक ने महोबा की ओर प्रयाण किया और उसको बड़ी सरलता से जीत लिया। इसके बाद कालपी एवं बदाऊँ के दुर्गों पर अधिकार किया गया और इस प्रकार कुतुबुद्दीन ने उत्तर भारत के सब प्रमुख स्थानों पर गजनी का प्रभुत्व स्थापित कर अपनी स्वामिभक्ति का पूर्ण परिचय दिया।

परिस्थितियों ने पलटा खाया—गजनी के शासक भारत में विजित प्रदेशों से संतुष्ट न हो सके। उनकी सतृष्ण दृष्टि सदैव पश्चिम के प्रदेशों पर लगी रही और वक्षु (ऑक्सस) के तटवर्ती प्रदेशों को हस्तगत करने का

---

२४. मेजर रेवर्टी कृत अनुवाद, पृ० ५६०-७२। इस पराभव के कारण मुहम्मद दुःख से इतना अभिभूत हो गया कि वह लखनौती की सड़कों में सिर ऊँचा कर न चल सका। कुछ लेखकों का कथन है कि दुःख के कारण १२०६ ई० में उसने शरीर त्याग दिया, परंतु सत्य यह है कि खिलजी जाति के एक सरदार अली मरदान ने उसका वध किया था।

२५. 'ताज-उल्-मासिर'—इलियट, २, पृ० २३१।

इन विजयों का क्रम निम्न प्रकार से था—

(१) अजमेर, (२) डांगर या बियाना, (३) ग्वालियर, (४) नेहरवाला, (५) कालिंजर, (६) महोबा, कालपी, (७) बदाऊँ।

फिरिश्ता तथा 'ताज-उल्-मासिर' के लेखक में घटनाक्रम में बहुत कुछ सहमति है। ब्रिग्स १, पृ० १७९-८०; इलियट २, पृ० २२५-३२।

'तबकात-ए-नासिरी' का वर्णन भी थोड़ी सी भिन्नता के साथ इनके वर्णन से मिलता-जुलता है। (१, पृ० ४७०)।

लोभ वह कभी संवरण न कर सके। महमूद के समय से ही गजनी के शासक इन प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने के लिए विफल प्रयास करते रहे थे, परंतु इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हानि और निराशा ही उनके हाथ लगी थी। अपने पूर्ववर्ती किसी भी शासक से कहीं अधिक विस्तृत भारतीय प्रदेशों पर शासन करनेवाले मुहम्मद ने भी हिजरी सन् ६०१ (१२०४ ई०) में एक विशाल सेना लेकर ख्वारिज्म प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। ख्वारिज्म के शाह को गुरामान से तथा कराखिता के गुर खाँ से सहायता प्राप्त हुई और इनकी सम्मिलित सेना ने आक्रमण का सामना करने के लिए प्रयाण किया। शाह और उसके सहयोगियों की सेना ने गोरी की सेना को युद्धभूमि में उतरने के लिए विवश कर दिया। इस असमान-बलों के युद्ध का परिणाम पहले से ही सुनिश्चित था। गोरी की सेना बुरी तरह कुचली गई और स्वयं सुलतान बड़ी कठिनाई से जान बचाकर भाग पाया।[२६] शासक के व्यक्तिगत प्रभाव पर अवलम्बित राज्यों में ऐसे पराभव से अराजकता फैल ही जाती है; अतः मुहम्मद की पराजय के समाचार के फैलते ही उसके साम्राज्य में विघटनकारिणी शक्तियाँ सक्रिय हो उठीं। गजनी का एक राजकर्मचारी शीघ्र ही भारत जा पहुँचा और मुल्तान का एक जाली अधिकार-पत्र दिखाकर उसने स्वयं को मुल्तान का शासक घोषित कर दिया और सेना ने भी उसका शासकत्व स्वीकार कर लिया। गजनी में ताजुद्दीन यल्दौज शासक बन बैठा था और उसने गजनी के द्वार बंद कर सुलतान का प्रवेश रोक दिया था। दुर्दान्त खोखर विद्रोह का झंडा खड़ा कर पंजाब के प्रदेशों को पीड़ित करने लगे थे। इस प्रकार साम्राज्य के प्रत्येक भाग में सुलतान को अधिकारच्युत करने के लिए विद्रोह तथा षड्यन्त्र होने लगे। लेकिन सुलतान इस निराशाजनक स्थिति से विचलित न हुआ। उसने शीघ्र ही मुल्तान और गजनी पर अधिकार कर लिया और तब खोखरों का दमन करने के लिए हिन्दुस्तान की ओर प्रयाण किया। पश्चिम की ओर से सुलतान की सेना की तथा पूर्व की ओर से कुतुबुद्दीन के दल की चोटें खाते हुए खोखरों को अपनी स्थिति सँभालना कठिन हो गया। अंततः उन्होंने झेलम नदी के एक घुमाव पर युद्ध किया जिसमें वह परास्त हुए। विजित सुलतान कुतुबुद्दीन के साथ लाहौर लौट आया।

खोखरों को दबा अवश्य दिया गया था परन्तु पूर्णरूप से उनका दमन नहीं हुआ था। प्रत्यक्ष युद्ध में पराजित खोखरों ने कूटनीतिक चालों का आश्रय

---

२६. 'ताज-उल्-मासिर' में लिखा है कि सुलतान को थोड़ा सा पराभव सहन करना पड़ा, परन्तु यह कथन ठीक नहीं है।

लिया। विगत युद्ध में अपने जाति-बंधुओं की मृत्यु का प्रतिशोध लेने की भावना उनमें तीव्र हो रही थी। इन बर्बरों के लिए तो रक्त का प्रतिशोध रक्त से लेना ही न्याय का सर्वोच्च सिद्धान्त था। कुछ खोखरों ने तो सुलतान के प्राण हरण करने का षड्यन्त्र तक रच डाला। लाहौर से गजनी की ओर प्रस्थान करते हुए सुलतान ने झेलम जिले के धामियक नामक स्थान पर विश्राम के लिए डेरा डाला। यहाँ 'मुलाहिदा' परिवार के एक रक्त-पिपासु ने उसको १२०६ ई०[२७] में छुरा भोंककर मार डाला। सुलतान की चाटुकारिता से तंग आकर इमाम फकरुद्दीन राजी ने एक बार कहा था, "ओ सुलतान मुईजुद्दीन! कुछ समय बाद न तो तेरा यह वैभव और ऐश्वर्य रह जायेगा और न राजी की चाटुकारिता और दिखावटीपन।" उसके यह शब्द सत्य सिद्ध हुए।

मुहम्मद गोरी का चरित्र—मिनहाज-उस्-सिराज ने मुहम्मद की उदारता तथा विद्वानों के संरक्षण की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। फिरिश्ता ने यद्यपि उसकी

---

२७. 'ताज-उल्-मासिर' में लिखा है कि सुल्तान धामियक के समीप एक निर्मल निर्झर के तट पर तम्बू में ठहरा। वहाँ जब वह संध्या काल की नमाज पढ़ रहा था कुछ दुरात्मा दौड़ते हुए आये और तीन सशस्त्र अनुचरों तथा दो झाड़ू लगानेवाले नौकरों को मार डाला। तब इन्होंने सुलतान के तम्बू को घेर लिया और तीन या चार आतत.यियों में से एक या दो उसके पास दौड़कर गये और उस पर पाँच या छः घाव लगाये। (इलियट, २, पृ० २३५-३६)।

फिरिश्ता ने लिखा है कि बरमहीक नामक स्थान पर २० खोखरों ने सुलतान को मार डाला। (फारसी पृ० ६०)

रेवर्टी 'तबकात-ए-नासिरी', १, पृ० ४८४-८५।

इसमें लिखा है कि हिजरी सन् ६०१ में धाम्यक के पड़ाव पर मुलाहिदा सम्प्रदाय के एक अनुयायी के हाथों शहीद होकर सुलतान ने प्राण त्यागे।

मुलाहिदा लोग इस्लामी सम्प्रदाय के शिया हैं।

एक समकालीन विद्वान् ने सुलतान की मृत्यु पर निम्नलिखित कविता लिखी:—

"जल और थल के शहन्शाह मुईजुद्दीन का कत्ल,
विश्व के आदि से जिसके समान कोई राजा नहीं हुआ,
ओह! छः सो दो के शाबान की तीसरी तारीख को,
हुआ धाम्यक के विश्रामस्थल में गजनी जानेवाली सड़क पर।"

रेवर्टी, तबकात-ए-नासिरी, १, पृ० ४८७।
रेन्किंग, अल बदाऊँनी, १, पृ० ७९।
फिरिश्ता, लखनऊ मस्क०, पृ० ६०।
लेनपूल, मेडियवल इन्डिया, १, पृ० ५५।

प्रशंसा में मिनहाज की सी उदारता नहीं दिखाई है, परन्तु विद्वानों के प्रति उसके आदरभाव की उसने खूब प्रशंसा की है। फिरिश्ता लिखता है कि "उसको न्यायपरायण शासकों जैसी प्रकृति थी, (वह) ईश्वर से डरनेवाला, तथा हृदय में सदा प्रजा की भलाई का ध्यान रखनेवाला था।" वह महमूद जैसा उग्र धर्मान्ध न था और अपने इस महान् पूर्ववर्ती शासक से कहीं अधिक राजनीतिज्ञ था। उसने भारत की राजनीतिक दुरवस्था को देखकर भारत में स्थायी शासन स्थापित करने का निश्चय कर लिया था। महमूद ने धन-लोलुपता के कारण भारतीय विजयों से प्राप्त हो सकनेवाले स्थायी महत्त्व के लाभों को भुला दिया था। अतः उसके प्रयत्न केवल लूट-पाट तक ही सीमित रहे। परन्तु मुहम्मद ने प्रारम्भ से ही भिन्न मार्ग अपनाया; उसने अपने विजित प्रदेशों के शासन को व्यवस्थित करने का प्रारम्भ से ही उद्योग किया। इस कार्य में उसको कुतुबुद्दीन नामक योग्य नायक से बहुत सहायता मिली, जिसने बाद में दिल्ली में दास-वंश की स्थापना की।

महमूद का उद्देश्य स्थायी रूप से अधिकार स्थापित करना न था। उससे भी पूर्व अरब लोगों की विजय केवल एक ऐसे प्रांत तक ही सीमित रह गई थी, जो उपजाऊ न था। महमूद ने भारत में बवंडर की भाँति प्रवेश किया था और लूटपाट से अपार सम्पत्ति प्राप्त कर वह स्वदेश लौट गया था। उसके आक्रमणों का उद्देश्य राज्य स्थापना न होकर लूटमार और मूर्तियों का विध्वंस-मात्र था; और इन उद्देश्यों की पूर्ति होते ही उसने असंख्य भारतवासियों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने की उसकी बिलकुल इच्छा न थी। परन्तु मुहम्मद यथार्थ में विजेता था। उसने देश को विजय कर स्थायी सत्ता स्थापित करने का उद्योग किया। भारत की पूर्ण विजय तो तब तक असम्भव थी जब तक राजपूतों की धमनियों में योद्धाओं का रक्त प्रवाहित हो रहा था। परन्तु प्रथम बार मुहम्मद की विजयों से भारत का बहुत बड़ा भू-भाग मुसलमानों के सीधे अधिकार में आया। कुतुबुद्दीन को इन विजित प्रदेशों का शासन सौंपा गया और इस्लामी राज्य की सीमा का विस्तार करने का आदेश दिया गया। इससे मुहम्मद के भारतीय अभियानों का उद्देश्य स्पष्टतः विदित हो जाता है। यह सत्य है कि वह स्वयं भारत में न टिका; परन्तु इसका कारण यह था कि अपने समय के उच्चाकांक्षी नायकों के समान उसकी भी फारस तथा वक्षु (ऑक्सस) प्रदेश को विजय करने की उत्कट अभिलाषा थी। गजनी के प्रत्येक शासक ने पश्चिम की ओर साम्राज्य-विस्तार करने का उद्योग किया था; लेकिन मुहम्मद पर पुरानी लीक पर चलने का दोष लगाना ठीक नहीं है। उसकी भारतीय विजयें अधिक दृढ़ थीं। उसकी मृत्यु के बाद गजनी

का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। किसी शक्तिशाली शासक के नियन्त्रण के अभाव में यह टिक भी न सकता था; लेकिन भारत में मुहम्मद ने जिस मुसलमान शक्ति की स्थापना की थी वह समय के साथ बढ़ती गई और अल्प-विस्तार के साथ स्थापित किया गया दिल्ली-राज्य धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते पूर्व के विशालतम साम्राज्यों में गिना जाने लगा। इस्लाम की गौरव-वृद्धि के लिए यह कोई छोटी सेवा न थी।

कुतुबुद्दीन ऐबक का सिंहासनारोहण—सुलतान मुईजुद्दीन मुहम्मद-बिन-साम का कोई पुत्र-उत्तराधिकारी न था। मिनहाज-उस्-सिराज ने लिखा है कि एक बार जब उसके एक बहुत प्रिय सभासद् ने उसका कोई पुत्र-उत्तराधिकारी न होने पर चिंता प्रकट की थी तो सुलतान ने निरपेक्ष भाव से उत्तर दिया था कि "दूसरे शासकों के तो एक या दो ही पुत्र होंगे; लेकिन मेरे तो तुर्की दासों के रूप में इतने सारे पुत्र हैं, जो मेरी मृत्यु के बाद मेरे अधिकृत प्रदेशों के शासनाधिकारी होंगे और उस समस्त प्रदेश में खुतबे में मेरा नाम मेरे बाद भी बनाये रखेंगे।" अपने स्वामी के देहान्त के पश्चात् कुतुबुद्दीन ऐबक का प्रमुखता प्राप्त करना स्वाभाविक ही था। तुर्की अमीरों तथा सेनानायकों ने उसको सुलतान चुना और गोर के शासक ने भी उसके अधिकारारूढ़ होने में अपनी सहमति प्रकट की। इस प्रकार वह हिन्दुस्तान का शासक बना और उसने एक शासक-वंश की नींव डाली जो उसके नाम से विख्यात है। प्रारम्भ में ऐबक[28] एक दास था। उसको निशापुर के काजी ने क्रय किया था

---

२८. मेजर रेवर्टी का कहना है कि इबक का अर्थ होता है 'निर्बल उँगलियों-वाला'; एक लम्बी टिप्पणी में उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यह उसका प्यार का नाम था। फिरिश्ता ने स्पष्ट लिखा है कि उसको ऐबक इसलिए कहा जाता था क्योंकि उसकी छोटी उँगली कटी हुई थी। 'तबकात-ए-नासिरी' के उद्धरण से रेवर्टी महोदय की व्याख्या का समर्थन नहीं होता। इसके अतिरिक्त तुर्की भाषा में 'इबक' का अर्थ उँगली भी नहीं जान पड़ता। मुझे लगता है कि ऐबक इस दास का असली नाम था। उस समय ऐबक नाम के बहुत से दास थे।

एपिग्राफिया इण्डो-मोस्लेमिका, १९११-१२; पृ० २०।
मेजर रेवर्टी, 'तबकात-ए-नासिरी', १, पृ० ५१३-१४।
टॉमस, 'दि क्रॉनिकल्स ऑव पठान किंग्स', पृ० ३२।
रैन्किग, 'अल-बदाऊनी', १, पृ० ७७।

देखिए, टिप्पणी २, यहाँ अनुवादक का कहना है कि तुर्की भाषा में 'ऐ' का अर्थ है 'चन्द्रमा' और 'बक' का अर्थ है 'स्वामी'। अनुवादक का मत है कि चन्द्रमा से संबंध होने के कारण उसका यह नाम पड़ा न कि टूटी हुई उँगली के कारण।

और काजी की कृपा से वह उसके पुत्रों के साथ कुरान पढ़ने लगा, धीरे-धीरे निपुण अश्वारोही तथा धनुर्धारी बन गया और साहस तथा पुरुषोचित गुणों के लिए प्रख्यात हो गया। काजी की मृत्यु के बाद उसके पुत्रों ने ऐबक को एक व्यापारी के हाथ बेंच दिया जो उसे गजनी ले गया और इस व्यापारी से उसको सुलतान मुईजुद्दीन ने क्रय कर लिया। यद्यपि सूरत से ऐबक बहुत भद्दा था परन्तु उसमें "आकर्षक गुण तथा प्रशसनीय प्रभविष्णुता" विद्यमान थी, केवल अपने गुणों के बल पर ही उसने धीरे-धीरे 'अमीर अखूर' (अश्वशाला का अध्यक्ष) का पद प्राप्त कर लिया और जब सुलतान ने ख्वारिज्म के शाह पर आक्रमण किया तो यह अश्वशाला के दाने-चारे का प्रबंध करनेवाले दल के नायक के रूप में कार्य कर रहा था। भारतीय अभियानों में उसने सुलतान की अनन्य भक्ति-भाव से सेवा की और उसकी अमूल्य सेवाओं के पुरस्कार के रूप में उसको सुलतान के अधिकृत भारतीय प्रदेशों का कार्यभार सौंपा गया। हिन्दुस्तान के प्रतिनिधि-शासक के रूप में उसको अपने सैनिक गुणों का प्रदर्शन करने का सुयोग प्राप्त हो गया और अल्पकाल में ही उसने अपने स्वामी के विजित प्रदेशों को सुरक्षित कर आगे बढ़ाया। वैवाहिक-सम्बन्धों से भी उसने अपनी शक्ति बढ़ाई; उसने ताजुद्दीन याल्दौज की पुत्री से विवाह किया, अपनी बहिन कुबाचा से ब्याही और अपनी पुत्री का विवाह अपने दास इल्तुतमिश के साथ कर दिया।

कुतुबुद्दीन की विजयें—ऐबक ने हाँसी, मेरठ, दिल्ली, रणथम्भौर तथा कोल को हस्तगत कर लिया और जब सुलतान मुहम्मद कन्नौज के राजा के विरुद्ध प्रयाण किया था तो वह सुलतान की अभ्यर्थना के लिए पेशावर तक गया था और उसको सुलतान की सेना की अग्र-पंक्ति का नायकत्व सौंपा गया था। सुलतान के गजनी लौट जाने के बाद उसने बनारस तक का प्रदेश विजय किया तथा पृथ्वीराज के भाई हरिराज से युद्ध किया, जिसने कोला को अजमेर से निकाल दिया था; हरिराज उसके द्वारा पराजित हुआ। थोड़े समय बाद ग्वालियर पर भी उसने अधिकार कर लिया और ११९७ ई० में नेहरवाला पर आक्रमण कर वहाँ के राजा को घनघोर युद्ध के बाद पूर्णतः परास्त कर सारा प्रदेश नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। हिजरी सन् ५९३ से ५९९ (११९६-१२०२ ई०) के बीच के छः वर्षों में भारत में कोई युद्ध न लड़ा गया; इसका कारण संभवतः यह था कि इस समय गियासुद्दीन तथा मुईजुद्दीन दोनों का ही ध्यान खुरासान की ओर लगा था और वह अपने प्रबल प्रतिद्वंद्वी ख्वारिज्म के शाह की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के प्रयत्न में संलग्न थे। हिजरी सन् ५९९ (१२०२ ई०) में कुतुबुद्दीन ने बुन्देलखण्ड स्थित कालिंजर

के दुर्ग पर आक्रमण किया, जिसको आज तक हिन्दू लोग अजेय समझते थे।[२९] दुर्ग को घेर लिया गया; हिन्दुओं ने आक्रामकों का सामना करने का प्रयत्न किया, परन्तु उनका दमन कर दिया गया। मुसलमानों के हाथ विपुल सम्पत्ति लगी और पचास सहस्र नर-नारियों को बंदी बनाया गया तथा हसन निजामी के अनुसार "मंदिरों को मस्जिदों के रूप में, शुभ-कार्यों के स्थानों के रूप में परिणत किया गया और जप-परायण संतों की मंत्र-ध्वनि तथा प्रार्थना के लिए आह्वान करनेवालों का उद्घोष उच्चतम आकाश तक उठने लगा और मूर्तिपूजा को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया।"[३०] इसके बाद महोबा को विजय किया गया और विजयी सरदार बदाऊँ को जीतता हुआ दिल्ली लौट आया। बंगाल तथा बिहार को बख्तियार का पुत्र मुहम्मद खिलजी विजय कर चुका था और उसने कुतुबुद्दीन का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार दिल्ली से कालिंजर व गुजरात तथा लखनौती से लाहौर तक का प्रदेश तुर्कों के अधिकार में आ गया था। यद्यपि कुतुबुद्दीन ने निरंकुशता से शासन किया, परन्तु दिल्ली राज्य के सुदूरस्थ प्रदेश पूर्णतः अधीन न हो पाये और न देश के कोटिश हिन्दुओं ने ही हिन्दुस्तान में मुसलमान-शासन की स्थापना के प्रति स्वीकृति का भाव प्रदर्शित किया।

शासक के रूप में कुतुबुद्दीन—कुतुबुद्दीन बहुत साहसी तथा उदार-हृदय शासक था। 'ताज-उल्-मासिर' के लेखक हसन बिन निजामी ने, जो उससे भली-भाँति परिचित था, उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और उसके विषय में लिखा है कि वह योग्यतापूर्वक शासन करता था, निष्पक्ष न्याय करता था और प्रजा के हित-साधन के लिए सतत प्रयत्नशील रहता था। इसी इतिहासकार ने अलंकारिक भाषा में कहा है कि उसके राज्य में भेड़ और भेड़िया एक ही घाट पानी पीते थे, और यह कथन प्रकट करता है कि कुतुबुद्दीन न्याय-प्रिय तथा निष्पक्ष था। उसने यातायात के मार्गों को डाकुओं से सुरक्षित किया और यद्यपि "खुदा की राह पर लड़नेवाले शक्तिशाली योद्धा" के समान युद्धों में उसने भी हजारों हिन्दुओं को दास बनाया था, परन्तु अन्य अवसरों पर उनके प्रति उसका व्यवहार दयापूर्ण रहा। सभी लेखकों ने उसकी उदारता की प्रशंसा की है और उसको 'लाख-बख्श' (लाखों का दान देनेवाला) की उपाधि से विभूषित किया है। मिनहाज-उस्-सिराज लिखता है कि वह लाखों का दान करता था और हत्याएँ भी इतनी ही विपुल संख्या में करता था; अतः उसकी दानशीलता तथा संहार-परायणता से हिन्दुस्तान उसके मित्रों से पूर्ण तथा शत्रुओं से खाली हो गया था।

---

२९. इसका पहिले उल्लेख हो चुका है।

३०. 'ताज-उल-मासिर' इ[illegible] ० २३१

ऐबक एक योग्य तथा शक्तिशाली शासक था। उसने सदैव अपना चरित्र उच्च रक्खा। जीवन में केवल एक बार अपने प्रतिद्वंद्वी यल्दौज की पराजय के बाद गजनी पर अधिकार पा लेने के अवसर पर ही वह विलासमग्न हुआ था; लेकिन उसकी विलासिता से उसके प्रति गजनी की जनता की सद्भावना समाप्त हो गई और इसी कारण यल्दौज ने आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ अपना खोया अधिकार प्राप्त कर लिया। वीर एवं शक्तिशाली तथा मुसलमान-आदर्शों के अनुसार विचारशील तथा न्याय-परायण ऐबक इस्लाम का दृढ़ भक्त था और विदेश में रण-बाँकुरी जातियों के बीच एक विशाल राज्य का सस्थापक होने के कारण वह भारत के महानतम मुसलमान-विजेताओं की पंक्ति मे स्थान पाने का अधिकारी है। दिल्ली तथा अजमेर में एक-एक मस्जिद बनवाकर उसने अपना धार्मिक उत्साह प्रकट किया। इन दोनों मस्जिदों का निर्माण भग्न मंदिरों की सामग्री से किया गया था। अंततः १२०१ ई० में अपने उत्तराधिकारियों के लिए विस्तृत राज्य छोड़कर वह चौगान[३१] खेलते हुए इस संसार से कूच कर गया।

ऐबक के देहान्त के बाद अव्यवस्था—कुतुबुद्दीन के आकस्मिक देहावसान के बाद हिन्दुस्तान के 'अमीरों' तथा 'मलिकों' ने 'अराजकता के नियन्त्रण, जनता की शांति तथा सेना की सतुष्टि के लिए' आरामशाह को सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया, जिसको ऐबक का पुत्र बताया गया है। कुतुबुद्दीन के दामाद मलिक नासिरुद्दीन कुबाचा ने उच्छ एव मुलतान पर अधिकार जमा लिया। चारों ओर अस्तव्यस्तता बढ़ती देखकर सरदारों को एक शक्तिशाली एवं निपुण शासक की आवश्यकता का अनुभव होने लगा; अतः उन्होंने बदाऊँ के प्रतिनिधि-शासक इल्तुतमिश को दिल्ली-साम्राज्य का शासन सँभालने के लिए निमन्त्रित किया। आरामशाह ने उसका विरोध किया परन्तु उसके प्रतिद्वंद्वी ने उसका दमन कर दिया और संभवतः उसको मार डाला। इस प्रकार कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद उसका राज्य चार भागों में बँट गया—सिंध पर नासिरुद्दीन कुबाचा ने अधिकार कर लिया था; दिल्ली तथा समीपवर्ती प्रदेशों पर इल्तुतमिश का अधिकार था; लखनौती पर खिलजी मलिकों का शासन था, और कुतुबुद्दीन के देहान्त के बाद अलीमर्दान खिलजी ने दिल्ली का आधिपत्य ठुकरा दिया था; लाहौर पर क्रमशः नासिरुद्दीन कुबाचा, शमसुद्दीन इल्तुतमिश और गजनी पर शासन करनेवाले यल्दौज ने अधिकार स्थापित किया।

---

३१. चौगान का खेल आजकल के पोलो खेल के समान खेला जाता था। मध्ययुग के प्रारम्भिक-काल में यह खेल भारत तथा फारस में बहुत प्रिय था।

अध्याय ६

दास-वंश के शासन का विस्तार तथा संघटन

इल्तुतमिश का सिंहासनारोहण—हिजरी सन् ६०७ (१२१० ई०) में सिंहासन ग्रहण करनेवाला[1] शमसुद्दीन इल्तुतमिश[2] दास-वंश का महानतम शासक था। वह एक दास का दास था और अपनी योग्यता के बल पर ही इतनी ऊँची स्थिति प्राप्त करने में सफल हुआ था तथा योग्यतम व्यक्ति होने के कारण ही सिंहासन के अन्य आनुवंशिक अधिकारियों को दबाकर शासक बना था। सिंहासन पर कुतुबुद्दीन का अधिकार भी न्यायानुमोदित न था और इल्तुतमिश ने भी उसी सिद्धान्त का अनुसरण किया जो मुसलमानों के इतिहास में सदैव मान्य रहा कि शक्ति का अधिकारी वही होता है जो इसका नियन्त्रण कर सकता है। लेकिन, उसके लिए दिल्ली का सिंहासन फूलों की सेज न था। वह भयंकर परिस्थितियों से घिरा हुआ था जिसके कारण उसको अनेकों आपत्तियों का सामना करना पड़ा। यल्दौज तथा कुबाचा जैसे प्रतिद्वंद्वी जो अपने अपने राज्य की सीमा में निर्बाध अधिकार का उपभोग करते थे, समग्र गजनी साम्राज्य के अधिपति बनने के लिए प्रत्यक्ष रूप से प्रयत्नशील थे; और कुछ मुइज्जी तथा कुतबी अमीर ऐबक के वंशजों के न्यायानु-

---

१. इसके नाम का यह रूप अब साधारणतया सबको मान्य हो गया है। इस्लाम के सिद्धांतों के अनुसार दास-शासक कहना एक-दूसरे से सर्वथा विरुद्ध उपाधियों का प्रयोग करना ही होगा। शासक पद पर प्रतिष्ठित होनेवाले यह दास राजकीय गौरव प्राप्त करने से पूर्व अपने स्वामियों के द्वारा दासत्व से मुक्त किये जाते थे। यहाँ इस वंश का ऐसा नाम केवल सुविधा के विचार से दिया गया है।

२. शमसुद्दीन इल्तुतमिश को जमालुद्दीन नामक व्यापारी ने मोल लिया था और वह इसको गजनी से लाया था। वहाँ से यह दिल्ली लाया गया और ताक नामक एक दूसरे दास के साथ कुतुबुद्दीन के हाथ बेच दिया गया। कहा जाता है कि सुलतान मुहम्मद गोरी ने कुतुबुद्दीन से कहा था कि "इल्तुतमिश के साथ अच्छा व्यवहार करो, क्योंकि वह विशेष योग्यता प्रकट करेगा।" शमसुद्दीन को पहिले कुतुबुद्दीन का 'सरजानदार' नियुक्त किया गया और तब 'अमीर-ए-शिकार' के पद पर नियुक्त किया गया और बाद में जब ग्वालियर जीता गया, उसको वहाँ का अमीर बनाया गया। तत्पश्चात् उसको बदाऊँ का शासन सौंपा गया।

मोदित अधिकार का हरण कर सिंहासन पर प्रतिष्ठित होनेवाले इल्तुतमिश के प्रति अपने हृदयों में गहरी घृणा बसाये हुए थे। सिंहासन पर वैध-अधिकार न होना तथा भारत जैसे देश में दास के दास के प्रति घृणा का भाव प्रदर्शित करना—इन दोनों बाधाओं ने मिलकर उसकी स्थिति को विकट बना दिया। इनके अतिरिक्त हिंदुस्तान के राजपूत राजा तथा सामंत अभी तक अपनी स्वतन्त्रता के अपहरण को भूले न थे, केवल नाम-मात्र के लिए ही उन्होंने मुसलमान शासक की अधीनता स्वीकार की थी।

लेकिन इल्तुतमिश विकट परिस्थितियों से हार मानकर बैठ जानेवाला व्यक्ति न था और वह शीघ्र ही दृढ़ता एवं तत्परता के साथ इस संकटापन्न स्थिति को निश्चयात्मक रूप से सुलझा देने के कार्य में जुट गया। सर्वप्रथम उसको मुइज्जी तथा कुतबी अमीरों के विरोध का सामना करना पड़ा; इन लोगों ने दिल्ली के बाहर एकत्र होकर स्पष्टतः विद्रोह कर दिया था। सुलतान ने उनके विरुद्ध प्रयाण किया और जूद के मैदान में उनको हराकर उनके अधिकांश नेताओं को तलवार के घाट उतार दिया।

प्रतिद्वंद्वियों का दमन—अपने राज्यारोहण का विरोध करनेवाले अमीरों एवं सरदारों का दमन कर इल्तुतमिश ने बदाऊँ, अवध, बनारस तथा शिवालिक प्रदेश सहित समस्त दिल्ली राज्य पर दृढ़तापूर्वक अपना अधिकार स्थापित कर लिया। लेकिन उसका अधिकार तभी सुरक्षित हो सकता था, जब उसके प्रतिद्वंद्वी पूर्णतः पराजित हो जाते, अतः उसने इनका दमन करने के लिए तैयारियाँ प्रारंभ कर दीं।

यल्दौज को सुलतान मुहम्मद ने क्रय किया था और उसे तुर्क-दासों का नायक बना दिया था। उसकी योग्यता तथा साहस से प्रभावित होकर सुलतान ने उसको किरमान का 'वली' बना दिया। उसके विषय में मिनहाज-उस-सिराज लिखता है कि "वह एक महान्, धर्म-परायण, विनम्र, दयालु, सहृदय तथा अतीव सुन्दर आकृतिवाला शासक था।" अपने स्वामी की मृत्यु के बाद मलिकों एवं अमीरों की सहमति से वह गजनी का शासक बन गया। गोर के शासक ने उसको दासत्व से मुक्ति का आज्ञा-पत्र प्रदान किया तथा सिंहासन पर अपना अधिकार उसके पक्ष में त्याग दिया। इस प्रकार यल्दौज गजनी के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ, परंतु उसको निकालकर कुतुबुद्दीन स्वयं शासक बन बैठा। सत्वर सफलता प्राप्त हो जाने से कुतुबुद्दीन का सिर फिर गया, वह विलासी बन गया और उसके मदिरोन्मत्त साथियों के दुराचारों से गजनी की जनता में उसके प्रति घृणा जागृत हो गई और उन्होंने यल्दौज को राज्यभार ग्रहण करने के लिए आमन्त्रित

किया। यल्दौज बहुत पराक्रमी योद्धा था, उसने हिंदूकुश के पार अनेक सफल अभियान किये थे, परंतु ख्वारिज्म के शाह से प्रताड़ित होकर उसको हिंदुस्तान की ओर भागना पड़ा और सिंध के शासक नासिरुद्दीन कुबाचा को हराकर उसने पंजाब में अपना शासन स्थापित किया। अपने राज्य की उत्तरी सीमा पर ऐसे प्रबल प्रतिद्वंद्वी की उपस्थिति सहन न कर इल्तुतमिश ने उस पर आक्रमण कर दिया और १२१५ ई० में इतिहास में प्रसिद्ध तराइन के युद्ध-क्षेत्र में, जहाँ राय पिथौरा को मुहम्मद गोरी से पराजित होकर अपने राज्य से हाथ धोना पड़ा था, पूर्णतया परास्त कर दिया। यल्दौज को बंदी बनाकर, बदाऊँ के दुर्ग में भेज दिया गया, और बाद में मुसलमान-शासकों की प्रवर्तित प्रथा के अनुसार, उसका वध कर दिया गया। यल्दौज के पराभव के बाद, नासिरुद्दीन कुबाचा की बारी आई। उसने इल्तुतमिश से युद्ध में परास्त होने के बाद १२१७ ई० में उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। परंतु उसका पूर्ण पराभव १२२७ ई० से पूर्व न हो सका।

चंगेजखाँ का आक्रमण—यह संकट उस घनघोर घटा के सामने कुछ भी न थे जो १२२१ ई० में भारत पर घिर आये। मध्य-एशिया के पर्वतीय प्रदेशों से निकलकर मंगोलों[३] के दल चंगेज खाँ के नेतृत्व में लूटमार के लिए निकल पड़े थे और मार्ग में पड़नेवाले देशों को नष्ट-भ्रष्ट करते आ रहे थे। 'मंगोल' शब्द की उत्पत्ति 'मंग' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ होता है 'वीर, साहसी, दुर्दान्त'। प्रारंभ में 'मंगोल' एक विशाल समूह की एक शाखा-मात्र थे, जब उन पर शासन करनेवाले राजवंश का प्रभाव सर्वोपरि स्थापित हो गया तो यह समग्र समूह उनके नाम से ही प्रसिद्ध हो गया।[४] मंगोल लोग प्रचंड बर्बर थे। हावर्थ महोदय ने दुर्धर्ष मंगोल योद्धा कुतला खाँ (जिसको

---

३. मुसलमान इतिहासकारों ने इनको 'मुगल' लिखा है।

४. हॉवर्थ—'हिस्ट्री ऑव मंगोल्स'—भा० १, पृ० २७

मोगल, मुगल तथा मंगोल एक ही शब्द के विभिन्न रूप हैं। जब मंगोल लोग अपने पूर्वजों के देश को छोड़कर मध्य-एशिया के पश्चिमवर्ती राज्यों के मुसलमान निवासियों के सम्पर्क में आने लगे तो उनके पड़ोसी उनके *जातीय नाम* का अशुद्ध उच्चारण कर उनको मोगल पुकारने लगे।

इलियास व रास—'ए हिस्ट्री ऑव दि मोगल्स ऑव सेंट्रल एशिया' पृ० ७२-७३।

इस विषय के विस्तृत विवरण के लिए देखिए मिर्जा हैदर के 'तारीख-ए-रशीदी' के आधार पर लिखित इलियास व रास की 'ए हिस्ट्री ऑव दि मोगल्स ऑव सेंट्रल एशिया'। मोगल, तुर्क तथा उइगुर शब्दों की विभिन्नता यहाँ स्पष्ट की गई है।

दोसों ने कुबलाई नाम दिया है) का जैसा वर्णन किया है, उससे मंगोलों की उग्र वर्बरता तथा रक्तपिपासा का कुछ अनुमान किया जा सकता है। उन्होंने लिखा है कि "कुतूला खाँ के कण्ठ-स्वर की समानता पर्वतों में होनेवाले वज्र-निर्घोष से की जाती है, उसके हाथ भालू के पंजो के समान बलवान् थे और इनसे वह बाण की भाँति किसी भी आदमी के दो खण्ड सरलता से कर सकता था, जाड़े के दिनों में वह विशाल भट्टी के पास नग्न सो रहता था और आग से निकले स्फुलिंगों की तनिक भी चिंता न करता था। जागने पर आग से पड़े हुए दागो को कीड़ों का काटा हुआ समझता था। वह प्रतिदिन एक भेड खाता था और प्रचुर परिमाण में कुमी (घोड़ी का पकाया हुआ दूध) पीता था। मंगोलो की दृष्टि में मनुष्य के प्राणो का कुछ भी महत्त्व न था, अपने दिये हुए वचनो की उन्हे कुछ भी चिंता न रहती थी और अपनी पवित्र-तम प्रतिज्ञाओं को भी वह बिना किसी हिचक के भंग कर देते थे तथा क्रुद्ध किये जाने पर अथवा प्रकृतिस्थ होने पर भी वह नृशंसतम अत्याचार करने में न चूकते थे।

चंगेज इन्ही उग्र मंगोल योद्धाओं में से एक था। साधारणतया वह 'ईश्वर का कोप' समझा जाता है तथा मनुष्य-जाति के विनाशक हूण-नेता 'एटिला' से वह किसी प्रकार कम न था। लेकिन यह चंगेज के चरित्र का केवल एक पक्ष है। रण-निपुण विजेता होने के साथ-साथ वह क्रियात्मक प्रतिभावान भी था जिसके कारण वह मध्य-एशिया की बर्बर जातियों को एक सूत्र में बाँधकर विशाल साम्राज्य की स्थापना कर सका तथा ऐसे नियमों एव सस्थाओं का जन्म दे पाया, जो उसकी मृत्यु के पश्चात् अनेक पीढियों तक जीवित रही। इस दुर्दान्त योद्धा का जन्म ११५५ई० में ओमन नदी के समीपवर्ती दिलूम वोल्दाक नामक स्थान में हुआ था। इसका असली नाम तेमूचिन् था। जब वह केवल १३ वर्ष का था, उसके पिता यीस्सूग का देहांत हो गया था। इस विपत्ति के परिणामस्वरूप इस युवक को अनेक बाधाओं से घोर संघर्ष करना पड़ा और इस संघर्ष काल में उसने साहस, धैर्य तथा आत्म-विश्वास का पाठ हृदयगम कर लिया। शत्रुओ से सतत युद्ध करते हुए, अंततः वह सब विरोधी दलो का दमन करने में

---

५. हावर्थ—'हिस्ट्री ऑफ दि मंगोल्स' भा० १, पृ० ४३-४४।

देखिए अमीर खुसरो कृत 'किरान-उस-सआदैन' में इन यायावर बर्बरों का वर्णन—इलियट, ३, पृ० ५२८।

परंतु अमीर खुसरो का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ता है क्योंकि मंगोलों ने इस कवि को बंदी बनाकर बहुत यातनाएँ दी थीं।

सफल हो गया और १२०३ ई० में 'खान' के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। उसने विद्युत्गति से समस्त चीन को पदाक्रांत कर दिया और पश्चिमी एशिया के देशों को लूटकर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। बल्ख, बुखारा, समरकन्द तथा अन्य अनेक विख्यात एवं वैभवसंपन्न नगर उसके विनाशकारी आक्रमणों से ध्वस्त हुए। बुखारा में विशाल मस्जिद की सीढ़ियों से ऊपर चढ़कर चंगेज ने स्वयं लूटमार करने का आदेश इन शब्दों में दिया था, "घास कट चुकी है, अपने घोड़ों को चारा दो।" इस मस्जिद की प्रवचन-वेदी पर चढ़कर उसने कुरान को कुचलने के लिए अपने घोड़े के पैरों पर फेंक दिया और नगर-निवासियों को अपनी निधि उसके समक्ष रख देने के लिए विवश कर दिया। इन लुटेरों ने लूट-पाट एवं आक्रमणों के समय सहस्रों नर-नारियों तथा शिशुओं के प्राण लेकर अपना विनोद किया। एक अवसर पर जब चंगेज को सूचना दी गई कि उसके द्वारा पीड़ित लोगों ने अपने बहुमूल्य रत्नों को निगल लिया है तो उसने अपने अभिलषित द्रव्य को प्राप्त करने के लिए उनके पेट चीरने की आज्ञा दे दी थी। एक समय जो ख्वारिज्म-साम्राज्य खीवा, समरकन्द तथा बुखारा से हिरात और इस्फहान तक फैला था, वह भी इन बर्बरों के आक्रमणों के आघात से छिन्न-भिन्न हो गया। चंगेज से ताड़ित ख्वारिज्म के अंतिम शाह जलालुद्दीन हिंदुस्तान की ओर भाग गया, परंतु चंगेज ने उसका पीछा न छोड़ा। शाह ने सिंधु-तट पर डेरा डाल दिया और मंगोलों से युद्ध करने को प्रस्तुत हो गया।[६] उसने दिल्ली में कुछ समय तक टिकने के लिए स्थान की व्यवस्था कर देने की प्रार्थना करने के लिए अपना एक दूत इल्तुतमिश के पास भेजा, लेकिन शाह की उपस्थिति के कारण चंगेज के आक्रमण के भय तथा अपने से शाह की श्रेष्ठता का विचार कर इल्तुतमिश ने यह बहाना बनाकर कि दिल्ली की जलवायु शाह के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगी, उससे इस विषय में क्षमा चाही और दूत को मरवा डाला। जलालुद्दीन ने अपनी सेना को युद्ध के लिए सुसज्जित किया और चिरकाल से चली आती हुई व्यूह-रचना-प्रणाली का अनुसरण करते हुए अपनी सेना को दक्षिण, वाम तथा मध्य तीन भागों में विभक्त किया। मंगोलों ने भयंकर रणनाद करते हुए आक्रमण किया, परन्तु शाह की सेना ने अविचलित

---

६. हावर्थ ने लिखा है (भा० १, पृ० ९०) कि वहाँ उसके साथ उसकी सेना का वह बचा-खुचा भाग जो नदी पार कर सका था आ मिला। (उसमें अधिकांश ख्वारिज्म के सैनिक थे)। उसने अस्त्रों तथा वस्त्रों के लिए देश में धावे किये और एक भारतीय राजा को हराया और यह समाचार पाकर कि मंगोल अभी भी उसका पीछा कर रहे हैं, वह दिल्ली की ओर चल दिया।

भाव से घोर संग्राम करते हुए चंगेज की सेना के मुख्य भाग को तितर-वितर कर दिया। मगोलो ने पुनः संघटित होकर प्रचण्ड आक्रमण कर जलालुद्दीन को परास्त कर दिया। शाह की बहुत क्षति हुई, उसके ध्वज के नीचे युद्ध के लिए एकत्र ३० महस्र सैनिको में से केवल ७ सहस्र ही बच रहे। ऐसी घोर संकटमय स्थिति में शाह ने भाग निकलने का निश्चय किया और अपने परिवार की स्त्रियो को उनके भाग्य पर छोडते हुए, बहुत मर्म-स्पर्शी शब्दो में बिदा दी। पेती दे ला क्र्वा[७] महोदय ने लिखा है कि इस दु:ख-मय अवसर पर प्रकृति तथा प्रेम अपने कोमलतम रूप में व्यक्त हुए, परंतु जान पडता है कि शाह पर इन करुणापूर्ण प्रार्थनाओं का कोई प्रभाव न पडा। उसकी स्वार्थपरता घोर निंदनीय है। घोड़े पर सवार होकर वह कुछ साथियों को लेकर शत्रु की वाण-वर्षा के बीच सिंधु नदी में उतर पडा और इसको पार कर लिया; आपत्तियो से घिरे हुए राजपुरुष के लिए यह असाधारण साहस का कार्य था। खोखरों का सहयोग पाकर उसने नासिरुद्दीन कुबाचा पर आक्रमण कर उसको मुलतान के दुर्ग में खदेड दिया। तदुपरात सिंध-प्रदेश को लूटकर विनष्ट किया गया, थोड़े समय बाद यह सूचना पाकर कि इराक की सेना उसकी सहायता करने के लिए प्रस्तुत है, वह इस देश को छोड़कर[८] फारस चला गया,

---

७. एम० पेती दे ला क्र्वा ने लिखा है कि शाह ने मुहम्मद निस्वी से प्रार्थना की कि वह राजघराने की स्त्रियो को मंगोलो की कैद से बचा दे और उनको डूब जाने की आज्ञा दी, जिसका पालन किया गया। परंतु इसी लेखक ने लिखा है कि अन्य इतिहासकारो का मत है कि उसके परिवार को खान के समक्ष उपस्थित किया गया, और उसने पुरुषों को मार डालने की आज्ञा दे दी। वध किये गये लोगों [illegible] का ज्येष्ठ [illegible], जो केवल आठ वर्ष का था।

परतु साहसिक प्रयत्नों में कुछ समय बिताने के बाद वह एक ऐसे धर्मान्ध व्यक्ति के हाथों मारा गया, जिसके भाई को उसने मरवा डाला था। मंगोल भी भारत की भीषण गर्मी से घबराकर सिंध के पश्चिमवर्ती प्रदेशों की ओर चले गये, जो उनको बहुत ही प्रिय थे। इस प्रकार भारत से एक महान् सकट टल गया और अब स्थानीय शत्रुओं का दमन करने मे इल्तुतमिश ने अधिक कठिनाई का अनुभव न किया।

इल्तुतमिश की विजयें—कुतुबुद्दीन के देहान्त के बाद बंगाल में खिलजी मलिकों ने दिल्ली के आधिपत्य की अवहेलना कर दी थी। अलीमर्दान अपने नाम के सिक्के ढलवाकर स्वतन्त्र शासक की तरह खुतबे में अपना नाम पढ़वाने लगा था। गियासुद्दीन खिलजी ने भी उसी का अनुसरण किया। गियासुद्दीन के विषय में मुसलमान-इतिहासकार ने लिखा है कि वह असाधारण रूप से योग्य तथा उदार शासक था और प्रजा पर अनुग्रहो की वर्षा करता रहता था। उसने जाजनगर, कामरूप, तिरहुत तथा गौड़ प्रदेश पर अधिकार कर लिया था और स्वतन्त्र रूप से शासन करता था। हिजरी सन् ६२२ (१२२५ ई०) मे उसने गियास के विरुद्ध सेना भेजी, जिसका फल यह हुआ कि गियास ने संधि कर ली[१] और भेंट के रूप में ३८ हाथी तथा ८० लाख चांदी के टके दिये। अब इल्तुतमिश के नाम का खुतबा पढ़ा

(बिब्लियोथि० इण्डि० पृ० ५८-५९)।

'तबकात' के इस वर्णन का फिरिश्ता ने भी समर्थन किया है। फिरिश्ता लखनऊ संस्क० पृ० ६५, ब्रिग्स १, पृ० २०८।

'तबकात-ए-नासिरी' का वर्णन अनिश्चयात्मक है। इसमे एक स्थान पर लिखा है (१, पृ० २९३) कि सुल्तान ने अपनी सेना का एक भाग उसके विरुद्ध भेजा, इस पर सुल्तान जलालुद्दीन मार्ग से हट गया और उच्छ व मुलतान की ओर चल दिया। फिर पृ० ६०९ पर इसमें लिखा है कि सुल्तान शमसुद्दीन ने हिंदुस्तान की सेनाएँ लेकर दिल्ली से लाहौर की ओर प्रयाण किया और सुल्तान जलालुद्दीन उसका विरोध न कर सिंध व सिविस्तान की ओर चल दिया।

रेवर्टी—'तबकात-ए-नासिरी' १, पृ० २९३, ६०९, ६१०।

यह प्रतीत नहीं होता कि शमसुद्दीन ने जलालुद्दीन के विरुद्ध कोई सेना भेजी थी। इस प्रकार नये झगड़ों में उलझने से वह सतर्क जान पड़ता है।

९. यहां पर कोई युद्ध नहीं हुआ। 'तबकात-ए-नासिरी' का कहना है कि गयासुद्दीन अपने बेड़े को नदी के ऊपर की ओर ले गया; परतु एक दूसरे लेखक का कहना है कि उसने सब नावो को हटवा दिया और सुरक्षित रखवा दिया, जिससे इल्तुतमिश इसको पार न कर सके।

मेजर रेवर्टी—'तबकात-ए-नासिरी' १, पृ० ५९३।

गया और सिक्के ढाले गये। सुलतान की सेना के हटते ही गियास ने बिहार के राज्यपाल पर आक्रमण कर इस प्रान्त पर अधिकार कर लिया। अवध के जागीरदार नासिरुद्दीन महमूदशाह ने उसके विरुद्ध प्रयाण किया। गियास ने युद्ध में उसका सामना किया परंतु पराजित हुआ और मारा गया। खिलजी अमीरों को बंदी बना लिया गया। समस्त लखनौती-प्रदेश इल्तुतमिश के अधिकार में आ गया। १२२६ ई० में उसने रणथभौर को जीता और एक वर्ष बाद शिवालिक पर्वत में स्थित मंडोर[10] को प्राप्त कर लिया। इन विजयों से विजेता को बहुत धन प्राप्त हुआ।

कुबाचा का पराभव—जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, कुबाचा सुलतान मुईजुद्दीन मुहम्मद-बिन-साम का दूसरा गौरवाभिलाषी दास था। वह बहुत बुद्धिमान तथा विवेकशील व्यक्ति था और अपने स्वामी की कृपा से छोटे-छोटे पदों से उन्नति करते हुए उच्च पद प्राप्त कर उसने सैनिक तथा सार्वजनिक शासन का बहुत अनुभव प्राप्त कर लिया था। उसको उच्छ का शासन सौंपा गया और वहाँ उसने इतनी योग्यता से कार्य किया कि वह अल्पकाल में ही मुलतान, सिविस्तान तथा समुद्र-पर्यंत देवल प्रदेश का स्वामी बन गया। सिंध का समस्त प्रदेश जिसका विस्तार अब सरहिन्द, कुहराम व सिरसुती तक हो गया था, उसके अधिकार में आ गया। उसकी विजयों से गजनी में उसके प्रतिद्वंद्वी शासक की ईर्षा जाग उठी और लाहौर को अधिकार में लेकर उसमें तथा ताजुद्दीन याल्दौज में युद्ध ठन गया। कुबाचा ने खिलजी तथा ख्वारिज्म

---

१०. 'तबकात-ए-नासिरी' में इस स्थान का नाम मंडावर दिया है और फरिश्ता ने 'माडू' नाम लिखा है, जो कि स्पष्टतया अशुद्ध है। 'तबकात-ए-अकबरी' में मांडोर लिखा है और बदाऊँनी ने भी यही नाम दिया है। टामस ने भी माडोर ही लिखा है। भिन्न-भिन्न लेखकों ने विभिन्न प्रकार से इस स्थान का नाम लिखा है।

शुद्ध नाम मांडोर है, जो परिहार राजपूतों की राजधानी था और जोधपुर से पाँच मील उत्तर की ओर है।

टाड ने भी लिखा है कि इस स्थान को राहुप ने (जिसने १२०१ ई० में चित्तौड़ को हस्तगत किया था) परिहार नरेश मोकुल से छीन लिया था और तब थोड़े ही समय बाद उसने शमसुद्दीन के आक्रमण को झेला था और उसको नागोर नामक स्थान पर परास्त किया था। परन्तु जिन चारणों की ख्यातो के आधार पर टाड का यह वर्णन आश्रित है, उनमें विजय का श्रेय मुसलमानों को दिये जानेवाली संभावना नहीं ही रहती।

रेवर्टी—'तबकात-ए-नासिरी', १, पृ० ६११ (टिप्पणी नं० ३)।

'तबकात-ए-अकबरी' (बिब्लि० इण्डि०) पृ० ५९ रेंकिग—'अल बदाउनी' १, पृ० ९३। ब्रिग्स १, पृ० २१०। टामस—'दि क्रानिकल्स ऑव दि पठान किंग्स' पृ० ४५।

की सेनाओं को भी परास्त किया, परंतु इनको शरण देकर इल्तुतमिश ने इनके पक्ष का समर्थन किया। एक विशाल सेना लेकर इल्तुतमिश ने सरहिन्द के मार्ग से उच्छ की ओर प्रयाण किया तथा लाहौर के प्रान्तीय शासक ने दूसरी सेना के साथ मुलतान पर धावा बोल दिया। सुलतान के आगमन का समाचार पाकर कुबाचा ने अपनी सेनाओं तथा कोष को लेकर भक्कर के दुर्ग में मोर्चा बनाया। राजकीय सेनाओं ने उच्छ के दुर्ग पर आक्रमण किया और २ मास २७ दिन के घेरे के बाद १२२७ ई० में इस पर अधिकार कर लिया। उच्छ के हाथ से निकल जाने से कुबाचा हताश हो गया और उसने अपने पुत्र अलाउद्दीन मसऊद बहरामशाह को सुलतान की अभ्यर्थना के लिए भेजा। इस युवक मध्यस्थ के साथ दयापूर्ण व्यवहार किया गया, परंतु उसको लौट जाने की आज्ञा न दी गई। इससे कुबाचा शोकमग्न हो गया और उसे शंका होने लगी कि कहीं उसके साथ भी यल्दोज जैसा व्यवहार न किया जाय। अतः प्राण-रक्षा के हेतु सिंधु-पार जाने के लिए वह नाव में बैठा, परंतु बीच में ही डुबा दिया गया।[11]

खलीफा द्वारा अधिकार की स्वीकृति—हिजरी सन् ६२६ (१२२८ ई०) में इल्तुतमिश को बगदाद के खलीफा से अपने शासनाधिकार का स्वीकृति-पत्र प्राप्त हो गया। इस प्रकार, इस्लाम के सर्वोच्च नेता द्वारा मान्यता प्राप्तकर लेने से भारतीय मुसलमान-शासन बहुत गौरवान्वित हो गया। इससे सुलतान का अधिकार वैध बन गया और अब मुसलमानों के लिए उसकी आज्ञाओं की अवज्ञा धर्म की अवहेलना के समान हो गई। यह स्पष्ट विदित नहीं होता कि खलीफा की मान्यता प्राप्त करने के लिए इल्तुतमिश सचेष्ट हुआ था या खलीफा ने स्वेच्छा से अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी थी। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि राजनीतिक दृष्टि से यह घटना महत्त्वपूर्ण थी। इससे उन विरोधियों का मुँह बंद हो गया जो जन्म के आधार पर इल्तुतमिश को सिंहासन का अनधिकारी ठहराते थे और अब उसके अधिकार को एक ऐसे व्यक्ति की मान्यता मिल गई थी, जो समस्त मुसलमान-संसार के आदर तथा श्रद्धा का पात्र था। अब "राजकीय टकसालों में ढाले जानेवाले सिक्कों पर तत्कालीन खलीफा अल-मुतानसिर बिल्ला का नाम खोदा जाने लगा और सुलतान के लिए "धर्मनिष्ठों

---

११. 'तबकात-ए-नासिरी' (रेवर्टी कृत अनुवाद १, पृ० ५४४) का उल्लेख है कि उच्छ व भक्कर के अधिकार से निकल जाने पर, कुबाचा ने, अपने पुत्र के रोक लिये जाने से भयभीत होकर, बचकर भाग निकलने का प्रयत्न किया, परंतु वह नदी में डुबा दिया गया।

परंतु इसी ग्रंथ के पृ० ६१४ में लिखा है कि कुबाचा स्वयं सिंधु नदी में डूब मरा।

के नायक का सहायक नासिर अमीर-उल-मोमनीन" लिखा जाने लगा। सिक्कों के आकार में परिवर्तन किया गया और इल्तुतमिश ने सर्वप्रथम विशुद्ध अरबी ढंग से सिक्के प्रचलित किये। १७५ ग्रेन तोल का चाँदी का 'टंका' सर्वमान्य सिक्का निर्धारित किया गया।

बंगाल और ग्वालियर की विजय—इस्लाम के संरक्षक द्वारा अपने शासनाधिकार की मान्यता से बल प्राप्त कर लेने से इल्तुतमिश को अव्यवस्था के नियन्त्रण तथा विजयों के विस्तार में अधिक कठिनाई न रह गई। बंगाल में नासिरुद्दीन महमूद शाह की मृत्यु के पश्चात् खिलजी मलिकों ने लखनौती में विद्रोह कर दिया। सुलतान ने विशाल सेना के साथ विद्रोहियों के विरुद्ध प्रयाण किया और उनको परास्त कर दिया। लखनौती का शासन अलाउद्दीन जैनी को सौंप कर समस्त प्रांत में शान्ति स्थापित की गई। १२३१ ई० में सुलतान ने ग्वालियर के विरुद्ध अभियान किया क्योंकि आरामशाह के अल्पकालीन शासन-काल में यहाँ के शासक ने दिल्ली के आधिपत्य की अवहेलना कर दी थी। स्थानीय शासक मंगलदेव ने प्राण-पण से युद्ध किया और अनियमित रूप से ग्यारह महीने तक विकट संग्राम चलता रहा। अंततः १२३२ ई० में दुर्ग पर सुलतान का अधिकार हो गया। मगलदेव बचकर भाग निकला, परंतु उसके अनेक अनुयायी (लगभग ७००) पकड़े गये और सुलतान के सामने उनका वध किया गया।

सफलतापूर्ण जीवन का उपसंहार—इन विजयों से उत्साहित होकर सुलतान ने मालवा पर अभियान किया और भिलसा के दुर्ग पर अधिकार कर विक्रमादित्य की प्राचीन राजधानी उज्जैन की ओर प्रयाण किया और इसको भी सरलता से हस्तगत कर लिया। इस नगर में मुसलमानों की विनाश की प्रवृत्ति ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया और महाकाल के अति प्राचीन तथा देश में सर्वाधिक सम्मान्य मंदिर को विध्वस्त कर मूर्तियों को दिल्ली ले गये। मालवा से उसके लौट आने पर दिल्ली में मुलाहिदों में प्रचण्ड विद्रोह जाग उठा। अपने धर्म को राज-धर्म बनाने के प्रयत्नों में हताश होकर उन्होंने सुलतान के प्राण लेने की ठान ली। एक शुक्रवार के दिन जब सुलतान बड़ी मस्जिद में सामूहिक प्रार्थना में भाग ले रहा था, बहुत से आततायी हाथ में तलवार लिये हुए अंदर घुस आये, परंतु प्रार्थना के लिए एकत्र जन-समूह में निपटते हुए जब तक वह दुष्ट सुलतान के स्थान तक पहुँच पाये, उससे पहले ही वह उस स्थान से निकल चुका था। मस्जिद की छत, दीवारों तथा द्वार पर जन समूह आ

इल्तुतमिश के समय में दिल्ली साम्राज्य
मुलतान
दिल्ली
कन्नौज
अयोध्या
ग्वालियर
प्रयाग
बनारस
लखनौती
उज्जैन
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी

जुटा और उसने बाणों, ईंटों तथा पत्थरों की वर्षा से इन आततायियों को अभिभूत कर दिया। बाद में यह सुलतान द्वारा मरवा दिये गये। सुलतान का अंतिम अभियान बानियान[12] पर हुआ, परंतु स्वास्थ्य विगड़ जाने के कारण उसको यह प्रयत्न अधूरे में ही छोड़ देना पड़ा। अविश्रान्त रूप से शासक के परिश्रम-साध्य कर्तव्यों का २५ वर्ष तक पालन करते हुए उसका स्वास्थ्य इतना गिर गया था कि इस अभियान से लौटते समय उसको राजधानी में रोगी बनकर ढकी पालकी में लेटकर आना पड़ा। ज्योतिषियों तथा वैद्यों के विविध उपचारों से लाभ की अपेक्षा रोग बढ़ता ही गया और हिजरी सन् ६३३ (१२३५ ई०) के शाबान मास की २० तारीख को उसने शरीर त्याग दिया।

इल्तुतमिश का चरित्र—निस्सन्देह ही इल्तुतमिश[13] ने हिन्दुस्तान में दास-वंश की स्थापना की। उसी ने अपने स्वामी कुतुबुद्दीन के विजित प्रदेशों के शासन को सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित किया। अल्पावस्था में उसके ईर्षालु भाइयों ने जोसेफ के समान उसको भी ठुकरा दिया था, परन्तु भाग्य ने उस पर कृपा की और वह निर्धनता की स्थिति से उभर कर गौरवशाली पद पर आरूढ़ हो गया। उसको देखकर एक बार सुलतान मुईजुद्दीन ने ऐबक से कहा था—"इल्तुतमिश के साथ अच्छा व्यवहार करो, क्योंकि एक दिन वह सुविख्यात होगा।" जब से इल्तुतमिश ने दासता से मुक्ति पाकर स्वतन्त्रता प्राप्त की, उसके कार्यों में अपूर्व दृढ़ता एवं साहस प्रकट होने लगे और शीघ्र ही वह अपने स्वामी का अनन्य विश्वासपात्र बन गया। उसको 'अमीर-शिकार' का पद प्राप्त हुआ

---

१२. निजामुद्दीन की नकल कर बदाऊँनी व फरिश्ता ने बानियान के स्थान पर मुलतान लिख दिया है, जो अशुद्ध है। 'तबकात-ए-नासिरी' में बानियास या बनयान लिखा है। मेजर रेवर्टी ने इस स्थान का निर्धारण सिंध-सागर दोआब के पहाड़ी प्रदेशों में, या नमक की पहाड़ियों के समीपवर्ती पश्चिम भाग में किया है।
रेवर्टी—'तबकात-ए-नासिरी' १, पृ० ६२३ (टिप्पणी ८)।

१३. इब्न बतूता ने सुलतान की न्यायप्रियता की प्रशंसा की है। उसका कहना है कि सुलतान के प्रासाद के द्वार पर दो संगमरमर के सिंह बने थे, जिनकी गर्दन पर घंटियाँ लटक रही थीं। जब कोई मनुष्य प्रार्थना करना चाहता था तो वह इन घंटियों को बजाता था और सुलतान उसको तत्काल बुला भेजता और उसकी प्रार्थना सुनता था। यह कहना कठिन है कि इब्न बतूता का यह वर्णन कितना सत्य है, क्योंकि उसका वर्णन जन-श्रुतियों पर आधारित है।
इब्न बतूता, पेरिस संस्क०, ३, पृ० १६५।

और इसके थोड़े समय बाद ही वह प्रान्तीय शासक बनाया गया। शासन-सूत्र हाथ में आने पर उसने कुछ समीपवर्ती प्रदेशों को छोड़कर समग्र हिन्दुस्तान पर अधिकार कर लिया और शत्रुओं से निपटने में अद्वितीय साहस एवं निर्भयता का परिचय दिया। यद्यपि उसका अधिकांश समय युद्धों मे व्यतीत होता था, परन्तु धर्मात्मा तथा विद्वान् पुरुषो के संरक्षण के प्रति वह सदैव सचेत रहा। ग्वालियर के घेरे के समय सुलतान की इस तत्परता का एक सुन्दर उदाहरण मिलता है। युद्ध की व्यस्तता में भी उसको धार्मिक कृत्यो का तथा विद्वानों का ध्यान बना रहा। प्रसिद्ध इतिहासकार मिनहाज-उस्-सिराज को उसने धार्मिक-प्रवचन करने तथा 'उजूहा' उत्सव के अवसर पर 'खुतब' पढ़ने के लिए ग्वालियर दुर्ग के सामने उत्तर की ओर के स्थान पर नियुक्त किया। उसके हृदय मे गुणों के प्रति बहुत आदरभाव था। उसकी गुणग्राह्यता का यह उत्कृष्ट उदाहरण है कि दुर्दैव से प्रताडित एवं आत्मरक्षार्थ शरणागत बगदाद के वजीर फक्र-उल-मुल्क उसामी के प्रति उसने अत्यन्त सम्मानित एवं उदार व्यवहार किया। धार्मिक कर्तव्यों के निर्वाह में सुलतान बहुत दृढ़ था और इसी कारण मुलाहिदों ने उसकी हत्या करने का विफल प्रयत्न किया था। भवन-निर्माण में भी उसकी बहुत रुचि थी। आकार की विशालता तथा शिल्प सौंदर्य के लिए प्रख्यात कुतुब-मीनार[14] जो मूलतः २४२ फीट ऊँची थी, उसके स्थापत्य-

---

१४. योरोपीय विद्वान् एव प्राच्य-विद्या-विशारदो ने कुतुब मीनार को भूल से दिल्ली के दास-वंश के प्रथम शासक कुतुबुद्दीन का निर्माण समझ लिया था। इस मीनार को प्रसिद्ध मुसलमान संत ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी, ऊशी, के नाम पर, जिसका अफगानों मे बहुत आदर है, कुतुब साहिब की लाट कहा जाता है। इस संत का सुलतान शमसुद्दीन इल्तुतमिश बहुत सम्मान करता था और उसने इस संत को 'शेख-उल-इस्लाम' का पद देना चाहा था, परन्तु संत ने स्वीकार न किया।

कार स्टीफन ने अपने ग्रंथ 'ऑर्कयॉलॉजी ऑव डेल्ही' में यह सम्मति प्रकट की है कि इस मीनार की निचली मंजिल कुतुबुद्दीन ऐबक ने बनवाई थी और शेष भाग इल्तुतमिश ने पूरा किया था; परन्तु सर सैय्यद अहमद ने इल्तुतमिश को ही असंदिग्ध रूप से सम्पूर्ण मीनार का निर्माता माना है। विंसेंट स्मिथ का मत भी कार स्टीफेन के मत के अनुरूप है। मीनार पर के अभिलेख से विदित होता है कि सुल्तान मुहम्मद गोरी के अमीर, सेनापति, गौरवशाली, महान् (कुतुबुद्दीन की उपाधि), ने इस मीनार का निर्माण प्रारम्भ किया था, जिसने (सम्भवतः) पहली मंजिल तक इसको बनवाया। इल्तुतमिश ने इसके ऊपर तीन और मंजिलें बनवाकर इसको पूरा किया। पाँचवीं तथा अंतिम मंजिल को और संभवतः चौथी मंजिल का अधिकांश भाग फीरोज तुगलक ने बनवाया था। कुतुब मीनार का बहुत सुन्दर वर्णन मि० पेज ने अपनी पुस्तक 'मेम्वायर्स ऑव दि ऑर्क्यालॉजीकल सर्वे ऑव इण्डिया' में दिया है।

प्रेम का ज्वलंत उदाहरण है। जीवन भर वह महान् शासकों जैसा व्यवहार करता रहा और अविश्रांत परिश्रम से तभी अलग हुआ, जब अस्वस्थता ने उसको विश्राम करने के लिए विवश कर दिया। मुसलमान-इतिहासकार मिनहाज-उस्-सिराज ने उसके गुणों की प्रशंसा इन शब्दों में की है, "उस जैसे उदाहरणीय धार्मिक विश्वास तथा विरक्तों, भक्तों, संतों एवं धर्म तथा विधि के आचार्यों के प्रति ऐसी दया तथा आदर-भाव से युक्त शासक से सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर कभी भी साम्राज्य समलंकृत नहीं हुआ।"

इल्तुतमिश के निर्बल उत्तराधिकारी—इल्तुतमिश भली भांति जानता था कि उसके पुत्र शासन-सूत्र सँभालने के योग्य नहीं है; अतः उसने अपनी पुत्री रज़िया को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था। परन्तु उसके सरदार सिंहासन पर एक नारी की प्रतिष्ठा को सहन न कर सके और उन्होंने इल्तुतमिश के ज्येष्ठ पुत्र रुक्नुद्दीन को सिंहासनासीन किया। वह विलासिता के कारण कुख्यात था और अत्यन्त गर्हित एवं भोग-परायण था। रुक्नुद्दीन रूपवान्, सहृदय, उदार तथा विलास-प्रेमी मूर्ख था। विदूषकों तथा सारंगी बजानेवालों की संगति में उसको बहुत आनन्द मिलता था। अपनी अत्यन्त गर्हित एवं निंद्य पिपासा की परितृप्ति के लिए वह राज्य का धन व्यय करने लगा। वह इतना अपव्ययी था कि कभी-कभी मदिरोन्मत्त अवस्था में हाथी पर चढ़कर दिल्ली के बाजारों में निकल पड़ता और जन-समूह के बीच सोने के टंकों की बौछार कर देता। जब यह युवक सुलतान भोग-विलासों में निमग्न था, उसकी माँ शाह तुरकान शासन-संचालन करती थी। फ्रांस की कैथेराइन दे मेदिची के समान यह बहुत उच्चाकांक्षी तथा अधिकार-लिप्सु नारी थी। परन्तु जब माँ-बेटे ने मिलकर राज-वंश के एक सदस्य कुतुबुद्दीन की हत्या करा दी तो मलिकों तथा अमीरों में उसके प्रति विद्रोह की भावना जाग उठी। रुक्नुद्दीन के छोटे भाई मलिक गियासुद्दीन मुहम्मदशाह ने, जो अवध का शासक था, लखनौती का कोष लूट लिया और हिन्दुस्तान के अनेक नगरों में लूटमार मचा दी। बदाऊँ, मुलतान, हांसी तथा लाहौर के प्रतिनिधि-शासकों ने भी स्पष्ट

कार स्टीफन—'आर्क्योलॉजी ऑव डेल्ही' पृ० ६५।
रेवर्टी—'तबकात-ए-नासिरी', १, पृ० ६२१-२२।
सैय्यद अहमद—'आसार-उस्-सनादीद' (लखनऊ) पृ० ५४-५५।
स्मिथ—'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया' पृ० २२३।
टॉमस—'दि क्रॉनिकल्स ऑव दि पठान किंग्स ऑव डेल्ही' पृ० २४।
कनिंघम—'आर्क्योलॉजीकल रिपोर्ट'—१८६२-६३, पृ० २९-३१।
एपिग्राफिया इण्डो-मोस्लेमिका—१९११-१२, पृ० २०-२२।

विद्रोह कर दिया और वे केंद्रीय-शासन की अवज्ञा करने लगे। इन्होंने इस विलासी सुलतान को अधिकार-च्युत करने का षड्यन्त्र रचा। रुक्नुद्दीन ने उनके विरुद्ध ससैन्य प्रयाण किया, परन्तु साम्राज्य का वजीर निजामुलमुल्क मुहम्मद जुनैदी भयभीत हो उठा और किलुखरी से भागकर कोल पहुँच गया जहाँ उसने बदायूँ के हाकिम मलिक ईजुद्दीन सलार के साथ गठ-बंधन कर लिया। यहाँ से ये दोनों विद्रोही लाहौर की ओर बढ़े; अन्य विद्रोही मलिक व अमीर भी उनसे आ मिले। इनका दमन करने के लिए सुलतान आगे बढ़ा, परन्तु अभी वह मनसूरपुर तथा तराइन (तरावरी) तक ही पहुँच पाया था कि उसके घरेलू दासों ने उसके दो वजीरों (अमात्यों) तथा कुछ अन्य अधिकारियों का वध कर दिया। इसी समय दिल्ली में विद्रोह की सूचना पाकर सुलतान को लौट जाना पड़ा; परन्तु वह दिल्ली पहुँच भी न पाया था कि उसकी माँ ने इल्तुतमिश की ज्येष्ठ-पुत्री तथा उसके द्वारा मनोनीत सिंहासन की उत्तराधिकारिणी रजिया के प्राण लेने का षड्यन्त्र रचकर, नई आपत्तियाँ कर दीं। इस षड्यन्त्र का भंडाफोड़ हो गया और क्रुद्ध जन-समूह ने अधिकार-लिप्सु शाह तुरकान को बंदी बना लिया। उसके पतन से रजिया का मार्ग प्रशस्त हो गया। तुर्क अमीर और सरदारों ने उसको अपना शासक स्वीकार कर अभिवादन दिया। रुक्नुद्दीन को भी पकड़ कर कारागार में डाल दिया गया जहाँ सात महीनों से कुछ कम समय तक शासनाधिकार का उपभोग कर वह हिजरी सन् ६३४ के रबी-उल-अव्वल मास की १८ ता० (९ नवम्बर, १२३६ ई०) को इस संसार से प्रयाण कर गया।

सुलतान रजिया का सिंहासनारोहण—जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, रजिया के शासकोचित गुणों पर मुग्ध होकर, उसके पिता ने उसको ही अपना उत्तराधिकारी चुना था[15] और इस चुनाव को वैध रूप देने के लिए राज्य के मुख्य आमात्य 'मुशरिफ-अल-ममालिक' द्वारा एक राजाज्ञा लिखवा दी थी, जिसके

---

१५. मिनहाज-उस्-सिराज ने लिखा है :—

"सुलतान ने उसके चेहरे में शक्ति एवं वीरता के लक्षण भाँप लिये, और यद्यपि वह कन्या थी और परदे में रहती थी, तब भी जब सुलतान ग्वालियर को विजय कर लौटा तो उसने राज्य के निर्देशक ताज-उल्-मुल्क महमूद को उसका नाम साम्राज्य की पैतृक-अधिकारिणी तथा सिंहासन की उत्तराधिकारिणी के रूप में लिख देने का आदेश दिया।"

रेवर्टी—'तबकात-ए-नासिरी', २, ६६, ६३८-३९।

'तबकात-ए-नासिरी', फारसी संस्क०, डब्ल्यू० एन० ली द्वारा सम्पादित, पृ० १८५-८६।

द्वारा रजिया को नियमानुसार उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया। अन्य वयस्क पुरुष उत्तराधिकारियों की अपेक्षा एक स्त्री को सिंहासन का उत्तराधिकार देना सुलतान के मन्त्रियों को अपना घोर अपमान लगा। उन्होंने इस कार्य के अनौचित्य की ओर सुलतान का ध्यान दिलाया, परन्तु उसने उत्तर दिया "मेरे पुत्र यौवन के सुखों में लिप्त है और उनमें से किसी में भी राज-कार्यों को चलाने की योग्यता नही है। मेरी मृत्यु के बाद यह प्रतीत हो जायेगा कि इनमें से कोई भी मेरी पुत्री से अधिक युवराज पद के योग्य नही है।" स्त्रियो का शासक बनना इस्लाम के इतिहास में अभूतपूर्व घटना न थी। मुसलमान-संसार, ख्वारिज्म की सत्ताधारिणी राजकुमारियो मलिका तथा तुरकान खातून के नामो से भली भाँति परिचित था, उन्होंने रजिया से कही अधिक नि:सीम शासनाधिकार का उपभोग किया था। तेरहवी शताब्दी मे भी मिस्र तथा फारस में मुसलमान रानियाँ राज्य कर रही थी। यह सब समझाकर रजिया के उत्तराधिकार का विरोध करनेवालो को चुप किया गया और रजिया को सिंहासन की उत्तराधिकारिणी स्वीकार कर लिया गया। अब उसका नाम 'सुलतान रजियतुद्दीन' रखा गया।

सुदृढ़ प्रभुत्व की स्थापना—रुक्नुद्दीन के नाम पर शासन करनेवाली शाह तुरकान के बंदी बनाये जाने के बाद, रजिया सिंहासनासीन तो हो गई, परन्तु उसके चारो ओर की अशात परिस्थितियों ने उसके सामने विकट समस्या उपस्थित कर दी। राज्य के वजीर मुहम्मद जुनैदी ने सिंहासन पर उसके अधिकार को स्वीकार न किया था और मुलतान, बदायूँ, लाहौर तथा हांसी के राज्यपाल भी उसका विरोध कर रहे थे। परन्तु अवध का शासक नुसरतुद्दीन तयारसी, जो दिल्ली राज्य के अधीन था और रजिया की कृपा से ही इस पद को प्राप्त कर सका था, उसकी सहायता के लिए आ पहुँचा। अपने साहस तथा नीति से रजिया ने शीघ्र ही सब विद्रोही मलिकों का दमन कर दिया। अनेक विद्रोही युद्ध में मारे गये और उसका प्रधान विपक्षी मुहम्मद जुनैदी परास्त होकर सिरमौर के पहाड़ी प्रदेश में भाग गया और वहीं कुछ समय बाद मर गया। इस प्रकार राज्य में सर्वत्र शांति स्थापित हो गई और इतिहासकार के शब्दो में "लखनौती से देवल तथा दमरीला पर्यंत सभी मलिकों तथा अमीरो ने राज-भक्ति एवं अधीनता स्वीकार कर ली।"

इन प्रारम्भिक वर्षों में करमत तथा मुलाहिदों के विद्रोहों ने अधिक उत्तेजना फैलाई। नूरुद्दीन नामक एक तुर्क के उकसाने पर इन सम्प्रदायो के लोग गुजरात, सिंध तथा गंगा, यमुना तटवर्ती प्रदेशों से आ आकर दिल्ली के आसपास एकत्रित होने लगे। इन्होंने इस्लाम के कट्टर-पंथियों को अधिकार-

च्युत करने का षड्यन्त्र रचा। नूरुद्दीन बहुत वाक्पटु धर्म-प्रचारक था। वह अपने चारों ओर जन-समूह एकत्रित कर 'सच्चे धर्म' के प्रतिकूल सिद्धान्तों का प्रचार कर रहा था। उसके द्वारा की गई उलमा तथा आबू हनीफा व शफी के सम्प्रदायों की कटु आलोचना ने जनता में हलचल मचा दी और एक निश्चित दिन १००० षड्यन्त्री ढाल तलवार लेकर जाम-ए-मस्जिद में घुस पड़े। यह षड्यन्त्री दो दलों में विभक्त हो गये, एक दल ने उत्तरी द्वार से मस्जिद में प्रवेश किया तथा दूसरे दल ने कपड़ा बाजार से होते हुए मुइज्जी विद्यापीठ के द्वार से प्रवेश कर दोनों ओर से मुसलमानों पर आक्रमण कर दिया। परन्तु राजकीय सेना के आने पर यह तितर-बितर हो गये और शीघ्र ही स्थिति पर नियन्त्रण कर लिया गया।

रजिया की नीति से असंतोष—रजिया बहुत गुणवती स्त्री थी; अपने सिक्कों पर वह अपने लिए 'उमदत-उल-निस्वाँ' (स्त्रियों में उदाहरणीय) उपाधि का उपयोग करती थी। तत्कालीन इतिहासकार ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह "एक महान् शासक और विचारपूर्ण, न्याय-परायण, दानशील, विद्वानों का संरक्षण करनेवाली, न्याय-दातृ, प्रजा का पालन करनेवाली तथा युद्धोचित गुण-सम्पन्न और शासक के लिए आवश्यक सभी प्रशसनीय गुणों एवं योग्यताओं से युक्त थी; परन्तु पुरुष न होने के कारण वह सब अद्भुत योग्यताएँ उसके किसी काम की न थी!" राजाओं के समान व्यवहार करने का उसने यथासंभव प्रयत्न किया। स्त्रियों-जैसे वस्त्रों तथा 'जनाना' के पर्दे को त्याग कर उसने पुरुषों जैसे शिरोवस्त्र धारण किये और खुले दरबार में राजकार्य का निरीक्षण करने लगी। हिन्दुओं तथा मुसलमान विद्रोहियों का दमन करने के लिए उसने स्वयं सैन्य-संचालन किया और लाहौर के विद्रोही प्रतिनिधि शासक पर स्वयं अभियान कर उससे अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। परन्तु उसके नारीत्व ने उसके सब गुणों पर पर्दा डाल दिया। जैसा एलफिंस्टन ने लिखा है उसके समस्त गुण व योग्यताएँ इस एकमात्र दोष से उसकी रक्षा न कर सकीं। यह निर्बलता अश्वशाला के अध्यक्ष पर कृपा के रूप में प्रकट हुई। इस पक्षपात को और भी हीन रूप इस दुर्भाग्य से प्राप्त हुआ कि उसका यह कृपापात्र जमालुद्दीन याकूत[16] एक अबीसीनिया-निवासी दास था। एक अबीसीनिया निवासी के प्रति रानी के

---

१६. ऐसा विदित नहीं होता कि याकूत के प्रति रजिया का स्नेह अपराधात्मक न था। यद्यपि इब्न बतूता ने (पेरिस संस्क० ३, पृ० १६७) इस स्नेह को बहुत निंदनीय प्रकार का बताया है, परन्तु इब्न बतूता का कथन उन बातों में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, जो उसके समक्ष नहीं हुई थी।

इस प्रेमपूर्ण व्यवहार से स्वतन्त्र खान, जिन पर अब तक (चालीसिया के नाम से) विख्यात तुर्की मामलूकों की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी, बहुत क्रुद्ध हो उठे। दास-वंश के शासन की स्थापना को संभव बनानेवाले इन कार्य-कुशल बुद्धिमत्तापूर्ण नीति न थी। इसके अतिरिक्त पर्दा छोड़कर सार्वजनिक कार्यों में पुरुषों के समान निःसंकोच भाव से रानी का भाग लेना कट्टर मुसलमानों की घृणा का विषय बन गया था।

मलिक इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया का विद्रोह, १२३९ ई०—सुलताना रजिया के विरुद्ध विद्रोह का झंडा सर्वप्रथम सरहिंद के विद्रोही राज्यपाल अल्तूनिया ने उठाया। इस सरदार के विद्रोह से रजिया सतर्क हो उठी और एक विशाल सेना लेकर वह इस विद्रोही का दमन करने के लिए राजधानी से चल पड़ी। तबरहिन्द नामक स्थान पर पहुँचने पर तुर्क अमीरों ने उसके कृपापात्र याकूत

'तबकात-ए-नासिरी' के लेखक ने इस घटना को साधारण रूप में इस प्रकार लिख दिया है कि अबीसीनियाई याकूत ने सुलतान की सेवा करते हुए, उसका कृपाभाव प्राप्त कर लिया था। (रेवर्टी 'तबकात-ए-नासिरी' १, पृ० ६४२) मेजर रेवर्टी का विचार है कि रजिया का स्नेह निंदनीय प्रकार का न था क्योंकि फरिश्ता ने उस पर जिस मर्यादा-भंग करने का सबसे बड़ा आरोप लगाया है वह "घनिष्ठता है जो अबीसीनियाई (याकूत) एवं रानी के बीच इस बात में (प्रकट होती) थी कि जब रानी घोड़े पर सवार होती थी, तो सदैव (यह) अबीसीनियाई उसको घोड़े पर चढ़ाता था।"

'तबकात-ए-अकबरी' में लिखा है कि जब सुलतान रजिया सवार होती थी, तो वह (याकूत) उसकी बाहों में हाथ डालकर उसको घोड़े पर बैठा देता था (कलकत्ता संस्क० पृ० ६७)। बदायूँनी ने यही बात दुहराई है (रैंकिंग—'अल बदौनी' १, पृ० १२०)। सत्य जो कुछ भी हो, इतना अवश्य निस्संदेह कहा जा सकता है कि इस अबीसीनियाई के प्रति ऐसा स्नेह दिखाकर रजिया ने अक्षम्य भूल की। इस प्रकार के व्यवहार पूर्वीय देशों में सदैव सन्दिग्ध दृष्टि से देखे जाते है। रजिया ने उच्च-वर्गीय महिला के लिए उचित व्यवहार का अवश्य उत्क्रमण किया और यह उल्लंघन उसके अविवाहित होने के कारण और भी निंदनीय बन गया।

टॉमस ने रानी के इस व्यवहार की घोर निंदा की है।

उसने लिखा है "ऐसी बात नहीं थी कि अविवाहिता रानियों को प्रेम करने की आशा न रही हो। वह किसी वंशवर्ती राज-पुत्र पर आसक्त हो सकती थी, या हरम के अँधेरे मार्गों में निर्बाध रूप से विलास कर सकती थी, परन्तु उसकी उच्छृंखलता उसको गलत दिशा की ओर ले चली और वह अपनी राजसभा के एक हब्शी सेवक के प्रेम में मग्न हो गई। साथ ही यह स्नेह जिस व्यक्ति के प्रति प्रदर्शित किया जा रहा था, उसको सभी तुर्क सरदार घृणा की दृष्टि से देखते थे।"

टॉमस—'दि क्रॉनिकल्स ऑव पठान किंग्स' पृ० १०६।

का वध कर दिया और उसको (रजिया को) दुर्ग में बन्दी बना लिया। परंतु रजिया की चालाकियों के सामने उसके विपक्षियों की योजनाएँ सफल न हो सकीं। उसने अल्तूनिया पर अपना मायाजाल बिछाया और अल्तूनिया ने उससे विवाह कर दिल्ली पर पुनः अधिकार स्थापित करने के लिए एक विशाल सेना के साथ प्रयाण कर दिया। मुईजुद्दीन बहराम शाह ने, जिसको रजिया की अनुपस्थिति में अमीरों ने सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया था, रजिया एवं उसके पति का सामना करने के लिए ससैन्य प्रयाण किया और उनको कैथल नामक स्थान पर परास्त कर दिया। अल्तूनिया के सहयोगियों ने उसका साथ छोड़ दिया और वह रजिया सहित हिन्दुओं के हाथ पड़ गया, जिन्होंने उनको हिजरी सन् ६३८ के रबी-उल-अव्वल मास की २५ तारीख को (१५ अक्टूबर, १२४० ई०) मार डाला।[१७] रजिया का शासन केवल साढ़े तीन वर्ष तक रह सका।

रजिया की मृत्यु के बाद अव्यवस्था—रजिया के बाद उसका भाई बहराम शाह सिंहासनासीन हुआ। वह 'निर्भीक, साहस एवं युद्धोत्साह सम्पन्न' परन्तु स्पष्टवादी एवं सरलता-प्रिय शासक था और राजसी ठाट-बाट के प्रदर्शन से दूर रहता था। मिनहाज-उस्-सिराज लिखता है; "वह स्वभाव से सरल एवं स्पष्टवादी था; और इस संसार के राजाओं की प्रथा के अनुसार वह कभी आभूषण एवं सुन्दर वस्त्र धारण न करता था और न कभी उसने कटि वस्त्रों, रेशमी, वस्त्रों, सजधज, ध्वज-पटों या ऐश्वर्य के प्रदर्शन की इच्छा ही प्रकट की।" उसका शासन हत्या, विश्वासघात एवं षड्यन्त्रों से पूर्ण रहा; और जब उसने गुप्त-मन्त्रणाओं को विफल बनाने के लिए सशक्त प्रयत्न प्रारम्भ किये तो उसकी लोकप्रियता समाप्त हो गई। सबसे पहले तो 'चालीसियों' के प्रसिद्ध दल ने सुलतान के सामने कठिनाइयाँ उपस्थित कीं। राजसभा, मंत्रियों के पारस्परिक कलहों एवं झगड़ों का क्रीड़ास्थल बन गई। राज्य में प्रभावशील और 'अमीर-हाजिब' पद पर आसीन मलिक बदरुद्दीन सुन्कर से, सुलतान और निजामुलमुल्क, उपाधिकारी मन्त्री, जिसने कुछ समय पूर्व सुलतान को अपनी जान लेने के प्रयत्न के लिए क्षमा कर दिया था, दोनों ही घृणा करते थे। अपनी सुरक्षा के विचार से सुन्कर सुलतान को सिंहासन-च्युत करना चाहता था, परन्तु भूल उसने यह की कि अपनी योजना निजामुलमुल्क के सामने प्रकट कर दी। इस अमात्य ने बड़ी चतुराई से सुलतान को इस योजना के प्रति सचेत कर दिया। सुलतान ने अमात्यों से मंत्रणा की और तत्काल

---

१७ इब्न बतूता ने रजिया की मृत्यु का बड़े विचित्र ढंग से वर्णन किया है। परन्तु उसका वर्णन जन-श्रुतियों पर आधारित है; अतः सत्य नहीं है।

आज्ञा निकाली कि भुन्कर को बदायूँ की जागीर में बदल दिया जाय। परन्तु चार मास बाद (नवम्बर १२४१ ई०) जब वह सुलतान की अनुमति लिये बिना ही लौट आया तो सुलतान बहुत क्रुद्ध हुआ और उसको बंदी बनाकर मार डालने की आज्ञा दे दी। इस विद्रोही अमीर के वध से 'चालीमियों' का दल बिगड उठा और परिणामस्वरूप विकट परिस्थिति का मिनहाज-उस्-सिराज ने इन शब्दों मे वर्णन किया है :—

"इस घटना से अमीरों का भाव सर्वथा परिवर्तित हो गया और वे सब सुलतान से भयभीत एवं शंकित हो गये और उनमें से एक का भी सुलतान में विश्वास न रह गया। अपने पर किये गये आघातों का प्रतिशोध लेने के लिए उत्सुक वजीर की भी इच्छा थी कि सब अमीर, मलिक और तुर्क सुलतान के विरुद्ध विद्रोह कर दें। वह तब तक अमीरों व तुर्कों के प्रति सुलतान की शंकाओं को बढाता रहा और सुलतान के विरुद्ध अमीरों मे भय उत्पन्न करता गया, जब तक कि अततः यह समाचार महामारी के समान सर्वत्र न फैल गया और सुलतान के सिंहासन-च्युत होने तथा जनता में विद्रोह का कारण न बन गया।"[१८]

इसी समय एक ऐसी असंभावित घटना हो गई, जिससे सुलतान की शक्ति को भीषण आघात लगा। बहादुर तैर के नेतृत्व में मंगोल हिन्दुस्तान में आ धमके। लाहौर का शासक मलिक इख्तियारुद्दीन, अपनी जनता में एकता न होने के कारण उनका सशक्त प्रतिरोध न कर सका। परिणामस्वरूप लाहौर पर अधिकार कर मगोलों ने बहुत बडी सख्या मे मुसलमानों को तलवार के घाट उतार दिया। इधर सुलतान ने आयूब नामक दरवेश के प्रभाव में आकर एक काजी का वध करवा दिया था, जिसके प्रति 'चालीमियों' का दल बहुत भक्ति-भाव रखता था; इससे यह दल सुलतान से और भी अधिक क्रुद्ध हो उठा। मंगोलों द्वारा लाहौर पर अधिकार किये जाने की सूचना पाकर बहराम ने पंजाब की ओर प्रयाण करने के लिए सेना को सुसज्जित करने की आज्ञा दी, परन्तु सुलतान से अपने प्राण-हरण करने के प्रयत्न का प्रतिशोध लेने के लिए उत्सुक निजामुलमुल्क ने उसको सूचित किया कि सब अमीर एवं सरदार राजाज्ञा का पालन करने में टालमटोल कर रहे है और उसने सुलतान से उनके विनाश की अनुमति माँगी तथा अनुमति प्राप्त हो जाने पर अमीरों को इस वस्तुस्थिति से पूर्णतः अवगत करा दिया। अपने विनाश की आज्ञा

---

१८. 'तबकात-ए-नासिरी' पृ० ६५४-५५।

का समाचार पाकर अमीरों के क्रोध का ठिकाना न रहा और उन्होंने 'उसको सिंहासन-च्युत करने तथा उसका विनाश करने की प्रतिज्ञा' कर ली। सेना मे विद्रोह की प्रवृत्ति को शांत करने का विफल प्रयत्न किया गया। राजघराने के प्रमुख फर्राश फरुंखी के आचरण ने, जिसने सुलतान को पूर्णतः वशीभूत कर लिया था, स्थिति को और भी विकट बना दिया। विद्रोही सेना २२ फरवरी १२४२ ई० को दिल्ली लौट आई और उसने सुलतान को सफेद किले में मई मास तक घेर रखा। चालबाज निजामुद्दीन भी जो अब तक सुलतान के हितैषी का अभिनय करता रहा था, अब अपने यथार्थ रूप मे प्रकट हो गया और सुलतान के विरुद्ध स्पष्टतया विष वमन करने लगा और उसने सुलतान के अनेक पक्षपातियों को सुलतान के विरुद्ध कर दिया। १० मई, १२४२ ई० को दिल्ली पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया; बहराम को कारागार में डाल दिया गया और कुछ दिनों बाद वहीं मार डाला गया।

बहराम के वध के बाद 'चालीसियों' के दल ने इल्तुतमिश के पौत्र अलाउद्दीन मसऊद शाह को शासक के पद पर प्रतिष्ठित किया। सरदारों ने निजामुद्दीन का वध कर दिया और मंत्री का पद निजामुद्दीन अबूबक्र को सौंपा गया तथा उलुग खान-ए-मुअज्जम[१९] को राजधानी का 'अमीर-ए-हाजिब' बनाया गया तथा हांसी की जागीर दी गई। अपने शासन के प्रारम्भिक दो वर्षों में सुलतान ने राज्य के विभिन्न भागों में अनेक विजयें प्राप्त कीं तथा हिन्दुओं एवं उदारपंथियों के विरुद्ध अपने धर्म की आज्ञानुसार धार्मिक युद्ध किये। दिसम्बर सन् १२४२ ई० में बंगाल का प्रतिनिधि शासक तुगरिल कड़ा की सीमा की ओर बढ़ आया, परन्तु इतिहासकार मिनहाज-उस्-सिराज ने उसको समझा-बुझाकर अपने देश को लौटा दिया। १२४५ ई० में मंगोलों ने पुनः भारत की सीमा में आक्रमण किया और वह उच्छ तक बढ़ आये, परन्तु उनको पीछे हटना पड़ा और बहुत क्षति उठानी पड़ी। शासन के अंतिम वर्षों में सुलतान सर्वथा स्वेच्छाचारी बन गया और उसने अनेक मलिकों का वध करवा दिया। सैनिक शिविरों में रहने तथा सैनिक समाज के बीच दिन बिताने के कारण सुलतान में चारित्रिक हीनता आ गई थी; वह भोग-विलासों, मदिरा-पान तथा आखेट में लिप्त और राज-कार्यों की ओर से उदासीन रहने लगा। परिणामस्वरूप प्रजा में असंतोष फैलने लगा, और अमीरों तथा मलिकों

---

१९. यह उलुग खां उपाधिकारी वही बहाउद्दीन बलबन है जो बाद में सिंहासन पर आसीन हुआ। ईजुद्दीन बलबन, किश्लू खाँ के नाम से प्रसिद्ध है।

ने इल्तुतमिश के दूसरे पुत्र नासिरुद्दीन को शासन सँभालने के लिए आमंत्रित किया। मसऊद को १० जून सन् १२४० ई० में कारागार में डाल दिया गया[20] और कुछ दिनों बाद वह "सर्वशक्तिमान की शरण में ले लिया गया।"

---

२०. 'चालीसियों के दल' ने दिल्ली की राजनीति में बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया। वह राजाओं को बनाते और गद्दी से उतारते रहे। सर वूलसले हेग ने ठीक ही कहा है कि यदि पारस्परिक ईर्ष्या के कारण वह अपने बीच में से किसी को प्रधानता देने में असमर्थ न हो गये होते, तो स्वयं सिंहासन ही उनके अधिकार में आ गया होता। अपने आपसी मतभेदों के कारण उनको बाध्य होकर इल्तुतमिश के किसी पुत्र को ही शासक पद के लिए चुनना पड़ा। परन्तु राज्याधिकार वास्तव में उन्हीं के हाथ में रहता था। यह दल अंततः तब समाप्त किया गया जब बलबन सिंहासनासीन हुआ। 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया' ३, पृ० ६२।

अध्याय ७

बलवन और उनके उत्तराधिकारी

नासिरुद्दीन महमूद—सन् १२४६ ई० में दिल्ली का सिंहासन इल्तुतमिश के एक कनिष्ठ पुत्र नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह के अधिकार में आया। नासिरुद्दीन धर्मपरायण, ईश्वरी विधान में विश्वास करनेवाला एव संयमी शासक था और विद्वानों के संरक्षण तथा दरिद्रों एवं आपत्तिग्रस्तों की सहायता में सदैव तत्पर रहता था। वह दरवेशों की भाँति एकान्त एव प्रच्छन्न जीवन व्यतीत करता था और राजकीय सुखों से दूर, कुरान की प्रतिलिपियाँ लिखकर अपनी जीविका उपार्जन करता था। जब कि आंतरिक गुप्त-मंत्रणाएँ तथा हिन्दुओं के विद्रोह, सुलतान को शक्तिहीन बनाने के लिए यथेष्ट थे और मंगोलों के दल भारत के प्रवेश द्वार पर प्रबल आघात कर रहे थे, ऐसे समय में वह चरित्र एवं स्वभाव से दिल्ली के राज्य पर शासन करने के लिए सर्वथा अयोग्य था। परन्तु उसके सौभाग्य से बलबन के रूप में उसको ऐसा परम निपुण एवं दृढ़निश्चयी मंत्री प्राप्त हो गया था, जो अपने स्वामी के शासन के प्रारम्भ से अंत तक राज्य की आंतरिक एवं वाह्य नीति का कुशलतापूर्वक संचालन करता रहा।

बलबन का प्रारम्भिक जीवन—बलबन इलबारी कबीले का एक तुर्क था—स्वयं इल्तुतमिश भी इसी कबीले का था—और उसका पिता १०,००० परिवारों का खान था। परन्तु बलबन के भाग्य में कुछ परिवारों का खान मात्र ही न होकर बहुत उच्च पद पर प्रतिष्ठित होना था। इसीलिए भाग्य-चक्र ऐसा परिवर्तित हुआ कि वह युवावस्था में मंगोलों का बंदी बना और मंगोल उसको बगदाद ले आये जहाँ बसरा के ख्वाजा जमालुद्दीन ने उसको क्रय कर लिया। उसमें महानता के लक्षणों का आभास पाकर ख्वाजा उसके साथ दयापूर्ण

---

१. नासिरुद्दीन महमूद के विषय में अनेक दंतकथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि सुलतान की पत्नी उसके लिए भोजन बनाती थी और एक दिन जब उसने एक नौकरानी रख देने की प्रार्थना की तो सुलतान ने उसकी प्रार्थना को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि वह तो राज्य का संरक्षक मात्र है। यह कथा एक अतिशयोक्ति जान पड़ती है। निस्सन्देह इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सुलतान बहुत सादा जीवन व्यतीत कर अधिकांश समय धार्मिक कृत्यों में लगाता था।

व्यवहार करने लगा और उसको दिल्ली ले आया जहाँ शमसुद्दीन इल्तुतमिश ने उसको खरीद लिया। "इस प्रकार उसकी पवित्र कलाई पर साम्राज्य एवं शक्ति का श्येन (बाज) रखा गया" और बलबन को सुलतान का 'खासा-बरदार' (व्यक्तिगत अनुचर) नियुक्त कर चालीस दासों के प्रसिद्ध दल में सम्मिलित कर लिया गया। रजिया के शासन-काल में 'अमीर-ए-शिकार' के पद पर उसकी नियुक्ति हुई। जब रजिया का सौभाग्य-सूर्य अस्ताचलगामी होने लगा और अमीरों ने उसके विरुद्ध विद्रोह कर दिया तो बलबन भी विद्रोहियों के दल में सम्मिलित हो गया और उसने रजिया को सिंहासन-च्युत करने में सहयोग दिया। बहराम ने अपने समर्थक अमीरों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन के लिए उनको उच्च पदों पर आसीन किया। बलबन को भी रेवाड़ी[2] की जागीर दी गई और बाद में हाँसी का जिला भी उसकी जागीर में सम्मिलित कर दिया गया। बलबन ने अपनी जागीर का बुद्धिमानी एवं सुचारु रूप से शासन तथा कृषि की दशा में सुधार किया और "उसके न्याय एवं उदारता के परिणामस्वरूप जन सतुष्ट एव समृद्ध हो गये।"

जब मंगोलों ने मगू के नेतृत्व में १२४५ ई० में सिंध प्रदेश पर आक्रमण किया और उच्छ के दुर्ग को घेर लिया, तो बलबन ने सदिग्ध-मति अमीरों के विरोध को शांत कर, मंगोलों को मार भगाने के लिए एक विशाल सेना का संघटन किया। इस अभियान का आयोजन इतने प्रभावशाली ढग से किया गया कि राजकीय सेना के आगमन का समाचार पाकर मंगोल नेता आत्म-रक्षा के लिए चिंतित हो उठा और उसने तत्काल उच्छ के दुर्ग से घेरा उठा लिया। उसकी सेना जो तीन वर्गों में विभाजित थी, बुरी तरह परास्त हुई और शतश: हिन्दू तथा मुसलमान बंदियों को पीछे छोडकर युद्ध-भूमि से पलायन कर गई। मंगोल सेना के भाग जाने पर यह बंदी मुक्त कर दिये गये। यह बलबन की सामरिक निपुणता, शक्ति एवं साहस का ही प्रभाव था कि मंगोलों को दुर्ग का घेरा उठाना पडा और इस्लाम की सेनाओं को ऐसी गौरवपूर्ण विजय प्राप्त हुई। १२४६ ई० में नासिरुद्दीन महमूद के सिंहासनासीन होने पर बलबन को राज्य का मुख्य मंत्री नियुक्त किया गया और जब कि उसका स्वामी राजनीतिक मामलों से बिलकुल तटस्थ रहकर कुरान की प्रतिलिपियाँ बनाने तथा लेखन-कौशल बढ़ाने में संलग्न था, वह संरक्षक के पूर्ण अधिकारों का उपभोग कर रहा था।

---

२. रेवाड़ी पञ्जाब के गुड़गाँव जिले में दिल्ली से जयपुर जानेवाले मार्ग पर स्थित नगर है।
इम्पी० गजेटि० पृ० ३००।

बलबन ने १२४६ ई० में रावी नदी को पार कर, जूद तथा झेलम की पहाड़ियों को आक्रान्त कर दिया और खोखरों तथा ऐसी ही अन्य लूट-मार करनेवाली जातियों का दमन किया। दोआब के विद्रोही हिन्दू राजाओं को दण्ड देने के लिए उसने अनेक बार उन पर आक्रमण किया। दीर्घ काल तक युद्ध करने के बाद उसने कन्नौज की सीमा में अवस्थित तलसन्दा के दुर्ग पर भी अधिकार कर लिया। कालिंजर व कड़ा के मध्यगत प्रदेश मलाकी के राणा को भीषण संग्राम के पश्चात् परास्त होना पड़ा और मुसलमानों को लूट में अपार सम्पत्ति प्राप्त हुई। तत्पश्चात् मेवात एवं रणथम्भोर के दुर्गों को आक्रांत किया गया; विजयश्री इस्लाम की सेनाओं के हाथ लगी; परन्तु हिजरी सन् ६४६ के जिल-हिज्जा मास की ११ ता० (७ अप्रैल, १२४८ ई०) को मलिक बहाउद्दीन इबक किले की दीवारों के सामने मारा गया। बलबन के दिल्ली लौट आने पर सुलतान ने २ अगस्त, १२४९ ई० को उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर उसको राज्य के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। उसके भाई मलिक सैफुद्दीन ऐबक किशलूखाँ को 'अमीर हाजिब' बनाया गया।

मुसलमान प्रांतीय शासकों के विद्रोह का दमन किया गया और नागौर में विद्रोह का झंडा उठानेवाले ईजुद्दीन को शेर खाँ ने उच्छ पर निर्विरोध अधिकार कर बंदी बना लिया। तत्पश्चात् ग्वालियर, चदेरी, मालवा और नरवर[3] पर अभियान किया गया और इन सब पर अधिकार कर असंख्य धन लूटा गया। एक विशाल सेना लेकर राजकीय सेना का सामना करने के लिए सन्नद्ध हिन्दू राजा चहरदेव परास्त हुआ; और विजयी सेनाएँ हिजरी सन् ६५० के रबीउल-अव्वल मास में (मई १२५२ ई०) दिल्ली लौट आईं।

छः मास पश्चात् सुलतान ने उच्छ एवं मुलतान की ओर प्रस्थान किया। अनेक प्रमुख सरदार उसके साथ आ मिले। इसी अभियान के समय बलबन के प्रभाव से ईर्ष्या करनेवाले इमादुद्दीन रिहान ने मलिकों को उत्तेजित किया और उसके विरुद्ध सुलतान के कान भरे। बलबन के विद्रोही चचेरे

---

३. नरवर भोपाल के पश्चिम की ओर ४० मील की दूरी पर स्थित है। टॉड के कथनानुसार इसकी नींव कछवाहा राजपूतों ने डाली थी। महाभारत वर्णित राजा नल नरवर में शासन करता था। उसके वंशज मुसलमानों का सदैव प्रतिरोध करते रहे। अंततः मराठों ने इसको हस्तगत किया।

जारेट, 'आइन-ए-अकबरी' २, पृ० ६०।

चहरदेव नरवर का राजा था। टॉमस, 'दि क्रॉनिकल्स' पृ० ६७। 'तबकात-ए-नासिरी' में इसका नाम चहरअजारी दिया गया है।

भाई सुन्कर के अपराधों को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया और बलबन पर उसकी गुप्त रूप से सहायता करने का आरोप लगाया गया। १२५२-५३ ई० में एक लूट-मार के अभियान की योजना बनाई गई और सुलतान ने बलबन को साथ चलने के लिए बाध्य किया। सुलतान के कानों में निरन्तर अपने विरुद्ध कहनेवाले अपने शत्रुओं का साथ करने में योद्धा मंत्री बलबन को बहुत कटु अनुभव हुआ। वे सदैव सुलतान से उसके विरुद्ध कहा करते थे कि बलबन ने राजकीय कार्यों में बहुत कुप्रबंध किया है। उन्होंने उसकी जान लेने का षड्यन्त्र रचा, परन्तु इस कुचेष्टा में विफल होकर वह उसको पदच्युत करवाने के उपायों की खोज करने लगे। अंततः उनके कुचक्र सफल हुए और यह महान् सेनानायक एवं मंत्री जिसने अनन्य भक्तिभाव से इतने दीर्घकाल तक राज्य की सेवा की थी, हिजरी सन् ६५१ के मुहर्रम में (मार्च १२५३ ई०) राजसभा से बहिष्कृत हो गया। उसको सिवालिक पहाड़ियों तथा हाँसी की अपनी जागीर में लौट जाने की आज्ञा दी गई और इमादुद्दीन को राजधानी में 'वकील-ए-दर'[४] के पद पर प्रतिष्ठित किया गया।

बलबन के पदच्युत होते ही विभिन्न पदों पर नई-नई नियुक्तियाँ की गईं और उसके समय के अधिकारियों का या तो स्थानान्तरण किया गया या वह पदच्युत कर दिये गये जिससे कि इस नीच कुलोत्पन्न घृणित दल के लिए स्थान रिक्त हो जायँ। मुहम्मद जुनैदी को वजीर बनाया गया और राजकार्यों में इमादुद्दीन का बहुत हाथ रहने लगा। मिनहाज-उस्-सिराज को काजी के पद से हटा दिया गया और जान पड़ता है इसीलिए उसने इस नये मन्त्रि-मण्डल की तीव्र निंदा की है।

इमादुद्दीन नीच कुलोत्पन्न हिन्दू था; अतः उसके उत्कर्ष से राजसभा के "शुद्ध तुर्क-वंशीय एवं तथा अभिजात ताजिक" मलिकों तथा सरदारों के स्वाभिमान को आघात लगा। उसकी अधीनता में कार्य करना वह अपना अपमान समझते थे। शासन-प्रबंध में शिथिलता आने लगी; सारे राज्य में अव्यवस्था फैल गई एवं षड्यन्त्र रचे जाने लगे और राजधानी की सड़कों तक पर गुण्डेपन का ऐसा राज हो गया कि 'तबकात-ए-नासिरी' का विद्वान् प्रणेता ६ मास तक मस्जिद में नमाज पढ़ने न जा सका। प्रांतों में असंतोष व्याप्त

---

४. 'वकील-ए-दर' ही शुद्ध रूप है। इस अधिकारी का मुख्य कर्तव्य राज-प्रासाद के द्वार की कुंजियाँ रखना था। वर्नी ने काजी जियाउद्दीन को कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खिलजी के समय का 'वकील-ए-दर' बताया है। यह पद मुगलों के समय में भी बना रहा और बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। रेवर्टी—'तबकात-ए-नासिरी' १, पृ० ६९४।

हो गया और सुलतान के पास चारों ओर से इमादुद्दीन को पदच्युत करने की प्रार्थनाएँ आने लगीं। कड़ा-मानिकपुर, अवध, तिरहुत बदाऊँ, तबरहिन्द, सामाना, सुन्नम, कुहराम तथा समस्त सिवालिक प्रदेश के मलिकों ने निर्वासित मन्त्री से राज्य का कार्यभार ग्रहण करने का आग्रह किया। उलुग खाँ तथा शाहजादा जलालउद्दीन मसूदशाह की सहायता सहित यह असंतुष्ट अधिकारी अपनी अपनी सेनाएँ लेकर राजधानी की ओर चल पड़े। सैनिक बल के इस प्रदर्शन से रिहान घबरा गया और उसने सुलतान को इन विद्रोहियों का दमन करने के लिए उकसाया। विपक्षी सेनाओं का तबरहिन्द के समीप सामना हुआ। दोनों सेनाओं के अग्रगामी दलों में सामना होने पर सुलतान की सेना में खलबली मच गई और वह थोड़ा भी सामना न कर हाँसी की ओर भाग चली। बाद में दोनों पक्षों के अमीरों के प्रयत्न से समाधान कर लिया गया और रिहान को पदच्युत करने के लिए सुलतान पर बल दिया गया। अततः उसको बदायूँ की जागीर में भेजा। १ फरवरी १२५४ ई० में बलबन पुनः राजधानी में लौट आया। उसके प्रत्यागमन से सबके हृदयों में आनन्दोल्लास भर गया और भगवान् की कृपा से "ईश्वरीय अनुकम्पा के द्वार अनावृत हो गये, और धरती पर वर्षा होने लगी तथा उसके आगमन को सब लोगों ने मनुष्यों के कल्याण का सूचक समझा।"

विद्रोहों का दमन—बलबन के कार्यभार सँभालने पर शासन-तन्त्र में पहले जैसे बल एवं जीवन का संचार हो गया और बलबन ने दोआब के विद्रोही अमीरों का बलपूर्वक दमन कर दिया। जब कुतलुग खाँ ने, जिसने सुलतान की विधवा माँ के साथ विवाह कर लिया था और जिसको अवध की जागीर सौंपी गई थी, १२५५ ई० में विद्रोह किया तो बलबन ने उसके विरुद्ध प्रयाण किया और उसको लौट जाने के लिए विवश कर दिया। बलबन से द्वेष रखनेवाले मलिक तथा हिन्दू इस विद्रोही से आ मिले और कुतलुग खाँ के गर्हित आचरण का अनुसरण करते हुए सिंध के प्रतिनिधि शासक ईजुद्दीन बलबन किशलू खाँ ने भी विद्रोह कर दिया और कुतलुग खाँ से आ मिला। इन दोनों विद्रोही मलिकों की सेनाएँ सामना में एकत्र हो गईं और कुछ अन्य अमीरों के साथ उलुग खाँ को पदच्युत करने की गुप्त मन्त्रणा में सम्मिलित होकर उसकी सफलता के लिए राजधानी की ओर प्रयाण कर दिया, परन्तु इस दुरभि संधि को वह कार्यरूप में परिणत न कर सके। मलिक बलबन सिवालिक प्रदेश के मार्ग से उच्छ लौट आया। इस प्रयाण में उसके अनुचरों की संख्या केवल २०० या ३०० मात्र रह गई, परन्तु इसके बाद कुतलुग खाँ का नाम फिर सुनने में न आया। १२५७

ई० के अंतिम भाग मे मगोलो ने नूयीन मारीना[५] के नेतृत्व मे सिंध पर फिर आक्रमण किया, परन्तु राजकीय सेनाओ के पहुँचने पर वह लौट गये।

अंतिम अभियान—इस मन्त्री का अन्तिम महत्त्वपूर्ण अभियान १२५९ ई० में मेवात के पहाड़ी प्रदेश पर हुआ, जहाँ विद्रोहियों ने मुसलमानो की संपत्ति लूट ली थी, गाँवो को नष्ट कर दिया था और हरियाना, सिवालिक तथा बियाना जिले के किसानों को उत्पीड़ित किया था। तीन वर्ष पूर्व भी इन्होंने ऐसी ही लूटमार मचाई थी और उलुग खाँ ने उनका बुरी तरह दमन किया था। परन्तु मलका नामक हिन्दू के नेतृत्व मे उन्होंने फिर लूटमार प्रारम्भ कर दी। मलका ने आसपास के देशों के लुटेरों को संघटित कर अपना दल खूब बढ़ा लिया था। उलुग खाँ ने इन लुटेरों पर आक्रमण किया और अमीरो तथा मलिको के उत्साह एवं निर्भयतापूर्ण प्रयत्नों से यह लुटेरे पकड़े गये और उसने लगभग १२,००० लुटेरों को तलवार के घाट उतरवा दिया। उनके लगभग २५० नेता "दासता की शृंखलाओं में जकड़े गये" और विजयी सेना को लूट में विशाल संपत्ति प्राप्त हुई। इस प्रकार २० दिन के अल्प काल में ही इस योद्धा मन्त्री ने सारे देश से इन आततायियों को समाप्त कर दिया और उनसे छीनकर १४२ घोड़े तथा ३५,००० टकों से भरे हुए ६० सूती थैले राजकीय कोष में जमा किये। लगभग इसी समय चंगेज खाँ के नाती हलागू का राजदूत दिल्ली आया। उसका भव्य स्वागत किया गया और इस प्रतिष्ठित अभ्यागत के स्वागत के लिए आयोजित उत्सव का सभापतित्व ग्रहण करने के लिए धर्मात्मा एवं उदार सुलतान स्वयं अपने एकांतवास को छोड़कर राजसभा में उपस्थित हुआ।

यहाँ पर तत्कालीन इतिहासकार का वर्णन सहसा रुक गया है और १२६० ई० के मध्य से लेकर १२६६ ई० के प्रारंभ तक के इन ६ वर्षों की घटनाओं के विषय में इतिहासकार ने पूर्ण मौन धारण किया है। इतिहासकार के मौन का कारण संभवतः यह है कि इस साल में मंगोलों ने पंजाब तथा दिल्ली साम्राज्य के पश्चिमी सीमावर्ती प्रदेशों को आक्रान्त कर दिया था और जैसा कि रेवर्टी का अनुमान है, इतिहासकार ने अपनी लेखनी को विश्राम देना ही उचित समझा और इस प्रकार वह ऐसे

---

५. एक अन्य स्थान पर इसका नाम नूयीन सालीन दिया हुआ है, परन्तु 'ल' व 'र' अक्षर परस्पर परिवर्तनीय हैं।
रेवर्टी—'तबकात-ए-नासिरी', १, पृ० ७११।

प्रसग को लेखनीवद्ध करने से विरत हो गया जो उसके आश्रयदाता के पक्ष के लिए कुछ भी गौरवपूर्ण न था।

बलबन के साहसिक कार्य—पूरे चालीस वर्ष तक बलबन ने शासक के अधिकारो का पूर्णतया उपभोग किया और अनेक आपत्तियों से राज्य की रक्षा की। यह बहुत ही विद्रोह एव विक्षोभपूर्ण काल था और बलबन जैसा पुरुष ही इस अव्यवस्था एव विश्रृंखलता को उभाड़ने वाले तत्त्वों का बलपूर्वक दमन कर सकता था। उसने सीमवर्ती स्थानों पर सबल सेनाएँ नियुक्त की, विशाल एव सुशिक्षित सेना का सघटन किया और मगोलो का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया। दोआब के असतुष्ट हिन्दुओं के विद्रोहो का दमन कर षड्यन्त्रो को समूल नष्ट किया। राज्य में अव्यवस्था फैलानेवाले अमीरो तथा मलिकों की पारस्परिक ईर्ष्या तथा झगड़ो को, शांत किया गया। यदि दिल्ली साम्राज्य को उस समय बल्बन के सशक्त एव सतेज शासन का सहारा न मिलता तो उसका आन्तरिक विद्रोहों तथा बाह्य आक्रमणों से पार पाना असंभव सा ही था।

बलबन का सिंहासनारोहण—१८ फरवरी १२६६ ई० को नासिरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् शासक का पद गियासुद्दीन बलबन को प्राप्त हुआ। वह शासक के कर्तव्यों को निभाने मे अपने समय का योग्यतम व्यक्ति था। इल्तुतमिश के पुत्रो की अयोग्यता तथा शम्सी दासो के प्रवर्धित अहकार के कारण सिंहासन की प्रतिष्ठा को बहुत आघात लगा था। अतः बलबन के सम्मुख सर्वप्रमुख कार्य राज्य के अधिकार को पुन. स्वीकृत करवाना, शासन-तत्र का पुनः सघटन तथा मंगोलों के बढ़ते हुए आक्रमणो को रोकने का प्रबध करना था। तत्कालीन स्थिति का वर्णन करते हुए बरनी ने लिखा है कि, "श्रेष्ठ शासन-प्रणाली के आधार और राज्य के गौरव एवं ऐश्वर्य के द्योतक, शासन-शक्ति का भय लोगों के मन से हट गया था और देश की दशा बहुत शोचनीय हो गई थी।" शासन-कार्य में निपुण नये सुलतान ने कठोर दंड एव अनवरत प्रयत्नो द्वारा अव्यवस्था उत्पन्न करनेवाले तत्त्वों का दमन कर जनता को आज्ञापालन तथा राजभक्ति का पाठ पढ़ा दिया।

शासन की व्यवस्था—बलबन को सबसे पहले एक विशाल एवं कुशल सेना की आवश्यकता का अनुभव हुआ। उसने नई तथा पुरानी अश्वारोही एव पदाति सेना को अनेक युद्धों मे साहस एवं रणकौशल का परिचय देने-वाले मलिकों के नायकत्व मे रक्खा। इस सेना की सहायता से उसने दोआब तथा दिल्ली के आसपास के प्रदेशों मे व्यवस्था स्थापित की। मेवातियों की

उद्दण्डता दिल्ली के सिंहासन के लिए एक आसन्न विपत्ति बन गई थी। वह दिल्ली के समीपस्थ प्रदेशों में लूटमार करते रहते थे और रात में "वह छिपे-छिपे नगर में घुस आते, और विभिन्न प्रकार की यातनाएँ देकर जनता की विश्रान्ति में बाधा पहुँचाते थे।" वे भिश्तियों तथा पनिहारियों पर हमला कर उनको वस्त्र-विहीन बना देते थे। उनकी बढ़ती हुई उद्दण्डता के कारण दोपहर की नमाज के समय राजधानी के पश्चिमी द्वार बंद कर देने पड़ते थे और साधु-संन्यासियों के वस्त्रों का आश्रय लेकर भी कोई उनके अत्याचारों से त्राण नहीं पा सकता था। सुलतान ने वन-प्रदेशों को लुटेरों से रहित कर उनका पूर्णतः दमन कर दिया। राजधानी की सुरक्षा के लिए उसने कई छावनियाँ निर्मित कीं और वेतन के रूप में भूमि देकर वहाँ अफ़गानों के प्रबल दल नियुक्त किये। सरदारों तथा कर्मचारियों ने सहस्रों उपद्रवियों का वध कर वहाँ पर अपना दृढ़ अधिकार स्थापित किया। दोआब का अंतर्वर्ती प्रदेश सर्वाधिक असुरक्षित था; कम्पिल, पटियाली तथा भोजपुरी लुटेरों के प्रमुख अड्डे थे। यह दुष्ट सड़कों पर चलनेवालों को सताते रहते थे और इनके कारण व्यापारिक सामग्री का एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुरक्षित ले जाना असंभव हो गया था। इस अव्यवस्था को समाप्त करने के हेतु सुलतान ने स्वयं प्रयाण किया और लूट-पाट एवं अराजकता को रोकने के लिए, स्थान-स्थान पर अफ़गान सेनाएँ नियुक्त कीं। "अन्ततः लुटेरों की गुफ़ाओं को रक्षकों का आवास बनाया गया और लुटेरों का स्थान मुसलमानों तथा मार्ग-रक्षकों ने ग्रहण किया।" इसीलिए ६० वर्ष बाद इतिहासकार बरनी संतोषपूर्वक यह लिख सका कि मार्गों को लुटेरों से मुक्त कर पथिकों का जीवन सुरक्षित कर दिया गया था।

जब सुलतान दोआब में व्यवस्था स्थापित करने में संलग्न था, वर्तमान रुहेलखण्ड के अंतर्वर्ती प्रदेश में उपद्रव उठ खड़े हुए और बदायूँ तथा अमरोहा के सरदार शांति स्थापित न कर सके। इस अराजकता की सूचना से विक्षुब्ध सुलतान अपनी सेना के प्रमुख भाग सहित कटहर की ओर चल पड़ा और अपने स्वाभाविक शक्तिपूर्ण ढंग से विद्रोहियों के विनाश की आज्ञा दी। परिणामस्वरूप भीषण दमन प्रारम्भ हुआ और "विद्रोहियों का रक्त नालों के रूप में बहने लगा; प्रत्येक गांव तथा वन के समीप शवों के ढेर दिखाई देने लगे और मृतकों की पंक्ति गंगा तक पहुँच गई।" सारे जिले को पदाक्रान्त कर सेना ने अपार सम्पत्ति लूटी। जंगलों में सड़कें बनाने के लिए लकड़हारों के दल भेजे गये और लुटेरों को दण्डित करने के लिए किये गये अभियानों की अपेक्षा सड़कें बनवाना अधिक फलप्रद उपाय सिद्ध हुआ।

✓शम्सी दासों का दमन—लुटेरों का दमन करने के बाद, सुलतान ने जूद की पहाड़ियों में अभियान कर वहाँ की पहाड़ी जातियों को दण्डित किया। दो वर्ष बाद उसने मंगोलों द्वारा ध्वस्त दुर्ग की ओर प्रस्थान किया। सारे प्रदेश को विनष्ट कर शांति स्थापित की गई। इस छोटे से अभियान में सुलतान को उन वृद्ध शम्सी सैनिकों की अयोग्यता का पुनः अनुभव हो गया जो ३० या ४० वर्ष से जागीरों का उपभोग करते आ रहे थे। उसको विदित हुआ कि शमसुद्दीन की सेना के लगभग दो सहस्र अश्वारोहियों को वेतन के रूप में दोआब प्रदेश में गाँव मिले हुए हैं। इनमें से अनेक वृद्ध एवं सैनिक कार्यों के लिए असमर्थ हो गये थे और बहुतों की संतान ने उनकी जागीर पर अधिकार कर 'आरिज' (सैनिकों के नाम आदि का लेखा रखनेवाला अधिकारी) के खातों में अपना नाम चढ़वा लिया था। लेकिन यह वेतन के रूप में प्राप्त भूमि का स्वयं को स्वामी घोषित कर कहते कि यह भूमि उन्हें सुलतान शमसुद्दीन द्वारा पुरस्कार के रूप में प्राप्त हुई है। इनमें से कुछ तो अपने सैनिक-कर्तव्यों का पालन अकर्मण्यता से करते, कुछ बहाने बनाकर टाल जाते और कुछ सैनिक अधिकारियों को घूस देकर इन कर्तव्यों की अवहेलना के लिए क्षमा प्राप्त कर लेते थे। सुलतान ने, प्रथम एडवर्ड के 'को वारन्टो' के समान, वेतन के रूप में दी गई भूमि की दशा की जाँच करने तथा ऐसी भूमि के उपभोक्ताओं की सूची प्रस्तुत करने की आज्ञा दी। सुलतान ने ऐसे लोगों को ३ श्रेणियों में रखा—(१) वह वृद्ध जिनसे भूमि ले ली गई लेकिन ३० या ४० टंका पेंशन देना स्वीकार किया गया; (२) सैनिक कार्यों में भाग लेने योग्य युवकों के अधिकार में भूमि रहने दी गई, परन्तु अतिरिक्त कर वसूल करने का काम राज्य के कर्मचारियों को दिया गया; (३) तथा तीसरी श्रेणी में वह विधवाएँ व अनाथ रक्खे गये जिनसे भूमि ले ली गई, परन्तु जिनके निर्वाह के लिए यथोचित व्यवस्था कर दी गई। प्राचीन एथेंस में सोलन के कानून के समान, बलबन की यह आज्ञा स्वयं उसके वर्ग के लोगों के लिए अहितकर हुई और अब तक राज्य में विशेषाधिकारों एवं सब प्रकार की सुविधाओं के एकमात्र उपभोक्ता सैनिक सामंत निराशा से भर गये। कुछ वृद्ध खान दिल्ली के कोतवाल फखरुद्दीन के पास पहुँचे, जिसका सुलतान पर बहुत प्रभाव समझा जाता था और उससे अनुनय-विनय की कि वह उनकी ओर से सुलतान को समझाये। खान लोगों की दयनीय स्थिति का ध्यान कर कोतवाल का हृदय दयार्द्र हो उठा और उसने धाराप्रवाह रूप से सुल्तान के समक्ष उनके पक्ष का समर्थन किया। उसकी वाक्पटुता का सुलतान पर बहुत प्रभाव पड़ा और उसने करुणाभिभूत होकर खान लोगों से भूमि लौटा लेने की आज्ञा

रद्द कर दिया। इस कठोर आज्ञा के रद्द किये जाने पर भी खान लोगों के पहले जैसे अधिकार न रह गये और वह भी समय रहते सुलतान की आज्ञाओं के यथावत् पालन में तत्पर हो गये। स्वयं अपने चचेरे भाई शेर खाँ को भी, जो सुन्नम, लाहौर तथा दीपालपुर का प्रतिनिधि-शासक था, उसने इस अवहेलना के लिए क्षमा न किया। शेर खाँ ने जाट, खोखर, भट्टी, मीना तथा मदारों[६] जैसी उद्दण्ड जातियों को अधीन बनाकर दिल्ली साम्राज्य की बहुत बड़ी सेवा की थी। परन्तु वृद्ध शम्सी सरदारों के प्रति सुलतान के उग्र व्यवहार को देखकर, वह स्वयं अपनी सुरक्षा के लिए सचेत हो उठा और उसने राजसभा में आना बंद कर दिया। बरनी लिखता है कि सुलतान ने सगोत्रता का तथा उसकी पूर्व सेवाओं का ध्यान भुलाकर उसको विष दिला दिया।[७] ऐसी निर्दयता से बलबन ने अपनी शक्ति को प्रबल बनाया और कठोर दण्डों से अपने मार्ग में आनेवाली समस्त सम्भाव्य बाधाओं का अन्त कर दिया।

सुदृढ़ शासन-तन्त्र—हिन्दुस्तान जैसे विशाल देश पर केवल सैनिक शक्ति द्वारा अधिकार जमाये रखना असम्भव था; अत: बलबन ने आन्तरिक शासन-व्यवस्था की बड़ी निपुणता से सुदृढ़ आधार पर स्थापना की। उसकी शासन-व्यवस्था अंशत: सैनिक एवं अंशत: सार्वजनिक ढंग की थी। सब अधिकार उसके हाथ में थे और अपनी आज्ञाओं तथा विधियों का अत्यन्त कठोरता से पालन करवाता था। स्वयं उसके पुत्र, जिन्हें महत्त्वपूर्ण प्रांतों का शासन सौंपा गया था, स्वेच्छा से कोई भी कार्य न कर सकते थे और सभी उलझे विषयों को उन्हें सुलतान के विचारार्थ भेजना पड़ता था, जो अंतिम आज्ञा देता था और इन आज्ञाओं का अक्षरश: तथा सावधानी से पालन उनके लिए आवश्यक था। न्याय करने में सुलतान पूर्ण निष्पक्षता से काम लेता था और

६. इन जातियों का उल्लेख बरनी ने अपने 'तारीख-ए-फिरोजशाही' में मुहम्मद तुगलक के शासन-काल के वर्णन में भी किया है।
(बिब्लियो॰ इण्डि॰ पृ॰ ४८३)।

७. बरनी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि॰ इण्डि॰ पृ॰ ६६।
इलियट ३, पृ॰ १०९। बरनी ने निश्चयपूर्वक यह स्वीकार किया है कि सुलतान ने उसको विष दिला दिया और बलबन के शासन-काल के लिए अन्य लेखकों से बरनी अधिक प्रामाणिक है। फिरिश्ता ने लिखा है कि शेर खाँ मर गया और भटनेर में दफनाया गया। बरनी का कहना है कि उसने राजसभा के सम्मान की अवहेलना की थी। ब्रिग्स ने उसको गलती से बलबन का भतीजा लिखा है।
फिरिश्ता, लखनऊ संस्क॰ पृ॰ ७८; ब्रिग्स १, पृ॰ २५८; इलियट ३ पृ॰ १०९।

अपने सगे-सबंधियों व मित्रों तक का भी कभी पक्षपात न करता था। यदि उसका कोई निकटतम संबंधी या अभिन्न मित्र भी कोई अन्यायपूर्ण कार्य करता तो वह उत्पीड़ित पक्ष को संतुष्ट करने में कभी भी शिथिलता न दिखाता था। सुलतान के अपरिहार्य न्याय-विधान का ऐसा प्रभाव पड़ा कि कोई अपने अनुचरों तथा दासों तक के साथ दुर्व्यवहार करने का साहस न कर सकता था। एक बार मलिक बकबक ने, जिसको ४००० अश्वों की जागीर तथा बदायूँ का प्रदेश प्राप्त था, अपने एक अनुचर को सता-सताकर मार डाला। इस अनुचर की विधवा ने सुलतान के पास न्याय की प्रार्थना की। उसने आज्ञा दी कि मलिक को उसी प्रकार प्रार्थी के सम्मुख कोड़ों से पीट-पीटकर मार डाला जाय तथा उन गुप्तचरों को जो मलिक के इस दुर्व्यवहार की सूचना उस तक न पहुँचा पाये थे, सबके सामने प्राणदण्ड दिया गया। एक ऐसे ही अन्य अवसर पर सुलतान का प्रेम-पात्र हैबत खाँ भी मृत्यु-दण्ड से तभी मुक्ति पा सका जब उसने अपने द्वारा मारे गये व्यक्ति की विधवा से बीस सहस्र टंके देकर नियोग किया। इस घटना से हैबत खाँ इतना लज्जित हुआ कि मृत्युपर्यन्त वह अपने घर से बाहर न निकला। निरंकुश शासन में गुप्तचर-विभाग का होना आवश्यक हो जाता है। बलवन ने भी अपने साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में अन्यायपूर्ण कार्यो की सूचना प्राप्त करने के लिए गुप्तचर नियुक्त किये। इन सूचनाओं को यथार्थ तथा सत्य रूप में प्राप्त करने के विचार से उसने गुप्तचर के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया और ऐसे कार्य की सूचना पाते ही अपराधी के पद या उच्च वंश पर उपेक्षा कर उसको दण्डित करने में उसने कभी देर न लगाई। बुगरा खाँ तक के आचरणों पर कड़ी निगाह रखी जाती थी और कहा जाता है कि उसके कार्यो का पूर्ण विवरण प्राप्त करने के लिए सुलतान को बहुत कष्ट उठाना पड़ता था। गुप्तचरों की इस व्यवस्था से अपराध अवश्य कम होने लगे तथा अधिकार-प्राप्त लोगों के अत्याचारों से निर्दोष व्यक्तियों की रक्षा हुई, परन्तु साथ ही इससे समाज में चारित्रिक हीनता भी बहुत कुछ आ गई और लोग उन सामाजिक सुविधाओं से बहुत कुछ वंचित रह गये होंगे जो नियमानुसार उनको प्राप्त होनी चाहिए थीं और जिनसे किसी प्रकार की क्षति की भी संभावना न हो सकती थी।

आततायी मंगोल—लेकिन सुलतान का सर्वाधिक ध्यान मंगोलों के बार-बार होनेवाले आक्रमणों के भय पर लगा था। यद्यपि उसके पास एक विशाल एवं अनुशासित सेना थी, परन्तु इनके भय से उसने कभी राजधानी से बाहर पैर न रखा और इनके आक्रमणों से अपने साम्राज्य को ... उसने अपनी समग्र शक्ति लगा दी। इन बर्बरों ने गजनी ...

याना प्रदेश पर अधिकार कर लिया था और चंगेज खाँ के पौत्र हुलागू ने खलीफा अलमुस्तासिम का निर्ममतापूर्वक वधकर वगदाद को हस्तगत कर लिया था। इन्होंने लाहौर पर अधिकार कर लिया तथा प्रतिवर्ष सिन्ध तथा पंजाब प्रदेशों को उत्पीड़ित करना प्रारम्भ कर दिया था। अतः सुल्तान कभी भी राजधानी से बाहर [illegible] गया और अपने साम्राज्य के समृद्ध भागों पर सतर्क दृष्टि रखता रहा। साम्राज्य की उत्तरी सीमा पर होने के कारण, मगोल आक्रमणों के सर्वप्रथम संभावित स्थान मुल्तान तथा सामाना प्रदेशों को सुल्तान ने अपने पुत्रों मुहम्मद तथा बुगरा खाँ के अधिकार में रखा, जो विशाल एवं सुशिक्षित सेना में सदैव सन्नद्ध रहकर, मंगोलों के आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए तत्पर रहते थे। परन्तु इस अनवरत भय का सुल्तान की वैदेशिक नीति पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। उसने कभी भी सुदूरस्थ प्रदेशों की विजय की ओर ध्यान न दिया और मंगोलों के आक्रमणों से अपनी तथा अपने साम्राज्य की रक्षा में ही उसको अपना ध्यान एकाग्र करना पड़ा। शासन-तन्त्र का सघटन भी राज्य को इन विनाशकारी आक्रमणों का सामना करने के लिए तथा सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से किया गया। अमीर खुसरो[८] के वर्णन से हम इनके अनवरत आक्रमणों से होनेवाले विनाश का कुछ आभास पा सकते हैं। यह वर्णन कवि की स्वयं अपनी भावनाओं से अतिरंजित है, क्योंकि वह स्वयं एक बार इन बर्बरों का बंदी हो गया था। उसने लिखा है कि "ये एक सहस्र से भी अधिक तातार विधर्मी तथा अन्य जातियों के ऊँटों पर सवारी करनेवाले योद्धा थे। यह सब के सब युद्ध-क्षेत्र के महान् सेनानायक तथा सूती वस्त्रों से ढके लौह-सदृश देहोंवाले थे। यह अग्नि जैसे (दीप्त) मुखोंवाले, भेड़ की खाल की टोपियाँ पहने हुए, घुटे सिरोंवाले थे। उनकी आँखें इतनी छोटी

---

८. 'अमीर खुसरो' के नाम से अधिक विख्यात अबुल हसन, जो भारत के मुसलमान कवियों में बहुत ऊँचा स्थान रखता है, हिजरी सन् ६५१ (१२५३ ई०) में पटियाली नामक स्थान में पैदा हुआ था और उसका देहांत हिजरी सन् ७२५ (१३२४-२५ ई०) में दिल्ली में हुआ। बचपन में ही वह शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य बन गया था। उसने बलबन की सेवा में उसके विद्या-प्रेमी पुत्र मुहम्मद के अनुचर के रूप में प्रवेश किया। धीरे-धीरे उसकी पद-वृद्धि होती गई और अंततः वह राजकवि बनाया गया। निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु के दुख में उसने प्राण-त्याग किया। उसने अनेक ग्रंथ लिखे हैं जिनका इलियट, ३, पृ० ६७-९२, ५२३-६७ में निर्देश किया गया है। प्रारम्भिक पृष्ठों में अमीर खुसरो के विषय में कुछ अन्य बातों पर प्रकाश डाला गया है।

मंगोलों के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए, इलियट, ३, परिशिष्ट, पृ० ५२८-२९।

तथा चुभनेवाली थीं कि वह तांबे के पात्र में छेद कर सकती थीं..... उनके मुख उनके शरीर पर इस प्रकार लगे थे जैसे वह गर्दनहीन हों। उनके कपोल झुर्रियों तथा गाँठो से पूर्ण चमड़े के पात्र के समान थे। उनकी नाक एक कपोल से दूसरे कपोल पर्यन्त विस्तृत थी और मुँह एक कपोलास्थि से दूसरी कपोलास्थि तक....उनकी मूंछें अत्यधिक लंबी होती थीं। उनकी दाढ़ी केवल चिबुक के आसपास बहुत अल्प मात्रा में रहती थी....। वह श्वेतवर्ण दैत्यों जैसे दिखाई देते थे जिसके फलस्वरूप लोग उनसे भय खाकर सर्वत्र भाग पड़ते थे।" हिन्दूकुश के उस पार के ठंडे प्रदेशों से आनेवाले इन कठोर एवं हृदयहीन आक्राताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी और एकमात्र आत्म-रक्षा की भावना से प्रेरित होकर बलबन ने अन्य सब बातों को भूलकर इनके बारबार होनेवाले आक्रमणों को रोकने के लिए सेना को युद्ध के लिए सदैव सन्नद्ध रखने की ओर सर्वाधिक ध्यान दिया। ✓

तुग़रिल का विद्रोह, १२७९ ई०—बलबन ने तलवार के जोर से दोआब तथा दिल्ली के आसपास के प्रदेशों में व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी, परन्तु साम्राज्य के सुदूरस्थ प्रांतों के शासकों की दिल्ली के सिंहासन के प्रति स्वामिभक्ति संदिग्ध ही रही। मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी के समय से ही बंगाल पर दिल्ली का नियन्त्रण बहुत शिथिल हो चला था और प्रांतीय शासक साम्राज्य के प्रभुत्व से मुक्ति पाने का सदैव प्रयत्न करते रहते थे। दिल्ली की दूर की स्थिति यातायात के साधनों का अभाव तथा अस्वास्थ्यकर जलवायु—इन सभी बातों के कारण हिन्दुस्तान के शासक बंगाल के दुर्गम्य प्रांत पर दृढ आधिपत्य करने में कठिनाइयों का सामना कर रहे थे। इल्तुतमिश एक शक्तिशाली निरंकुश शासक था। बंगाल पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उसने इस प्रांत का शासन अपने पुत्र को सौंपा था; परन्तु उसकी मृत्यु के बाद विशृंखलता उत्पन्न करनेवाले तत्त्व शक्ति संचय कर प्रकट होने लगे थे। उसके शक्तिहीन उत्तराधिकारियों के शासन-काल में, जो सेना तथा तुर्क अमीरों के हाथ की कठपुतली मात्र थे, केंद्रीय शासन का प्रभाव बहुत क्षीण हो चला था। उन्होंने दास-वंश के शासन को दृढ़ बनाने के लिए कुछ भी उद्योग न किया था और बलबन ने स्पष्ट देख लिया था कि इन शासकों में कुल-गौरव की उस भावना का सर्वथा अभाव है, जो पूर्वीय देशों के आनुवंशिक शासकों के स्वभाव में पाई जाती है। बंगाल प्रांत में सदैव उपद्रव होते रहते थे और बरनी ने इस प्रांत के निवासियों के चरित्र का वर्णन इन शब्दों में किया है; "इस देश के लोगों ने बहुत दीर्घ काल से विद्रोह की प्रवृत्ति प्रदर्शित की थी और उनमें से विक्षुब्ध तथा दुष्ट स्वभाव-

वाले लोग प्रांतीय शासक की कृपा प्राप्त करने में साधारणतया सफल हो जाते थे।" बंगाल का प्रतिनिधि-शासक तुगरिल खाँ, जिसको बलबन ने नियुक्त किया था, अपने दुष्ट मंत्रियों के बहकावे में आ गया। उन्होंने उसको समझाया कि सुलतान वृद्ध हो चला है तथा उसके दोनों पुत्र मंगोलों के आक्रमणों से साम्राज्य की रक्षा करने में व्यस्त है। नेतृत्वविहीन अमीरों के पास न तो इतना जनबल है और न अस्त्र-शस्त्र ही कि वह लखनौती पर आक्रमण कर उसको स्वतन्त्र होने से रोक सके। तुगरिल के मन में यह दुष्ट एवं असत्य मंत्रणा घर कर गई और "उसने उच्चाकांक्षा के अंडे को अपने मस्तिष्क में सेया जाने दिया।" उसने जाजनगर पर आक्रमण कर दिया, लूटपाट में अनेक हाथी तथा बहुमूल्य सामग्री प्राप्त कर वह सब सामग्री स्वयं अपने लिए रख ली। दिल्ली के प्रभुत्व की इस अवहेलना को उसने विधिवत् स्वतन्त्रता की घोषणा कर, सुलतान मुगीसुद्दीन की उपाधि धारण की तथा अपने नाम के सिक्के ढलवाकर और अपने नाम का खुतबा पढ़वाकर चरम सीमा पर पहुँचा दिया। प्रचुर धन प्राप्त होने के कारण वह अपने सहयोगियों को बहुमूल्य पुरस्कार देने में समर्थ हो पाया। जैसा कि बरनी ने लिखा है धन से स्पष्ट-द्रष्टाओं की आँखें भी बंद हो गई और स्वर्ण के लोभ ने राजनीति के क्षेत्र में प्रमुख लोगों को चुप कर दिया। विद्रोह ने इतना उग्र रुप धारण कर लिया कि सैनिक एवं नागरिक सभी ने राज्य-शक्ति का भय त्याग दिया और विद्रोही हाकिम का साथ देने लगे।

इस विद्रोह की सूचना पाकर सुल्तान विक्षुब्ध हो उठा और कई दिनों तक उसने राज-कार्यों की ओर कुछ भी ध्यान न दिया। उसने अप्तगीन नामक एक वृद्ध दास की अधीनता मे एक सेना भेजी। वह अमीर खाँ के नाम से अधिक प्रसिद्ध था और अनेक वर्षो तक अवध प्रदेश का शासक रह चुका था। उसने सरजू पार की ओर एक विशाल सेना लेकर लखनौती की ओर प्रयाण किया; परन्तु जब वह बंगाल की सीमा पर पहुँचा, तो तुगरिल खाँ ने उसका

९. तुगरिल प्रारम्भ में एक तुर्क-दास था और बलबन ने उसको क्रय किया था। वीर एवं रण-निपुण होने के कारण उसने आसपास के प्रदेशों के राजाओं को हराकर उनसे कर वसूल किया था।

१०. स्टुअर्ट ने अपने ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑव बंगाल' में लिखा है कि इस समय सुलतान रुग्ण दशा में शय्या पर पडा था और उसके दोनों पुत्र उत्तरी सीमा पर मंगोलों का प्रतिरोध करने में व्यस्त थे। तुगरिल ने स्वतन्त्र होने का यह स्वर्णावसर समझा और यह समाचार फैला दिया कि सुलतान का देहांत हो गया है। स्टुअर्ट, पृ० ९१।

इलियट, ३, पृ० ११२

सामना किया और उसको परास्त कर दिया, क्योंकि अपने मुक्तहस्त दान के कारण तुगरिल ने विभिन्न जिलो से अनेक योद्धाओं का सहयोग प्राप्त कर अपना सैन्यबल बहुत बढा लिया था। दिल्ली की सेनाओं में भगदड मच गई और अनेक सैनिक दल छोडकर शत्रु-पक्ष में जा मिले। इस पराजय का समाचार पाकर बलबन के क्रोध की सीमा न रही। उसने सभवत. भविष्य मे विफलता को रोकने के विचार से, अमीर खाँ को अवध के प्रवेश द्वार पर सूली पर चढा देने की आज्ञा दे दी। खान को इस प्रकार अन्याय-पूर्वक सूली पर चढ़ा देने से "तत्कालीन बुद्धिमान् लोगों में" घृणा का भाव जाग उठा और उन्होने इस निर्दय आदेश में बलबन के शासन की समाप्ति का आभास पाया।

दूसरा अभियान भी इसी प्रकार विफल रहा। पहली सफलता से तुगरिल का साहस बहुत बढ़ गया था, और अब वह लखनौती से बाहर आकर दिल्ली की सेना पर टूट पड़ा और उसको पूर्णत पराभूत कर दिया। इस पराजय के समाचार से सुलतान लज्जा एवं क्रोध से भर गया और उसने विद्रोहियों से इस पराजय का प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा कर ली। दिल्ली का शासन-भार मलिक फखरुद्दीन को सौप कर वह सामना तथा सुन्नम की ओर बढ़ा और बुगरा खाँ को अपने साथ बगाल की ओर चलने का आदेश दिया। राजकुमार मुहम्मद को अपने प्रान्त की रक्षा करने तथा मगोलों पर सतर्क दृष्टि रखने का आदेश दिया गया। वर्षा की परवाह न कर सुलतान एक विशाल सेना लेकर लखनौती की ओर चल पड़ा। उसने अवध मे सार्वजनिक रूप से सैनिकों को भर्ती करने की आज्ञा दी और वहाँ से दो लाख मनुष्यों को अपनी सेना मे भर्ती किया। नावों का एक विशाल बेडा बनाया गया और इसकी सहायता से सुलतान की सेनाओं ने सरजू को पार किया, परन्तु वर्षा के कारण बंगाल के दलदलवाले प्रदेश में सेना की प्रगति मे बहुत विलंब हुआ। कीचड़ और पानी से भरे मार्ग को पार करते हुए जब तक राजकीय सेना बंगाल की राजधानी मे पहुँची, तब तक विद्रोही तुगरिल, सुलतान का सामना करने में अपनी असमर्थता समझकर, अपने कोप, बहुत से हाथियों तथा चुने हुए योद्धाओं के सहित जाजनगर के वन-प्रदेशों में भाग गया था। लखनौती का कर्मचारी-वर्ग भी सुलतान के प्रतिशोध का भय समझकर वहीं भाग चला था। सुलतान की सेनाओं ने तुगरिल का पीछा किया और सुलतान ने यह प्रचारित कर दिया कि चाहे जितना भी समय लगे और जितनी भी आपत्तियों का सामना करना पड़े वह उसका पीछा न छोड़ेगा। उसने अपने सैनिकों के समक्ष अपनी इस प्रतिज्ञा की दृढ़ता का कुछ आभास इन शब्दों

में दिया कि इस अभियान की सफलता को वह आधे दिल्ली-साम्राज्य की विजय के बराबर समझेगा। यदि तुगरिल पानी में भी पैठ जायेगा तब भी वह उसका पीछा करेगा और दिल्ली जाने का नाम भी न लेगा जब तक कि तुगरिल तथा उसके अनुयायियों के शरीर से रक्त की एक एक बूंद न निचोड़ लेगा। सुलतान का ऐसा कठोर निश्चय देखकर बहुत से सैनिकों को तो घर लौटने की आशा भी न रही और उन्होंने अपनी सम्पत्ति के उत्तराधिकार पत्र बनवा डाले। तुगरिल की खोज निकालने के लिए अश्वारोहियों का एक विशाल दल भेजा गया, परन्तु उसका कहीं नाम-निशान भी न मिल सका। सौभाग्य से एक दिन कोल के सरदार और उसके भाई मलिक मुकद्दर का अकस्मात् धान के व्यापारियों के एक दल से सामना हुआ, जिनको तुगरिल का पता मालूम था, उनको तत्काल पकड लिया गया और तत्क्षण उनमें से दो का सिर काट दिया गया। इस नाटकीय घटना से भयभीत होकर अन्य बंदियों ने तुगरिल का पता बता दिया और पीछा करनेवालों का दल उनके बताये हुए स्थान की ओर चल दिया। तुगरिल के शिविर का पता लग गया और राजकीय सेना के अश्वारोहियों ने इस बीहड़ प्रदेश में जन कोलाहल से दूर अपने अनुयायियों सहित आमोद-प्रमोद में संलग्न तुगरिल के आनन्दोत्सव को भग कर दिया। बरनी ने इस दृश्य का वर्णन इन शब्दों में किया है; "सब सुरक्षित तथा निशक जान पडते थे; कोई कपड़े धो रहे थे, और कोई सुरापान कर रहे थे तथा गा रहे थे। हाथी वृक्षों की शाखाओं पर अपना शरीर रगड़ रहे थे और घोड़े तथा पशु घास चर रहे थे---सर्वत्र सुरक्षा की भावना व्याप्त थी।" अधिक विलंब न कर, ३० या ४० अश्वारोहियों का दल उसके शिविर में घुस पडा। तुगरिल की सेना भय-संत्रस्त होकर पलायन कर गई और वह स्वयं घोड़े की नंगी पीठ पर सवार होकर समीप ही बहनेवाले नाले की ओर पूरे वेग से भागा। राजकीय सैनिकों ने उसका पीछा किया और एक तीर ने उसके बगल से घुसकर उसको तत्काल घोड़े से गिरा दिया। उसका सिर काट डाला गया और शरीर को नदी में डाल दिया गया तथा उसकी स्त्रियों, बच्चों एवं अनुचरों को विजेताओं ने बंदी बना लिया। इस अभियान की सफलता का समाचार पाकर सुलतान बहुत प्रसन्न हुआ और अपनी सेना में जान लड़ा देनेवालों को उसने यथोचित पुरस्कार दिया। उसका यश बहुत बढ़ गया और संसार उससे ऐसा भयभीत हो गया, जैसा पहले कभी न हुआ था।

---

११. इलियट, ३, पृ० ११९।

तत्पश्चात् बलबन लखनौती लौट आया और उसने विद्रोहियों को दण्ड देना प्रारम्भ कर दिया। लखनौती के लंबे बाजार के दोनों ओर सूलियाँ बनाई गईं और तुगरिल के अनुयायियों तथा सहयोगियों को निर्दयतापूर्वक लटका दिया गया। यहाँ तक कि एक भिखारी जिस पर विद्रोही की कृपा-दृष्टि थी सूली पर लटका दिया गया। यह भयंकर दण्ड-विधान का कार्य २ या ३ दिन तक चलता रहा तथा काजियों एवं मुफ्तियों को भी बड़ी कठिनता से क्षमा प्राप्त हो सकी। बरनी को वृद्ध लोगों ने इस भयंकर घटना का वर्णन सुनाते हुए बतलाया था कि हिंदुस्तान के किसी भी राजा या विजेता ने इससे ऐसे कठोर दण्ड न दिये थे। संहार-लीला समाप्त कर लेने के बाद बलबन ने देश में व्यवस्था स्थापित करने की ओर ध्यान दिया। उसने इस प्रान्त का शासन बुगरा खाँ को सौंपते हुए उसको बंगाल के अन्य भागों को अधीन करने, वहाँ शान्ति स्थापित करने तथा विप्लवी दलों को समाप्त करने का आदेश दिया। तब राजकुमार की ओर कठोर दृष्टि से देखते हुए उसने कहा, "क्या तूने देख लिया?" राजकुमार अपने श्रद्धेय प्रभु के इस सांकेतिक वाक्य का भाव न समझ सका। सुल्तान ने प्रश्न दुहराया "क्या तूने देख लिया?" हतबुद्धि राजकुमार कोई उत्तर न दे सका और सुल्तान ने तीसरी बार यही प्रश्न दुहराया और कहा, "तूने बाजार में मेरा दण्ड देखा?' राजकुमार ने विनीत भाव से सिर झुका दिया और तब निर्दय पिता ने उसको इन शब्दों में संबोधित किया, "यदि कभी षड्यन्त्री एवं दुरात्मा तुझे दिल्ली की राजभक्ति में टालमटोल करने तथा उसके अधिकार को ठुकराने के लिए उकसायें, तो उस प्रतिशोध को स्मरण कर लेना जो तूने आज बाजार में लिया जाता हुआ देखा है। मुझे समझ ले और यह न भूलना कि यदि हिंद या सिंध, मालवा या गुजरात, लखनौती या सुनारगाँव के प्रतिनिधि शासक दिल्ली के सिंहासन के विरुद्ध विद्रोह करेंगे तो उनको, उनकी स्त्रियों को, उनके बच्चों को और उनके सहयोगियों को वही दण्ड भोगना पड़ेगा जो तुगरिल और उसके अनुयायियों को भोगना पड़ा है।" उसने पुनः बुगरा खाँ को मिलने के लिए बुलाया और उसको राजनीतिक विषयों पर बहुमूल्य उपदेश दिये। बिदाई के दिन उसने बड़े स्नेह से बुगरा खाँ को गले से लगाया और उससे विदा ली। दिल्ली लौट आने पर उसने दिल्ली तथा आस-पास के उन निवासियों को दण्डित करने के लिए सूलियाँ बनाने की आज्ञा दी,[१२] जिन्होंने इस विद्रोह में सहायता दी थी। सेना का काजी बड़ी मुश्किल

---

१२. बरनी का कथन है कि दिल्ली लौट आने पर सुल्तान ने बदायूँ से तिलपट तक के मार्ग पर सूलियाँ बनाने की आज्ञा दी, जिन पर दिल्ली तथा आस-

से सुलतान को इस भयंकर कार्य से विरत कर सका। बंदियों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया। जिन लोगों का कोई पद या उपाधि प्राप्त न थी उनको क्षमा प्रदान की गई; जो इनसे कुछ ऊँची श्रेणी के थे उनको देशनिकाला दिया गया; जो राजधानी में सम्मान्य पदों पर आसीन थे उनको भिन्न भिन्न अवधि तक के लिए कारावास का दण्ड दिया गया। परन्तु जिन प्रधान कर्मचारियों ने विद्रोह की भावना व्यक्त की थी उनको भैंसों की पीठ पर सवार कर सड़कों पर घुमाया गया और सबके उपहास का पात्र बनाया गया। परन्तु लखनौती के बाजार में सुलतान ने जिस निष्ठुरता का प्रदर्शन किया था उसकी तुलना में तो यह व्यवहार स्वर्गीय कृपा जैसा था।

राजकुमार मुहम्मद की मृत्यु—विद्रोह का तो सफलतापूर्वक दमन हो गया परन्तु इसी बीच सुलतान पर एक भारी पारिवारिक आपत्ति टूट पड़ी। जब मंगोलों ने समर[13] के नेतृत्व में १२८५ ई० में पंजाब पर आक्रमण किया तो उनको मार भगाने के लिए राजकुमार मुहम्मद ने, जिसको मुलतान का शासन सौंपा गया था, लाहौर तथा दिपालपुर की ओर प्रयाण किया। युद्ध में वह पराजित हुआ और मारा गया। बर्बर मंगोलों से देश की रक्षा के हेतु प्राणों का होम कर देने के परिणामस्वरूप इस राजकुमार को 'शहीद राजकुमार' के रूप में स्मरण किया जाने लगा। कवि अमीर खुसरो भी मंगोलों द्वारा बंदी बना लिया गया परन्तु बाद में छोड़ दिया गया था। राजकुमार मुहम्मद से सुपरिचित बरनी ने उसके गुणों की भूरि भूरि प्रशंसा की है और उसके विषय में लिखा है—"इस राजकुमार की राजसभा में उस काल के सर्वश्रेष्ठ विद्वान्, गुणवान् तथा सुसंस्कृत व्यक्ति बहुधा आया करते थे। उसके अनुचर उसको 'शाहनामा', 'दीवान-ए-सानी', 'दीवान-ए-खाकानी' और शेख निजामी का 'खम्सा' पढ़कर

पास के जिलों के उन लोगों को चढ़ाया जाता था, जिन्होंने तुग़रिल का साथ दिया था। (इलियट, ३, पृष्ठ १२१)

यह बरनी के मूल कथन का अयथार्थ अनुवाद है। अपराधियों को चढ़ाने के लिए सूलियाँ बदायूँ दरवाजे के बाहर बनाई गई थीं। निजामुद्दीन अहमद ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि तब सुलतान ने दिल्ली से जाकर तुग़रिल का साथ देनेवाले लोगों को फाँसी देने के लिए दिल्ली के बाजार में सूलियाँ बनाने की आज्ञा दी। फ़िरिश्ता ने इस कथन का समर्थन किया है।

'तबकात-ए-अकबरी', बिब्लि० इण्डि० पृ० ९६-९७।

१३. इलियट ने इसको समर लिखा है, इलियट, ३, पृ० १२२ फ़िरिश्ता इसको तैमूर खाँ बतलाता है।

बदायूँनी इसको इतिमियर कहता है। अल-बदौनी, १, पृ० १८८ अमीर खुसरो के बंदी काल के अनुभवों के लिए देखिए इलियट, ३, पृ० ५४५।

सुनाया करते थे। विद्वान् लोग उसके समक्ष इन कवियों की समालोचना करते थे। अमीर खुसरो तथा अमीर हसन उसकी राजसभा के सदस्य थे और मुलतान में ५ वर्ष तक उसकी सेवा में रहे थे; इनको उससे आजीविका तथा भूमि प्राप्त हुई थी। राजकुमार इन दोनों कवियों की प्रतिभा का बहुत प्रशंसक था और अपने सब सेवकों से अधिक इनको मानता था। उत्सवों तथा आनन्द-समारोहों के समय उसके मुँह से कभी मूर्खतापूर्ण या गन्दी बातें नहीं सुनी गई, चाहे उसने मदिरापान किया हो या न किया हो; और यदि वह कभी सुरापान करता भी था तो इतनी अल्प मात्रा में कि जिससे वह नशे में चूर या बेहोश न हो जाय।" बलबन इस राजकुमार को बहुत प्यार करता था। उसने इस राजकुमार को युवराज के पद पर नियुक्त किया था और राज-चिह्न प्रदान किये थे। यह राजकुमार, जिसकी भावनाएँ सांस्कृतिक प्रभाव के कारण परिष्कृत हो चुकी थी, प्रतिवर्ष अपने पिता के गम्भीर उपदेश ग्रहण करने के लिए मुल्तान से दिल्ली आता था और इस प्रकार पितृ-भक्ति का परिचय देता था। ऐसे पुत्र का निधन वज्रपात सदृश था। सुल्तान शोक-समुद्र में डूब गया। यद्यपि दिन में वह सबके सामने बड़े संयत भाव से राजकार्य करता था और शोक का कोई भी चिह्न प्रकट न होने देता, परन्तु रात में वह शोकाकुल होकर करुण रुदन करता था, कपड़े फाड़कर सिर पर धूल डालने लगता था। उसका स्वास्थ्य तीव्र गति से बिगड़ने लगा और तब बंगाल से बुगरा खां को बुलाकर उसने उसको राजमुकुट प्रदान करना चाहा। लेकिन बुगरा लापरवाह राजकुमार था; उसने अपने पिता के वचनों पर ध्यान न दिया और आखेट का बहाना कर लखनौती की ओर चल दिया। सम्भवतः वह राजपद के उत्तरदायित्वों के भार से बचना चाहता था; अतः उसने बंगाल जैसे सुदूरवर्ती प्रान्त में, जहाँ उत्तरदायित्व का भार दिल्ली की तुलना में नगण्य था, आराम से दिन बिताना ही अधिक पसंद किया। बुगरा के चले जाने के बाद 'शहीद राजकुमार' के पुत्र कैखुसरो को युवराज बनाने का विचार किया गया और सुल्तान ने राज्य के प्रधान कर्मचारियों के समक्ष उसका पक्ष-समर्थन किया। यह बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न योद्धा शासक, शतशः युद्धों का विजेता, जिसने जीवन की कठोर एवं सुखमय सभी प्रकार की परिस्थितियों को निर्भयतापूर्वक झेला था, अब इतना शोकाकुल हो उठा था, कि थोड़े समय बाद सन् १२८६ ई० में इस संसार से कूच कर गया। उसने अपने उत्तरा-धिकार-पत्र में अपने पौत्र कैखुसरो को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। परन्तु मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए शासक को अधिकारी-वर्ग भूलने लगता है और जैसे ही बलबन की आँखें बंद हुईं कि अमीर और सरदार उसके अन्तिम

आदेश" का विरोध करने लगे और उन्होंने कैकुबाद को सिंहासन पर बिठाया। यह चुनाव सचमुच दुर्भाग्यसूचक सिद्ध हुआ और इसके परिणामस्वरूप दास-वंश का शासन सदा के लिए समाप्त हो गया।

बलबन का व्यक्तित्व—अविश्रान्त रूप से क्रियाशील बलबन का ४० वर्षों का कार्य-काल मध्ययुगीन भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। तेरहवीं शताब्दी का उत्तर भाग अभूतपूर्व उत्तेजना एवं विक्षोभ का काल था; परन्तु बलबन इस घोर अशांत स्थिति का नियन्त्रण करने में पूर्ण सफल रहा। यह समझने में उसे विलम्ब न हुआ कि सुचारु रूप से व्यवस्था स्थापित करने के लिए उस समय दो बातें नितान्त आवश्यक थीं—जनता की दृष्टि में राज-शक्ति का प्रभाव बढ़ाना तथा शासन-तंत्र को व्यवस्थित करना। राजसभा में ऐश्वर्य-प्रदर्शन कर उसने पहली आवश्यकता की पूर्ति की। सार्वजनिक अवसरों पर वह राजकीय अलंकारों से सुसज्जित होकर राजसभा में उपस्थित होता था। उसका व्यवहार सदैव सुसंस्कृत पूर्वीय शासकों जैसा होता था और राजकीय गौरव की भावना उसमें इतनी कूट-कूटकर भरी थी कि अपने निजी अनुचरों के सम्मुख भी राजकीय वेश-भूषा से पूर्णतः सुसज्जित रहता था। दरबार में वह न स्वयं जोर से हँसता या मजाक करता था और न किसी को अपनी उपस्थिति में हँसने या मजाक करने देता था। नीच एवं असभ्य लोगों की संगति से वह घृणा करता था और मित्रों एवं नवागन्तुकों तक से उसने कभी घनिष्ठता स्थापित नहीं की। स्वपदोचित गौरव की मर्यादा का उसे इतना ध्यान रहता था कि एक बार एक उच्चपदस्थ धनिक के लाखों के उपहार को भी उसने केवल इसलिए अस्वीकार कर दिया था कि वह उच्च-कुलोत्पन्न नहीं था। उसके समय में कोई भी सार्वजनिक पद प्राप्त करने के लिए अभिजात कुल का होना नितान्त आवश्यक था; निम्न-श्रेणी के वंशजों को यह पद सर्वथा अप्राप्य थे। अतः अमीर एवं सरदार राज-सेवा के लिए कभी किसी ऐसे व्यक्ति को उपस्थित न करते थे जो अभिजात कुल का न हो।

१४. बदायूँनी का कथन है कि कुछ तुर्की अमीर शहीद राजकुमार के विरुद्ध थे। बरनी ने यह स्पष्ट रूप में नहीं लिखा। (रैंकिंग, अलबदोनी, १, पृ० २२०)। फ़िरिश्ता के अनुसार मलिक फख्र-उद्दीन के कथनानुसार दूसरा उत्तराधिकारी चुना गया क्योंकि कोतवाल ने हमेशा राजकुमार के पिता का विरोध किया था।

अमीरों ने यह विचार किया कि कैखुसरो की अपेक्षा उनका वश कैकुबाद पर अधिक चलेगा क्योंकि कैखुसरो ने अपने पिता की कुछ विशेषताओं तथा गुणों का अनुकरण कर लिया था। उसके पिता के उपर्युक्त वर्णन के लिए देखिए इलियट ३, पृ० ११०।

युवावस्था में बलबन सुरापान एवं ह्रास-विलासपूर्ण उत्सवों में रुचि रखता था और ऐसे अवसरों पर जुआ खेलना भी उसकी दृष्टि मे दोप न था, परन्तु राजसिंहासन पर आसीन होते ही उसने यह सब आदतें छोड़ दी और संयमित जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। कट्टर सुन्नी मुसलमान की तरह वह धार्मिक कृत्यों के पालन में बहुत दृढ था और शुक्रवार (जुमा) की प्रार्थना में नियमित रूप से भाग लेता था। वह सदैव विद्वान् एव धर्मात्मा पुरुषों के साथ भोजन करता था तथा उनके साथ धर्म एव न्याय-विधान के विपय में सभापण करता था। सत लोगो के आश्रमो मे वह बहुधा जाता था और धार्मिक स्थानों की यात्रा किया करता था। कुछ अन्य मध्यकालीन महान् शासकों के समान वह भी आखेट-प्रेमी था और बहुधा शीतकाल में दिल्ली के समीपवर्ती ४० मील तक विस्तृत सुरक्षित वन-प्रदेश में शिकार करते हुए समय व्यतीत करता था। घरेलू जीवन में सुलतान का व्यवहार बहुत स्निग्ध एवं सहृदयतापूर्ण था। अपने पुत्रों से वह अत्यधिक प्रेम करता था और अपने ज्येष्ठ-पुत्र मुहम्मद की मृत्यु से उसके हृदय पर ऐसा प्रबल आघात लगा कि वह इसकी व्यथा को अधिक समय तक सह न सका। दु:खित लोगों के प्रति उसके हृदय में बहुत दया थी; मध्य-एशिया से आये हुए अनेक शरणार्थियों को उसकी राजसभा में आश्रय प्राप्त हुआ था। जब कभी वह किसी पुल या दलदलवाले स्थान को पार करता था तो अपने कर्मचारियों को आदेश देता था कि स्त्रियों, बच्चों तथा वृद्धो एवं अशक्त लोगो को सर्वप्रथम सुरक्षित रूप से पार कराया जाय और उन्हें हर प्रकार की सहायता दी जाय। महान् पुरुषों के अंतिम संस्कार के अवसर पर वह उपस्थित होता था और उनके संबंधियों एवं अनुजीवियों को सान्त्वना प्रदान करता था। परन्तु अपनी आज्ञा का विरोध अथवा राज्य की शान्ति में व्याघात होते देखकर वह नितान्त निर्मम भी बन जाता था। जब कभी कोई कर्मचारी अथवा सरदार विद्रोह कर देता था, तो वह उसके साथ निर्दयता का व्यवहार करता था और "अत्याचारी के से व्यवहार से सुई की नोक के बराबर भी न सरकता था।" उसकी कृपा केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त होती थी जो अत्यन्त भक्ति-भाव से उसकी सेवा में संलग्न रहते थे और उसकी आज्ञाओं का अक्षरश: पालन करते थे। उसका समग्र जीवन व्यवस्था स्थापित करने तथा अपने

---

१५. फिरिश्ता ने लिखा है कि "बलबन ने किसी भी हिंदू को विश्वसनीय एवं उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त न करने का नियम बना डाला था।" परन्तु संस्कृत में लिखित पालम अभिलेख में, जो स्पष्टत: किसी हिंदू द्वारा

राज्य को मंगोलों के आक्रमणों से सुरक्षित बनाने के अनवरत प्रयत्नों में व्यतीत हुआ। तथापि संस्कृत कलाओं को प्रोत्साहित करने के लिए वह समय निकाल लेता था और अपनी राजसभा में विद्वानों को आमंत्रित करता था तथा उनको उदार आश्रय प्रदान करता था। महान् योद्धा, शासक एवं नीति-निपुण बलबन, जिसने घोर संकटमय स्थिति में पड़े हुए अल्पवयस्क मसलमान-राज्य को सुरक्षित रक्खा और नष्ट होने से बचाया, इसलिए मध्यकालीन भारतीय इतिहास में सदैव उच्च स्थान पाता रहेगा। उसने अलाउद्दीन के सफल शासन की भूमिका बना दी; यदि उसने भारत में संघर्ष-रत मुसलमान-शक्ति को दृढ़ एवं सुरक्षित न बना दिया होता तो अलाउद्दीन मंगोलों के आक्रमणों का सफल प्रतिरोध करने तथा सुदूरवर्ती प्रदेशों को विजय करने में कभी सफल न हो पाता, जिनके कारण उसको मुसलमानों के इतिहास में ऐसा गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है।

दास-वंश का पतन—बलबन की मृत्यु के कारण जो अभाव उपस्थित हुआ, उसकी पूर्ति न हो सकी। उसके उत्तराधिकारियों में कोई ऐसा योग्य न था जो इतनी योग्यता एवं सफलतापूर्वक शासन-सूत्र का संचालन कर सकता, जैसा उसने २० वर्ष तक किया था। मध्यकाल की राजनीति में शासक की व्यक्तिगत योग्यताओं का बहुत प्रभाव रहता था; अतः ज्योंही मृत्यु ने बलबन के सुदृढ़ हाथों से शासन-सूत्र हटा दिया, त्योंही राज-कार्यों मे अव्यवस्था फैलने लगी और शासन-तन्त्र की शक्ति एवं न्याय-परायणता में जनता का पहले जैसा विश्वास न रह गया।

दिल्ली के कोतवाल मलिक फखरुद्दीन की गुप्त-मन्त्रणाओं के फलस्वरुप कैकुबाद, जिसकी अवस्था केवल १७ वर्ष की थी, सिंहासनारूढ़ किया गया। बलबन के मनोनीत उत्तराधिकारी कैखुसरो के अधिकार पर किसी ने ध्यान न दिया। सिंहासन के दूसरे वैध अधिकारी बुगरा खाँ ने भी बंगाल में 'नासिरुद्दीन महमूद बुगरा शाह' की उपाधि धारण कर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शासक जैसे अधिकारों के उपभोग में ही सन्तुष्ट रहकर, अपने अधिकार पर इस हस्तक्षेप का कोई विरोध न किया। कैकुबाद का लालन-पालन बाल्यकाल से ही इतनी

लिखा गया है, सुलतान की बहुत प्रशंसा की गई है। परन्तु यह हिंदुओं के प्रति सुलतान के उदारतापूर्ण व्यवहार को सिद्ध करनेवाला असंदिग्ध प्रमाण नहीं है, क्योंकि थोड़ा बहुत धन प्राप्त कर ऐसे प्रशंसात्मक पद्य लिखनेवाले साहित्यकार सदैव सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं।

एपिग्राफिया इण्डो-मोस्लेमिका, १९१३-१४, पृ० ३५, ३८, ३९, ४०-४१।

ब्रिग्स १, पृ० २५०।

सतर्कतापूर्वक किया गया था कि उसको कभी किसी सुन्दरी को आँख उठाकर देखने या मदिरा के एक प्याले का भी आस्वादन करने का अवसर न दिया गया था। उस पर रात-दिन उसके अध्यापकों की कड़ी निगरानी रहती थी जो उसको ललितकलाओं तथा पौरुषमय व्यायामों की शिक्षा देते थे और कभी अशिष्ट व्यवहार करने अथवा अश्लील शब्द बोलने की अनुमति न देते थे। ऐसे वातावरण में पले इस राजकुमार को अकस्मात् इतने विशाल साम्राज्य का प्रभुत्व प्राप्त हो गया, जिसकी अतुल सपत्ति उसके समक्ष आनन्दोपभोग की कोई भी वस्तु प्रस्तुत कर सकती थी। सयम का बाँध टूट गया; वह विवेक एव संयम के यह सब पाठ भूल गया जो उसके अध्यापकों ने बड़े परिश्रम से उसे बताये थे और बाध्य होकर ग्रहण किये हुए निवृत्तिमय पवित्राचरणों को त्यागकर उसने असयमित विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करना प्रारभ कर दिया। बलबन के किये-कराये परिश्रम पर पानी फिर गया। अमात्यों तथा सरदारों ने भी शासक का अनुसरण किया; इससे राजसभा दुराचारों के लिए कुख्यात हो गई और सब श्रेणियों के लोग विलासी बनने लगे।

जब सुलतान आमोद-प्रमोदों एवं शराब पीने में समय व्यतीत कर रहा था, शासन का सारा भार दिल्ली के वृद्ध एवं प्रभावशाली कोतवाल फखरुद्दीन के भतीजा एवं दामाद मलिक निजामुद्दीन पर था, जिसने इस बुद्धिहीन सुलतान का विश्वास पूर्णतया प्राप्त कर लिया था। निजामुद्दीन की अभिलाषाएँ बहुत उच्च थी। उसके उत्कर्ष एव प्रभाव-प्रदर्शन से वह सम्मान्य खान लोग रुष्ट होने लगे जो ऐबक तथा इल्तुतमिश के समय से राज्य की अनन्य भक्ति-भाव से सेवा करते आ रहे थे। बुगरा खाँ का दिल्ली से दूर बंगाल में होना, सरदारों के प्रभाव का क्षीण हो जाना तथा कैकुबाद का असंयमित एवं विलासितापूर्ण जीवन बिताना—यह सब बातें देखकर निजामुद्दीन सिंहासन को हस्तगत करने के मंसूबे बाँधने लगा और इसके लिए सुयोग की प्रतीक्षा करने लगा। लेकिन उसकी यह कुत्सित कामना तब तक फलीभूत न हो सकती थी, जब तक बलबन द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी कैखुसरो, जो अब भी सरदारों के सम्मान एवं प्रशंसा का पात्र था, मार्ग से न हटा दिया जाता। अतः कैखुसरो के विनाश के विचारों से भरा हुआ यह मन्त्री अपने बुद्धिहीन स्वामी के पास ऐसे अवसर पर पहुँचा जब वह नशे में चूर हो रहा था और तब कैखुसरो के विषय में झूठी-झूठी बातें बनाकर मन्त्री ने उसको मरवा डालने की आज्ञा प्राप्त कर ली। निश्शंक युवक राजकुमार कैखुसरो को, जो अपने पिता के समान सद्‌गुणी एवं सदाचारी था, सुलतान से

बुला लिया गया। जब वह दिल्ली की ओर आ रहा था, रोहतक में वधिक के हाथों उसको सदा के लिए सुला दिया गया।

इस निर्मम हत्या से सारे साम्राज्य में आतंक फैल गया। मलिक लोग भय-संत्रस्त हो गये। किसी को अपना जीवन सुरक्षित न दिखाई देने लगा। निजामुद्दीन की धृष्टता दिन प्रति दिन बढ़ती जाती थी। उसने सुलतान के वजीर ख्वाजा खतीर को दोषी ठहराकर गधे पर चढ़ाकर नगर में घुमाने का दण्ड दिलवाया। तत्पश्चात् उसने मंगोल सरदारों पर विद्रोह का आरोप लगाया। इनके नेताओं को राजप्रासाद में मरवाकर नदी में फेंक दिया गया और इनकी संपत्ति हस्तगत कर ली गई। ऐसे अन्याय एवं निर्दयतापूर्ण कार्य नित्य प्रति होने लगे और इस उद्दण्ड मन्त्री ने सुलतान से बलबन के शासन-काल के कुछ सर्वाधिक स्वामिभक्त एवं सिद्धहस्त कर्मचारियों के वध की आज्ञा प्राप्त कर ली। जब गजनी के तमार खां के नेतृत्व में पंजाब के प्रदेशों को उत्पीड़ित कर लाहौर को लूटनेवाले मंगोलों को बलबन की सेना ने जिनकी संख्या ३०,००० अश्वारोही थे, भगा दिया, तो इस मन्त्री ने कैकुबाद को दिल्ली के समीप बसे हुए मगोलों की हत्या करवा देने के लिए उकसाया। इन मंगोलों ने इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लिया था—कुछ ने विवशतापूर्वक परन्तु कुछ ने स्वेच्छा से। इनको 'नौ मुसलमान' कहा जाता था। इनके प्रति यह शंका की गई कि यह अन्य देशों में बसे हुए अपने सजातियों के साथ पत्र-व्यवहार करते हैं। राज्य को एक महान् संकट से मुक्त करने के लिए, किसी भी प्रकार की जांच या पूछ-ताछ किये बिना ही, इन लोगों का वध कर दिया गया।

निजामुद्दीन का प्रभाव उसके अंतःपुर तक में फैल गया था, जहां उसकी पत्नी "सुलतान की धर्म की मां और उसके महिला-निवासों की अध्यक्ष" मानी जाती थी। दिल्ली के बड़े लोग तथा सरदार, शासक के इस पतन से बहुत दुःखित होते थे। वृद्ध कोतवाल मलिक फखरुद्दीन ने अपने दामाद को यह चेताने का प्रयत्न किया कि घटनाएं जिस वेग से चल रही हैं उससे राज्य पर घोर संकट आ पड़ने की आशंका है।

परन्तु निजामुद्दीन ने इस चेतावनी पर कोई ध्यान न दिया और एक नई राजनीतिक चाल सोच निकाली। वह खिलजियों को समाप्त करने का प्रयत्न करने लगा, क्योंकि उन्होंने राज्य में अपनी शक्ति एवं प्रभाव बढ़ा लिया था और इसलिए वह उनको सिंहासन हस्तगत करने के कार्य में बहुत बड़ी बाधा समझता था। बर्नी लिखता है कि खिलजी लोग तुर्कों से द्वेष रखते थे। उनके एक नेता ने बारहवीं शताब्दी में बंगाल की विजय प्राप्त की थी

और उनमें से अनेकों ने हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों का शासन-संचालन किया था। उन्होंने जलालुद्दीन फीरोज खिलजी के, जो 'आरिज-ए-ममालिक' (सेना का निरीक्षक) था, नेतृत्व में एक दल बनाया। अब खिलजी तथा तुर्क लोग दो विरोधी दलों में संघटित हो गये और राजनीति में प्रधानता प्राप्त करने के लिए परस्पर उलझने लगे। इस स्थिति की सूचना पाकर बुगरा खाँ दिल्ली की ओर चला गया[16] और उसने अपने पुत्र को उन भयंकर परिणामों से सावधान किया जो उसके विलासितापूर्ण कार्यों से उत्पन्न होनेवाले थे। पिता की इस चेतावनी से कैकुबाद बहुत प्रभावित हुआ और कुछ समय तक उसने सदाचारपूर्ण जीवन बिताया भी परन्तु चालाक मन्त्री ने उसको फिर दुराचारों में घसीट लिया। दिन-रात भोग-विलासों में लिप्त रहने से उसका स्वास्थ्य गिर गया और उसको लकवे के रोग ने धर दबाया।

शासन-तंत्र में अव्यवस्था फैलने लगी और इस दशा को देखकर शान्ति तथा व्यवस्था-प्रेमी लोग व्याकुल हो उठे। सरदारों एवं अमीरों के पारस्परिक

---

१६. बदाऊँनी ने इस मिलाप का वर्णन भिन्न प्रकार से किया है। उसने लिखा है कि बुगरा खाँ ने, जो स्वतन्त्र शासक बन गया था, अपने पुत्र को निजामुद्दीन की कुचालों से सावधान करने के लिए पत्र लिखे, परन्तु कैकुबाद ने उसके परामर्श पर ध्यान न दिया। बहुत लिखा-पढ़ी के बाद यह निश्चय हुआ कि बुगरा खाँ लखनौती से प्रस्थान करे और कैकुबाद दिल्ली से, और तब दोनों अवध में मिलें। रेन्किग—'अल बदाऊँनी'——१, पृ० २२२।

'किरान-उस्-सादैन' में अमीर खुसरो के वर्णन से विदित होता है कि सुलतान नासिरुद्दीन (बुगरा खाँ) ने दिल्ली को जीतने और अपने पुत्र को समाप्त करने के विचार से लखनौती से प्रस्थान किया तथा कैकुबाद ने भी युद्ध के लिए तत्परता से प्रयाण किया और तब अवध में आने पर दोनों में शान्तिपूर्ण समाधान हो पाया। इलियट ३, पृ० ५३०-३१।

'तबकात-ए-अकबरी' मे ऐसे विचार का उल्लेख नहीं किया गया है। बिब्लि० इण्डि० पृ० १०७।

फिरिश्ता ने भी लिखा है कि बुगरा खाँ ने एक विशाल सेना लेकर पलायन किया और अपने पिता के बिहार तक बढ़ आने का समाचार पाकर कैकुबाद भी उसका विरोध करने के लिए चल पड़ा और उसने घाघरा के तट पर डेरा डाला, परन्तु बाद में शान्तिपूर्ण समझौता हो गया।

इब्नबतूता ने इस मिलाप का वर्णन भिन्न प्रकार से किया है उसके कथनानुसार बुगरा खाँ कैकुबाद को सिंहासन से हटाकर स्वयं हस्तगत करना चाहता था। उसने अपनी सेना के साथ बिहार की ओर पलायन किया परन्तु रात्रि होने के पूर्व उसके मस्तिष्क में यह बात बैठ गई कि [कैकुबाद उसी का ही पुत्र है और उसके साथ युद्ध करना ठीक नहीं क्योंकि उसके बाद उसका उत्तराधिकारी वही था।

इब्नबतूता, पेरिस संस्करण, ३, पृ० १७७।

विद्वेष तथा कलह ने सार्वजनिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए सामूहिक प्रयत्नों को असंभव बना दिया। बलबन के समय के वृद्ध कर्मचारियों ने, जो अभी तक स्वामिभक्ति से ओतप्रोत थे, कैकुवाद के एक शिशु पुत्र को 'हरम' से लाकर सिंहासनारूढ़ किया। इसी अवसर पर 'आरिज-ए-ममालिक' (सेना का निरीक्षक) जलालुद्दीन फीरोज अपने मित्रों एवं संबंधियों को साथ लेकर अपने सैनिक दलों का निरीक्षण करने के लिए गया हुआ था। इसी समय खिलजियों से ईर्ष्या करनेवाले तथा फीरोज की महत्त्वाकांक्षाओं एवं शक्ति से भय खाने-वाले अमीरों ने उसको समाप्त करने का कुचक्र रचा। रोमन तानाशाह सला के समान उन्होंने भी सब शक्तिशाली खिलजी अमीरों एवं मलिकों को देश-निर्वास के दण्ड की घोषणा कर दी और जलालुद्दीन का नाम सर्वप्रथम रखा गया। परंतु जलालुद्दीन के पुत्रों ने अपने पिता के शत्रुओं को खूब छकाया। ५०० अश्वारोहियों का दल लेकर वे राज-प्रासाद में पहुँचे और शिशु शासक को उठाकर अपने पिता के पास सैनिक-शिविर में ले गये। नगर में खलबली मच गई और क्रुद्ध जन-समूह शिशु राजकुमार को छुड़ाने के लिए एकत्र होने लगे, परंतु मलिक फखरुद्दीन ने समझा-बुझाकर इस जन-समूह को तितर-बितर कर दिया। फलस्वरूप जलालुद्दीन की शक्ति और भी बढ़ गई और उसका विरोध करना व्यर्थ समझकर अनेक तुर्क अमीर एवं मलिक उसके पक्ष में सम्मिलित हो गये। दो दिन उपरांत कैकुबाद को, जो अब तक लकवे के कारण सर्वथा शक्तिहीन हो चुका था, एक खिलजी मलिक ने, जिसके पिता का उसने वध किया था, उसके अत्यधिक प्रिय विलास-स्थान शीश महल में बिस्तर में लपेट कर, पादाघातों से ठंडा कर दिया[१४] और उसके शव को जमुना में फेंक दिया। ऐसे अपमानपूर्ण रूप में दास-वंश के शासन का [illegible]। अब

मुसलमानों की सफलता के कारण——अनेकानेक जातियों के असंख्य लोगों द्वारा निर्वासित हिन्दुस्तान पर मुसलमानों ने इतनी सरलता से कैसे विजय प्राप्त की, इसकी व्याख्या हो जानी आवश्यक है। हिंदू राज-तंत्र प्राचीन आदर्शों से च्युत हो चुका था तथा पारस्परिक विद्वेष एवं कलह ने इसको शक्तिहीन बना दिया था। सारे देश में अनेक छोटे-छोटे राज्य बन गये जो परस्पर युद्ध में लीन रहते थे। देश में सामरिक निपुणता एवं रण-चातुरी की कमी न थी। राजपूतों के रूप में देश के पास योग्यतम सैनिकों का विशाल समूह था और यह रणबाँकुरे, राजपूत साहस, वीरता एवं कष्ट-सहिष्णुता मे संसार की किसी भी जाति के लोगों से कम न थे। परंतु इनमें ऐक्य एवं संघटन का अभाव था। अभिमान एवं आत्म-गौरव को उग्र भावना के कारण वह एक नेता के आज्ञानुवर्ती न हो पाते थे। संकटापन्न स्थिति में भी, जब विजयी होने के हेतु संघटित होना अनिवार्य हो जाता था, वह अपनी-अपनी योजनाओं के अनुसार चलते थे। इस प्रकार वह सुविधाएँ भी फलहीन हो जाती थीं, जो उनको अपने शत्रुओं से कहीं अधिक प्राप्त थी। मुसलमानों के दल हिंदूकुश के उस पार के ठंडे पर्वतीय प्रदेशों से आते थे; अतः रण-क्षेत्र में वह अधिक पराक्रम का प्रदर्शन कर सकते थे। वह हिंदुओं से कहीं अधिक संघटित, अनुशासित, एवं सूत्र-बद्ध थे। इस्लाम भ्रातृत्व की भावना से ओतप्रोत है; इसके सभी अनुयायी, चाहे वह उच्चवर्ग के हो या निम्न वर्ग के, धनी हों या निर्धन एक जैसे समझे जाते हैं और उनके विभिन्न वर्गों में विभेद करने के लिए कृत्रिम दीवारें खड़ी नही की गई हैं। इस्लाम ग्रहण करनेवाला व्यक्ति एक ऐसे भ्रातृ-मण्डल में प्रवेश करता है, जहाँ मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई भेद-भाव नही रखा जाता और जहाँ सबको एक जैसे अधिकार प्राप्त होते हैं——इससे मुसलमान जाति अत्यन्त बलशाली हो जाती है और इसके सदस्य बंधुत्व एवं समानता के अविच्छेद्य सूत्र में गुँथे होने के कारण, अपने सर्वसाधारण स्वार्थों की पूर्ति के लिए कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करते है। मुसलमान सदैव एक नेता की आज्ञा का अनुसरण करते थे और वह एक आदेश के पालन की शक्ति को भली भाँति समझते थे। अन्य धर्मावलम्बियों को अपने धर्म में ले आने की प्रथा का इस्लाम के द्वारा समर्थन होने के कारण, इसके अनुयायियों में धर्म-प्रचार का उत्साह उत्कट रूप से जागृत हो गया था और इसी लिए अपने धर्म के प्रचार एवं संरक्षण के लिए वह एक हो जाते थे। जैसा लेन पूल महोदय ने कहा है "उनके धर्म-मत में तर्क-वितर्क के लिए कोई स्थान न होना ही उनकी सुरक्षा का साधन बन गया था। केवल आत्म-रक्षा के लिए विधर्मियों के सम्मुख ईश्वर के मनोनीत भक्तों के रूप में एक हो जाना तथा अपने पृथक्

वर्ग की अल्पसंख्या को बढ़ाने के लिए हिंदुओं को, समझा-बुझाकर अथवा तलवार के बल से, अपने धर्म में परिणत करना उनका कर्तव्य है।" अपने धर्म के प्रति निष्ठा होने के कारण ही—विधर्मियों के साथ अपने व्यवहार में वह असाधारण रूप से सक्रिय, दृढ़ एवं दुर्धर्ष हो पाये। गाजी बनने की आशा से साधारण से साधारण मुसलमान भी आपत्तियाँ झेलने तथा अपनी बलि चढ़ा देने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो जाता था। घोर संकटों से घिरे होने पर तथा सर्वथा प्रतिकूल परिस्थिति से सामना होने पर भी वह विचलित न होते थे, क्योंकि उनका दृढ विश्वास था कि धर्म के लिए युद्ध करते हुए यदि उनके प्राण भी चले जायेंगे तो उनके लिए स्वर्ग का द्वार अनावृत हो जायेगा तथा उन्हें बलिदानी का गौरव प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार मुसलमान किसी सुनिश्चित उद्देश्य के लिए लडते थे। इसके विपरीत हिंदुओं के सम्मुख केवल अपने वर्ग या वंश के स्वार्थ ही रहते थे। हिंदुओं में उस शक्ति एव प्रेरणा का अभाव था जो किसी उद्देश्य के प्रति निष्ठा होने से प्राप्त होती है। यही कारण था कि वे मुसलमानों जैसी घोर कष्ट-सहिष्णुता, अविचल भाव, शक्ति एवं वीरता-पूर्वक अपने प्राणों का होम कर देने की प्रवृत्ति प्रकट न कर पाये। हिंदुओं में एक दूसरे से तीव्र विरोध रखनेवाले अनेक वर्ग एवं सम्प्रदाय थे। ब्राह्मण-धर्म के द्वारा आदिष्ट धार्मिक कृत्यों में सश्लिष्ट विधि-विधानों की योजना ने तथा अत्यधिक उद्वेजक रूप से अन्यायपूर्ण भेद-भावों पर आधारित विभिन्न जातियों की अपनी-अपनी विशेषताओं ने समाज को एक दूसरे के सम्पर्क से दूर रहनेवाले अनेक वर्गों में खण्ड-खण्ड कर दिया था। वर्ग-गत अथवा वंश-गत स्वार्थों के सम्मुख राष्ट्रीय स्वार्थों पर ध्यान नहीं दिया जाता था। जाति-व्यवस्था में जन्म को अधिक महत्त्व प्राप्त होने के कारण विभिन्न वर्ग सामूहिक प्रतिरोध एवं सुरक्षा के लिए भी एकता के सूत्र में न बँध पाते थे। युद्ध-क्षेत्र के महानतम नायक तक स्वजातीय गौरव को सर्वोच्च महत्त्व देते थे और वह उस संकीर्ण विचार-पद्धति के प्रभाव से मुक्त न हो पाते थे जिसकी छाया में जन्म से लेकर वह बढते आये थे।

हिंदुओं का सैन्य-संघटन भी समयानुकूल न था। दुर्धर्ष एवं सुशिक्षित अश्वारोही सेनाओं से युद्ध करने में उनका हाथियों पर अत्यधिक अवलम्बित रहना बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ। बार-बार के अनुभव के उपरान्त भी हिंदू योद्धाओं ने इस पर कभी भी ध्यान न दिया और वह अपनी प्राचीन युद्ध-प्रणाली को बड़ी दृढ़तापूर्वक अपनाये रहे। मुसलमानों को अफगानिस्तान की पर्वत-श्रेणियों के उस पार के प्रदेशों से यथेच्छ संख्या में सैनिक प्राप्त हो जाते थे, और हिंदुओं के विरुद्ध लड़ने के लिए वह इन स्थानों से कभी भी सैनिकों

के दल के दल ला सकते थे। भारत के अपार धन से एवं साहसिक कार्यों के प्रेम से आकर्षित होकर इन प्रदेशों के लोग बहुत बड़ी संख्या में महमूद गजनी तथा मुहम्मद गोरी जैसे नेताओं की सेना में भर्ती हो गये थे; परंतु हिंदुओं को अपना सैन्य-बल बढ़ाने के लिए केवल एक देश पर और बहुधा तो केवल एक राज्य पर ही निर्भर रहना पड़ता था, जिसका विस्तार वर्तमान काल के एक राज्य प्रान्त से अधिक न होता था। हिंदुओं के राज-तंत्र की व्यवस्था के अनुसार सैनिक कर्तव्यों का भार केवल एक वर्ग के लोगों पर ही डाला गया था, जिससे जनता का बहुत बड़ा भाग या तो सैनिक कार्यों के लिए अयोग्य हो चला था या फिर उन राजनीतिक क्रांतियों से सर्वथा उदासीन रहता था, जो भारतीय समाज की नींव को भी हिला रहे थे। जान पड़ता है कि भारतीय राज्यों में सतर्क वैदेशिक-विभागों का अभाव था और यह सीमांत प्रदेशों की सुरक्षा के प्रति असावधान रहते थे तथा हिंदूकुश के पार के राज्यों की शक्ति, साधन एवं विस्तार का ज्ञान प्राप्त करने का कभी प्रयत्न न करते थे। विदेशियों की प्रगति को रोकने के लिए राजपूत सदैव सचेष्ट रहे, परन्तु राष्ट्रीय-भावना एवं शक्ति से सहायता न पाने के कारण वह अधिक समय तक इन प्रबल आक्रांताओं के सम्मुख टिक न सके। इस प्रकार प्युरिटनों के समान पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करने के लिए उत्कट उत्साह से भरे हुए मुसलमान क्रॉमवेल के 'आइरनसाइड' दल के समान अजेय बन गये और जब उनकी टक्कर हिंदुस्तान की असघटित एवं अशक्त जातियों से हुई तो उन्हें इन पर विजय प्राप्त करने में अधिक कठिनाई न हुई। इन दोनों जातियों का संग्राम वास्तव में दो प्रकार की सामाजिक व्यवस्थाओं का युद्ध था जिनमें से एक वृद्ध एवं विनाशोन्मुख तथा दूसरी यौवन की शक्ति एवं निर्भयता से पूर्ण थी।

मुसलमानों की शक्ति का दूसरा विशाल स्रोत था दास-प्रथा। कभी-कभी इन दासों के रूप में इल्तुतमिश और बलबन जैसे योग्य पुरुष भी मिल जाते थे जो आनुवंशिक अधिकार के बल पर ही शासनाधिकार प्राप्त करनेवाले साधारण कोटि के शासकों से अत्यधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुए। किसी शासक या सेनापति का दास होना पूर्वीय देशों में विशेषाधिकार जैसा समझा जाता था और बहुधा इस प्रकार के लोग चाहे वह नीचकुलोत्पन्न ही क्यों न हों, उच्च-वंश के अधिकारी-वर्ग के लोगों के समान या उनसे भी उच्च श्रेणी के समझे जाते थे। दास-प्रथा की सहनमता के विषय में लेनपूल महोदय का कथन स्मरणीय है। उन्होंने लिखा है कि "प्रतापी शासक के पुत्र निकम्मे निकल जाते हैं; परन्तु जनता के किसी यथार्थ नेता के दास बहुधा अपने स्वामी के समान

सिद्ध हुए है। वास्तव में कारण यह है कि पुत्र के भविष्य के विषय में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। सम्भव है कि उसमे अपने पिता के गुण आ जाएँ और सम्भव है कि न भी आएँ, यदि उसमे यह आ भी जाएँ, तब भी पिता की सफलता एवं प्रभाव के कारण विलासिता का ऐमा वातावरण उत्पन्न हो जाता है, जो उद्योगशीलता को प्रोत्साहित नही करता; और फिर चाहे अच्छा हो या बुरा पुत्र एक अपरिवर्तनीय स्थिर प्राणी है; कोई ऐसा पिता ही, जिसमें असाधारण रूप से सार्वजनिक कर्तव्यपरायणता हो, अपने अयोग्य पुत्र को मृत्युदण्ड देकर किसी योग्य दास को उसका स्थान दे सकता है। दूसरी ओर दास 'योग्यतम' के जीवित रहने के सिद्धान्त का उदाहरण होता है। उसको शारीरिक एवं बौद्धिक योग्यताओ के कारण ही चुना जाता है और वह केवल सतत उद्योग एव कठोर सेवा द्वारा ही अपने स्वामी के कृपाभाव का पात्र बने रहने की आशा कर सकता है। इन गुणों का अभाव दिखाई देने पर उसके भाग्य की लकीर अनिश्चित रहती है।[१८]"

---

१८. 'मेडियवल इण्डिया' पृ० ६४।

अध्याय ८

खिलजी सैनिक-शासन-तन्त्र का उद्भव और उत्कर्ष

जलालुद्दीन का राज्यारोहण, १२९० ई०

दिल्ली का सिंहासन अब खिलजी तुर्कों के अधिकार में आ गया।[1] किलूगढी में किये गये सार्वजनिक समारोह के अवसर पर सैनिकों एवं नागरिकों ने नये सुलतान के प्रति राज-भक्ति प्रकट की। फीरोज ७७ वर्ष का वृद्ध था; वह युद्ध करने और रक्त बहाने से घृणा करता था। परन्तु उसकी विनम्रता एवं सहृदयता से राज्य में राज-द्रोह की भावना प्रबल होने लगी। उसमें उन गुणों का अभाव था जिनका तेरहवीं शताब्दी के शासक में होना नितान्त आवश्यक था।

---

१. खिलजी लोग विशुद्ध तुर्क न थे।

'तबकात-ए-अकबरी' के लेखक का कथन है कि जलालुद्दीन खिलजी तथा महमूद खिलजी मान्दवी चंगेज खाँ के दामाद कलीज खाँ के पौत्र थे, जो अपने ससुर द्वारा ख्वारिज्म के शाह के परास्त किये जाने पर गोर व गुरजिस्तान के पर्वतीय प्रदेश में बस गया था। वर्ण-परिवर्तन से कलीज का नाम खलिज और तत्पश्चात् निरन्तर प्रयोग में आते रहने पर खल्ज हो गया—'तबकात-ए-अकबरी'—बिब्लि० इंडि० पृ० ११६।

फिरिश्ता ने ऊपर के वर्णन का समर्थन किया है और निजामुद्दीन की तरह यह भी कहा है कि सलजूकों के इतिहास-लेखकों के अनुसार यफस के पुत्र तुर्क के ११ पुत्र हुये, जिनमें से एक का नाम खल्ज था और इसकी संतान खिल्जी कहलाई। फिरिश्ता के कथनानुसार बाद का विवरण अधिक संभव जान पड़ता है क्योंकि गजनी के शासकों के इतिहास में और विशेषतया सुबुक्तगीन तथा महमूद के शासन-काल के वर्णन में बहुधा खिलजियों का उल्लेख हुआ है; इससे निश्चित होता है कि वह चंगेज खाँ से पूर्ववर्ती थे। परंतु फिरिश्ता ने इस विषय में अनिश्चितता ही प्रकट की है क्योंकि उसने आगे लिखा है कि यह भी सम्भव है कि कलीज खाँ खिलजी-कुल में हुआ हो।

फिरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० ६८-९।

जियाउद्दीन बर्नी ने अपने ग्रंथ 'तारीख-ए-फिरोजशाही' (बिब्लि० इण्डि० का पाठ पृ० १७१) में खिलजियों को तुर्क जाति का नहीं माना है। जलालुद्दीन फीरोज के विषय में उसने लिखा है कि वह तुर्कों से भिन्न जाति का था; अतः तुर्कों पर उसको विश्वास न था और न तुर्क ही उसको अपना सजातीय मानते थे।

ऐसे समय पर, जब देश में राज-द्रोह की आवाज उठ रही थी और मंगोल सीमावर्ती प्रदेशों पर टूट पडने के लिए तैयार हो रहे थे, फीरोज अपनी मित-व्ययिता एवं सरलता के कारण राजदण्ड धारण करने के योग्य न था। सामंतों तथा जनता की दृष्टि में वह राज-सत्ता का अपहरण कर रहा था, इसी लिए उसने दिल्ली छोड़कर किलूगढ़ी में राजमुकुट धारण किया। दिल्ली के नागरिक ८० वर्ष तक तुर्कों के शासन में पल्लवित और पुष्पित हुए थे; अतः बदायूँनी का कहना है कि उनको खिलजी-शासन असह्य प्रतीत होने लगा। सुलतान के सार्वजनिक 'दरबार' को देखकर दिल्ली के नागरिक आश्चर्यान्वित हो गये और उन्हें यह बात बडी विचित्र-सी जान पडी कि तुर्कों के सिंहासन पर खिलजी कैसे बैठ सकते हैं और तुर्कों के अतिरिक्त अन्य राज-वंश पर शासन ही कैसे कर सकता है। सुलतान के प्रारम्भिक कार्यों ने उसकी शक्ति को बहुत कुछ सुदृढ़ता प्रदान की। उसने 'मुइज्जी'-महल को पूरा करने तथा चित्रांकन द्वारा सुसज्जित करने का आदेश दिया। अमीरों और सरदारों को किलूगढ़ी में अपने-अपने निवासस्थान बनाने की आज्ञा दी तथा व्यापारियों एवं व्यवसायियों को वहाँ बस जाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। बलबन के समय के तुर्कों को उच्च पदों से न हटाया गया। पिछले राज-वंश के प्रतिनिधि मलिक छज्जू को पुनः कड़ा-मानिकपुर का शासन सौंपा गया और उसको शंका एवं भय की स्थिति से मुक्त कर दिया गया। सुलतान के संबंधियों को बहुमूल्य उपहार प्राप्त हुए। सुलतान के ज्येष्ठ पुत्र को 'खानखाना' की, दूसरे पुत्र को 'अरकाली खाँ' की तथा तीसरे की 'कद्रखाँ' की पदवी मिली, उसके भाई को 'यगराश खाँ' की उपाधि से विभूषित कर 'अरिज-ए-ममालिक' के पद पर नियुक्त किया गया। सुलतान के दो भतीजे एवं दामाद, अलाउद्दीन तथा इल्मास बेग क्रमशः 'अमीर तुजक' और 'आखुर बेग' (अश्वाध्यक्ष) बने तथा इल्मास बेग को

इब्न हौकल ने (औसले कृत 'ओरियन्टल ज्योगरफी' पृ० २०७) खिलजियों के विषय में लिखा है कि वे तुर्क थे और प्राचीनकाल में हिन्दुस्तान और सिजिस्तान के सीमावर्ती प्रदेशों के मध्य में बस गये थे।

विन्सेन्ट स्मिथ महोदय ने खिलजियों को अफगान बताया है, परन्तु अपने इस मत का समर्थन करनेवाले कारण नहीं दिये हैं। उनका मत ठीक नहीं जान पड़ता।

यह संभव जान पड़ता है कि खिल्जी लोग तुर्कों के वंशज थे और अफ-गानिस्तान में बसकर वहाँ के लोगों में घुल-मिल गये थे। उन्होंने अफगानों के रीति-रिवाजों को अपना लिया था।

बील—'ओरियन्टल बायोग्राफिकल डिक्शनरी'—पृ० ११७।

'उलुग खाँ' की उपाधि प्रदान की गई। ख्वाजा खतीर को प्रधानामात्य बनाया गया, और मलिक-उल्-उमरा फखरुद्दीन को, जो वर्षों से दिल्ली का कोतवाल रहता आया था, अपने पद पर ही रहने दिया गया।

पद-वितरण में सुलतान की उदारता को देखकर उसके प्रति शंकित लोग आश्वस्त हुए और जब वह राजप्रासाद में पहुँचा और अपने स्वभावानुसार प्रासाद के द्वार पर सवारी से उतरा तो लोगों को उसकी विनम्रता का विश्वास हो गया और वह निश्छल हृदय से उसका समर्थन करने लगे। 'लालमहल' में मलिकों के भवन में पहुँचने पर सुलतान फूट-फूट कर रोने लगा और शासक-पद की निस्सारता तथा इस पद के लिए अपनी अयोग्यता का बखान करने लगा। बलबन की राजसभा के वृद्ध सभासद फीरोज के सरल स्वभाव से बहुत प्रभावित हुए, परंतु नवयुवक-वर्ग उसकी अराजनीतिक बातों को सुनकर हताश हो गये। उसकी उदारता एवं सहृदयता में उनको राजमुकुट के गौरव का ह्रास दीख पड़ा।

मलिक छज्जू का विद्रोह—जलालुद्दीन के शासन के दूसरे वर्ष में बलबन के भतीजे मलिक छज्जू ने कड़ा में विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया और अपने नाम का 'खुतबा' पढ़वाया। अनेक असंतुष्ट लोग उसके दल में आ मिले; इनमें अवध का जागीरदार मलिक अमीर अली सरजान्दार भी था जो बलबन के एक दास का पुत्र था। छज्जू ने 'मुगीसुद्दीन' की उपाधि धारण कर ली और सिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए दिल्ली की ओर चल पड़ा। सुलतान ने तत्काल अपनी सेनाओं को एकत्र कर विप्लवियों का दमन करने के लिए बदाऊँ की ओर प्रस्थान किया। उसका पुत्र 'अरकाली खाँ' सेना के अग्र-भाग के साथ वहाँ पहले ही पहुँच चुका था; उसने विद्रोहियों को पूर्णतः परास्त कर दिया। वीरवर छज्जू ने, जिसके चारों ओर हिंदू 'रावत' एवं 'पाइक' चींटियों तथा टिड्डियों के समान एकत्र हो गये थे, एक किले में शरण ली; परन्तु वह पकड़ा गया और सुलतान के सामने उपस्थित किया गया। उसके शक्तिशाली सहयोगी भी बंदी बना लिये गये और 'उनके कंधों पर जुवा रखकर, उनके हाथ गरदन के पीछे की ओर बाँधकर, उनके शरीर को धूल एवं कूड़े से सानकर और उनके वस्त्रों को मलिन बनाकर', उनको सुलतान के सम्मुख उपस्थित किया गया। उनकी यह दुर्दशा देखकर, फीरोज बिलख-बिलख कर रो पड़ा और उसने उनको स्नान कराने, सुगंधित द्रव्यों से सुवासित कराने तथा साफ-सुथरे वस्त्रों से सुसज्जित कराने का आदेश दिया। उनको मदिरा पान कराया गया तथा उनके साथ अतिथियों जैसा

किया गया। जब वे उसके सम्मुख उदास एवं हतप्रभ मुख-मुद्रा में खड़े थे, उसने उनको प्रसन्न करने की चेष्टा की और कहा कि विगत राज-वंश का पक्ष-समर्थन कर, जिसकी उन्होंने भूतकाल में सेवा की थी, उन्होंने अपने कर्तव्य का ही पालन किया था। मलिक छज्जू को मुलतान भेज दिया गया, जहाँ उसके साथ बहुत उदारतापूर्ण व्यवहार किया गया और उसको मदिरा, फल, भोजन तथा वस्त्र भेंट किये गये। सुलतान के मुँहलगे 'शयनागाराध्यक्ष' अहमद चप ने उसके इस व्यवहार का विरोध करते हुए उसकी इस शक्तिहीन नीति के दुष्परिणामों पर प्रकाश डाला परंतु बुढापे के कारण हिताहित विवेकशून्य सुलतान ने उत्तर दिया कि यदि मुसलमानों का रक्त बहाये बिना सिंहासन पर अधिकार नही रखा जा सकता तो वह ऐसे सिंहासन को ही त्याग देगा।

कड़ा की जागीर अलाउद्दीन को दी गई, परंतु उसने अवांछनीय लोगों को अपना विश्वास-पात्र बनाना प्रारम्भ किया। स्वामि-भक्ति-विहीन कर्मचारियों ने उसको कड़ा में एक विशाल सेना एकत्र कर दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार जमाने का प्रयत्न करने के लिए उकसाया। बर्नी लिखता है:—

"कड़ा के विद्रोहियों के कपटपूर्ण परामर्शों का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा और इस प्रदेश पर अधिकार पाने के प्रथम वर्ष से ही वह किसी दूर के स्थान पर जाकर धन एकत्र करने की योजनाओं का अनुसरण करने लगा। इसी उद्देश्य से वह मांझियों तथा अनुभवी लोगों से दूसरे देशों के विषय में निरन्तर पूछ-ताछ करने लगा।"

फीरोज की उदारता खिलजी अधिकारियों को बहुत ही खलती थी क्योंकि वे राज-कार्यों में 'शाहीखर्च और शान-शौकत' के महत्त्व पर बहुत जोर देते थे। फीरोज की उदारता सीमा का उल्लंघन कर गई कि वह चोरों और डाकुओं के साथ भी उदारता का व्यवहार करने लगा। चोरों को सुलतान के समक्ष उपस्थित किया जाता और उनके फिर कभी इस निकृष्ट कार्य न करने की कसम खा लेने पर उनको मुक्त कर दिया जाता था। इसी प्रकार ठगों को भी, जिनका व्यवसाय ही लूटमार करना तथा डाके डालना था, नाव में बैठाकर बंगाल भेज दिया जाता जहाँ वह मुक्त कर दिये जाते थे। इस प्रकार अपराधियों को दण्डित किये बिना अन्य प्रदेशों में भेज दिये जाने से राज्य का शासन-तंत्र उपहासास्पद बन गया और सरदारों में क्षोभ उत्पन्न होने लगा।

---

२. बर्नी—पृ० १८७।

मलिक ताजुद्दीन कूची—जलालुद्दीन के शांत स्वभाव के कारण लोगों के हृदय से राजदण्ड का भय निकल चुका था और उद्दण्ड सामंत उसके लिए अपमानपूर्ण शब्दों तक का व्यवहार करने में भी हिचकते न थे। सामंतों के घरों में होनेवाले आनन्दोत्सवों में षड्यन्त्र रचे जाने लगे। एक जलसे में सुलतान के कार्यों की खूब निंदा की गई और किसी ने यहाँ तक कह डाला कि फीरोज से तो कहीं अधिक योग्य शासक उसका 'शयनागाराध्यक्ष' अहमद चप बन सकता है। सुरा के मद में हतचेतन सामंतों को शिष्टता का कुछ भी ध्यान न रह गया और एक मदिरोन्मत्त सरदार ने यह मंतव्य प्रकट किया कि वह कद्दू की तरह सुलतान के टुकड़े-टुकड़े कर डालेगा और ताजुद्दीन कूची को गद्दी पर बैठायेगा। जब सुलतान के कानों में यह द्रोहपूर्ण निंदाएँ पहुँची, तो उसने सामंतों को बुला भेजा और इस द्रोहपूर्ण आचरण के लिए उनको चेतावनी दी। उसने एक तलवार जमीन पर फेंकते हुए सामंतों को ललकारा कि वह इसको उठाकर इससे उसके टुकड़े-टुकड़े कर दें। सुलतान से ऐसी कठोर भर्त्सना पाकर अपने व्यवहार पर लज्जित अमीर सीधे रास्ते पर आ गये। मलिक नुसरत साबाह ने बीच में पड़कर सुलतान का क्रोध शांत कर दिया और द्रोह फैलानेवालों को क्षमा दिलवा दी। जिन अमीरों के हृदय में द्रोहाग्नि प्रचण्ड हो चली थी, उनको चेतावनी दी गई कि यदि वह फिर सुलतान को क्रुद्ध करने का प्रयास करेंगे तो उनको अरकाली खाँ के सुपुर्द कर दिया जायगा, जिसके दण्ड-विधान की कठोरता प्रसिद्ध थी।

सीदी मौला को दण्ड—जलालुद्दीन ने अपने जीवन में केवल एक बार ही असाधारण निर्ममता का व्यवहार किया था। सीदी मौला नामक एक 'दरवेश' जो गियासुद्दीन बलबन के शासन-काल में देश के ऊपरी भाग से आकर दिल्ली में बस गया था, इस क्रूर व्यवहार का भागी बना। यह दरवेश पाक पट्टन (अजोधन) के शेख फरीदुद्दीन गंज-ए-शकर का शिष्य था। कहा जाता है कि इस संत ने मौला को मलिकों एवं अमीरों की मित्रता से दूर रहने का उपदेश दिया था, परंतु मौला ने उसके इस सदुपदेश का पालन नहीं किया। यद्यपि वह स्वयं बहुत सरल जीवन व्यतीत करता था, परंतु उसने एक 'खानकाह' की स्थापना की थी, जिसके प्रबंध के लिए वह प्रचुर धन-राशि व्यय करता था। निर्धनों को भोजन कराने में वह मुक्तहस्त से व्यय करता था और बर्नी ने लिखा है कि प्रतिदिन दो बार उसके द्वारा ऐसे बहुमूल्य भोजन का आयोजन किया जाता था, जैसा कि कोई खान या मलिक भी न कर सकता था। लोग उसके मुक्तहस्त दान को देखकर बड़े हैरान थे और समझते थे कि मंत्र-

वल से या पारस-मणि के प्रभाव से वह इतना धन प्राप्त कर लेता है। सुलतान का ज्येष्ठ-पुत्र खान-ए-खाना मौला का शिष्य बन गया था और उसकी देखा-देखी अमीर एवं सरदार लोग मौला के दर्शनार्थ बारम्बार आने लगे थे। काजी जलाल काशानी के बहकाने पर सुलतान को सामूहिक प्रार्थना में भाग लेते समय मार डालने का षड्यन्त्र रचा गया। यह निश्चय किया गया कि सीदी मौला को खलीफा घोषित किया जायेगा और काजी को मुल्तान की जागीर दी जायेगी। परंतु इस षड्यन्त्र का भंडा फूट गया और षड्यन्त्री बंदी बना लिये गये। उनके अपराध की परीक्षा के लिए अग्नि-दाह का सुझाव दिया गया, परंतु विद्वानों ने इसको अवैध बतलाया। मौला को सुलतान के समक्ष लाया गया। सुलतान ने शांत-भाव से उसके कुचक्र की निंदा की और तब शेख आबू बकर तुसी के शिष्यों की ओर मुड़कर, जो वहाँ पर उपस्थित थे, उसने कहा, "ओ दरवेशो! क्या तुम में से कोई इस मौला से मेरा प्रतिरोध नही ले सकता?" यह सुनते ही एक दरवेश एक उस्तरा लेकर मौला पर टूट पडा और उसके शरीर पर बहुत से घाव कर दिये। अरकाली खाँ ने इस अपराधी को हाथी द्वारा कुचलवाने का आदेश दिया। काजी अपने कृत्यों के उपयुक्त दण्ड से बच गया, और उसको बदाऊँ भेज दिया गया; परतु उसके सहयोगियों को कठोरतम दण्ड भोगना पडा। उस काल के अंधविश्वासों ने मौला के दोषों पर पर्दा डाल दिया। समकालीन इतिहासकार लिखता है कि उसकी मृत्यु के दिन ऐसा भयंकर तूफान उठा कि सारे संसार में अँधेरा छा गया और इसके बाद ऐसा अवर्षण (सूखा) पड़ा कि जिससे देश में भीषण अकाल पड गया; धान का भाव १ 'जीतल' प्रति सेर हो गया और सिवालिक प्रदेश के हिंदू दिल्ली में आ-आकर भूख से मुक्ति पाने के लिए जमुना में डूब मरने लगे।

सुलतान के सामरिक प्रयत्न—सुलतान के स्वभाव की दुर्बलता उसकी वैदेशिक नीति में भी प्रकट हुई। १२९० ई० में उसने रणथम्भोर के दुर्ग पर आक्रमण करने के लिए ससैन्य प्रयाण किया और मार्ग में झाईन की गढ़ी को हस्तगत कर "मूर्तियोंवाले मंदिरों को नष्ट किया और मूर्तियों को अग्निसात् कर दिया।" रणथम्भोर के राय ने अपने 'रावतों' एवं अनुयायियों सहित दुर्ग में युद्ध की तैयारी की और सुल्तान का प्रतिरोध किया। वीर राजपूतों से दुर्ग को छीन लेना असंभव जानकर सुलतान ने अपनी सेना को लौट चलने का आदेश दिया और इस आक्रमण की असफलता को यह कहकर टाल दिया कि वह "इस दुर्ग को किसी मुसलमान के एक बाल के बराबर भी मूल्यवान् नहीं समझता।" राजनीतिक वस्तुस्थिति के प्रति जागरूक अहमद चप ने सुलतान के इस

प्रकार लौट चलने का विरोध किया, परंतु उसके उचित विरोध का सुलतान से यही उत्तर बन पड़ा कि वह अब वृद्ध हो चला है और मृत्यु के समीप आता जा रहा है।

मंगोलों के विरुद्ध एक युद्ध में सुलतान ने अधिक निपुणता का परिचय दिया। १२९२ ई० में हलागू के एक पौत्र अब्दुल्ला ने १५ 'तुमानों' (१,५०,००० सैनिक) के साथ हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया और वह सुनाम तक बढ़ आया। दिल्ली की सेनाओं ने उसके विरुद्ध प्रयाण किया और युद्ध में मंगोलों को पराभूत कर दिया। दोनों पक्षों में संधि हो जाने पर अब्दुल्ला अपने देश को लौट गया; परंतु चंगेज खाँ के एक पौत्र उल्गू ने भारत में ठहरने का निश्चय कर लिया और सुलतान ने उसके साथ अपनी एक कन्या का विवाह कर दिया। मंगोलों ने इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लिया और फीरोज ने उनके लिए निवासस्थान बनवा दिया और उनको आजीविका भी प्रदान की; परंतु भारत की जलवायु उनके अनुकूल न पड़ी और वे अपने देश को लौट गये। उनके केवल कुछ परिवार ही यहाँ रह गये; यह लोग वंशानुक्रम से मुसलमान लोगों के साथ विवाह संबंध करने लगे, उनके आचार-व्यवहारों को अपनाने लगे और इनको 'नव मुसलमान' की संज्ञा दी गई।

वृद्ध सुलतान के सामरिक प्रयत्न मंडोर पर एक अभियान तथा एक बार झाईन प्रदेश में लूटमार तक ही समाप्त हो गये, परंतु देश के दूसरे भाग में उसके भतीजे अलाउद्दीन के सफल अभियानों से नई आशाएँ जाग उठीं। उसने भिलसा पर अधिकार कर लिया और लूटपाट से प्राप्त बहुत सा धन सुल्तान को भेंट किया। उसकी वीरता से प्रसन्न होकर सुलतान ने उसको अवध की जागीर देकर पुरस्कृत किया। अलाउद्दीन ने इतने से ही संतोष न किया। भिलसा में उसने देवगिरि की अतुल सम्पत्ति के विषय में सुना था और उसका हृदय इसको विजय करने की उत्कट अभिलाषा से बेचैन हो रहा था।

अलाउद्दीन का देवगिरि पर अभियान, १२९६ ई०—सुल्तान के नियन्त्रण से दूर होने के कारण उच्चाकांक्षी अलाउद्दीन ने देवगिरि पर अभियान की साहसिक योजना बना ली। उसका यह अभियान मध्यकालीन भारत के इतिहास की एक अत्यंत स्मरणीय शौर्यपूर्ण घटना है। उसने महाराष्ट्र के यादववंशी राजाओं की राजधानी देवगिरि की अतुल सम्पत्ति का वर्णन सुना था और उसके हृदय में इसको हस्तगत करने की उत्कट अभिलाषा जाग उठी थी।[3]

---

३. फिरिश्ता ने यादव-नरेश की सम्पत्ति का सविस्तार ...

इसके अतिरिक्त अपनी सास मलिका जहान तथा अपनी पत्नी से मनमुटाव हो जाने के कारण दुःखित होकर वह अपने लिए उच्च स्थान ढूँढ निकालने के लिए घर से चल देने को बाध्य हो गया था। उसने देवगिरि पर आक्रमण करने की अपनी इच्छा को सुलतान से गुप्त रक्खा और अपरिमित धन-राशि से सुलतान के कोष को परिपूर्ण करने की आशा दिलाकर चंदेरी के आस-पास के प्रदेशों को आक्रांत करने की आज्ञा चाही। प्रचुर धन प्राप्ति की आशा से प्रेरित सुलतान ने आज्ञा दे दी और कड़ा तथा अवध के भूमि-कर को राजकोष में जमा कराने की अवधि बढ़ा दी। ८००० अश्वारोहियों के साथ अलाउद्दीन ने प्रयाण किया और वह मराठा-राज्य की सीमा के समीप एलिचपुर में जा पहुँचा। एलिचपुर से वह घाटी लजौरा की ओर, जो देवगिरि से केवल १२ मील दूर है, निर्विरोध बढ़ता गया। उसने अपने वास्तविक उद्देश्य को बड़ी सावधानी से गुप्त रखा और यह प्रचार कर दिया कि वह अपने चाचा के व्यवहार से असंतुष्ट होकर राजमहेन्द्री के शासक के दरबार में नौकरी ढूढ़ने जा रहा है। इस समय देवगिरि में सेना न थी क्योंकि राजा रामचन्द्र का पुत्र "अपनी सेना लेकर दक्षिण की ओर यात्रा के लिए गया हुआ था।" जब राजा को अपनी राजधानी के समीप अलाउद्दीन के पहुँचने की सूचना मिली तो उसने शत्रु की प्रगति को रोकने के लिए २ या ३ सहस्र सैनिक एकत्र किये। यह सेना पराजित हुई और शीघ्र ही भाग गई। रामचन्द्र ने अपनी गढ़ी में डेरा डाल दिया और मुसलमानों के आक्रमण का सामना करने का निश्चय कर लिया। इसी बीच अलाउद्दीन की सेना नगर में घुस आई। उसके सैनिकों ने ब्राह्मणों को बंदी बना लिया और व्यापारियों की सम्पत्ति लूट ली। अलाउद्दीन के इस असत्य प्रचार का कि उसका चचा दक्षिण को पूर्णतया विजय करने के उद्देश्य से २० सहस्र अश्वारोहियों सहित आ रहा है, बड़ा प्रभाव पड़ा। इतनी विशाल सेना के आक्रमण का ध्यान कर रामचन्द्र भयभीत हो उठा और उसने शत्रु के साथ संधि कर लेना ही नीति-युक्त समझा। अलाउद्दीन ने भी शंकरदेव के ससैन्य प्रत्यागमन से पूर्व ही संधि के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना बुद्धि-सम्मत समझा। इसके अतिरिक्त वह भली भाँति जानता था कि खानदेश, मालवा तथा गोंडवाना प्रदेशों से होकर लौटने में कितने संकटों का सामना करना पड़ सकता था। संधि की शर्तों के अनुसार रामचन्द्र ने 'अपनी स्वतन्त्रता के बदले में ५० मन सोना, ७ मन मोती तथा ४० हाथियों के साथ अनेक बहुमूल्य द्रव्य, कुछ सहस्र घोड़े और वह लूट का माल जो वह नगर से एकत्र कर चुका था' देना स्वीकार किया।

परंतु रामचन्द्र के पुत्र शंकर को, जो अब तक दक्षिण से लौट आया था,

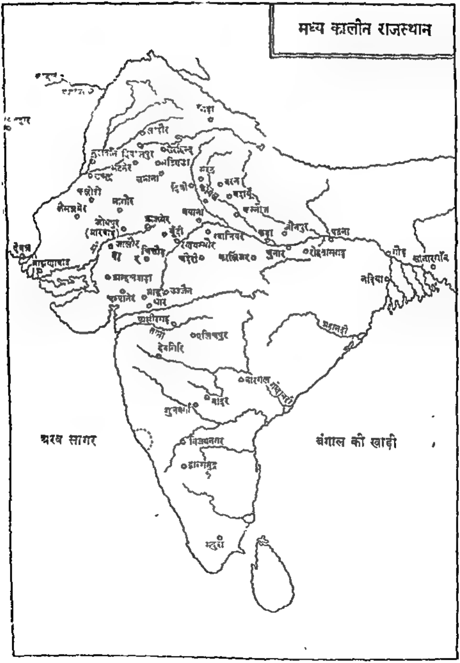
मध्य कालीन राजस्थान
दिल्ली
मेरठ
जैसलमेर
नागौर
जोधपुर
(मारवाड़)
जालोर
अजमेर
बूंदी
बयाना
रणथम्भौर
चित्तौड़
ग्वालियर
चंदेरी
कालिंजर
चुनार
जौनपुर
पटना
गौड़
नदिया
उज्जैन
धार
एलिचपुर
देवगिरि
वारंगल
विजयनगर
मदुरा
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी

संधि की यह शर्तें अच्छी न लगी और उसने अलाउद्दीन को नगर से लूटे हुए द्रव्य को लौटाने तथा उसके राज्य से चुपचाप चले जाने के लिए कहलवा भेजा। इस संदेश को पाकर अलाउद्दीन क्रुद्ध हो उठा और उसने १ सहस्र अश्वारोहियों को दुर्ग पर आक्रमण करने के लिए पीछे छोड़कर शेष सेना के साथ शंकर पर आक्रमण कर दिया। परतु युद्ध में मराठा-सेना के संख्या में अत्यधिक सैनिकों ने मुसलमानो को परास्त कर चारों दिशाओं में तितर बितर कर दिया। इसी बीच दुर्ग पर आक्रमण करने के लिए पीछे रखी हुई अलाउद्दीन की सेना के आ जाने से मुसलमानो मे नई आशा बँध गई। हिंदू-सेना में आतंक छा गया और सेना छिन्न-भिन्न हो गई। अलाउद्दीन ने लौटकर दुर्ग के घेरे को कड़ा कर दिया। दुर्ग में घिरी हुई सेना के लिए लाये गये गेहूँ के बोरो के स्थान पर नमक के बोरे देखकर रामचन्द्र को सफलता की आशाएँ त्याग देनी पडी और सधि की प्रार्थना करने का निश्चय करना पडा। विजेता अलाउद्दीन के हाथ अपार सम्पत्ति लगी[४] और उसने एलिचपुर से प्राप्त होनेवाले करों की धन-राशि को अपनी उस सैनिक टुकड़ी के भरण-पोषण के लिए माँगा, जिसको वह वहाँ रखना चाहता था। रामचन्द्र ने यह शर्तें स्वीकार कर ली और विजयोल्लास से भरा हुआ अलाउद्दीन कड़ा लौट आया। इस अभियान से उसको प्रचुर धन प्राप्त हुआ था और उत्तर के मुसलमान शासको को विदित हो गया कि दक्षिण के राज्य कितने शक्तिहीन हो चुके है।

ग्वालियर के समीपवर्ती प्रदेश में ऐसी अभूतपूर्व सफलता का समाचार पाकर सुलतान खुशी से फूला न समाया और अपने भतीजे की विजय के उपलक्ष में आनन्दोत्सव मनाने लगा। सुलतान अपने सरदारो से इस विषय पर विचार-विमर्श करने लगा कि अलाउद्दीन से मिलने के लिए जाना उचित है या नही; परंतु अन्य किसी सरदार के अपना मंतव्य प्रकट करने से पहले ही 'नायब बरबक' अहमद चप ने, जो चतुरतम सामंतो में से था, इस प्रकार के विपत्ति-संकुल कार्य के दुष्परिणामो को उसके सामने रखा और अलाउद्दीन को बीच

---

४. इस संधि का वर्णन करते हुए फिरिश्ता ने लिखा है कि इस संधि की शर्तों के अनुसार "६०० मन मोती, दो मन हीरे, लाल, पन्ने और नीलम, १ सहस्र मन चाँदी तथा ४ सहस्र रेशमी वस्त्र एवं ऐसी-एसी बहुमूल्य वस्तुएँ, जिन पर विश्वास नही होता, अलाउद्दीन को दी जानी थी"—यह ब्रिग्स महोदय का कथन है। ब्रिग्स १, पृ० ३१०।

परतु फिरिश्ता के लखनऊ संस्करण (पृ० ९१६) में ६०० मन सोना, ७ मन मोती, २ मन हीरे, लाल, पन्ने तथा नीलम, १ सहस्र मन चाँदी तथा ४ सहस्र रेशमी पट तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ लिखा है।

ब्रिग्स महोदय का अनुवाद लखनऊ संस्करण के अनुकूल नहीं है।

मे ही रोक देने के लिए तत्काल चदेरी की ओर सेना भेज देने पर ज़ोर दिया। अहमद चप के शब्द यह थे :—

"हाथियों तथा सपत्ति का प्रचुर परिमाण में मिल जाना, अनेक झगड़ों का कारण बन जाता है; जो भी इनको प्राप्त कर लेता है वह इतना उन्मत्त हो जाता है कि अपने हाथों और पैरों मे भी भेद नही कर पाता। अलाउद्दीन ऐसे अनेक विद्रोहियो तथा उपद्रवियो से घिरा है, जिन्होने मलिक छज्जू का समर्थन किया था। वह बिना आज्ञा के विदेशों में गया है, उसने युद्ध किये है और कोष प्राप्त किये है। बुद्धिमानों ने कहा है कि 'धन और झगड़े, झगड़े और धन' अर्थात् यह दोनों परस्पर संबद्ध है। मेरी यही सम्मति है कि हम अलाउद्दीन से भिड़ने के लिए चदेरी की ओर यथासभव शीघ्रता से प्रयाण कर दे और उसके प्रत्यागमन को बीच में ही रोक दें। जब वह सुलतान की सेना को मार्ग मे देखेगा, तो इच्छा से या अनिच्छा से उसे लूट से प्राप्त सारी संपत्ति सिंहासन को भेंट कर देनी पड़ेगी।"

सुलतान ने इस परामर्श पर ध्यान न दिया और राजधानी मे लौट-आया। थोड़े समय बाद उसको अपने चतुर भतीजे का एक पत्र मिला जिसमें उसने लिखा था कि वह सुलतान को लूट से प्राप्त सारी सपत्ति भेंट करने के लिए उनसे मिलना चाहता है, परन्तु ऐसा वह तभी करेगा जब उसको पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया जायेगा। भक्ति एव स्नेह के इस कपटी प्रदर्शन के धोखे में आकर सुलतान ने अपने कुछ विश्वसनीय कर्मचारियों के हाथ उसके लिए एक आश्वासन-पत्र भेजा; इन कर्मचारियो को विदित हो गया कि अलाउद्दीन और उसकी सेना सुलतान के प्रति द्रोह का भाव रखती है। इसी बीच अलाउद्दीन का भाई इल्मास बेग दिल्ली आ पहुँचा और उसने सुलतान को सूचित किया कि उसके भय के कारण. अलाउद्दीन या तो आत्म-हत्या करने या अपने हाथियों तथा कोष सहित किसी सुरक्षित स्थान मे अपना अधिकार बढ़ाने की इच्छा से चले जाने के लिए उतारू हो गया है। भोले-भाले सुलतान ने इस सूचना की सत्यता में विश्वास कर लिया और अलाउद्दीन से मिलने के लिए कड़ा जाने की इच्छा प्रकट की। बहुत थोड़े से अनुचरों को साथ लेकर उसने एक किश्ती में गगा पार की और कुछ अनुयायियों सहित, जिनको इल्मास बेग के आग्रह करने पर निश्शस्त्र कर दिया गया था, अलाउद्दीन से भेंट की। विश्वासघातियों की योजना पूर्णतः सफल हुई और जब किसी भी प्रकार के विश्वासघात से निश्शंक सुलतान अपने भतीजे से मिला और उसको बड़े प्यार से छाती से लगाने तथा उसकी गाले थपथपाने लगा, छली भतीजे ने आक्रमण का

संकेत किया और उसके अनुयायी सुलतान और उसके साथियों पर टूट पड़े। अलाउद्दीन के एक कर्मचारी इख्तियारुद्दीन हूद ने सुलतान का सिर काट दिया और इस सिर को, जिससे रक्त टपक रहा था, अपने स्वामी के सम्मुख उपस्थित किया। सुलतान का दल तलवार के घाट उतारा गया और स्वयं सुलतान का सिर कड़ा-मानिकपुर में सेना के बीच घुमाया गया, जिससे सैनिकों को उसकी मृत्यु पर विश्वास हो जाय। षड्यन्त्रियों ने अलाउद्दीन को अपना शासक घोषित किया; अमीर और सरदार भी अपने सम्मान्य अधिपति के निर्दय वध को भूल गये और इस नये उदीयमान शासक के साथ हो लिये। जब तक अलाउद्दीन दिल्ली के सिंहासन पर आसीन रहा, उसने इतने अधिक निर्दोष व्यक्तियों का रक्त बहाया जितना कि फ़रौ ने भी न बहाया होगा। परन्तु वह इसके दण्ड से न बच सका; क्योंकि, मुसलमान इतिहासकार के शब्दों में, भाग्य ने अन्ततः उसके मार्ग में एक ऐसा विश्वासघाती ला दिया, जिसके द्वारा उसका समस्त परिवार नष्ट किया गया। अलाउद्दीन को अपनी नृशंसता का जैसा भीषण दण्ड भुगतना पड़ा, उसकी समानता विधर्मियों के देशों तक में दिये गये कठोरतम दण्डों से भी नहीं की जा सकती।

अलाउद्दीन की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ—१२९६ ई० में जब अलाउद्दीन सिंहासन पर आसीन हुआ, उसने अपने आपको सकटमय परिस्थितियों से घिरा हुआ पाया। जलाली सरदार अभी तक अपने सौजन्यपूर्ण वृद्ध स्वामी की हत्या को न भूले थे और उन्होंने इसका प्रतिशोध लेने के लिए एक गुप्त योजना बनाई। राजमाता मलिका जहान अपने पुत्रों अरकाली खाँ और कद्र खाँ को अधिकारारूढ़ कराने के लिए कुचक्रों का जाल बिछा रही थी। परन्तु अलाउद्दीन ने बड़ी कुशलता से स्थिति को सँभाल लिया। विरोधी अमीरों और सरदारों को बहुमूल्य पुरस्कार देकर तथा उनकी पद-वृद्धि कर उसने उनको शान्त कर दिया और 'मन्जनीकों' द्वारा जनता में स्वर्ण-मुद्राओं का वितरण करवाकर उनको भी उसने अपने अनुकूल बना लिया। राजकीय शिविर के सम्मुख प्रत्येक अड्डे पर 'मन्जनीक' पाँच-पाँच मन सोना दर्शकों में वितरण कर रहे थे। स्वर्ण-मुद्राएँ लूटने के लिए लोग दूर-दूर से एकत्र होने लगे और सैनिकों के दल के दल राजकीय सेना में भर्ती होने के लिए इस सचल शिविर में घिरने लगे। इस प्रकार मुक्तहस्त धन-वितरण का परिणाम यह हुआ कि यद्यपि इस समय वर्षा अनवरत रूप से हो रही थी, तब भी अलाउद्दीन की सेना में ५६ सहस्र अश्वारोही तथा ६० सहस्र पैदल सैनिक आ जुटे थे। मलिका जहान ने अपने पुत्र कद्र खाँ को

'रुक्नुद्दीन इब्राहीम' के नाम से गद्दी पर बैठा दिया था और अरकाली खाँ को मुलतान से दिल्ली बुलाने के लिए पत्र भेज दिया; परन्तु अरकाली खाँ ने यह बहाना बनाकर कि सरदारों के भाव-परिवर्तन के कारण सिंहासन पर पुनः अधिकार स्थापित करने का कार्य असंभव-सा हो चला है, दिल्ली आने से इनकार कर दिया। जब अलाउद्दीन राजधानी के समीप पहुँचा तो उसकी प्रगति को रोकने के लिए रुक्नुद्दीन इब्राहीम नगर से बाहर आया, परन्तु मध्य-रात्रि में उसकी सेना का वाम-पक्ष शत्रु से जा मिला। तब यह राजकुमार स्वर्ण-टंको से भरे कुछ थैले और अश्वशालाओं से कुछ घोड़े लेकर मुल्तान की ओर भाग चला। अलाउद्दीन ने विजयश्री प्राप्त कर सीरी के मैदान में प्रवेश किया और जहाँ उसने सब दलों का भक्ति-भाव प्राप्त किया। बर्नी ने इस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया है:—

"अब सिंहासन सुरक्षित था और माल-कर्मचारी, हाथियों की देख-रेख करनेवाले कर्मचारी हाथी लेकर, कोतवाल दुर्ग की कुंजियाँ लेकर, व्यवस्थापक एवं नगर के प्रधान अलाउद्दीन के पास आ पहुँचे और तब नई व्यवस्था स्थापित की गई। उसकी संपत्ति एवं शक्ति अतुल थी; अतः चाहे व्यक्तिगत रूप से किसी ने उसकी अधीनता स्वीकार की या नहीं की, इसका कोई महत्त्व न था क्योंकि उसके नाम का 'खुतबा' पढ़ा गया और उसके नाम के सिक्के ढाले जाने लगे।"

इस प्रकार १२९६ ई० के अन्तिम भाग में अलाउद्दीन ने बड़ी सजधज के साथ दिल्ली में पदार्पण किया और 'लाल महल' में सिंहासन पर आसीन हुआ। सबको बड़े-बड़े उपहार दिये गये, जिससे वह उसके विश्वासघात एवं कृतघ्नता के अक्षम्य अपराध को, जिसके द्वारा वह सिंहासन प्राप्त कर पाया था, भूल जायें। ख्वाजा खातीर को प्रधानामात्य बनाया गया और बरन निवासी इतिहासकार के चचा मलिक अला-उल-मुल्क को कड़ा एवं अवध का कार्य भार सौंपा गया; और इस इतिहासकार के पिता मुअय्यद-उल-मुल्क को बरन नगर की अध्यक्षता तथा 'ख्वाजगी' प्रदान की गई। विरोध ऐसा शान्त हो गया कि बर्नी यह लिख सका:—

"लोगों पर जैसा नियन्त्रण किया गया, उससे वह इतने अभिभूत हो गये कि सुलतान के भीषण अपराध की कोई चर्चा तक न करता था और प्राप्ति की आशा ने अन्य सब बातों की चिंता उनके मन से दूर कर दी।"

सिंहासनारूढ़ होते ही सुलतान ने अरकाली खाँ, इब्राहीम और उनकी माता को पकड़ने के लिए उलुग खाँ तथा जफर खाँ को ३० से ४० सहस्र तक अश्वारोहियों सहित मुल्तान भेजा। नगर पर अधिकार कर यह दोनों नायक इन

राजकुमारों तथा उनके अनुचरों सहित दिल्ली लौट आये। मार्ग में हाँसी के समीप दोनो राजकुमारों को अपने बहनोई उलुग खाँ सहित अंधा बना दिया गया और राजमाता को कारागार में डाल दिया गया। उनके परिवारों को उनसे विमुक्त कर दिया गया और उनकी सम्पत्ति छीन ली गई।

मंगोलों का प्रतिरोध—अपनी सत्ता सुरक्षित कर लेने के उपरान्त सुलतान ने मंगोलों के अनवरत आक्रमणों को रोकने के लिए प्रयत्न करना प्रारंभ किया। उसने बलबन के छोड़े हुए कार्य को पूर्ण कर दिया और राज्य की सीमावर्ती छावनियों में सैनिक-दल नियुक्त कर दिये। मंगोल बार-बार आते थे, परन्तु उनको अत्यधिक क्षति-ग्रस्त होकर लौट जाना पड़ता था। शासन के दूसरे वर्ष में ट्रांसोक्सियाना का शासक अमीर दाऊद १ लाख मंगोलों को लेकर मुल्तान, पंजाब और सिंध को विजय करने के विचार से बढ़ आया, परन्तु उलुग खाँ ने उसको भारी क्षति पहुँचाकर पीछे खदेड़ दिया। मंगोलों ने इस पराभव की चिंता न की और वह साल्दी के नेतृत्व में पुनः आ धमके। जफर खाँ ने उनका प्रतिरोध किया और मंगोल नेता को दो सहस्र अनुयायियों सहित पकड़ लिया तथा हथकड़ियाँ पहिनाकर दिल्ली भेज दिया। परन्तु मंगोलो का भीषणतम आक्रमण १२९९ ई० में हुआ, जब कि कुतलुग ख्वाजा असंख्य दल लेकर दिल्ली की ओर बढ आया। जनता में आतंक छा गया। शत्रु के आक्रमण को रोकने के उपाय सोच निकालने के लिए सुलतान ने युद्ध-समिति बुलाई। उलुग खाँ तथा जफर खाँ ने मंगोलो के विरुद्ध प्रयाण किया और स्वयं सुलतान युद्ध-सामग्री से सुसज्जित १२,००० सैनिकों का दल लेकर रणभूमि में डट गया। भीषण संग्राम छिड गया। उस काल का महानतम योद्धा जफर खाँ रणभूमि में मारा गया, परन्तु पराजय मंगोलों की ही हुई और उनको तितर-बितर कर दिया गया। जफर खाँ की वीरता को मंगोल बहुत समय तक न भूले। उसके नाम से ही वह इतना भय खाते थे कि जब कभी उनके पशु पानी पीने से विरत हो जाते, तो वह पशुओं को जफर खाँ का स्मरण कराते। इसी समय दूसरा मंगोल नायक तरगी एक विशाल सेना लेकर आ पहुँचा, परन्तु निजामुद्दीन औलिया की कृपा से यह संकट टल गया। इन पराजयों का मंगोलों पर कुछ भी प्रभाव न पडा और वह हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने में विरत न हुए। १३०४ ई०/म अली बेग और ख्वाजा ताश ने, लाहौर के उत्तर की ओर बढ़ते हुए तथा शिवालिक पहाड़ियों को पार करते हुए हिन्दुस्तान पर हमला बोल दिया और वे अमरोहा तक बढ़ आये। दीपालपुर के अध्यक्ष गाजी तुगलक ने उनका सामना किया और उनको भारी क्षति पहुँचाई। इसके पश्चात् भी

अनेक बार मंगोल-आक्रमण हुए, परन्तु गाजी तुगलक सदैव उनसे सफलता-पूर्वक टक्कर लेता रहा और इन आक्रांताओं को खदेड़ता रहा। १३०७ ई० में जब इकबालमन्दा एक विशाल सेना लेकर आ धमका, तो सुलतान ने उसके विरुद्ध एक सेना भेजी। आक्रांता परास्त हुआ और मारा गया तथा सहस्रों मंगोलों का वध कर दिया गया। अनेक मंगोल अमीर जो १ सहस्र अथवा १ शत सैनिकों के दलों के नायक थे, बंदी बना लिये गये और तब सुलतान की आज्ञा से हाथियों के पैरों तले कुचलवा दिये गये। इससे मंगोल इतने संत्रस्त हो गये कि उन्होंने फिर हिन्दुस्तान में घुस आने का साहस न किया। बर्नी लिखता है कि इसके बाद उन्होंने न कभी हिन्दुस्तान का नाम अपने ओंठों पर आने दिया और न सीमांत प्रदेशों में विचरण करने का साहस किया। देश में शान्ति छा गई और अब सुलतान को अन्य देशों को विजय करने का अवकाश मिल गया। मंगोलों से अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिए उसने बलबन की सीमांत-नीति अपनाई। मंगोलों के मार्ग में पड़नेवाले दुर्गों का जीर्णोद्धार कर वहाँ अनुभवी सेना-नायकों को रखा गया। नये दुर्ग बनवाये गये और 'मन्जनीक' तथा 'अर्रादा' यन्त्र बनाने की आज्ञा दी गई। समाना तथा दीपालपुर की चौकियों पर सेना नियुक्त की गई और इन स्थानों को सदैव किसी भी आक्रमण के प्रतिरोध के लिए तत्परता की स्थिति में रखा जाने लगा। राजकीय सेना को दृढ़ किया गया और राजकीय शस्त्र-निर्माणशालाओं में शत्रु से लड़ने के लिए सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए कुशल यान्त्रिकों की नियुक्ति की गई।

जलाली सरदारों का विनाश—अलाउद्दीन का सा हृदयहीन निरंकुश शासक प्रतिद्वन्द्वियों एवं प्रतिपक्षियों का अस्तित्व कब सहन कर सकता है? अतः भूतपूर्व सुलतान के पुत्रों से निपट लेने के बाद, उसने जलाली सरदारों की ओर मुँह किया, जिनको वह निर्वीर्य बना देना चाहता था। उनकी संपत्ति छीन लेने के लिए उसने नुसरत खाँ को नियुक्त किया। यह सरदार बड़ी तत्परता से इस कार्य में जुट गया और उसने जलाली सरदारों की विपुल संपत्ति से राज-कोष को भर दिया। सुलतान ने उन सरदारों को भी न छोड़ा, जिनके मन से उसके पुरस्कारों ने भूतपूर्व शासक के प्रति भक्तिभाव दूर कर दिया था। इनकी संपत्ति पर भी उसने हाथ साफ किया। इनमें से कुछ को अंधा बनाया गया; कुछ को कारागार में डाला गया और कुछ को तलवार के घाट उतारा गया। इन सरदारों की भूमि एवं जागीरों को 'खालसा' भूमि में सम्मिलित कर लिया गया और इनकी संतान को नितान्त

निराश्रित बना दिया गया। सचमुच राजमुकुट धारण करनेवाले लोगों की प्रसन्नता भी कितनी अस्थिर रहती है! इन सरदारों का अपने भूतपूर्व स्वामी का पक्ष त्यागना निंदनीय था, परन्तु इन सरदारों के प्रति, जिन्होंने अपनी स्वामि-भक्ति का पात्र परिवर्तित करने की भूल की थी, अलाउद्दीन का यह निर्मम व्यवहार घोर अत्याचार था। जलाली सरदारों की 'जड़ एवं शाखाएँ काट डाली गई' और कहा जाता है कि इन पर अर्थदण्ड लगाकर तथा इनकी सम्पत्ति छीनकर नुसरत खाँ ने लगभग १ करोड़ की संपत्ति राजकोष में जमा की।

गुजरात की विजय—१२९७ ई० में उलुग खाँ तथा नुसरत खाँ ने धन एवं वैभव के लिए अति प्राचीन काल से प्रख्यात गुजरात राज्य पर धावा बोल दिया। इन्होंने प्राचीन राजधानी अनहिलवाड़ को घेर लिया और राय कर्ण के भाग जाने पर उसकी पत्नी कमला देवी को बन्दी बना लिया। मुसलमान सेनानायकों ने देश को जी भर लूटा और विजय-चिह्न के रूप में वह मूर्ति दिल्ली भेजी, जिसकी स्थापना ब्राह्मणों ने सोमनाथ पर आक्रमण के समय महमूद द्वारा विध्वस्त मूर्ति के स्थान पर की थी। राय कर्ण और उसकी पुत्री देवलदेवी ने देवगिरि के राजा रामचन्द्र के यहाँ शरण ली। इस विजय से उत्साहित होकर नुसरत खाँ ने खम्भात पर आक्रमण किया और वहाँ के व्यापारियों से बलपूर्वक रत्नों के ढेर तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ वसूल की। लूटपाट के इस सारे माल से कहीं अधिक मूल्यवान् पदार्थ जो इस अभियान में प्राप्त हुआ, वह था काफूर नामक एक सुन्दर दास जिसका नाम बाद में 'हजार दीनारी' रखा गया, क्योंकि उसके स्वामी ने उसको इस मूल्य पर प्राप्त किया था। इसके सौन्दर्य ने अलाउद्दीन को इतना विमुग्ध किया कि उसने इसको धीरे-धीरे राज्य में उच्चतम पद पर चढ़ा दिया। इस समय किसी को क्या खबर थी कि यही दास किसी दिन महान् विजयों का गौरव प्राप्त करेगा।

नव-मुसलमान—गुजरात से लौटते हुए उलुग खाँ तथा नुसरत खाँ ने सैनिकों से लूटपाट से प्राप्त सम्पत्ति का पाँचवाँ भाग वसूल करने तथा ऐसी सम्पत्ति का ठीक-ठीक निर्धारण करने के लिए उनकी खानातलाशी करने की आज्ञा देकर उनको क्रुद्ध कर दिया। नव-मुसलमान सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और नुसरत खाँ के भाई व उलुग खाँ के 'अमीर हाजिब' मलिक इज्जुद्दीन का वध कर दिया। यद्यपि उलुग खाँ विद्रोहियों के हाथों से बच निकला, परन्तु वह सुलतान के एक भतीजे का वध करने में सफल हो गये। सारी सेना में द्रोहाग्नि व्याप्त हो गई और बड़ी कठिनता से ही नुसरत खाँ उनको शान्त

कर सका। विद्रोहियो के कुछ नेताओं ने हिन्दू राजाओं के यहाँ शरण ली, परन्तु उनके अपराध का दण्ड उनकी स्त्रियों और बच्चों को भोगना पड़ा। जियाउद्दीन बर्नी लिखता है कि यह पहला अवसर था जब अलाउद्दीन ने स्त्रियों तथा बच्चों को उनके संरक्षकों के अपराधों के लिए दण्डित करने की प्रथा प्रारंभ की। अपने भाई की मृत्यु का बदला लेने के लिए नुसरत ने ऐसी नृशंसता का प्रदर्शन किया जिससे बर्नी जैसे मध्ययुगीन इतिहासकार तक की औचित्य की भावना सहम गई। बर्नी ने लिखा है :—

"उसके भाई का वध किया गया था, और इसके प्रतिशोध के लिए उसने हत्यारों की स्त्रियों का सतीत्व लूटने तथा इनके साथ घोर अपमानपूर्ण व्यवहार करने की आज्ञा दे दी। तत्पश्चात् उसने इनको दुराचारियों के हाथ वेश्याओं के समान उपभोग करने के लिए सौंप दिया। बच्चों को उसने उनकी माताओं के सिरों के ऊपर टुकड़े-टुकड़े करवाया। इस प्रकार के अत्याचार किसी भी धर्म या मत में नहीं किये जाते। उसके इन/और ऐसे ही कार्यों से दिल्ली के लोग हैरानी और परेशानी से भर गये और हर एक की छाती काँप उठी।"[५] बर्नी का यह कथन सर्वथा सत्य नहीं है। कि किसी के अपराध के लिए किसी और को दण्ड देने की प्रथा का प्रारंभ अलाउद्दीन ने किया। यह प्रथा पहले से चली आ रही थी, परन्तु जैसा कि सर वूल्जले हेग ने ठीक ही कहा है, उसने इसको राजनीतिक सिद्धांत के स्तर पर उठा दिया।

सुलतान की विशाल योजनाएँ—शासन के प्रारंभिक तीन वर्षों में अलाउद्दीन ने महान् सफलताएँ प्राप्त की। इन वर्षों में उसके सेनानायकों ने बड़ी-बड़ी विजय की, उसके अनेक पुत्रों ने जन्म लिया, राजकोष में प्रचुर धन लाया गया और राज-कार्य उसकी इच्छानुसार चलते रहे। उसकी धन-पिपासु दृष्टि को तृप्त करने के लिए मोतियों एवं मणि-माणिक्यों के ढेर लगा दिये गये। उसकी सेनाओं में सैनिकों, अश्वों एवं हाथियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी और अब उसे किसी शत्रु या प्रतिद्वंद्वी का भय भी न रह गया था। किसी प्रबल विद्रोह या विप्लव की भी उसे शंका न रह गई थी। अतः जैसा कि जिया बर्नी ने लिखा है, "उसके वैभव ने उसको मदोन्मत्त बना दिया। विशाल अभि-लाषाएँ तथा उसकी पहुँच से बहुत दूर के महान् उद्देश्य उसके मस्तिष्क में उत्पन्न होने लगे, और वह ऐसी ऐसी कल्पनाएँ करने लगा जैसी कि उसके पूर्व के किसी शासक के हृदय में न उठी होंगी। अपने उत्कर्ष, अज्ञान

५. बर्नी—पृ० २५३

तथा मूर्खता से उसका सिर फिर गया और वह नितान्त असंभव योजनाएँ बनाने लगा तथा अत्यंत प्रमादपूर्ण अभिलाषाएँ पालने लगा। वह बुरे स्वभाव का, हठी एवं कठोर-हृदय था परन्तु संसार उस पर मुग्ध था, भाग्य उसका साथ दे रहा था, और उसकी योजनाएँ साधारणतया सफल हो रही थी, इससे वह और भी अधिक विवेकशून्य एवं दुराग्रही बन गया।" अपनी सामर्थ्य के प्रति उसका अभिमान इतना बढ गया कि वह नये धर्म की स्थापना करने तथा सिकन्दर महान् के समान विश्व-विजय करने के स्वप्न देखने लगा। इन महत्वाकांक्षाओं पर वह इस प्रकार विचार करता था:—

"सर्वशक्तिमान प्रभु ने आशीर्वाद-प्राप्त पैंगम्बर साहब को चार मित्र दिये जिनकी सामर्थ्य एवं शक्ति के कारण नीति एवं धर्म की स्थापना हुई और नीति एवं धर्म की स्थापना के कारण पैंगम्बर साहब का नाम कयामत के दिन तक कायम रहेगा। भगवान् ने मुझे भी चार मित्र दिये है, उलुग खाँ, नुसरत खाँ, जफर खाँ और अलप खाँ, जिन्होंने मेरे ऐश्वर्य के प्रभाव से राजाओं की-सी शक्ति एवं गौरव प्राप्त किया है। यदि चाहूँ तो इन चार मित्रों की सहायता से मैं भी एक नये धर्म या मत की नींव डाल सकता हूँ; और मेरी तलवार तथा मेरे मित्रों की तलवारें सबसे यह धर्म ग्रहण करवा लेंगी। इस धर्म के साथ मेरा तथा मेरे मित्रों का नाम, पैंगम्बर और उसके मित्रों के नाम की तरह, मनुष्यों में अन्तिम दिन तक बना रहेगा।.......मेरे पास अपरिमित धन, असंख्य हाथी तथा सैनिक है। मैं चाहता हूँ कि दिल्ली का शासन-भार अपने प्रतिनिधि शासक को सौंप दूँ और तब सिकन्दर के समान मैं स्वयं विजयें प्राप्त करने के लिए संसार में घूमूँगा और समस्त जन-संकुल संसार को अधीन करूँगा।"

सुलतान ने इतिहासकार जिया बर्नी के चचा मलिक अला-उल्-मुल्क से इस विषय में परामर्श किया। मलिक ने यह मत प्रकट किया कि "धर्म एवं नीति ईश्वरीय साक्षात्कार से प्रकट होते है; मनुष्यों की कल्पनाओं एवं योजनाओं के द्वारा उनकी स्थापना नहीं होती। जिस प्रकार आदम के समय से लेकर आज तक यह कार्य पैंगम्बरों एवं देवदूतों के रहे हैं, उसी प्रकार शासन एवं व्यवस्था राजाओं के कर्तव्य रहते आये हैं। कुछ पैंगम्बरों ने शासक का कार्य अवश्य किया है, परन्तु राजाओं को न कभी पैंगम्बर का पद प्राप्त हुआ और न तब तक हो सकेगा जब तक संसार का अस्तित्व रहेगा। मेरा तो यह परामर्श है कि श्रीमान् कभी ऐसी बातों की चर्चा न करें। श्रीमान् जानते हैं कि चंगेज खाँ ने मुसलमान-नगरों में रक्त की नदियाँ बहाईं, परन्तु वह मुसलमानों में मुगल-धर्म अथवा संस्थाएँ कभी स्थापित न कर

सका। अनेक मुगल मुसलमान बने है परन्तु कोई भी मुसलमान कभी मुगल नही बना।" विश्व-विजय के विषय में मलिक ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये—"दूसरी कल्पना महान् शासकों जैसी है, क्योंकि समग्र विश्व को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करना राजाओं का नियम सा है। परन्तु यह सिकन्दर का समय नही है और अरस्तू जैसा वजीर अब कहाँ मिल सकता है।... राजा के लिए दो कार्य बड़े महत्त्व के है, जिन पर उसका ध्यान अन्य सब बातों से पहले जाना चाहिए। एक तो है सारे हिन्दुस्तान को, (उसमें) रणथम्भौर, चित्तौड़, चंदेरी, मालवा, धार तथा उज्जैन, पूर्व मे सरयू पर्यन्त, सिवालिक से जालौर तक, मुल्तान से दमरीला तक, पालम से लाहौर व दीपालपुर पर्यन्त प्रदेशो को विजय करना व अधीन बनाना। इन सब स्थानों को इतना वशीभूत कर लिया जाय कि फिर कभी विद्रोह का नाम न सुनाई दे। दूसरा तथा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है मगोलों के लिए मुल्तान का मार्ग बद कर देना।" अपने परामर्श का उपसहार करने से पूर्व अला-उल्-मुल्क ने कहा—"मैंने जिन कार्यों का समर्थन किया है, वह तब तक सम्पन्न नही किये जा सकते जब तक श्रीमान् अत्यधिक मात्रा में सुरापान करना न छोड़ दें और आनन्दोत्सवों एवं सहभोजों से किनारा न कस लें।... यदि आप मदिरा छोड़ नहीं सकते तो सन्ध्याकाल तक सुरापान न करें तदुपरान्त बिना साथियों के अकेले में इसको ग्रहण करें।" सुलतान ने कोतवाल के सत्परामर्श की बहुत प्रशंसा की इसके लिए उसको बहुमूल्य पुरस्कार दिये।

रणथम्भौर का घेरा—अपने मन्त्रियों एवं सेनानायकों की पूर्ण सहमति पाकर सुलतान ने १२९९ ई० में रणथम्भौर दुर्ग पर अधिकार करने का निश्चय कर लिया।[६] इस दुर्ग में दिल्ली की राजसभा से भागे हुए विद्रोही नव-मुसलमानों को शरण मिली थी। उलुग खाँ और नुसरत खाँ ने विशाल सेनाओं के साथ अपनी अपनी जागीर से राजपूताना की ओर

---

६. नयचन्द्र रचित संस्कृत के काव्य 'हम्मीर महाकाव्य' में इस आक्रमण का कारण यह बताया गया है कि हम्मीर देव ने सुलतान की सेना से भागे हुए महिमाशाह को अपने दरबार में शरण दी थी और जब अलाउद्दीन ने उसको सौंप देने के लिए राणा से कहा तो राणा ने उसको अलाउद्दीन के सिपुर्द करने से इन्कार किया; इससे क्रुद्ध होकर अलाउद्दीन रणथम्भौर पर चढ़ आया। इस शरणागत का नाम मुहम्मदशाह था; महिमाशाह इसका संस्कृत-रूप है।

जनरल ऑव एशि० सोसा० ऑव० बंगाल (१८७९ पृ० १८६-२५२) में 'हम्मीर-रासो' भी देखिए।

प्रयाण कर दिया और झाईन की गढ़ी को हस्तगत करने में वह सफल हो गये। रणथम्भौर के दुर्ग पर घेरा डाला गया, परन्तु घेरे के समय एक दिन जब साम्राज्य की सेनाओं का नायक नुसरत खाँ एक खाई के निर्माण का निरीक्षण कर रहा था, उसको दुर्ग से 'मगरबी' से छोड़ा गया एक पत्थर का आघात लगा। यह आघात प्राण हरनेवाला सिद्ध हुआ और कुछ दिनों बाद इस वीर के प्राण-पखेरू उड़ गये। राणा हम्मीर दुर्ग से बाहर निकल आया और बहुत थोड़े समय में ही उसके झंडे के नीचे शस्त्रों से सुसज्जित २,००,००० व्यक्ति एकत्र हो गये, जिनकी सहायता से राणा ने मुसलमानों पर प्रचण्ड आक्रमण कर दिया और उलुग खाँ को भारी क्षति पहुँचा कर झाईन के दुर्ग में आश्रय लेने के लिए विवश कर दिया। इस पराभव का समाचार पाकर सुलतान ने स्वयं रणथम्भौर की ओर प्रयाण किया परन्तु जब वह मार्ग में तिलपट नामक स्थान पर आखेट कर रहा था, उसके विश्वासघाती भतीजे अकबर खाँ ने, जिसको कुछ असंतुष्ट नव-मुसलमानों ने सिंहासन हथियाने के दुष्प्रयत्न के लिए उत्साहित किया था, अकस्मात् उस पर आक्रमण कर दिया और उसको घायल कर दिया। परन्तु अकबर खाँ के प्रयत्न विफल सिद्ध हुए; उसकी राजसभा को छिन्न-भिन्न करने और अपने अधिकार को पुनः प्राप्त करने में सुलतान को अधिक समय न लगा। विद्रोही राजकुमार बंदी बना लिया गया और तब उसका शिरच्छेद किया गया; उसके सहयोगियों को भी प्राणदण्ड दिया गया। इस संकट से मुक्ति पाकर सुलतान ने पुनः रणथम्भौर की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में मालवा तथा धार प्रदेशों को उत्पीड़ित किया। आखिर वह रणथम्भौर के दुर्ग तक पहुँच गया; राजपूतों ने बड़ा प्रतिरोध किया और तीव्र आघात-प्रतिघातों के साथ घेरा दिन-प्रतिदिन ज्यों का त्यों चलता रहा।

विद्रोह—राजधानी से सुलतान की लंबी अनुपस्थिति से उत्साहित होकर कुछ उपद्रवियों ने उसको अधिकार-विहीन बनाने का षड्यन्त्र रच डाला। षड्यन्त्रियों ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए राजकुमार उमर खाँ व मंगू खाँ को विद्रोह का झंडा उठाने के लिए उकसाया। परन्तु उनका तत्काल दमन कर दिया गया। सिंहासन हथियाने के इस निष्फल प्रयत्न से कहीं अधिक गम्भीर षड्यन्त्र हाजी मौला ने रचा, जो दिल्ली के प्रसिद्ध कोतवाल फखरुद्दीन के एक दास का पुत्र था। उसने दिल्ली के तत्कालीन कोतवाल तुरमुजी के उत्पीड़न से उत्पन्न असंतोष से लाभ उठाते हुए जनता की क्रोधाग्नि को प्रचण्ड किया और कुछ दुर्विनीत साथियों को लेकर शांति

मचा दी। उसने एक जाली राजाज्ञा द्वारा उद्दण्ड नगरवासियों को अपने साथ मिला लिया, नगर के द्वारों पर अधिकार कर लिया और राज-कोष को हस्तगत कर अपने अनुयायियों में वितरण कर दिया।[७] इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दुस्तान में मुसलमानों का आधिपत्य कितने असुरक्षित आधार पर टिका था। उसने एक सय्यद को शाह नजफ का पौत्र बताकर सिंहासन पर बैठा दिया और नगर के प्रमुख लोगों को उसका आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। इस विप्लव की सूचना पाकर सुलतान ने अपने सौतेले भाई मलिक हामिद अमीरकोह को स्थिति पर काबू करने के लिए भेजा। उसने बदाऊँ द्वार पर अधिकार कर हाजी मौला को युद्ध में बुरी तरह परास्त कर दिया। हाजी मौला मारा गया और अभागे सय्यद का लालमहल में शिरच्छेद कर दिया गया और उसका सिर सुलतान के पास भेज दिया गया। अपने मुखिया की मृत्यु से हताश विद्रोहियों ने हथियार डाल दिये और अपने अपने प्राण बचाने के लिए इधर-उधर भाग चले। उलुग खाँ के पहुँचने पर शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो गई। हाजी मौला के अपराधों के लिए उसके सजातियों को दण्डित किया गया और इस गुप्त मन्त्रणा से सर्वथा अनभिज्ञ कोतवाल के पुत्रों पर विद्रोह में साथ देने का आरोप कर उनको मृत्यु-दण्ड दिया गया।

इन विद्रोहों ने सुलतान के मन में विद्रोहों एवं गुप्त मन्त्रणाओं को समाप्त करने के लिए कठोरतापूर्ण उपाय अपनाने की आवश्यकता का तीव्र अनुभव करा दिया और इस विचार से उसने अनेक राजाज्ञाएँ निकाली, जिनका विवरण आगे दिया जायगा।

रणथम्भौर की विजय—इन संकटों से मुक्त होकर, शाही सेना ने अपनी सारी शक्ति रणथम्भौर पर केन्द्रित कर दी। एक वर्ष भर तक दुर्ग का घेरा चलता रहा। बालू के बोरों के सहारे आक्रांता दुर्ग की दीवारों पर चढ़ने और उन्होंने बलपूर्वक दुर्ग पर अधिकार कर लिया। राणा हम्मीर देव को सपरिवार

---

७. बर्नी ने लिखा है कि षड्यन्त्रियों ने गद्दी पर एक अलवी (अली के वंशज) को बैठाया जो सुलतान शमसुद्दीन इल्तुतमिश के मातृ-पक्ष से उसका संबंधी था। अश्वारोहियों का एक दल लेकर मौला इस अलवी के घर पहुँचा, उसको बलात् ले आया और गद्दी पर बैठा दिया। नगर के प्रमुख व्यक्तियों को उसके सम्मुख लाया गया और उसके प्रति राजभक्ति प्रकट करने के लिए बाध्य किया गया। (बर्नी पृ० २८०)। फिरिश्ता ने भी लिखा है कि अपनी माता की ओर से वह सुल्तान शमसुद्दीन इल्तुतमिश से संबंध जोड़ता था।

तलवार के घाट उतार दिया गया और अपने स्वामी के लिए प्राण-पण से युद्ध-कर बचे खुचे सैनिकों को भी मार डाला गया।[८] राणा के विश्वासघाती मन्त्री रणमल को अपमानपूर्ण मृत्यु द्वारा स्वामिद्रोह का पूरा पूरा दण्ड मिल गया। रक्तपातपूर्ण गाथाओं में भी हमें कहीं कहीं वीरता एवं स्वामिभक्ति के उज्ज्वल दृष्टांत मिल जाते हैं। राणा की सेवा में रहनेवाले एक मंगोल सरदार मीर मुहम्मद शाह को रणभूमि में क्षत-विक्षत पड़ा देखकर अला-उद्दीन ने उससे पूछा कि यदि मैं तेरे घावों की चिकित्सा करवाकर तेरी जान बचा दूँ तो तू क्या करेगा। अभिमान एवं घृणा से भरे शब्दों में इस आहत योद्धा ने उत्तर दिया, "यदि मेरे घाव ठीक हो जायें तो मैं तेरा वध कर दूँ और हम्मीर देव के पुत्र को सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दूँ।" शाही सेना में इस प्रकार की ज्वलंत स्वामिभक्ति का अभाव था; वहाँ तो गुप्त मन्त्रणाओं एवं स्वार्थसिद्धि का वातावरण फैला हुआ था, यद्यपि यह शूरवीर हाथी के पैरों के तले कुचलवाकर मार डाला गया, परन्तु उसके पौरुष ने विजेता के हृदय को छू ही लिया और उसने आदेश दिया कि इस वीर-पुंगव का अंतिम संस्कार सम्मानपूर्ण विधि से किया जाय। दुर्ग पर हिजरी सन् ७०० के जिलकदा मास की तीसरी तिथि को अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। "प्रबल प्रतिपक्षी राय" के प्रासाद एवं दुर्ग भूमिसात् कर दिये गये। रणथम्भौर का शासन उलुग खाँ को सौंपकर सुलतान राजधानी को लौट गया। रणथम्भौर की विजय के चार या पाँच मास उपरान्त उलुग खाँ ने तेलंगाना और माबर पर अभियान करने के

---

८. अमीर खुसरो ने अपने ग्रंथ 'तारीख-ए-अलाई' (इलियट, ३, पृ० ७५-७६) में इस घेरे का तथा युद्ध-प्रणाली का रोचक वर्णन किया है। 'जौहर' की भयंकर प्रथा पूरी की गई और अमीर खुसरो के शब्दों में, एक रात राय ने पर्वत के शिखर पर अग्नि प्रज्वलित की और अपनी स्त्रियों तथा परिवार को इसकी लपटों में डाल दिया और तब वह थोड़े से स्वामि-भक्त अनुयायियों सहित शत्रु पर टूट पड़ा और उसने निराशा में प्राणों का होम कर दिया।

'हम्मीर महाकाव्य' में हम्मीर की मृत्यु का वर्णन भिन्न प्रकार से किया गया है। इस महाकाव्य के अनुसार हम्मीर की पराजय का कारण उसके दो सरदारों रतिपाल एवं कृष्णपाल का विश्वासघात था। युद्ध में आहत होकर और बचने का कोई उपाय न देखकर हम्मीर ने अपनी ही तलवार से अपना सिर काट लिया। स्वाभिमानी राजपूत के … मान उसने मुसलमानों की अधीनता से मृत्यु को अधिक अच्छा समझा। दोनों सरदारों के विश्वासघात का उल्लेख हाजी-उद्-दबीर ने भी किया है (गर … डेनीसन राय द्वारा सम्पा० 'एरेबिक हिस्ट्री ऑव गुजरात' जि० २, पृ० ७० … -७)।

विचार से एक विशाल सेना एकत्र की, परन्तु रुग्ण होकर वह संसार से कूच कर गया। उसका शव दिल्ली लाया गया और उसी के भवन में दफनाया गया। सर वूल्जलेहेग ने ('कैम्ब्रिज हिस्ट्री' ३, पृ० १०५) लिखा है कि उसका देहान्त दिल्ली में हुआ था, परन्तु बर्नी के वर्णन से इस कथन का समर्थन नहीं होता। बर्नी का अनुसरण करते हुए निजामुद्दीन ने भी लिखा है कि "संक्षेप में, अलाउद्दीन ने रणथम्भौर दुर्ग और इसके आस-पास का प्रदेश उलुग खाँ को जागीर के रूप में प्रदान किया; और वह दिल्ली लौट आया। तत्पश्चात् उलुग खाँ रोग-ग्रस्त हो गया और मार्ग में मर गया।"

मेवाड़-विजय—इस विजय से प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन ने राजपूताना के प्रमुख राज्य मेवाड़ की ओर ससैन्य प्रयाण किया। यह राज्य लंबी पर्वत-श्रेणियों तथा बीहड़ वन-प्रदेशों द्वारा सुरक्षित था। इससे पूर्व किसी मुसलमान आक्रामक ने इस एकान्त प्रदेश में प्रवेश करने का साहस न किया था। प्रकृति ने इस राज्य को इतना सुरक्षित बना रखा था कि इस पर स्थायी रूप से अधिकार जमा लेना किसी विदेशी आक्रांता के लिए दुस्साध्य कार्य था और पर्वत के शिखर पर स्थित चित्तौड़ दुर्ग को प्रकृति ने ऐसा दुर्जेय बना दिया था कि विदेशी आक्रमकों को यहाँ से विफल मनोरथ होकर लौट जाना पड़ता था। एक विशाल शिलाखण्ड से काटकर बनाये हुए इस दुर्ग के नीचे एक विस्तृत मैदान था, जहाँ हिन्दू और मुसलमान दल प्राणों का मोह त्याग कर जूझनेवाले थे। परन्तु इस दुर्ग की अजेयता सुलतान को हतोत्साह न कर सकी और उसने १३०३ ई० में मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी। इस आक्रमण का तात्कालिक कारण यह था कि अलाउद्दीन राणा रतनसिंह[१]

---

९. टॉड महोदय ने भीमसी नाम लिखा है, परन्तु यह ठीक नहीं है। राणा का नाम रतनसी था। नैनसी ने अपनी ख्यात में रतनसिंह लिखा है और अबुलफजल ने भी 'आइन' में यही नाम दिया है। फिरिश्ता ने भी रतनसिंह लिखा है।

फिरिश्ता का वर्णन राजपूत गाथाओं से भिन्न है। ब्रिग्स महोदय ने मूल पुस्तक के उद्धरण का अशुद्ध अनुवाद किया है, जो इस प्रकार है—

"पद्मिनी के सौंदर्य के विषय में सुनकर अलाउद्दीन ने राजा को बंदीगृह में संदेश भेजा कि यदि वह इस अनुपम सुन्दरी को भेंट कर दे तो वह उसको मुक्त कर देगा। इस प्रस्ताव को सुनकर बहुत बेक्षुब्ध हुए और उन्होंने राणा के पास विष भेजने का निश्चय किया जिससे वह अपने जीवन का अंत कर दे। परन्तु राणा की पुत्री ने एक चाल सुझाई जिससे राणा को मुक्त किया जा सके और कुल-गौरव की रक्षा की जा सके। सशस्त्र राजपूत पालकियों में सुल्तान के शिविर में गये और राणा को छुड़ा लाये।" (लखनऊ संस्क० पृ० ११५)।

उजाड़ दुर्ग में यह स्थान आज भी उन निर्दयतापूर्ण काल की करुण कहानी सुनाने के लिए विद्यमान है। चिता रची जाने के बाद राजपूत रमणियाँ वहाँ एकत्र होने लगीं। टॉड महोदय ने इस दृश्य का वर्णन इन शब्दों में किया है; 'सुन्दरी पद्मिनी ने उस समूह का नेतृत्व किया जो वह समग्र नारी सौन्दर्य एवं यौवन का सम्मिलित रूप था जिसके कि तातारों की काम-पिपासा से कलुषित होने की आशंका थी। वे तहखाने में लाई गईं जिसके द्वार बन्द कर दिए गए[१०] अपमान से त्राण पाने की दृष्टि से उन्होंने उसके अन्दर ही अपने को राख में बदल देने वाले तत्व (अग्नि) के हाथों में सौंप दिया।'

बर्नी इस अभियान का संक्षिप्त वर्णन करता और साधारण रूप में लिखता है कि 'रणथम्भौर की विजय के उपरान्त सुल्तान ने चित्तौड़ के विरुद्ध सदल-बल प्रस्थान किया जिसे उसने थोड़े समय में ही प्राप्त कर लिया और और तब वह घर लौट आया।" अमीर खुसरो इस युद्ध के अवसर पर सुल्तान के साथ था। उसने इसका विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है; —"चित्तौड़ का दुर्ग सोमवार ११ मुहर्रम ७०३ हि० (२६ अगस्त, १३०३ ई०) को हस्तगत किया गया, राय पलायन कर गया, परन्तु बाद में उसने आत्म-समर्पण कर दिया। ३० सहस्र हिन्दुओं के वध का आदेश देने के उपरान्त उसने (सुल्तान ने) चित्तौड़ का शासन अपने पुत्र खिज्र खाँ को सौंप दिया और इस स्थान का नाम खिज्राबाद रख दिया। उसने उसको (खिज्र खाँ को) एक लाल छत्र, सोने का काम किये हुए वस्त्र और दो ध्वज एक हरा और दूसरा काला—प्रदान किये और इसके ऊपर लालों और पन्नों की बौछार की। तब वह दिल्ली की ओर लौटा।" सभी लेखक इस बात में एकमत है कि चित्तौड़ दुर्ग के बाहर भीषण संग्राम हुआ।

चित्तौड़ दुर्ग का प्रबन्ध राजकुमार खिज्र खाँ को सौंपा गया और चित्तौड़ का नाम बदलकर खिज्राबाद कर दिया गया। खिज्र खाँ कुछ समय तक चित्तौड़ में रहा, परन्तु राजपूतों के दबाव के कारण विवश होकर १३११ ई० में उसको दुर्ग छोड़ देना पड़ा। तब सुल्तान ने यह दुर्ग सोनिग्रा सरदार मालदेव को सौंपा। नैनसी के अनुसार, उसका इस दुर्ग पर नौ वर्ष तक अधिकार रहा। तदुपरान्त राणा हम्मीर देव ने छलछद्म से पुनः इस दुर्ग

---

१०. 'टॉड्स एनेल्स ऐण्ड एण्टिक्विटीज ऑव राजस्थान'—क्रुक संपादित, जि० १, पृ० ३११।

पर अधिकार कर लिया।[11] हम्मीर देव की अधीनता मे आने पर चित्तौड़ पूर्ववत् वैभव संपन्न हो गया और राजपूताना का प्रमुख राज्य बन गया।

रायबहादुर पंडित गौरीशंकर ओझा पद्मिनी की कथा को स्वीकार नही करते। उनका कहना है कि फिरिश्ता ने यह कथा मलिक मुहम्मद जायसी के महाकाव्य 'पद्मावत' से ग्रहण की, जिसमें पद्मावती के गुणो एवं प्रेम-गाथा का बहुत अलंकारपूर्ण तथा सजीव वर्णन किया गया है।[12] टॉड ने अपने वर्णन का आधार मेवाड़ के चारणो की ख्यातों को बनाया है। ओझा जी के मतानुसार इन चारणो ने भी इस कथा को 'पद्मावत' से ग्रहण किया था। परन्तु जायसी, फिरिश्ता तथा टॉड के इस घटना के वर्णन मे भिन्नताएँ है, जिनसे इस कथा के पूर्णतया कपोल-कल्पित होने और 'पद्मावत' से ग्रहण किये जाने की धारणा सर्वथा सत्य नही जान पड़ती। इसके अतिरिक्त हाजी-उद-दबीर ने भी इस कथा का वर्णन किया है। इस लेखक ने न तो फिरिश्ता का आधार लिया और न यह 'पद्मावत' का ही आश्रय ले सकता था, क्योंकि इसने अपना इतिहास-ग्रंथ गुजरात में अकबर के समय मे लिखा। मेवाड में प्रचलित ख्यातें बहुत प्राचीन-काल से एक पीढ़ी से

---

११. फिरिश्ता तथा राजपूत-गाथाएँ इस बात मे एकमत हैं कि चित्तौड़ का शासन जालौर के सोनिग्रा सरदार मालदेव को सौंपा गया। फिरिश्ता लिखता है—

"सुलतान ने खिज्र खाँ को दुर्ग छोड़ देने के लिए कहा और इसको राजा के भानजे को सौप दिया जो सुलतान की हाजिरी मे रहता था। उसने अपनी शक्ति स्थापित की और आजीवन सुलतान का करद बना रहा और उसको भेंट देता रहा।"

फिरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० ११५।
'तारीख-ए-अलाई' इलियट ३, पृ० ७७।

वह प्रतिवर्ष बहुमूल्य उपहारों सहित विशाल धन-राशि भेजता था और युद्ध में ५००० अश्वारोही तथा १०,००० पदाति लेकर हमेशा शाही झंडे के नीचे शामिल होता था।

इसी लेखक ने १३११ ई० की घटनाओं का वर्णन करते हुए अन्यत्र स्वीकार किया है कि अलाउद्दीन के शासन के अंतिम दिनो मे "चित्तौड़ के राजपूतों ने मुसलमान पदाधिकारियों को दिवालो के ऊपर से फेंक दिया और अपनी स्वतन्त्रता अपना ली।" यह वर्णन भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। खिज्र खाँ को दुर्ग छोड़ने के लिए १३११ ई० के पश्चात् विवश होना पड़ा था, जिसके बाद इसको जालौर के मालदेव को सौप दिया गया। ब्रिग्ज १, पृ० ३८१।

१२. 'राजपूताना का इतिहास', जि० २, पृ० ४८६-९५।

कर ली। अभागी राजकुमारी को उसके पिता तथा प्रिय-जनों से बलात् विमुक्त कर शाही 'अंतःपुर' में प्रवेश कराया गया और तब १३०७ ई० में उसका युवराज खिज्र खाँ के साथ विवाह करा दिया गया। काफूर ने सारे देश को ध्वस्त कर दिया और रामचन्द्र को संधि की याचना के लिए बाध्य कर दिया। राजा रामचन्द्र को दिल्ली भेजा गया, जहाँ उसका भव्य स्वागत किया गया और सुल्तान ने उसको 'राय रायान' की उपाधि से विभूषित किया। फिरिश्ता ने लिखा है कि उसको नवसारी का जिला व्यक्तिगत जागीर के रूप में प्रदान किया गया। इस उदारतापूर्ण व्यवहार ने उसको दिल्ली के सिंहासन का भक्त बना दिया और उसने फिर कभी इस भक्तिभाव से मुँह न मोड़ा।

वारंगल की विजय—देवगिरि के यादवों की पराजय ने दक्षिण के अन्य हिन्दू राज्यों की पराधीनता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। दक्षिण के राज्यों पर आक्रमण करने में अलाउद्दीन का उद्देश्य, जैसा कि प्रो० आयंगर ने बताया है, इन राज्यों को यथेच्छ धन-प्राप्ति के लिए कामधेनु बना देना था क्योंकि सुल्तान को आतंरिक उपद्रवों को शांत करने तथा मंगोलों के आक्रमणों का प्रतिरोध करने के लिए एक विशाल सेना रखनी पड़ती थी, जिसका खर्च चलाने के लिए उसे सदैव धन की आवश्यकता पड़ती रहती थी। १३०९ ई० में काफूर ने तेलंगाना में वारंगल के काकतीय राजा पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया।[16] काफूर को सुल्तान का आदेश था कि "यदि राय अपने कोष एवं रत्नों, हाथियों तथा घोड़ों को दे देने तथा अगले वर्ष भी धन एवं हाथी भेजने के लिए तैयार हो जाये, तो मलिक नायब काफूर इन शर्तों को स्वीकार कर ले और उसे अधिक तंग न करे। उसे केवल कोई समाधान प्राप्त कर लेना है और बात को सीमा से आगे न बढ़ा कर लौट जाना है, ताकि कहीं राय लदरदेव उसका धर दबाने का अवसर न पा जाय। यदि वह ऐसा न कर सके, तो उसको अपने नाम एवं सम्मान के लिए राय को अपने साथ दिल्ली ले आना है।" इस अभियान का उद्देश्य राय के देश को साम्राज्य में मिलाना नहीं था, केवल उसको कोष एवं शक्तिविहीन बनाना था। बीहड़ एवं विपत्ति

---

१६. वारंगल तेलिंगाना की प्राचीन राजधानी था।
तिफ्रिन्थालेर, ३, पृ० ५।
'हिस्टोरिकल एण्ड डेस्क्रिप्टिव स्केचेज ऑव दि निजाम्स डोमीनियन्स', पृ० ७३७।
फरग्यूसन—'इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर' पृ० ३०२।
इम्पी-गजेटि० १३, पृ० ५२१।
अमीर खुसरो, बर्नी, तथा फिरिश्ता ने इसका नाम आरंगल लिखा है।

संकुल प्रदेशों से होता हुआ काफूर वारंगल दुर्ग के सामने जा पहुँचा। राजा द्वितीय प्रताप रुद्रदेव, जिसको मुसलमान इतिहासकारों ने लदरदेव कहा है, अपने अभेद्य दुर्ग में डट गया और आक्रांताओं पर कड़ा प्रहार करने लगा। अमीर खुसरो के शब्दों में, यह दुर्ग इतना अभेद्य था कि इस्पात का भाला भी इसको छेद नहीं सकता था और यदि पाश्चात्य देशों में निर्मित 'कैटापल्ट' (प्रक्षेपण-यंत्र) से इस दुर्ग पर कोई गोला फेंका जाता तो वह बच्चों की गेंद के समान लौट आता था। दीर्घकालीन घेरे के बाद द्वितीय प्रताप रुद्रदेव काकतीय ने संधि का प्रस्ताव किया। उसने वार्षिक कर देना स्वीकार किया और "अधीनता स्वीकार करने के चिह्न स्वरूप अपनी एक स्वर्ण प्रतिमा भेज दी, जिसके गले में स्वर्ण-शृंखला पड़ी थी।" लेकिन काफूर ने उसका संधि का प्रस्ताव ठुकरा दिया। काकतीय राजा के ब्राह्मण-मंत्रियों ने अपने स्वामी को छूट देने के लिए काफूर से बहुत अनुनय-विनय की। परंतु हृदयहीन काफूर ने हिन्दुओं के सामूहिक ध्वंस से विरत होना केवल इस शर्त पर स्वीकार किया कि उनका स्वामी अपना सारा कोष उसको दे दे और प्रतिवर्ष दिल्ली को कर भेजना स्वीकार करे। रक्षा का कोई भी उपाय न देखकर प्रताप रुद्रदेव ने यह अपमानजनक शर्तें स्वीकार कर ली और अपार धन देकर उसने अपनी जान बचाई। विजय-मुकुट धारण कर काफूर ने "वारंगल से प्रस्थान किया और कोष के भार से कराहते हुए १ सहस्र ऊँटों को लेकर वह दिल्ली लौट आया।" देवगिरि, धार और झाइन के मार्ग से होते हुए वह मार्च १३१० ई० में दिल्ली पहुँचा।

द्वारसमुद्र की विजय—इस अभियान की अपूर्व सफलता तथा अपने साहसपूर्ण प्रयत्नों के फलस्वरूप राजकोष में एकत्रित विशाल धन-राशि देखकर अलाउद्दीन को अपने भाग्य में दृढ़ विश्वास हो गया और उसने अपने राज्य की सीमा दक्षिण के सुदूरतम भाग तक विस्तृत करने का निश्चय कर लिया। द्वारसमुद्र और माबर[17] अब भी उसके आधिपत्य से दूर थे। नरसिंह के पुत्र तृतीय वीर बल्लाल के शासन में घाटों के ऊपर तथा नीचे के होयसलों द्वारा अधिकृत प्रदेशों का पुनः एकत्रीकरण हो गया था—और समस्त कांगू प्रदेश, कोंकण का एक भाग तथा वर्तमान काल का समस्त मैसूर प्रदेश इस शक्तिशाली

१७. माबर उस प्रदेश का नाम है जो वस्साफ, पोलो तथा अब्दुल फ़ेदा के अनुसार कुलाम से नीलावार (नेल्लोर) तक विस्तृत था। वस्साफ ने 'तजजियात-उल-अमसार' में लिखा है कि माबर प्रदेश कुलाम से लेकर नीलावार (नेल्लोर) पर्यंत समुद्र के किनारे किनारे लगभग ३०० परसंग तक विस्तृत था।

शासक के अधिकार में थे।[18] वल्लाल योग्य शासक था और उसने अपने समसामयिक हिन्दू शासकों के समान उत्पीड़क राज्यकरों को समाप्त कर तथा धार्मिक अनुदान देकर अपनी शक्ति को दृढ़ कर लिया था। होयसलों तथा यादवों में घोर प्रतिद्वंद्विता चलती थी और वह एक दूसरे के विनाश के लिए उद्यत रहते थे। इन पारस्परिक झगड़ों ने दोनों को शक्तिहीन बनाकर एक तीसरी शक्ति के लिए स्थान बना दिया था। हिजरी सन् ७१० के जमाद-उल्-अखीर मास की २४वीं तिथि को (१८ नवम्बर, १३१० ई०) शाही सेना ने काफूर तथा ख्वाजा हाजी की अध्यक्षता में दिल्ली से प्रस्थान कर दिया और गम्भीर सरिताओं, बीहड़ वन-प्रदेशों तथा पर्वतीय घाटियों को पार करते हुए यह मावर पहुँच गई। वीर वल्लाल को करारी हार खानी पड़ी। और उसने विजयी सेनापति के पास आत्म-समर्पण कर दिया। परंतु काफूर केवल आत्म-समर्पण से ही संतुष्ट न हुआ; उसने अपनी धर्मान्धता का परिचय देते हुए राय से इस्लाम स्वीकार करने अथवा 'जिम्मी'[19] का स्थान ग्रहण करने को कहा। राय ने वादवाली शर्त स्वीकार कर ली, युद्ध-व्यय के रूप में विशाल धन-राशि दी और दिल्ली को कर देना स्वीकार किया। मुसलमानों ने लूट में बहुत सम्पत्ति प्राप्त की, जिसमें ३६ हाथी और सोना, चाँदी, मणियों तथा मोतियों के ढेर सम्मिलित थे। मंदिरों को ध्वस्त कर खूब लूटा गया। वीर वल्लाल को हाथियों और घोड़ों सहित दिल्ली भेजा गया; उसके अभिलेखों में उसके दिल्ली-गमन का उल्लेख मिलता है।

मदुरा की विजय—द्वारसमुद्र की विजय के बाद काफूर ने पाड्य-राज्य पर आक्रमण करने की तैयारी की। पांड्य-राजवंश के दो भाइयों सुंदर पांड्य और वीर पांड्य के पारस्परिक कलह से मुसलमानों को चिर-प्रतीक्षित सुयोग प्राप्त हो गया। वस्साफ तथा अमीर खुसरो—दोनों ने ही सुंदर पांड्य को पाड्य-राज का वैध पुत्र और वीर पांड्य को अवैध पुत्र बताया है। वीर पांड्य सिंहासन पर अधिकार प्राप्त करने में सफल हुआ और उसने सुंदर पांड्य को मदुरा से निकाल दिया। इस प्रकार अपने न्यायानुमोदित उत्तराधिकार से वंचित होकर सुंदर पांड्य ने दिल्ली के सुलतान से सहायता की याचना की। यह वस्साफ का वर्णन है। अमीर खुसरो ने भी वस्साफ के वर्णन का

१८ वीर-वल्लाल ने १२९२ ई० में राजमुकुट धारण किया था और उसकी मृत्यु तुर्कों से युद्ध करते हुए १३४२ ई० में हुई।

१९. 'जिम्मी' उस विधर्मी को कहा जाता है जिसको इस्लाम ग्रहण न करने पर भी धन देने के कारण जीवन तथा संपत्ति की सुरक्षा प्रदान की जाती है।

अनुमोदन करते हुए लिखा है कि "माबर के दोनों राय, जिनमें से ज्येष्ठ का नाम वीर पांडच और कनिष्ठ का नाम सुंदर पांडच था, जो अब तक मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखते आ रहे थे, अब एक दूसरे से भिड़ने के लिए एक दूसरे के विरुद्ध चल पड़े थे और इसकी सूचना पाकर धुरसमुन्दर के राय विलालदेव ने उनके दो रिक्त नगरों को पीड़ित करने और व्यवसायियों को लूटने के उद्देश्य से प्रयाण कर दिया था; परंतु मुसलमान सेना के बढ़ जाने का समाचार पाकर वह अपने देश को लौट आया था।" मलिक काफूर विशाल सेना लेकर चल पड़ा। अमीर खुसरो ने अपने ग्रंथ 'तारीख-ए-अलाई' में इस वीर सेनानायक की दक्षिण के सुदूर एवं दुर्गम्य प्रदेशों में प्रगति का सर्वांगसूक्ष्म वर्णन किया है। मार्ग में वह हाथियों को छीनता तथा मंदिरों को ध्वस्त करता चला और १७ जिलक़दा, ७१० हि० (अप्रैल, १३११ ई०) में वह 'खाम' पहुँचा, जहाँ से उसने पांडच-राज्य की राजधानी मदुरा की ओर प्रस्थान किया। आक्रांता का आगमन होते ही, राय भाग निकला और आक्रामकों ने उसके हाथी छीन लिये और मंदिरों को नष्ट कर दिया। अमीर खुसरो के वर्णनानुसार यहाँ से ५१२ हाथी, पाँच सहस्र घोड़े और १०५ मन मणि-माणिक्य जिनमें हीरे, मोती, पन्ने, लाल सभी थे, विजेता के हाथ लगे। प्रतीत होता है कि काफूर हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान रामेश्वरम् तक पहुँचा। रामेश्वर के विशाल मंदिर को लूटकर तथा मूर्तियों को तोड़कर १३११ ई० के समाप्त होते-होते काफूर दिल्ली लौट गया। समस्त दक्षिण-भारत को पादाक्रांत कर तथा लूट से प्राप्त अपार धन लेकर काफूर ४ जिल हज्जा, ७१० हि० (२४ अप्रैल १३११ ई०) को दिल्ली लौट आया। सुलतान ने उसका हार्दिक स्वागत किया। मस्जिदों में प्रवचन-मचों से इस विजय की घोषणा की गई और सरदारों तथा अमीरों में बहुमूल्य उपहार वितरण किये गये।

शंकरदेव की पराजय—रामदेव की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र शंकरदेव ने नियमित कर देने बंद कर दिये थे और होयसलों के विरुद्ध काफूर के अभियान में सहायता देना अस्वीकार कर करद राजा के कर्त्तव्यों से विमुखता प्रदर्शित की थी। अपने आधिपत्य की ऐसी उपेक्षा की जाती देखकर अलाउद्दीन क्रोध से उबल पड़ा और उसने चौथी बार काफूर को १३१२ ई० में एक विशाल सेना के साथ दक्षिण भेजा। काफूर ने सारा महाराष्ट्र प्रदेश रौंद डाला और थोड़े से प्रतिरोध के उपरांत ही यादव शासक परास्त हो गया और मार डाला गया। काफूर ने गुलबर्गा पर अधिकार कर लिया और कृष्णा नदी तथा रायचूर व मुदगल के मध्यवर्ती प्रदेश को हस्तगत कर लिया। इस प्रकार

समस्त दक्षिण भारत काफूर के चरणों में लोटने लगा और चोल, चेर, पांड्य, होयसल, काकतीय तथा यादव—सभी प्राचीन राज-वंशों को परास्त होकर दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। दिल्ली साम्राज्य का विस्तार उत्तर में मुलतान, लाहौर और दिल्ली से लेकर दक्षिण में द्वारसमुद्र और मदुरा तक तथा पूरब में लखनौती और सुनारगांव से लेकर पश्चिम में थट्टा और गुजरात तक हो गया था तथा वर्तमान मध्यप्रदेश भी इस विशाल साम्राज्य का एक भाग बन गया था। १३१२ ई० की समाप्ति तक अलाउद्दीन का प्रताप-सूर्य मध्याकाश में पहुँच चुका था; उसके साम्राज्य की सीमा भारत के चारों कोनों का स्पर्श करने लगी थी। परंतु विजयों एवं साम्राज्य विस्तार की इस अविश्रांत व्यस्तता के बीच भी वह यह न भूला था कि उसका यह विशाल साम्राज्य अभी तक केवल असंख्य जातियों का एक ऐसा जमघट मात्र था जिसमें अभी एकता या संश्लिष्टता की भावना का सर्वथा अभाव था और यदि इसको इसी स्थिति में रहने दिया गया तो उसके आँखें मूँदते ही या कि उसके कठोर नियन्त्रण मे थोड़ी शिथिलता आते ही इसके छिन्न-भिन्न होने की पूर्ण संभावना थी।

'नव-मुसलमानों' का दमन—'नव-मुसलमान', जिनका पीछे उल्लेख किया जा चुका है, राज्य के लिए आपत्तियो के बहुत बड़े स्रोत थे। वह अभी तक अपने आप को विदेशी समझते चले आ रहे थे और उनके मन में यह असंतोष बना हुआ था कि धर्म तथा निवास-स्थान का परिवर्तन करने के लिए उनको यथोचित पुरस्कार नहीं दिया गया। यह सत्य है कि फीरोज ने अपनी पुत्री का विवाह मंगोल सरदार उलुग खाँ के साथ कर दिया था, परंतु उसकी मृत्यु के बाद मंगोलों के साथ निर्दयता एवं कठोरता का व्यवहार किया जाने लगा था। अलाउद्दीन ने उनको राजकीय सेवा से विमुक्त कर दिया था और उसके कर्मचारियों ने उनको दी गई छूटों को या तो स्वयं हथिया लिया था या कम कर दिया था। उनको राजसभा के सरदारों के यहाँ नौकरी करने की आज्ञा अवश्य थी, परंतु यदि वह नौकरी न पा सकते तो राज्य उनकी सहायता के लिए कुछ भी न करता था। इन्होंने सुलतान से दया की याचना की, परंतु उसने इनकी दयनीय स्थिति पर कुछ भी ध्यान न दिया। हताश होकर उन्होंने गुप्त-मन्त्रणा की कि जब सुलतान 'ढीले-ढाले वस्त्रों में बाज से चिड़ियों का शिकार कराने निकले' और वह तथा उसके आदमी शिकार की खोज में व्यस्त हों, उसका वध कर दिया जाय। इस षड्यन्त्र का पता लग गया और अलाउद्दीन ने भयंकर प्रतिशोध लिया। दण्ड देने में न उसने सजातीयता पर ध्यान दिया और न कानून की ही चिंता की। उसने 'नव-मुसलमानों'

समूल समाप्त कर देने की विनाशकारी आज्ञा दे दी। बर्नी लिखता है कि "इस आदेश पर जो किसी फ़रो अथवा निमरूद के ही योग्य था बीस या तीस हज़ार 'नव-मुसलमानों' का वध कर दिया गया, जिनमें से केवल कुछ को ही (आयोजित विद्रोह की) कोई जानकारी थी।" उनके घरों को छान डाला गया और उनके परिवारों को सड़कों पर निकाल दिया गया। षड्यन्त्रियों को ढूंढ़ निकाला गया और मौत के घाट पहुँचा दिया गया। उनके सिरों को आरे से दो भागों में चीरा गया और उनके शरीरों को टुकड़े-टुकड़े किया गया। 'नव-मुसलमानों' के हत्यारों को इनकी सम्पत्ति को हथिया लेने का अधिकार देकर सुलतान अपनी इस भयंकर आज्ञा को कार्यरूप में परिणत करवाने में सफल हो गया। इस प्रकार बीस या तीस सहस्र 'नव-मुसलमानों' का संहार किया गया। तत्कालीन इतिहासकार लिखता है कि इस दानवीय संहार लीला के उपरांत राजधानी मे अथवा उसके समीपस्थ प्रदेशों में किसी को शांति भंग करने का फिर कभी साहस न हुआ।

शासक के अधिकारों के विषय में अलाउद्दीन का सिद्धांत—अलाउद्दीन राज-कार्यों में धर्माचार्यों के हस्तक्षेप का विरोधी था और इस बात में उसने दिल्ली के पिछले शासकों के समय से चली आती परम्परा का त्याग कर दिया था। उसके शासन-तंत्र का मूल-सिद्धांत यह था कि राज्य का विधि-विधान शासक की इच्छा पर आश्रित होना चाहिए और इसका पैगम्बर साहब द्वारा निर्दिष्ट विधि-निषेधों से कोई संबंध नहीं है। सुलतान का राजशक्ति संबंधी सिद्धात उसके उन शब्दों में स्पष्टतया प्रकट किया गया है जो उसने काज़ी मुगीसुद्दीन से कहे थे, जिससे उसने राज्य में प्रभुसत्ता की वैधानिक स्थिति के बारे में परामर्श लिया था। उसने दण्ड देने के शासक के विशेषाधिकार का समर्थन किया और दुराचारी तथा बेईमान अधिकारों के अंग-भंग को न्यायानुमोदित बताया यद्यपि काज़ी ने इन बातों को धर्म-विरुद्ध बतलाया। तब उसने काज़ी से पूछा, "जो सम्पत्ति मैंने देवगिरि में इतना रक्तपात कर उस समय प्राप्त की थी, जब मैं मलिक था, वह मेरी है या राज-कोष की?" काज़ी ने उत्तर दिया, "श्रीमान् के समक्ष सत्य भाषण के लिए मैं कर्तव्य-बद्ध हूँ। देवगिरि में प्राप्त कोष इस्लाम की सेनाओं के बल से ही प्राप्त हो सका और इस प्रकार जो भी कोष प्राप्त किया जाता है उस पर राज-कोष का अधिकार होता है।"[20] यदि श्रीमान् ने इस सम्पत्ति को केवल अपने प्रयत्न से विधि-विहित ढंग से प्राप्त किया होता, तो इस पर आपका अधिकार होता।"

---

२०. तत्कालीन वैधानिक भाषा में 'राज-कोष को बैत-उल-माल' कहा जाता था।

उनसे चाँदी माँगे, तो उन्हें बिना प्रश्न किये और पूर्ण विनम्रता तथा सम्मानपूर्वक, स्वर्ण उपस्थित करना चाहिए। यदि 'मुहस्सिल' (राज-कर वसूल करनेवाला) किसी हिंदू के मुंह में थूकना चाहे तो उसको निर्विरोध भाव से मुँह खोल देना चाहिए। ऐसा करने का अर्थ यह है कि इस प्रकार आचरण करने से वह अपनी नम्रता एव अधीनता, तथा आज्ञापालन और सम्मान प्रदर्शित करता है। इस्लाम को गौरवान्वित करना कर्तव्य है और धर्म का तिरस्कार व्यर्थ है। स्वयं खुदा ने उनके पूर्ण पराभव की आज्ञा दी है, क्योंकि हिंदू पैगम्बर के घोरतम शत्रु है। पैगम्बर साहब ने कहा है कि या तो वह इस्लाम ग्रहण कर लें अथवा उनको मार डाला जाये या दास बना लिया जाये और उनकी सम्पत्ति राजकोष में जमा कर ली जाये। आबू हनीफ सरीखे महान् धर्माचार्य ने हिंदुओं पर 'जजिया' लगाने का आदेश दिया है जब कि अन्य मतों का विचार है कि "मृत्यु अथवा इस्लाम के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।"[२२] दोआब के हिंदुओं के द्रोहपूर्ण आचरण के कारण उनके प्रति कठोर व्यवहार आवश्यक हो गया। उनको सारी उपज का ५० प्रतिशत बिना किसी छूट के, देना पड़ता था और भूमि-कर इतनी कठोरता से लगाया गया था कि एक बिस्वा भूमि भी कर-मुक्त न थी। मवेशियों पर चराही-कर लगाया गया और गृह-कर भी वसूल किया जाने लगा। निर्धनों को करों के भार से मुक्त करने के लिए 'खूतों' एवं 'बलाहारों'[२३] पर भी ऐसे ही कर लगाये गये। इन नये नियमों का इतनी कठोरता से पालन कराया जाता था कि 'चौधरी' खूत और मुकद्दम लोग न तो घुड़सवारी कर पाते थे, न शस्त्र रख पाते, न सुन्दर वस्त्र पहन पाते और न ताम्बूल का ही आस्वादन कर पाते थे।' राज्य की नीति हिंदुओं को इतना धन-हीन बना देने की थी कि वह घुड़सवारी न कर सकें, सुन्दर वस्त्र न पहन सकें शस्त्र न रख सकें और विलासितापूर्ण प्रवृत्तियों को न बढ़ा सकें। उनकी स्थिति इतनी दयनीय बना दी गई कि खूतों और मुकद्दमों की स्त्रियां वेतन की आशा में मुसलमानों के घरों में काम करने

२२. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० २००-२०१ इलियट ३, पृ० १८४।

२३. 'खूत' और 'बलाहार' शब्द स्पष्टतः भूस्वामियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं। बहुत संभव है कि वहाँ यह शब्द जमींदार और किसान के लिए प्रयुक्त हुए हों। इलियट, ३, पृ० ६२३।

मेजर फुलर ने बर्नी के 'तारीख-ए-फीरोजशाही' के अनुवाद क टिप्पणी में (जनरल आव एशि० सोसा० आव बंगाल, १८७० पृ० ७) 'खूत' का अर्थ बलिष्ठ मनुष्य किया है। यथार्थ में 'खूत' का अर्थ है भूस्वामी।

के लिए जाने लगी।" वर्नी ने साम्राज्य के नायब वजीर शरफ काई (कुछ प्रतियों में शरफ कैयिनी) की बहुत प्रशंसा की है और लिखा है कि इस वजीर ने साम्राज्य के सब प्रान्तों में इतनी निपुणता से भूमि-कर की एक सी व्यवस्था प्रचलित की, मानो वह एक ही गाँव हों। भूमि-कर वसूल करने के लिए उसने सब भू-स्वामियों के लिए एक नियम बनाया और "वह इतने आज्ञाकारी बन गये कि अकेला चपरासी लगभग बीस भू-स्वामियों, प्रधानों और प्यादों को पकड़ सकता था और उन पर लात-घूंसे जमा सकता था।" इस वजीर ने धनापहरण के मामलों की जांच की और अपराधियों को कठोरतम दण्ड दिये। यदि पटवारी के खाते में किसी पदाधिकारी के नाम पर एक भी 'जीतल' दोष दिखाई देता था तो उसको घोर यन्त्रणा तथा कारावास का दण्ड दिया जाता था। यदि कोई पदाधिकारी, हिन्दू या मुसलमान किसी से भी घूस लेता था, तो उसको कठोर दण्ड दिया जाता था। केवल ५०० या १००० टंकों के लिए भूमि-कर-विभाग के 'आमिलों', 'मुर्सरिफों' तथा अन्य कर्मचारियों को नितान्त धनहीन बना दिया गया था और कारागार में डाल दिया गया था। भूमि-कर के मुंशी का पद बहुत संकटपूर्ण समझा जाने लगा और केवल साहसी प्रकृति के लोग ही इस पद के प्रार्थी होते थे।"

सेना का प्रबंध और बाजार का नियंत्रण—सैनिक-शक्ति पर आश्रित शासन-तंत्र में सेना का सुसंघटित होना नितान्त आवश्यक था। अलाउद्दीन ने जैसा विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर लिया था, वह स्थायी सेना के अभाव में टिक न सकता था। अतः उसने सेना की सुव्यवस्था की ओर ध्यान दिया और शाही सेना में निपुण एवं अनुभवी सेनानायकों को नियुक्त किया। प्रत्येक सैनिक का वार्षिक वेतन २३४ टंक नियत किया गया और दो घोड़ोंवाले सैनिक को ७८ टंक अधिक दिये जाने लगे। इस विषय में बर्नी का वर्णन स्पष्ट नहीं है परंतु उसका यही आशय जान पड़ता है। निरीक्षण के समय छल-कपट के लिए घोड़ों को दागने की प्रथा चलाई गई और सैनिकों को

---

२४. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० २८८, इलियट ३, पृ० १८२-८३।

२५. बर्नी लिखता है ('तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० २८९) कि भूमि-कर के मुंशी का पद इतना बुरा समझा जाने लगा कि इस कर्मचारी को कोई अपनी कन्या व्याहने को तैयार न होता था और 'मुर्सरिफ' का पद वही लोग स्वीकार करते थे, जिनको अपने प्राणों का कुछ भी मोह न होता था। इन कर्मचारियों को बहुधा कारागार की शरण लेनी पड़ती थी।

अपने घोड़ो तथा अस्त्र-शस्त्रों को सदैव व्यवहार के योग्य स्थिति में रखने के लिए सावधान किया गया। परंतु राज्य-कोष का अत्यधिक शोषण किये बिना इतनी विशाल स्थायी सेना रखना असंभव था; अतः सुलतान ने दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं को सस्ती करने के उद्देश्य से मूल्यों का नियन्त्रण करने का निश्चय किया। दैनिक-व्यवहार में आनेवाली वस्तुओ के मूल्यों की तालिका प्रस्तुत की गई।[२६] मलिक कबूल उलुग खानी नामक एक योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति को बाजार का निरीक्षक (शहना-ए-मंडी) बनाया गया और उसके अधीन बाजार का लेखा-जोखा तैयार करने के लिए 'बुरीद' तथा बाजार की बातों की गुप्त सूचना देने के लिए 'मन्ही' कहे जानेवाले कर्मचारियों को नियुक्त किया गया। शाही भण्डारों में अन्न एकत्र किया गया और दोआब के 'खालसा' गाँवों में भूमि-कर धन के रूप में न लेकर अनाज के रूप में लिया जाने लगा। दिल्ली तथा आस-पास के प्रदेशों में अन्न की इतनी बहुलता हो गई कि अकाल के समय भी यहाँ अन्नाभाव न होने पाया। सस्ते भाव के समय अनाज खरीदकर महँगे भाव के समय बेचने के विचार से बंद कर देने के लिए दण्ड दिया जाने लगा। व्यापारियों को १ मन अनाज भी छिपाने न दिया जाता था और १ दंग अथवा दिरहम अधिक मूल्य लेने के लिए सक कठोर दण्ड दिया जाने लगा। साम्राज्य के सभी भागों के व्यापारियों को अपना नाम एक "दफ्तर" में रजिस्टर करवाना पड़ता था और इनको 'शहना-ए-मंडी' के नियन्त्रण में रहना पड़ता था। सौदागरों के दलों को बाजार

---

२६. गेहूँ	प्रतिमन	७½	जीतल
जौ	"	४	"
धान	"	५	"
उड़द	"	५	"
नख़ूद, दाल	"	५	"
मोठ	"	३	"
शक्कर	प्रति सेर	१⅔	"
गुड़	"	१⅔	"
मक्खन	३ सेर		"
सरसों का तेल	२½"	१	"
नमक	२½ मन	५	"

जीतल १७५ ग्रेन के चाँदी के टंक का होता था और इसकी कीमत १½ फार्दिग या इससे भी कम होती थी। एक मन लगभग २९ पाउण्ड के समान होता था।

टॉमस—क्रानिकल्स पृ० १६१-६२।

के अध्यक्ष का नियन्त्रण मानना पड़ता था और उसके समक्ष राज्य के नियमों का पालन करने के लिए वचनबद्ध होना पड़ता था। दोआब तथा १०० कोस तक के बीच के प्रदेश में भूमि-कर की ऐसी व्यवस्था की गई कि प्रजा के पास अपने लिए १० मन अनाज भी न बचने लगा और लोगों को इतना पीस दिया गया कि वह खेतों में ही व्यापारियो के हाथ अनाज बेच देने लगे। दोआब के पदाधिकारियों को लिखित वचन देना पड़ता था कि वह किसी को अनाज जमा न करने देंगे। किसानो को उपज वहीं बेच देनी पड़ती थी जहाँ वह उत्पन्न की गई हो और राजकर्मचारियों को आदेश था कि वह यथा-संभव कठोरता से राज-कर वसूल करें। भूमि-प्रबध के विषय में बर्नी ने लिखा है कि अकाल के समय भी अनाज की कमी का अनुभव न होता था। एक या दो बार दुर्भिक्ष के समय जब 'शहना-ए-मंडी' ने सुलतान से प्रार्थना की कि अनाज का भाव १ या ½ जीतल बढ़ा दिया जाये तो उसको २१ बेंतों की सजा दी गई। जब कभी वर्षा पर्याप्त न होती तो प्रत्येक मुहल्ले के बक्कालों (अनाज बेचनेवालों) को लोगों के निर्वाह के लिए पर्याप्त अन्न की मात्रा बाजार से दे दी जाती थी और किसी ग्राहक के हाथ आधे मन से अधिक अनाज न बेचा जाता था। इसी प्रकार 'सम्भ्रान्त और सम्माननीय लोगों को', जिनके पास गाँव अथवा भूमि न होती थी, बाजार से अनाज पहुँचाया जाता था। यदि ऐसे अवसरों पर कोई निर्धन अथवा निर्बल आदमी आने-जाने वालों का ठीक नियन्त्रण न होने के कारण भीड़ में कुचल जाता था तो बाजार के अध्यक्ष को दण्ड दिया जाता था।[27] वस्त्र, शक्कर (साधारण तथा परिष्कृत दोनों प्रकार की), घी और तेल जैसी वस्तुओं के मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित किये जाते थे। यह कार्य निम्न उपायों का आश्रय लेकर सम्पन्न किया जाता था:—

(१) भाव निश्चित करना (२) 'दीवान-ए-रियासत' में सारे व्यापारियों को रजिस्टर कराना (३) धनी एवं प्रसिद्ध मुलतानी व्यापारियों को पेशगी धन देना (४) 'सरायें अद्ल' की स्थापना तथा (५) अमीरों व सरदारों को बहुमूल्य वस्तुओं को क्रय करने के लिए 'स्वीकृति-पत्र' देना। सभी व्यापारियों को, चाहे वह हिंदू हों या मुसलमान, अपना नाम रजिस्टर कराना पड़ता था और 'सराय अद्ल' में (बदाऊँ द्वार के बाहर का खुला मैदान), जहाँ सब वस्तुएँ विक्रय के लिए रखी जाती थीं, अपना माल लाने के लिए वचनबद्ध

---

२७. बर्नी—मूल पृ० ३०९। कुछ स्थानो पर इलियट का अनुवाद अशुद्ध है।

होना पड़ता था। धनी एवं सम्मान्य मुलतानी व्यापारियों को विपुल परिमाण में माल खरीदने के लिए राज-कोष से पेशगी के रूप में धन दिया जाता था। दीवान उन अमीरों और सरदारों को 'स्वीकृति-पत्र' देता था जिन्हें बहुमूल्य वस्तुएँ खरीदनी होती थीं। यह उपाय इसलिए ग्रहण किया गया जिससे व्यापारी बाजार में सस्ते भाव पर वस्तुएँ या कर देहात में महँगे भाव पर न बेच पायें।

बाजार का नियन्त्रण 'दीवान-ए-रियासत' के अध्यक्ष तथा 'शहना-ए-मंडी' इन दो पदाधिकारियों के हाथ में रखा गया। यह पदाधिकारी कठोर नियमितता तथा सत्यता के साथ अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते थे। बाजार का निरीक्षक याकूब जहाँ कहीं भी बाजार के नियमों को भंग किये जाते देखता, अपना चाबुक चला देता। पशुओं की मंडियों पर भी नियन्त्रण किया गया और पशुओं के मूल्य भी काफी घट गये। उच्च श्रेणी के घोड़े १०० से १२० टंकों तक, मध्यम श्रेणी के ८० से ९० टंकों तक तथा निम्न श्रेणी के ६५ से ७० टंकों तक में मिल जाते थे और छोटे टट्टू १० से २५ टंकों तक में क्रय किये जा सकते थे। दूध देनेवाली गाय ३ से ४ टंको तक मे प्राप्त हो जाती थी और बकरी के दाम १० या १२ या १४ जीतल होते थे। दास एवं दासियों के मूल्यों में भी पर्याप्त कमी हो गई थी। दासी का मूल्य ५ से १२ टंको तक और लौंडी का मूल्य २० से ४० टंकों तक निर्धारित किया गया था। ऐसे दास बहुत कम होते थे जिनको बेचकर १०० या २०० टंके प्राप्त हो सकें। यदि बाजार में १००० या २००० टंके मूल्यवाला कोई दास लाया जाता था तो सुलतान के भय से कोई भी उसको इतने अधिक मूल्य में क्रय करने के लिए तैयार न होता था। सुन्दर दास २० से ३० टंकों तक मे क्रय किये जा सकते थे। सुशिक्षित दास-सेवकों का मूल्य १० से १५ टंके तक और अशिक्षित घरेलू दासों का मूल्य ७ या ८ टंके होता था; सुलतान ने एक उपयोगी सुधार यह किया कि उसने बाजार में दलालों की धूर्तता का दमन कर दिया। यह लोग क्रेता एवं विक्रेता दोनों से घूस लेते थे और अपने अव्यवस्थित व्यवहार से बहुत परेशानियाँ पैदा कर देते थे। इनके मुखियों को जो 'बेईमान, मक्कार, नियम-रहित और जुए के आदी' थे, बाजार से निकाल दिया गया और दण्डित किया गया। भाव-नियन्त्रण की उपेक्षा करनेवाले को कठोरतम दण्ड दिया जाता था। सुलतान अपने दासों मे बाजार से रोटी, कबाब, रेवड़ी, हलवा, यख़नी, खरबूजे, कद्दू-जैसी वस्तुएँ मँगाता था और तब उनकी लाई हुई वस्तुओं को तोला जाता था। यदि यह तोल में कम निकलती तो दूकानदार

के शरीर से मांस काटकर इनकी तोल पूरी की जाती थी।[28] बेईमानी करने पर दूकानदार को लात मारकर दूकान से बाहर फेंक दिया जाता था। इस कठोर व्यवहार का परिणाम यह हुआ कि बाजार के लोगों ने धोखेबाजी बिलकुल छोड़ दी और वह निश्चित मात्रा से भी अधिक मात्रा में वस्तुएँ देने लगे। बाजार के नियम बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुए। बर्नी ने इनकी सफलता के ४ कारण बताये हैं; (१) बाजार के नियमों का कठोरता से पालन करवाना (२) राज-करों की वसूली में कठोरता (३) जनता में सिक्कों की कमी तथा (४) कर्मचारियों की निष्पक्षता तथा अपने कार्य में उत्साह; सुलतान के भय से ये लोग अपने कर्तव्यों का पालन सत्यता से करते थे।

सुधारों के परिणाम—यह सुधार खूब सफल रहे। सेना की बढ़ी हुई शक्ति और निपुणता से मंगोलों के आक्रमणों से साम्राज्य की सुरक्षा असंदिग्ध हो गई और विद्रोही राजा एवं सरदार वशीभूत हो गये। गुप्त मंत्रणाओं का समूल विनाश हो गया और लोगों की आदतें ऐसी सुधर गईं कि अपराधों की संख्या में बहुत कमी हो गई। दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के अल्प मूल्य में सुलभ हो जाने से जन-जीवन अधिक सुखी बन गया और जनता सुलतान की निरंकुशता का अधिकाधिक समर्थन करने लगी। यद्यपि युद्धों में राज-कोष से अत्यधिक धन व्यय हो गया था, तथापि अलाउद्दीन ने अनेक जनहितकारी निर्माण किये। विद्वानों एवं धार्मिक पुरुषों को भी सुलतान ने उदार प्रश्रय प्रदान किया। राजकवि अमीर खुसरो ने उसके शासन को जगमगा दिया था और शेख निजामुद्दीन औलिया तथा शेख रुक्नुद्दीन ने भी उसके यश-विस्तार के लिए कम प्रयत्न न किया था; परंतु इन सुधारों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण फल यह हुआ कि केन्द्रीय शासन सुदृढ़ हो गया। सामंतों की उपद्रव उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्तियों को बलपूर्वक कुचल दिया गया था और सभी विशेषाधिकारों पर दृढ़ नियन्त्रण स्थापित किया गया था। सुदूरवर्ती प्रांतों के प्रतिनिधि-शासक अपने अधिपति की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करने लगे थे। पदाधिकारियों को थोड़ी भी ढील न दी गई और सुलतान की आज्ञा का विरोध करनेवालों के लिए कठोरतम दण्ड-विधान बनाया गया।

शासन-प्रणाली की निर्बलता—अलाउद्दीन द्वारा प्रवर्तित शासन-प्रणाली सुदृढ़ आधार पर अवस्थित नहीं थी। जनता पर उसने जो अनिच्छित जीवन-

---

२८. बर्नी पृ० ३०९
जनरल ऑव एशि० सोसा० ऑव बंगाल, पृ० ३९।

प्रणाली लाद डाली, उससे असंतोष की भावना बहुत गहराई में पहुँच गई। स्वतंत्रता से वंचित हिन्दू राजा अपनी क्षति पर गम्भीर विचार कर रहे थे और पुनः स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए शत्रु पर आहत करने के सुअवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। वैभव-सम्पन्न जीवन-प्रणाली के अभ्यस्त अमीर और सरदार उन नीरस विधि-विधानों से ऊब गये थे, जिनका उन्हें अनिच्छा से पालन करना पड़ रहा था। व्यापारी-वर्ग बाजार के कठोर नियन्त्रण से त्रस्त हो चुका था और हिन्दू लोग अपमानपूर्ण अत्याचारों से दबकर कराह रहे थे। 'नव-मुसलमान' सदैव सुलतान के विरुद्ध गुप्त मन्त्रणाएँ करते रहते थे। अत्यधिक केंद्रीकरण, दमन तथा गुप्तचरों की नियुक्ति ने शासकीय अधिकार की जड़ें खोखली कर दी थी। जैसे-जैसे सुलतान की अवस्था बढ़ती गई वह चिड़चिड़ा तथा झक्की बनता गया और झक्की स्वभाव के कारण वह प्रमुख सरदारों की सहानुभूति खो बैठा। पदाधिकारियों को पूर्णतः अपने नियन्त्रण में रखने के विचार से उसने नीच कुलोत्पन्न लोगों को सम्मानित कर उच्च पदो पर प्रतिष्ठित किया। इस काल में सुलतान के व्यक्तित्व पर ही साम्राज्य का स्थायित्व निर्भर करता था और अलाउद्दीन ने तत्कालीन राजनीति के इस महत्त्वपूर्ण रहस्य पर ध्यान न देने की भारी भूल की। उसने अपने पुत्रों की शिक्षा पर कुछ भी ध्यान न दिया और काफूर के प्रभाव में आकर वह उनके प्रति कठोर व्यवहार करता रहा। इसके अतिरिक्त काफूर चुपके-चुपके राजपरिवार में झगड़े खड़े करने के प्रयत्न में लगा रहता था, जिससे सिंहासन पर स्वयं अपना अधिकार स्थापित करने के लिए उसको अवसर मिल सके। उसने सुलतान के कानों में यह मनगढ़न्त बात डाल दी कि उसकी स्त्री तथा ज्येष्ठ पुत्र अलप खाँ के साथ मिलकर उसके प्राण-हरण करने का कुचक्र रच रहे थे। दुर्भाग्य से इसी अवसर पर अलाउद्दीन की बेगम ने अपने द्वितीय पुत्र शादी खाँ का विवाह अलप खाँ की पुत्री से करने का प्रस्ताव किया। इससे सुलतान का सन्देह पक्का हो गया और उसने इस संभावित कुचक्र को समाप्त करने के लिए अपनी सदैव की नीति के अनुसार व्यवहार करना प्रारंभ किया। खिज्र खाँ को अमरोहा भेज दिया गया परन्तु जब अपने पिता की अस्वस्थता का समाचार पाकर वह दिल्ली लौट आया तो उसके शत्रुओं ने इसको राजाज्ञा की अवहेलना बतलाया। काफूर ने सुलतान से उसके विरुद्ध रचे गये इस षड्यन्त्र का दमन करने को कहा और सुलतान ने काफूर का कहना मान लिया। खिज्र खाँ तथा शादी खाँ को ग्वालियर के दुर्ग में भेज दिया गया, उनकी माता को पुरानी दिल्ली में बन्दी बनाकर रखा गया और अलप खाँ का वध कर दिया गया। अब काफूर

अलाउद्दीन का साम्राज्य
काबुल
पंजाब
कांगड़ा
लाहौर
दिपालपुर
मुल्तान
उच्छ
दिल्ली
बरन
बदायूँ
अवध
मेवात
जैसलमेर
अजमेर
रणथम्भौर
सिन्ध
ठट्टा
चित्तौड़
चन्देरी
मालवा
प्रयाग
अन्हलवाड़
खम्बात
धार
उज्जैन
भिलसा
नर्मदा
भरोच
सूरत
ताप्ती
एलिचपुर
देवगिरी
वारंगल
तेलंगाना
कृष्णा
द्वारसमुद्र
अ र ब
सा ग र

ने सुलतान को अपने पुत्र शिहाबुद्दीन को सिंहासन का उत्तराधिकारी मनोनीत करने के लिए प्रेरित किया। ऐसी परिस्थितियों में राजाज्ञा का निरादर होने लगा और साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों में उपद्रव होने लगे। गुजरात में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और इसके दमन के लिए भेजे गये कमालुद्दीन गर्ग का वध कर दिया गया। चित्तौड़ के राजपूतों ने दिल्ली की अधीनता ठुकरा दी और वहाँ से मुसलमान सेना को निकाल भगाया। राजा रामचन्द्र के दामाद ने देवगिरि में विद्रोह का झंडा उठाया और अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इन विद्रोहों के समाचारों ने सुलतान के दुःखों को और भी बढ़ा दिया। मुसलमान इतिहासकार के शब्दों में, "हमेशा की तरह ऐश्वर्य अस्थायी सिद्ध हुआ और विधाता ने उसके विनाश के लिए शस्त्र खींच लिया।" अपने जीवन भर के कार्य को अपनी आँखों के सामने समाप्त होते देखकर यह शक्तिशाली शासक 'क्रोध में अपना ही मांस नोचने लगा।' काफूर की कुमन्त्रणाओं में आकर वह अपने विश्वासी सरदारों एवं कर्मचारियों को एक एक कर दूर कर चुका था। घातक रोग से पीड़ित सुलतान अपनी सत्ता के तिरस्कार के समाचारों को पाकर द्रुत गति से मृत्यु की ओर बढ़ने लगा और २ जनवरी १३१६ ई० को उसने सदा के लिए आँखें मूंद ली। उसको जाम-ए-मस्जिद के सामने कब्रवासी कर दिया गया।

अलाउद्दीन के कार्यों का मूल्यांकन—अलाउद्दीन के शासन को मुसलमान-शासन की निरंकुशता का चरम युग कहा जाता है। वह स्वभाव से निर्दयी एवं दुराग्रही था। उसने अपनी नीति में बाधक धर्म-सम्मत तथा परम्परागत विधि-विधानों का तिरस्कार कर दिया था। उसकी भ्रातृ-भाव अथवा रक्त-संबंध की कुछ भी चिंता न रहती थी और दण्ड देने में वह कोई भेद-भाव न रखता था। दृढ़ निश्चय, लोगों पर प्रभाव जमाने की क्षमता तथा शासन-तन्त्र को सुव्यवस्थित बनाने के कठोर संकल्प के कारण वह अपने समय की समस्याओं का समाधान करने में सफल हुआ। जो भी साधन उसको उपलब्ध हो सके उनको लेकर वह अपने लक्ष्य की ओर दृढ़तापूर्वक बढ़ता गया। उसकी द्विमुखी राजनीति में नैतिकता एवं धार्मिक आदेशों के लिए कोई स्थान न था। प्रत्येक विजय के साथ उसकी अधिकार-तृष्णा बढ़ती ही गई और वह इतना शक्तिशाली बन गया कि अल्पकाल में ही उसने उपद्रवी सामंतों का बलपूर्वक दमन कर दिया। उसमें जन्मजात सेनानायक तथा शासक के गुण विद्यमान थे—इन गुणों का ऐसा संयोग मध्यकालीन इतिहास में दुर्लभ ही है। उसने उन संकटों को भली भाँति समझ लिया था जो उस समय समाज को पीड़ित कर रहे थे और चारों

ओर बिखरी शक्ति को एकत्र कर उसने जन-हित के लिए प्रयास किया, यद्यपि ऐसा करने में उसका उद्देश्य अपने प्रधान लक्ष्य सैनिक गौरव एवं महत्त्व प्राप्ति को बल देना ही था, उसको अपने सैनिकों का निश्छल विश्वास प्राप्त था और इस्लाम के प्रसार में उसके उत्कट उत्साह से प्रभावित होकर उसके अनुयायी उसके झंडे के नीचे रहते हुए 'विधर्मियों' से लड़ने के अमिट उत्साह से ओतप्रोत हो जाते थे। सार्वजनिक शासक की व्यवस्था में उसने बहुत सूझ-बूझ और मौलिकता का प्रदर्शन किया और अपनी अपार सामर्थ्य के कारण वह अति पदाधिकारियों के आचरण पर स्वयं अपनी आँख रखने में सफल हुआ। परन्तु उसके द्वारा स्थापित व्यवस्था में स्थायित्व प्रदान करनेवाले तत्त्वों का अभाव था, वह जनता की प्रारंभिक आवश्यकताओं की पूर्ति से आगे न बढ़ा, किन्तु यह उसका दोष न था, वह संकुचित प्रवृत्तियाँ जो उस काल के स्वभावानुरूप उसमें भी आ गई थीं, उसकी प्रगति में बाधक बन गईं। परन्तु बाजार का नियन्त्रण कर उसने जनता के अभावों एवं दुःखों को कम करने के लिए बहुत कुछ किया और नैपोलियन के समान अल्प मूल्य में सुलभ रोटी में उसकी राजनीति का सर्वोच्च नियामक सूत्र मिल गया। वह प्रथम मुसलमान शासक था जो धर्म-विहित शासन-पद्धति के समर्थकों की कट्टरता की अवहेलना करने का साहस कर सका और हैवेल महोदय ने ठीक विवेचन किया है कि यद्यपि उसके व्यक्तित्व में निरंकुश तुर्क-शासकों की सी अदम्य बर्बरता छाई हुई थी, परन्तु उसकी नीति एवं व्यवहार में कुछ सीमा तक विकास की उस प्रक्रिया का भी आभास मिलता है जिसके द्वारा भारतीय मुसलमान भारत को अपनी आध्यात्मिक-भूमि मानने लगे तथा जिससे भारत में इस्लाम एक महान् विश्व-धर्म की ज्योतिर्मय अभिव्यक्ति का रूप धारण कर सका।

अध्याय ९

खिलजी साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया तथा तुगलकवंश के शासन की स्थापना[1]

अलाउद्दीन के शक्ति-हीन उत्तराधिकारी—अलाउद्दीन की मृत्यु गृह-युद्ध एवं प्रतिद्वंद्वी-पक्षों के संघर्ष का संकेत थी। काफूर ने एक एक कर सभी राजकुमारों को अपने मार्ग से हटा दिया और तब भूतपूर्व सुलतान का एक जाली उत्तराधिकार-पत्र उपस्थित किया जिसमें उमर खाँ को सिंहासन का उत्तराधिकारी मनोनीत किया गया था। युवराज उमर खाँ अभी केवल ६ वर्ष का अबोध बालक था, अतः काफूर उसका संरक्षक बन बैठा और राज-कार्य चलाने लगा। काफूर के समक्ष सर्वप्रथम समस्या अलाउद्दीन की जीवित संतति को समाप्त करने की थी। उसने दुर्जनोचित मलिक सम्बूल को (किरान-उस-सदाइन) ग्वालियर में नियुक्त कर अमीर खुसरो के काव्य 'देवलदेवी और खिज्र खाँ' के विख्यात नायक राजकुमार खिज्र खाँ की आँखें निकाल लेने का कार्य सौंपा और इस नृशंस कार्य के पुरस्कारस्वरूप इस मलिक को उच्च पद प्रदान किया। राजकुमार शादी खाँ के साथ भी यही व्यवहार किया गया; उसकी आँखें "एक उस्तरे से खरबूजे की फाँकों की तरह काटकर अक्षि-गोलकों से निकाली गईं" और इन राजकुमारों की माता मलिका जहान को उसके आभूषण एवं सम्पत्ति छीनकर कारागार में डाल दिया गया। मुबारक खाँ, जो बाद में शासक बना, इस नृशंस व्यवहार से बच निकला। उसको जीवित तो रहने दिया गया, परन्तु उस पर कठोर नियन्त्रण रखा जाने लगा। अलाउद्दीन के समर्थक तथा वे अनुभवी तथा सम्भ्रान्त पदाधिकारी जिन्होंने अनन्य भक्ति-भाव से भूतपूर्व सुलतान की सेवा की थी, एक एक कर पदच्युत किये गये और इनकी पदपूर्ति उन नीच-कुलोत्पन्न लोगों से की गई जो पद-वृद्धि के लिए पूर्णतया काफूर की कृपा पर आश्रित थे। इस नीति से पुरानी पीढ़ी के लोग विक्षुब्ध हो उठे और अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित होने लगे। काफूर को समाप्त करने का षड्यन्त्र रचा गया और अंगरक्षक-पदाति सैनिकों के नायक मलिक मुशीर की सहायता से अलाउद्दीन के दासों ने काफूर

---

१. खिलजी वंश के पतन तथा तुगलकों के उत्थान का विस्तृत वर्णन मेरी पुस्तक 'कराना टर्क्स' में है।

का उसके सहयोगियों सहित वध कर दिया। काफूर के वध के उपरान्त कुतुबुद्दीन मुबारक शाह को १३१६ ई० में सिंहासनारूढ़ कराया गया।

कुतुबुद्दीन मुबारकशाह—शासन के कुछ प्रारम्भिक वर्षों तक मुबारक शाह प्रशंसनीय तत्परता एवं निपुणता से शासन करता रहा। उसने राजनीतिक-बंदियों को मुक्त कर दिया, छीनी हुई भूमि लौटा दी और व्यापार पर भारस्वरूप राज-करों को बद कर दिया। इन परिवर्तनों के परिणाम का वर्णन करते हुए बर्नी ने लिखा है कि अब लोगों को ऐसे आदेश सुनने का भय न रह गया कि "ऐसा करो, लेकिन वैसा मत करो; ऐसा कहो, परन्तु वैसा मत कहो; इसको छिपाओ, परन्तु उसको मत छिपाओ; यह खाओ, परन्तु वह मत खाओ; इस प्रकार बेचो, परन्तु उस प्रकार मत बेचो; इस प्रकार कार्य करो, परन्तु उस प्रकार कार्य मत करो।" जन-जीवन आनन्दपूर्ण बन गया; परन्तु पुराने नियमों एवं विधि-निषेधों में शिथिलता आ जाने से लोगों के मन में शासक का पहले जैसा भय न रह गया। मुबारकशाह भी अपनी स्थिति को सुरक्षित समझकर भोग-विलासों में लिप्त हो गया और राज-कार्यों की ओर ध्यान देने के लिए भी उसको आनन्दोत्सवों से अवकाश न मिलता था। परन्तु उसके शासन-काल में कोई भयंकर विद्रोह अथवा उपद्रव न हुआ। केवल १३१८ ई० में देवगिरि के राजा हरपालदेव का विद्रोह उग्र रूप धारण कर गया था, परन्तु इसका शीघ्र दमन कर दिया गया और विद्रोही राजा की जीवित अवस्था में ही खाल उधेड़ दी गई।[2] सुलतान के विश्वास-पात्र एवं प्रेम-पात्र खुसरो[3] ने, जो गुजरात की एक नीच जाति का व्यक्ति था, तेलंगाना पर अत्यधिक सफलतापूर्ण अभियान किया। खुसरो ने वारंगल से थोड़ी दूर पर डेरा डाला; तब वह एक ऊँचे टीले पर दुर्ग की स्थिति तथा इसके प्रतिरोधक स्थानों को देखने के लिए चढ़ गया। तत्कालीन लेखक

---

२. अमीर खुसरो ने लिखा है कि राजा रामदेव के मंत्री रघु के अतिरिक्त देश के अन्य सभी राय सुलतान के अधीन हो गये थे।

यह पहाड़ियों में भाग गया और वहाँ इसने १०,००० हिंदुओं की सेना एकत्र की। परन्तु वह युद्ध में बुरी तरह घायल हुआ और हिंदू तितर-बितर होकर भाग उठे। अमीर खुसरो 'नूह सिपिह्र' इलियट ३, पृ० ५५८-५९।

३. खुसरो गुजरात का एक जाति-बहिष्कृत व्यक्ति था।

बर्नी ने उसको 'बरवार बच्चा' लिखा है। कुछ प्रतियों में इसका रूप 'परवारी' है, जो गुजरात की एक नीच जाति है। बर्नी के 'तारीख-ए-फीरोजशाही' की खुदावख्श-प्रति में 'वराओं' लिखा है, यह शब्द भंगियों के लिए प्रयुक्त होता है। अमीर खुसरो के 'तुगलक-नामा' में 'फराहू' लिखा है। यह स्पष्ट है कि वह धर्म-परिवर्तन द्वारा मुसलमान बना था और छोटी जाति का आदमी था।

अमीर खुसरो लिखता है कि हिंदू अश्वारोहियों की संख्या १०,००० थी और पदाति-सैनिकों की तो कोई गिनती ही न थी, जब कि मुसलमान सेना में केवल ३०० या इससे भी कम अश्वारोही थे, परन्तु इतनी अल्प संख्या में होते हुए भी मुसलमानों ने हिंदुओं को बुरी तरह परास्त किया और यथेच्छ लूटमार कर प्रचुर मात्रा में रत्न एवं स्वर्ण प्राप्त किया। उन्होंने दुर्ग के द्वार तक शत्रु का पीछा किया और हिन्दुओं की वाटिकाएँ एवं उद्यान भस्म कर दिये। दूसरे दिन प्रातःकाल खुसरो की सेना ने दुर्ग की बाहरी दीवारों पर आक्रमण कर उनको तोड डाला और अनेकानेक हिंदुओं का वध किया जिनमें तेलंगाना के राय का प्रधान सेनापति अंतिल महत भी था। बाह्य प्राचीर पर अधिकार कर लेने के उपरान्त मुसलमानों ने दुर्ग के आंतरिक भाग पर घेरा डाला। उत्कट उत्साहसम्पन्न आरिज ख्वाजा हाजी ने सैनिकों को यथास्थान नियुक्त कर दुर्ग के नीचे १५० गज लंबी सुरंग बनवाई। इन बडी बड़ी तैयारियों को देखकर राय को अधीनता स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त सुरक्षा का अन्य कोई मार्ग न दिखाई दिया। खुसरो ने उससे स्पष्ट शब्दों में कहा कि वह मृत्यु एवं अधीनता इन दोनों विकल्पों में से एक चुन ले, क्योंकि यदि वह उसकी शर्तों को पूर्णतया स्वीकार न करेगा तो अवश्य ही प्राणों से हाथ धोयेगा।[४] विपरीत भाग्य द्वारा इस हताश अवस्था में पड़े हुए राय ने आत्म-समर्पण कर दिया और अपने राज्य के ५ जिले खुसरो को सौंप दिये तथा वार्षिक भेंट के रूप में "एक सौ से भी अधिक बलिष्ठ एवं दैत्याकार हाथी, १२,००० घोड़े और संख्यातीत मात्रा में स्वर्ण, आभूषण तथा रत्न" देने का वचन दिया।

गुजरात और दक्षिण पर अधिकार कर लेने तथा षड्यन्त्रों के भय से मुक्त हो जाने पर मुबारक विलासिता में आकण्ठ डूब गया। सफलता ने उसको चिड़चिड़ा, घमण्डी, दूसरों का तिरस्कार करनेवाला तथा अत्याचारी बना दिया और वह क्षुद्रतम अपराधों के लिए भी घोर दण्ड देने लगा। राज-कार्यों में उसको परामर्श देने का किसी को साहस न होता था और सब कार्य उसकी स्वेच्छानुसार किये जाने लगे। उसकी राजसभा कुत्सित विलास-क्रीड़ाओं की रंगभूमि बन गई। उसने शिष्टाचार एवं शालीनता को तिलांजलि दे दी और अत्यन्त गर्हित दुराचारों में लिप्त हो गया। मनुष्य को चारित्रिक-पतन की चरम सीमा पर पहुँचा देनेवाले घृणित आचरण उसके दैनिक जीवन में प्रमुख स्थान पाने लगे। बहुधा वह स्त्रियों की सी वेश-भूषा धारण कर तथा शरीर को चमक-दमकवाले गहनों से सजाकर वेश्याओं के साथ

---

४. अमीर खुसरो—'नूह सिपिह्र' इलियट ३, पृ० ५६०

नगर में निकल पड़ता और सरदारों के घरों में नाचता फिरता। घरेलू जीवन में वह नैतिकता का उपहास करता था तथा बड़े भोलेपन से अपने अक्षम्य दुश्चारित्र्य का घमण्ड दिखाता था। वास्तव में वह उस पाप-भावना का प्रतीक बन गया था जिसका उसके समकालीन पदाधिकारियों एवं सामन्तों ने विरोध किया था किन्तु उनके विरोध का कोई परिणाम नहीं निकला था। नर्तकियों की माँग बढ़ चली और 'किसी लड़के अथवा सुन्दर जनखे अथवा सुन्दर लड़की का मूल्य ५०० से १००० और २००० टंकों तक चढ़ गया।' राजसभा के सरदारों के सम्मुख वेश्याओं के बीच मदिरोन्मत्त होकर पड़े रहना इस दुश्चरित्र सुलतान के मनोविनोद का साधारण ढंग था। इन वेश्याओं को राजसभा के प्रतिष्ठित सरदारों के प्रति अश्लील भाषा का प्रयोग करने का अवसर देकर इस मूर्ख सुलतान ने शिष्टाचार को सर्वथा भुला दिया था। इस दुश्चारित्र्य का परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य में सर्वत्र राजाज्ञा की अवहेलना होने लगी। सुलतान के परम विश्वास-पात्र खुसरो ने राजसभा में बहुत प्रभाव जमा लिया था। अपनी मित्र-मण्डली के साथ वह सदैव सुलतान को मौत के मुँह में पहुँचाने की मन्त्रणा करता रहता था। पदाधिकारियों की ईर्षा से बचने के लिए उसने तरह-तरह के बहाने बनाकर सुलतान के चारों ओर अपने सजातीय लोगों को नियुक्त करवा दिया था। सुलतान को खुसरो के कुचक्र से सावधान किया गया, परन्तु उसने अपने वृद्ध शिक्षक काजी जियाउद्दीन[५] के उपदेशों तथा ताड़नाओं पर कुछ भी ध्यान न दिया। पूर्वनिश्चित रात्रि में षड्यन्त्री महल में घुस गये, सुलतान अपने भवन में था। प्राणों पर संकट आया जानकर सुलतान स्त्रियों के भवन की ओर भागा, परन्तु पकड़ लिया गया। उसने पुनः भाग निकलने का व्यर्थ प्रयत्न किया। एक आततामी ने अपना छुरा उसकी छाती में घुसेड़ दिया और तब उसका सिर काट डाला। मध्य-रात्रि में ही दरबार लगाया गया और छलछद्मों से कुछ सरदारों को महल में बुला लिया गया जिससे उनको भी इस नृशंस अपराध में "सहयोगी बना लिया जाये।" फीरोज खिलजी का मकान भूमिसात् कर दिया गया और अमीरों एवं सरदारों से बलात् स्वीकृति लेकर, खुसरो 'नासिरुद्दीन' की उपाधि धारण कर १३२० ई० में सिंहासन पर आसीन हो गया।

खुसरो का शासन—खुसरो के शासन को मुसलमान इतिहासकारों ने दिल दहलानेवाले आतंक का शासन कहा है। शाही 'हरम' और अमीरों

---

५. काजी जियाउद्दीन 'वकील-ए-दर' (राजमहल के द्वार की कुंजियों का अधिकारी) के पद पर था। यह पद बहुत महत्त्वपूर्ण था और अत्यन्त विश्वसनीय व्यक्ति को ही दिया जाता था।

तथा सरदारों की स्त्रियों को उसके सजातीयों एवं अनुयायियों ने परस्पर बाँट लिया। शाही कोष पर भी खूब हाथ साफ किया गया और जनता की स्वीकृति के हेतु लोगों को मूल्यवान् भेंटें दी गईं। खुसरो हिंदू-प्रभुत्व की स्थापना करना चाहता था, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने सजातीयों को उच्च पद प्रदान किये। इस्लाम के प्रति घृणापूर्ण व्यवहार किया गया; मस्जिदों में मूर्तियों की स्थापना की गई और कुरान को इन मूर्तियों का आसन बनाया गया; इससे दीनपरस्तों की व्याकुलता की सीमा न रही। बर्नी का यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ता है। राजसभा के सरदार पारस्परिक मतभेदों एवं मनमुटावों के कारण इस चिंताजनक स्थिति को समाप्त करने में सर्वथा असमर्थ थे। दिल्ली-साम्राज्य का प्रभाव-सूर्य अस्ताचलगामी हो गया था और यदि इस समय कोई हिंदू शासक अपने साथी राजाओं का संघ बनाकर दिल्ली पर चढ़ आता तो इस पर अधिकार करने में उसको कोई कठिनाई न होती और मुसलमानों की शक्ति सरलता से समाप्तप्राय हो गई होती। परन्तु राजपूत राज्य अपनी ही समस्याओं में उलझे हुए थे और दिल्ली में होनेवाले राजनीतिक उतारचढ़ावों की ओर से वह बिलकुल उदासीन रहने लगे थे।

खुसरो का पतन—सबकी घृणा एवं तिरस्कार के पात्र अनुगामियों की सहायता से स्थायी हिंदू राज्य की स्थापना कर लेना खुसरो के लिए असंभव था। साथ ही उसके द्वारा राज्याधिकार के अपहरण से अलाई सरदार क्रोध से भर गये थे। इन्हीं असंतुष्ट सरदारों में फखरुद्दीन जूना भी था, जिसको अपनी ओर खींच लेने के विचार से खुसरो ने अश्व-बलाध्यक्ष के पद पर नियुक्त कर दिया था। परन्तु यह सरदार मन ही मन अलाउद्दीन के परिवार के प्रति इन 'विधर्मियों' के दुर्व्यवहार पर जलता रहा और खुसरो को अधिकार-च्युत करने के उपाय ढूँढता रहा। उसने दिल्ली की सारी घटनाओं का विवरण दीपालपुर में सेनाध्यक्ष, अपने पिता गाजी मलिक के पास भेज दिया। खुसरो के अत्याचारों एवं दुराचारों का हाल सुनकर यह सम्भ्रांत योद्धा क्रोध से दाँत पीसने लगा। उसने इस्लाम के शत्रुओं से प्रतिशोध लेने की शपथ ली और पर्याप्त सेना लेकर दिल्ली की ओर प्रयाण कर दिया। साम्राज्य के सब सरदार गाजी मलिक के साथ हो गये; केवल मुल्तान का राज्यपाल ही तटस्थ रहा क्योंकि वह गाजी मलिक का अनुगामी न बनना चाहता था।

गाजी मलिक के ससैन्य आगमन का समाचार पाकर खुसरो भय-विह्वल हो उठा और अपनी सेनाओं को व्यवस्थित करने लगा। आलस्य एवं विलासिता के कारण दिल्ली की सेना का ऐसा नैतिक पतन हो चुका था कि

गाजी मलिक के बलिष्ठ सैनिकों के सम्मुख वह किसी गिनती में न थे। सैन्य-संचालन की अनुभव-हीनता तथा अनुशासन के अभाव के कारण खुसरो के पक्ष की पराजय प्रारम्भ से ही सुनिश्चित थी। सामना होने पर दोनों विपक्षी सेनाएँ एक दूसरे को पराभूत करने के लिए कूटनीतिक चालें चलने लगी। परन्तु खुसरो के निर्वीर्य सैनिक बुरी तरह रौंदे गये और तितर-बितर होकर भाग उठे। परवारियों के भाग्य का निश्चय हो चुका था और वह इतने भय-संत्रस्त हो गये कि "उनके शरीरों में नाम मात्र को भी जान बाकी न रही।"

लूट में पर्याप्त सामग्री प्राप्त कर विजयी सेनानायक[६] निर्णयात्मक आघात करने के लिए दिल्ली की ओर बढ़ा। निराशा से अभिभूत खुसरो सहायता के लिए चारों ओर ताकने लगा। "भाग्य से ठुकराये हुए अथवा जुए में हारे हुए" की तरह, उसने अपना समस्त कोष सैनिकों में बाँट दिया, जिससे शाही सेना में उसके प्रति द्रोह उत्पन्न न होने पावे। परन्तु इस उदारता से कोई लाभ न हुआ; सैनिक समझ चुके थे कि गाजी मलिक का पक्ष न्याय-सम्मत एवं नैतिकतापूर्ण है; अतः उन्होंने खुसरो के स्वर्ण को तो ग्रहण कर लिया, परन्तु उसके झंडे के नीचे रहकर युद्ध करने का निश्चय बिलकुल छोड़ दिया। सिंहासन का अपहरण करनेवाले खुसरो ने अपनी रक्षा के निमित्त एक बार फिर प्राणों की बाजी लगाकर प्रयत्न किया और सफलता से निराश दिल्ली की सेना ने घोर संग्राम किया। खुसरो रणभूमि से भाग चला; परन्तु पकड़ा गया और मार डाला गया। उसके समर्थकों को ढूंढ़ निकाला गया; इन पर देशद्रोह का अपराध लगाया गया और इनकी ऐसी दुरवस्था की गई जो उनके कृत्यों के सर्वथा अनुरूप थी। एकत्र सरदारों ने गाजी मलिक की अभ्यर्थना की और उसको राज-प्रासाद की कुंजियाँ सौंप दीं। इस वृद्ध नायक ने शासक का पद ग्रहण करने में संकोच प्रकट किया और पूछा कि क्या अलाउद्दीन के परिवार का कोई व्यक्ति जीवित है? सरदारों ने बतलाया कि ऐसा कोई व्यक्ति बचा नहीं है और शासनाधिकार के अनिश्चितता में पड़े रहने के कारण साम्राज्य में अव्यवस्था एवं उपद्रव फैलते जा रहे है। उन्होंने

---

६. वही बाद में गयासुद्दीन तुगलक के नाम से गद्दी पर बैठा।

७. इब्नबतूता ने इसकी मृत्यु का वर्णन भिन्न प्रकार से किया है, जो जन-श्रुति के आधार पर किया गया जान पड़ता है। उसने लिखा है कि खुसरो मलिक शादी के बाग में छिपा रहा, परन्तु भूख से व्याकुल होकर जब वह बाहर निकला, तो पकड़ा गया और गाजी मलिक के सामने लाया गया, जिसने उसका सिर काट देने का आदेश दे दिया।

इब्नबतूता—पेरिस संस्क० ३, पृ० २०७।

एक स्वर से उससे राज-चिह्न धारण करने का आग्रह किया और उसको सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया। कट्टर-पंथी मुसलमान इतिहासकार बर्नी ने बड़े हर्ष के साथ लिखा है कि "इस्लाम का कायाकल्प हो गया और इसमें नये जीवन का संचार हुआ। विधर्म की पुकार रसातल में चली गई। मनुष्यों के मस्तिष्क संतुष्ट हो गये और हृदय तृप्त। अल्लाह का शुक्र है।"[८] एक साधारण व्यक्ति को शासक के पद के लिए चुनने की इस घटना में इस्लाम की जन-तांत्रिक भावनाओं को असंदिग्ध रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त हुई और योग्यतम के उद्वर्तन के सिद्धान्त की, जो तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी के भारत में मुसलमान-राज्य का नियामक एवं संचालक रहा, पुनः प्रतिष्ठा हुई।

गयासुद्दीन तुगलक—१३२०-२५ ई०—सैनिक-पड़ावों का अध्यक्ष गाजी मलिक गयासुद्दीन तुगलक के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका जन्म एक साधारण परिवार में हुआ था। उसका पिता करौना तुर्क था[९] और उसकी

---

८. बर्नी 'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० ४२३।

९. इब्नबतूता ने लिखा है कि उसने शेख रुक्नुद्दीन से सुना था कि सुलतान तुगलक करौना-तुर्क-वंश का था, जो सिंध और तुर्किस्तान के मध्यवर्ती पर्वतीय-प्रदेश में रहते थे। जीवन के प्रारम्भिक दिनों में वह बहुत निर्धन था और उसको विवश होकर एक सौदागर के यहाँ नौकरी करनी पड़ी थी। बाद में उसने सेना में प्रवेश किया और केवल अपने गुणों के बल पर उच्च पद प्राप्त कर लिया।

इब्नबतूता—पेरिस संस्क० ३, पृ० २०१; ली—'इब्नबतूता का अनुवाद'

करौना-वंश के विषय में मार्को पोलो ने लिखा है कि "पृ० १२५ यह नाम इनको इसलिए दिया जाता है क्योंकि वह भारतीय माताओं से तातार पिताओं की संतान हैं।"

कॉरडिअर 'ट्रेवल्स आव मार्कोपोलो' १, पृ० ९८।

मार्को पोलो का वर्णन भ्रमपूर्ण है। निश्चय ही उसने इनको मध्य-एशिया की कुछ लुटेरी जातियों के साथ भ्रमवश मिला दिया। फारस के मंगोलों के इतिहासों में करौना लोगों के 'तुमान' (दस सहस्र सैनिकों का दल) का बहुधा उल्लेख हुआ है। 'तारीख-ए-रशीदी' के लेखक मिरजा हैदर का कथन है कि मध्य-एशिया के मंगोल—मंगोल तथा चगताई—इन दो वर्गों में विभक्त थे। वह दोनों वर्ग परस्पर ईर्षा करते थे और एक दूसरे के प्रति घृणा व्यक्त करने के लिए अलग-अलग नामों का व्यवहार करते थे। चगताई लोग मंगोलों को 'जाटव' कहते थे और मंगोल चगताइयों को 'करावना' कहते थे।

'इलियास एण्ड रास'—पृ० १४८।

मिरजा हैदर की 'तारीख-ए-रशीदी' के प्रसिद्ध अनुवादक नाय एलियास महोदय ने करौना लोगों की उत्पत्ति के विषय में बहुत पूछताछ की। ज्ञात हुआ कि करौना लोग मध्य-एशिया के मंगोलों में से थे और फारस पर मंगोलों के प्रारम्भिक अभियानों में इन्होंने बहुत भाग लिया था।

माता पंजाब की जाटनी थी। अपने व्यक्तिकत गुणों के प्रभाव से उसने उच्च पद प्राप्त कर लिया था और अलाउद्दीन के शासन-काल में मंगोलों के विरुद्ध युद्धों में प्रमुख भाग लेकर अनेकों बार उन्हें भारत की सीमा से बाहर खदेड़ा था। जिस समय उसने शासन-भार सँभाला, दिल्ली-साम्राज्य अव्यवस्थित दशा में पड़ा था और अत्यधिक नीति-पटुता, बुद्धिमत्ता एवं दृढ़ता द्वारा ही गयास शासन-तंत्र को व्यवस्थित करने तथा शासक-पद की नैतिक प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने में सफल हो सका। अलाउद्दीन के संबंधियों के प्रति उसके उदारतापूर्ण व्यवहार में उसके हृदय की विशालता का परिचय मिलता है। उसने इन लोगों का यथोचित सम्मान किया और इनको राज्य में उच्च पदों पर नियुक्त किया। उसके शासन में किसी के न्यायपूर्ण अधिकार की उपेक्षा न की गई और न किसी की पूर्व सेवाओं को भुलाया गया। पद एवं जन्म से प्राप्त होनेवाले अधिकारों का आदर किया गया और अनेक उजड़े परिवारों को उनकी पूर्व-प्रतिष्ठा प्रदान की गई।

वारंगल पर अभियान—शासन-तन्त्र को व्यवस्थित कर लेने के थोड़े समय बाद गयासुद्दीन ने तेलंगाना के काकतीय राजाओं की राजधानी वारं-

---

इलियास एण्ड रास—'ए हिस्ट्री आव दि मोगल्स आव सेंट्रल एशिया' ('तारीख-ए-रशीदी' का अनुवाद), परिशिष्ट-बी० पृ० ७६-७७।

इब्नबतूता का कथन ठीक है। करौना लोग तुर्क थे।

भारत के मुसलमान इतिहासकारों ने करौना लोगों के विषय में कुछ नहीं लिखा है। शम्स-ए-सिराज अफीफ ने अपने ग्रंथ 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में लिखा है कि उसने अपने दूसरे ग्रंथ 'मनाकिब-ए-सुल्तान तुगलक में तुगलक तथा उसके भाइयों का पूरा विवरण दिया है। परन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है इस ग्रंथ की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है।

यह कलकत्ता संस्करण (उर्दू में) में अफीफ के शब्द है (पृ० ३६)

मुझे लगता है कि एडवर्ड टामस ने (दि क्रानिकल्स, पृ० १८६) 'कराउनियाह के रूप में इस शब्द को अशुद्ध लिखा है। इब्नबतूता के पेरिस में प्रकाशित अरबी पाठ में मुझे यह रूप नहीं मिला, उसमें इस शब्द का रूप 'कराउना' है।

फिरिश्ता ने लिखा है कि जब वह लाहौर गया और उसने सुलतान तुगलक के माता-पिता के विषय में पूछताछ की तो जानकार लोगों ने उसको बताया कि सुलतान का पिता तुर्क था और माता पंजाब की जाटनी। 'खुला-सत-उत्-तवारीख' के विवरण से भी फिरिश्ता के कथन का समर्थन होता है।

फिरिश्ता का कथन मान्य है क्योंकि हिन्दुओं के साथ ऐसे वैवाहिक संबंध सर्वथा अज्ञात न थे। तुगलक के भाई तथा फीरोजशाह के पिता रजब ने भट्टी राजपूत कन्या से विवाह किया था।

फिरिश्ता-लखनऊ संस्क०—पृ० १३०।

गल पर आक्रमण करने का आदेश दिया। मुवारक के शक्तिहीन शासन-काल में द्वितीय प्रताप रुद्रदेव ने अपनी शक्ति वढ़ा ली थी और दिल्ली को कर भेजना वंद कर दिया था। इसको दण्डित करने के लिए युवराज को एक विशाल सेना के साथ भेजा गया। उसने वारंगल के दुर्ग पर घेरा डाल दिया। हिंदुओं ने कड़ा प्रतिरोध किया। विपक्षी सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ और दोनों पक्षों के वहुत अधिक योद्धा खेत रहे। विजय के प्रति निराश होकर प्रताप रुद्रदेव ने संधि की प्रार्थना की परन्तु युवराज ने वड़े घमण्ड के साथ संधि की शर्तें ठुकरा दीं। इसी समय सुलतान की दिल्ली में मृत्यु का असत्य समाचार फैल गया और कुचक्रियों ने सैनिकों को युवराज का साथ छोड देने के लिए भड़काना प्रारम्भ कर दिया।[१०]

मलिक तमर, मलिक तगीन, मलिक माल अफगान और शाही मोहर रखनेवाले मलिक काफूर ने, यह सूचना दिये जाने पर कि युवराज उनका वध करना चाहता है, शाही सेना का साथ छोड़ दिया। अनेक सरदारों के साथ छोड़ देने से शाही सेना की शक्ति वहुत क्षीण हो गई और उसको दुर्ग का घेरा उठा लेना पड़ा। परन्तु यह विफलता सुलतान के हृदय में चुभती रही और १३२३ ई० में उसने पुनः युवराज को नई सेना के साथ वारंगल पर अधिकार करने के लिए भेजा। हिंदुओं ने प्राणों का मोह त्याग कर बड़े साहस के साथ भीषण युद्ध किया परन्तु विजय-लक्ष्मी को विपक्ष की ओर जाते देखकर काकतीय नरेश ने अपने परिवार, अनुचरों तथा प्रधान पदाधिकारियों सहित आत्मसमर्पण कर दिया। राजा को, मलिक वेदर तथा ख्वाजा हाजी के साथ दिल्ली भेज दिया गया और वारंगल का नाम वदलकर सुलतानपुर रखा गया तथा सारे प्रदेश को पूर्णतः अधीन किया गया। काकतीय-वंश का गौरव एवं प्रभाव तथा दक्षिण भारत में उसकी प्रमुखता का अंत हो गया।

गयासुद्दीन का शासन-प्रबंध—गयासुद्दीन का शासन न्याय एवं सहिष्णुता

---

१०. इस असत्य समाचार को फैलानेवाला प्रधान व्यक्ति कवि उवैद था, जिसको वदाऊँनी ने उवैद जाकानी लिखा है; जाकानी तत्कालीन फारसी कवि था, राजकुमार ने कुछ उपद्रवियों को कैद कर लिया था। मलिक माल अफगान तथा उवैद को दिल्ली भेज दिया गया, जहाँ वर्नी के मतानुसार, उनको शूली पर चढ़ाया गया और फिरिश्ता के अनुसार जीवित दफना दिया गया।

इलियट ३, पृ० २३३।

'तवकात-ए-अकवरी'—विब्लि० इण्डि० पृ० १९५-९६।

फिरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० १३१।

पर आधारित था, यद्यपि हिंदुओं को अब भी घृणित एवं निम्न श्रेणी का समझा जाता था। राजकरो के संबंध में राजाज्ञा थी कि "हिंदुओं के पास केवल इतना (धन) छोड़ा जाये, कि न तो वह एक ओर अपने धन के कारण उद्दण्ड बन पावें और न दूसरी ओर, निराश-हताश होकर अपनी भूमि एवं व्यवसाय को ही छोड़ दे।" उसने भूमि-प्रबंध की नये ढंग से व्यवस्था की और माल के अधिकारियो को वेतन के रूप मे भूमि देने की प्रथा को त्यागकर कर का कुछ भाग देने की प्रथा प्रारम्भ की। उसको यह दूसरी प्रणाली अधिक संतोषजनक प्रतीत हुई क्योकि वेतन के रूप में भूमि देने की प्रणाली से चौदहवी शताब्दी में बहुत परेशानियाँ और भ्रष्टाचार उत्पन्न हुए थे। अध्यक्षो एवं प्रधानों को करो द्वारा एकत्र धन-राशि का यथोचित भाग वेतन के रूप में स्वीकार किया गया और किसानो से करों के अतिरिक्त या उससे अधिक धन लेने का निषेध किया गया। प्रान्तीय शासकों को आदर्शपूर्ण व्यवहार रखने तथा सच्चाई से कार्य करने के लिए प्रेरित किया गया। कृषि-प्रणाली के दोषों का अंत किया गया और 'किसानो' तथा 'कर-वृद्धि को बढ़ावा देने वालो' की अनैतिक प्रवृत्तियों का दमन किया गया। सुलतान ने 'दीवान-ए-विजारत' को आदेश दिया कि भूमि-कर १/१० अथवा १/११ भाग से अधिक न बढ़ने पावे और कर में बढ़ोत्तरी भी प्रति वर्ष क्रमपूर्वक की जाये, यदि अमीर एवं मलिक १० या ११ रुपयों में से अठन्नी अथवा १४ या १५ में से एक रुपया 'हक इख्यारी' के रूप में वसूल कर लेते तो इसके लिए उनसे छेड़छाड़ न की जाती तथा उनके कर्मचारियों को वेतन के अतिरिक्त आधा या एक प्रतिशत अपने लिए वसूल कर लेने की आज्ञा थी।[12]

हिसाब-किताब की जाँच की जाती थी और प्रान्तीय पदाधिकारियों को करों की आय का ब्योरा राजधानी में माल-विभाग में भेजना पड़ता था। राज्यपाल एक निश्चित धन-राशि देते थे जो गुप्तचरो तथा "अनेक प्रकार के चुगलखोरों और घातकों" की सूचनाओं पर अविचारपूर्वक बढ़ाई न जाती थी।

---

११. जिया वर्नी—कलकत्ता संस्क० पृ० ४३०; इलियट ३, पृ० २३०-३१।

१२. मूल पुस्तक में मेरे द्वारा प्रदर्शित पिछली राय कि राज्य १/१० या १/११ लिया जाता था, समर्थित नहीं है। मोरलैण्ड महोदय ने ठीक ही कहा है (कृषि व्यवस्था पृ० ४४) कि पुस्तक का यह भाग कर वृद्धि से सम्बन्धित है न कि कर निर्धारण से। अपनी पुस्तक 'दी आग्रेरियन सिस्टम इन मोसलिम इण्डिया' में मोरलैण्ड महोदय ने गयासुद्दीन के कार्यों का पांडित्यपूर्ण एवं दोषदर्शी वर्णन किया है जिसका पढ़ना लाभदायक है। वर्नी का कलकत्ता संस्करण, पृ० ४२९-३१ भी पढ़ना लाभदायक है।

खुसरो द्वारा अपने समर्थकों को दी हुई जागीरें छीन ली गईं और राज्य की अर्थ-व्यवस्था को सुचारु रूप दिया गया। न्याय एवं पुलिस-विभाग सुव्यवस्थित किये गये और सुलतान के न्याय का ऐसा भय फैल गया कि साम्राज्य के सुदूर भागों में भी सुरक्षा निश्चित हो गई। स्वय अनेक युद्धों का विजेता होने के कारण, गयास को सैन्य-संघटन का खूब अनुभव था। अतः सेना को सुव्यवस्थित एवं सुशिक्षित बनाने में उसने बहुत परिश्रम किया। सैनिकों को पर्याप्त वेतन मिलने लगा और उनके साथ दयापूर्ण व्यवहार किया जाने लगा। सेना में अनुशासन कठोर हो गया और अस्त्र-शस्त्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध किये गये। अलाउद्दीन द्वारा प्रवर्तित सैनिक दलों की विवरण-तालिका रखने तथा घोड़ों को दागने की प्रथा को पुनः अपनाया गया और कार्यक्षमता लाने के विचार से घोडों के मूल्य, निरीक्षण के परिणाम तथा उनके अधिकारियों के नामो का लेखा रखा जाने लगा।

गयास की मृत्यु—गयास के शासन के अंतिम दिनों में १३२४ ई० में लखनौती के राजकुमार शिहाबुद्दीन तथा नासिरुद्दीन, जिनको उनके भाई बहादुर ने, जिसको इब्नबतूता ने बहादुर बूरा लिखा है, राज्य से निकाल दिया था। वे दिल्ली आये और तुगलक शाह से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना की। राजधानी का राज-काज उलुग खाँ को सौपकर सुलतान स्वयं लखनौती गया। बहादुर परास्त हुआ और गले में फंदा डालकर दिल्ली लाया गया। नासिरुद्दीन ने अपने प्रमुख सरदारों एवं जमींदारों सहित दिल्ली का आधिपत्य स्वीकार किया और राजभक्ति की शपथ ली। उसको पुनः अधिकारारूढ़ किया गया। इसी अभियान के समय मिथिला के करनाट-वंशी नरेश हरिसिंह देव ने मुसलमान-सेना से मुठभेड की। मिथिला-नरेश पराजित हुआ और उसकी राजधानी पर मुसलमानों ने अधिकार कर लिया। आस-पास के प्रदेश को भी पूर्णतः पराभूत किया गया। हरिसिंह देव नैपाल-राज्य में भाग गया।[१३] जब सुलतान १३२५ ई० में दिल्ली लौटा तो एक प्रवेश-द्वार के

---

१३. फिरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० १४२।
राइट—'हिस्ट्री आव नैपाल' पृ० १७४-७५।
'जरनल आव एशि० सोसा० आव बंगाल'—भा० १, १९०३, पृ० १-३२।
'इण्डि० एण्टि०' १८८०, पृ० १८९।
'जरनल एशियाटिक' १८१६, १, पृ० ५५२।
ब्रिग्स, १, पृ० ४०७; फिरिश्ता, लखनऊ संस्क० पृ० १३२।

नीचे दबकर उसकी मृत्यु हो गई;" इस द्वार को उसके पुत्र राजकुमार जूना ने राजधानी से ६ मील दूर अफगानपुर में बनवाया था। राजकुमार पर सुलतान की मृत्यु का यह कुचक्र रचने का संदेह किया गया, क्योंकि बड़ी शीघ्रता के साथ एक ऐसे भवन का निर्माण करवाना अन्य किसी भी दृष्टि से आवश्यक न जान पड़ता था। सत्य जो कुछ भी हो, इस धारणा को पुष्ट करनेवाले सबल प्रमाण विद्यमान हैं कि सुलतान की मृत्यु आकस्मिक दुर्घटना का परिणाम न होकर पूर्वनियोजित षड्यन्त्र का परिणाम थी, जिसमें युवराज का भी हाथ था।

---

१४. बर्नी ने घटना का पूरा विवरण नहीं दिया है। उसने साधारणतया लिख दिया है कि "सुलतान के ऊपर आकाश से दुर्भाग्य का वज्र-पात हुआ और वह पाँच-छः अन्य व्यक्तियों सहित 'खण्डहर' के नीचे दब गया।"

तारीख-ए-फीरोजशाही—विब्ल० इण्डि० पृ० ४५२।

इलियट ने इस उद्धरण का अनुवाद किया है। उसके अनुवाद से प्रतीत होता है कि आकाश से छत पर बिजली गिरी और वह भवन गिर पड़ा। परन्तु यह बर्नी के मूल कथन के अनुरूप नहीं है। इलियट ३, पृ० २३५।

इब्नबतूता, जो १३३३ ई० में भारत में आया, असंदिग्ध शब्दों में लिखता है कि राजकुमार मुहम्मद, सुलतान की मृत्यु का कारण बना। वह लिखता है कि उसने शेख रुक्नुद्दीन मुलतानी से, जो घटनास्थल पर सुलतान के साथ थे, यह सुना था कि यह भवन बनाया ही इस प्रकार से गया था कि निश्चित समय पर ढह जाय। सुलतान अपने प्रिय पुत्र महमूद खाँ सहित खण्डहर के नीचे दब गया और जब उनके शरीर को बाहर निकालने के लिए मजदूरों को बुलाया गया तो राजकुमार मुहम्मद ने जान-बूझकर उनके आने में देरी करवाई। सुल्तान का शरीर अपने पुत्र के ऊपर झुका हुआ पाया गया, जैसे कि वह उसकी रक्षा के लिए उसके ऊपर झुक गया हो। इब्नबतूता के कथन से ज्ञात होता है कि यह भवन प्रधान राजकीय भवन-निर्माता अहमद अयाज ने बनाया था, जिसको युवराज मुहम्मद ने, संभवतः कृतज्ञता प्रकाशन के रूप में, प्रधानामात्य का पद दिया। इब्नबतूता का कथन परिस्थिति द्वारा भी समर्थित होता है। इसके अतिरिक्त बतूता ने किसी के आधार पर न लिखकर, स्वतन्त्र रूप से लिखा है।

इब्नबतूता—पेरिस संस्क० ३, पृ० २१२-१३।

निजामुद्दीन अहमद का कहना है कि इस भवन का इतनी शीघ्रता से बनाया जाना, यह सदेह उत्पन्न करता है कि उलुग खाँ ने अपने पिता की मृत्यु का प्रयत्न किया। इस लेखक ने बर्नी पर जान-बूझकर सत्य छिपाने का दोष लगाया है क्योंकि फीरोजशाह बर्नी का आश्रयदाता था। इसका विचार है कि सुलतान की मृत्यु शेख निजामुद्दीन औलिया तथा युवराज के षड्यन्त्र का परिणाम थी। तत्कालीन लेखक इसामी ने भी इसका समर्थन किया है।

गयासुद्दीन का चरित्र—गयास कोमल एवं उदार प्रकृति का शासक था। वह बहुत सरलता-प्रिय था और अपने भूतपूर्व सहकारियों के साथ वैसा ही सरल व्यवहार किया करता था, जो उसके जीवन के प्रारम्भिक दिनों की विशेषता थी। वह धार्मिक प्रकृति का तथा शांति-प्रिय मुसलमान था और धर्म-विहित विधियों के पालन में कठोर था; परन्तु विधर्मियों के प्रति उसने कभी नृशंस व्यवहार नही किया। हिंदुओं के प्रति यदि उसने कठोरता दिखाई भी तो यह कठोरता धर्मान्धता का परिणाम न होकर राजनीतिक आवश्यकता का फल थी। उसका घरेलू जीवन निष्कलुष था और संयम उसके जीवन का सिद्धान्त था। जीवन-पर्यंत वह प्रजा के हित में तत्पर रहा और शासन-तन्त्र का कोई ऐसा विभाग न था जो उसकी कल्याणकारी प्रवृत्तियों से लाभान्वित न हुआ हो। विलासी मुबारक तथा 'कलुषित' खुसरो के समय से अस्त-व्यस्त शासन-तन्त्र को सुव्यवस्थित बना देना कोई कम सफलता न थी। अमीर खुसरो का निम्न उद्धरण सुलतान गयासुद्दीन के योग्य शासन-प्रबंध का सुन्दर परिचायक है:—

"उसने कभी कोई ऐसा कार्य न किया जो प्रगल्भता एवं बुद्धिमत्तापूर्ण न रहा हो। उसके विषय मे कहा जा सकता है कि वह राजमुकुट के नीचे शतशः आचार्यों के शिरोवस्त्र धारण किये रहता था।"

तबकात—बिब्लि० इण्डि० पृ० २१४-१५।

फिरिश्ता ने युवराज को सर्वथा निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और लिखा है कि यह आरोप सर्वथा असंभव है। परन्तु आगे उसने लिखा है—

हाजी मुहम्मद कन्धारी का कहना है कि इस पर बिजली टूट पड़ी और ऐसा होना सर्वथा असंभव नहीं जान पड़ता। स्पष्ट है कि फिरिश्ता किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाया है और उसने अपने विवेचना-हीन वर्णन को इन शब्दों में समाप्त किया है—"भगवान ही जानता है कि सत्य क्या है।" ब्रिग्स १, पृ० ४०८। लखनऊ संस्क०, पृ० १३२।

मैंने अपने 'करौना तुर्कों के इतिहास' में इस विषय की विस्तृत विवेचना की है। इसमें संदेह नहीं कि सुलतान की मृत्यु युवराज के षड्यन्त्र का परिणाम थी।

अध्याय १०

अभागा सिद्धान्तवादी मुहम्मद तुगलक

अभागा सिद्धांतवादी मुहम्मद तुगलक—गयासुद्दीन तुगलक के पश्चात् उसका पुत्र राजकुमार जूना मुहम्मद तुगलक[1] के नाम से १३२५ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसका राज्यारोहण बड़ी शान्ति एवं आनन्द के साथ सम्पन्न हुआ। किसी प्रकार की क्रांति, पारिवारिक षड्यन्त्र, प्रांतीय प्रतिनिधि शासक के विद्रोह अथवा जन-विप्लव ने इस आनन्द-समारोह में बाधा न डाली। राजधानी का साज-शृंगार किया गया, राजमार्गों पर पुष्प-बिखरा दिए गए। जनता मे धन की वर्षा को गई और इस मंगलमय समारोह के उपलक्ष्य में साम्राज्य के राज-भक्त पदाधिकारियों को सुन्दर-सुन्दर उपहार प्रदान किये गये। मुहम्मद की उदारता की प्रशंसा चतुर्दिक् व्याप्त हो गई और विद्वान् तथा धार्मिकजन दिल्ली में पधारने लगे। नये सुलतान ने भी उनका यथोचित सम्मान किया। जनता की स्मृति अधिक काल तक स्थायी रहनेवाली नहीं होती; अतः इस उदारता के प्रदर्शन के सम्मुख लोग भूलपूर्व सुलतान की निर्मम हत्या को भूल गये और अधिकांश लोगों की दृष्टि में मुहम्मद संभवतः सर्वथा निर्दोष बन गया।

मध्य-युग में राजमुकुट धारण करनेवालों में मुहम्मद तुगलक निस्संदेह योग्यतम व्यक्ति था। मुसलमान-शासन की स्थापना के पश्चात् दिल्ली के सिंहासन को सुशोभित करने वाले शासकों में वह सर्वाधिक विद्वान् एवं सुसंस्कृत शासक था। प्रकृति ने उसको आश्चर्यजनक स्मरण-शक्ति, कुशाग्र एवं विषयग्राहिणी बुद्धि तथा सब प्रकार का ज्ञान संचित करने की अद्भुत ग्रहणशीलता का वरदान दिया था। उसकी बहुमुखी प्रतिभा से समसामयिक लोग आश्चर्य-चकित हो जाते थे। वह ललित-कला-प्रेमी सुसंस्कृत विद्वान् तथा कुशल कवि होने के साथ साथ तर्क, ज्योतिष, गणित, दर्शन तथा भौतिक शास्त्रों में भी रुचि रखता था। प्रबंध-रचना एव सुलेख में वह अद्वितीय था; फारसी कविताओं के सहस्रशः उद्धरण उसके जिह्वाग्र थे,

---

१. मुहम्मद तुगलक के शासन काल का विस्तृत वर्णन मेरी लिखी हुई पुस्तक करौना टर्क्स इन इण्डिया में दिया हुआ है।

जिनका उपयोग वह अपने लेखों तथा वक्तव्यों में करता था। अलंकारों के प्रयोग में वह अति निपुण था और उसकी साहित्यिक रचनाएँ फारसी-काव्यों की शैली से प्रभावित होती थी। निपुण साहित्य-मर्मज्ञों तक के लिए उसकी उदात्त कल्पना, परिष्कृत रुचि तथा सूक्ष्म एवं सौष्ठवपूर्ण अभिव्यंजन-प्रणाली पर उसके अधिकार की समता, दुष्कर थी। विभिन्न बोलियों का वह पण्डित था, अरस्तू के तर्क एवं दर्शन-शास्त्र से उसका अच्छा परिचय था और धर्म-शास्त्र एवं साहित्य-शास्त्रज्ञ उसके साथ वाद-विवाद करने में हिचकते थे। बर्नी ने जो न मुहम्मद का पक्ष-समर्थक था और न राजसभा का दास ही, उसके विषय मे लिखा है कि वह वाक्पटु एवं गम्भीर विद्वान् तथा सृष्टि का ऐसा यथार्थ आश्चर्य था जिसकी योग्यताओं से अरस्तू एवं आसफ जैसे व्यक्तियों को भी दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती।[२] वह मध्य-युग में अधिकतम अध्ययन किये जानेवाले चिकित्सा-शास्त्र से भी अपरिचित न था और रोगों का उपचार भी किया करता था। इस सुल-तान की उदारता मुक्तहस्त अपव्यय की सीमा तक पहुँची हुई थी; और सभी तत्कालीन लेखकों ने इस बात के लिए उसकी एक स्वर से प्रशंसा की है कि वह अपने द्वार पर हर समय घिरे रहनेवाले अगणित याचकों को खुले हाथ दान देता था।[३] वह कुरान-विहित नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करने तथा करवानेवाला कट्टर मुसलमान था। परन्तु अपने पूर्ववर्ती अनेक शासको के समान वह हृदयहीन धर्मान्ध नही था। हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार करने की उसकी इच्छा तथा चौदहवीं शताब्दी में प्रचलित 'सती' प्रथा का दमन जैसे सुधारों के लिए उसके प्रयत्नो से उसकी विशाल-हृदयता का परिचय मिलता है। अफ्रीका-निवासी यात्री इब्नबतूता, जो १३३३ ई० में भारत में आया सुलतान के विषय में लिखता है कि, "मुहम्मद एक ऐसा व्यक्ति है जो उपहार देने तथा रक्त बहाने में अन्य सबसे अधिक रुचि रखता है। उसके द्वार पर किसी निर्धन को धनवान् बनते हुए अथवा किसी जीवित व्यक्ति को मृत्यु के मुख में जाते हुए किसी भी समय देखा जा सकता है। उसके उदारता एवं शौर्यपूर्ण कार्य तथा निर्दय एवं उग्र आचरण जनता में ख्याति पा चुके हैं। इतने पर भी, वह सर्वाधिक समभाव प्रदर्शित करनेवाला अत्यन्त विनम्र मनुष्य है। अपने

---

२. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि०, इण्डि० पृ० ४६१।

३. विदेशियों के प्रति कृपापूर्ण व्यवहार तथा उनको दिये जानेवाले उपहारों के लिए बर्नी तथा इब्नबतूता ने सुलतान की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है।

धर्मविहित कार्य-कलाप उसको बहुत भाते हैं और प्रार्थना के विषय में तथा उसकी अवहेलना के लिए दण्ड देने में वह बहुत कठोर है। वह उन शासकों में से है जिनका सौभाग्य अपरिमित होता है तथा जिनकी सफलता सामान्य सीमा का अतिक्रमण कर जाती है; परन्तु उसकी प्रमुख विशेषता उसकी उदारता है। मैं उसकी विशाल हृदयता के कुछ ऐसे कार्यों का उल्लेख करूँगा जैसे उसके पूर्ववर्ती किसी भी शासक के विषय में नहीं बताये जाते।"[4]

साधारणतया सुलतान में विरोधी गुणों का आश्चर्यकारी सम्मिश्रण प्रतीत होता है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। परवर्ती लेखकों ने उस पर जो रक्त-पिपासुता एवं विक्षिप्तता के दोष लगाये हैं, वह अधिकांश में निराधार हैं। किसी भी समसामयिक लेखक ने सुलतान के पागलपन का नाम-मात्र भी उल्लेख नहीं किया है। रक्त-पिपासुता का दोष मुल्लाओं द्वारा लगाया गया है, जिनके प्रति सुलतान का व्यवहार स्पष्टतया उपेक्षापूर्ण रहा।[5] यह सत्य है कि मध्य-युग के सभी निरंकुश शासकों के समान वह भी प्रचण्ड क्रोधावेश से भर उठता था और अपनी इच्छा के प्रतिकूल चलनेवालों को, उनके पद एवं सम्मान का कुछ भी ध्यान न कर, घोर

---

४. इब्नबतूता—पेरिस संस्क० ३, पृ० २१६-२१७; तथा इलियट ३, पृ० ६११-१२। 'मसालिक-अल-अबसार', क्वात्रेमेरेस 'नोतिसेज एत एक्स-त्रेत्स,' तोम १३, पृ० १९१-९२। इलियट ३, पृ० ५८०।

५. बर्नी ने यह दोषारोप किया है और सुलतान की तार्किकता पर आक्षेप किया है। उसने सुलतान के दार्शनिक विचारों की अत्यंत कटु आलोचना की है और उसके निकटतम संपर्क में रहनेवाले उबैद तथा साद नामक व्यक्तियों की निंदा की है, जिन पर उसने सुलतान को धर्म-पालन में कट्टरता के मार्ग से हटाने का यथार्थ दोष लगाया है। बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि०, पृ० ४६६।

यह दोषारोप भी असत्य है। इब्नबतूता ने उसके द्वारा शेखों तथा मौलवियों को, जो धार्मिक संस्थाओं से संबद्ध होने के कारण धार्मिक-विधि द्वारा अदण्डनीय ठहराये गये थे, कठोर दण्ड दिये जाने का उल्लेख किया है। मुहम्मद जैसा शक्तिशाली पुरुष मुल्लाओं से अभिभूत होनेवाला न था और जब कभी इन लोगों ने उसकी अवज्ञा की, द्रोह में सहायता दी अथवा राजकोष के धन का अपहरण किया, उसने इनके प्रति कठोर व्यवहार करने में देर न लगाई। इब्नबतूता के विवरण को ध्यानपूर्वक पढ़ने से विदित होता है कि जिन लोगों का घोर उत्पीड़न किया गया, वह मुल्ला-मौलवी वर्ग के लोग थे—एक ऐसे वर्ग के लोग जो विशेषाधिकारों के लिए चिल्लाता रहता था और धर्म-विहित आदेशों को अपने इन विशेषाधिकारों की माँग का आधार बताता था।

इब्नबतूता—पेरिस संस्क० ३, पृ० २९२-९९।

नृशंस दंड दे देता था। परन्तु मानव-रक्त प्रवाहित करने में आनन्द प्राप्त करनेवाले जन्मजात क्रूर-कर्मा से, जैसा कि उस पर लांछन लगाया जाता है, यह व्यवहार सर्वथा भिन्न है। यदि सुलतान पर आरोपित हत्याओं एवं अत्याचारों की समीप से समीक्षा की जाये, तो ज्ञात होगा कि यह सर्व-सामान्य मत कितना निराधार है कि वह मनुष्य-जाति के विनाश में आनन्द का अनुभव करता था तथा 'मनुष्यों के आखेटों'[६] का आयोजन करता था। सत्य यह है कि सुलतान मे शासन-प्रबंध के सुधार के उच्च आदर्शों के साथ-साथ दुराग्रह की प्रवृत्ति भी थी; अतः जब जनता उसकी इच्छानुसार कार्य न कर पाती तो उसका क्रोध प्रचण्ड रूप धारण कर लेता था। उसकी अधीरता जनसाधारण की उदासीनता का वैसा ही परिणाम थी, जैसी कि यह उदासीनता उसकी आश्चर्यकारिणी अभूतपूर्व कृतियों का फल थी।

शासन-तन्त्र में नये प्रयोग—दोआब में कर-वृद्धि—सुलतान ने सर्वप्रथम दोआब में कर को बढ़ाकर शासन-व्यवस्था में एक नवीन कार्य का समावेश किया। इस कार्य को सुलतान का सर्वप्रथम कार्य बताते हुए बर्नी ने लिखा है कि, "इसने (कर-वृद्धि) देश के विध्वंस तथा जनता के विनाश का कार्य किया।" परन्तु दूसरे इतिहासकार ने, जो अपने कथन में अधिक सावधान है, लिखा है कि, "अत्यधिक कठोरतापूर्वक वसूल किये जानेवाले जीवनोपयोगी वस्तुओं पर लगाये गये कर, इतने अधिक थे कि वे व्यवसाय पर भारस्वरूप हो गये। दोआब की धन-बहुलता तथा उर्वरता एवं वहाँ के निवासियों के उद्दण्ड एवं विद्रोहपूर्ण आचरण ने सुलतान को दोआब में कर-वृद्धि के लिए प्रेरित किया। शासन-तन्त्र के लिए कष्टदायक दोआब के

---

६. बर्नी का सुलतान ने 'मनुष्यों के आखेटों' के आयोजन का वर्णन पढ़ते ही बनता है। यह आखेट वास्तव में क्या थे, यह तो उसके वर्णन के समीक्षा पूर्ण अध्ययन से ही स्पष्ट हो जायगा। देश में भयकर अकाल पडा हुआ था, इससे होनेवाले कष्टों को कम करने के लिए सुलतान ने ऋण देने की तथा कृषि के सुधार की व्यवस्था की। जिन्होंने उसकी आज्ञा का समुचित पालन नहीं किया, उनको कठोर दण्ड दिये गये, इस कार्य मे राजकर्मचारियों ने बहुधा अपनी अधिकार-सीमा का अतिक्रमण भी किया होगा। जिन लोगों को ब्रिटिश-शासन में 'तकावी' ऋण का कुछ अनुभव है वह समझ सकेंगे कि वसूली में कितनी कठोरता की जाती है। बर्नी 'बरन'(बुलन्दशहर) का निवासी था। उसके जिले के लोगों को भी दण्डित किया गया था और उसने विशेषतया बरन का उल्लेख किया है। इसी से उत्तेजित होकर उसने सुलतान पर ऐसे अमानुषिक कार्य का आरोप किया है। सभवतः स्थानगत-प्रेम एवं कट्टरता से प्रेरित होकर उसने ऐसा किया।

सूतों, मुकद्दमों तथा बलाहारों के प्रति अलाउद्दीन ने भी कठोरता का व्यवहार किया था।[7] बर्नी के कथनानुसार दोआब में जनता की आय का कुछ भी ध्यान न रखते हुए कर वसूल किये गये और कुछ ऐसे उत्पीड़क अब्वाब (दंड-कर) भी लगाये गये, जिन्होंने रैयत की कमर ही तोड़ दी और उसको अत्यंत दीन-हीन अवस्था में डाल दिया।[8] सभी इतिहासकारों ने इस अर्थ-व्यवस्था से होनेवाली दुरवस्था का वर्णन किया है और बर्नी ने तो सुलतान की तीव्र निंदा की है, क्योंकि उसके अपने जन्म-स्थान बरन जिले को भी. इस कर-वृद्धि के दुष्परिणाम भोगने पड़े थे। बर्नी का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होता है कि दोआब की जनता की दुर्दशा का हाल सुनकर दूर देशों की रैयतों ने विद्रोह कर दिया और राजभक्ति को तिलांजलि दे दी, दुर्भाग्य से यह कर-वृद्धि ऐसे समय पर की गई, जब दोआब में भीषण अकाल फैला हुआ था और इसके विनाशकारी परिणामस्वरूप जनता के कष्ट अत्यधिक बढ़ गये। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सुलतान इस दुर्दशा के प्रति निर्दोष था; उसके पदाधिकारियों ने दुर्भिक्ष पर कुछ भी ध्यान न देकर कठोरतापूर्वक बढ़ोतरी के हिसाब से कर वसूल किये। दुर्भिक्ष-ग्रस्त भागों में कृषि की अवस्था सुधारने के लिए कुएँ खुदवाने तथा कृषकों को ऋण देने की आज्ञा उसने बहुत बाद में दी। इस प्रकार उपचार बहुत देर से किया गया; चिरकाल व्यापी दुर्भिक्ष से संत्रस्त जनता धैर्य खो चुकी थी और इन सुधारों से वह कोई लाभ न उठा सकी क्योंकि सुलतान के प्रति हताश जनता का विश्वास उठ चुका था। इससे पहले सुधार की कोई योजना दुर्दैव द्वारा इतनी निर्दयता से कभी विफल न बनाई गई थी, जैसी कि मुहम्मद तुगलक के समय में।

राजधानी का स्थान-परिवर्तन—१३२६-२७ ई०—देवगिरि को राजधानी बनाना मुहम्मद तुगलक का दूसरा कार्य था जो जनता को अत्यंत कष्ट-

---

७. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० २९१। मुसलमान इतिहासकारों ने दोआब के जमीदारों को यह नाम दिये हैं। बर्नी लिखता है :—

इसका अर्थ हुआ दस अथवा बीस गुना, अर्थात् एक के स्थान पर दस अथवा एक के स्थान पर बीस—इलियट महोदय ने इस उद्धरण का अशुद्ध अनुवाद किया है और लिखा है कि सुलतान ने राज-कर १० अथवा ५ प्रतिशत बढ़ा दिये। परन्तु पहिला अनुवाद अक्षरशः स्वीकरणीय नहीं है क्योंकि २० गुना कहना बुद्धिशून्य बात होगी। उधर यदि दूसरा अनुवाद ठीक माना जाये तो ५ प्रतिशत वृद्धि से रकम इतनी कम बढ़ेगी कि किसानों को वह कुछ भी भारभूत न जान पड़ेगी। बर्नी का कहने का तात्पर्य वास्तव में यह है कि कर-वृद्धि किसी भी अनुपात से बढ़-चढ़कर थी।

८. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० ४७३-७५।

दायक सिद्ध हुआ। इसका नाम बदलकर दौलताबाद रखा गया। शासन के प्रारंभिक वर्षों में जब बहाउद्दीन गस्तास्प के विद्रोह का दमन करने के लिए सुलतान दक्षिण गया था, उस समय उसको देवगिरि की महत्त्वपूर्ण स्थिति का अनुभव हुआ, और उसने इसको अपने बढ़ते हुए साम्राज्य की राजधानी बनाने की इच्छा प्रकट की थी। साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ चुका था, उत्तर की ओर इसमें दोआब, पंजाब के मैदान तथा लाहौर और सिन्धु से लेकर गुजरात तक विस्तृत भूभाग सम्मिलित थे; पूर्व की ओर यह बंगाल तक विस्तृत था और मालवा, उज्जैन, महोबा तथा धार इसके अन्तर्गत थे। दक्षिण के राज्य परास्त किये जा चुके थे और वहाँ की प्रमुख शक्तियों ने दिल्ली-साम्राज्य का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था।[९] इतने विशाल साम्राज्य की राजधानी के लिए दिल्ली की अनुपयोगिता को भली भाँति सोच-समझकर सुलतान ने दौलताबाद को राजधानी बनाने का निश्चय किया जो साम्राज्य के अधिक केन्द्र में अवस्थित था।[१०] यह नगर मंगोलों के मार्ग से दूर होने के कारण सुरक्षापूर्ण था, दिल्ली के समीपवर्ती

---

९ बर्नी ने मुहम्मद के शासन के प्रारंभ में उसके साम्राज्य में निम्न प्रान्तों का उल्लेख किया है—

(१) दिल्ली, (२) गुजरात, (३) मालवा, (४) देवगिरि, (५) तेलंग, (६) कम्पिला, (७) द्वारसमुद्र, (८) माबर, (९) तिरहुत, (१०) लखनौती, (११) सतगाँव, (१२) सुनारगाँव।

बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० ४६८।

बर्नी ने लिखा है कि मुहम्मद के शासन के प्रारंभ में यह प्रान्त सुव्यवस्थित थे। साम्राज्य के विस्तार के साथ अनेक नये प्रान्त बनाये गये। 'मसालिक-उल-अबसार' में २३ प्रान्त गिनाये गये हैं; यह मुहम्मद के साम्राज्य के विस्तार की अंतिम सीमा प्रकट करते हैं।

'मसालिक-उल-अबसार' इलियट ३, पृ० ५७४-७५।

टॉमस—'दि क्रॉनिकल्स'—पृ० २०३।

१०. बर्नी ने दौलताबाद के विषय में लिखा है कि "यह स्थान केन्द्र में पड़ता था; दिल्ली, गुजरात, सतगाँव, सुनारगाँव, तेलंग, माबर, द्वारसमुद्र तथा कम्पिल यहाँ से लगभग समान दूरी पर थे इनकी दूरी में बहुत थोड़ा अन्तर पड़ता था।" इलियट ३, पृ० २३९।

इब्नबतूता का यह वर्णन केवल जनश्रुतियों पर आधारित है कि लोगों ने सुलतान के लिए गालियों से भरे पत्र उसके दीवान में डाले, जिससे क्रुद्ध होकर उसने राजधानी बदलने की आज्ञा दी, क्योंकि सन् १३२६-२७ ई० में जब राजधानी बदली गई थी, बतूता भारत में उपस्थित न था।

फिरिश्ता ने गलत तिथि दी है, बदाऊँनी ने विशेषतया इसकी तिथि हिजरी सन् ७२७ (१३२६-२७ ई०) लिखी है। तिथि-निर्देश में बर्नी ने बहुत भूलें की हैं। हिजरी सन् ७२७ के दौलताबाद के सिक्कों पर 'इस्लाम

प्रदेशों पर मंगोलों के आक्रमण बहुधा होते रहते थे जिससे वहाँ का जन-जीवन एवं संपत्ति अत्यंत अरक्षित दशा में रहती थी। स्पष्ट है कि यह परिवर्तन किसी अनियन्त्रित सनकी के दिमाग की सनक न थी। सुरक्षा एवं शासन की सुव्यवस्था के विचार से ही प्रेरित होकर सुलतान ने यह साहस-पूर्ण कदम उठाया। उसको आशा थी कि तत्कालीन यातायात के साधनों की सहायता से वह उत्तर तथा दक्षिण भारत पर दौलताबाद से पूर्ण नियन्त्रण रखने में समर्थ हो सकेगा।"[11] यदि सुलतान केवल शासन-प्रबन्ध के यंत्र को ही दौलताबाद ले जाने तक संतुष्ट हो जाता तो यह परिवर्त्तन बड़ी सरलता से बिना अधिक कष्ट के सम्पन्न हो जाता। परन्तु दिल्ली के नर-नारियों, शिशुओं तथा सभी को अपनी समग्र संपत्ति सहित दौलताबाद चलने की आज्ञा देकर उसने बहुत बड़ी भूल की। यात्रा में सब प्रकार की सुविधाएँ दी गई; दिल्ली से दौलताबाद तक सड़क बनाई गई और मार्ग में राज्य की ओर से निष्क्रमणार्थियों के नि:शुल्क भोजन एवं विश्राम की व्यवस्था की गई। जो मार्ग में भोजन के व्यय का भार वहन न कर सकते थे उनको राज्य की ओर से भोजन दिया गया और "यात्रा के समय तथा दौलताबाद पहुँचने पर भी निष्क्रमणार्थियों के प्रति मुक्तहस्त दान एवं कृपाओं में सुलतान अत्यंत उदार रहा।"[12] परन्तु यह सब सुविधाएँ एवं कृपाएँ निरर्थक सिद्ध हुईं। अनेक पीढ़ियों से दिल्ली में बसे हुए लोगों ने भग्न हृदय से दिल्ली से प्रस्थान किया, क्योंकि दिल्ली के साथ घनिष्ठ संबंध होने के कारण इस नगर से उनको अत्यंत स्नेह हो गया था। ७०० मील की लम्बी यात्रा के कष्ट संख्यातीत थे और थकान से चूर तथा घर की याद से व्याकुल अनेक प्राणियों ने मार्ग में ही दम

की राजधानी' लिखा है; इससे बदाऊँनी के उल्लेख का समर्थन होता है। साधारणतया १३२७ ई० को इस घटना की तिथि बताया जाता है, वह भ्रमपूर्ण है क्योंकि १३३४ ई० में इब्नबतूता ने दिल्ली को उजाड़ पाया था।

सिक्कों का प्रमाण पूर्णतः निश्चयात्मक न होने पर भी बदाऊँनी के उल्लेख का समर्थन करता है।

राजधानी बदलने की यह घटना बहाउद्दीन के विद्रोह के शीघ्र पश्चात् हुई थी, जो कि शासन के प्रारंभिक वर्षों में हुआ था।

दौलताबाद की स्थिति के परिचय के लिए, देखिए—इलियट ४, परिशिष्ट ५ पृ० ५७५।

११. 'मसालिक-अल-अबसार'—इलियट ३, पृ० ५८१।

इब्नबतूता—पेरिस संस्क० ३, पृ० ९५-९७, रेकिंग, अल-बदाऊँनी, १, पृ० ३०२।

१२. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० ४७४।

तोड़ दिये और जो निर्दिष्ट स्थान तक किसी प्रकार पहुँच भी पाये, उनको भी इस अपरिचित देश में निष्कासन असह्य अनुभव होने लगा और वह सर्वथा हताश हो गये। वर्नी लिखता है कि इस विधर्मियों के देश में निराशा-भिभूत मुसलमानों ने धरती पर सिर टेक दिये और आगन्तुकों के समूह में कुछ थोड़े से व्यक्ति ही अपने घर लौटने के लिए बच पाये।" इसामी ने भी इस स्थान-परिवर्तन से होनेवाले घोर कष्टों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और सुलतान पर गालियों की बौछार की है।

इब्नबतूता का यह प्रामाणिक कथन बाजारू गप है कि यह देखने के लिए कि कोई वहाँ छिपकर रह तो नहीं गया है, राजाज्ञा से दिल्ली शहर की खोज की गई जिसमें एक लँगड़ा तथा एक अंधा आदमी पाया गया; इनको भी घसीटकर दौलताबाद ले जाया गया। ऐसी कथाएँ सुलतान को बदनाम करने के लिए बाद में गढ़ ली गईं। यह सत्य है कि सुलतान की आज्ञा का पालन बड़ी कठोरता से किया गया; परन्तु यह मान लेना असत्य दोषारोपण मात्र होगा कि उसका उद्देश्य जनता को अनावश्यक कष्ट देना था। इसके विपरीत उसको इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि अपनी योजना को विफल हुई देखकर उसने दिल्ली से आये लोगों को दिल्ली लौट जाने की आज्ञा दे दी और वापसी की इस यात्रा में उनके प्रति अत्यंत उदारतापूर्ण व्यवहार किया तथा उनकी क्षति-पूर्ति भी की। परन्तु दिल्ली उजड़ चुकी थी। यद्यपि सुलतान ने दूर दूर से विद्वानों, व्यापारियों तथा भूमिपतियों को बुलाकर उजाड़ राजधानी में बसने के लिए प्रोत्साहित किया, परन्तु उसका प्रोत्साहन उनको परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति सहिष्णु न बना सका। दिल्ली में पहले की समृद्धि न लौट सकी और यह नगरी अपना पूर्व वैभव न पा सकी, क्योंकि १३३४ ई० में इब्नबतूता ने इसको अनेक स्थानों पर जनशून्य तथा उजाड़ अवस्था में देखा।

---

१३. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० ४७४।

जिया बर्नी लिखता है:—"विध्वंस इतनी पूर्णता से हुआ कि नगर के मकानों में, महलों में अथवा आस-पास कहीं भी एक बिल्ली या कुत्ता तक न छूट पाया।" मध्यकालीन लेखक के इस प्रकार के वर्णन का शाब्दिक अर्थ न लगाना चाहिए। भारतीय शैली से अनभिज्ञ योरोपीय विद्वानों ने बहुधा यह भूल की है। विंसेण्ट स्मिथ ने अविचारपूर्वक इब्नबतूता की ऊपर लिखी कथा को सत्य मान लिया है।

'आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया' पृ० २३९।

जैसा कि लेनपूल ने लिखा है, दौलताबाद सुलतान की गलत रास्ते पर लगाई हुई शक्ति का केवल स्मारक-मात्र रह गया। राजधानी-परिवर्तन की योजना विनाशकारिणी सिद्ध हुई। यदि यह योजना सफल भी हो गई होती तब भी इस स्थान से साम्राज्य के विभिन्न भागों को नियन्त्रण में रख सकना संदिग्ध ही था। सुलतान को यह न सूझ सका कि दौलताबाद उसके साम्राज्य की उत्तरी सीमा से, जिस पर सदैव सतर्क दृष्टि रखना आवश्यक था, बहुत दूर था। उसने अनेक बार के अनुभवों से प्राप्त इस चेतावनी को भुला दिया कि हिन्दुओं के विद्रोह तथा मंगोलों के आक्रमण किसी भी समय उसके साम्राज्य के उत्तरी भाग की सुरक्षा को खतरे में डाल सकते हैं। यदि कहीं ऐसी विषम-स्थिति उत्पन्न हो गई होती तो दक्षिण की केवल नाम-मात्र को अधीन जातियों तथा उत्तरी सीमा को बार बार आक्रांत करनेवाले यायावर मंगोलों के दलों के आघातों से टक्कर लेते हुए, विशृंखला उत्पन्न करनेवाली शक्तियों का दमन सुलतान के लिए असंभव हो गया होता।

प्रतीक मुद्रा—१३३० ई०—मुहम्मद तुगलक को धनपतियों का सरदार ठीक ही कहा गया है। मुद्रा-प्रणाली में आमूल सुधार, बहुमूल्य धातुओं के आपेक्षिक मूल्य का निर्धारण तथा आदान-प्रदान को सुविधाजनक बना सकनेवाले एवं सरलता से प्रचारित हो सकनेवाली मुद्राओं का प्रवर्तन उसके शासन के प्रारंभिक कार्यों में से थे। परन्तु इनसे कहीं अधिक साहसपूर्ण एवं सर्वथा नवीन कार्य था प्रतीक मुद्रा का प्रवर्तन। सुलतान को इस नवीन प्रयोग की प्रेरणा देनेवाले उद्देश्य को खोजने का इतिहासकारों ने प्रयत्न किया है। राज-कोष का अत्यधिक रिक्त हो जाना प्रतीक-मुद्रा चलाने का उद्देश्य बताया जाता है। निस्संदेह, यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि सुलतान की अपव्ययपूर्ण उदारता, राजधानी-परिवर्तन के भारी व्यय तथा सशस्त्र विद्रोहों के दमन के लिए आयोजित अभियानों के व्यय के रूप में राजकोष से प्रचुर धनराशि निकल चुकी थी। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे जो इस क्रांतिकारी प्रयोग के जन्मदाता बने। दोआब में कर-वृद्धि की नीति विफल रही थी; और साम्राज्य के इस सर्वाधिक उर्वर भाग में अब भी दुर्भिक्ष छाया हुआ था जिसके कारण कृषि को महान् क्षति पहुँच रही थी और इसके परिणामस्वरूप राज्य की आय भी पर्याप्त मात्रा में घट गई होगी। यह विचार ठीक नहीं है कि सुलतान का दिवाला ही निकल चुका था; उसका कोष अब भी इतना भरा हुआ था कि जब नये सिक्कों को लौटाना पड़ा तो उनके बदले में असली सिक्के दिये और

उस विषम परिस्थिति को सफलतापूर्वक सँभाला गया।" यथार्थ में बात यह थी कि वह अपने महत्त्वाकांक्षी स्वभाव के अनुरूप विजय तथा शासन-तन्त्र में सुधार की विशाल योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अपने कोष की वृद्धि करना चाहता था। एक दूसरा कारण भी था; सुलतान प्रतिभाशाली व्यक्ति था और नवीन प्रयोगों में रुचि रखता था। चीन तथा फारस के उदाहरण उसके सामने थे और इन्हीं का अनुसरण करते हुए उसने अपने साम्राज्य में भी प्रतीक-मुद्रा का प्रयोग करने का निश्चय किया; इसमें अपनी प्रजा को ठगने की उसकी मनोवृत्ति न थी। उसके सिक्कों पर खुदे लेखों से यह बात स्पष्टतया प्रतीत होती है। ताँबे के सिक्के चलाये गये और इनको वैध घोषित किया गया; परन्तु नये सिक्के ढालने के कार्य को पूर्णतया अपने अधिकार में रखने में राज्य असमर्थ रहा। इसका परिणाम तत्कालीन इतिहासकार की पक्षपातपूर्ण भाषा में यह हुआ कि हिन्दुओं के घर ही टकसाल

---

१४. रैंकिंग महोदय ने बदाऊँनी के 'मुन्तखब-उत्-तवारीख' के अपने अनुवाद की टिप्पणी में यह संदेह प्रकट किया है कि क्या यह सिक्के आपेक्षिक-धातु-मूल्य के अनुसार बदले गये अथवा वास्तविक मूल्य पर। बदाऊँनी ने जो कुछ लिखा है समझ-बूझकर लिखा है। उसने लिखा है कि जब सुलतान ने अपनी योजना की विफलता देखी तो यह ताँबे के सिक्के चाँदी के सिक्कों से बदल दिये गये। बर्नी ने भी इस विषय का स्पष्ट वर्णन किया है। यह नये सिक्के अपने वास्तविक मूल्य के अनुसार बदले गये थे, नहीं तो इस विषम परिस्थिति से पार पाना कैसे संभव हो सकता था? बर्नी लिखता है कि इनके बदले में स्वर्ण-मुद्राएँ दी गईं।

ब्रिग्स के अनुवाद (१, पृ० ४१५) का निम्न अवतरण फरिश्ता के लखनऊ संस्क० में नहीं मिलता—

"टकसाल में ऐसे भ्रष्टाचार हुए थे कि कोष रिक्त हो जाने पर भी भारी माँग बनी रही। इस ऋण को चुकाना सुलतान ने अस्वीकार कर दिया और सहस्रों व्यक्ति बरबाद हो गये।"

इस अवतरण में सुलतान पर बेईमानी का दोष लगाया गया है जो कि इसकी नीति के सर्वथा विरुद्ध बात थी। सुलतान अन्याय न होने देना चाहता था, इसी लिए उसने सिक्कों को बदलने की स्वीकृति दी थी। यह नहीं जान पड़ता कि ब्रिग्स महाशय को यह अवतरण कहाँ से मिल गया। सुलतान फीरोजशाह ने अपनी 'आत्मकथा' 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में इन ऋणों के पुनः चुकाये जाने का कहीं उल्लेख नहीं किया है। बर्नी ने स्पष्ट लिखा है कि सुलतान ने सब माँगों को पूरा किया, और इब्नबतूता ने सुलतान द्वारा दिये जानेवाले उपहारों तथा पुरस्कारों का जैसा वर्णन किया है उससे जान पड़ता है कि राजकोष में धन की कमी न थी। रैंकिंग—अल बदाऊँनी, १, पृ० ६-७।

बन गये—कट्टर मुसलमान होने के कारण इतिहासकार ने अपने सहधर्मियों को इस अपराध से दूर ही रखा है—और विभिन्न प्रांतों के हिन्दुओं ने लाखों-करोड़ों सिक्के गढ़ लिये। हिन्दू और मुसलमान सभी जालसाजी करने लगे; जनता राज-कर नये सिक्कों में देने लगी और इन्हीं सिक्कों से शस्त्र, वस्त्र तथा विलासिता की अन्य वस्तुएँ खरीदने लगी। गाँव के मुखियों, व्यापारियों तथा भूमि-पतियों ने अपने सोने तथा चाँदी के सिक्के छिपा दिये और वह यथेच्छ ताँबे के सिक्के बनाने लगे तथा इन्हीं सिक्कों से अपना ऋण चुकाने लगे। परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत रूप से लोग लाभान्वित होने लगे और राज्य को भारी क्षति हुई। राज्य को बहुधा ठगा जाने लगा, क्योंकि राज्य की टकसालों में ढाले गये तथा लोगों के घरों में बने हुए सिक्कों में भेद करना असंभव था। सोने-चाँदी के सिक्कों का दर्शन दुर्लभ हो गया व्यापार समाप्त हो गया और व्यवसायों को भारी आघात पहुँचा। अत्यधिक अव्यवस्था फैल गई; वणिकों ने नये सिक्के लेना अस्वीकार कर दिया क्योंकि वह "कंकड़-पत्थरों के समान मूल्यहीन" हो गये थे। अपनी इस योजना को विफल हुआ देखकर सुलतान ने इन नये सिक्कों को वैध बनानेवाला आदेश स्थगित कर दिया और लोगों को ताँबे के सिक्कों के बदले सोने-चाँदी के सिक्के ले जाने की आज्ञा दी।[15] सहस्रों व्यक्ति इन सिक्कों को लेकर राज-कोषागार में उपस्थित हो गये और इनके बदले सोने-चाँदी की मुद्राओं की माँग करने लगे। जनता को ठगने की भावना से दूर सुलतान अपनी ही प्रजा-द्वारा ठगा गया और इस अदला-बदली में राजकोष तो प्रचुर धन-राशि निकल गई। प्रतीक मुद्राओं का पूर्णतया लौटा लिया गया; इस विषय में अफ्रीकी यात्री के मौन से, जो इस घटना के तीन वर्ष पश्चात् दिल्ली आया था, प्रतीत होता है कि इसका कोई विनाशकारी प्रभाव न पड़ा और लोग प्रतीक-मुद्रा की बात शीघ्र ही भूल गये।

चौदहवीं शताब्दी के भारत में ऐसी योजना का विफल हो जाना अवश्यंभावी था। चाहे ताँबे को मुद्रा-रूप में प्रचलित करने में सुलतान की कितनी भी कल्याणकारिणी मनोवृत्ति रही हो, परन्तु साधारण जन-समाज तो ताँबे को ताँबे से अधिक मूल्यवान् स्वीकार करने को प्रस्तुत न था। सुलतान ने जन-समाज की इस मनोवृत्ति पर ध्यान न देकर, अपने इस प्रयोग से बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँध ली थीं। आज भी साधारण जनता ने प्रतीक मुद्रा को इसलिए स्वीकार नहीं किया है कि वह विनिमय के सुविधाजनक माध्यम

---

१५. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'। बिब्लि० इण्डि० पृ० ४८६।

के लाभों को हृदयंगम कर चुके हैं अपितु एक अनिवार्य दोष के रूप में ही वह इसको अपनायें हुए हैं। टकसाल पर भी राज्य एकाधिकार स्थापित न कर सका था और जाली सिक्कों का निर्माण रोकने के लिए सुलतान सफल उपाय काम में न ला सका। एलफिस्टन महोदय का यह कथन घटनाओं से प्रमाणित नही होता कि प्रतीक-मुद्रा-प्रणाली सुलतान के दिवालियापन तथा उसके शासन की अस्थिरता के कारण विफल हुई, क्योंकि सुलतान ने बड़ी तत्परता से सभी नये सिक्कों को लौटा लिया था और उसकी साख बनी रही। श्री गार्डनर ब्राउन महोदय ने इस मुद्रा-परिवर्तन का कारण यह बताया है कि चौदहवीं शताब्दी में विश्व का चाँदी का आयात बहुत कम हो गया था। इंगलैण्ड मे १३३५ ई० के लगभग तृतीय एडवर्ड के शासन-काल में सिक्कों में बहुत कमी आ गई थी और राज्य से अनुमति प्राप्त किये बिना चाँदी का निर्यात रोकने के लिए उसको नियम बनाने पड़े थे। राज्या-रोहण के कुछ ही समय पश्चात् मुहम्मद तुगलक ने १७५ ग्रेन तोल के सोने एवं चाँदी के सिक्को के स्थान पर २०० ग्रेन के स्वर्ण 'दीनार' तथा १४० ग्रेन के 'अदली' (चाँदी का सिक्का) का प्रचलन किया था। स्वर्ण-दीनार के प्रवर्तन तथा 'अदली' के पुनः प्रचार से सिद्ध होता है कि उस समय देश में स्वर्ण-बाहुल्य तो था परन्तु चाँदी की कमी पड़ रही थी। काफूर दक्षिण से लूटकर जो विशाल संपत्ति ले आया था उसमें मणि-माणिक्य स्वर्ण ही था और स्वर्ण के इतनी प्रचुर मात्रा मे आ जाने से उसका मूल्य भी घट गया था। चाँदी की कमी सुलतान मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् भी बनी रही। फीरोजशाह के चाँदी के केवल दो सिक्के प्राप्त हुए हैं और टामस महोदय ने मुहम्मद-बिन-फीरोज के दो, मुबारकशाह के एक, मुहम्मद-बिन-फरीद के एक सिक्के का उल्लेख किया है और आलम शाह तथा उसके पश्चात् सिंहासनासीन होनेवाले लोदी शासकों के एक भी सिक्के का उल्लेख नही किया है, और इनके बाद सोलहवीं शताब्दी में शेरशाह सूरी तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में ही चाँदी के सिक्के प्रचुर परिमाण में टकसालो से निकलने प्रारम्भ हुए।[16] इस योजना की विफलता के विषय में मुद्रा-शास्त्र के विख्यात ज्ञाता श्री एडवर्ड टामस महोदय ने लिखा है कि, "राज-कीय टकसाल की गढ़न तथा सामान्यतः निपुण कारीगर के हाथ की बनावट

---

१६. मैने इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की अपेक्षा इस संस्करण में, इस विषय पर प्रकट किये गये विचारों में पर्याप्त संशोधन कर दिया है। मेरी पुस्तक 'करौना टर्स इन इण्डिया' में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है।

के भेद को लक्षित करानेवाला कोई विशेष साधन प्रचलित नहीं किया गया था। चीन में प्रचलित कागज के नोटों की नकल को रोकने के लिए अपनाई गई सावधानियों के समान यहाँ ताँबे के सिक्कों की असलियत की जाँच की कोई व्यवस्था न थी और न जन-साधारण द्वारा इनके निर्माण की शक्ति की कोई सीमा थी।"

शासन-प्रबंध में उदारता—मुहम्मद तुगलक ने शासन-प्रबंध में ऐसी नीति ग्रहण की जो कट्टरपंथियों के प्रिय आदर्शों के विरुद्ध पड़ती थी। उसने कुरान-विहित चार प्रकार के राज-करों[17] के अतिरिक्त अनेक कर लगाये और अपने पूर्ववर्ती शासकों की अपेक्षा कहीं अधिक हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं का आदर किया। अपने दुर्बलमति चचेरे भाई फीरोज के समान वह बुद्धिशून्य धर्मान्ध नहीं था। सुसंस्कृत शिक्षा ने उसके विचारों को विशाल बना दिया था और दार्शनिकों तथा तर्क-शास्त्रज्ञों से निरन्तर विचार-विनिमय के कारण उसमें सहिष्णुता की प्रवृत्ति प्रवर्धित हो गई थी। इसी सहिष्णु प्रकृति के कारण अकबर की इतनी प्रशंसा की जाती है। उसने कुछ हिन्दुओं को उच्चपद प्रदान किये[18] और अपने बाद में आनेवाले महान् अकबर के समान 'सती' प्रथा को रोकने का प्रयत्न किया। स्वतन्त्र राजपूत राज्यों से सुलतान ने छेड़-छाड़ न की, क्योंकि वह समझ चुका था कि चित्तौड़ एवं रणथम्भौर जैसे दुर्भेद्य दुर्गों पर स्थायी प्रभुत्व स्थापित करना असंभव था। उसकी यह नीति मुल्लाओं को रुचिकर न थी। अलाउद्दीन का अनुकरण करते हुए वह भी लूट से प्राप्त धन का $\frac{4}{5}$ भाग अपने लिए रख लेता था और शेष भाग सैनिकों में वितरण के लिए छोड़ देता था। परन्तु जब उसने मुल्लाओं के हाथ से न्याय-व्यवस्था छीन ली तो वे अधिक विषादमय हो गये। न्याय के प्रति उसके हृदय में इतना उत्कट प्रेम था कि वह स्वयं न्याय-व्यवस्था की जाँच करता रहता था और यदि न्यायाधिकरण उसके विरुद्ध भी निर्णय दे देता तो वह बड़े विनीत भाव से स्वीकार कर लेता था।[19]

---

१७. चार प्रकार के वैध कर हैं—खिराज, जकात, जजिया तथा खम्स।

१८. इब्नबतूता ने रतन नामक एक हिन्दू का उल्लेख किया है, जो सुलतान की सेवा में था। यात्री ने आर्थिक विषयों में इसकी बुद्धि की प्रशंसा की है।

इब्नबतूता—पेरिस संस्क० ३, पृ० १०५-१०६।

१९. इब्नबतूता—पेरिस संस्क० ३, पृ० २८५-८६।

रैंकिंग—अल-बदाऊनी, १, पृ० ३१७-१८।

वह स्वयं अपील का 'प्रधान न्यायाधिकरण' था, और यदि कभी उसका निर्णय 'मुफ्तियों' के निर्णय से भिन्न होता तो वह उनके निर्णय को ठुकरा देता और अपने ही निर्णय पर दृढ़ रहता था। कट्टरपंथियों के प्रभाव को समाप्त करने के लिए उसने राज्य के सम्मान्य पदाधिकारियों को न्याय करने का अधिकार प्रदान किया; यद्यपि यह कर्मचारी न तो काजी थे और न मुफ्ती और न यह स्पष्ट रूप से उलमा ही थे। सुलतान का भाई मुबारक खाँ 'दीवान-ए-खाना' में काजी को न्याय करने में सहायता देने के लिए उसके साथ बैठता था। मुबारक खाँ को 'मीरदाद' का पद प्राप्त हुआ था; यदि किसी ऐसे बड़े अमीर अथवा सरदार के विरुद्ध कोई दोषारोप किया जाता अथवा न्याय की प्रार्थना की जाती जो काजी के वश में आनेवाला न होता, तो उसको न्यायाधिकरण के सम्मुख उपस्थित करना इस पदाधिकारी का कर्तव्य होता था। उसने कुछ ऐसे उलमा को कठोर दण्ड दिया था जिनका विद्रोह अथवा षड्यन्त्रों में हाथ था या जिन्होंने धार्मिक-कोष से धन का अपहरण किया था। इस कठोर न्याय-व्यवस्था के कारण उलमा-वर्ग उस पर दोषारोपण करने लगा, क्योंकि यह वर्ग एक ऐसे शासक को सहन न कर सकता था जो आज तक मुसलमान शासकों द्वारा अदण्डनीय माने जानेवाले 'शेखों' एवं सैयदों तक को दंडित करने में न हिचकता हो। कुल एवं पद-प्रतिष्ठा किसी को अपने अपराध के अनुरूप दण्ड से बचा न सकती थी। इसी लिए अनेक देशों में घूमे हुए तथा देश-देश के लोगों तथा उनके कार्यों से सुपरिचित इब्नबतूता ने सुलतान के लिए लिखा है कि "सब लोगों में यह सुलतान सर्वाधिक विनम्र है और सब लोगों में वह सर्वाधिक न्यायप्रेमी है।" इब्नबतूता ने यह शब्द अपने देश में जाने पर लिखे थे, जब कि उसको सुलतान के कोप का कुछ भी भय न हो सकता था।

कृषि में सुलतान को बड़ी रुचि थी। उसने वीरतापूर्वक दुर्भिक्ष से निपटने का प्रयत्न किया, परंतु इस कार्य में उसके कर्मचारियों ने सहयोग न दिया। कृषि-विभाग के निरीक्षण के लिए उसने एक विशेष पदाधिकारी (अमीर कोही) नियुक्त किया और दुर्भिक्ष के समय तकावी के रूप में सत्तर लाख तनके वितरित किये।

सुलतान के उदारतापूर्ण कार्य इतने अधिक हैं कि उन पर सहसा विश्वास नहीं होता। जो कोई सुलतान के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित करने जाता था, वह

बदाऊँनी ने सुलतान के न्याय करने की प्रणाली का विस्तृत वर्णन किया है।

उसके लिए कुछ न कुछ भेंट अवश्य ले जाता था क्योंकि इस भेंट के बदले में सुलतान बहुमूल्य उपहार देता था, इसलिए लोग अधिकाधिक संख्या में उसके दर्शनार्थ जाने लगे। उपहार देने के लिए एक विभाग ही खोल दिया गया था। जिनका सुलतान की कृपा प्राप्त करने का सौभाग्य होता, उनको एक 'खत-ए-खुद' दिया जाता था, जिसमें लिखा रहता था कि इस पत्र-वाहक को भली भाँति जाँच-पड़ताल के बाद राजकोष से अमुक धन-राशि प्रदान की जाये। पत्र में लिखित धन दिये जाने से पहले इस 'खत' पर अनेक कर्मचारियों के हस्ताक्षर होते थे। राज्य की ओर से एक निर्माण-शाला का भी आयोजन किया गया था; 'मसालिक' के लेखक का कहना है कि सुलतान की निर्माण-शाला में ४००० रेशम के बुननेवाले नियुक्त किये गये थे जो अमीरों तथा राजसभा के पदाधिकारियों के सब प्रकार के परिधानों के लिए वस्त्र बनाते थे; इनके अतिरिक्त सोने के तार बनानेवाले ४००० कारीगर भी नियुक्त किये गये थे जो राजकीय परिवार की स्त्रियों तथा सरदारों की पत्नियों के लिए सोने का काम किये हुए वस्त्र बनाते थे।

सुलतान की विजय की योजनाएँ—सुलतान ने केवल शासन-तंत्र के सुधार में ही अपनी शक्तिमत्ता का परिचय नहीं दिया अपितु विदेशी राज्यों की विजय की विशाल योजनाओं द्वारा भी उसने अपनी तेजस्विता व्यक्त की। शासन के प्रारम्भिक काल में दरबार में शरणागत कुछ खुरासानी सरदारों ने उसे अपने देश पर आक्रमण करने के लिए उकसाया था। इस प्रकार की योजना किसी भी भाँति अतिरंजित कल्पना-प्रसूत अथवा मूर्खतापूर्ण न थी। पतित आबू सईद के शासन में खुरासान की दशा जैसी गिर गई थी, उससे भी ऐसे विचार को प्रोत्साहन प्राप्त होता था। आबू सईद राज्यारोहण के समय अल्पवयस्क था; अतः अमीर चौपान ना क सरदार राज-काज चलाता था; इस सरदार का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि वास्तव में वही राजकीय प्रासाद का अध्यक्ष बन गया था। इस सरदार का संरक्षण युवक सुलतान को अच्छा न लगा और जब इसने अपनी पुत्री से जिस पर सुलतान मोहित हो गया था, सुलतान का ब्याह कर देना अस्वीकार किया तो इसको सुलतान की आज्ञा से बंदी बना लिया गया और गला घोंटकर समाप्त कर दिया गया। चौपान की मृत्यु से फारस में अव्यवस्था फैल गई और चगताई सरदार तरमाशिरीन खाँ तथा मिस्र के सुलतान को फारस-साम्राज्य के पूर्वी तथा पश्चिमी भागों को आक्रांत करने का सुअवसर प्राप्त हो गया। मुहम्मद तुगलक ने मिस्र के सुलतान के साथ मित्रता का संबंध स्थापित कर लिया था और इधर इसने भी ३,३०,००० मनुष्यों की एक विशाल सेना का संघटन कर लिया, जिसको पूरे एक वर्ष

राजकोष से वेतन दिया जाता रहा। परंतु अनेक कारणों से खुरासान-विजय की यह महत् योजना कार्यान्वित न हो पाई। एक तो इसी बीच मिस्र के सुलतान ने आबू सईद से मैत्री कर ली और तुगलक को सहायता देना अस्वीकार कर दिया। दूसरे, चीन का शासक अपने भयप्रद पड़ोसी चगताई सरदार की शक्ति को बढ़ते देखना न चाहता था। तीसरे, विद्रोही सरदारों द्वारा तरमाशिरीन के पदच्युत किये जाने के कारण फारस-साम्राज्य को पूर्व की ओर से कोई भय न रह गया था और इसलिए आबू सईद की कठिनाइयाँ बहुत घट गई थीं। इसके अतिरिक्त हिन्दूकुश के दर्रों के मार्ग से इतने दूर के देश में एक विशाल सेना पहुँचाना और इसके भोजन आदि की व्यवस्था करना भी अति दुष्कर था। इसलिए इस अभियान की सफलता की आशा न थी। आज तक मुसलमानों का पाला असंघटित हिन्दुओं से पड़ा था, परंतु अपने सहधर्मियों के साथ निर्णयात्मक युद्ध में गुँथ जाना और वह भी उन्हीं के देश में, यह कार्य दिल्ली की सेना की सामर्थ्य के बाहर था। इस योजना को त्याग कर भारत पर ही ध्यान केन्द्रित करने में मुहम्मद तुगलक ने बहुत बुद्धिमानी प्रदर्शित की।

तथाकथित चीन अभियान एक अन्य योजना है, जिसके लिए सुलतान की कटु आलोचना की जाती है। भारतीय इतिहास के सभी आधुनिक लेखकों ने फिरिश्ता का अनुसरण कर यह समझ लेने की भूल की है कि यह अभियान चीन पर किया गया था।[२०] परंतु तत्कालीन इतिहासकार बर्नी का कहना है कि सुलतान का उद्देश्य हिंद तथा चीन की सीमाओं के मध्यवर्ती कराचल अथवा कराजल नामक पर्वतीय प्रदेश पर विजय प्राप्त करना था।[२१] इब्नबतूता ने स्पष्ट लिखा है कि यह अभियान कराजल पर्वत पर किया गया, जो दिल्ली से

---

२०. ब्रिग्ज—फिरिश्ता १, पृ० ४१६।
एलफिंस्टन—'हिस्ट्री ऑव इण्डिया'—पृ० ३९६।

फिरिश्ता लिखता है :—"चीन की अतुल संपत्ति का वर्णन सुनकर मुहम्मद तुगलक ने उस साम्राज्य को परास्त करने का विचार किया; परन्तु उसको इस योजना को सफल बनाने के लिए पहले हिमाचल प्रदेश को जीतना आवश्यक जान पड़ा।" आगे वह कहता है कि सुलतान के मन्त्रियों तथा सरदारों ने उसको इस योजना की निस्सारता समझाने का प्रयत्न किया, परन्तु सफल न हुए। बर्नी का वर्णन अधिक विश्वसनीय है। इब्नबतूता भी बर्नी का समर्थन करता है।

२१. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० ४७७।
इब्नबतूता, पेरिस संस्क० ३, पृ० ३२५।

दस पड़ावों की दूरी पर स्थित है।[२२] इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह पर्वतीय प्रदेश हिमाचल (हिमालय) रहा होगा, जो चीन तथा भारत के बीच अगम्य दीवार के रूप में स्थित है। यह अभियान किसी विद्रोही पर्वतीय सरदार के विरुद्ध किया गया जिसने दिल्ली साम्राज्य का प्रभुत्व स्वीकार न किया था। शाही सेना का प्रथम आक्रमण सफल रहा, परंतु बरसात प्रारम्भ होने पर सेना का साहस साथ छोड़ने लगा और छावनियों से रसद पाना कठिन हो गया। सेनाओं को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी; उद्दण्ड पर्वतवासियों ने सेना का सामान लूट लिया। केवल दस अश्वारोही सैनिक इस विनाश का समाचार सुनाने के लिए जीवित दिल्ली पहुँच सके। परंतु अभियान का उद्देश्य सिद्ध हो गया। पर्वतीय राजा ने सुलतान से संधि कर ली और कर देना स्वीकार कर लिया, क्योंकि पर्वत की तराई के भागों में स्थित खेतों में कृषि कर सकना उसके लिए तब तक असंभव था, जब तक वह दिल्ली के शासक की अधीनता स्वीकार न कर लेता, क्योंकि यह भूमि दिल्ली-राज्य का एक भाग थी।

मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में उपद्रव—अहसनशाह का विद्रोह— मुहम्मद तुगलक के शासन के प्रथम दस वर्ष बड़ी शांति से बीते, परंतु १३३५ ई० से उसका सौभाग्य मंद पड़ने लगा। इसका कारण कुछ तो जीवन के अंतिम वर्षों में उसके व्यवहार में कठोरता की वृद्धि तथा कुछ देश-व्यापी दीर्घकालीन दुर्भिक्ष से हिन्दुस्तान के प्रत्येक भाग में उत्पन्न घोर कष्ट थे। शासन-तंत्र के प्रमुख आधार भूमि-कर की आय में जैसे-जैसे न्यूनता आने लगी, साम्राज्य के विभिन्न भागों में विद्रोह सिर उठाने लगे। निराशा से घिरे हुए सुलतान ने अपनी क्षीण होती हुई प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कैरो में खलीफा से सहायता की याचना की और अमीर-उल-मोमनीन से अपने शासकत्व का मान्यता-पत्र प्राप्त किया। सर्वप्रथम महत्वपूर्ण विद्रोह सन् १३३५ ई० में माबर में जलालुद्दीन अहसनशाह ने किया।[२३] यद्यपि दुर्भिक्ष तथा आसपास के प्रदेशों में अराजकता फैल जाने के कारण, दिल्ली की दशा बहुत शोचनीय

---

२२. यहाँ हिमालय पर्वत का ही अर्थ लगता है। इब्नबतूता लिखता है कि यहाँ तक पहुँचने में ३ महीने लगते हैं।

२३. स्मिथ ने 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया' पृ० २४२ पर जो १३३८-३९ ई० की तिथि दी है, वह ठीक नहीं है।

अहसनशाह ने १३३५ ई० में विद्रोह किया और इसी वर्ष इसने स्वतन्त्र शासक के रूप में सिक्के ढलवाये। डा० हुल्श महोदय ने इन सिक्कों की खूब परीक्षा कर विद्रोह की तिथि १३३५ ई० बताई है।
जन० ऑव रा० ए० सो०, १९०९, पृ० ६६७-८३।

हो चली थी, फिर भी इस विद्रोही का दमन करने के लिए सुलतान ने स्वयं प्रयाण किया। परंतु वह तेलंगाना तक ही पहुँच पाया था कि महामारी का प्रकोप हो गया और सुलतान के अनेक अनुचर काल के गाल में चले गये। इस प्रकार अप्रत्याशित कठिनाइयों के कारण अहसानशाह के विरुद्ध किए गये अभियान का परित्याग कर दिया गया और उसे स्वतन्त्र बने रहने दिया गया।

बंगाल में विद्रोह—बख्तियार के पुत्र मुहम्मद के समय से बंगाल कभी भी दिल्ली-साम्राज्य का राज-भक्त भाग न रहा था। पूर्वी बंगाल के राज्यपाल बहराम शाह को उसके कवचवाहक फखरुद्दीन ने मार डाला और उसने हिजरी सन् ७३७-३८ (१३३६-३७ ई०) में अपने स्वामी के शासित प्रदेशों का अपहरण कर लिया। लखनौती के शासक कद्रखाँ ने इस राज्यापहारक पर आक्रमण किया परंतु वह मारा गया। दिल्ली में व्याप्त अव्यवस्था से लाभ उठाकर फखरुद्दीन ने स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित कर अपने नाम के सिक्के ढलवाये। अपने विस्तृत साम्राज्य के अन्य भागों के उपद्रवों में उलझा हुआ सुलतान इस विद्रोही की ओर ध्यान न दे सका। सुलतान की ओर से विरोध न किये जाने पर फखरुद्दीन ने स्थानीय विरोध को बड़ी सरलता से दबा दिया। शीघ्र ही उसने सारे देश पर अधिकार स्थापित कर लिया और बड़ी योग्यता एवं प्रबलता से शासन करने लगा। इब्नबतूता ने इसको धार्मिक व्यक्तियों की संगति एवं दान देने में आनन्द का अनुभव करनेवाला निपुण निरकुश शासक बताया है। इसके शासन में बंगाल खूब समृद्ध हुआ और वहाँ की आर्थिक दशा इतनी सुधर गई कि लोग सुख चैन का जीवन बिताने लगे। भोजन के पदार्थ तथा अन्य वस्तुएँ इतनी सस्ती हो गईं कि फारस से आनेवाले लोग बंगाल को "अच्छी चीजो से भरपूर नरक" कहने लगे।[२४]

ऐनुलमुल्क का विद्रोह—१३४०-४१—बंगाल में विद्रोह के पश्चात् अन्य भागों में छोटे-मोटे उपद्रव हुए, परंतु यह शीघ्र दबा दिये गये। फिर भी १३४०-४१ ई० में अवध एवं जफराबाद के प्रतिनिधि शासक ऐनुलमुल्क के विद्रोह ने बड़ा उग्र रूप धारण कर लिया था। ऐनुलमुल्क एक प्रमुख सरदार था और राजसभा में उसको बहुत सम्मान प्राप्त था। जब दुर्भिक्ष के कारण सुलतान फरुक्खाबाद जिले के सरग्द्वारी नामक स्थान पर राजधानी ले गया,

---

२४. इब्नबतूता—पेरिस सस्क० ४, पृ० २११-१२।
यूले—'ट्रैवल्स आॅव मार्को पोलो'—२, पृ० ७९-८०।

उस समय ऐनुलमुल्क तथा उसके भाइयों ने दुर्भिक्ष के कष्टों को कम करने में वहुत सहायता पहुँचाई थी। सुलतान के एक अदूरदर्शितापूर्ण कार्य ने इस राजभक्त सरदार को विद्रोही वना दिया। दक्षिण के कुछ पदाधिकारियों के दुर्व्यवहार का समाचार पाकर सुलतान ने ऐनुलमुल्क को दक्षिण का शासन-भार सौंपने का निश्चय किया और उसको सपरिवार दक्षिण जाने की आज्ञा दे दी। दक्षिण जाने के इस अनुपेक्षणीय आदेश से ऐनुलमुल्क वहुत आश्चर्य में पड़ गया। सुलतान के भय से त्राण पाने के लिए अवध एवं जफ़राबाद में शरण लेनेवाले लोगों ने सुलतान के विरुद्ध उसके कान भरने प्रारम्भ कर दिये। सुलतान की आज्ञा से सशंक ऐनुलमुल्क ने अकस्मात् विद्रोह कर दिया और उसने तथा उसके भाइयों ने राजकीय सामान को हस्तगत कर लिया। इस विद्रोह का समाचार पाकर सुलतान पहले तो अवाक् हो गया परंतु उसने तत्काल अपनी सेनाओं को सुसज्जित करना प्रारम्भ किया। सेना की नैतिकता पर उसने सतर्क दृष्टि रखी और स्वयं युद्ध-क्षेत्र का निरीक्षण करता रहा। भीषण एवं दीर्घकालीन युद्ध के पश्चात् ऐनुलमुल्क पराजित हुआ और वंदी बनाकर सुलतान के शिविर में लाया गया; उसके सहयोगियों का निर्दयता से वध किया गया, परंतु उसकी पूर्व सेवाओं का ध्यान कर उसको क्षमा किया गया और शाही उद्यानों का निरीक्षक नियुक्त किया गया।

सिंध में उपद्रवों का दमन——दुर्दैव ने इस भाग्यहीन सुलतान को तनिक भी विश्राम न लेने दिया। जैसे ही वह साम्राज्य के एक भाग के उपद्रवों का दमन कर पाता, तभी किसी दूसरे भाग में और भी भीषण विद्रोह उठ खड़ा होता। सामाजिक अव्यवस्था में फलने-फूलनेवाले दुराचारी सिर उठाने लगे और लूटमार तथा डाके डालने के लिए अपने-अपने दल संघटित करने लगे। सिंध में लुटेरे वहुत ही प्रवल हो उठे। सुलतान ने ससैन्य सिंध की ओर प्रयाण किया और वहाँ पहुँचकर इन दुष्टों को तितर-बितर कर दिया। इनके नायकों को पकड़ लिया गया और इस्लाम ग्रहण करने के लिए वाध्य किया गया। १३४२ ई० के अंत तक हिन्दुस्तान में व्यवस्था स्थापित हो गई, कुछ समय पश्चात् दक्षिण में इनसे भी अधिक प्रबल उपद्रव उठ खड़े हुए। इन उपद्रवों ने भयंकर रूप धारण कर लिया और सुलतान ने विद्रोहों का दमन करने तथा अपने अधिकार का विरोध दवाने में स्वयं को असमर्थ पाया।

दक्षिण में उपद्रव——दक्षिण-भारत षड्यन्त्रों एवं राजद्रोह की गुप्त मन्त्रणाओं का अड्डा बना हुआ था, शासन के प्रारम्भिक वर्षों में सुलतान ने मावर, वारंगल, द्वारसमुद्र जैसे सुदूरवर्ती प्रांतों पर आधिपत्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी और लगभग समस्त दक्षिण भारत उसके साम्राज्य में आ चुका

था। परंतु १३३५ ई० में मावर एक स्वतंत्र राज्य बन गया और १३३६ ई० में हरिहर तथा उसके भाई बुक्का ने मुसलमान-शक्ति के विरोध स्वरूप विजयनगर साम्राज्य की नींव डाली, इसका पूर्ण विवरण आगे दिया जायेगा। सन् १३४४ ई० में प्रताप रुद्रदेव काकतीय के पुत्र कानियानायक अथवा कृष्णनायक ने दक्षिण के हिन्दुओं का एक संघ बनाया। शाहू अफगान के विद्रोह के प्रसंग में बर्नी ने लिखा है कि "जब यह (विद्रोह) चल रहा था, वारंगल के हिन्दुओं में एक विद्रोह फूट पड़ा। इस प्रदेश में कानियानायक (कापयनायक) ने शक्ति-संचय कर ली थी। नायब वजीर मलिक मकबूल दिल्ली भाग आया, हिन्दुओं ने आरंगल पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार यह पूर्णतया (दिल्ली-साम्राज्य के) हाथ से निकल गया। इसी बीच कानियानायक (कापयनायक) के एक संबंधी ने, जिसको मुलतान ने कम्पाला भेजा था, इस्लाम का त्याग कर दिया और एक विद्रोह खड़ा कर दिया। इस प्रकार कम्पाला प्रदेश भी जाता रहा और हिन्दुओं के अधिकार में आ गया, केवल देवगिरि और गुजरात (दिल्ली-साम्राज्य में) सुरक्षित रहे।"[२५] दक्षिण में प्रबल विद्रोह प्रारम्भ हो गया और चतुर्थ बल्लाल, हरिहर, कृष्णनायक तथा अनेक छोटे-छोटे सरदारों के प्रयत्नों से इसने ऐसा जोर पकड़ा कि अंततः वारंगल, द्वारसमुद्र तथा कारोमण्डल समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों से मुसलमानों की शक्ति समाप्त करके ही शांत हुआ। सन् १३४६ ई० में होयसल-वंश के शासन की समाप्ति ने हरिहर को अपनी शक्ति को दृढ़ आधार पर स्थापित करने में समर्थ बना दिया और अब विजयनगर दक्षिण का एक प्रमुख राज्य तथा उत्तर से होनेवाले मुसलमानों के आक्रमणों का प्रतिरोधक बन गया।

केवल गुजरात और देवगिरि मुहम्मद तुगलक के शासन में रह गये थे। अनेक कार्यों में विफल-प्रयत्न होने के कारण उसका स्वभाव कटु बन गया था और उसमें मानवोचित संवेदना का वह गुण समाप्त हो गया था, जिसके बिना विरोधी लोगों को अपने पक्ष में ले आना असंभव हो जाता है। उसने देवगिरि के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि-शासक कुतलुग खाँ को हटाकर उसके भाई को उसके स्थान पर नियुक्त किया। इस अदला-बदली से देश में बहुत असंतोष फैल गया। राजस्व में बहुत कमी आ गई और राजकर्मचारी असहाय रैयतों से अपने लिए बलपूर्वक धन लेने लगे थे। कुतलुग खाँ को देवगिरि से बुला लेने की भूल के पश्चात् मालवा तथा धार के मूर्ख जागीरदार कलार-पुत्र

---

२५. इलियट, ३, पृ० २४५।

अजीज खुम्मार द्वारा विदेशी अमीरों[२६] की हत्या के रूप में एक और बड़ी भूल की गई। अजीज के इस नृशंस व्यवहार से अमीरों में आतंक फैल गया और आत्म-रक्षा के लिए उन्होंने शस्त्र सँभाल लिये। दक्षिण में द्रुत गति से अव्यवस्था फैलने लगी और जहाँ-तहाँ सेनाएँ विद्रोह करने लगीं। गुजरात में विद्रोह का दमन करने के लिए सुलतान ने स्वयं प्रस्थान किया और भडोंच से उसने कुतलुग खाँ के भाई दौलताबाद के प्रतिनिधि-शासक निजामुद्दीन अली-मुल-मुल्क को विदेशी अमीरों को शीघ्र राजकीय शिविर में भेजने का संदेश भेजा। रायचूर, मुदगल, गुलबर्गा, बीदर, बीजापुर, बरार तथा अन्य स्थानों के अमीरों ने राजाज्ञा को शिरोधार्य कर गुजरात की ओर प्रस्थान किया, परंतु मार्ग में वह सहसा भयभीत हो उठे और उनको यह संदेह हुआ कि सुलतान उनके प्राण लेना चाहता है। उन्होंने शाही संरक्षकों पर आक्रमण कर दिया और कुछ को मार डाला; तब वह दौलताबाद लौट आये जहाँ उन्होंने निजामुद्दीन को पकड़कर बंदी बना लिया। दौलताबाद के दुर्ग पर इनका अधिकार हो गया; उन्होंने शाही कोष छीन लिया और मराठा-प्रदेश को आपस में बाँटकर अपने एक नायक मलिक इस्माइल मख अफ़गान को अपना शासक निर्वाचित कर लिया। इसकी सूचना मिलने पर सुलतान ने दौलताबाद की ओर प्रयाण कर विद्रोही अमीरों को एक समक्ष युद्ध में परास्त किया। मलिक मख अफगान धारागिरि के दुर्ग में डट गया और एक अन्य अफगान नायक हसन कागू अपने साथियों को लेकर गुलबर्गा की ओर चल पड़ा। सुलतान ने दौलताबाद पर घेरा डाला और अपने सेनानायक इमादुलमुल्क सरतेज

---

२६. मुसलमान इतिहासकारों ने इन विदेशी अमीरों के लिए 'अमीरान-ए-सदा' शब्द का व्यवहार किया है। बर्नी ने इनके लिए सब जगह इसी नाम का व्यवहार किया है।

ब्रिग्ज ने इनको 'अमीर जदीदा' के रूप में बदल दिया है; परन्तु फिरिश्ता के मूल पाठ में कहीं यह शब्द नहीं मिलता।

यह अमीर विदेशों से आये हुए अनेक जातियों के थे और भारत में बस गये थे। ई० बेली महाशय का विचार है कि यह सौ सैनिकों के मुगल सरदार की उपाधि है। परन्तु इस अर्थ में इस उपाधि का प्रयोग नहीं हुआ है। यहाँ इससे वह सभी साहसिक अभिप्रेत हैं जो भारत में बस गये थे। मुहम्मद के शासन-काल में इन्होंने जैसे उपद्रव किये, उनसे इनकी उद्दण्डता एवं भयंकरता का परिचय प्राप्त होता है।

देखिये—बेली कृत 'लोकल मुहम्मदन डाइनेस्टीज ऑव गुजरात' पृ० ४३। तथा डेनीसन रॉस कृत 'अरेबिक हिस्ट्री ऑव गुजरात' की भूमिका, २, पृ० ३१-३२।

को विद्रोहियों का पीछा करने के लिए भेज दिया। दौलताबाद पुनः सुलतान के अधिकार में आ गया; परंतु थोड़े समय बाद ही गुजरात में तगी के विद्रोह के कारण सुलतान को यहाँ से हटना पडा। सुलतान के पीठ फेरते ही, विदेशी अमीरों ने अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रबल उद्योग प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने देवगिरि के दुर्ग को घेर कर उस पर अपना अधिकार कर लिया और इस पर पुनः अधिकार करने के लिए शाही सेना ने विफल प्रयत्न किये। शाही सेनाध्यक्ष इमादुलमुल्क को हसन ने एक युद्ध में परास्त कर दिया और दौलताबाद पर विद्रोहियों ने अधिकार कर लिया। विद्रोही अमीरों द्वारा शासक के रूप में निर्वाचित इस्माइल मख ने इन युद्धों में प्रमुख भाग लेनेवाले उत्साह-सम्पन्न युवक हसन के पक्ष में शासक पद को "स्वेच्छा एव प्रसन्नतापूर्वक" त्याग दिया। हसन ने १३ अगस्त १३४७ ई०[२७] को अलाउद्दीन बहोन अबुल-मुजफ्फर बहमन शाह की उपाधि धारण कर शासक-पद ग्रहण किया। इस प्रकार प्रसिद्ध बहमनी राज्य की नींव पडी, जिसका पूर्ण विवरण अन्य अध्याय में दिया जायेगा।

सुलतान का देहांत—तगी के विद्रोह का समाचार पाकर सुलतान देवगिरि छोडकर गुजरात की ओर चल पडा था। यह उसकी बडी भारी भूल थी कि विदेशी अमीरों का पूर्णतः दमन कर लेने के पूर्व ही उसने विश्वासघातक तगी को समाप्त करने का निश्चय कर लिया। इन विपरीत परिस्थितियों से घिरे हुए सुलतान की भेंट बर्नी से हुई और उसने उससे (बर्नी से) राज्य-संबंधी समस्याओं पर उसका परामर्श लिया। बर्नी ने पद-त्याग करने का सुझाव दिया, परतु सुलतान ने विद्रोही प्रजा को दण्ड देने का दृढ निश्चय व्यक्त किया। उसने इतिहासकार बर्नी से स्पष्ट शब्दों में कहा कि वह कठोर दण्ड द्वारा जनता को आज्ञापालन एवं विनय का पाठ पढ़ायेगा। विद्रोही तगी का उसने जगह-जगह पीछा किया, परंतु वह हाथ न आया। उसने करनाल के राय को परास्त कर समग्र समुद्रतटवर्ती प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। यहाँ से उसने गोंडल की ओर प्रस्थान किया जहाँ वह रुग्ण हो गया और उसको कुछ समय तक वहीं रुक जाना पड़ा। एक विशाल सेना एकत्र कर उसने थट्टा की ओर प्रयाण किया परंतु इस स्थान से ३, ४ दिन पहले के पडाव पर ही ज्वर-ग्रस्त होकर उसने २० मार्च १३५१ ई०

२७. यह फिरिश्ता द्वारा लिखित तिथि है। 'बुरहान-ए-मासिर' में ३ दिसंबर १३४७ ई० की तिथि लिखी है।
'बुरहान-ए-मासिर'—इण्डि० एण्टि०, १८९९, २८, पृ० १४३।
जरनल ऑव दी यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी १, भा० २, पृ० ३२।

को शरीर-त्याग कर दिया। जिस दिल्ली-साम्राज्य में एक समय २३ प्रांत सम्मिलित थे और जो दिल्ली तथा लाहौर से दक्षिण में माबर एवं द्वारसमुद्र पर्यन्त तथा पूर्व में लखनौती एवं गौड़ से पश्चिम में थट्टा एवं सिंध तक विस्तृत था, अब खण्ड-खण्ड होने लगा और इसके अवशेषों पर शक्तिशाली एवं समृद्ध राज्य उठ खड़े हुए। गुजरात नाम-मात्र के लिए साम्राज्य का अंग बना रहा, परंतु अन्य स्थानों से शाही प्रभुत्व उठ चुका था।

मुहम्मद का चरित्र—इस भाग्यहीन शासक के जीवन का इस प्रकार अन्त हुआ। सारे जीवन-पर्यन्त वह कठिनाइयों से भिड़ता रहा और उसने हताश होकर कभी अपना कार्य न छोड़ा। यह सत्य है कि उसके प्रयत्न विफल हुए, परंतु उसकी विफलता उन परिस्थितियों के कारण हुई जिन पर उसका कोई वश न था। बीस वर्ष से भी अधिक समय तक चलनेवाले घोर दुर्भिक्ष ने उसके शासन को निष्प्रभ और उसकी प्रजा को राज-विरोधी बना दिया। उसके विषय में जो लोग यह निर्णय देते हैं कि वह नीरो एवं कैलीगुला के समान अत्याचारी एवं रक्तपिपासु था, वह उसकी प्रखर प्रतिभा के प्रति अन्याय करते हैं और दुर्भिक्ष का सामना करने की उसकी सुंदर-सुंदर योजनाओं तथा जनता के जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिए उसके द्वारा किये गये सुधारों को भुला देते हैं। बर्नी एवं इब्नबतूता के वर्णनों से यह प्रमाणित रूप से स्पष्ट हो जाता है कि निरर्थक रक्त बहाने का उसे शौक न था और वह अपने शत्रुओं के प्रति भी दया, उदारता एवं न्यायपूर्ण व्यवहार करता था। उसमें सुधारों को रचनात्मक रूप देने की ऐसी बुद्धि एवं अभिरुचि थी जैसी हमें मध्य-युग के शासकों में विरल ही दिखाई देती है। परंतु उसके मार्ग में अनेक कठिन समस्याएँ उपस्थित थीं। उसको निरन्तर बढ़ते हुए साम्राज्य की समस्याओं का समाधान ऐसे पदाधिकारियों को लेकर करना पड़ता था जो कभी हृदय से उसको सहयोग न देते थे। सदा विशेषाधिकारों के लिए चिल्लानेवाले उलमा का उसे सामना करना पड़ा। जनता में [illegible] तथा [illegible] लानेवाले प्रयत्नों का उन्होंने विरोध किया। ऐसी कुत्सित परिस्थितियों को देखते हुए, यह [illegible] है कि सुलतान के प्रति [illegible] जो धारणा बन चुकी है, उसकी [illegible] की जाये। यद्यपि श्री [illegible] ने सुलतान की [illegible] नीति-कुशलता की [illegible] से अधिक प्रशंसा कर दी है, [illegible] के समीप है और स्वीकार करने के योग्य है।"

तुग़लक़ साम्राज्य
सन् १३२७ ई०
काश्मीर
लाहौर
मुलतान
सरस्वती
हांसी
दिल्ली
सिविस्तान
राजपूताना
बदायूं
अवध
कन्नौज
कड़ा
तिरहुत
मालवा
नर्मदा नदी
ताप्ती नदी
देवगिरि
गोदावरी नदी
वरंगल
मदूरा
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी

वह पागल था, यह एक ऐसा मत है जिसके विषय में समसामयिक लेखक कोई संकेत नहीं देते; साथ ही उसकी बहुमुखी, सक्रिय एवं शक्तिसम्पन्न प्रवृत्तियाँ हमको यह स्वीकार करने से भी रोकती हैं कि वह अव्यवहार्य सिद्धान्तों-वाला व्यक्ति था। उसको निरंकुश कहना सत्य हो सकता है, परंतु मध्य-युग में अन्य किसी प्रकार के शासन-तंत्र का विचार भी नहीं किया जा सकता था; इस शब्द को ऐसे रूप में प्रयोग करना, जैसे कि यह किसी दुराचार अथवा रोग का नाम हो, यह सत्य भुला देना है कि एक निरंकुश शासक जिस तक नवीन विचारों की पहुँच हो सकती है या जो सुधार के कार्यों म प्रवृत्त होता है, वह एक ऐसे समय में जब शिक्षा का अत्यल्प प्रचार हो और रूढ़िवाद बद्धमूल हो, अपनी प्रजा की अभिवृद्धि के लिए बहुत कुछ कर सकता है। परंतु ऐसे शासक को अपने ही काल की गभीर कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता है जैसे अधिकृत स्वार्थों के कारण अनिवार्य रूप से आने-वाली उथल-पुथल तथा रूढ़ियों के प्रति लोगों के स्वाभाविक ममत्व उसके लिए अनेक प्रतिपक्षी उत्पन्न कर देते हैं; लोक-रुचि के विपरीत सुधारों को कार्यरूप में लानेवाले पदाधिकारी स्वामी के आदेश-पालन का बहाना बनाकर अपना बचाव कर लेते हैं (परंतु) यदि उसकी योजनाओं पर अप्रत्याशित आपत्तियाँ टूट पड़ें, यदि दुराचारी अथवा अयोग्य पदाधिकारियों के कारण उन (योजनाओं) के उद्देश्य उलट जायें, तो उसको ही दोष का भागी बनना पड़ता है—क्योंकि वह निरंकुश है। यदि वह योद्धा रहा है और थट्टा की दीवालों के नीचे मुहम्मद-बिन-तुगलक के समान याद मृत्यु उसको ऐसे समय

है, परन्तु उस पर न तो इब्नबतूता के यात्रा-वर्णन में और न बर्नी के ग्रन्थ में ही यह दोष लगाया गया है। एडवर्ड टॉमस ('दि क्रॉनिकल्स' पृ० २०२-३) मुहम्मद पर हिब्रू पैगम्बर की तरह बरस पड़े हैं और उसका घोर पिशाच जैसा वर्णन किया है। हेवेल ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। परन्तु इनका ऐसा वर्णन करना आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि इन्होंने बर्नी के वर्णन को सत्य मानकर ही ऐसा किया है। बर्नी की मुहम्मद के प्रति अत्यंत कटु भाव-नायें थीं और उसका वर्णन इनसे अतिरंजित है।

इसी प्रकार मुहम्मद पर जो रक्त-पिपासुता का दोष लगाया जाता है वह भी स्वीकार्य नहीं है। सुलतान कोई ऐसा बर्बर न था जो अत्याचारों में आनंद पाता हो। उसने दुराचारियों को जो दण्ड दिये वह कठोर अवश्य थे; परन्तु उस काल में योरोप तथा एशिया सभी जगह दण्ड-विधान अत्यंत कठोर था। मुगल शासक भी कभी-कभी भयंकर उग्रता प्रदर्शित करते थे। इसके विपरीत, सुलतान बहुत न्याय-प्रेमी था और इब्नबतूता ने उसके न्याय करने के ढंग का विस्तृत वर्णन किया है।

इब्नबतूता—पेरिस सस्क०, ३, पृ० २८५-८६।

घर दबाये, जब वह किसी साधारण युद्ध में जुटा हो, तो लोकापवाद का समर्थन करने के लिए ईश्वरीय न्याय का बखान किया जाता है और (उसके लिए) साहित्य में लिखा जाता है कि—

"वह ऐसा नाम छोड़ गया जिससे संसार पीला पड़ गया, कोई शिक्षा लेने अथवा कथा को सजाने में।"

इब्नबतूता—मुहम्मद तुगलक के शासन के विषय में मूर यात्री इब्न-बतूता के यात्रा-वृत्तांत से बहुत मनोरंजक सामग्री प्राप्त होती है। आबू अब्दुल मुहम्मद, जिसको साधारणतया इब्नबतूता कहा जाता है, २४ फरवरी १३०४ ई० को टैंजियर में पैदा हुआ था। उसमें भ्रमण के प्रति जन्म-जात रुचि थी और बड़े होने पर उसने अपनी इस हार्दिक इच्छा को पूर्ण करने का निश्चय कर लिया। २१ वर्ष की अवस्था में ही वह भ्रमण के लिए चल पड़ा और अफ्रीका तथा एशिया के अनेक देशों में घूमता हुआ वह हिन्दूकुश के दर्रों के मार्ग से भारत में आया। १२ सितंबर १३३३ ई० को वह सिंधु तट-पर पहुँचा; यहाँ से वह दिल्ली आया जहाँ उसका स्वागत किया गया। मुहम्मद तुगलक ने उसको दिल्ली का काजी नियुक्त किया और अपनी राजसभा में स्थान दिया। यहाँ उसको इस असाधारण परंतु भाग्यहीन शासक की आदतों, स्वभाव एवं कार्यों से निकटतया परिचय पाने का अवसर मिला। इस यात्री ने सुलतान की उदारता, विदेशों से आये लोगों के प्रति उसकी आवभगत, उसकी विशाल सम्पत्ति, उसके न्याय-प्रेम, उसकी विनम्रता, इस्लाम के विधि-विधानों के पालन में उसकी तत्परता, विद्वानों के प्रति उसके प्रेम तथा उसके अन्य गुणों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। परंतु इसने सुलतान के क्रूर कर्मों की भी तालिका दी है, जिनको यह 'उस काल के आश्चर्य' कहता है। इब्नबतूता ने जिन आठ मौलवियों एवं शेखों के वध का उल्लेख किया है, उन्होंने या तो राज-कोष से धन का अपहरण किया था अथवा वह राज-द्रोह के कुचक्रों में सम्मिलित पाये गये थे। इब्नबतूता ८ वर्ष तक भारत में रहा और उसने सन् १३४२ ई० में सुलतान की सेवा से अवकाश ग्रहण किया।

उसने उस काल के हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के ही रीति-रिवाजों तथा रहन-सहन पर प्रकाश डाला है और उसका वृत्तान्त अनेक बातों में जियाबर्नी के वर्णन का पूरक है। मुहम्मद तुगलक ने उसको राजनीतिक कार्य के लिए चीन में दूत बनाकर भेजा था, परंतु अप्रत्याशित घटनाओं के कारण वह इस कार्य को पूर्ण न कर सका। जिस जहाज में वह यात्रा कर रहा था वह डूब गया और उसके साथ के लोग या तो डूब गये अथवा समुद्री डाकुओं द्वारा मारे गये। यदि इब्नबतूता की बात सच्ची मानी जाये—यद्यपि सर हेनरी यूल इस

विषय में उसके कथन पर संदेह प्रकट करते हैं—तो जान पड़ता है कि वह अनेक विपत्तियों का सामना करता हुआ चीन पहुँच गया था, परंतु परिस्थितियों को प्रतिकूल पाकर लौट पड़ा। चीन से लौटने पर उसने मलाबार से अरब की ओर यात्रा प्रारम्भ की और ८ नवम्बर, १३४९ ई० को वह अपने देश की राजधानी फेज पहुँचा। यहाँ उसने अपने मित्रों तथा उच्चपदस्थ लोगों को अपनी लंबी यात्रा का हाल सुनाया। कुछ लोगों ने उसके वृत्तांत को सच माना; और कुछ ने उसको केवल गप्पी ठहराया। उसने अपने अनुभवों एवं निरीक्षणों को लिखना प्रारम्भ किया और १३ दिसम्बर १३५५ ई० को यह कार्य पूरा किया। ७३ वर्ष की अवस्था में सन् १३७७-७८ ई० में इब्नबतूता का देहांत हो गया।

इब्नबतूता के वृत्तांत की सत्यता में साधारणतया कोई संदेह नहीं है, क्योंकि अन्य इतिहासकारों के विवरणों से उसके वर्णन का बहुधा समर्थन होता है। उसने अपने आश्रयदाता के दानों एवं दण्डों, दयालुता एवं कठोरता का पर्याप्त निष्पक्षता से वर्णन किया है। सुलतान के चरित्र के विषय में उसके वर्णन का समर्थन जिया बर्नी के वर्णन से हो जाता है, जो चापलूसी में अधिक पूर्ण परंतु निंदा में असंतुलित है। बहुत सी बातों का इसामी भी समर्थन करता है। इब्नबतूता का स्वभाव, जैसा कि उसकी यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है, बहुत रोचक है। नवोल्लास, जीवनीशक्ति, साहस, रूढ़ि-ग्रस्त धार्मिकता तथा सरल विश्वास से पूर्ण इब्नबतूता बहुत अपव्ययी भी जान पड़ता है; अतः वह प्रायः आर्थिक संकटों में पड़ जाता था, जिनसे उसके कृपालु आश्रयदाता ने उसको अनेक बार मुक्त किया।

अध्याय ११

फीरोज तुगलक—१३५१-८८ ई०

फीरोज का प्रारम्भिक जीवन—फीरोज का जन्म १३०९ ई० में हुआ था। उसका पिता सुलतान गयासुद्दीन तुगलक का भाई सिपहसालार रजब था। अलाउद्दीन ने तुगलक को दीपालपुर की जागीर सौंपी थी, जिसकी उसने बड़ी निपुणता एवं शक्तिशाली ढंग से व्यवस्था की। अबूहर के भट्टी राजपूत सरदार रानमल (रणमल्ल) की पुत्री के सौंदर्य की प्रशंसा सुनकर, गयासुद्दीन तुगलक ने राणा के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा कि वह अपनी कन्या का विवाह उसके भाई रजब से कर दे। राजपूत सरदार ने अपने जातीय अभिमान के कारण यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। इस पर तुगलक ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर राजपूत सरदार को आदेश दिया कि वह राज-कर चुका दे और अबूहर की जनता को उसने घोर यातनाएँ देना प्रारंभ कर दिया। राणा की वृद्धा माता इस विषय में जब उसके साथ बातें कर रही थी तो राजकुमारी के कानों में इनकी बातचीत पड़ गई। राजकुमारी ने जनता को यातनाओं एवं विनाश से त्राण दिलाने के लिए अपना जीवन-समर्पण करने की इच्छा प्रकट की। इस प्रकार रजब से उसका विवाह हुआ। इस विवाह-संबंध से फीरोज तुगलक का जन्म हुआ। बड़े आश्चर्य की बात है कि राजपूतनी की संतान फीरोज इतना कट्टर धर्मांध कैसे बन गया। सुलतान मुहम्मद तुगलक ने अपने शासन-काल में फीरोज के प्रति बहुत अच्छा व्यवहार किया और उसको उच्च पद पर नियुक्ति की। फीरोज उसका बहुत विश्वासपात्र बन गया था और बर्नी की 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में इस तथ्य के अंतःप्रमाण विद्यमान हैं कि सुलतान मुहम्मद उसको ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था।

फीरोज तुगलक का सिंहासनारोहण—थट्टा के समीप मुहम्मद तुगलक की मृत्यु से समस्त राजकीय शिविर में अस्तव्यस्तता फैल गई और सेनानायकों तथा सैनिकों में निराशा की भावना व्याप्त हो गई। तगी के विरुद्ध अभियान में सहायता के लिए एकत्र किये गये वैतनिक मंगोल सैनिक राजकीय शिविर को लूटने लगे और सेना का सुरक्षित रूप से दिल्ली लौट जाना अत्यन्त कठिन हो गया। मुहम्मद तुगलक किसी पुरुष-उत्तराधिकारी को न छोड़ गया था; इससे परिस्थिति और भी विषम बन गई थी और अमीरों

एवं सरदारों को यह शंका होने लगी कि यदि उन्होंने शीघ्र कोई उत्तराधिकारी न चुन लिया, तो परिस्थिति विनाशकारी रूप धारण कर लेगी। इन घटनाओं के प्रत्यक्ष-द्रष्टा बर्नी ने लिखा है कि सुलतान मुहम्मद ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था और उसका यह कथन सम-सामयिक लेखक शम्स-ए-सिराज अफीफ द्वारा भी समर्थित होता है।[1] इस उत्तराधिकार पत्र के अनुसार सरदारों ने फीरोज को राजमुकुट भेंट किया और उससे प्रार्थना की कि वह इसको स्वीकार कर मंगोलों से सेनानायकों एवं सैनिकों के परिवारों की रक्षा करे। महत्त्वाकांक्षा-शून्य एवं संन्यासी का सा जीवन बिताने के इच्छुक फीरोज ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में पहले तो हिचकिचाहट प्रकट की और मक्का की यात्रा करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु सरदारों का आग्रह प्रबल होता गया और राज्य के हित को देखते हुए फीरोज को उनका आग्रह स्वीकार कर लेना पड़ा। फीरोज के राजमुकुट स्वीकार कर लेने का सेना पर अति कल्याणकारी प्रभाव पड़ा और शीघ्र ही सेना में व्यवस्था स्थापित हो गई। परन्तु दिल्ली में ख्वाजा जहान द्वारा मुहम्मद के एक कल्पित पुत्र को सिंहासनारूढ़ करा दिये जाने के कारण गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई थी।[2] परन्तु ख्वाजा पर विश्वासघात का दोष नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि शाही सेना के प्रमुख नायकों फीरोज एवं तातार खाँ के युद्ध-भूमि से अदृश्य हो जाने का समाचार पाकर उसने जनता के हित की भावना से प्रेरित होकर ही ऐसा किया था।[3] फीरोज ने सरदारों

---

१. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० ५३५। 'तबकात-ए-अकबरी'—बिब्लि० इण्डि० पृ० २२४।

फिरिश्ता ने लिखा है कि भूतपूर्व सुलतान ने फीरोज के नाम पर 'उत्तराधिकार-पत्र' लिख दिया था। परन्तु फिरिश्ता ने आगे लिखा है कि जब फीरोज ने मौलाना कमालुद्दीन, शेख मुहम्मद नासिरुद्दीन अवधी और मौलाना शम्सुद्दीन से पूछा कि क्या भूतपूर्व सुलतान का कोई पुत्र है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि यदि सुलतान का कोई पुत्र हो भी, तब भी वर्तमान स्थिति में उसका अभाव समझना ही उचित है। इनके इस उत्तर से फिरिश्ता ने यह निष्कर्ष निकाला है कि जिस बालक को ख्वाजा जहान ने गद्दी पर बैठा दिया था वह सुलतान का कल्पित पुत्र न था। लखनऊ संस्क० पृ० १४५। ब्रिग्ज, १, पृ० ४४४ व ४४७ भी देखिये। परन्तु समसामयिक लेखकों के वर्णन की अपेक्षा फिरिश्ता का वर्णन अधिक विश्वसनीय न समझना चाहिए।

२. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० ५३९। फिरिश्ता, लखनऊ संस्क० पृ० १४५।

३. शम्स-ए-सिराज अफीफ, 'तारीख-ए-फीरोजशाही', बिब्लि० इण्डि० पृ० ६८।

कुछ और ही निष्कर्ष निकलता है। वह शासन-तंत्र में कुरान के नियमों का अक्षरशः अनुसरण करनेवाला कट्टरपंथी दुराग्रही धर्मान्ध था। वह धार्मिक नियमों के पालन में बहुत कट्टर था और धार्मिक उत्सवों के अवसर पर धर्म-परायण मुसलमान के समान व्यवहार करता था। विधर्मी प्रजा-जनों को इस्लाम ग्रहण करने के लिए वह उत्साहित करता और जो इस्लाम ग्रहण कर लेते, उनको 'जजिया' कर से मुक्त कर देता था। पूर्णतः कट्टरपंथियों के प्रभाव में होने के कारण उसने कट्टरपंथ के विरोधी सम्प्रदायों के दमन की आज्ञा दी। एक ब्राह्मण को जिसने अपने पूर्वजों का धर्म त्यागना अस्वीकार कर दिया था यह दोष लगाकर राजप्रासाद के सामने जीवित जलवा दिया कि वह मुसलमानों को सत्धर्म से विलग होने को प्रवृत्त करता है।[५]

जाजनगर के अभियान के समय सुलतान ने जगन्नाथ की मूर्ति उखड़वा दी और दिल्ली लाकर इसको हर सभव प्रकार से अपमानित किया गया।[६] मुसलमान-शासन में प्रथम बार ब्राह्मणों पर 'जजिया' लगाया गया और उनकी प्रार्थनाओं का तिरस्कार किया गया। सरदारों को चटकीली पोशाकें पहनने का निषेध कर दिया गया और सोने के काम किये वस्त्रों का व्यवहार भी यदा-कदा ही होने लगा। उसने आभूषण धारण करने का निषेध कर दिया और स्वयं भी वह सोने-चाँदी के पात्रों को छोड़कर मिट्टी के पात्रों में भोजन करने लगा।[७] ध्वजों एवं चिह्नों पर चित्र अंकित करने का निषेध कर दिया गया; राजकीय असहिष्णुता ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि कुछ उदार-पंथी मुसलमान-सम्प्रदायों के नेताओं को भी इसका शिकार बनना पड़ा; उनका बड़ी कठोरता से दमन किया गया। पश्चात्कालीन औरंगजेब के समान ही फीरोज कट्टर धर्मांध था, परन्तु इस महान् शासक का एक भी गुण उसमें न था।

स्वभाव से फीरोज बहुत अदृढ़ एवं अस्थिर चित्त व्यक्ति था और सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी वह उन गुणों का विकास न कर सका था, जिनके कारण एक सफल प्रतिभान्वित व्यक्ति किसी साधारण व्यक्ति

५. 'फतूहात-ए-फीरोजशाही'—इलियट ३, पृ० ३८६।

६. शम्स-ए-सिराज अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० ३७९।

इलियट ३, पृ० ३१५।

७. 'सीरत-ए-फीरोजशाही'—प्रयाग विश्वविद्यालय की हस्तप्रति पृ० १७०।

८. अफीफ, पृ० ३७४।

से भिन्न होता है। 'मुफ्तियों' एवं 'मुल्लाओं' के निरंतर सहवास से वह इतना दुर्बल-चित्त बन गया था कि उस समय तक वह किसी कार्य को प्रारम्भ करने का साहस न करता, जब तक उसको विश्वास न हो जाता कि यह कार्य कुरान-सम्मत है। दुर्बल एवं अस्थिर-चित्त फीरोज़ में सेनानायकत्व के गुणों का अभाव था और संकट काल में जब विजय प्राप्त होने ही को होती, तो अपने दुर्बल विचारों के कारण या तो वह अपमानपूर्ण ढंग से पीठ फेरने को बाध्य हो जाता अथवा शत्रु से अस्थायी संधि कर लेता। अपने महान् गुणसम्पन्न चचेरे भाई के समान उसमें विद्वत्ता न थी और वह ऐसे साम्राज्य को सँभालने में सर्वथा असमर्थ था जिसकी नींव पिछले शासन की अनेक विफल योजनाओं के कारण हिल चुकी थी।

कुरान के प्रति अनन्य भक्ति-भाव सुलतान को अपनी नीच वासनाओं की तृप्ति से विलग न कर सका। एक युद्ध के अवसर पर, तातार खाँ ने सुलतान को उसके शिविर में अर्द्धनग्नावस्था में पड़ा पाया। मदिरा के प्याले उसके बिछौने में छिपाकर रखे हुए थे। तातार खाँ ने इस गर्हित आचरण के लिए सुलतान की भर्त्सना की और लज्जित होकर सुलतान ने वचन दिया कि जब तक तातार खाँ सेना के साथ रहेगा, वह संयमपूर्वक रहेगा। परन्तु शीघ्र ही स्वभाव की दुर्बलता प्रकट हो उठी और तातार खाँ को हिसार-फीरोजा के समीपस्थ प्रदेशों में व्यवस्था स्थापित करने के लिए भेज दिया गया; संभवतः यह उसके 'अनादरपूर्ण व्यवहार' के लिए दण्ड था।

परन्तु फीरोज में मानवोचित गुणों का सर्वथा अभाव न था। अपने सहधर्मियों के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त उदारतापूर्ण था और दानशील एवं मानवीय प्रवृत्तियों ने उसको निर्धन मुसलमानों की कन्याओं के विवाह का प्रबन्ध करने एवं निर्धनों की सहायता करने में प्रवृत्त किया। उसने अंग-च्छेद का निषेध कर दिया, कानूनों को सरल बनाया और गुप्तचरों की प्रणाली को निरुत्साहित किया। ऐसे धार्मिक विद्यालयों को उसने दान दिया, जहाँ मुसलमान छात्र एवं अध्यापक इस्लाम के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न रहते थे। जन-साधारण के हित के लिए भी अनेक कार्य किये।[९] विशेषतया उसने सिंचाई की सुविधा के लिए उद्योग किया और दिल्ली में एक चिकित्सालय खुलवाया, जहाँ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती थी, उसको आखेट में बहुत रुचि थी और दिल्ली के समीप राज्य की ओर से एक वन-प्रदेश

९. समसामयिक इतिहासकार ने लिखा है कि अन्न की उपज खूब होती थी और हिंदू भी सुखी एवं संतुष्ट थे।
अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० १८०।

का प्रबंध किया गया था, जहाँ राजकीय व्यय से वन्य पशुओं की सुरक्षा का प्रबंध किया जाता था। जन-हितकारी सुधारों को कार्यान्वित करने की इच्छा से उसने बड़ी तत्परता से शासन-प्रबंध किया। उसने कुछ ऐसी भूलें भी कीं जिनसे राज्य का अहित हुआ। परन्तु शासन-प्रबंध में फीरोज के सुधारों को पूरा-पूरा महत्त्व देने पर भी उसको सफल अथवा अति निपुण शासक नहीं कहा जा सकता और उसकी सफलताओं एवं विफलताओं को एकत्र करने पर हमें निस्संकोच कहना पड़ता है कि उसकी नीति की दुर्बलता प्रारम्भिक तुर्क-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का एक बहुत बड़ा कारण थी। उसके सम्मुख एकमात्र प्रतिकूल परिस्थिति यही थी कि अपने पूर्ववर्ती शासन से उसको अनेक कठिनाइयाँ भी उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थीं। नैपोलियन ने जोसेफ को ठीक ही लिखा था कि "जब लोग किसी शासक को दयालु बताते हैं, (तो समझ लो कि) उसका शासन विफल रहा।"

वैदेशिक नीति—बंगाल का प्रथम अभियान् १३५३-५४ ई०—मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य में व्याप्त अव्यवस्था से लाभ उठाकर बंगाल दिल्ली-साम्राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र हो गया था और हाजी इलियास ने शम्सुद्दीन की उपाधि धारण कर स्वयं को पश्चिमी बंगाल का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था। एक विशाल सेना लेकर सुलतान ने बंगाल की ओर प्रयाण किया और वहाँ पहुँचकर बंगाली प्रजा में एक घोषणा-पत्र प्रसारित किया जिसमें हाजी इलियास के दुष्कृत्यों का वर्णन किया गया था और सुलतान ने प्रजा के साथ न्याय करने तथा सुशासन स्थापित करने की इच्छा प्रकट की।[१०] सुलतान ने पुरस्कृत करने के जो वचन दिये और

---

१०. यह घोषणा सन् १३५३ ई० के अन्तिम दिनों में निकाली गई थी। इसमें आक्रमण के कारणों तथा हाजी इलियास के अत्याचारों एवं दुराचारों का वर्णन किया गया था। इसमें सब वर्ग के लोगों को संबोधित किया गया है तथा दिल्ली के प्रति अडिग राजभक्ति रखनेवालों को बहुमूल्य उपहारों का वचन दिया गया है। दिल्ली सल्तनत के इतिहास में यह घोषणा-पत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और फीरोज की कोमल नीति का परिचायक है।

यह घोषणा-पत्र ऐनुलमुल्क माहरू के पत्रों के संग्रह 'इन्शा-ए-माहरू' में दिया हुआ है। यह पत्र-संग्रह एक समसामयिक कृति है; अतः इसका बहुत ऐतिहासिक महत्त्व है और यह बर्नी तथा अफीफ के वर्णनों की पूरक है।

मौलवी अब्दुल वली खान साहब ने जनरल ऑव एशि० सोसा० बंगाल, १९, १९२३ सं० ७, पृ० २५३-२९० में इस कृति का व्याख्यात्मक परिचय दिया है। इन्होंने पिछले अंक में प्रकाशित मूल-पत्र का अनुवाद दिया है।

सुविधाएँ प्रदान करने में जो उदारता प्रदर्शित की उससे प्रकट होता है कि वह युद्ध तथा फलस्वरूप रक्तपात एवं लूट से बचने के लिए कितना उत्सुक था। सुलतान का घोषणा-पत्र यह था—

"जब कि हमारे पवित्र कानों में यह बात पहुँच गई है कि इलियास हाजी लखनौती एवं तिरहुत प्रदेश की जनता पर अत्याचार एवं दमनकारी व्यवहार कर रहा है, अनावश्यक रूप से रक्त प्रवाहित कर रहा है, स्त्रियों तक का रक्त बहा रहा है, यद्यपि प्रत्येक पंथ एवं सिद्धान्त में यह सुप्रतिष्ठित नियम है कि किसी भी स्त्री का, भले ही वह काफिर हो, बध न किया जाना चाहिए; और जब कि उपरोक्त इलियास हाजी ऐसे अवैध कर लगा रहा है, जो इस्लाम में विधि-विहित नहीं हैं और इस प्रकार जनता को कष्ट दे रहा है; जब कि न तो जीवन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा है, न सम्मान एवं पवित्रता का बचाव; और जब कि यह प्रदेश हमारे स्वामियों द्वारा जीता गया था और हमको उत्तराधिकार के तथा इमाम (मिस्र के अब्बासी खलीफा) की भेंट के रूप में प्राप्त हुआ है, हमारे शाही एवं साहसपूर्ण व्यक्तित्व पर इस राज्य के लोगों की रक्षा का भार आ पड़ा है। और क्योंकि इलियास हाजी भूतपूर्व सुलतान के प्रति आज्ञाकारी तथा सिंहासन के प्रति भक्तिपूर्ण था; और हमारे मंगलमय राज्याभिषेक के अवसर पर भी उसने अधीनता एवं राजभक्ति स्वीकार की थी, (और) हमारी सेवा में न्याय-प्रार्थनाएँ एवं उपहार भेजता रहा था, जैसा कि अधीन व्यक्ति के लिए उचित है; इसलिए, यदि, इससे पूर्व यदि हमारे ध्यान में उसके उन अत्याचारों एवं दमन का जो वह प्रभु के प्राणियों पर कर रहा है, कणमात्र भी हमारे पवित्र ध्यान में लाया गया होता तो हम उसको ऐसी चेतावनी देते जिससे वह इनसे विरत हो जाता ; और जब कि वह इस सीमा से आगे बढ़ गया है और उसने हमारे अधिकार के प्रति विद्रोह किया है, इसलिए हम जनता की प्रसन्नता के लिए एक अजेय सेना के साथ आ पहुँचे हैं; इसके द्वारा हम सबको उसके

'इन्शा' के पाठ से इसको मिलाने पर मुझे इसमें अनेक त्रुटियाँ दिखाई दीं। अनुवाद को मूल-सम्मत बनाने के लिए आवश्यक परिवर्तन कर दिये गये हैं।

मेरा विचार है कि घोषणा में 'गब्र' शब्द का प्रयोग साधारणतया हिंदुओं के लिए किया गया है। यह विशेषकर पारसियों के लिए प्रयुक्त नहीं किया गया है, जैसा मौलवी साहब समझते हैं। 'मलफूजात-ए-तैमूरी' तथा 'जफरनामा' में मुसलमानों से भिन्न लोगों के अर्थ में इस शब्द का बहुधा प्रयोग है।

अत्याचारों से मुक्त करना उसके दमन के घावों का न्याय एवं दया के दासों द्वारा उपचार करवाना चाहते है (और चाहते हैं) कि अत्याचार एवं दमन की उष्ण शोषक वायु द्वारा मुरझाया हुआ उनका (प्रजाजनों का) जीवन-वृक्ष हमारी कृपा के स्वच्छ जल मे हरा-भरा तथा फलान्वित हो जाये।

"अतः हमने अपनी अतुल कृपा से (प्रेरित होकर) आज्ञा दी है कि लखनौती प्रदेश के सब लोग—सआदत, उलमा, मशायख तथा इसी प्रकार के अन्य लोग तथा खान, मलिक, उमरा, सदर, अकाबर एवं मआरिफ लोग भी अपने अनुचरो एव परिजनों सहित—जो अपनी हार्दिक भक्ति प्रकट करना चाहे अथवा इस्लाम के प्रति जिनका उत्साह उनको ऐसा करने की प्रेरणा दे—वह प्रतीक्षा एवं विलब न कर हमारी विश्व-संरक्षिणी उपस्थिति का आश्रय लें। हम उन्हे उससे दुगना देंगे जितना उन्हें जागीरों, गाँवों, भूमि-भागों, वृत्तियों, पारिश्रमिकों अथवा वेतनो से प्राप्त होता है; और उस वर्ग के लोग जो जमींदार कहे जाते है, जैसे मुकद्दम तथा अन्य सम्मान्य व्यक्ति, कोसी (कोसी) नदी से लखनौती की जागीर के सुदूरतम भाग तक से, (इसी प्रकार) हमारी विश्व-संरक्षिणी उपस्थिति में आये, हम (उन्हें) वर्तमान वर्ष की सारी उपज एव राज-कर (नकद अथवा अन्न के रूप मे भूमि-कर) प्रदान कर देंगे और आगामी वर्ष से, हमने सुल्तान शम्सुद्दीन के शासन-काल में प्रचलित नियमों के अनुसार भूमि-कर एव राजस्व लगाने परन्तु किसी भी दशा मे उनसे अधिक की माँग न करने, और उन अतिरिक्त एवं अवैध करों एवं राजस्वों को जो देश के इस भाग के लोगों पर भार-स्वरूप हो रहे हों, पूर्णत. लौटा देने एवं बंद करने का आदेश दे दिया है: और ऐसे संतों, विरक्तों आदि को जो अपने समग्र समाज के साथ हमारी विश्व-संरक्षिणी उपस्थिति में आयेंगे, हम उनका दूना देने की आज्ञा देंगे जितना उन्हे अपनी जागीरों, गाँवों, भूभागों, पारिश्रमिकों और वृत्तियों आदि से मिलता है और जो आधी संख्या में (अर्थात्, विभिन्न तिथियों पर दो समूहों में) आयेंगे उनको हम पचास प्रतिशत अधिक देने की आज्ञा देंगे तथा जो कोई भी एकाकी आयेगा उसको हम पूर्व-निर्धारित (धन-राशि) प्राप्त करने की आज्ञा देंगे। इसके अतिरिक्त, हम उन्हें उनके मूल स्थानों से न हटायेंगे अथवा उनके कष्ट का कोई कारण उपस्थित न करेंगे: हमने आज्ञा दी है कि इस प्रदेश का प्रत्येक एवं सब अपने-अपने घरों में अपने-अपने मन की इच्छानुसार निवास करें एवं जीवन बितायें और अधिकाधिक संतोष एवं संकटों से मुक्ति का आनन्द प्राप्त करें, इन्शा अल्लाह ताला (यदि प्रभु-इच्छा हो)।"

सुलतान के आगमन का समाचार पाने पर हाजी इलियास इकदला के दुर्ग मे डट गया।" उसको दुर्ग से बाहर लाने के लिए फीरोज ने कूटनीतिक चालों का आश्रय लिया; इस आशा से कि सेना को लौटते हुए देखकर शत्रु उसको तंग करने के लिए दुर्ग से निकल आयेगा, वह कुछ मील पीछे हट गया। आशा सत्य सिद्ध हुई और शम्सुद्दीन (हाजी इलियास) ने देहलवियों से लड़ने को आतुर दस सहस्र अश्वारोहियो एवं दो लाख पदातियों की विशाल सेना लेकर शाही सेना का पीछा किया। सुलतान ने मध्य-युग की प्रचलित व्यूह-रचना-प्रणाली के अनुसार अपनी सेना को दक्षिण, वाम एव मध्य—इन तीन भागों में विभक्त किया और स्वय भी युद्ध की तैयारी में सक्रिय भाग लिया। दक्षिण-पार्श्व का नायकत्व 'मीर शिकार' मलिक दिलान ३०,००० अश्वारोहियों को लेकर, कर रहा था, वाम-पार्श्व में ३०,००० योद्धाओं सहित मलिक हिसान नवा डटा था और इतनी ही सेना के साथ मध्य भाग को तातार खाँ सँभाल रहा था। हाथियों को भी तीनों भागों में बाँट दिया गया था। ऐसी विकट परिस्थिति देखकर शम्सुद्दीन "इमली की पत्ती के समान काँप उठा", परन्तु उसका स्वाभिमान इतना उग्र था कि वह दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार करने को उद्यत न हुआ। घोर सग्राम छिड गया; दोनो पक्षों के योद्धाओं ने अपूर्व शौर्य एव पराक्रम प्रदर्शित किया। अपनी हार होती जानकर, शम्सुद्दीन युद्ध-क्षेत्र से भाग गया और उसने पुनः इकदला के दुर्ग में शरण ली। शाही सेना ने पीछा किया और प्रचण्ड वेग से दुर्ग पर आक्रमण किया। परन्तु दुर्ग में स्त्रियों के रुदन एवं चीत्कार से तथा उनकी संकटापन्न अवस्था के करुण प्रदर्शन से सुलतान की करुणा जाग उठी और उसने इसे घोर परिश्रम से उपलब्ध विजय का प्रसाद त्याग देने का शीघ्र ही निश्चय कर लिया। राजकीय इतिहासकार ने कठिन परिस्थितियों का सामना करने की फीरोज की अयोग्यता का आभास इन पंक्तियों में दिया है: "(फीरोज ने सोचा) दुर्ग को आक्रांत करना, अधिक मुसलमानों को तलवार के घाट उतारना और प्रतिष्ठित महिलाओं को अपमान का पात्र बनाना एक ऐसा अपराध होगा, जिसके लिए वह कयामत के दिन कोई उत्तर न दे सकेगा और जिससे उसमें तथा मुगलों में कोई अंतर न रह

---

११. इस दुर्ग के विवरण के लिए देखिए—अरन० एशि० सोसा० बंगाल १८७४, पृ० २४४।
बाद में फीरोज ने इसका नाम आजादपुर रख दिया था।
इलियट—पृ० २९७।

ने अत्यधिक साहस एवं शौर्य का परिचय देते हुए शीघ्र ही दीवारों की मरम्मत कर दी; यद्यपि वह जानते थे कि पराजय अवश्यंभावी है, परन्तु इससे वह लेशमात्र भी विचलित न हुए। घेरे की समाप्ति का कोई लक्षण न देखकर दोनों दल शिथिल पड गये और संधि की वार्ता चलने लगी। सिकन्दर के दूत हैवत खाँ ने बड़े धैर्य, पटुता एवं दृढता से संधि-वार्ता चलाई। सिकन्दर ने सुनार गाँव जफर खाँ को लौटा देना स्वीकार कर लिया तथा सुलतान के साथ मित्रता का संबंध दृढ़ करने के लिए उसको ४० हाथी तथा अन्य बहुमूल्य उपहार भेंट किये। परन्तु इस झगडे के मूल कारण-भूत जफर खाँ ने अपने देश को लौट जाने का विचार त्याग दिया और दिल्ली में ही रहना पसन्द किया। सभवत दिल्ली में प्राप्त होनेवाली सुख-सुविधा की सामग्रियों ने इस निर्वासित शासक का हृदय आकर्षित कर लिया था। एक बार फिर हाथ में आये हुए इस प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में फीरोज की दुर्बलता बाधक बन गई।

जाजनगर के राय का दमन—बगाल से लौटते हुए सुलतान जौनपुर में ठहरा और वहाँ से उसने जाजनगर (वर्तमान उडीसा) की ओर प्रयाण किया जो उस समय अति समृद्धि था और जहाँ फलों एवं भोजन-सामग्री की इतनी बहुलता थी कि उससे शाही सेना की खाद्य-सामग्री की आवश्यकता भली भाँति पूर्ण की जा सकती थी।[15] शाही सेना को आया देख जाजनगर का राय[16] एक टापू में भाग गया; शाही सेना ने उसका पीछा किया। पुरी में जगन्नाथ के मंदिर को विध्वस्त कर मूर्तियों को समुद्र में फेंक दिया गया।[17]

---

१५. शम्स-ए-सिराज अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० १६३-६४।

जाजनगर में भाव बहुत सस्ते थे। शम्स-ए-सिराज लिखता है कि २ जीतल में एक घोड़ा क्रय किया जा सकता था और मवेशियों को तो कोई पूछता ही न था। भेड़ें बहुलता से प्राप्त हो सकती थीं और शाही सेना में यह बहुत अधिक संख्या मे आती थीं। यहाँ के निवासी बड़े-बड़े तथा सुन्दर मकानों में रहते थे और उनके बाग-बगीचे भी अधिक संख्या में थे'। जान पड़ता है जाजनगर प्रदेश की आर्थिक दशा बहुत सुन्दर थी।

अफीफ—पृ० १६५।

१६. अफीफ ने इस राय का नाम 'अदेसर' तथा फिरिश्ता ने 'सद्धन' लिखा है।

१७. 'सीरत-ए-फीरोजशाही' के रचयिता ने, जो फीरोज का समसामयिक लेखक है, लिखा है कि सुलतान जगन्नाथ के मंदिर की ओर गया, जो समुद्र के पूर्वी तट पर स्थित था और उसने इसको विध्वंस कर मूर्तियों को समुद्र में फेंक दिया।

अंततः विकट परिस्थितियों से निराश होकर राय ने संधि करने के लिए अपने दूत भेजे। दूतों को अत्यन्त आश्चर्य में डालते हुए सुलतान ने उनको बताया कि वह उनके स्वामी के पलायन के कारणों से सर्वथा अनभिज्ञ है। राय ने अपने आचरण की सफाई दी और भेंट के रूप में प्रति वर्ष कुछ हाथी देने स्वीकार कर लिये। सुलतान ने यह शर्तें स्वीकार कर ली और मार्ग में अन्य अनेक हिंदू सरदारों एवं जमींदारों से अधीनता स्वीकार करवाता हुआ वह राजधानी में लौट आया।[१८]

नगरकोट की विजय—नगरकोट के दुर्ग को मुहम्मद तुगलक ने सन् १३३७ ई० में विजय किया था।[१९] परन्तु उसके शासन के अंतिम भाग में यहाँ का राय स्वतन्त्र हो गया था। नगरकोट में ज्वालामुखी का मंदिर अति प्राचीन एवं प्रतिष्ठित तीर्थ-स्थान था जहाँ प्रति वर्ष असंख्य हिंदू तीर्थ-यात्री जाया करते थे और मूर्ति पर बहुमूल्य भेंट चढ़ाते थे। इस मंदिर की पवित्रता ने धर्मांध फीरोज को आक्रमण के लिए और भी प्रोत्साहित किया और समसामयिक इतिहासकार लिखता है कि जब सुलतान इस मंदिर में गया तो वहाँ एकत्र हुए रायों, राणाओं तथा जमींदारों को उसने इन शब्दों में संबोधित किया· "इस पत्थर की पूजा से क्या लाभ है? इसकी प्रार्थना करने से तुम्हारी किस इच्छा की पूर्ति हो सकती है? हमारे पवित्र-विधान में कहा गया है कि जो इसके विरुद्ध कार्य करते है, वह नरक में जायेंगे।"[२०]

मंदिर में अतुल सम्पत्ति थी और बताया जाता है कि केवल रसोईघर के प्रबन्ध में ३०,००,००० चाँदी की दीनारें व्यय की जाती थीं।

'सीरत-ए-फीरोजशाही'—प्रयाग विश्वविद्यालय की हस्तलिपि पृ० ६४।

१८. फिरिश्ता ने लिखा है कि जाजनगर के राय की पुत्री सुलतान के हाथ पड़ गई और सुलतान ने उसका अपनी पुत्री के समान लालन-पालन किया। वीरभूमि के राजा ने भी सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ली और उसको ३७ हाथी तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की। तब सुलतान ने पद्मावती के वन में आखेट किया और वहाँ ३३ हाथी पकड़े। फिरिश्ता ने संधि की उन शर्तों का उल्लेख नहीं किया है जो अफीफ ने लिखी हैं।

रैंकिंग, अल-बदाऊनी, १, पृ० ३२९।

फिरिश्ता, लखनऊ संस्क० पृ० १४७; ब्रिग्ज, १, पृ० ४५२।

१९. 'कसाइद बद्र चाच'—इलियट ३, पृ० ५७०।

२०. अफीफ—पृ० १८६-८७।

इलियट, ३, पृ० ३१८।

फिरिश्ता लिखता है कि इस मंदिर में एक पुस्तकालय मिला, जिसमें १३०० ग्रंथ थे। उसमें इनमें से एक दर्शन-ग्रंथ का अपने राजकवि एजुद्दीन,

सुलतान ने नगरकोट का दुर्ग घेर लिया और चारो ओर 'मंजनीक' तथा 'अर्रादे' यन्त्र लगा दिये। ६ मास के निरन्तर घेरे के पश्चात् जब दोनों पक्षों का युद्धोत्साह मंद पड़ गया तब फीरोज ने राय को क्षमा प्रदान की, जो "अपने दुर्ग से बाहर आकर, क्षमा-याचना करने लगा, और सुलतान के चरणों में लोटने लगा, जिसने (सुलतान ने) उसकी पीठ पर अपना हाथ रखा, उसको सम्मान के बहुमूल्य वस्त्र प्रदान किये और दुर्ग में वापस भेज दिया।"

थट्टा की विजय—१३६२-६३ ई०—थट्टा का अभियान फीरोज तुगलक के शासन-काल की एक अति मनोरंजक घटना है। यह सुलतान की मूर्खता एवं कूटनीतिक अनभिज्ञता का अपूर्व उदाहरण है। निपुण सेनानी न होने के कारण वह युद्ध से बहुत घबड़ाया था और अपने पूर्ववर्ती अलाउद्दीन तथा मुहम्मद तुगलक जैसे महान् शासकों के समान युद्ध के संकट झेलने में असमर्थ था; उसकी अस्थिर चित्त-वृत्ति एवं धर्म-भीरुता विजय प्राप्त करने में रोड़ा अटका देती थी। भूतपूर्व सुलतान के प्रति थट्टा के लोगों के दुर्व्यवहार का प्रतिशोध लेने की भावना से प्रेरित होकर फीरोज ने इस अभियान का आयोजन किया। अभियान-तैयारियाँ बड़े उत्साह से की गई और लोग स्वेच्छा से सेना में भर्ती होने लगे। एक विशाल सेना का संघटन हो गया जिसमें ९०,००० अश्वारोही, असंख्य पदाति तथा ४८० हाथी थे। ५ सहस्र नावों का एक विशाल बेड़ा तैयार किया गया जिसको अनुभवी सामुद्रिक-सेनानियों के अधीन रखा गया। सिंध के शासक जाम बाबीनिया[21] ने अपनी

खलीद खानी से फारसी में अनुवाद कराया और इसका नाम 'दलायल-ए-फीरोजशाही' रखा। फिरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० १४८।

इसी इतिहासकार ने लिखा है कि नगरकोट की मूर्ति के टुकड़ों को गोमांस में मिलाकर थैलों में भरा और इनको ब्राह्मणों की गर्दनों में लटकाकर उनको शाही डेरे में घुमाया गया। परन्तु किसी समसामयिक लेखक ने ऐसा वर्णन नहीं किया है।

बदाऊनी लिखता है कि उसने लाहौर में सन् १५९१-९२ में 'दलायल-ए-फीरोजशाही' को आद्योपांत पढ़ा था। उसका कहना है कि उसने फीरोज के समय में अनूदित अन्य ग्रन्थ भी पढ़े थे। ग्रंथों के अनुवाद का समर्थन 'सीरत' के वर्णन से भी होता है।

२१. शम्स-ए-सिराज अफीफ ने 'तारीख-ए-फीरोजशाही' (बिब्लि० इण्डि० पृ० २०१) ने इसका नाम 'जाम' और 'बाबीनिया' लिखा है। ठीक नाम 'जाम बाबीनिया' ही हो सकता है, क्योंकि 'जाम' केवल उपाधि है, व्यक्ति का नाम नहीं। मीर मासूम ने (इलियट १, पृ० २२६) भी 'जाम बाबीनिया' नाम लिखा है। फिरिश्ता ने (ब्रिग्ज ४, पृ० ४२) 'जाम बानी' लिखा है, जो सम्भवतः 'जाम बाबीनिया' का संक्षेप जान पड़ता है। 'तुहफतह-उल-किराम' के लेखक

सेना की व्यूह-रचना की जिसमें २०,००० अश्वारोही तथा ४,००,००० पदाति थे और वह युद्ध के लिए उद्यत हो गया। इसी बीच दुर्भिक्ष एवं महामारी के प्रकोप के कारण सुलतान की छावनी में खाद्यसामग्री का अभाव हो गया जिससे सैनिकों की संख्या घट गई और चौथाई अश्वारोही सेना इसी रोग में समाप्त हो गई।

इस विकट परिस्थिति से सेना का दिल बैठ गया, परन्तु जब इस क्षीण सेना ने शत्रु पर आक्रमण किया तो शत्रु को दुर्ग में खदेड़ दिया। एक और युद्ध का संकट उठाने से अन्यमनस्क सुलतान सैन्य-बल बढ़ाने के उद्देश्य से गुजरात की ओर चल दिया। परन्तु मार्ग-दर्शकों के विश्वासघात के कारण समस्त सेना मार्ग से भटक गई और कच्छ के रन में फँस गई।[११] सुलतान भी रास्ता भूल गया और ६ मास तक दिल्ली में सेना का कोई समाचार न पहुँच पाया। इस समय घोर अकाल फैला हुआ था, अनाज का भाव बहुत चढ़ गया था और भूख से व्याकुल सैनिक जहाँ-तहाँ भटक-भटककर संसार से कूच करने लगे। अनाज का भाव एक 'टंके' और दो 'टंके' प्रति सेर तक चढ़ गया था और इस भाव पर भी वह सुलभ न था। अनाज दुर्लभ होने के कारण सड़ा मांस तथा कच्ची खालें तक खाई जाने लगीं। कुछ लोग, भूख से व्याकुल होकर, पुरानी खालों को उबालकर खाने लगे। घोड़ों में एक ऐसा रोग फैला जिससे अनेक घोड़े मर गये। स्वच्छ जल के अभाव तथा मरुभूमि की शुष्कता से वह दुःख एवं निराशा से भर गये। बड़ी कठिनाई से सुलतान गुजरात पहुँचा और वहाँ उसने नये सैनिक भर्ती करना प्रारम्भ किया। युद्ध-सामग्री जुटाने में उसने लगभग दो करोड़ मुद्राएँ व्यय कीं। मलिक इमादुलमुल्क ने सुलतान से शिकायत की कि राज्य की सदैव सेवा करनेवाले स्थायी सैनिकों (वजहदारों) की दशा संतोषजनक न थी। जब कि अस्थायी सैनिकों को सवारियाँ दी जा रही थीं,

---

ने, जो मीर मासूम के बाद का लेखक है, लिखा है कि १३७० ई० में फीरोज ने यट्टा पर आक्रमण किया और वहाँ के शासक खैरद्दीन ने अधीनता स्वीकार कर ली। इलियट, १, पृ० ३४२।

मुसलमान इतिहासकारों ने इन 'जाम' लोगों के नामों में बहुत गड़बड़ी की है। देखिए, जरन० एशि० सोसा० बंगा०, १८९२, १, पृ० ३२९-३० पर रेवर्टी की टिप्पणी।

२२. 'रन' के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—बम्बई गजेटियर, ५, पृ० ११-१६ तथा काठियावाड़ गजेटियर, ३, पृ० ६९।

यह स्थायी सैनिक पैदल चल रहे थे और इनको बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। सुलतान ने आज्ञा दी कि इनको (स्थायी सैनिकों को) पेशगी वेतन दिया जाये, जिससे वह आवश्यक सामग्री जुटा सकें। इस आज्ञा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को पेशगी दी गई। इस प्रकार किसी को १००, किसी को ७०० तथा किसी को १००० टंके तक मिले। दिल्ली में 'खान-ए-जहान' को आदेश भेजा गया कि वह राज-कर्मचारियों से स्थायी सैनिकों के गाँवों की सुचारु व्यवस्था करवाये, जिससे उनके परिवारों को किसी प्रकार की असुविधा न हो। सुलतान को सूचित किया गया कि उसके अनेक सैनिक विगत युद्ध की कठिनाइयों से तंग आकर अपने सारे सामान सहित अपने घरों को चले जा रहे हैं। इनको रोकने का प्रबंध किया गया और इस कार्य के लिए सतरी नियुक्त किये गये। दिल्ली के 'खान-ए-जहान' को आदेश भेजा गया कि वह उन स्थायी सैनिकों को जो पेशगी पाकर सेना छोड़कर चले आये है पकड़ ले और उनको 'तदारुक-ए-मनावी' का दण्ड दे; यह एक प्रकार का नैतिक दण्ड होता था, जिसमें अपराधी को जन-साधारण की निंदा का पात्र बनना पड़ता था। इन भगेड़ सैनिकों को 'तदारुक-ए-खुसवी' अर्थात् प्राण-दण्ड, निर्वासन अथवा अर्थदण्ड आदि राजदण्ड न दिये जाने का आदेश दिया गया। खान-ए-जहान ने बड़े परिश्रम से सुलतान के आदेश का पालन किया। सेना को छोड़कर आनेवाले लोगों को पकड़ लिया और उनमें से जो स्थायी सैनिक पाये गये उनको शाही आदेश के अनुसार दण्ड दिया। इतिहासकार लिखता है कि कुछ प्रसिद्ध अपराधियों को एक या दो दिन तक बाजार में खड़ा किया गया जिससे प्रत्येक आने-जानेवाले की दृष्टि उन पर पड़ जाये और तब उनको छोड़ दिया। उनकी भूमि अथवा वेतन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया। सैन्य-संघटन पूर्ण हो जाने पर समस्त सेना ने थट्टा की ओर प्रयाण किया और सिंध-नदी के तट पर डेरा डाला। परन्तु जब शाही सेनाध्यक्ष इमादुलमुल्क और जफर खाँ ने नदी पार करने का प्रयत्न किया तो सिंधियों ने उनका मार्ग रोक दिया। तब यह निश्चय किया गया कि नदी के ऊपर की ओर जाकर भक्कर के नीचे से नदी को पार किया जाय। ऐसा ही किया गया और नदी के दूसरे किनारे पर भीषण संग्राम छिड़ गया, परन्तु फ़ीरोज की दुर्बलता एक बार फिर विजय में बाधक हुई। निरपराध मुसलमानों के रक्त-पात के भय से व्याकुल होकर सुलतान ने अपने सेनानियों को वापस बुला लिया; उसने यह किंचित् मात्र न सोचा कि इन सेनानियों को नदी पार करने में कितने कष्ट झेलने पड़े थे। सिंधियों के प्रबल प्रतिरोध को

देखकर युद्ध-समिति ने इमादुलमुल्क को नई सेना लाने के लिए दिल्ली भेजने का निश्चय किया। निपुण मंत्री 'खान-ए-जहान' ने इमादुलमुल्क का यथोचित स्वागत किया और बदाऊँ, कन्नौज, संडीला, जौनपुर, बिहार, तिरहुत, चदेरी, धार तथा साम्राज्य के अन्य अधीन प्रदेशों से सैनिकों का आह्वान किया। इन सैनिक-दलों के आने से शाही सेना का बल बहुत बढ़ गया। सिंधियों ने जब अपने विरुद्ध इतनी विशाल सेना सुसज्जित देखी तो उन्होंने नीति का प्रयोग करने में ही पराक्रम समझा और आत्म-समर्पण करने की इच्छा प्रकट की। उनके इस व्यवहार से लड़ने का अब कोई प्रयोजन न रह गया और दोनों पक्षों में शीघ्र संधि हो गई। जाम ने अधीनता स्वीकार कर ली, उसको दिल्ली ले जाया गया और उसके लिए बहुत बड़ी पेंशन नियत की गई तथा उसके भाई को 'जाम' पद पर प्रतिष्ठित किया गया।"[२३] इस अभियान में जो कुछ भी सफलता प्राप्त हुई, वह शाही सेनाध्यक्षों के साहस एवं फीरोज के निपुण एवं स्वामिभक्त मंत्री खान-ए-जहान 'मकबूल' की समयोचित सहायता का फल थी।

दक्षिण—शम्स-ए-सिराज अफीफ ने, जो दक्षिण की भौगोलिक स्थिति से अनभिज्ञ था, दक्षिण की राजनीतिक स्थिति का संक्षिप्त तथा अव्यवस्थित वर्णन किया है। बहमनी-राज्य मुहम्मद के जीवन-काल में ही स्थापित हो चुका था और विजयनगर-साम्राज्य प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। फीरोज के पदाधिकारियों ने दौलताबाद में दिल्ली का प्रभुत्व पुनः स्थापित करने के लिए उसकी ओर प्रयाण करने की अनुमति माँगी, परन्तु यह इच्छा सुनकर सुलतान "दु.खित दिखाई दिया और उसकी आँखें आँसुओं से भर

२३. शम्स-ए-सिराज अफीफ ने लिखा है कि थट्टा का शासन जाम के पुत्र तथा बाबीनिया के भाई तमाची पर छोड़ा गया और इनको उपाधियाँ प्रदान की गईं। तब जाम और बाबीनिया को साथ लेकर सुलतान ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया।

जान पड़ता है कि फिरिश्ता ने बाबीनिया को दो व्यक्ति बना दिया है।

मीर मासूम ने भी लिखा है कि सुलतान जाम बाबीनिया को अपने साथ दिल्ली ले गया और कुछ दिन तक वहाँ रखकर उसको सिंध वापिस भेज दिया।

'तारीख-ए-मासूमी'—खुदाबख्श हस्तलिपि पृ० ३५।

फिरिश्ता भी मीर मासूम से सहमत है और लिखता है कि बाद में जाम बनी को उसका राज्य लौटा दिया गया।

'चाचनामा' के लेखक ने भी लिखा है कि जाम बाबीनिया को राज्य लौटा दिया गया और इसके बाद उसने १५ वर्ष तक शासन किया।

जरन० एशि० सोसा० बंगा०, १८४१, १ पृ० २६८।

आई और उसने बतलाया कि मुसलमान धर्मावलम्बियों पर कभी आक्रमण न करने का उसने निश्चय कर लिया है।" यह था इस शासक का शौर्य एवं साहस, जिसकी दरबारी इतिहासकारों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। दिल्ली साम्राज्य का विस्तार बहुत कम हो गया तथा इसका पहले जैसा ऐश्वर्य न रह गया और अब यह विंध्य पर्वत के उत्तरी भागों तक ही सीमित हो गया।

शासन-प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्त—फीरोज शान्ति-प्रिय शासक था। सार्वजनिक शासन के क्षेत्र में उसकी सफलताएँ अवश्य प्रशंसनीय हैं, यद्यपि इस क्षेत्र में भी उसके कुछ कार्यों ने साम्राज्य के विघटन में योग दिया। उसके शासन में मुसलमान-शासन-तंत्र प्रधानतया धर्मानुसारी बन गया[24] और हिंदुओं तथा कट्टरता-विरोधी मुसलमानों पर समान रूप से प्रतिबंध लग गया। सुलतान ने विधर्मियों पर कठोर प्रतिबंध लगाकर अपनी धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया। मुहम्मद तुगलक के अधीन कार्य करते समय फीरोज ने जो अनुभव प्राप्त किये थे, उनसे वह देश की आवश्यकताओं को भली भाँति समझ सका और उसके मन में सुधारों का महत्त्व अच्छी तरह बैठ गया। अतः वह जनता के सुख एवं समृद्धि के लिए प्रभावकारी उपाय सोचने लगा। जनता का कल्याण इस नये शासन का ध्येय-वाक्य बन गया; यद्यपि इन सुधारों से बहुधा अल्पसंख्यक वर्ग को ही लाभ पहुँचा, फिर भी सामान्यतः हिंदू एवं मुसलमान सभी इनसे लाभान्वित हुए। परन्तु सर हेनरी इलियट ने अकबर एवं फीरोज में जो तुलना की है वह अनावश्यक एवं अनुचित है।[25] फीरोज में उस उदार-हृदय एवं विशाल बुद्धि-सम्पन्न सम्राट् की प्रतिभा का शतांश भी न था, जिसने केवल जन-हित को ही प्रधानता दी और शान्ति-व्यवस्था एवं सब धर्म-मतों के प्रति सहिष्णुता का प्रचार एवं प्रसार किया। फीरोज के सुधारों में स्थायित्व

---

२४. इस्लाम ग्रहण करनेवाले हिंदुओं को इस्लाम की शिक्षा देने के लिए आमिल नियुक्त किये गये, जिससे वह सत्य जान जायें।

'सीरत-ए-फीरोजशाही'—प्रयाग विश्वविद्यालय की प्रति, पृ० १६१

२५. इलियट ३, पृ० २६९-७०।

देखिए—शम्स-ए-सिराज अफीफ के ग्रंथ 'तारीख-ए-फीरोजशाही' की प्रारम्भिक टिप्पणी।

विन्सेंट स्मिथ ने भी सर हेनरी इलियट के इस कथन को कि अपने समय का महान् अकबर था, अर्थहीन बताया है। ऑक्सफोर्ड [illegible] २४९।

न था; इनसे मुसलमान-शासन-तंत्र सुदृढ़ न हो सका और न हिंदुओं का विश्वास ही राज्य को प्राप्त हो सका। फीरोज की धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिन्दुओं की भावनाएँ कटु हो गई थीं। फीरोज के सिद्धान्तों एवं नीति के कारण एक ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई जो उस वंश के स्वार्थों के लिए घातक सिद्ध हुई जिसका वह स्वयं एक योग्य प्रतिनिधि था।

नागरिक शासन—अलाउद्दीन द्वारा बंद की गई जागीर-प्रणाली को फीरोज ने पुनः प्रचलित किया। समस्त साम्राज्य को जागीरों में विभक्त किया गया तथा इन जागीरों को जिलों में बाँटा गया। यह जिले उसके कर्मचारियों को प्राप्त हुए, जो मध्यकालीन योरोप के सामंतों के समान थे। राज-कर्मचारियों को जागीरों के साथ-साथ राज्य की ओर से वृत्तियाँ भी प्रदान की गईं, जिससे वह विशाल धन-राशियाँ जमा करने में समर्थ हो गये। भूमि-कर भूमि की दशा की पूरी-पूरी जाँच कर लेने के बाद नियत किया गया। लोगों की पिछली उपाधियों एवं भू-स्वत्वों की जाँच की गई और जिनके भू-स्वत्व पिछले शासकों के समय में छिन गये थे, उनसे कहा गया कि वह न्यायाधिकरण द्वारा अपने अधिकार को पुनः प्राप्त कर लें। ख्वाजा हिसामुद्दीन जुनैदी को कर नियत करने के लिए नियुक्त किया गया; ख्वाजा ने सारे साम्राज्य का भ्रमण कर भूमि-कर की व्यवस्था में सुधारों की योजना प्रस्तुत की। राजस्व बहुत कम कर दिये गये। प्रान्तीय प्रतिनिधि शासकों को प्रतिवर्ष एवं अपनी नियुक्ति के अवसर पर दी जाने वाली भेंटों की प्रथा को समाप्त कर कृषकों का भार और भी कम कर दिया गया। राज-करों की वसूली में होनेवाले दुराचारों का कठोरतापूर्वक दमन किया गया। राज्य की ओर से सिंचाई की सुविधाएँ उपस्थित की गईं, इससे कृषि की दशा बहुत सुधर गई और भूमि-कर द्वारा राज्य की आय में भी वृद्धि हो गई। दोआब से भूमि-कर के रूप में ८० लाख टंके तथा दिल्ली प्रान्त से ६ करोड ८५ लाख टंके प्राप्त होने लगे। जोती जानेवाली भूमि का भी अत्यधिक विस्तार हो गया और समसामयिक इतिहासकार लिखता है कि केवल दिल्ली के पड़ोस में ही १२०० ऐसे गाँव थे, जिनमें बाग लगे थे तथा जिनसे राज्य को १,८०,००० टंके प्राप्त होते थे। प्रजा दुर्भिक्ष के भय से सर्वथा मुक्त हो गई और कृषक समृद्ध एवं सुखी हो गये।

राज-कर—भूमि-कर के अतिरिक्त सुलतान की आय के अन्य बहुत-से स्रोत थे। फीरोज के शासन में समस्त कर-प्रणाली की पुनर्व्यवस्था की गई तथा इसको धर्म-विहित नियमों के अनुसार बनाया गया। भूतपूर्व शासकों

के समय में लगाये गये समस्त उत्पीड़क एवं अवैध कर बंद कर दिये गये। फतूहात-ए-फीरोजशाही के अनुसार फीरोज ने इस प्रकार के २३ करों को समाप्त करने का श्रेय लिया।[२६] सुलतान का ध्येय-वाक्य यह था कि "अपरिमित कोष से जनता की समृद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण है।" उसके शासन में राज्य की ओर से कुरान-विहित केवल चार प्रकार के कर ही जनता पर लगाये लगे—खिराज, जकात, जजिया तथा खुम्स। युद्ध में लूट से प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति, शरियत में निर्दिष्ट अनुपात में सैनिकों तथा राज्य में बाँटी जाने लगी। ऐसी सम्पत्ति का ⅕ भाग राज्य ग्रहण करता तथा शेष भाग सैनिकों का होता। इन करों के अतिरिक्त सिंचाई-कर भी वसूल किया जाता था, जो खेतों की उपज का १० प्रतिशत होता था। राज-कर संबंधी इस नवीन नीति का कृषि एवं वाणिज्य पर अत्यन्त [illegible]-कारी प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्य बहुत कम हो [illegible] तथा जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का कोई अभाव न रह [illegible]।[२७] राज्य को भी कभी धनाभाव का अनुभव न करना पड़ा और [illegible]

---

२६. 'फतूहात-ए-फीरोजशाही', इलियट, ३, पृ० [illegible]।

'सीरत-ए-फीरोजशाही' के लेखक ने, जो [illegible] है, [illegible] २६ करों की सूची दी है, जिनको फीरोज ने [illegible] किया। यह सूची, [illegible] से अंतर के साथ, इलियट द्वारा अनूदित '[illegible]' में [illegible] सूची से मिल जाती है।

प्रयाग-विश्वविद्यालय में पाण्डुलिपि, पृ० [illegible]।

२७. फीरोज ने इस विषय पर [illegible] से परामर्श किया, और उन्होंने एक स्वर में यह सम्मति प्रकट की कि सुल्तान को '[illegible]' [illegible] करने का पूरा-पूरा अधिकार है; इस निर्णय के बाद ही फीरोज ने [illegible] कर लगाया। इलियट ३, पृ० ३६[illegible]।

वर्ष अनुदानों के रूप में तथा जन-हित के कार्यों में विशाल धन-राशि व्यय करने लगा।

नहरों का निर्माण—दिल्ली के पड़ोस में फीरोजाबाद नगर बसाने के पश्चात् सुलतान को पानी के अभाव का अनुभव होने लगा। समसामयिक इतिहासकार लिखता है कि उस स्थान में पानी की इतनी कमी थी कि इराक तथा खुरासान से आनेवाले यात्रियों को एक घड़े भर पानी के लिए ४ जीतल तक देने पड़ते थे। यह कहना ठीक नहीं कि सुलतान ने व्यापारिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ही नहरें बनवानी प्रारम्भ कीं। सिंचाई-कर भी उसने धर्माचार्यों की अनुमति से ही लगाया था; इससे स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक लाभ के लिए ही उसने यह कार्य प्रारम्भ न किया था। शम्स-ए-सिराज ने दो नहरों का उल्लेख किया है; एक यमुना नदी से तथा दूसरी सतलज से निकाली गई थी। पहली नहर का नाम 'रजवाह' तथा दूसरी का 'उलुगखानी' था। दोनों नहरें करनाल के पास से होकर बहती थी और १६० मील बहकर सम्मिलित हो जाती थी तथा हिसार फिरोजा को सींचती थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में लिखित 'तारीख-ए-मुबारकशाही' के लेखक ने फीरोज की चार नहरो का वर्णन किया है। फिरिश्ता तथा अन्य पश्चात्कालीन लेखकों ने भी इस वर्णन का समर्थन किया है। यह संभव प्रतीत होता है कि फीरोज द्वारा निर्मित नहरें अफीफ द्वारा वर्णित संख्या से कहीं अधिक रही होंगी।"

---

२९. शम्स-ए-सिराज अफीफ, 'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० १२७।

'तारीख-ए-मुबारकशाही' में इन नहरों का जो वर्णन है, फिरिश्ता ने उसका बहुत कुछ आश्रय लिया है। फिरिश्ता 'तारीख-ए-मुबारकशाही' के लेखक के बाद का है। फिरिश्ता ने कदाचित् याह्या के वर्णन से अपने वर्णन की सामग्री ली है। लखनऊ संस्क० पृ० १४६।

जिस समय मैंने यह परिच्छेद लिखा था, उस समय 'तारीख-ए-मुबारकशाही' दुष्प्राप्य थी। इलियट के 'हिस्ट्री ऑव इण्डिया' (जि० ४) में इसके बहुत थोड़े अवतरणों का अनुवाद दिया है। भारत के किसी भी पुस्तकालय में इस पुस्तक की प्रति उपलब्ध न थी और इंगलैंड में भी केवल बोदलेरियन लाइब्रेरी में इसकी एक प्रति थी। सर यदुनाथ सरकार की कृपा से मुझे उसकी हस्तलिपि प्राप्त हो सकी और इस परिच्छेद को लिखने में मैंने उसका उपयोग किया। अब 'तारीख-ए-मुबारकशाही' अंगरेजी अनुवाद सहित गायकवाड़ ओरियन्टल सिरीज में प्रकाशित हो गई है।

आधुनिक मान-चित्र पर इन नहरों को दर्शाना अत्यन्त कठिन है। विशेष ज्ञान के लिए देखिए—

'तारीख-ए-मुबारकशाही' के लेखक ने निम्न ४ नहरों का उल्लेख किया है—(१) एक नहर सतलज से घग्गर तक जाती थी, जो ४८ कोस की दूरी पर था, (लगभग ९६ मील); (२) दूसरी नहर मंडवी तथा सिरमौर प्रदेश के पास से चलकर अन्य धाराओं से पानी लेती हुई हाँसी पहुँचती थी और वहाँ से अरसनी (फिरिश्ता ने अर्बिसन लिखा है) तक ले जाई गई थी जहाँ सुलतान ने हिसार फीरोजा का दुर्ग बनवाया था; (३) तीसरी नहर घग्गर से निकाली गई थी और सिरमुती (सरस्वती) नगर के पास से होती हुई हिरनी खेड़ा अथवा भर्नी-खेडा नामक गाँव तक पहुँचती थी, जिसके समीप फीरोजाबाद नामक नगर बसाया गया था; (४) चौथी नहर यमुना से ली गई थी और फीरोजाबाद से होती हुई तथा इस नगर के समीप एक तालाब को भरती हुई आगे बढ़ जाती थी। फिरिश्ता ने लिखा है कि सुलतान ने १३६० ई० में सिरसुती तथा सलीमा नदियों के बीच के प्रदेश में स्थित एक विशाल टीले की खुदाई प्रारम्भ करवाई थी। उसको बताया गया था कि यदि इस टीले को बीच से खोद दिया जाये तो सिरमुती नदी का पानी सलीमा नदी में आ मिलेगा और सरहिन्द तथा मन्सूरपुर होता हुआ सुन्नम तक पहुँच जायेगा। इस सूचना के अनुसार खुदाई का कार्य प्रारम्भ किया गया तथा ५० सहस्र श्रमिक इस कार्य पर लगाये गये। सरहिन्द को, जो पहले समाना जागीर का ही एक भाग था, पृथक् कर एक नया जिला बनाया गया।

सेना का प्रबन्ध—फीरोज के शासन में सैनिक-संघटन सामंत-प्रथा पर आधारित था। सैनिकों को जीविका के रूप में भूमि दी गई थी तथा अस्थायी सैनिकों (गैर-वजह) को राज-कोष से वेतन दिया जाता था और जिन सैनिकों को वेतन अथवा भूमि कुछ भी न दिये गये थे, उनको अपने लिए भूमि-कर का कुछ भाग वसूल करने का अधिकार दिया गया था। शाही सेना में राज्य के दो लाख से कुछ ही कम उच्च पदाधिकारियों तथा सामंतों एवं उनके अनुचरों के अतिरिक्त ८० अथवा ९० हजार अश्वारोही थे। अश्वारोही सैनिकों को कार्यक्षम घोड़े ही सैनिक कार्यालय के समक्ष उपस्थित करने पड़ते थे और

जरन० एशि० सोसा० बंगा० १८४६, पृ० २१३
" " १८३३, पृ० १०५-९
" " १९१२ पृ० २७९
" " १८४० पृ० ६८८
" " २, पृ० १११
रैनेल कृत 'मैप ऑव ए मेम्वायर' पृ० ७२-७४।

'नायब अर्ज-ए-मुमलीक' (उप-सैनिक-कार्यालयाध्यक्ष) मलिक रजी ने अपनी सतर्क नीति से उन सब भ्रष्टाचारों को समाप्त कर दिया जो भूतपूर्व शासकों के समय से चले आ रहे थे। सैनिकों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार किया जाता था तथा उनकी सुख-सुविधा का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। परंतु अपात्रों के प्रति सुलतान की उदारता ने सेना को बहुत कुछ निर्बल बना दिया क्योंकि उसने वृद्ध एवं निर्बल लोगों को भी, जो सैनिक-कार्यों में सक्रिय भाग न ले सकते थे, सेना में रहने दिया। एक नये नियम के अनुसार जब कोई सैनिक वृद्धावस्था के कारण सैनिक-कार्यों के अयोग्य हो जाता तो उसका पुत्र अथवा दामाद उसका स्थान ग्रहण करता और इस प्रकार "वृद्ध सैनिक घर में आराम से पड़े रहते और युवक उनके स्थान पर अश्वारोहण करते।"[३०] सुलतान के सेनाध्यक्षों द्वारा ऐसे नियमों का विरोध किये जाने पर भी सेना की निपुणता को दुर्बल हृदय सुलतान की उदारता के नीचे दब जाना पड़ा।

दण्ड-विधान न्याय तथा सार्वजनिक हित के कार्य—कानून एवं न्याय के विषय में फीरोज के विचार एक कट्टर मुसलमान के से थे। अपराधों का दमन करने में वह बहुत कठोर था और कुरान के आदेशों के अनुसार न्याय करता था। न्यायाधिकरण में 'मुफ्ती' कानून की व्याख्या करते थे और काजी तदनुसार निर्णय दिया करते थे। यदि कोई यात्री मार्ग में मर जाता तो जागीरदार तथा मुकद्दम, काजी तथा अन्य मुसलमानों को बुलाकर उनके सामने शव की परीक्षा करते थे और काजी से उसके शरीर पर आघात का कोई चिह्न न होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर उसको दफनाते थे। हिन्दुस्तान का दण्ड-विधान मध्यकालीन योरोप के दण्ड-विधान की भाँति कठोर था। अपराधी से सच्ची बात कहलवाने के लिए उसको यातनाएँ देना सफलतम उपाय समझा जाता था और दण्ड-विधान में अपराधी के सुधार की भावना न होकर प्रतिशोध की भावना ही रहती थी। फीरोज ने अपराधियों को यातनाएँ देना तथा अन्य निर्दयतापूर्ण दण्ड देने बंद करवा दिये, परंतु उसकी दया इस सीमा तक बढ़ी हुई थी, कि अनेक दण्डनीय अपराधी थोड़ा भी दण्ड पाये बिना ही छूट जाते थे।

निर्धनों की सहायता के लिए सुलतान का उद्योग सराहनीय है। जन-हित की भावना उसमें इतनी बढ़ी हुई थी कि उसने कोतवालों को बेकार लोगों की संख्या जानने की आज्ञा दी। इन लोगों को दीवान के पास प्रार्थना-पत्र

---

३०. अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० ३०३; इलियट ३, पृ० ३४९।

भेजने के लिए कहा गया और तब योग्यता के अनुसार इनको कार्य दिलाया गया। जो लोग पढ़ना-लिखना जानते थे उनको शाही-परिवार में कार्य दिया गया, जो शारीरिक श्रम में रुचि रखते थे उनको राजकीय कारखानों में लगाया गया तथा जो किसी अमीर अथवा उच्चपदस्थ व्यक्ति के गुलाम बनने की इच्छा रखते थे उनको योग्यता-समर्थक-पत्र दिये गये। जो निर्धन मुसलमान धनाभाव के कारण अपनी कन्याओं का विवाह न कर पाते थे उनकी सहायता के लिए एक अनुदान-कार्यालय (दीवान-ए-खैरात) खोला गया; यहाँ प्रत्येक प्रार्थी की परिस्थितियों पर विचार कर उसको यथोचित आर्थिक सहायता दी जाने की सिफारिश की जाती थी। प्रथम श्रेणी के प्रार्थियों को ५० टंके, तथा द्वितीय एवं तृतीय श्रेणी के प्रार्थियों को ३० एवं २५ टके दिये जाते थे। इस प्रकार सुलतान ने चिरकाल से अनुभव किये जाते हुए अभाव की पूर्ति की और लोग दूर-दूर से सुलतान की कृपा का लाभ उठाने के लिए आने लगे।

फीरोज अपने चचेरे भाई (मुहम्मद तुगलक) के अत्याचारों से पीड़ित लोगों की क्षति-पूर्ति करना चाहता था। मुहम्मद के शासन-काल में प्राण दण्ड द्वारा व्यक्तियों के उत्तराधिकारियों तथा उन लोगों को जिनका अंगच्छेद कर दिया गया था, उसने उपहार देकर उनके हृदय से भूतपूर्व सुलतान के प्रति दुर्भावनाओं को समाप्त करने का प्रयत्न किया। यह कार्य लिखित घोषणाओं द्वारा सम्पन्न किया गया। जिन पर नियमानुसार साक्षियों के हस्ताक्षर भी करवाये गये थे। यह घोषणा-पत्र विगत सुलतान के मकबरे के ऊपर 'दारुल अमन' में एक सन्दूक में रखे गये। जिन लोगों के गाँव, भूमि अथवा अन्य पैतृक सम्पत्ति भूतपूर्व शासकों के समय में छीन ली गई थी, उनको यह लौटा दी गई। न्यायाधिकरण में उनके अधिकारों की पूरी-पूरी जाँच की गई और उनके सिद्ध हो जाने पर उनकी सम्पत्ति उनको लौटा दी गई।

सुलतान को स्वयं चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञान था; दिल्ली में उसने एक चिकित्सालय की (दारुल शफा) की स्थापना की जहाँ रोगियों को निःशुल्क औषधियाँ दी जाती थीं। रोगियों की परिचर्या के लिए अनुभवी चिकित्सक नियुक्त किये गये तथा राज्य की ओर से इनके भोजन की भी व्यवस्था की गई। महान् शासकों तथा धर्मात्मा पुरुषों के मकबरों के दर्शनार्थ दूर-दूर के देशों से आनेवाले यात्रियों के हित के लिए वह मुक्तहस्त दान देता था। राज-कार्यों की व्यस्तता में भी वह उन लोगों को न भूला जो विगत शासन में सताये गये थे और उनकी क्षति-पूर्ति कर उसने सुलतान मुहम्मद की

आत्मा के कल्याण के लिए उनसे "संतुष्ट-पत्र" प्राप्त किये।" यह कार्य स्पष्टतः उन मुल्ला-मौलवियों को प्रसन्न करने के लिए किये गये, जिनको मुहम्मद ने बहुत रुष्ट कर दिया था।

दास-प्रथा—फीरोज के शासन-काल में दास-प्रथा बहुत बढ़ गई थी। साम्राज्य के प्रत्येक भाग से प्रतिनिधि-शासक सुलतान के लिए दास भेजते थे और इन दासों को राज्य की ओर से वृत्तियाँ दी जाती थी। उच्च शिक्षित दास धर्म तथा साहित्य के अध्ययन में लग जाते थे तथा जिनको व्यावसायिक-शिक्षा मिली होती थी वह कारीगर, शिल्पकार बन जाते थे। सुलतान के अनुग्रह से दासों की संख्या तीव्र गति से बढ़ने लगी और थोड़े ही वर्षों में राजधानी तथा प्रांतो में मिलाकर यह संख्या १,८०,००० तक पहुँच गई। सुलतान के महल में ही ४०,००० दास थे। दासों के इस विशाल दल की व्यवस्था के लिए एक अलग ही विभाग खोलना पड़ा और उसमें स्थायी पदाधिकारी नियुक्त करने पड़े। इस व्यवस्था में राज-कोष से धन भी विपुल मात्रा में व्यय हुआ होगा। दासों का एक अपना निरीक्षक, एक अपना कोष, एक अलग जौ-शुगूरी तथा उप-जौ-शुगूरी और 'दीवान' होता था। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि दासो की संख्या में भयंकर वृद्धि हो गई थी और परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य के विघटन का यह भी एक कारण बन गई।

मुद्राओं में सुधार—समसामयिक इतिहास लेखक ने फीरोज को अनेक नवीन मुद्राओं को प्रचलित करने का श्रेय दिया है, परंतु समीप से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यह सब मुद्राएँ मुहम्मद तुगलक के समय में भी चलती थी। 'शशगनी' (६ जीतल का सिक्का) भी पहिले पहल फीरोज द्वारा ही प्रचलित नही किया गया; इब्नबतूता ने भी इस सिक्के का उल्लेख किया है। टकसाल का प्रबंध सुचारु न था और यहाँ बहुधा बेरोक-टोक धोखेबाजी की घटनाएँ होती रहती थी,[३२] परंतु सुलतान प्रजा के हित को कभी न भूला; निर्धन व्यक्तियों की सुविधा के लिए उसने $\frac{1}{2}$ तथा $\frac{1}{4}$ जीतल के सिक्के चलाये जिनको क्रमशः 'अद्धा' तथा 'बिरव' कहा जाता था। तांबा एवं चाँदी की मिलावट के कारण यह सिक्के भारी होते थे और धातु का यथार्थ मूल्य इनमे

---

३१. 'फतूहात-ए-फीरोजशाही'—इलियट, ३, पृ० ३८५।
'सीरत-ए-फीरोजशाही'—प्रयाग विश्वविद्यालय की हस्तलिपि, पृ० १४१।
फिरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० १५१।

३२. 'शम्स-ए-सिराज' अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि०इण्डि० पृ० ३४४-४५।

प्राप्त हो जाता था—भारत मे यह बात अत्यत महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि यहाँ लोग "धातु का पूरा-पूरा मूल्य वसूल करते हैं।"[33]

सार्वजनिक हित के कार्य—भवन-निर्माण में फीरोज का सा उत्साह उसके पूर्ववर्ती किसी भी मुसलमान शासक ने न दिखाया था। प्रारम्भिक मुसलमान शासक हिन्दुस्तान की विभिन्न जातियो से युद्ध करने में उलझे रहे और अनवरत युद्धो से उन्हें इतना समय न मिल सका कि वह सार्वजनिक लाभ के कार्यों की ओर ध्यान दे पाते। फीरोज प्रथम मुसलमान शासक था जिसको भूतपूर्व शासकों की अपेक्षा कही अधिक शातिपूर्ण स्थिति मे शासन करने का सुदीर्घ समय मिला और बडे-बडे युद्धो का सर्वथा अभाव होने के कारण वह जन-हितकारी निर्माण-कार्यों में जुट सका। उसने फीरोजाबाद, फतेहाबाद, जौनपुर तथा अन्य अनेक नगरो की नीव डाली; मस्जिदें, महल, मठ तथा यात्रियों की सुविधा के लिए सरायें बनवाईं और अनेक टूटती हुई इमारतों की मरम्मत करवाई।[34] राज्य की ओर से अनेक कारीगर नियुक्त किये गये तथा विभिन्न कारीगरो के कार्य के निरीक्षण के लिए योग्य 'निरीक्षक' नियुक्त किये गये। राज्य का प्रधान शिल्पी मलिक गाजी महना था और अब्दुलहक़, जो जहीर सुन्धर के नाम से भी प्रसिद्ध है, इसका सहायक था। प्रत्येक नये भवन की रूप-रेखा का निरीक्षण अर्थ-विभाग (दीवान-ए-विजारत) में किया जाता था और तब इसके निर्माण के लिए धन स्वीकृत होता था।[35]

सुलतान को उद्यानों से बहुत प्रेम था। उसने अलाउद्दीन के समय के ३० उद्यानो का जीर्णोद्धार कराया तथा दिल्ली के आस-पास १२०० नये बाग

---

३३. टॉमस—'दि क्रॉनिकल्स ऑव पठान किंग्स', पृ० २८१।

३४. फिरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० १५१; इलियट ३, पृ० ३८३-८४।

३५. शम्स-ए-सिराज-अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही' विब्लि० इण्डि० पृ० ३३३।

फिरिश्ता ने फीरोज के शासन-काल मे निर्मित ८४५ सार्वजनिक भवन गिनाये हैं। स्वयं फीरोज ने 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में कुछ का उल्लेख किया है।

अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—विब्लि० इण्डि० पृ० ३२९-३३।

फीरोज द्वारा बनवाये गये तथा जीर्णोद्धार कराये गये सार्वजनिक भवनों को टॉमस महोदय ने 'क्रॉनिकल्स ऑव दि पठान किंग्स' में गिनाया है। देखिए पृ० २९०-९१।

इनका उल्लेख अफीफ की 'तारीख-ए-फीरोजशाही' तथा सुलतान की आत्म-कथा 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में भी किया गया है। इलियट ३, पृ० ३५४, ३५५, ३८३-८५।

लगवायें। उसके शासन-काल में अनेक बाग-बगीचे लगवाये गये, जिनसे राजस्व में बहुत वृद्धि हुई। बहुत-सी ऊसर भूमि को कृषि के योग्य बनाया गया। यद्यपि राज्य का विस्तार घट गया था, परन्तु राजस्व में लाखों की वृद्धि हो गई थी।

शिल्प-कला की प्राचीन वस्तुओं की सुरक्षा में फीरोज की बहुत रुचि थी। वह अशोक के दो स्तम्भों को अपने नवीन नगर में ले गया था। एक स्तंभ, जो 'मीनार-ए-जर्री' (स्वर्ण-स्तंभ) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, खिज्राबाद के समीप के एक गाँव से दिल्ली में लाया गया था; यहाँ इसको फीरोजाबाद में बड़ी मस्जिद के समीप स्थापित किया गया। दूसरा स्तंभ मेरठ से हटवाया गया था और वर्तमान दिल्ली के पड़ोस में 'कुश्क-ए-शिकार' के समीप एक पहाड़ी पर स्थापित किया गया। शम्स-ए-सिराज अफीफ ने इन स्तम्भों के लाये जाने तथा पुनः स्थापित करने के ढंग का विस्तृत वर्णन किया है। इन स्तम्भों पर खुदे हुए लेखों को पढ़ने के लिए विद्वान् ब्राह्मणों को बुलाया गया, परंतु वह इनकी लिपि को न पढ़ सके जो उनकी परिचित लिपि से सर्वथा भिन्न थी। कुछ ब्राह्मणों ने यह कहकर सुलतान को प्रसन्न करने की चेष्टा की कि इन अभिलेखों में लिखा है कि फीरोज के आगमन से पूर्व कोई भी इन स्तम्भों को हटवा न सकेगा।[३६]

शिक्षा की उन्नति—धर्म-परायण एवं उपकारी शासक होने के कारण सुलतान ने शिक्षा की उन्नति में बहुत रुचि प्रदर्शित की। उसने शेखों एवं विद्वानों को आश्रय प्रदान किया और अपने 'अंगूरी-महल' में उनका हार्दिक स्वागत

---

३६. इनमें एक प्रस्तर-स्तम्भ था जो ऊँचाई में ४२ फी० ७ इंच था; इसका ऊपर का ३५ फी० भाग पालिश किया हुआ था और शेष खुरदरा था। दूसरा लौह-स्तम्भ था और प्रस्तर-स्तंभ से छोटा था। यह स्तंभ पहिले मेरठ के पड़ोस में थे और इनको स्थानान्तरित करने में बहुत कठिनाई पड़ी थी।

कार स्टेफेन—'ऑर्क्यालॉजी ऑव दिल्ली', पृ० १३०, १४२, १४३।

सुलतान ने जिन पंडितों को यह अभिलेख पढ़ने को बुलाया, वह एडवर्ड टॉमस महोदय के शब्दों में, या तो वज्र मूर्ख रहे अथवा जान-बूझकर उन्होंने पढ़ने में असमर्थता प्रकट की होगी क्योंकि वह साकंभरी नरेश वीसलदेव के ११६३ ई० के लेख को अवश्य ही पढ़ सकते थे, जो देवनागरी लिपि में संस्कृत में लिखा था। इस अभिलेख में प्रसिद्ध चौहान नरेश वीसलदेव की विजयों का वर्णन है।

कार स्टेफेन—'ऑर्क्यालॉजी ऑव दिल्ली' पृ० १३७-३८।

देखिए—इस पुस्तक का पहिला परिच्छेद।

किया। उनको उसने वृत्तियाँ तथा पुरस्कार प्रदान किये और उसने साम्राज्य के प्रत्येक भाग में विद्वानों को प्रोत्साहन देना राज्य की नीति का एक अंग बना दिया। इतिहास मे उसकी अभिरुचि थी। जियाबर्नी तथा शम्स-ए-सिराज अफीफ के ग्रथ तथा विधि एव धर्म पर भी अनेक ग्रथ उसके शासन-काल में लिखे गये।[३७] अनेक मठ एव विद्यालय स्थापित किये गये जिनमें विद्वान् लोग अध्ययन एव मनन में सलग्न रहते थे और प्रत्येक विद्यालय के साथ उपासना के लिए एक एक मस्जिद बनवाई गई। इन विद्यालयों के आचार्यों में से दो अत्यधिक विख्यात एवं सम्मान्य हुए है। एक थे मौलाना जलालुद्दीन रुमी, जो धर्म एवं इस्लाम-विहित विधि पर प्रवचन देते थे और दूसरे थे समरकन्द के एक प्रसिद्ध प्रचारक। अवरॉश के प्रवचन-कक्षों तथा बेक एव कैन के मठो में जिस प्रकार विशप लेन्फ्रेक तथा उसके शिष्य धार्मिक विषयों पर प्रवचन देते तथा उनका अध्ययन करते थे उसी प्रकार यह मुसलमान विद्वान् भी धार्मिक विषयो के अध्ययन में संलग्न रहते थे और सीमित दृष्टि एव संकुचित विचारों के होने के कारण यह लोग कट्टरपंथ के प्रबल पोषक बन गये थे।

---

३७. मुलतान विद्या का संरक्षक था। नगरकोट में उसके हाथ एक पुस्तकालय लगा और उसने इसकी कुछ सस्कृत की पुस्तकों का फारसी में अनुवाद कराया। इनमें से एक 'दलायल-ए-फीरोजशाही' ग्रथ है, जिसका उल्लेख किया जा चुका है। बर्नी ने अपना इतिहास-ग्रंथ इसी के शासन-काल में लिखा था और 'अखबार बरमाकियाँ' का अरबी से फारसी मे अनुवाद कर उसको समर्पित किया था। इसके शासन-काल की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ है—जियाबर्नी का 'फतवा-ए-जहाँदारी' तथा 'फिक-ए-फीरोजशाही' जिसके लेखक का नाम ज्ञात नही है। इन दोनो ग्रथो का उल्लेख 'इण्डिया ऑफिस केटेलॉग ऑव पर्शियन मैनुसक्रिप्ट्स' पृ० १३७७ में किया हुआ है। 'सीरत-ए-फीरोजशाही' की रचना भी इसी के शासन-काल में हुई थी।

फीरोज ने अनेक विद्यालय बनाये थे। अब्दुल बकी कृत 'मासिर-ए-रहीमी' (एशि० सोसा० बगाल की हस्तलिपि पृ० १०७) मे लिखा है कि फीरोज ने ५० मदरसे बनवाये। निजामुद्दीन तथा फरिश्ता ने इनकी सख्या ३० बताई है और 'खुलासात-उत्-तवारीख' के लेखक सुजान राय ने इनका समर्थन किया है। फीरोज ने अपनी 'फतूहात' में इन सस्थाओं का वर्णन किया है। फीरोजाबाद के 'फीरोजशाही मदरसे' को बहुत आर्थिक सहायता प्राप्त थी और अन्य मदरसों से यह बहुत बढा चढा था। इस मदरसे का 'मुतवल्ली' यूसुफ-बिन-जमाल था जो १३८८ ई० में मरा और विद्यालय के दालान में ही दफनाया गया।

फीरोजशाह के मदरसो के विवरण के लिए देखिए—

बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही'—बिब्लि० इण्डि० पृ० ५६२-६६।

राज-सभा एवं राज-परिवार—उपरोक्त संस्थाओं के अतिरिक्त राज्य में अन्य अनेक छोटी-छोटी संस्थाएँ थीं; उनका यहाँ नामोल्लेख मात्र पर्याप्त है। यद्यपि धर्मपरायणता एवं कट्टरता के कारण सुलतान वैभव-प्रदर्शन से घृणा करता था, परन्तु राजसभा का परम्परागत वैभव उसको अक्षुण्ण रखना ही पड़ता था। निस्सदेह उसकी राजसभा तड़क-भड़क में भूतपूर्व शासकों की राजसभा की समानता न कर सकती थी और न ही इसमें मुसलमान-संसार के प्रत्येक भाग से लोग आते थे। परंतु शम्स-ए-सिराज़ अफीफ ने, जो राजसभा में बहुधा आया करता था, ईद एवं शबरात के अवसरों पर दरबार की सज-धज का मनोहर वर्णन किया है; इन अवसरों पर फीरोजाबाद का राज-प्रासाद कला पूर्ण ढंग से सजाया जाता था और भड़कीली पोशाकों से सजे दरबारी लोग सुलतान की कृपा से उपलब्ध अनेक प्रकार के मनोरंजक आयोजनों का आनंद लेते थे। इन उत्सवों में भाग लेने के लिए उच्च एवं निम्न सभी वर्गों के मुसलमान तथा हिन्दू भी दूर-दूर से आया करते थे।

'कारखाना' कहे जानेवाले राज-परिवार संबंधी विभिन्न विभागों के अपने-अपने कार्यालय होते थे तथा इनके कार्य की देख-रेख के लिए स्थायी कर्मचारी होते थे। प्रत्येक कारखाने का एक अर्थ-विभाग होता था जहाँ कारखाने का हिसाब रखा जाता था और अतत. यह हिसाब राज्य के प्रधान अर्थ-सचिवालय (दीवान-ए-वजारत) में भेज दिये जाते थे। इन विभागों को प्राप्त जागीरों का हिसाब बड़ी सावधानी से जाँचा जाता था और इनके संरक्षकों को वार्षिक लेन-देन का ब्योरा राज्य के अर्थ-सचिवालय मे भेजना पड़ता था।

शासन-तंत्र हर तरह से सुचारु रूप से चल रहा था। किसी भी गंभीर विद्रोह अथवा दुर्भिक्ष ने फीरोज द्वारा प्रवर्तित सुधारों को विफल बनाने के लिए सिर न उठाया। परंतु उसकी स्वाभाविक करुणा एवं नम्रता ने जो उसकी नीति की आधारशिलाएँ थीं, शासन-तंत्र को निकम्मा बनाने में कम योग न दिया। मुसलमानों का चारित्रिक ह्रास हो गया; इनमें युद्ध की कठोरताओं को सहने की सामर्थ्य न रह गई। परिणाम यह हुआ कि राजदरबार के पुराने मलिकों तथा खानों के अनेक वंशजों में विख्यात योद्धा अथवा सेनानी बनने की इच्छा न रह गई और उच्चाकांक्षाओं तथा सुयोगों से विहीन यह लोग तुच्छ पदलोलुपता में फँस गये।

खानजहाँ मकबूल—फीरोज के शासन का वर्णन उसके योग्य एवं अध्यवसायी वजीर खानजहाँ मकबूल के उल्लेख के बिना अधूरा ही रहेगा। यह वास्तव मे तेलंगाने का हिन्दू था और बाद में मुसलमान हो गया था। यह मुहम्मद तुगलक की सेवा मे रहा था और इसके गुणों एवं गहरी सूझ से

प्रभावित होकर सुल्तान ने इसको मुल्तान की जागीर सौंप दी थी। फीरोज के सिंहासनारूढ़ होने पर अहमद बिन अयाज को हटाकर मकबूल को साम्राज्य के सर्वप्रमुख व्यक्ति का स्थान दिया गया। जब कभी फीरोज दीर्घकाल-व्यापी अभियानों के लिए प्रस्थान करता था, वह राजधानी का कार्यभार इस मंत्री पर छोड़ जाता था और यह भी राज्य के कार्यों को इतनी निपुणता से सम्पन्न करता कि सुल्तान की लम्बी अनुपस्थिति का शासन-तंत्र पर कुछ भी प्रभाव न पड़ने पाता था। यद्यपि मकबूल एक महान् राजनीतिज्ञ था और राज्य के हित-साधन में संलग्न रहता था, परंतु उस समय के अधिकांश उच्च-पदस्थ व्यक्तियों के समान वह भी 'हरम' के सुख-भोगों में आसक्त रहता था। कहा जाता है कि उसके अंतःपुर में विभिन्न देशों की दो हजार स्त्रियाँ तथा बहुसंख्यक बच्चे थे, जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य की ओर से अत्यन्त उदारतापूर्वक की जाती थी। खानजहाँ बड़ी वृद्धावस्था तक जीवित रहा। १३७० ई० में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र जूनाशाह को, जिसका जन्म मुहम्मद तुगलक के शासन-काल में मुल्तान में हुआ था, उसके स्थान पर नियुक्त किया गया और जिस उपाधि को उसके पिता ने इतने दीर्घ काल तक धारण किया था, वह उसको प्रदान की गई।[३८]

फीरोज के अंतिम दिन—जीवन के अंतिम दिनों में फीरोज को चिंताओं एवं दुःखों ने घेर लिया था और विभिन्न दलों के झगड़ों एवं मनमुटावों ने उसके जीवन के सरल प्रवाह को उद्वेलित कर दिया था। वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न दुर्बलता से बाध्य होकर उसने राज-काज 'खान-ए-जहान' पर छोड़ दिये थे परंतु इस मंत्री ने अपने घमण्डी एवं उद्दण्ड व्यवहार से वृद्ध अमीरों

---

३८. शम्स-ए-सिराज अफीफ ने लिखा है कि खानजहाँ का देहान्त हिजरी सन् ७७० (१३६८ ई०) में हुआ और तब उसके पुत्र ने उसका पद सँभाला; परन्तु दूसरे स्थान पर वह लिखता है कि खानजहाँ हिजरी सन् ७७२ (१३७० ई०) में जीवित था। यह बाद की तिथि ठीक है। शेख निजामुद्दीन औलिया के मकबरे के समीप 'काली मस्जिद' में एक अभिलेख में उसके पुत्र के राज-सेवा में नियुक्ति पाने की तिथि हिजरी सन् ७७२ दी है।

खानजहाँ तेलंगाना के राय के कृपा-पात्रों में से था। दिल्ली जाते हुए मार्ग में राय की मृत्यु हो जाने पर, खानजहाँ ने, जो तब कुतू अथवा कुन्नू के नाम से पुकारा जाता था मुहम्मद तुगलक की उपस्थिति में इस्लाम ग्रहण कर लिया और मकबूल नाम धारण किया। अपने पत्रों एवं हस्ताक्षरों में वह स्वयं को 'मुहम्मद तुगलक का दास, मकबूल' लिखता था। बहुत पढ़ा-लिखा न होने पर भी वह बहुत बुद्धिमान् था। सुल्तान मुहम्मद के शासन-काल में उसने राजनीति में प्रमुख भाग लिया था। फीरोज के समय में तो यथार्थ में वही सुलतान था और उसने बड़ी योग्यता से राज्य के कार्यों का संचालन किया।

को रुष्ट कर दिया। राजकुमार मुहम्मद को अपने मार्ग से हटाने के उद्देश्य से इस मंत्री ने सुलतान को बहकाया कि राजकुमार मुहम्मद कुछ षड्यन्त्री अमीरों से मिला हुआ है और उसके प्राण लेना चाहता है। इस मंत्री ने दुर्बल हृदय फीरोज के मन में इतनी चालाकी से भय उत्पन्न कर दिया कि उसने तत्काल इन षड्यन्त्रियों को पकड़ने की आज्ञा दे दी। परन्तु राजकुमार इससे भी बढ़कर चालाक निकला और एक कुशल चाल से उसने अपने प्रतिपक्षी को पछाड़ दिया। उसने अपनी स्त्रियों के लिए शाही हरम में आने की आज्ञा प्राप्त कर ली और तब कवच धारण कर वह स्वयं भी एक पालकी में बैठ गया। इस विचित्र वेश में उसके अप्रत्याशित आगमन से स्त्रियाँ चौंक उठीं, परन्तु इससे पहिले ही कि कोई उसको क्षति पहुँचाये, उसने अपने पिता के चरण पकड़ लिये और उससे क्षमा की याचना की। उसने सुलतान को समझाया कि उस पर जिस षड्यन्त्र का आरोप लगाया गया है, वह इस पद-लोलुप मन्त्री की कपोलकल्पना है। उसने सुलतान से इस मंत्री को पदच्युत करने तथा बंदी बनाने की आज्ञा प्राप्त कर ली। इस घटना का समाचार पाकर मंत्री मेवात की ओर भाग गया। राजकुमार को सुलतान की कृपा प्राप्त हो गई और वह युवराज बना दिया गया। इस प्रकार अपनी स्थिति को सुरक्षित कर युवराज विषय-भोगों में लिप्त हो गया और राज्य के विश्वस्त कर्मचारियों के चेतावनी देने पर भी उसने कुमार्ग न छोड़ा तथा अनुभवी कर्मचारियों के स्थान पर उसने अपने दलालों तथा अनुचरों को नियुक्त करना प्रारम्भ कर दिया। युवराज के प्रति विरोध उग्र होने लगा और प्रतिपक्षी दलों में भयंकर युद्ध छिड़ गया। इस प्रकार गृह-युद्ध का आतंक छा गया। अमीरों ने सुलतान से रक्षा की याचना की और उसकी उपस्थिति का युद्ध-रत दलों पर जादू का सा असर हुआ। राजकुमार सिरमौर के पर्वतीय प्रदेश की ओर भाग गया और शीघ्र ही शांति स्थापित हो गई। फीरोज ने पुनः राज-काज अपने हाथ में ले लिये, परन्तु वृद्धावस्था के कारण वह राजकीय कर्तव्यों का निर्वाह करने में असमर्थ हो गया। अपने पौत्र तुगलक शाह बिन फतह खाँ को राजकीय चिह्न प्रदान कर फीरोज ने अपने जीवन का अंतिम सार्वजनिक कार्य सम्पन्न किया। राज-काज का भार इसी पर डाल दिया गया। थोड़े ही समय के उपरांत हिजरी सन् ७६० में रमजान के महीने में (अक्टूबर १३८८) ८० वर्ष की आयु में सुलतान का देहांत हो गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् प्रतिद्वंद्वी दलों में राज्याधिकार के लिए संघर्ष छिड़ गया; इसका वर्णन अगले परिच्छेद में किया जायेगा।

फीरोज के कार्यों का मूल्यांकन—मुसलमानी विचार-धारा के दृष्टिकोण

में फीरोज एक आदर्श शासक था। वह कट्टर एवं दयालु था तथा हृदय में प्रजा का हित चाहनेवाला था और सहधर्मियों के प्रति उसका विशेष उदार भाव था। उसमें अपने पूर्ववर्ती शासकों की अपेक्षा बहुत कम योग्यताएँ थीं और उसको अनेक सुधारों का श्रेय प्राप्त होने पर भी, उसकी नीति में कोई ऐसी विशेषता न थी जो उसको सामान्य शासक से कुछ उच्च सिद्ध कर सके। उसके सिंहासनारूढ़ होने के समय साम्राज्य छिन्न-भिन्न था। मुहम्मद के शासन-काल की अव्यवस्थाओं से साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था और विभिन्न प्रांतों में अमीर तथा सरदार स्वतन्त्र स्वेच्छाचारी शासक बन बैठे थे। फीरोज ने इन राजभक्ति से विमुख प्रांतीय शासकों पर दिल्ली-साम्राज्य का प्रभुत्व स्थापित करने की कोई चेष्टा न की। न वह योग्य सेनानी था और न दृढ़ एवं दूरदर्शी शासक ही। उसने युद्धों में अत्यंत शिथिलता का परिचय दिया और यदि खानजहाँ मकबूल ने योग्यतापूर्वक स्थिति को सँभाल न लिया होता तो इन युद्धों का उसके लिए विनाशकारी परिणाम भी होता। इकदला दुर्ग के सम्मुख फीरोज ने केवल मुसलमानों का रक्त बहने के भय से हाथ आती विजय को भी हाथ से निकलने दिया और उसकी कूटनीतिक अयोग्यता तथा अज्ञान के कारण ठट्ठ के अभियान में उसकी सेना को अपार कष्ट सहन करने पड़े। वह इनके कच्छ में भटकता फिरा और छः मास तक उसका कोई समाचार न मिलने के कारण समस्त राज्य में आश्चर्य फैल गया। जनता की उत्कंठा को शांत करने के लिए खानजहाँ को झूठमूठ ही कहना पड़ा कि सुलतान के पत्र उसको मिल रहे हैं। फीरोज का सैनिक प्रबंध भी दोषपूर्ण और निकम्मा था। राजनीतिज्ञ की अपेक्षा अधिक मानव-हित-चिंतक होने के कारण उसने अपनी दया एवं उदारता से अपने सुधारों से होनेवाले लाभों का दुरुपयोग कर दिया। वह अपने सभी कर्मचारियों के प्रति कृपालु था, चाहे वह भ्रष्टाचारी हो अथवा सदाचारी और उनकी अनुपस्थिति के समय वह उनको अपना स्थान भरने के लिए कोई भी आदमी ले आने की अनुमति दे देता था। अयोग्य सैनिकों के सब प्रकार के बहाने स्वीकृत हो जाते थे और स्वयं सुलतान के निरीक्षक नियमों की अवहेलना कर देते थे। शासन-प्रबंध की सुचारुता का कुछ भी ध्यान न रखकर पदों को पैतृक बना दिया गया और सुलतान ने अपने मन का इस प्रकार समाधान किया कि "सर्वशक्तिमान (प्रभु) अपने सेवकों के वृद्ध होने पर उनकी जीविका नहीं छीन लेता, फिर उसका बंदा, मैं अपने वृद्ध सेवकों को कैसे अलग कर सकता हूँ!" एक बार सुलतान ने एक सैनिक को यह कहते हुए सुन लिया कि वह निरीक्षण के लिए अपना घोड़ा उपस्थित करने में असमर्थ है। ५

उसको सैनिक-कार्यालय के लेखक को घूस देकर अपना काम बनाने की सलाह दी, परंतु सैनिक ने अपनी निर्धनता प्रकट की। सुलतान ने उस सैनिक को सोने का १ टंका दिया जिससे वह कार्यालय के लेखक को घूस देकर इच्छित प्रमाण-पत्र प्राप्त कर सके। इससे अधिक निंदनीय और क्या हो सकता है कि स्वयं सुलतान घूस को प्रोत्साहन देकर शासन-तंत्र को निकम्मा बनाने का प्रयत्न करे। जब सुलतान ने गरीबों की सुविधा के लिए 'शशगनी' मुद्रा चलाई तो टकसाल के पदाधिकारी भ्रष्टाचार करने लगे और वह इस सिक्के में खोट करने लगे। सूचना मिली कि सिक्के में १ ग्रेन चाँदी कम है। टकसाल के अध्यक्ष कजरशाह पर इस जालसाजी को प्रोत्साहित करने का दोष लगाया गया। जब इस सिक्के की जांच के लिए सुनार बुलाये गये तो वह इनसे मिल गया और जब सिक्के को गलाने के लिए रखा गया तो सुनारों ने चुपके से उसमें थोड़ी सी चाँदी और डाल दी जिससे चाँदी की कमी पूरी हो जाय। दूसरी बार सुनारों के कपड़े उतरवाये गये जिससे वह अपने पास कोई धातु न रख सकें, परन्तु उन्होंने बड़ी चतुराई से कोयलों में चाँदी रख दी; यह बात कजरशाह को मालूम थी। इस प्रकार सिक्के की शुद्धता सिद्ध कर दी गई और इस जालसाजी में सम्मिलित कजरशाह को सम्मान के वस्त्र प्रदान किये गये और सब नगर में हाथी पर उसकी सवारी निकालकर उसका सम्मान किया गया। जिन लोगों ने उस पर दोषारोप किया था उनको निर्वासित होना पड़ा। जान पड़ता है ऐसे भ्रष्टाचारों से फीरोज के समय के लोगों की नैतिक भावनाओं को कुछ भी आघात न लगता था। शम्स-ए-सिराज अफीफ ने साम्राज्य के स्थायी हितों को हानि पहुँचानेवाले इन भ्रष्टाचारों के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं लिखा है। फीरोज के शासन-काल की एक विशेषता यह भी थी कि समस्त साम्राज्य के लिए कानूनों का एक आदर्श रख दिया गया था; इससे नवीन कल्पना और संकल्प इस सीमा तक दब गये कि राज्य के उच्चपदस्थ कर्मचारियों में न नैतिकता रह गई और न निपुणता ही।

फीरोज ने धर्म को शासन-तन्त्र का आधार बनाया। भारतीय इतिहास में औरंगजेब से पूर्व सिकन्दर लोदी के शासन को छोड़कर अन्य किसी भी शासन में धर्म को इतनी प्रधानता न दी गई थी। इस सुलतान की जीवन-प्रणाली तथा शासन-नीति को देखकर इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि वह एक धर्म का पक्षपाती शासक था। प्रत्येक कार्य में वह शरियत का अनुसरण करता था; वह धार्मिक पुरुषों के स्थानों की यात्रा करता था, प्रस्थान से पहले कुरान का स्पर्श कर लेता था और अपने शासन के अंतिम दिनों

मे तो उसने बाल भी मुँडा दिये थे। आर्थिक, धार्मिक तथा सैनिक व्यवस्था तक में वह राज्य के हितों की चिंता न कर कट्टर धार्मिक विधियों का आश्रय लेता था। पहली बार ब्राह्मणों पर 'जजिया' लगाया गया, जो कि 'मूर्तिपूजा के भवन की कुंजी' कहे जाते थे और उनकी अनुनय-विनय पर भी सुलतान ने कुछ ध्यान न दिया। जजिया देनेवालों को ३ श्रेणियों में रखा गया—प्रथम श्रेणीवालों को ४० टके, द्वितीय श्रेणीवालों को २० तथा तृतीय श्रेणीवालो को १० टके देने पड़ते थे। ब्राह्मणो ने सुलतान से प्रार्थना की कि 'जजिया' उन पर बहुत भारस्वरूप है। उसने इसकी दर कम करना स्वीकार कर लिया और १० टकों के स्थान पर ५० 'कनियाँ' नियत की।[39]

फीरोज कट्टर सुन्नी था। 'फतूहात' मे उसको मूर्तिपूजा एवं विधर्म के विनाश का श्रेय दिया गया है। उसने मंदिरों को मिसमार किया तथा "विधर्मियों के नेताओं का वध किया, जो दूसरों को भी बुराई की ओर घसीटते थे" और इन मंदिरों के स्थान पर मस्जिदें बनवाईं।[40] धर्म में हस्तक्षेप करने की अनेक घटनाओं का इस ग्रंथ मे उल्लेख हुआ है और कोहाना के नये मंदिर में पूजा करने के लिए एकत्र हुए हिंदुओं के विषय में सुलतान ने लिखा है

"यह लोग पकड़ लिये गये और मेरे सामने लाये गये। मैंने आज्ञा दी कि इस दुष्टता के नेताओं के दुराचरण की सार्वजनिक घोषणा की जाये और इनको राज-प्रासाद के द्वार पर तलवार के घाट उतारा जाये। मैंने यह भी आज्ञा दी कि इनकी पूजा मे प्रयुक्त होनेवाली पुस्तकें, मूर्तियाँ तथा पात्र भी, जो इनके साथ लाये गये थे, सार्वजनिक रूप से जला दिये जायें। शेष को दण्ड एवं धमकी द्वारा रोक दिया गया जिससे कि अन्य जनों को चेतावनी हो जाय कि कोई भी 'जिम्मी' मुसलमानी देश मे ऐसी दुष्ट चेष्टाएँ नहीं कर सकता।"[41]

धार्मिक स्थानों एवं मकबरों की यात्रा के लिए जानेवाली मुसलमान-स्त्रियों को भी फ़ीरोज का कोप भाजन बनना पड़ा। उसने एक आज्ञा प्रचारित की जिसके अनुसार स्त्रियों द्वारा ऐसी यात्राओं का निषेध किया गया और इसकी अवहेलना करनेवालियों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई।[42]

---

३६. अफीफ, इलियट ३, पृ० ३६६।

४०. अफीफ, इलियट, ३ पृ० ३८१।

४१. वही, पृ० ३८१।

४२. अफीफ—इलियट ३, पृ० ३८०।

उदार पंथी मुसलमानों के दमन में भी फीरोज ने बहुत उत्साह दिखाया। 'फतूहात' में ऐसे कुछ सम्प्रदायों का उल्लेख है जिनका कठोरतापूर्वक दमन किया गया था। सुलतान के इन कार्यों का ठीक ठीक परिचय प्राप्त करने के लिए पाठक को स्वयं सुलतान के विचार पढ़ने चाहिए। शिया (जिनको रफीजी भी कहा जाता है) दण्डित किये गये और उनसे उनकी भूल स्वीकार कराई गई तथा उनकी धार्मिक पुस्तकों को सार्वजनिक रूप से जलाया गया। 'मुलहिदों' तथा 'अब्हतियों' को, जिनकी धार्मिक क्रियाएँ सुलतान के विचार में घोर अश्लीलतापूर्ण थीं, बंदी बनाकर निर्वासित किया गया और उनकी 'घृणित क्रियाओं' को समाप्त कर दिया गया। 'मेहदवियों' को भी दण्ड दिया गया और उनके नेता रुक्नुद्दीन पर अधर्माचरण का आरोप लगाया गया तथा उसको शीघ्र समाप्त कर दिया गया। फीरोज लिखता है कि उसको कुछ समर्थकों एवं शिष्यों सहित मारा गया और जनता ने झपटकर उसके टुकड़े टुकड़े कर दिये और उसकी हड्डियों को चूर चूर कर दिया तथा इस बात पर फीरोज ने संतोष प्रकट किया है कि खुदा ने उसको ऐसी दुष्टता के दमन का साधन बनाया।"[४३] सूफियों के प्रति भी ऐसा ही व्यवहार किया गया।

परन्तु यहीं तक फीरोज की धार्मिक कट्टरता सीमित न रही। फीरोज के शासन में राज्य द्वारा 'धर्म-परिवर्तन' को प्रोत्साहन दिया गया। लोगों को इस्लाम ग्रहण करने के लिए प्रलोभन दिये जाने लगे। सुलतान के शब्दों से उसके विचार स्पष्ट हो जाते हैं। वह लिखता है :—

"मैंने अपने विधर्मी प्रजा-जनों को नबी का धर्म ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया और मैंने घोषणा की कि जो कोई भी इस्लाम स्वीकार कर मुसलमान बन जायेगा वह 'जजिया' से मुक्त किया जायेगा। जनता के कानों में इसकी खबर पहुँची और बहुत बड़ी संख्या में हिंदू उपस्थित हो गये और उनको इस्लाम ग्रहण करने का सम्मान प्रदान किया गया।"[४४]

फीरोज की नीति अच्छाई एवं बुराई का एक विचित्र सम्मिश्रण थी। इसमें अनेक सराहनीय बातें थीं; निर्धनों एवं बेकारों की सहायता के लिए उसके उद्योग, कृषि के सुधार की उसकी योजनाएँ, जन-हितकारी भवनों के निर्माण की उसकी इच्छा—यह उसकी ऐसी उपलब्धियाँ हैं जिनके लिए उसकी

४३. वही, ३, पृ० ३७९।

४४. अफीफ—इलियट ३, पृ० ३८६।

सदैव प्रशंसा की जायेगी; परन्तु कोई भी निष्पक्ष इतिहासकार उसकी उत्पीड़क धर्मान्धता, अपराधों की अवहेलना, शासन-तन्त्र की दक्षता के प्रति उसका उपेक्षाभाव, उसकी विचारहीन दयालुता का जिन सबने मिलकर राज्य की प्रतिष्ठा एवं शक्तिमत्ता को समाप्त कर दिया था, कभी समर्थन नहीं कर सकता। यदि किसी नीति के औचित्य का निर्णय उसके परिणाम से किया जाये, तो हमें कहना पड़ेगा कि फीरोज की नीति साम्राज्य को वह सुदृढ़ता प्रदान करने में सर्वथा विफल रही, जो चौदहवीं शताब्दी में कुशल राज्यवृतिज्ञता एवं उत्कृष्टतम सैनिक योग्यता के सम्मिलन से ही प्राप्त की जा सकती थी।

अध्याय १२

परवर्त्ती तुगलक-शासक तथा तैमूर का आक्रमण

साम्राज्य के विघटन के कारण—फीरोज की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली-साम्राज्य जो एक सकुचित राज्य मात्र रह गया था धीरे-धीरे महत्त्वहीन होने लगा था। मुहम्मद के शासन-काल के उलट-फेरों से साम्राज्य की सुदृढ़ता को प्रबल आघात लग चुका था और फीरोज ने भी साम्राज्य के खोये हुए प्रभुत्व को पुनः प्राप्त करने का उद्योग न किया; फीरोज मे न तो इस कार्य के लिए उत्साह था और न क्षमता ही। फीरोज की अशक्त नीति के परिणामस्वरूप भारत के इतिहास मे प्रसिद्ध विघटन की प्रवृत्तियाँ कार्यान्वित हो उठी; एक एक कर प्रान्त साम्राज्य के प्रभुत्व से मुक्त होने लगे। अधिकार-लिप्सु सरदार तथा स्वामि-भक्ति-विहीन प्रान्तीय प्रतिनिधि शासक विद्रोह का झंडा उठाने लगे और अशक्त केन्द्रीय शासन की अवहेलना करने लगे। चौदहवी शताब्दी के मुसलमान-राज्य शक्ति के आधार पर ही टिके हुए थे; परन्तु फीरोज के शासन मे राज्य की नीति इतनी कोमल हो गई थी कि लोगों के मन से शासक का भय उठ गया; उनके मन मे फीरोज के लिए प्रेम था भय, नही। राज्य के प्रत्येक कार्य मे धर्म की प्रधानता होने के कारण शासन-तंत्र की दक्षता बहुत घट गई और शासन-तन्त्र मे मुल्लाओं एवं मुफ्तियों का अत्यधिक प्रभाव अंततः राज्य के लिए घातक सिद्ध हुआ। राज-सभा मे विलासपूर्ण जीवन के अभ्यस्त हो जाने के कारण मुसलमान सरदारों व अमीरों में पहले जैसी कष्टसहिष्णुता एव पौरुष न रह गया और युद्धों में वह अव्यवस्थित जन-समूह की भाँति व्यवहार करने लगे; इसका प्रधान कारण नेतृत्व, अनुशासन और रण-चातुर्य का वह अभाव था जिसका प्रचुर साक्ष्य फीरोज की सामरिक नीति मे मिलता है। जागीर-प्रथा से अनेक दुष्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला। प्रायः जागीरदार अपने लिए एक स्वतन्त्र राज्य ही बना लेने की चेष्टा करते थे। भूमि से शक्ति ग्रहण करनेवाली सामंत-प्रथा उद्दण्डता को प्रोत्साहन देती है और जब केन्द्रीय शासन उद्दंड सामंतों का दमन करने मे अशक्त हो जाता है, तब स्थिति भयंकर रूप धारण कर लेती है। फीरोज के समय ऐसी ही स्थिति बन गई थी। उसके असंख्य दास साम्राज्य के लिए नई नई आपत्तियों के स्रोत बन गये थे। दासो मे आमूल परिवर्तन हो गया था। वह बलबन अथवा अलाउद्दीन के

दासी के समान न तो योग्य ही रह गये थे और न स्वामिभक्त ही और निरन्तर घृणित कुचक्रों में उलझे रहकर राज्य में अव्यवस्था बढ़ाया करते थे। परवर्त्ती तुगलक-शासकों की अयोग्यता से हिन्दुओं के और विशेषतया दोआब के हिन्दुओं के विद्रोह पुन सिर उठाने लगे। दोआब के 'जमीदारों' तथा 'खूतों' ने राज-कर देने बन्द कर दिये और वह छोटे-मोटे स्वेच्छाचारी शासक बन बैठे। भूमि-कर की वसूली रुक गई। समस्त राज्य में अव्यवस्था फैल गई। केवल सैनिक शक्ति पर आधारित राज्य का ऐसे शासकों के अधिकारारूढ होने पर, जो न योद्धा थे और न नीति-निपुण तथा जो सरलता से अधिकार-लिप्सु लोगों के हाथ की कठपुतली बन जाते थे, ह्रास होना सुनिश्चित था। फीरोज के उत्तराधिकारियों ने अपनी अयोग्यता से विघटन की उस प्रक्रिया को और भी बल प्रदान कर दिया, जिसके बीज फीरोज के शासन-काल में ही पड़ चुके थे।[1]

फीरोज के अशक्त उत्तराधिकारी—फीरोज के पश्चात् उसका नाती राजकुमार फतह खाँ का पुत्र तुगलक शाह 'द्वितीय गयासुद्दीन तुगलक' के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। इस अनुभवहीन युवक शासक को अपने चारों ओर घिरी हुई घोर कठिनाइयों तथा दिल्ली-साम्राज्य पर छाये संकटों का कुछ भी मान न था। अत सिंहासन पर प्रतिष्ठित होने पर वह सुख-भोग एवं विलासिता में लिप्त हो गया और राज-कार्यों को भूल बैठा। उसके अनैतिक आचरणों से उसके प्रति राज्य के उच्च पदाधिकारियों एवं अमीरों की सद्भावनाएँ न रह गईं और जब उसने जफरखाँ के पुत्र अबूबकर को यातना-गृह में डाल दिया तो इन्होंने उसको सिंहासनच्युत करने की गुप्त मन्त्रणा की। यह लोग उसके महल में घुस आये। सुलतान को पता

१. स्टानले लेनपूल महोदय ने हिन्दुओं के साथ मुसलमानों के विवाह-सबंध को साम्राज्य के विघटन का एक कारण बताया है। यह मानना ठीक नहीं है। स्वयं फीरोज की माता हिन्दू थी, परन्तु उसने हिन्दुओं के प्रति कुछ भी पक्षपात न दिखाया। इसके विरुद्ध वह कट्टर मुसलमान था और 'विधर्मियों' के वध को धार्मिक कार्य समझता था। इसके अतिरिक्त, उत्तरकालीन ऐतिहासिक घटनाओं से भी लेनपूल महोदय की यह धारणा गलत सिद्ध होती है। महान् मुगल सम्राट् अकबर ने साम्राज्य को सुदृढ़ करने के विचार से हिंदुओं के साथ विवाह-संबंध स्थापित करने की नीति अपनाई और यह नीति बहुत सफल रही। उसके बाद दो पीढ़ियों तक साम्राज्य की शक्ति अक्षुण्ण रही और वह तभी क्षीण हुई जब औरंगजेब ने अपने प्रपितामह द्वारा प्रवर्तित धार्मिक-सहिष्णुता की नीति का त्याग किया।

लग गया था कि उसका जीवन सकट में आ पड़ा है। अतः वह वजीर के साथ नदी की ओर भाग निकला। परन्तु यहाँ भी उसका पीछा किया गया और वह नदी पार करने ही वाला था कि एक षड्यन्त्री ने उसको पकड़ लिया और वहीं पर उसका सिर काट लिया। यह घटना १६ फरवरी १३८६ ई० को हुई। अब अबूबकर शासक बना। धीरे-धीरे उसने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया और दिन-प्रतिदिन उसका प्रभुत्व बढ़ने लगा। परन्तु समाना के अमीर मलिक सुलतान शाह खुशदिल की मृत्यु के समाचार ने, जिसको सुलतान फीरोजशाह के कनिष्ठ पुत्र राजकुमार मुहम्मद का दमन करने के लिए भेजा गया था, राज्य की शान्ति भंग कर दी। राजकुमार मुहम्मद ने इस सुयोग से लाभ उठाकर समाना की ओर प्रस्थान किया और वहाँ पहुँचकर स्वयं को सुलतान घोषित कर दिया। कुछ अमीरों एव सरदारों से सहायता का वचन पाकर उसने दिल्ली की ओर प्रयाण किया और दिल्ली के समीप डेरा डाल दिया। गृह-युद्ध अनिवार्य हो गया। अधिकार-लिप्सु सरदार तथा दास, रोम के उत्तरकालीन सम्राटों के 'प्रीटोरियन गार्डों' की भाँति कभी इस ओर कभी उस पक्ष मे आवागमन करने लगे।

मेवात के सरदार बहादुर नाहिर ने अबूबक्र का पक्ष लिया और इसकी सहायता से अबूबकर ने राजकुमार मुहम्मद को फीरोजाबाद के युद्ध में करारी हार दी। परास्त राजकुमार ने दोआब से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया और उसके चोट खाये हुए सैनिक दोआब में तथा दिल्ली के सरदारों एवं अमीरों की रियासतों में लूटमार मचाने लगे। आये दिन इन लोगों की जमीदारों तथा छोटे-छोटे रजवाड़ों से झड़पें होने लगी और इन संघर्षों के परिणामस्वरूप प्रजा को अमानुषिक अत्याचारों का शिकार बनना पड़ा। इन उपद्रवों की ओर अबूबकर की उदासीनता देखकर उसके अनेक सरदार उसको छोड़कर प्रतिपक्षी से जा मिले। अपनी सेना को सघटित कर मुहम्मद जलेसर लौट आया और युद्ध की तैयारियों में व्यस्त हो गया। पानीपत के समीप युद्ध हुआ, परन्तु इस बार भी भाग्य ने अबूबक्र का साथ दिया। मुहम्मद का पुत्र राजकुमार हुमायूँ बुरी तरह पराजित हुआ। इस पराजय से मुहम्मद निराश न हुआ, क्योंकि दिल्ली के अमीरों का एक दल अभी भी उसकी ओर था और जब अबूबक्र बहादुर नाहिर की सहायता प्राप्त करने के लिए दिल्ली छोड़कर मेवात की ओर चल दिया, तब इन अमीरों ने मुहम्मद को दिल्ली में आमन्त्रित किया। यहाँ उसके समर्थकों ने उसका भव्य स्वागत किया। दिल्ली मे सुरक्षापूर्वक प्रवेश पा जाने पर राजकुमार मुहम्मद ने राजप्रासाद को अपना निवासस्थान बनाया और अगस्त, १३६० ई० में

वह 'नासिरुद्दीन मुहम्मद' के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के विचार से, नये सुलतान ने फीरोजशाही दासों से, जो अबूबकर के पक्ष-समर्थक थे, गजशाला का अधिकार छीन लिया। दासों ने इसका निष्फल विरोध किया और एक रात वह अपने स्त्री-बच्चों को लेकर अबूबक्र के साथ मिलने के लिए भाग चले। सुलतान ने राजकुमार हुमायूँ तथा इस्लाम खाँ को अपने प्रतिद्वंद्वी तथा इन दासों के विरुद्ध भेजा। इस्लाम खाँ ने अपने साहसपूर्ण प्रयत्नों से अबूबक्र को अभिभूत कर दिया और अपने पक्ष की पराजय देखकर बहादुर नाहिर ने भी अधीनता स्वीकार कर ली। सुलतान ने बहादुर नाहिर को क्षमा प्रदान की और अबूबक्र को मेरठ के दुर्ग मे बंदी बनाकर रखा, जहाँ बाद में उसकी मृत्यु हो गई।

सुलतान दिल्ली लौट आया, परन्तु दोआब के जमीदारों के विद्रोह ने उसकी विजय के सुपरिणामों पर पानी फेर दिया। इटावा के जमीदार नरसिंह के विद्रोह का दमन कर दिया गया, परन्तु इस्लाम खाँ के विश्वास-घात ने सुलतान को बहुत परेशान किया। अपने ही एक सजातीय की गवाही पर इस्लाम को किसी भी प्रकार की जाँच के बिना प्राण-दंड दिया गया। परन्तु इन सब आपत्तियों से कहीं अधिक भयंकर मेवात के बहादुर नाहिर का विद्रोह था, जो दिल्ली के समीपवर्ती प्रदेशों पर हमले करने लगा था। अस्वास्थ्य के कारण दुर्बल होने पर भी सुलतान ने स्वयं उसके विरुद्ध प्रयाण किया और उसको अपने दुर्ग मे शरण लेने के लिए बाध्य कर दिया। सुलतान का स्वास्थ्य तीव्र गति से गिरने लगा और वह १५ जनवरी १३९४ ई० को इस संसार से कूच कर गया। उसके पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ गद्दी पर बैठा, परन्तु एक 'भयंकर उत्पात' ने उसके जीवन का उपसंहार कर दिया और वह कुछ ही दिनों बाद मर गया।

दिल्ली का रिक्त सिंहासन अब मुहम्मद के कनिष्ठ पुत्र राजकुमार महमूद के अधिकार में आया, जिसने 'नासिरुद्दीन महमूद तुगलक' के नाम से राजदण्ड धारण किया। इस नवीन शासक के सम्मुख विविध कठिन समस्याएँ उपस्थित थीं। राजधानी मे विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संघर्षो से शक्तिशाली शासन-तन्त्र की स्थापना असंभव सी हो गई थी तथा राजधानी से बाहर हिन्दू सरदार एव मुसलमान प्रान्तीय-शासक केन्द्रीय शासन की प्रकट रूप से अवहेलना करने लगे थे। कन्नौज से बिहार एवं बंगाल तक के समस्त प्रदेश में उपद्रव हो रहे थे और अनेक सरदार एवं जमीदार अपनी अपनी सीमा मे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शासक बन बैठे थे। ख्वाजा जहान ने जिसको मलिक-उस्-शर्क (पूर्वी प्रदेशों का स्वामी) बनाया गया था, जौनपुर में

स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी; उत्तर मे खोकर विद्रोह कर रहे थे, गुजरात ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी थी और मालवा एवं खानदेश ने भी इसका अनुसरण किया था। सरकार के लिए इन विघटनकारिणी शक्तियों का दमन असंभव हो गया; स्वयं राजधानी मे विरोधी दलों के संघर्षों ने स्थिति को और भी विषम बना दिया। कुछ सरदारों ने फीरोज तुगलक के एक पौत्र नुसरत खां को सिंहासन का अधिकारी ठहराया। फीरोजाबाद के अमीरों, सरदारों एव दासों ने नुसरत का और दिल्ली के अमीरों ने महमूद तुगलक का पक्ष लिया। इस प्रकार सिंहासन के दो अधिकारी एक दूसरे के विरोध में डटे हुए थे और राजमुकुट गेंद की भांति दोनों के बीच नाच रहा था। अनेक सरदार नेता बन बैठे, परन्तु बहादुर नाहिर, मल्लू इकबाल तथा मुकर्रब खां इनमें सर्वप्रमुख थे। निरन्तर युद्ध चलता रहा और प्रतिपक्षी दल प्रभुत्व के लिए घोर संघर्ष करते रहे, परन्तु कोई निश्चित परिणाम निकलता न दिखाई दिया। प्रान्तीय शासकों ने इन युद्धों मे भाग न लिया। वह इन प्रतिद्वंद्वी दलों की गतिविधि का सतर्क दृष्टि से निरीक्षण करते रहे।

इसी बीच सन् १३९७ ई० के अंतिम भाग मे समाचार मिला कि तैमूर की सेना ने सिन्ध नदी को पारकर उच्छ पर घेरा डाल दिया है। विदेशी सेना के आक्रमण के समाचार का तात्कालिक प्रभाव हुआ और विभिन्न दल आश्चर्यजनक शीघ्रता से अपनी अपनी स्थिति बदलने लगे। मल्लू खां नुसरत खां से जा मिला और दोनो ने पारस्परिक मैत्री निबाहने का वचन लिया, परन्तु यह सहयोग अधिक समय तक न चल पाया। सुलतान महमूद और उसके शक्तिशाली सहयोगी मुकर्रब खां तथा बहादुर नाहिर पुरानी दिल्ली में डट गये। मल्लू इकबाल ने विश्वासघात कर नुसरत पर आक्रमण कर दिया, परन्तु राजकुमार नुसरत उसकी विश्वासघातपूर्ण योजना का आभास पाते ही पानीपत मे तातार खां के पास भाग गया। अब मल्लू खां ने अपने घोर शत्रु मुकर्रब खां को राजधानी से निकाल बाहर करने की ठान ली। दोनों में घोर युद्ध छिड़ गया जो दो महीने तक चलता रहा। तब कुछ सरदारों ने बीच में पड़कर दोनो में संधि करा दी। परन्तु मल्लू अपने वचन को निभानेवाला व्यक्ति न था। उसने मुकर्रब पर उसके निवासस्थान में आक्रमण कर दिया और निर्दयतापूर्वक उसका वध करवा दिया। मुकर्रब की मृत्यु से सुलतान महमूद की दाईं भुजा कट गई और अब वह राजकीय अधिकारहीन होकर मल्लू इकबाल के हाथ का खिलौना बन गया।[१] उसने

२. यह ध्यान में रखना चाहिए कि मल्लू इकबाल का प्रभुत्व केवल दिल्ली तक ही सीमित था। साम्राज्य के सब प्रान्त स्वतन्त्र हो चुके थे और दोआब में अराजकता फैली हुई थी।

शासन-तन्त्र को पुन सघटित करने का प्रयास किया परन्तु विदेशी आक्रमण का विनाशकारी सकट उसके ऊपर मँडरा रहा था। शीघ्र ही एक भयंकर तूफान समस्त देश को जड से हिलानेवाला था, एक ऐसा तूफान जो सब दलों को उड़ा ले गया; समस्त वैभव को मिटा गया और जनता पर वर्णनातीत दीनता बरसा गया। यह अशुभ समाचार बिजली की तरह कौंध गया कि अमीर तैमूर असंख्य दल लेकर हिन्दुस्तान की ओर बढ़ता चला आ रहा है।

तैमूर का आक्रमण १३९८ ई०—तैमूर का जन्म सन् १३३६ ई० में ट्रास ऑक्सियाना (वक्षु-पार) के प्रदेश में समरकंद से ५० मील दक्षिण की ओर केश नामक स्थान में हुआ था। वह तुर्कों की एक उच्च जाति बरलास की गुरकन शाखा के सरदार अमीर तुरगे का पुत्र और हाजी बरलास का भतीजा था। ३३ वर्ष की अवस्था में वह चगताई तुर्कों का प्रधान बना और फारस तथा अन्य पड़ोसी देशो से निरन्तर युद्ध करता रहा। इस समय राज-वंश मे गृह-कलह के कारण फारस की दशा अत्यत दयनीय हो गई थी; इस दशा का वर्णन करते हुए शर्फुद्दीन लिखता है कि "इन उत्पातों का भार निर्धन लोगो को सहन करना पड़ता था और वह एक प्रकार से दुर्भाग्य एवं आपत्तियों के हाथ मे गेंद जैसे बन गये थे तथा अत्याचारों एव उत्पीड़नो के भार के नीचे कराह रहे थे।"[3] साम्राज्य-लिप्सु तैमूर ने फारस के शासक-वश को समाप्त कर दिया और फारस तथा उसके अधीन प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। परन्तु इतने से ही उसकी सर्वग्रासी अधिकार-लिप्सा शान्त न हो सकी। उसने अनवरत विजयों की परम्परा प्रारंभ कर दी और जहाँ कही भी उसके पैर पड़े वहाँ वह मृत्यु एव विनाश फैलाता चला। हिन्दुस्तान मे अराजकता का समाचार पाकर, उसने कुफ़्र (विधर्म) मिटाने के लिए भारत पर आक्रमण करने की ठान ली। 'मलफ़ूजात-ए-तैमूरी' तथा 'जफरनामा' मे स्पष्ट लिखा है कि तैमूर के आक्रमण का उद्देश्य विजय अथवा लूट न था अपितु विधर्मियों का विनाश था।[4] अपने आयोजित अभियान के संबंध मे परामर्श लेने के लिए तैमूर ने 'उलमा' एवं योद्धाओं की एक युद्ध-समिति आमन्त्रित की। शाहरुख ने भारत की विशालता तथा इसकी विजय से निश्चित रूप से प्राप्त होनेवाले अनेकानेक

३. पेती दे ला क्राइक्स, २, पृ० ४२१।

४. 'मलफ़ुजात-ए-तैमूरी'—इलियट ३, पृ० ३९७।
'जफर नामा', इलियट, ३, पृ० ४८०।
'मत्ला-उस्-सदाईन'—खुदाबख्श हस्तलिपि, पृ० २४०।
डेवी—'इन्स्टीटयूट्स आव तैमूर' पृ० १३३।

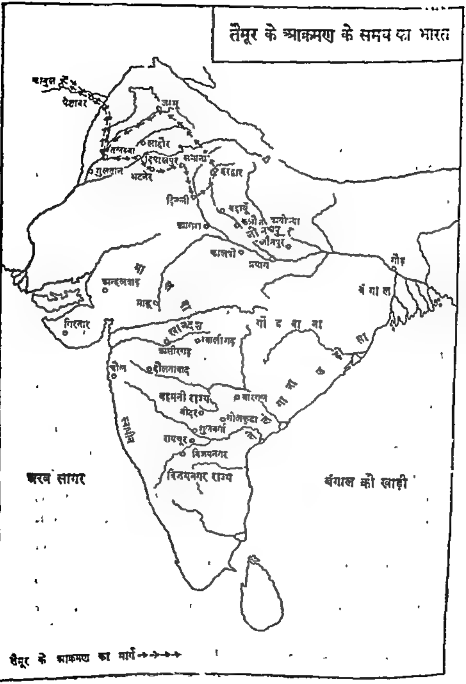
तैमूर के आक्रमण के समय का भारत
पेशावर
जम्मू
लाहौर
तुलम्बा
मुलतान
भटनेर
समाना
दिल्ली
आगरा
कालपी
प्रयाग
जौनपुर
गौड़
बंगाल
अहमदाबाद
माण्डू
गिरनार
खानदेश
असीरगढ़
गाविलगढ़
गोंडवाना
चौल
दौलताबाद
बहमनी राज्य
वारंगल
बीदर
गोलकुंडा
गुलबर्गा
रायचूर
विजयनगर
विजयनगर राज्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
तैमूर के आक्रमण का मार्ग

तानों का वर्णन किया। शाहजादा पीर मुहम्मद ने भारत के अपार वैभव, बहुमूल्य धातुओं तथा मणि-माणिक्यों के रूप में इस देश की अतुल संपत्ति की ओर संकेत किया और इस योजना के धार्मिक पक्ष पर बल दिया। परन्तु कुछ सरदारों ने यह चिंता प्रकट की कि यदि वह स्थायी रूप से भारत में बस गये तो उनका नैतिक पतन हो जायेगा और कुछ ही पीढ़ियों में उनकी जाति का पौरुष एवं शौर्य समाप्त हो जायगा। इन मन्त्रणाओं को सुनकर तैमूर ने उपस्थित सरदारों को संबोधित करते हुए कहा—"हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने में मेरा उद्देश्य विधर्मियों के विरुद्ध अभियान करना है, जिसमें मुहम्मद के आदेश के अनुसार हम इस देश के निवासियों को सच्चे दीन का अनुयायी बना सकें, और इस देश से कुफ्र एवं बहुदेववाद का कूड़ा-करकट साफ कर सकें, और जिसमें हम उनके मंदिरों एवं मूर्तियों को नष्ट कर दें तथा खुदा की नजरों में 'गाजी' एवं 'मुजाहिद' बन जायें।" धर्माचार्यों ने उनके विचारों का समर्थन किया और कहा कि दीन के शत्रुओं को समाप्त कर अपने धर्म को सुरक्षित करना तथा शरियत को (पवित्र कानून) अथवा कुरान शरीफ़ दृढ़ बनाना उनका कर्तव्य है।

तैमूर की सेना की अग्र पंक्ति पीर मुहम्मद के नायकत्व में शीघ्र ही भारत में पहुँच गई, इसने सिंध नदी को पार कर लिया, उच्छ को हस्तगत कर मुलतान पर धावा बोल दिया, जो ६ मास के घेरे के बाद जीत लिया गया। अपने विस्तृत राज्य के प्रत्येक भाग से सेना एकत्र कर तैमूर ने हिन्दुकुश पार किया और २४ सितंबर १३९८ ई० को उसने सिंध नदी पार कर ली। तैमूर ने सर्वप्रथम जिस भारतीय शासक को परास्त किया वह एक टापू का शासक शिहाबुद्दीन था, जिसने पीर मुहम्मद की अधीनता स्वीकार कर ली थी, परन्तु बाद में विद्रोही हो गया था। इस विजय के पश्चात् तैमूर ने चिनाब नदी पार की और वह तुलम्बा नगर में पहुँचा।[१] इस नगर के निवासियों से उसने उनकी सुरक्षा के मूल्य के रूप में दो लाख की माँग की; 'उलमा' एवं 'शेखों' को इस भार से मुक्त रखा गया। अपने क्षीण हुए भंडार को उसने लूटपाट द्वारा भर लिया और सैनिकों को आदेश दिया कि जहाँ भी अनाज दिखाई दे, उसको छीन लो। जब वह दीपालपुर के समीप पहुँचा, तो वहाँ के लोग जिन्होंने पीर मुहम्मद द्वारा नियुक्त मुसाफिर काबुली का वध कर दिया था, भयभीत होकर नगर

१. तुलम्बा नगर मुलतान से ७० मील की दूरी पर है। रेनेल के मानचित्र में यह स्थान रावी तथा चिनाब के संगम पर दिखाया गया है। हन्टर, इम्पी० गजेटि०, १३, पृ० १६३। इलियट ३, पृ० ४१३।

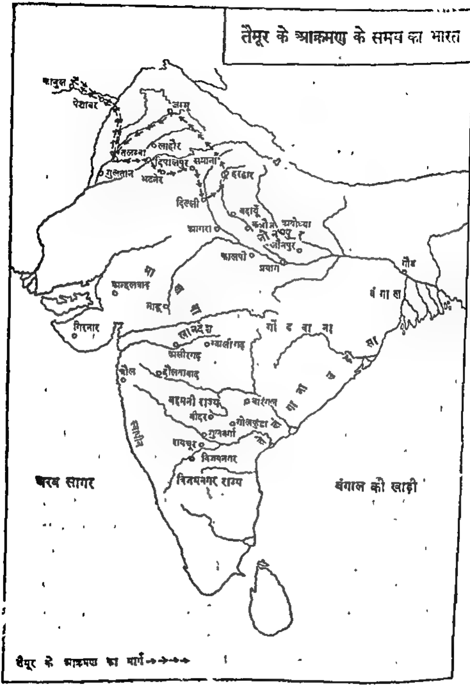
तैमूर के आक्रमण के समय का भारत
काबुल
पेशावर
जम्मू
लाहौर
दिपालपुर
समाना
मुलतान
भटनेर
दिल्ली
बदायूँ
अयोध्या
जौनपुर
आगरा
कालपी
प्रयाग
गौड़
बंगाल
गिरनार
खानदेश
असीरगढ़
गोंडवाना
चौल
दौलताबाद
बहमनी राज्य
वारंगल
बीदर
गोलकुंडा
गुलबर्गा
रायचूर
विजयनगर
विजयनगर राज्य
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
तैमूर के आक्रमण का मार्ग

लाभों का वर्णन किया। राजकुमार मुहम्मद ने भारत के अपार वैभव, बहुमूल्य धातुओं तथा मणि-माणिक्यों के रूप में इस देश की अतुल संपत्ति की ओर संकेत किया और इस योजना के धार्मिक पक्ष पर बल दिया। परन्तु कुछ सरदारों ने यह चिंता प्रकट की कि यदि वह स्थायी रूप से भारत में बस गये तो उनका नैतिक पतन हो जायेगा और कुछ ही पीढ़ियों में उनकी जाति का पौरुष एवं शौर्य समाप्त हो जायगा। इन मन्त्रणाओं को सुनकर तैमूर ने उपस्थित सरदारों को संबोधित करते हुए कहा—"हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने में मेरा उद्देश्य विधर्मियों के विरुद्ध अभियान करना है, जिससे मुहम्मद के आदेश के अनुसार हम इस देश के निवासियों को सच्चे दीन का अनुयायी बना सकें, और इस देश से कुफ़ एवं बहुदेववाद का कूड़ा-करकट साफ कर सकें, और जिससे हम उनके मंदिरों एवं मूर्तियों को नष्ट कर दें तथा खुदा की नजरों में 'गाजी' एवं 'मुजाहिद' बन जायें।" धर्माचार्यों ने उसके विचारों का समर्थन किया और कहा कि दीन के शत्रुओं को समाप्त कर अपने धर्म को सुरक्षित करना तथा शरियत को (पवित्र कानून) अथवा कुरान शरीफ दृढ़ बनाना उनका कर्तव्य है।

तैमूर की सेना की अग्र पंक्ति पीर मुहम्मद के नायकत्व में शीघ्र ही भारत में पहुँच गई, इसने सिंध नदी को पार कर लिया, उच्छ को हस्तगत कर मुलतान पर धावा बोल दिया, जो ६ मास के घेरे के बाद जीत लिया गया। अपने विस्तृत राज्य के प्रत्येक भाग से सेना एकत्र कर तैमूर ने हिन्दूकुश पार किया और २४ सितंबर १३६८ ई० को उसने सिंध नदी पार कर ली। तैमूर ने सर्वप्रथम जिस भारतीय शासक को परास्त किया वह एक टापू का शासक शिहाबुद्दीन था, जिसने पीर मुहम्मद की अधीनता स्वीकार कर ली थी, परन्तु बाद में विद्रोही हो गया था। इस विजय के पश्चात् तैमूर ने चिनाब नदी पार की और वह तुलम्बा नगर में पहुँचा।[5] इस नगर के निवासियों से उसने उनकी सुरक्षा के मूल्य के रूप में दो लाख की माँग की; 'उलमा' एवं 'शेखों' को इस भार से मुक्त रखा गया। अपने क्षीण हुए भंडार को उसने लूटपाट द्वारा भर लिया और सैनिकों को आदेश दिया कि जहाँ भी अनाज दिखाई दे, उसको छीन लो। जब वह दीपालपुर के समीप पहुँचा, तो वहाँ के लोग जिन्होंने पीर मुहम्मद द्वारा नियुक्त मुसाफिर काबुली का वध कर दिया था, भयभीत होकर नगर

५. तुलम्बा नगर मुलतान से ७० मील की दूरी पर है। रेनेल के मानचित्र में यह स्थान झेलम तथा चिनाब के संगम पर दिखाया गया है। हन्टर, इम्पी० गजेटि०, १३, पृ० १६३। इलियट ३, पृ० ४१३।

छोड़कर भाग उठे और इन्होंने भटनेर के दुर्ग मे शरण ली, जो हिन्दुस्तान के प्रसिद्धतम दुर्गों में था। तैमूर के सेनानियों ने दुर्ग के दक्षिण एवं वाम पार्श्व पर आक्रमण किया और स्वयं अमीर तैमूर दुर्ग के द्वार पर डट गया। वीर राजपूतों की सेना लेकर राय दूलीचन्द ने दुर्ग में आक्रांताओं का प्रवेश रोका, परन्तु तैमूर के सैनिकों ने, जो "चीटियों तथा टिड्डियों की तरह दुर्ग पर छा गये थे" उसको परास्त कर दिया। अपना विनाश निश्चित समझकर राय ने दया की याचना की। परन्तु अधीनता स्वीकार करने मे उसने विलंब किया। तैमूर की सेना ने पुनः आक्रमण किया और शत्रु पर चारो ओर से ऐसे भीषण प्रहार किये कि वह हताश हो गया और उसने आत्म-समर्पण कर दिया। राय का प्राण-हरण न किया गया और तैमूर ने उसके प्रति अपना कृपा-भाव प्रदर्शित करने के लिए उसको एक स्वर्ण-वस्त्र, एक जरीदार टोपी और पेटी तथा सोने के म्यान की तलवार प्रदान की। आस-पास के जमीदारों एवं सरदारो को अधीन किया गया और नगर मे जो भी नवागतुक पाये गये, विशेषतया वह लोग जो दीपालपुर से भाग आये थे, उनको बंदी बनाया गया और उनकी सपत्ति छीन ली गई। इन लोगों को दिये गये कठोर दंड से राय का भाई एवं पुत्र शंकित हो उठे और इन्होंने पुनः युद्ध छेड़ दिया तथा दुर्ग में जा डटे। तैमूर की क्रोधाग्नि भभक उठी और उसने तत्काल आक्रमण करने का आदेश दिया जिसके प्रबल आघात से संत्रस्त होकर दुर्ग मे घिरे लोगों को त्राण की याचना करनी पड़ी। नगरनिवासी हिंदुओ मे भारी रकमें वसूल की गईं, परन्तु घोर संग्राम के उपरान्त ही वह अधीन बनाये जा सके। "इस्लाम की तलवार काफिरों के रक्त से धोई गई, और वह समस्त सामग्री एवं संग्रह, कोष एवं अन्न, जो अनेक वर्षों से दुर्ग मे जुटाये गये थे, मेरे सैनिकों का लूट का माल बन गया। उन्होंने मकानों मे आग लगा दी और उनको भस्म कर दिया तथा भवनों एवं दुर्गों को उन्होंने भूमिसात् कर दिया।"[६]

भटनेर से तैमूर ने सिरसुती की ओर प्रयाण किया[७] और इसको सरलता से जीत लिया। समाना से ३४ मील के अंतर पर स्थित कैथल नामक स्थान पर पहुँचकर वह दिल्ली पर आक्रमण करने की तैयारियाँ करने लगा। जहाँ जहाँ तैमूर का दल पहुँच जाता था, वहाँ के भय-विह्वल निवासी अपनी

६. 'मलफूजात-ए-तैमूरी', इलियट ३, पृ० ४२७।

७. नदियों के सगम पर बसा हुआ सिरसुती नामक स्थान हिसार एवं भटनेर से समान दूरी पर है। रेनेल—'मेम्वायर ऑव ए मैप', पृ० ७६।

संपत्ति एवं गृह इन बर्बरो के लिए छोडकर भाग उठते थे। एक के बाद दूसरे नगर को रौंदता हुआ, तैमूर थोड़े ही समय मे जहाँनुमा पहुँच गया; यह दिल्ली से ६ मील की दूरी पर फीरोजशाह का बनाया हुआ भव्य प्रासाद था। आस-पास के देश को पदाक्रांत कर तैमूर ने सैनिको को आज्ञा दी कि वह लूट-पाट द्वारा अपने लिए भोजन तथा पशुओ के लिए चारा प्राप्त करे। दिल्ली के समीप पहुँचने पर तैमूर ने युद्ध-मन्त्रणा की। युद्ध-समिति ने इस बात पर जोर दिया कि प्रचुर मात्रा में आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त कर ली जायें और इनको लोनी दुर्ग[८] मे जमा किया जाये; इस दुर्ग को तैमूर के सैनिको ने जीत लिया था। तैमूर ने अपने सरदारो एव सेनानियो को, जिन्होने उसके नायकत्व में वीरतापूर्वक अनेक युद्ध लडे थ, अपने अपने नियत स्थान ग्रहण करने के लिए कहा और समझाया कि "न तो वह अत्यधिक अग्रगामी बनें न अत्यधिक पीछे ही रहे, अपितु अपने प्रयत्नो मे अत्यंत बुद्धिमानी एव सावधानी से काम लें।" इसी अवसर पर जहानशाह, सुलेमानशाह इत्यादि अमीरो ने तैमूर को परामर्श दिया कि वह १ लाख हिन्दू (गबर) जो विगत युद्धो मे बन्दी बनाये गये है तलवार के घाट उतार दिये जायें, क्योकि सभव है कि युद्ध के दिन यह "अपने बंधन तोड़ दें, हमारे शिविर लूट लें और शत्रु से मिल जायें।" तैमूर ने यह अमानुषिक परामर्श स्वीकार कर लिया और अपनी छावनी मे यह आज्ञा प्रचारित कर दी कि जिस किसी सैनिक के पास काफिर बन्दी हो, वह उनको मार डाले। इस आज्ञा का उल्लघन करनेवाले के लिए प्राण-दण्ड नियत किया गया और उसकी संपत्ति छीन लेने का निश्चय किया गया। दीन के वफादार सैनिको ने, जिनके मन मे काफिरों के लिए कुछ भी दया न थी, तलवारें खीच ली और दानवीय नृशसतापूर्वक बंदियो का वध कर दिया। 'मलफुजात-ए-तैमूरी' का लेखक लिखता है कि इस आज्ञा का इतनी कठोरता से पालन कराया गया कि मौलाना नासिरुद्दीन उमर जैसे धर्म-परायण एवं विद्वान् व्यक्ति तक को, जिसने कभी एक चिड़िया तक के प्राण न लिये थे, विवश होकर अपने १५ मूर्तिपूजक हिन्दू कैदियों का वध करना पड़ा।[९] यह नर-हत्या का नृशस

८. लोनी स्थान दिल्ली से २ मील उत्तर, उत्तर-पश्चिम की ओर है। टाड़फ—१, पृ० १३६।

९. 'मलफुजात', इलियट, ३, पृ० ४३६।

'मतला-उस-सदाईन' की खुदाबख्श हस्तलिपि में लिखा है, कि यह सब लोग 'जिहाद' की तलवार से मारे गये और मौलाना तक ने, जिसने अपने जीवन मे एक भेड़ तक न मारी थी, १५ हिन्दुओं का वध किया। इसी

कार्य पूरा हो जाने पर तैमूर ने अपने सेनानियों को उनके कर्तव्यों की सूचनायें देना तथा उनको उनके यथोचित स्थान पर नियुक्त करना प्रारंभ किया। हाथियों से अत्यधिक भयभीत होनेवाले विद्वानों को उसने उनकी इच्छा के अनुरूप युद्ध के समय स्त्रियों (हरम) के समीप रहने की स्वीकृति दे दी। बड़े आश्चर्य की बात है कि इन लोगों ने ऐसे स्थान पर रहने की इच्छा प्रगट की। इन लोगों के प्रति तैमूर का यह व्यवहार मध्यकालीन विद्वानों की, जो उस काल के महानतम योद्धा का अनुसरण कर रहे थे, अव्यावहारिक प्रवृत्तियो एवं पौरुषहीन आचरण की स्पष्ट टीका है।

तैमूर ने अपनी सेना को युद्ध के लिए सुसज्जित करना प्रारंभ कर दिया और पूर्व की परम्परागत युद्ध-प्रणाली के अनुसार उसको तीन भागों में रखा—दक्षिण पार्श्व को पीर मुहम्मद जहाँगीर, अमीर यादगार बरलास तथा अन्य सेनाध्यक्षों की अधीनता में रखा गया; वाम-पार्श्व में सुलतान हुसैन, राजकुमार खलील, अमीर जहानशाह जैसे योग्य सेनानी नियुक्त किये गये और केन्द्र को स्वयं तैमूर ने सँभाला। सुलतान महमूद और मल्लू इकबाल ने भी युद्ध की तैयारियाँ कर ली। उन्होंने १०,००० सुशिक्षित अश्वारोहियों, ४०,००० पदातियों तथा १२५ हाथियों की सेना संघटित की। दिल्ली के बाहर विपक्षी सेनाओं की मुठभेड़ हुई। दोनों पक्षों के तुमुल नाद से युद्ध प्रारंभ हुआ, और दिल्ली की सेना के सम्मान में यह बात कही जानी चाहिए कि घोर सकट के समय भी उसने कायरता का कोई भी चिह्न न दिखाया। तैमूर के सेनानियों संजर्क बहादुर, सैयद ख्वाजा तथा अल्लाहदाद ने पहले आक्रमण किया। यह सेनानायक हरावल से निकलकर दक्षिण पार्श्व की ओर मुड़े और छिपे-छिपे शत्रु के हरावल के पीछे पहुँचकर उस पर अप्रत्याशित रूप से टूट पड़े और "उनको इस प्रकार तितर-बितर कर दिया जैसे भूखे शेर भेड़ों के झुंड को छितरा देते है और उन्होंने इस एक ही हल्ले में ६०० शत्रु-पक्ष के सैनिक मार दिये। दक्षिण पार्श्व के सेनानी राजकुमार पीर मुहम्मद ने शत्रु के वाम-पक्ष पर प्रबल आघात कर उसको युद्ध-क्षेत्र से भगा दिया। सुलतान महमूद तथा मल्लू खाँ ने तैमूर की सेना के केन्द्र पर आक्रमण किया और 'मलफुजात-ए-तैमूरी' तथा 'जफरनामा' के लेखकों का कहना है कि दिल्ली की सेना बड़ी वीरता से

लेखक का कहना है कि तैमूर ने आदेश दिया कि जो व्यक्ति बंदियों को मारने की उसकी आज्ञा का पालन करने से इन्कार करे उसको मार दिया जाये और उसकी संपत्ति सूचना देनेवाले को दे दी जाये।

लड़े परन्तु "क्षुद्र कीट प्रचण्ड वायु का सामना नहीं कर सकते और न अशक्त मृग भयानक सिंह का" इसलिए उनको भागने के लिए विवश होना पड़ा। महमूद तथा मल्लू इकबाल युद्ध-क्षेत्र से भाग गये और रबी-उल-आखिर मास की ८ तारीख को तैमूर ने दिल्ली के दुर्ग पर अपना झंडा फहरा दिया। नगर के सैयद, काजी, उलमा तथा शेख विजेता की सेवा में उपस्थित हुए और उसके सामने प्रणत हुए। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर तैमूर ने दिल्ली-निवासियों पर रहम किया और विजयोत्सव मनाने लगा।

दिल्ली की लूट—तैमूर के सैनिकों द्वारा दिल्ली में नर-संहार एवं लूट इस अभागे नगर के रक्त-रंजित इतिहास में एक अत्यंत करुणापूर्ण घटना है। इस अविचारपूर्ण नर-संहार एवं लूट के कारण 'मलफुज़ात-ए-तैमूरी' तथा 'जफरनामा' में विस्तारपूर्वक बताये गये हैं।[10] शर्फुद्दीन लिखता है कि तैमूर के सहस्रों सैनिक अनाज एवं शक्कर जुटाने के लिए नगर में निकले, परन्तु इन्होंने अमीर के आदेश का पालन इतनी कठोरता से करना प्रारंभ किया कि दिल्ली, सीरी, जहाँपनाह तथा पुरानी दिल्ली के हिंदुओं तथा 'गब्रों' ने आत्म-रक्षा के लिए शस्त्र उठा लिये और तैमूर के सैनिकों पर टूट पड़े। सब तरफ से निराश होकर हिंदुओं ने अपने सामान में आग झोंक दी, अपने स्त्री-बच्चों को आग में फेंक दिया और निर्भय होकर आक्रमणकारियों से

१०. 'जफरनामा'—कलकत्ता संस्क० पृ० १२१-२३।

इलियट का अनुवाद 'जफरनामा' के कलकत्ता संस्क० के अनुकूल नहीं है।

विद्वान् अनुवादक ने तिथियाँ देने में गड़बड़ी की है।

मूल ग्रंथ में तिथियों का क्रम निम्न प्रकार है :—

१६ ता० बृहस्पतिवार को सैनिक नगर में एकत्र हुए और नगर-वासियों को सताने लगे। तैमूर ने अपने अमीरों को आज्ञा दी कि वह इनको ऐसे आचरण से विरत होने के लिए कहें। शुक्रवार की रात को नगर में १५,००० आदमी एकत्र थे जिन्होंने शाम से सबेरे तक नगर को लूटा। शनिवार १८ ता० को लूट चलती रही और प्रत्येक सैनिक ने ५० से १०० तक पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों को बंदी बनाया। रविवार १९ ता० को यह लोग पुरानी दिल्ली की ओर चले, क्योंकि अनेक हिन्दू वहाँ भाग गये थे। अमीर खाँ मलिक तथा अली सुलतान तवाची ५०० सुसज्जित सैनिकों को लेकर वहाँ पहुँच गये और इन्होंने उन हिन्दुओं को मार डाला। जफरनामा, कलकत्ता संस्क० २, पृ० १२१-२३।

फरिश्ता के कथनानुसार जब कुछ अमीरों और सौदागरों ने धन देने से इन्कार किया तो उसने न्यायाधीशों की स्वीकृति से शहर में वसूली के लिए सिपाही भेजे। यह आदेश बड़ा घातक सिद्ध हुआ।

निपटने के लिए झपट पड़े। नगरवासियों का विरोध देखकर लूटमार के लिए उत्सुक सैनिकों ने विभीषिका फैला दी और रबी-उस-सानी मास की १६ ता० से १८ ता० तक उन्होंने जी भर नगर को लूटा और नगरवासियों का संहार किया।"[11] दिल्ली, सीरी, जहाँपनाह तथा पुरानी दिल्ली—यह चारों नगर लूटे गये और नगरवासियों पर अमानुषिक अत्याचार किये गये। असहाय दिल्ली पर इससे पहले ऐसा संकट कभी न आया था। शर्फुद्दीन ने उस समय की स्थिति का सजीव वर्णन किया है :—

"लेकिन उस शुक्रवार की रात को नगर में लगभग १५,००० आदमी थे जो शाम से लेकर सवेरे तक लूट-पाट तथा मकान जलाने में लगे रहे। अनेक स्थानों पर विधर्मी 'गब्रों' ने मुकाबला किया। प्रातःकाल जो सैनिक बाहर थे वह स्वयं को न रोक सके और नगर में घुस गये तथा उत्पात मचाने लगे। उस रविवार के दिन, महीने की १७ ता० को, इस सारे नगर को नष्ट-भ्रष्ट किया गया और जहाँपनाह तथा सीरी (में अनेक प्रासाद नष्ट किये गये। १८ ता० को भी इस प्रकार लूट जारी रही। प्रत्येक सैनिक को बीस से अधिक आदमी दास के रूप में प्राप्त हुए और बहुत-से तो नगर से ५० या १०० तक पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों को दास बनाकर लाये। लूट की दूसरी वस्तुएँ अपार थी; सब प्रकार के रत्नाभरण, लाल, हीरे, सब प्रकार के पदार्थ एवं वस्त्र, सोने-चाँदी के पात्र, 'अलाई टको' के रूप में धन-राशियाँ तथा अन्य मुद्राएँ अगणित संख्या में प्राप्त हुईं। बंदी बनाई गई स्त्रियों में अधिकांश कमर में सोने या चाँदी की पेटियाँ तथा पैरों में बहुमूल्य छल्ले पहने हुए थी। औषधियों, सुगंधित पदार्थों तथा ऐसी ही वस्तुओं पर तो किसी ने ध्यान भी न दिया। महीने की १६ तारीख को पुरानी दिल्ली की ओर ध्यान दिया गया, क्योंकि अनेक विधर्मी हिन्दू वहाँ भाग गये थे और उन्होंने बड़ी मस्जिद में शरण ले ली थी, जहाँ उन्होंने आत्म-रक्षा की तैयारी की थी। अमीर शाह मलिक तथा अली सुलतान तवाची ५०० विश्वसनीय आदमियों को लेकर उनके विरुद्ध चल पड़े और अपनी तलवारें खींचकर उन पर टूट पड़े और उनको नरक में भेज दिया। हिन्दुओं के मुण्डों से ऊँचे-ऊँचे टीले बना दिये गये और उनके रुण्ड मांसाहारी पशु-पक्षियों का आहार बन गये। इसी दिन पुरानी दिल्ली लूटी गई। जो

११. मुलफुज़ात के अनुसार लूट पाट बृहस्पतिवार से शनिवार ता० १७ तक चलती रही। इलियट, ३ पृ० ४४६।

ज़फ़रनामा के अनुसार ता० १७ और १८ को सर्वत्र लूट हुई। ता० १६ को पुरानी दिल्ली लूटी गई।

नगर-निवासी जीवित बच रहे उनको बंदी बनाया गया। अनेक दिनों तक लगातार यह बंदी नगर से बाहर लाये जाते रहे और प्रत्येक 'तुमान' अथवा 'कुशुन' के अमीर ने इनके एक-एक दल को अपने अधिकार में लिया। नगर से कई हजार कारीगर एवं शिल्पी लाये गये और तैमूर की आज्ञा से कुछ को उन राजकुमारों, अमीरों तथा आगाओं मे बाँटा गया, जिन्होंने विजय में योग दिया था और कुछ को उनके लिए अलग रखा गया जो अन्य भागों में शाही अधिकार बनाये हुए थे। तैमूर ने अपनी राजधानी समरकन्द में एक 'मस्जिद-ए-जाम' बनाने की योजना बनाई थी और अब उसने आज्ञा दी कि सब प्रस्तरशिल्पी उस पवित्र कार्य के लिए रखे जायें।"[१२]

तैमूर का दिल्ली से प्रयाण—तैमूर दिल्ली मे १५ दिन तक रहा और यह समय उसने आनन्दोत्सवों में व्यतीत किया। परन्तु अब उसको ध्यान आया कि वह भारत में विधर्मियों को समाप्त करने के लिए आया था और उसको अपनी इस प्रतिज्ञा को यथाशक्ति पूर्ण करना है। अतः उसने दिल्ली से फीरोजाबाद की ओर प्रस्थान किया और वहाँ से वह १०,००० सैनिक लेकर मीरट (मेरठ) के दुर्ग की ओर बढ़ा, परन्तु इलियास अफगान, उसके पुत्र, मौलाना अहमद थानेसरी तथा सफी ने वीरतापूर्वक दुर्ग की रक्षा की। तैमूर के सैनिकों ने दुर्ग की दीवारों को जमीन मे मिला दिया, जनता का संहार किया और उनकी संपत्ति लूट ली। इतने से ही संतुष्ट न होकर, विजेता ने इस विजय के उपलक्ष मे सब मीनारों, दीवारों को भूमिसात करने तथा हिन्दुओं के मकानो में आग लगाने की आज्ञा दी। आस-पास के प्रदेश को रौंदते हुए तैमूर का दल हरद्वार की घाटी[१३] में पहुँचा और यहाँ हिन्दुओं तथा मुसलमानों में तुमुल-युद्ध हुआ। पीर मुहम्मद की सहायता से तैमूर ने स्वयं युद्ध का संचालन किया। इस्लाम की सेना विजयी हुई। इस सफल युद्ध के पश्चात् शिवालिक प्रदेश पर सफल आक्रमण किया गया, जहाँ राय बहरूज ने आक्रांता का प्रतिरोध करने के लिए एक विशाल सेना एकत्र कर ली थी। राय पराजित हुआ और विजेता के हाथ अपार संपत्ति लगी। बहरूज को परास्त कर तैमूर ने यमुना पार की और शिवालिक प्रदेश के एक अन्य प्रभावशाली हिन्दू सरदार रतन पर आक्रमण कर दिया। हिन्दू अगम्य वनों से ढके हुए ऊँचे-ऊँचे टीलों पर

१२. 'जफरनामा'—इलियट, ३, पृ० ५०३-४।

१३. हरिद्वार नगर गंगा के तट पर उत्तर प्रदेश में सहारनपुर जिले मे है।

डटे थे। "पहाड़ियाँ इतनी ऊँची थीं कि किसी की आँखें नीचे से शिखर तक न पहुँच सकती थीं और वृक्ष इतने सघन थे कि सूर्य एवं चन्द्र की किरणें भूमि तक न पहुँच पाती थीं।" परन्तु तैमूर कठिनाइयों से मुंह मोड़नेवाला व्यक्ति न था; उसने मशालों के प्रकाश में आगे बढ़ने की आज्ञा दी और उसकी सेना का आगमन सुनकर हिन्दू थोड़ा भी प्रतिरोध न कर भाग उठे। इनमें से अनेक मारे गये और इनकी संपत्ति लूट ली गई।

शिवालिक प्रदेश की विजय पूरी कर तैमूर जम्मू की ओर बढ़ा। यहाँ के राजा को दौलत तैमूर तवाची तथा हुसैन मलिक कूची ने हराकर कैद कर लिया। शर्फुद्दीन लिखता है कि "आशाएँ, भय तथा धमकियाँ देकर उसको इस्लाम का सौंदर्य देखने के लिए लाया गया। उसने कलमा पढ़ा तथा गो-मांस खाया जो उसके सहधर्मियों के लिए अस्पृश्य है। इससे उसको अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ और उसको अमीर की सुरक्षा में ले लिया गया।" जम्मू के राजा की पराजय के कुछ समय पूर्व काश्मीर के शासक सिकन्दर शाह से विजेता की अधीनता स्वीकार कर लेने का संदेश प्राप्त हो गया था।

शेखा खोखर ने अपना वचन पूरा न किया था; उसने तैमूर के उन पदाधिकारियों का कुछ भी सम्मान न किया था, जो लाहौर आये थे।[१४] अतः उसके देश को पादाक्रांत किया गया और उसको बंदी बनाया गया। लाहौर, मुल्तान तथा दीपालपुर की जागीरें खिज्र खाँ को सौंपकर तैमूर ने समरकन्द की ओर प्रस्थान कर दिया।

तैमूर के आक्रमण के पश्चात्—तैमूर के आक्रमण से हिन्दुस्तान में अराजकता फैल गई। दिल्ली का शासन-तन्त्र पंगु हो गया और राजधानी के आस-पास तथा साम्राज्य के प्रान्तों में घोर अव्यवस्था छा गई। दिल्ली की जनता को भीषण अत्याचार सहन करने पड़े थे; उनसे खूब धन लूटा गया था और उनकी संपत्ति छीनी गई थी। लूटपाट की विभीषिका का शब्दों

---

१४. 'जफरनामा' (कलकत्ता संस्क० पृ० १७०) में लिखा है कि तैमूर के भारतीय अभियान के प्रारंभ में शेखा खोखर ने तैमूर की सेवा ग्रहण की थी और शाही कृपा के कारण इसका सम्मान बहुत बढ़ गया था। इस पर तैमूर का इतना अधिक कृपा-भाव था कि जहां कहीं भी कोई अपने को खोखर सरदार के आदमी बतलाते, उनको तंग न किया जाता। परन्तु अपनी नासमझी से शेखा तैमूर का कोप-भाजन बन गया। उसका मुख्य अपराध यह था कि उसने इस विजेता के दो सम्मान्य पदाधिकारियों—मौलाना अब्दुल्ला सादुर तथा हिन्दू शाह खल्यानी के लाहौर आगमन के समय उनके प्रति विनम्रता प्रदर्शित न की थी। कलकत्ता संस्क० पृ० १७१।

द्वारा वर्णन करना असंभव है। हृदयहीन, रक्तपिपासु धर्मान्धों के अमानुषिक अत्याचारों के पश्चात् दुर्भिक्ष एवं महामारी ने अपना ताडव प्रारंभ किया; मनुष्यों एवं पशुओं का खूब सफाया हुआ। कृषि तथा व्यवसाय रुक गये। सामाजिक व्यवस्था के पूर्णत अस्तव्यस्त हो जाने तथा शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने मे समर्थ शासन-तन्त्र के अभाव से लाभ उठाकर साहसिक लोग अपनी अधिकार-लिप्सा को तृप्त करने के लिए, देश को रौंदने तथा जनता को सताने लगे। अपने स्वार्थो की पूर्ति मे व्यस्त छोटे-छोटे सैनिक-दल जनता के लिए अभिशाप बन गये। मार्च १३९९ ई० में नुसरत शाह ने, जो भागकर दोआब चला गया था, दिल्ली पर अधिकार कर लिया, परन्तु थोड़े ही दिनो बाद दिल्ली की आस-पास की कुछ जागीरों के स्वामी तथा दोआब के कुछ जिलों के अधिपति इकबाल खाँ ने दिल्ली का अधिकार अपने हाथ मे ले लिया।[१५] इकबाल ने धीरे-धीरे अपने अधिकार का विस्तार कर लिया और १४०१ ई० मे सुलतान महमूद भी उससे आ मिला; उसने सुलतान का राजधानी में भव्य स्वागत किया। परन्तु शासन का अधिकार पूर्णतः इकबाल के हाथ मे होने के कारण सुलतान महमूद उसके द्वारा अपने पर लगाये गये प्रतिबन्धो से तंग आ गया और उसने इब्राहीम शाह शर्की की सहायता प्राप्त करने का विफल प्रयत्न किया। इकबाल के विरुद्ध सघ बनाने के प्रयत्न में विफल-मनोरथ होकर सुलतान महमूद कन्नौज में रहने लगा। सेवा से अलग किये गये सैनिकों के तथा अनुचरों के दल उसके झंडे के नीचे एकत्र होने लगे। इकबाल ने ग्वालियर के शासक भीमदेव को दण्ड देने के लिए उस पर आक्रमण किया, परन्तु उसको दुर्ग का घेरा उठाकर दिल्ली लौट आने के लिए विवश होना पड़ा। इटावा के हिन्दू सर-

१५. साम्राज्य का शेष भाग स्वतंत्र जागीरों में विभक्त था। 'तारीख-ए-मुबारकशाही' इलियट, ४, पृ० ३७।

साम्राज्य में प्रमुख जागीरें निम्न थी :—

१. दिल्ली तथा दोआब—इकबाल खाँ।

२. गुजरात, समस्त जिलो तथा अधीन प्रदेशों सहित—जफर खाँ वजीहुल-मुल्क।

३. मुल्तान, दीपालपुर तथा सिंघ के कुछ भाग—खिज्र खाँ।

४. महोबा तथा कालपी—महमूद खाँ।

५. कन्नौज, अवध, कड़ा, दलमऊ, सडीला, बहराइच, बिहार तथा जौनपुर—ख्वाजा जहाँ।

६. धार—दिलावर खाँ।

७. समाना—गालिब खाँ।

८. बियाना—शम्सखाँ।

दारों पर उसका आक्रमण अधिक सफल रहा, परन्तु जब उसने मुल्तान पर आक्रमण किया तो वहाँ के शासक खिज्र खाँ ने उसका सामना किया और हिजरी सन् ८०८ में (१४०५ ई०) इकबाल युद्ध में मारा गया। इकबाल की मृत्यु से महमूद का एक प्रबल शत्रु समाप्त हो गया और दौलत खाँ आदि सरदारों द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर वह पुनः दिल्ली आया, परन्तु अपनी अस्थिर मनोवृत्ति के कारण वह सेना की नजरों से गिर गया और इस प्रकार अपने अधिकार की पुनः प्राप्ति से लाभ न उठा पाया। इस संकटमय काल की घटनाओं का ठीक-ठीक वर्णन करनेवाला 'तारीख-ए-मुबारकशाही' का रचयिता लिखता है कि "समस्त राज-काज अत्यधिक अव्यवस्था में पड़ गये थे। सुलतान स्वपदोचित कर्त्तव्यों की ओर कुछ भी ध्यान न देता था और उसको सिंहासन के स्थायित्व की कुछ भी चिंता न थी; उसका सारा समय सुख-भोगों एवं विलासिता में बीतता था।"[१६]

हिजरी सन् ८१५ (१४१२ ई०) में सुलतान महमूद की मृत्यु हो गई। फरिश्ता लिखता है कि उसके साथ ही दिल्ली-साम्राज्य उस तुर्क-वंश के अधिकार से निकल गया, जिसने दो शताब्दियों तक शक्तिशाली हाथों में राजदण्ड धारण किया था। महमूद की मृत्यु के पश्चात् अमीरों तथा मलिकों ने दौलत खाँ को अपना प्रधान मनोनीत किया और उसको अपना सहयोग दिया। दौलत खाँ ने शाही सम्मान ग्रहण न किया; वह केवल एक ऐसे सैनिक उच्च वर्ग का प्रधान मात्र बना रहा, जो कठिन परिस्थितियों से अपनी रक्षा करने का प्रयत्न कर रहा था। दो सेनानायकों—मुबारिज खाँ तथा मलिक इदरिस का सहयोग मिल जाने से उसकी शक्ति और भी दृढ़ हो गई। इस प्रकार—अर्ध-राजकीय पद ग्रहण करने के थोड़े समय बाद दौलत खाँ ने कटहर पर आक्रमण किया और वहाँ के हिन्दू सरदारों की अधीनता प्राप्त की। इसी समय यह उद्वेजक समाचार मिला कि इब्राहीम शर्की ने कद्रखाँ को कालपी के दुर्ग में घेर लिया है, परन्तु दौलत खाँ के पास इतनी सेना न थी जिसको लेकर वह कद्र खाँ की सहायता के लिए प्रयाण कर सकता। इसी बीच मुल्तान के शासक तथा हिन्दुस्तान में तैमूर के प्रतिनिधि खिज्रखाँ ने, जो बड़े ध्यान से साम्राज्य की अस्तव्यस्तता को देख रहा था, दिल्ली पर आक्रमण कर दिया और चार महीने के घेरे के बाद २३ मई १४१४ ई० को दौलत खाँ को आत्म-समर्पण करने के लिए विवश कर दिया। भाग्य खिज्रखाँ का साथ दे रहा था। उसने सरलता से दिल्ली पर अधिकार कर लिया और एक नये शासक-वंश की स्थापना की।

१६. 'तारीख-ए-मुबारकशाही' इलियट, ४, पृ० ४३-४४।

अध्याय १२

साम्राज्य का विघटन

(१) छोटे-छोटे राज्यों का उद्‌भव

मालवा—दसवीं शताब्दी मे मालवा परमार-वंश के आधिपत्य में आया और इस वंश के शासन-काल मे इसका अत्यधिक अभ्युदय हुआ था। धारानगरी के राजा भोज के शासन में, जिसको भारत का ऑगस्तस कहा जाता है, मालवा बहुत विख्यात हो गया था। १२३५ ई० में इल्तुतमिश ने उज्जैन पर आक्रमण किया था और महाकाल के प्रसिद्ध देवालय को ध्वस्त किया था। अलाउद्दीन ने १३१० ई० मे इसको जीता और तब से फीरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने तक इस पर दिल्ली-साम्राज्य के प्रतिनिधि शासन करते रहे। १४०१ ई० मे मुहम्मद गोरी के एक वंशज दिलावर खाँ ने, जो फीरोज तुगलक का एक जागीरदार था, तैमूर के आक्रमण के पश्चात् साम्राज्य में फैली हुई अव्यवस्था से लाभ उठाकर मालवा मे अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर दी और धार को अपनी राजधानी बनाया।[1] दिलावर के पश्चात् अल्प खाँ हुशंग शाह के नाम से (१४०५-१४३४ ई०) सिंहासनासीन हुआ। उसने धार छोड़कर मांडू को राजधानी बनाया और अनेक भव्य भवनों से इस नगरी का शृंगार किया। अपनी स्थिति तथा उर्वरता के कारण मालवा को दिल्ली, जौनपुर तथा गुजरात के पड़ोसी राज्यों के साथ युद्धों मे उलझना पड़ा जिसमें इसके राजकोष पर अत्यधिक भार पड़ता रहा। हुशंग शाह एक युद्ध में गुजरात से परास्त हुआ तथा बन्दी बनाया गया, परन्तु कुछ समय पश्चात् उसको मुक्त कर राज्याधिकार लौटा दिया गया। हुशंग शाह के पश्चात् उसका निकम्मा तथा विलासी पुत्र गजनी खाँ शासक हुआ। उसके मन्त्री महमूद खाँ ने[2] जो खिलजी तुर्क था, उसका वध कर सिंहासन

१. फरिश्ता ने मालवा के शासकों का सुसबद्ध वर्णन किया है। देखिए—ब्रिग्ज, ४, पृ० १६७-२७६।

२. महमूद खिलजी मलिक मुगीस खिलजी का पुत्र था। बाप-बेटे दोनों ही हुशंग के मंत्री थे। हुशंग के पुत्र गजनी खाँ का, जिसने मुहम्मद गोरी की उपाधि

का अपहरण कर लिया और शासक बन बैठा। महमूद खिलजी के शासन मे मालवा अत्यंत समृद्ध एवं शक्तिशाली राज्य बन गया और इस शासक ने राजपूताना, गुजरात तथा वहमनी-वंश के शासकों से निरन्तर युद्ध कर समस्त हिन्दुस्तान मे एक महान् सेनानी एवं योद्धा के रूप मे अपने यश का विस्तार किया। स्वीडन के बारहवें चार्ल्स के समान महमूद शौर्य का एक अद्‌भुत उदाहरण था और युद्ध से उसको इतना प्रेम था कि उसने अपना समस्त जीवन सैनिक शिविरो मे व्यतीत किया। वह न्यायपरायण एवं उदार शासक था और उसके विषय मे फरिश्ता ने लिखा है कि "सुलतान महमूद विनम्र, वीर, न्यायपरायण एवं विद्वान् था; और उसके शासन मे मुसलमान तथा हिन्दू समस्त प्रजा सुखी थी तथा (इन दोनों जातियों में) पारस्परिक मित्रता का संबंध था। मुश्किल से ही कोई ऐसा वर्ष बीतता था, जब वह युद्ध-क्षेत्र मे न उतरता हो, जिससे शिविर ही उसका घर बन गया और रण-भूमि उसकी विश्राम-स्थली। खाली समय वह संसार के विभिन्न राजाओं के इतिहासो तथा राजसभा के संस्मरणो को सुनने मे व्यतीत करता था।"[3]

महमूद खिलजी ने अधिकता से अपने राज्य का विस्तार किया। वह दक्षिण मे सतपुड़ा पर्वतश्रेणी तक, पश्चिम मे गुजरात की सीमा तक, पूरब मे बुन्देलखण्ड तथा उत्तर मे मेवाड एवं हरौती तक विस्तृत हो गया। सन् १४४० ई० मे इस महदाकांक्षी सुलतान ने दिल्ली की ओर प्रयाण किया, परन्तु बहलोल लोदी उसकी प्रगति रोकने मे सफल हुआ। इसी समय के लगभग चित्तौड के राणा कुम्भा के साथ उसका युद्ध हुआ जिसका परिणाम अनिश्चित रहा; दोनों पक्षो ने विजय का श्रेय अपना समझा। इस विजय के उपलक्ष मे राणा कुम्भा ने चित्तौड़ में विजय-स्तम्भ और खिलजी सेनानी ने माडू मे सतमंजिली मीनार बनवाये।[4]

धारण की थी, विवाह महमूद खिलजी की वहिन से हुआ था। शरावी एवं विलासी होने के कारण उसने राज-काज पूर्णतया महमूद पर छोड़ दिये थे, जिसने राज्य-लिप्सा से प्रेरित होकर अपने स्वामी को वदी बना लिया।

ब्रिग्ज, ४, पृ० १८६, १६१, १६३। इलियट ४, पृ० ५५२-५४।

३. परंतु अबुल फजल ने निम्न शब्दों में इस सुलतान के प्रति घृणा का भाव व्यक्त कर, अन्याय ही किया है। वह लिखता है—"ऐसे दुष्ट पर भाग्य ने अनुग्रह किया और उसने जो आतंक उत्पन्न किया उससे उसको शातिपूर्ण ढग से राजशक्ति पर अधिकार मिल गया।"

जारेट—'आईन-ए-अकबरी' २, पृ० २२०।

४. लेनपूल महोदय का यह कथन कि महमूद को राणा कुम्भा के हाथों करारी हार खानी पड़ी; सभवतः वह वर्णन राजपूत ख्यातो के आधार पर किया

महमूद के पश्चात् उसका पुत्र गयासुद्दीन १४६६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ, परन्तु उसको उसके पुत्र नासिरुद्दीन ने विष देकर मार दिया और तब १५०० ई० में यह पितृहन्ता सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ।[५] जान पड़ता है उस समय इस पितृघात ने मुसलमानों की भावनाओं को कुछ भी ठेस न पहुँचाई, परन्तु लगभग एक शताब्दी पश्चात् जहाँगीर ने इस पितृहन्ता की मिट्टी को आग मे फेंकवाकर इस नृशंस अपराध के प्रति घृणा व्यक्त की।

नासिरुद्दीन अत्यंत अधम भोगपरायण एवं अत्याचारी निकला। १६१७ ई० में जब जहाँगीर यहाँ आया तो उसको बताया गया कि नासिरुद्दीन के 'हरम' में १५,००० स्त्रियाँ थीं, जो सब प्रकार की कलाओं में प्रवीण थीं और जब कभी उसको किसी सुन्दरी कुमारी की सूचना मिलती तो वह उसको अपने 'हरम' में लाये बिना चैन न लेता था।[६] उसकी मृत्यु भी उसके अधम कृत्यों के अनुरूप ही हुई। एक बार जब मदिरोन्मत्त होकर वह कालियादह नामक झील में गिर पड़ा तो उसके किसी भी अनुचर का उसको बाहर निकालने का साहस न हुआ, क्योंकि एक बार ऐसी ही सेवा के लिए वह उनको कठोर दण्ड दे चुका था। इस प्रकार झील में डूबकर उसने जान गँवाई। उसके पश्चात् द्वितीय महमूद सिंहासन पर प्रतिष्ठित हुआ। उसने उद्दण्ड मुसलमान सामंतो का दमन करने के लिए राजपूतों को बुलाया। मेदिनीराय नामक एक राजपूत को उसने अपना मन्त्री बनाया। इस प्रकार उसकी राजसभा में राजपूतों का प्रभाव बढ़ गया। बाद में इस शक्तिशाली राजपूत मन्त्री के बढ़ते हुए प्रभाव से शंकित होकर

गया है। मीडियवल इण्डिया, पृ० १७४, क्रुक सम्पा० टॉड्स एनेल्स एण्ड एण्टिक्विटीज, १, पृ० ३३४-३५।

फरग्युसन—'हिस्ट्री ऑव इण्डियन आर्किटेक्चर', २, पृ० ५६।

टॉड के अनुसार राणा ने सुलतान को बुरी तरह परास्त किया और ६ महीने तक चित्तौड़ में बंदी बनाकर रखा। श्री हरबिलास शारदा ने टॉड के आधार पर ही इस घटना का वर्णन किया है।

ह० बि० शारदा, 'महाराणा कुम्भा' पृ० २७-२८।

'आर्कालॉजीकल सर्वे रिपोर्ट,' २३, पृ० ११२।

५. इस हत्या की कथा के लिए देखिए, रॉजर्स तथा बेवरिज द्वारा अनुवादित 'मेम्वायर्स ऑव जहाँगीर', १,पृ० ३६५-६७।

६. रॉजर्स तथा बेवरिज सम्पादित 'मेम्वायर्स ऑव जहाँगीर' १,पृ० ३६६।

इकबालनामा जहाँगीरी'—मूल (बिब्लि० इण्डि०) पृ० ८८।

उसने उसको निकाल बाहर करने के लिए गुजरात के शासक मुजफ्फर शाह से सहायता माँगी।[७] अपनी तलवार की शक्ति के प्रति अत्यधिक विश्वस्त महमूद मेवाड़ के अप्रतिम पराक्रमी शासक राणा साँगा से भिड़ गया। राणा ने उसको बन्दी बना लिया परन्तु राजपूतों की स्वभावगत उदारता से प्रेरित होकर राणा ने कुछ समय पश्चात् उसको मुक्त कर दिया और उसका राज्याधिकार लौटा दिया। इस उदारतापूर्ण व्यवहार को भूलकर इस बुद्धिहीन सुलतान ने राणा साँगा के उत्तराधिकारी पर आक्रमण कर दिया, परन्तु इसके मित्र गुजरात के बहादुरशाह ने इसको पकड़कर समाप्त कर दिया।[८] शाही परिवार के समस्त पुरुष-सदस्यों को तलवार के घाट उतार दिया गया। इनमें से केवल एक व्यक्ति बच रहा, जो हुमायूँ के दरबार में रहने लगा। १५३१ ई० में मालवा, गुजरात-राज्य में मिला लिया गया और हुमायूँ द्वारा विजय किये जाने तक यह गुजरात-राज्य का एक भाग बना रहा। हुमायूँ ने १५३५ ई० में मालवा से बहादुरशाह को निकाल बाहर किया और उसको मन्दसौर तथा मांडू में परास्त किया। जब दिल्ली-साम्राज्य का प्रभुत्व शेरशाह के हाथ में आया तो उसने मालवा का शासन अपने एक सहयोगी सेनानी शुजाअत खाँ को सौंपा और इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका पुत्र मलिक बायजीद जो बाजबहादुर के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसका सारंगपुर की रूपवती एवं गुणसंपन्ना राजकुमारी रूपमती के प्रति उत्कट प्रेम लोकगीतों एवं कथाओं में अत्यधिक विख्यात है, इस प्रान्त का शासक बना। सन् १५६२ ई० में अकबर के सेनानियों आदम खाँ तथा पीर मुहम्मद ने घोर निर्दयतापूर्वक मालवा को जीत लिया और तब यह प्रान्त मुगल-साम्राज्य में मिला लिया गया। विफल संघर्ष के पश्चात्

७. अबुल फजल लिखता है कि—"अपने अनुचरों के प्रति दुर्व्यवहार करने के कारण, महमूद को बुरे दिन देखने पड़े, परंतु गुजरात के सुलतान द्वितीय मुजफ्फर शाह की सहायता से उसने पुनः राज्याधिकार प्राप्त कर लिया।"

जारेट—'आईन-ए-अकबरी', २, पृ० २२०-२१।

जारेट महोदय ने एक टिप्पणी में लिखा है (पृ० २२१) कि "यद्यपि मेदिनी राय की स्वामिभक्ति की परीक्षा अनेक घोर संकट के अवसरों पर हो चुकी थी, फिर भी उसके प्रति सुलतान निश्शंक न हो सका, और वह १५१७ ई० में गुजरात की राजसभा में भाग गया। दोष सुलतान का ही जान पड़ता है जो अकारण मंत्री से भयभीत एवं शंकित हो उठा।"

८. अबुल फजल लिखता है कि उसको चम्पानेर के दुर्ग में भेज दिया गया, परंतु मार्ग में ही १५२६ ई० में वह मार डाला गया।

जारेट—'आईन-ए-अकबरी', २, पृ० २२१।

बाजबहादुर ने अकबर का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया और उसको राज-कृपा के रूप में २००० अश्वारोहियों का पद प्राप्त हुआ।

गुजरात—गुजरात-प्रांत अपनी उर्वरता, समृद्धि तथा अन्य प्राकृतिक साधनों से सम्पन्न होने के कारण सदैव विदेशी आक्रांताओं को आकृष्ट करता रहा है। इस प्रान्त के बन्दरगाह—सूरत, खम्भात तथा भड़ौच, अत्यत प्राचीन काल से समुद्र पार के देशों के साथ व्यापार के प्रधान केन्द्र रहे हैं और इन्हीं बन्दरगाहों से योरोप तथा एशिया के अनेक देशों के साथ व्यापार चलता रहा है। सिकंदर के समय के व्यापारियों को गुजरात के बन्दरगाहों का ज्ञान था। प्राचीन काल मे बेरीगाजा अथवा भरुकच्छ (वर्तमान भड़ौच) व्यापार का प्रमुख केन्द्र था और इसी बन्दरगाह से भारत का अरब तथा लाल समुद्र के देशों से व्यापार चलता था।[9] महमूद गजनवी पहला मुसलमान था जिसने सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर पर आक्रमण कर गुजरात पर भावी मुसलमान-आक्रमणों की भूमिका प्रस्तुत की। परन्तु गुजरात की स्थायी विजय का श्रेय अलाउद्दीन खिलजी से पूर्व अन्य किसी मुसलमान विजेता को प्राप्त न हुआ। अलाउद्दीन ने १२९७ ई० में इस प्रान्त को जीतकर दिल्ली-सल्तनत मे मिला लिया। इसके पश्चात् दिल्ली-सल्तनत के अधीन मुसलमान प्रान्ताध्यक्ष गुजरात पर शासन करते रहे। दिल्ली-साम्राज्य के प्रति इन प्रान्ताध्यक्षों की राजभक्ति सुलतान के शक्तिशाली अथवा शक्ति-हीन होने के अनुसार बढ़ती-घटती रहती थी। तैमूर के आक्रमण के पश्चात्, दिल्ली-साम्राज्य में अव्यवस्था फैल जाने पर, गुजरात का प्रान्ताध्यक्ष जफर खाँ १४०१ ई० में स्वतन्त्र शासक बन बैठा और उसने वैधानिक रूप से दिल्ली की अधीनता त्याग दी। उसके पुत्र तातार खाँ ने अपने पिता को समाप्त करने के लिए कुछ असंतुष्ट सरदारों को साथ लेकर षड्यन्त्र रचा, क्योंकि उसका पिता उसके शासक बनने में बाधक था। उसने अपने पिता को कारागार मे डाल दिया और १४०३ ई० में नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह की उपाधि धारण कर शासक-पद ग्रहण किया।[10] परन्तु उसका यह ठाठ-बाट

---

९. 'तजजियात-उल-अमसार'—इलियट ३, पृ० ३१।

तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण के लेखक वस्साफ ने इस देश की समृद्धि एव सम्पत्ति, स्वास्थ्यकर जलवायु तथा इसकी भूमि की आश्चर्यजनक उर्वरता का वर्णन किया है। गुजरात राज्य के पूर्ण विवरण के लिए देखिए—जरन० बॉम्बे० ब्रांच रायल एशि० सोसा० जि० २५।

१०. स्मिथ (ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री, पृ० २६८) का कहना है कि जफर खाँ ने अपने पुत्र तातार खाँ को गद्दी पर बैठा दिया था, परंतु 'मिरात-ए-अहमदी'

अधिक दिन न टिक सका। थोड़े ही समय बाद उसके पिता के विश्वास-पात्र शम्स खाँ ने उसको विष दे दिया। जफर खाँ को असावल से लाया गया और सरदारों तथा सेनानायकों की अनुमति से उसने मुजफ्फर शाह की उपाधि धारण कर राजकीय सम्मान ग्रहण किया। उसने धार को जीत लिया तथा अपनी शक्ति सुदृढ़ करने के लिए अन्य अनेक अभियान किये। परन्तु चार वर्ष बाद उसके राज्याधिकार-लिप्सु पौत्र अहमदशाह ने उसको विष देकर मार डाला।

अहमदशाह--१४११-१४४१ ई०--गुजरात की स्वतन्त्रता की वास्तविक नीव अहमदशाह ने डाली। वह वीर एव युद्धप्रिय था। अपने छोटे-से राज्य के विस्तार के लिए वह जीवन-पर्यंत युद्धरत रहा तथा नये-नये प्रदेशों को जीतता रहा। अपने शासन के प्रथम वर्ष मे उसने प्राचीन नगर आसावल के समीप साबरमती नदी के तट पर अहमदाबाद नगर की स्थापना की, सुन्दर-सुन्दर भवनों से इस नगर को सुशोभित किया और यहाँ बसने के लिए कारीगरो एव व्यापारियो को आमन्त्रित किया। अपने समसामयिक फीरोज बहमनी के समान वह भी 'दीन' के प्रसार में अति उत्साही था और हिन्दुओं पर उसने प्रबल आक्रमण किये, उनके मन्दिरो को ध्वस्त किया तथा उनके नेताओ को इस्लाम ग्रहण करने के लिए विवश किया। सन् १४१४ ई० में उसने गिरनार के हिन्दुओं पर आक्रमण किया, राय मण्डलीक को हराया और जूनागढ दुर्ग पर अधिकार कर लिया। एक वर्ष

के रचयिता का कथन है कि बहुत पूछताछ करने पर मुझको मालूम हुआ कि तातार खाँ ने गद्दी हथियाने के लिए अपने पिता के शत्रुओ से मिलकर षड्यन्त्र रचा।

वेली--'लोकल मुहम्मदन डाइनेस्टीज', पृ० ८१-८२।

बरजैज--'आॅर्क्यालॉजीकल सर्वे, वेस्टर्न इण्डिया', ६, पृ० १०।

एलफिस्टन ने गुजरात प्रात के विस्तार का वर्णन निम्न प्रकार से किया है--

"जब गुजरात दिल्ली से अलग हुआ, तो जफर खाँ जिस प्रदेश पर शासन करता था वह अल्प-विस्तृत था। इसके उत्तर-पश्चिम मे जालौर एव सिरोही के स्वतंत्र राजा थे। ईडर के राजा का पश्चिमी पहाड़ी भाग पर अधिकार था, तथा शेष पहाड़ी प्रदेश कोल एवं भीलो के अधिकार में था, जिनमे कुछ राजपूत राजाओं ने छोटे-छोटे राज्य बना लिये थे। काठियावाड़ प्रदेश कुछ हिन्दू जातियो के अधिकार में था, जिनमें से अधिकाश कुछ शताब्दियों पहिले भिन्न-भिन्न समय पर कच्छ एवं सिंध से आकर यहाँ बस गये थे। अतः इन राजाओं (गुजरात के राजाओं) का असली अधिकृत क्षेत्र पहाड़ों एवं समुद्र के बीच की भूमि थी और इसमें भी पूर्वी भाग पर एक राजा का अधिकार था जो चम्पानेर के दुर्ग मे रहता था।"

पश्चात् उसने सिद्धपुर के देवालय को ध्वस्त करने में अपनी शक्ति लगाई और १४१६ ई० में धार-राज्य के विरुद्ध प्रयाण किया परन्तु मार्ग में उसको हुशंग शाह के दूत मिले, जिन्होंने अपने स्वामी की ओर से क्षमा-याचना की। परन्तु क्षमा-याचना से ही अहमद संतुष्ट न हुआ क्योंकि उसका मन मालवा को विजय करने के लिए लालायित था। फलत: अपनी शक्ति को सुदृढ़ कर उसने १४२१ ई० में मालवा की ओर प्रयाण कर दिया तथा माण्डू को घेर लिया। ऐसे दुर्दान्त शत्रु के साथ व्यवहार करने में निपुण, हुशंगशाह ने अहमद शाह के पास पुनः दूत भेजे। इन दूतों ने उससे इस्लाम के प्रदेश को नष्ट-भ्रष्ट करने से विरत होने तथा अपने व्यवहार के लिए दुखी और अधीनता स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हुशंग को क्षमा करने की प्रार्थना की। दूतों के प्रयत्नों से हुशंग को क्षमा मिल गई परन्तु बाद में उसने विश्वासघात कर गुजरात की सेना पर आक्रमण कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप दो घोर संग्रामों में उसको करारी हार खानी पड़ी।

अगले तीन वर्ष अहमद शाह ने सार्वजनिक शासन को सुव्यवस्थित बनाने में बिताये, परन्तु युद्ध से उसको इतना चाव था कि शीघ्र ही उसने ईडर के राव पुंजा पर चढ़ाई कर दी क्योंकि राव ने हुशंग के साथ द्रोहपूर्ण पत्र-व्यवहार किया था। राव पुंजा भाग गया, परन्तु पकड़कर मार डाला गया और उसका राज्य उसके पुत्र को दे दिया गया, जिसने इस अनुग्रह के बदले में प्रचुर धन भेंट किया। अहमद शाह का अंतिम महत्त्वपूर्ण अभियान अपने स्वभावशत्रु हुशंग शाह के पौत्र मसूद खाँ की सहायता के लिए किया गया, जो अपने पिता के हत्यारे तथा अपने पूर्वजों के राज्य का अपहरण करनेवाले महमूद खिलजी के अत्याचारों से पीड़ित होकर भाग आया था। माण्डू पर घेरा डाला गया और एक भीषण युद्ध में महमूद खिलजी को परास्त किया गया। परन्तु अकस्मात् महामारी का भीषण प्रकोप हो जाने के कारण यह विजय अधूरी रह गई। प्रकृति की इस मार से विवश अहमदशाह को तुरन्त अहमदाबाद लौट आना पड़ा और १४४१ ई० में उसका देहान्त हो गया।

अहमद शाह वीर एवं रणनिपुण शासक था। अपने धर्म के प्रसार में वह उत्साहपूर्वक जुटा रहा। जीवन-पर्यंत वह इस्लाम के विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करता रहा और हिन्दुओं के विरुद्ध युद्ध करना धार्मिक कर्तव्य समझता रहा। न्यायपरायणता में वह अद्वितीय था। न्याय करते समय वंश, पद अथवा सजातीयता उसकी दृष्टि में महत्त्वहीन थे। एक बार

उसने अपने दामाद को एक निर्दोष व्यक्ति की हत्या के अपराध के बदले घोर कठोरतापूर्वक सार्वजनिक रूप से प्राण-दण्ड दिया था। 'मिरात-ए-सिकन्दरी' के लेखक ने ठीक ही लिखा है कि "इस उदाहरणीय दण्ड का प्रभाव सुलतान के शासन के प्रारंभ मे अंत तक बना रहा और फिर किसी सरदार अथवा सिपाही ने किसी हत्या से संबंध न रखा।"

अहमद शाह के बाद उसका पुत्र मुहम्मद शाह सिंहासनारूढ़ हुआ जो 'जरबख्श' अर्थात् 'स्वर्ण-दाता' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसने चम्पानेर पर आक्रमण किया, परन्तु चम्पानेर के राजा ने मालवा के शासक की सहायता प्राप्त कर ली और चम्पानेर तथा मालवा की सम्मिलित सेना ने मुहम्मद शाह को भगा दिया। मुहम्मद शाह के अमीरों ने उसके विरुद्ध कुचक्र रचा और १४५१ ई० मे उसको विष देकर मार दिया। उसके पश्चात् उसका पुत्र कुतुबुद्दीन गद्दी पर बैठा। उसने अपना अधिकाश समय चित्तौड के राणा के विरुद्ध युद्धों मे बिताया। साढ़े आठ वर्ष तक शासन करने के बाद उसका १४५६ ई० में देहान्त हो गया। तब उसका चचा दाऊद शासक बना। वह अत्यंत कुख्यात विलासी था और अपनी दुश्चरित्रता से उसने अमीरो तथा सरदारों को इतना रुष्ट कर दिया कि उसके सिंहासनासीन होने के एक सप्ताह पश्चात् ही उन्होने उसको गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर अहमद शाह के एक पौत्र फतहखाँ को हि० सन् ८६२ (१४५८ ई०) में सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। उसने 'महमूद' की उपाधि धारण की और साधारणतया वह महमूद बीगड़ के नाम से प्रसिद्ध है।

महमूद बीगड़—१४५८–१५११ ई०—महमूद बीगड़ को गुजरात का महानतम शासक कहा जा सकता है। मिरात-ए-सिकन्दरी के लेखक ने "उत्कृष्टता के इस नमूने" की प्रशस्ति ही लिख डाली है जिसमें इसकी उदारता, वीरता एवं न्याय-प्रियता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इसी लेखक ने निम्न शब्दो मे इस सुलतान का बहुत रोचक वर्णन किया है।[11]

"अत्यधिक गौरव एवं राजकीय वैभव सम्पन्न होते हुए भी उसकी भूख अति प्रबल थी। सुलतान के दैनिक भोजन की पूर्ण मात्रा गुजराती तोल से एक मन होती थी।[12] इसको खाते समय वह ५ सेर भात अलग रख

११. मिरात-ए-सिकन्दरी'—खुदाबख्श हस्तलिपि, पृ० २१७।
बेली—'लोकल मुहम्मदन डाइनेस्टीज', पृ० १६२।
१२. गुजराती मन कदाचित् ४० पौं० वजन का होता था।
एदलजी दोसाभाई—हिस्ट्री ऑव गुजरात' पृ० ६४।

स्मारक के रूप में चम्पानेर नगर के चारों ओर दीवार बनवाई और इस नगर का नाम बदलकर मुहम्मदाबाद रखा।

पुर्तगालियों से युद्ध—अपने शासन के अन्तिम समय के लगभग सन् १५०७ ई० मे सुलतान ने पुर्तगालियों पर चढ़ाई की। यह लोग पश्चिमी घाट पर बस गये थे और इनके कारण मुसलमानों का व्यापार समाप्त हो गया था। सुलतान महमूद ने तुर्की के सुलतान के साथ सहयोग दिया। स्थलीय व्यापार मे पुर्तगालियों के हस्तक्षेप को समाप्त करने के विचार से तुर्की के सुलतान ने मीर होजम की अध्यक्षता मे १५,००० सैनिकों सहित १२ जहाजों का बेड़ा भारत में पुर्तगालियों के अधिकृत प्रदेशों पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस सम्मिलित अभियान के आयोजन से पुर्तगाली प्रतिनिधि-शासक अलमेदा सतर्क हो गया और उसने अपने पुत्र दोम लोरेन्सो को आठ सेनाध्यक्षों सहित कन्नानोर तथा कोचीन के कारखानों की रक्षा के लिए भेजा। पुर्तगालियों को अत्यधिक असमान बल से टक्कर लेनी पड़ रही थी और दोम लोरेन्सो ने मन्त्रणा के लिए जो युद्ध-समिति आमंत्रित की उसने उसको युद्ध के संकट में पड़ने की व्यर्थता समझाई। परन्तु युवावस्था की उमंगों से भरे वीर लोरेन्सो ने उनके परामर्श को स्वीकार न किया और लड़ने का निश्चय कर लिया। मुसलमानों ने बंबई के दक्षिण मे चौल नामक स्थान पर आक्रमण कर युद्ध प्रारंभ किया। एक गोले ने दोम लोरेन्सो की जाँघ तोड दी, परन्तु वह अपने स्थान पर डटा रहा और अपने सैनिकों को उत्साहित करता रहा। परन्तु एक दूसरे गोले ने उसकी कमर तोड़ कर उसको जमीन पर गिरा दिया। अफ़ीक़ियों का आक्रमण सफल रहा। उन्होंने बहुमूल्य पदार्थों से भरे हुए एक पुर्तगाली जहाज को डुबा दिया और इस सफल उद्योग के लिए ड्यू के प्रतिनिधि शासक मलिक अज को उसके बादशाह ने बहुमूल्य पुरस्कार दिये।[13] परन्तु अलमैदा और अलबुकर्क के पराक्रम से पुर्तगालियों ने शीघ्र ही इस पराजय से होनेवाली क्षति की पूर्ति कर ली और दो वर्ष बाद १५०६ ई० मे उन्होंने काठियावाड़ में ड्यू के समीप मुसलमानों के बेड़े को बुरी तरह परास्त किया। मीर होजम लड़ाई में घायल हुआ और मुसलमानों के जहाजों को पुर्तगालियों ने लूटकर जला दिया। इस विजय से समुद्र तट पर पुर्तगालियों की शक्ति दृढ़ हो गई और सामुद्रिक व्यापार पर उनका निर्विरोध अधिकार हो गया।

सुलतान की मृत्यु—५२ वर्ष के असाधारणतया दीर्घ काल तक शासन

१३. गारसोन द कुन्हा 'हिस्ट्री ऑव चौल एण्ड बेसीन' पृ० २६।

करने के पश्चात् १५११ ई० में सुलतान महमूद का देहांत हुआ। वह एक महान् शासक था। उसकी आदतें योरोप तक में प्रसिद्धि पा गई थी।[१४] जब तक वह जीवित रहा, बहुत कुशलता एवं दृढ़तापूर्वक शासन करता रहा। मुसलमान इतिहासकार ने उसके शासन के विषय में लिखा है कि—

"उसने गुजरात के गौरव एवं वैभव की अभिवृद्धि की और अपने पूर्व-कालीन तथा उत्तर कालीन—सभी गुजरात के शासकों में वह सर्वोत्तम था; और अपरिमेय उदारता एवं न्याय-प्रियता में, धर्म-युद्धों की सफलता और इस्लाम एवं मुसलमानों के विधि-विधानों के प्रसार में, बचपन, युवावस्था एवं वृद्धावस्था—सभी अवस्थाओं में समानतया गंभीर विवेक में, शक्ति में, शौर्य में और विजय में—वह उत्कृष्टता का नमूना था।"[१५]

बहादुर शाह—१५२७-१५३७ ई०—महमूद बीगड़ के बाद उसका पुत्र खलील खाँ द्वितीय मुजफ्फर शाह के नाम से शासक बना। उसने राजपूतों को परास्त कर मालवा के महमूद खिलजी को पुन: उसके सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। उसके पश्चात् सिकंदर शाह गद्दी पर बैठा, परंतु साढ़े तीन महीने के शासन के पश्चात् उसका वध कर दिया गया। हत्यारों ने उसके भाई नसीर खाँ द्वितीय महमूद को सिंहासन पर बैठाया, परंतु उसको निर्भीक एवं अति महत्त्वाकांक्षी बहादुरशाह के लिए स्थान रिक्त करना पड़ा। बहादुर ने उसको राज्याधिकार विहीन कर दिया और उसके प्रमुख समर्थक इमाद-उलमुल्क को २० अगस्त, १५२६ ई० में प्राण-दण्ड दे दिया।

बहादुरशाह बहुत वीर एवं युद्ध-प्रिय शासक था। समरभूमि में उसके शौर्य एवं वीरोचित उदारता ने मध्यकालीन इतिहास में उसको अमर यश प्रदान किया है। १५२६ ई० में सिंहासन पर प्रतिष्ठित होने के थोड़े ही समय उपरांत उसने अनवरत विजयों की परम्परा प्रारम्भ कर दी। डयू पर अधिकार करने के हेतु पुर्तगालियों के प्रयत्नों को उसने विफल बना दिया। खानदेश तथा बरार के शासकों की, अहमदनगर के बुरहान निजामशाह से

युद्ध की क्षति के विषय में पुर्तगाली एवं मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन में मतभेद है परंतु दोनों पक्ष इस बात में सहमत हैं कि पुर्तगालियों को धक्का लगा।

१४. उसकी मूँछें इतनी लंबी थी कि वह उनको सिर के ऊपर बाँधता था और उसकी दाढ़ी कमर तक लटकती रहती थी।

१५. 'मिरात-ए-सिकन्दरी', बेलीकृत 'लोकल मुहम्मदन डाइनेस्टीज ऑव गुजरात' पृ० १६१।

रक्षा करने के लिये उसने दो बार दक्षिण में अभियान किये। बहादुरशाह की युयुत्सु प्रकृति ने उसको कभी चैन से न बैठने दिया। चित्तौड़ के राणा द्वारा मालवा के महमूद खिलजी के उत्पीड़न की शिकायत सुनकर, वह माण्डू पर चढ़ बैठा और अधिक युद्ध विना ही १५३१ ई० में उसने इस पर अधिकार कर लिया। माण्डू पर अधिकार कर लेने के बाद उसने झालावाड़ में वीरगम एवं माण्डल को तथा मालवा में रायसीन, भिलसा एवं चंदेरी को विजय किया। १५३४ ई० में उसने चित्तौड़ के दुर्ग को घेर लिया। परंतु इसी बीच एक राजनीतिक शरणार्थी को शरण देकर उसने हुमायूँ को रुष्ट कर दिया क्योंकि हुमायूँ इस व्यक्ति को पकड़ना चाहता था। हुमायूँ ने बहादुरशाह से इस शरणार्थी को उसके सिपुर्द कर देने की माँग की। परंतु बहादुरशाह के धृष्टतापूर्ण उत्तर ने हुमायूँ को इतना क्रुद्ध बना दिया कि जब वह चित्तौड़ के घेरे में व्यस्त था, हुमायूँ ने गुजरात पर आक्रमण कर दिया। बादशाह हुमायूँ ने अपनी विजय को जारी रखा तथा माण्डू और चम्पानेर पर अधिकार कर वह गुजरात का स्वामी बन बैठा। परंतु बहादुरशाह के सौभाग्य से इसी बीच बंगाल में शेरखाँ के विद्रोह का समाचार पाकर बादशाह हुमायूँ अपने भाई अस्करी को गुजरात में छोड़कर राजधानी की ओर चल दिया। बादशाह की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर बहादुरशाह ने ४० सहस्र अश्वारोहियों की सेना एकत्र कर शाही सेना को मुहम्मदाबाद के समीप हराकर गुजरात पर पुनः अधिकार कर लिया। परन्तु उसे पुर्तगालियों जैसे भयंकर शत्रु का सामना करना पड़ा। उसने इनसे हुमायूँ के विरुद्ध सहायता माँगी थी। जब उसने पुर्तगालियों को ड्यू से निकालने का प्रयत्न किया, जहाँ पहले वह इनको कारखाने बनाने की आज्ञा दे चुका था, तो उसको कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। बहादुरशाह का यह कार्य उचित था क्योंकि पुर्तगालियों ने ड्यू में अपना दुर्ग बना लिया था, बंदूकें एवं युद्ध-सामग्री एकत्र कर ली थी और इस प्रकार वह राज्य के अंतर्गत राज्य बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। बहादुरशाह ने दक्षिण के राजाओं को इस कार्य में सहायता देने के लिये पत्र लिखे, परंतु उसकी योजना से भयभीत होकर पुर्तगालियों ने उसके प्राण-हरण करने का कुचक्र रचकर इन पत्रों को विफल बना दिया।[१६] इस कुचक्र से अनभिज्ञ बहादुरशाह को पुर्तगाली गवर्नर नूनो द कुन्हा से भेंट करने के लिए तैयार किया गया, परंतु यह भेंट प्राण-घातक सिद्ध हुई। उसको फरवरी सन् १५३७ ई० में जब कि वह केवल ३१ वर्ष का था, जहाज में

१६. 'मिरात-ए-सिकन्दरी'—खुदाबख्श हस्तलिपि, पृ० ३०५।

निर्दयतापूर्वक मार डाला गया।[17] इसमें सदेह नहीं कि वध की पहले से योजना बनाई गई थी। बहादुरशाह की मृत्यु के बाद गुजरात में अराजकता एव अव्यवस्था फैल गई। प्रतिद्वंद्वी दल अपने अपने हाथ के खिलौने शासक को बनाने लगे और जल्दी जल्दी एक के बाद दूसरा शासक बनने लगा। यह अव्यवस्था अंततः तब समाप्त हुई जब १५७२ ई० में अकबर ने गुजरात को मुगल साम्राज्य में मिला लिया।

---

१७. इस दुर्घटना का मुसलमान तथा पुर्तगाली इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है और इस विषय में इन लेखकों ने बहुत कुछ जातीय पक्षपात दिखाया है, परंतु प्राप्त होनेवाले प्रमाणों के सूक्ष्म विवेचन से यह धारणा होती है कि पुर्तगालियों ने विश्वासघात किया।

'मिरात-ए-सिकन्दरी' के लेखक ने स्पष्टतया लिखा है कि पुर्तगाली गवर्नर ने पहले से ही विश्वासघात की तैय्यारी कर ली थी। यह इतिहासकार लिखता है कि अपने ६ अमीरों की (इन अमीरों का नाम भी इस लेखक ने दिया है) चेतावनी की उपेक्षा कर सुलतान पुर्तगाली जहाजी बेड़े को देखने गया और वहाँ एक पुर्तगाली हत्यारे ने उसको भाले से मार दिया।

'मिरात-ए-सिकन्दरी'—खुदाबख्श हस्तलिपि, पृ० ३०४।

बेली—'लोकल मुहम्मदन डाइनेस्टीज ऑव गुजरात' पृ० ३६६-६७।

हाजी-उद्-दबीर ने भी, जो एक विश्वसनीय एवं अधिकारी लेखक है, 'मिरात-ए-सिकन्दरी' के वर्णन की पुष्टि की है। वह लिखता है कि अपने दरबारियों के रोकने पर भी सुलतान पुर्तगाली गवर्नर से मिलने गया, जिसने बीमारी का बहाना बनाकर कह दिया कि मैं हिलडुल भी नहीं सकता। सुलतान उसके पास जाकर बैठ गया, परंतु कुछ अधिक समय तक उसके पास बैठने के बख्शी के आग्रह को न मानकर वह शीघ्र ही वहाँ से चल दिया। बख्शी का संकेत पाकर पुर्तगाली जहाजों ने सुलतान का बजरा घेर लिया और तब एक भयंकर अभिनय किया गया। सुलतान वीरतापूर्वक लडा, परंतु बख्शी के एक आदमी ने उसकी छाती में भाला घुसेड़ दिया। सुलतान समुद्र में गिर पड़ा और डूब गया।

'अरेबिक हिस्ट्री ऑव गुजरात' डेनिसन रॉस सम्पादित, १, पृ० २६२।

अधिक विवरण के लिए देखिए—

डेन्वर्स—'दि पोर्चुगीज इन इण्डिया', १, पृ० ४२६।

ह्वाइट वे—'दि राइज ऑव पोर्चुगीज पावर इन इण्डिया'। पृ० २४८-४६।

फरिश्ता—लखनऊ सस्क० पृ० २२४।

ब्रिग्स की विस्तृत टिप्पणी जिसमे उसने बहादुर की मृत्यु के विषय पर विस्तृत विवेचन किया है, जि० ४, पृ० १३२-४१, (लंदन १८२६)।

'तुहफातुल मुजाहिदी फि हज अहवाल अल-पुर्तगाली' (अरबी पाठ, लिस्बन सस्क० पृ० ५६) के लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि सुलतान पुर्तगालियों द्वारा मारा गया।

जौनपुर—सन् १३५९-६० ई० मे बंगाल के सिकन्दरशाह के विरुद्ध द्वितीय अभियान के समय फीरोज शाह को बरसात के दिनों मे विवश होकर जफराबाद[१८] में रुकना पड़ा था। इस अवसर पर उसके मन में इस स्थान के समीप एक नगर बसाने का विचार आया था, जो बंगाल में उसके सामरिक उद्योगों के लिए छावनी का काम दे सके। अतः उसने गोमती नदी के किनारे एक नगर बसाया। अपने स्मरणीय चचेरे भाई मुहम्मद जूना के नाम की स्मृति बनाये रखने के लिए उसने इस नगर का नाम जौनपुर रखा और इस नगर को सुन्दर-सुन्दर इमारतों से सजाने का भरसक प्रयत्न किया। सन् १३७६ ई० में जब साम्राज्य की सुरक्षा के विचार से प्रदेशों का पुन. वर्गीकरण हुआ, तब जौनपुर एवं जफराबाद मलिक बहरूज सुलतान के अधिकार मे आये, जिसने शीघ्र ही हिन्दुओं के विद्रोहों का दमन कर दिया। फीरोज की मृत्यु, के पश्चात् ख्वाजाजहां के सर्वोपरिता प्राप्त करने तक जौनपुर के इतिहास में कोई महत्वपूर्ण घटना न हुई। ख्वाजाजहां शिखण्डी था; उसका वास्तविक नाम सरवर था और केवल अपनी योग्यता के बल पर ही उसने उच्च पद प्राप्त कर लिया था। ख्वाजाजहां की उपाधि उसको १३८९ ई० मे प्रदान की गई थी और तब वह वजीर के पद पर प्रतिष्ठित हुआ था। थोड़े समय बाद जब "नीच काफिरों" की उद्दण्डता के कारण हिन्दुस्तान की जागीरों मे अव्यवस्था फैलने लगी, तब १३९४ ई० में महमूद तुगलक ने ख्वाजाजहां को "मलिक-उस्-शर्क" (पूर्वीय प्रदेशों का अधिपति) की पदवी प्रदान की और कन्नौज से विहार तक के प्रदेश का शासन उसको सौंपा गया। इस नये प्रतिनिधि शासक ने तत्काल दोआब के अंतर्वर्ती भाग की ओर प्रयाण किया और इटावा, कोल तथा कन्नौज मे विद्रोह का दमन करते हुए वह अपना पदभार

---

१८. जफराबाद प्राचीन नगर था। 'हजरत-ए-चिराग-ए-हिन्द' के महल के द्वार के अभिलेख से विदित होता है कि दिल्ली के सुलतान गयासुद्दीन तुगलक के समय में हिजरी सन् ७२१ में इस नगर के नाम से लोग परिचित थे। यह समझना भूल है कि फीरोज तुगलक के प्रतिनिधि-शासक जफर ने सन् १३६० ई० में यह नगर बसाया।

इस अभिलेख की अंतिम पंक्ति इस प्रकार है—"क्योंकि इस नगर को विजय द्वारा प्राप्त किया गया तथा यहाँ फिर से लोग बसाये गये, अतः इसको जफराबाद नाम दिया गया।"

फसीहुद्दीन—"दि शर्की मॉनुमेण्ट्स ऑव जौनपुर" पृ० १०५ (अभिलेख नं० १)।

"दि शर्की आर्किटेक्चर ऑव जौनपुर" पृ० ६४-६६ पर फ्युहरर की जफराबाद पर टिप्पणी भी देखिये।

ग्रहण करने के लिए जौनपुर की ओर बढा। भाग्य ख्वाजा का साथ दे रहा था और शीघ्र ही उसने कन्नौज, कडा, अवध, संडीला, दलमऊ, बहराइच, बिहार तथा तिरहुत की जागीरो पर अधिकार कर लिया और विद्रोही हिंदू सरदारो का दमन कर दिया। उसकी शक्ति इतनी बढ गई थी कि जाजनगर एवं लखनौती के शासकों ने भी उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया और अब वह उसके पास भेंट के रूप में उतने हाथी भेजने लगे, जितने वह पहले दिल्ली भेजते थे।[19] तैमूर के आक्रमण से उत्पन्न अराजकता एवं अव्यवस्था ने उसकी उच्चाकांक्षी योजनाओं को सफल कर दिया और उसने 'अतबाक-ए-आजम' की उपाधि धारण कर स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

इस प्रकार राजकीय उपाधि धारण करना केवल गर्वोक्ति मात्र न थी, क्योंकि ख्वाजा ने अपने समस्त अधिकार पूर्णतया सुरक्षित रूप में अपने दत्तकपुत्र करनफल तक पहुँचा दिये। उसका यह दत्तक-पुत्र सैय्यद खिज्र खाँ का एक भतीजा था और बाद में इसको शासक का गौरवशाली पद प्राप्त हुआ। तैमूर के आक्रमण के झंझावात के शान्त हो जाने पर मल्लू इकबाल खाँ ने एक विशाल सेना लेकर जौनपुर के शासक पर आक्रमण कर दिया, जिसने अपने नाम के सिक्के ढलवाये थे और खुतबे में अपना नाम मुबारक शाह शर्की रख लिया था। दो महीने तक उकता देनेवाली प्रतीक्षा के बाद, सामग्री समाप्त हो जाने के कारण दोनों दल लौट जाने के लिये बाध्य हो गये। थोड़े समय बाद १४०२ ई० में मुबारक का देहान्त हो गया। तब उसका छोटा भाई इब्राहीम 'शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह शर्की' के नाम से शासक बना। वह बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न शासक था। इस समय दिल्ली में महमूद तुगलक इकबाल खाँ के हाथ की कठपुतली बना हुआ था और इसके कठोर नियन्त्रण से मुक्ति पाना चाहता था। अत. जब इकबाल ने कन्नौज में पड़ाव डाला, महमूद आखेट के बहाने इब्राहीम के पास सहायता की याचना करने आ पहुँचा। परन्तु इब्राहीम कोयले की दलाली में हाथ काले कर लेनेवाला व्यक्ति न था। अतः उसने महमूद के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया। इस प्रकार निराश एवं अपमानित होकर महमूद दिल्ली की सेना में लौट आया और उसने शीघ्र कन्नौज पर अधिकार कर लिया। इकबाल खाँ ने इस स्थान को छीनने का प्रयत्न किया, परन्तु १४०५ ई० में महमूद ने उसका सफल प्रतिरोध किया।

---

१९. 'तारीख-ए-मुबारक शाही'—इलियट, ४, पृ० २९।

मुल्तान के प्रतिनिधि-शासक खिज्र खाँ के विरुद्ध एक युद्ध में इकबाल की आकस्मिक मृत्यु से महमूद का मार्ग निष्कंटक हो गया और दिल्ली के कुछ अमीरों ने उसको शासन सँभालने के लिये आमंत्रित किया। इब्राहीम ने इसको अपनी खोई हुई कन्नौज की जागीर को पुनः प्राप्त करने का अच्छा अवसर समझा परन्तु दिल्ली की सेना ने उसका प्रतिरोध किया और "दीर्घ काल तक ठहरने तथा छोटी-छोटी झड़पों" के बाद वह जौनपुर लौट आया। महमूद भी दिल्ली लौट गया। परन्तु उसके पीठ फेरते ही इब्राहीम ने अपनी सेना को संघटित कर चार महीने के घेरे के पश्चात् कन्नौज पर अधिकार कर लिया। इस सफलता से उत्साहित होकर वह १४०७ ई० में दिल्ली के सीमावर्ती प्रदेशों पर भी हमले करने लगा परन्तु मुजफ्फर शाह की प्रगति का समाचार पाकर, जिसने धार को जीत लिया था, उसको संभल एवं बुलन्दशहर के विजित प्रदेशों को छोड़कर जौनपुर लौट आना पड़ा।[20] थोड़े ही समय पश्चात् इब्राहीम ने कालपी के कद्र खाँ पर चढ़ाई कर दी परन्तु उसको यह घेरा छोड़ देना पड़ा। इसी बीच खिज्र खाँ द्वारा दौलत खाँ लोदी की पराजय तथा २३ मई सन् १४१४ ई० को खिज्र खाँ के सिंहासनारूढ़ हो. जाने के कारण दिल्ली की राजनीति में बहुत परिवर्तन आ गया था।

अब इब्राहीम को १५ वर्ष तक अविच्छिन्न शान्ति का उपभोग करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और यह शान्ति-काल उसने कला को प्रोत्साहित करने तथा शासन का सुधार करने में बिताया। उसकी दानशीलता से आकर्षित होकर समकालीन विख्यात विद्वान् उसकी राजसभा में एकत्र होने लगे, जिससे जौनपुर पूर्व में मुसलमान विद्या का प्रमुख केंद्र बन गया और यहाँ ऐसी-ऐसी परम्पराएँ चल पड़ीं जो आज भी स्मरण की जाती हैं। उस समय की अराजकता एवं तैमूर के हमले के कारण उत्पन्न हुई अव्यवस्था से पीड़ित साहित्यिक व्यक्ति उसकी राजसभा में शरण लेने लगे और यहाँ उनका हार्दिक स्वागत भी हुआ। इनमें सबसे प्रसिद्ध दिल्ली का एक शरणार्थी काजी शिहाबुद्दीन मलिक-उल-उलमा था जिसको अबुलफजल ने विद्वत्ता एवं बुद्धिमत्ता के कारण अति विख्यात व्यक्ति बताया है। पूर्व के इस मेदिकी (इब्राहीम) के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए उसने

---

२०. तारीख-ए-मुबारक शाही के लेखक का कथन है कि :—"कन्नौज में बरसात व्यतीत करके इब्राहीम ने हि० स० ८१० में जमाद-अल-अव्वल के महीने में दिल्ली के विरुद्ध अभियान किया। मार्ग में सम्भल के दुर्ग को जीत कर इब्राहीम दिल्ली की ओर चला। उसका कीचा घाट से जमुना पार करने का विचार था। इलियट, ४, पृ० ४१।

'शरह-ए-हिंदी' तथा 'इशराद-अल-नहवा' जैसी अपनी रचनाएँ इसको समर्पित की । दीर्घकालीन शान्ति के कारण इब्राहीम अनेक भव्य भवनों का निर्माण करा सका और १४०८ ई० में अटाला मस्जिद पूरी बन गई। यह प्रसिद्ध मस्जिद आज भी इब्राहीम की भव्य भवनों के निर्माण मे अभिरुचि का स्मारक बनी हुई है।[21]

परन्तु यह शान्ति चिरस्थायिनी न रह सकी । उस काल की विचित्र परिस्थितियों के कारण शीघ्र ही दिल्ली एव जौनपुर मे झगड़े होने लगे। इब्राहीम तथा उसका उत्तराधिकारी वर्षों तक दिल्ली के शासकों से लोहा लेते रहे । इन युद्धों का वर्णन यथास्थान किया जायेगा ।

बंगाल—फीरोज तुगलक की कायरतापूर्ण नीति के परिणामस्वरूप बंगाल प्रान्त दिल्ली-साम्राज्य से चिरकाल तक के लिए अलग हो गया।[22] फीरोज तथा बगाल के शम्सुद्दीन एवं उसके उत्तराधिकारी सिकन्दरशाह के युद्धों का विस्तृत वर्णन पिछले परिच्छेद मे किया जा चुका है। यद्यपि वगाल के शासक कभी-कभी दिल्ली के सुलतान के लिए भेंट भेज दिया करते थे, परन्तु वास्तव में वह पूर्णतः स्वतन्त्र थे। इल्यास शाह के वश का शासन हिजरी सन् ८१७ (१४१४ ई०) में समाप्त हो गया, जब कि गणेश नामक एक हिंदू जमींदार ने, जिसको मुसलमान-इतिहासकारों ने कंस लिखा है, राज्यापहरण कर लिया । 'रियाज' के वर्णन के अनुसार विठूरिया के जमींदार राजा कंस ने मुसलमान शासक शम्सुद्दीन पर आक्रमण किया, और उसका वध कर सिंहासन का अपहरण कर लिया। यह वर्णन सन् १५६८-६९ ई० में लिखे गये वैष्णव-सम्प्रदाय के एक ग्रंथ 'अद्वैत प्रकाश' से भी समर्थित होता है। राजा गणेश ने सिंहासन का अपहरण तो किया, परन्तु यह स्पष्ट विदित नही होता कि वह अपने ही नाम पर शासन करता रहा अथवा किसी कठपुतली जैसे शासक के नाम पर। बंगाल का स्वर्ण-काल

२१. फ्युरर—'दि आर्किटेक्चर आॅव जौनपुर', पृ० ३९।

२२. बगाल की स्वतंत्रता उस समय से चली आ रही थी जब से कद्र खाँ के कवच-वाहक फखरुद्दीन ने स्वय को सुनारगाँव का शासक घोषित किया था। फीरोज ने बंगाल को विजय कर लिया होता, परतु मुसलमान-रक्त बहने के भय से वह ऐसा न कर सका। चौदहवी शताब्दी में बगाल बहुत समृद्ध था। फखरुद्दीन के शासन-काल मे इब्नबतूता बगाल मे आया था; उसने यहाँ के सस्ते भावों का उल्लेख किया है।

इब्नबतूता—पेरिस संस्क०, ४, पृ० २१२-१३।

हुसेनी वंश के विवरण के लिये देखिये—जरन० एशि० सोसा० बंगाल. १९०९, पृ० २०४-५।

पन्द्रहवीं शताब्दी की समाप्ति के लगभग हुसेनी वंश की शक्ति स्थापित होने के साथ प्रारम्भ होता है। इस वंश का प्रथम शासक हुसेन शाह (१४९३-१५१९ ई०) अरब जाति का सैय्यद था। वह बहुत योग्य शासक था और उसको अपने सब सरदारों का विश्वास प्राप्त था। उसने हब्शी सेना को हटा दिया और पाइकों के दल को भी कम कर दिया। भूतकाल में इन पाइकों ने तुर्की जानिसारियों के समान शासकों को सिंहासन च्युत किया था और यह शासक के सरहंग (अंग रक्षक) बन बैठे थे। अपने शासन के प्रारम्भिक भाग में उसने जौनपुर के हुसेनशाह की बड़ी आव-भगत की थी, जो दिल्ली-सुलतान बहलोल लोदी से सन्त्रस्त होकर बंगाल भाग आया था। हुसेनशाह ने उसको पेंशन प्रदान की और उसके पदोचित सम्मान के अनुरूप उसकी रहने-सहने की व्यवस्था की। स्वयं उच्चकुलोत्पन्न होने के कारण उसने अभिजात-वंश के लोगों को राजकीय पदों पर नियुक्त किया। उसने अपने समस्त राज्य में अपनी शक्ति को दृढ़तापूर्वक स्थापित किया और उसके आधीन उड़ीसा तक के राजा उसकी आज्ञाओं का पूर्णतया पालन करने लगे। उसके शासन-काल में एक भी विद्रोह अथवा जन-विप्लव न हुआ। प्रजा के प्रति उसने दयापूर्ण व्यवहार रखा और सदैव उसके हित-साधन में तत्पर रहा। प्रत्येक जिले में उसने सार्वजनिक मस्जिदें एवं अस्पताल बनवाये और विद्वान् तथा धार्मिक व्यक्तियों को वृत्तियाँ प्रदान की। संत कुतुब-उल-आलम के मकबरे, विद्यापीठ एवं अस्पताल के प्रबंध के लिये उसने एक अनुदान की स्थापना की जो आज तक चला आ रहा है।

हुसैनशाह के अठारह पुत्र थे जिनमें से उसका योग्यतम पुत्र नुसरतशाह उसके बाद १५१८ ई० में सिंहासनारूढ हुआ। नुसरत शाह बहुत विख्यात शासक हुआ। उसकी शक्ति इतनी विशाल थी कि बाबर ने अपने संस्मरण में उसको दुर्दमनीय सैन्य-बलवाले पाँच मुसलमान-शासकों में से एक बताया है। इब्राहीम के शासन में दिल्ली की शक्तिहीनता से लाभ उठाकर उसने संधि भंग कर दी और उन कुछ जिलों को पुनः हस्तगत कर लिया जिनको दिल्ली-सुलतान ने छीन लिया था। उसने तिरहुत पर चढ़ाई की और मुंगेर तक बढ़ गया। मुंगेर को जीतकर उसने अपने योग्यतम सेनानायक कुतुब खाँ को सौंप दिया। जब बाबर ने भारत को विजय कर लिया तो उसने उपहारों द्वारा उसको शान्त किया और अपने दरबार में शरणागत अफगान राजकुमार महमूद को उसने सुरक्षा प्रदान की। नुसरतशाह कला एवं साहित्य का संरक्षक था परन्तु उसका स्वभाव कठोर एवं उत्पीड़क था। उसके अनवरत अत्याचारों से उसके सम्पर्क में आनेवाले लोग उससे रुष्ट हो जाते थे। उसके निजी सेवक भी उससे संतुष्ट न थे और जब वह उसके अत्याचारों को अधिक न

सह सके तो उन्होंने षड्यन्त्र रचकर उसको मार डाला। नुसरतशाह की भवन-निर्माण में अभिरुचि थी। १५२५ ई० में उसने 'बड़ा सोना मस्जिद' बनवाई। इस विशाल मस्जिद का सहन १५० फुट लम्बा था। १५३० ई० में उसने 'कदम रसूल' नामक मस्जिद बनवाई; इसका विस्तृत विवरण आगे दिया जायेगा।

नुसरत की मृत्यु के पश्चात् सन् १५३० ई० में उसका पुत्र अलाउद्दीन फीरोज शाह सिंहासनासीन हुआ, परन्तु उसको उसके चचा ने मार दिया जो सुलतान चतुर्थ गयासुद्दीन महमूद शाह (१५३३-३८) के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। पुर्तगाली लेखक कोरेआ ने उसको अति विलासी बताया है और लिखा है कि उसके हरम में दस सहस्र स्त्रियाँ थीं। इसी समय बिहार में शेर खाँ अति प्रबल हो रहा था। शेर खाँ ने महमूद पर चढ़ाई कर दी और उसको गौड़ में घेर लिया। महमूद ने हुमायूँ से सहायता की याचना की, परन्तु हुमायूँ ने उसको पुनः सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना असम्भव समझा। थोड़े ही समय बाद महमूद युद्ध-क्षेत्र में लगे आघातों से मर गया। तब शेर खाँ ने गौड़ में प्रवेश किया और वह बंगाल का स्वामी बन गया। 'हिस्ट्री ऑव बंगाल' के लेखक स्टुअर्ट महोदय के कथनानुसार, महमूद की मृत्यु के साथ बंगाल के स्वतंत्र शासकों की परम्परा समाप्त हो गई। इन्होंने २०४ वर्ष तक शासन किया।

उसके पश्चात् अन्य शासक हुए, जो स्वयं को गौड़ का शासक कहते थे, परन्तु इनका राज्य भी बहुत छोटा था और समसामयिक राजाओं ने इनके अधिकार को स्वीकार भी न किया। बंगाल में १५७० ई० तक अफगानों का आधिपत्य रहा जब कि अकबर ने दाऊद को हराकर समस्त बंगाल प्रान्त को मुगल-साम्राज्य में मिला लिया। हुसेनी-वंश के शासन में बंगाल समृद्ध था और जनता प्रसन्न एवं संतुष्ट थी। पुर्तगाली लेखक द बारोस ने हुसेनी-वंश के शासन-काल में बंगाल की समृद्धि एवं वैभव का निम्न शब्दों में वर्णन किया है—"इस राज्य का प्रधान नगर गौरो (गौड़) कहा जाता है। यह गंगा के किनारे बसा है और हमारे तीन लीग के बराबर लम्बा तथा २,००,००० जनसंख्यावाला बताया जाता है। एक तरफ नदी इसकी रक्षक है और स्थल भाग की ओर एक ऊँची दीवार खड़ी है। जन-समूह एवं सवारियों से सड़कें इतनी भरी रहती हैं कि उनका निकलना मुश्किल हो जाता है। नगर के अधिकांश मकान विशाल एवं सुनिर्मित भवन हैं।"

चौदहवीं शताब्दी में बंगाल में मुसलमान 'फकीरों' के आन्दोलन अधिकता से चले। इब्नबतूता ने चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में बंगाल

में यात्रा की थी। उसने लिखा है कि फखरुद्दीन के शासन-काल में बंगाल में फकीरों की १५० गद्दियाँ थीं। फखरुद्दीन उदार-चेत्ता शासक था और वह धार्मिक पुरुषों को आश्रय देता था। अतः उसकी दानशीलता से आकृष्ट होकर बहुत से धार्मिक जन बंगाल में आ गये थे। शाह सफीउद्दीन सतगाँव के समीप हुगली पंडुआ में रहते थे। शेख अरवी-सिराजुद्दीन शेख निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे, जिनका १३२५ ई० में देहान्त हुआ। 'रियाज' में रजा बियाबान नाम के एक संत का उल्लेख है, जिसका इल्यास इतना आदर करता था कि वह एक फकीर का वेश धारण कर इस संत के जनाजे के जलूस में शामिल हुआ था। पांडुआ में अनेक विख्यात संत निवास करते थे जो अपनी दिव्यदृष्टि के कारण 'हजरत' कहे जाते थे। यहाँ सबसे पहले शेख-जलालुद्दीन तबरीजी दिल्ली से आकर बसे, जिनके विषय में कहा जाता है कि वह मक्का से पैगम्बर साहब के चरण-चिन्ह लाये थे। इस संत के सम्मान में अलीशाह ने एक दरगाह बनवाया, जो २२,००० बीघे की धर्मादा भूमि होने के कारण 'बाईस हजारी' कहा जाता है। इसके पास सुलतान मुहम्मद तुगलक का एक अनुदान-पत्र है जिस पर ३ अगस्त, १३३७ ई० की तिथि पड़ी है।

अला-उल-हक तथा उसका पुत्र नूर कुतब-उल-आलम यहाँ के अन्य विख्यात संत थे। अला-उल-हक शेख निजामुद्दीन औलिया का शिष्य था। १६३५ ई० में लिखे गये 'मिरात-उल-असरार' से ज्ञात होता है कि पहले शेख का नाम शेख अहमद था और बाद में बदलकर मखदूम शेख नूर-उल-हक हो गया था। उसको बंगाल के शासक गयासुद्दीन तथा जौनपुर के इब्राहीम शाह शर्की का समसामयिक समझा जाता है। उसका यश दूर दूर तक फैल गया था और उच्च पदाधिकारी एवं सम्भ्रांत लोग उसकी आशीष लेने के लिये आते थे। उसकी मृत्यु १४१६ ई० में हुई, जैसा कि 'नूर बा नूर शुद' इस संख्या-सूचक लेख से विदित होता है। जैसा पहले कहा जा चुका है संतों के निवास के कारण पांडुआ बंगाल का प्रसिद्ध नगर बन गया। एक, लगभग समसामयिक, चीनी ग्रंथ में इस नगर का वर्णन इन शब्दों में दिया गया है—"जिरुती (सुनार गाँव से) आगे पन्दु-वा नाम का नगर है जहाँ इस देश का राजा रहता है। इस नगर के चारों ओर दीवार है और यह बहुत बड़ा है। राजा का महल बहुत विशाल है और इसको सहारा देनेवाले स्तंभ पीतल के बने हैं जिन पर पुष्पों तथा पशुओं के चित्र खुदे हैं। सिंहासन-कक्ष में हर प्रकार के बहुमूल्य रत्नों से जड़ा हुआ एक ऊँचा चबूतरा है, जिस पर राजा पलथी मारकर बैठता है और उसकी तलवारें उसके घुटनों के आर-पार पड़ी रहती हैं। राजा तथा उसके सब पदाधिकारी मुसलमान हैं।"

चौदहवीं तथा पंद्रहवीं शताब्दी में बंगाल में बहुत धार्मिक आन्दोलन हुए। इसी काल में हिंदू-धर्म तथा इस्लाम में आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ जिससे हिंदू तथा मुसलमान एक दूसरे के समीप आने लगे और हिंदू-धर्म को एक अभिनव रूप प्राप्त हुआ। जब मुसलमानों ने बंगाल को जीत लिया, तब बौद्ध-धर्म इस देश से लुप्त हो गया और मूर्ति-भंजक मुसलमानों ने धार्मिक जोश में आकर बौद्ध-भवनों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म की राख में से वैष्णव सम्प्रदाय की चिनगारी सुलग उठी। जिन लोगों को ब्राह्मणों ने अपने धर्म में ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया था, उनमें से अधिकांश वैष्णव-सम्प्रदाय में चले गये और डा० सेन ने ठीक ही लिखा है कि गृहस्थ-बौद्ध-समाज से वैष्णव सम्प्रदाय को बहुत बड़ी संख्या में अनुयायी प्राप्त हुए। अनेक विद्वान् एवं धर्मात्मा पुरुषों ने 'भक्ति' का प्रचार किया और महाप्रभु चैतन्यदेव के आविर्भाव होने पर तो वैष्णव-सम्प्रदाय आश्चर्यजनक रूप से फैलने लगा। चैतन्य ने वैष्णवों की फिर से व्यवस्था की और इस सम्प्रदाय में जाति एवं जन्म के भेद-भाव को दूर कर सब वर्ग के लोगों को दीक्षित किया। उन्होंने प्रेम पर जोर दिया और अपने अनुयायियों को उपदेश दिया कि "वृक्ष के समान बनो। वृक्ष उसको भी छाया देता है जो उसकी शाखाओं को काटता है। चाहे वह पानी के बिना सूख ही क्यों न रहा हो, वह किसी से पानी नहीं माँगता। वह वर्षा, तूफान तथा सूर्य की झुलसानेवाली किरणों को सहन करता है लेकिन दूसरों को सुगन्धित पुष्प तथा सुस्वादु फल देता है। वृक्ष के समान धैर्यपूर्वक दूसरों की सेवा करो और इसको अपना ध्येय बना लो।" सत्य-दृष्टा की यह भाव-प्रवण वाणी श्रोताओं के हृदयों को मंत्रमुग्ध करने लगी और महाप्रभु को कृष्ण का नामोच्चारण करते करते समाधिस्थ होते देखकर सहस्रशः नर-नारी भाव-विभोर होने लगे। चैतन्यदेव के गोलोकवास के उपरान्त रूप, सनातन तथा जीव गोस्वामी उनके कार्य को चलाते रहे। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में वैष्णव-सम्प्रदाय का प्रवाह निर्बाध गति से प्रवाहित होता रहा और बंगाल ने इस प्रेम की पुकार को अति उत्कण्ठा से हृदयस्थ कर लिया; इन अभिनव उपदेशों से जन-जीवन बहुत प्रभावित हुआ।

बंगाल में वैष्णवों के अनेक सम्प्रदाय हैं। इनमें से सहजिया सम्प्रदाय का बंगला भाषा में विस्तृत साहित्य है। यहाँ सहजिया सम्प्रदाय का संक्षेप में वर्णन करना अपेक्षित है। जब बुद्ध-धर्म का ह्रास होने लगा और बौद्ध-संघों में चारित्रिक हीनता आने लगी, तब नर-नारियों के सम्भोग को निर्वाण

का साधन माना जाने लगा। यही सहजिया मार्ग था। चौदहवीं शताब्दी मे चण्डीदास इस सम्प्रदाय का श्रेष्ठतम व्याख्याता हुआ। उसने स्त्री-पुरुष के प्रेम को धार्मिक स्तर पर उठा दिया। सहजिया सम्प्रदाय की धारणा थी कि जब तक किसी स्त्री या पुरुष के प्रति उत्कट प्रेम उत्पन्न न किया जाये, तब तक ईश्वर-प्रेम प्राप्त करना असंभव है। ऐसे उपदेशों से सम्प्रदाय के अनुयायियों के चरित्र पर घातक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था और इसी लिए इस सम्प्रदाय की विधियाँ अनैतिक आचरणो से दूषित हो गई है। चैतन्य देव इस प्रकार के प्रेम के विरोधी थे। उन्होंने अपने अनुयायियो के सम्मुख पवित्र आचरण का आदर्श रखा और शुद्ध जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। युवतियों तथा सुन्दरियो के सम्पर्क को उन्होंने हेय बतलाया। चरित्र-हीनता को वह समाज के लिए घातक समझते थे।

जैसा पीछे लिखा गया है, इस्लाम के सम्पर्क ने बंगाल में नये प्रभावों को जन्म दिया। बंगाल के हुसेनशाह ने 'सत्य पीर' नामक एक नये सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जिसका उद्देश्य हिंदू-मुसलमानों को एक सूत्र में बाँधना था। 'सत्य पीर' नाम ही संस्कृत (सत्य) तथा अरबी (पीर) को मिलाकर रखा गया। यह नाम इस सम्प्रदाय के आराध्य देव का था, जिसकी हिंदू तथा मुसलमान सभी अनुयायी उपासना करते थे। इस नये आराध्य देव के सम्मान मे बँगला-साहित्य मे अभी भी अनेक कविताएँ उपलब्ध होती हैं।

खानदेश—खानदेश प्रान्त ताप्ती नदी की घाटी में बसा हुआ था। इसके उत्तर में विंध्याचल तथा सतपुडा की पर्वत-श्रेणियाँ, दक्षिण में दक्खन का पठार, पूर्व में बरार तथा पश्चिम मे गुजरात का सूबा था यह प्रान्त मुहम्मद तुगलक के साम्राज्य के अंतर्गत था और फीरोज के शासन-काल में भी दिल्ली-साम्राज्य मे बना रहा। १३७० ई० में फीरोज ने इसका शासन अपने एक निजी सेवक मलिक राजा फरूँखी को सौंप दिया था। फीरोज की मृत्यु के पश्चात् जब दिल्ली-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा तो साहसिक एवं उच्चाभिलाषी मलिक राजा भी अपने पडोसी मालवा के दिलावर खाँ गोरी का अनुकरण कर स्वतन्त्र शासक बन बैठा। खानदेश उर्वर प्रांत तो था ही, दिल्ली से दूर भी था। अत. मलिक राजा को अपनी स्वतन्त्रता घोषित करने मे अधिक विरोध का सामना न करना पड़ा। राज्य-विस्तार की कामना से मलिक राजा गुजरात के मुजफ्फरशाह से भिड़ गया, परन्तु मुजफ्फरशाह ने उसको अनेक युद्धों मे परास्त कर दिया, अंततः दोनों राज्यों मे संधि हो गई और फिर जीवनपर्यंत मलिक राजा

ने कभी गुजरात से लड़ाई ठानने का प्रयत्न न किया। मलिक राजा शान्तिप्रिय शासक था। हिंदुओं के प्रति उसने सहिष्णुता का व्यवहार रखा तथा अपनी प्रजा के प्रति वह उदार एवं दयालु रहा और कृषि एवं व्यवसायों को प्रोत्साहन देकर वह प्रजा के हित के लिए प्रयत्नशील रहा। सन् १३६६ ई० में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मलिक नसीर शासक बना। उसने आसा नामक हिंदू सरदार से, जिसको फरिश्ता ने अहीर जाति का बताया है, असीरगढ का प्रसिद्ध दुर्ग छीन लिया। शौर्य के अभाव में मलिक नसीर ने इस दुर्ग को जीतने में छल का आश्रय लिया। उसने दुर्ग की सेना पर अकस्मात् आक्रमण कर दिया और निश्शंक आसा को सपरिवार मार दिया। इस दुर्ग की विजय से मुसलमानों की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा और कहा जाता है कि नसीर को इस विजय की बधाई देने के लिए प्रसिद्ध मुसलमान संत जैनुद्दीन दौलताबाद से आया था। इस शुभ अवसर की स्मृति में एक नया नगर बसाया गया जिसका नाम संत के नाम पर जैनाबाद रखा गया, मलिक नसीर ने अपने पिता से प्राप्त राज्य को पूर्णतः सुरक्षित रखा और १४३७ ई० में वह अपने उत्तराधिकारी के लिए सुसंघटित खानदेश छोड़कर मरा। मलिक नसीर के बाद के शासकों के शासनकाल मे यद्यपि यदा-कदा गुजरात के आधिपत्य को ठुकराने के छोटे-मोटे प्रयत्न होते रहे, परन्तु अन्य कोई उल्लेखनीय घटना न हुई। १५१० ई० में भूतपूर्व सुलतान का भाई दाऊद शासक बना। इसके अल्पवयस्क पुत्र गजनी खाँ के वध के साथ फरूखी वंश की प्रधान शाखा का शासन समाप्त हो गया और समस्त खानदेश में अव्यवस्था फैल गई तथा राज-सत्ता के लिए विभिन्न दलों में गृह-युद्ध होने लगा। गुजरात के शासक महमूद शाह बीगड़ ने नसीर के एक पौत्र को सिंहासन पर बैठा कर इस गृह-युद्ध को समाप्त किया। इसने आदिल खाँ द्वितीय फरूखी की उपाधि धारण की। १५२० ई० में आदिल का देहान्त हुआ। उसके पश्चात् अनेक शक्तिहीन शासक हुए, जो विदेशी आक्रांताओं के हमलों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध न कर सके। जब अकबर ने दक्षिण पर आक्रमण प्रारम्भ किया तो जनवरी सन् १६०१ ई० मे असीरगढ़ का दुर्ग साम्राज्य की सेना के अधिकार मे आ गया और खानदेश को मुगल-साम्राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार स्थानीय शासक-वंश समाप्त हुआ।

अध्याय १४

साम्राज्य का विघटन

(२) बहमनी राज्य

बहमनी-वंश का उदय—मुहम्मद तुगलक का विशाल एवं अनुशासन-हीन साम्राज्य उसके ही जीवन-काल में विशृंखलित होने लगा था। विदेशी अमीरों ने जिनको मुसलमान इतिहासकारों ने 'अमीरान-ए-सदा' की संज्ञा दी है, साम्राज्य के विरुद्ध सफल विद्रोह कर इस्माइल मख को अपना शासक मनोनीत कर दौलताबाद में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर दी थी। आराम-पसंद इस्माइल ने वीर एवं युद्ध-प्रिय हसन के पक्ष में शासक-पद त्याग दिया और १३ अगस्त, १३४७ ई० को[1] अमीरों ने हसन को शासक मनोनीत कर लिया। फरिश्ता ने बहमनी-वंश की उत्पत्ति के विषय में जो विचित्र कथा लिखी है, उसको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आधुनिक गवेषणाओं से यह सिद्ध हो चुका है कि हसन फारस के शासक बहमनशाह का वंशज था और इस वंश की ब्राह्मण-परिवार से जो उत्पत्ति बताई जाती है वह कल्पित कथा-मात्र है।[2] 'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने, जो दक्षिण के इतिहास के विषय में फरिश्ता से अधिक प्रामाणिक लेखक है, स्पष्ट लिखा है कि हसन स्वयं को बहमन-बिन-इस्फन्दियार का वंशज बताता था और इस लेखक ने दिल्ली

१. 'बुरहान-ए-मासिर' के अनुसार यह तिथि शाबान २८, ७४८ हि० सन् (दिसम्बर ३, १३४७ ई०) है। फरिश्ता के अनुसार यह शुक्रवार, २४ रबी-उस्-सानी ७४८ हि० सन् (१३ अगस्त, १३४७ ई०) है।

इण्ड० एण्टि०, २८, १८९९, पृ० १४३।

फरिश्ता—लखनऊ संस्करण पृ० २७७।

२ फरिश्ता लिखता है कि हसन दिल्ली के ज्योतिषी ब्राह्मण गंगू के यहाँ काम करता था, जिसे सुलतान मुहम्मद तुगलक का विश्वास प्राप्त था। एक दिन जब हसन ब्राह्मण के खेत में हल चला रहा था तो उसको एक दरार में सोने के सिक्कों से भरा एक ताँबे का घड़ा मिला। वह इस धन को अपने स्वामी के पास ले गया जो उसकी सच्चाई से बड़ा प्रसन्न हुआ और उसकी प्रशंसा सुलतान मुहम्मद तुगलक से की। सुलतान ने हसन को उपस्थिति की आज्ञा दी और उसे एक सौ अश्वारोहियों का नायकत्व प्रदान किया। ब्राह्मण ने यह इच्छा प्रकट की कि जब वह शाही सम्मान प्राप्त कर ले तो उसे अपना मंत्री बनाये। हसन ने यह स्वीकार किया और कहा जाता है कि

के उस ब्राह्मण ज्योतिषी का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, जिसको फरिश्ता ने हसन का संरक्षक बताया है। 'बुरहान-ए-मासिर' के इस उल्लेख का समर्थन 'तबकात-ए-अकबरी' के लेखक निजामुद्दीन अहमद, 'हफ्त इक्लीम' के लेखक अहमद अमीन राजी, तथा गुजरात के प्रसिद्ध अरबी इतिहास के रचयिता 'हाजी-उद्-दबीर' जैसे प्रामाणिक लेखकों ने किया है।[३] अभिलेखों तथा सिक्कों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है और इन प्रमाणों से इस वंश की उत्पत्ति के विषय में यत्किंचित् भी सन्देह नहीं रह जाता। अलाउद्दीन हसन बहमनशाह (हसन ने यह उपाधि धारण की थी) ने शासक पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् शीघ्र गुलबर्गा को राजधानी बनाया और वह शासन-प्रबन्ध में जुट गया। उसने अपने राज्य को 'तरफों' में विभाजित किया और यह 'तरफें' अपने उन अमीरों को सौंपी जिन्होंने युद्ध में उसकी सहायता की थी। इन अमीरों को उसने नई उपाधियाँ भी प्रदान कीं।[४] इनमें से प्रत्येक अमीर को

अपने संरक्षक की इच्छा के अनुकूल उसने उसे अपना प्रमुख मन्त्री नियुक्त किया।

. फरिश्ता—लखनऊ संस्करण पृ० में ७३-७४।

ब्रिग्ज, २ पृ० २८४-८५।

. स्कॉट का फरिश्ता के "दक्षिण का इतिहास" का अनुवाद १, पृ० ३-४।

३. गुजरात का अरबी इतिहास, सम्पादक सर डी० रौस, १ पृ० १५६।

तबकात-ए-अकबरी, लखनऊ संस्करण, पृ० ४०६।

जरन० ए० सो० बंगाल, १९०९ पृ० ४६३।

तजकिरात-उल-मुलूक में दिये गये हसन की उत्पत्ति के वर्णन का कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है उसको यहाँ दुहराना उचित नहीं।

इण्ड० एण्टि०, २८, १८९९ पृ० १५३-५४।

मैंने बहमनी-वंश की उत्पत्ति का अपनी 'करौना तुर्क' पुस्तक में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

४. हसन ने मुहम्मद तुगलक के दरबार में प्रचलित शासन-विधियों का अनुकरण किया। 'बुरहान-ए-मासिर' का लेखक हसन के द्वारा विभिन्न पदों की स्थापना का वर्णन करता है।

(१) साहिब-ए-अर्ज—सेना का निरीक्षक।
(२) नायब बारबक—उप-द्वार-रक्षक।
(३) कूरबेग-ए-मैसरा—वाम अंग का नायक।
(४) कूर बेग-ए-मैमना—दाहिने अंग का नायक।
(५) दबीर—सचिव।
(६) दीवान—मंत्री।
(७) शहना-ए-फील—गजाध्यक्ष।
(८) दवातदार—दवात रखनेवाला।

सामन्ती प्रथा के अनुरूप जागीरें दी गई और आवश्यकता के समय शासक को सैनिक सहायता के लिए एक निश्चित संख्या में अनुचर रखने का आदेश दिया गया। राज्य की व्यवस्था कर लेने पर हसन ने विजय-यात्रा प्रारम्भ कर दी। 'काफिरों' के देशों पर हमले किये जाने लगे और एक के बाद दूसरा प्रान्त जीता जाने लगा। शाही सेना द्वारा विजित कन्दहार दुर्ग को हसन की सेनाओं ने पुनः प्राप्त कर लिया और उसके सामंत सिकन्दर खाँ ने बीदर तथा मालखेड पर अधिकार कर लिया। यहाँ के हिन्दुओं ने विरोध किये बिना ही आत्म-समर्पण कर दिया। सन् १३५१ ई० में ठट्ठा के समीप मुहम्मद तुगलक की मृत्यु से अलाउद्दीन हसन की अनेक चिन्ताओं का अन्त हो गया और सुदूरवर्ती प्रान्तों पर पुनः अधिकार करने के प्रति उत्साह, तथा शक्तिहीन फीरोज के समय में तो हसन को अपनी मनमानी करने का पूर्ण अवकाश प्राप्त हो गया। हसन को नई-नई महत्वपूर्ण विजयों का श्रेय प्राप्त होने लगा। 'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने हसन की हिन्दुओं तथा मुसलमानों पर अनेक विजयों का उल्लेख किया है। इन विजित सरदारों को भेंट देने के लिए विवश किया गया। गोआ, दभोल, कोलापुर तथा तेलंगाना—ये सब जीते गये और बहमनशाह के शासन के अन्तिम भाग में उसका राज्य दौलताबाद के पूर्व से भोनगीर (जो आजकल निजाम के राज्य में है) तक तथा उत्तर में वैनगंगा से दक्षिण में कृष्णा नदी तक विस्तृत हो गया। अनवरत श्रम से सुलतान का स्वास्थ्य गिर गया था और १३५६ ई० में उसका देहान्त

(६) सैय्यद-उल-हुज्जाब—प्रासाद का अध्यक्ष।
(१० हाजिब-उल-कस्बा—नगर-रक्षक।
(११) शहना-ए-बारगाह—दरबार का निरीक्षक।
(१२) सालारख्वान अथवा चाश्नीगीर—भोजन चखनेवाला।
(१३) सर पर्दादार—शाही पर्दों का रक्षक।

५. 'बुरहान-ए-मासिर' में लिखा है कि शासक-पद पर प्रतिष्ठित होते ही हसन कांगू ने काफिरों के प्रदेशों को नष्ट-भ्रष्ट करने और लूटने की आज्ञा दी। इण्डि० एण्टि० २८, १८६६, पृ० १४४-४५।

हिन्दुओं के प्रति हसन की उग्रता को देखकर फरिश्ता का यह कथन समझ में नहीं आता कि हसन ने दिल्ली के हिन्दू ज्योतिषी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए बहमनी उपाधि धारण की। इस ब्राह्मण को उसने अपना मंत्री बनाया और हिन्दुओं के विरुद्ध उसके अभियान इसकी पूर्ण स्वीकृति से ही किये गये होंगे। यद्यपि बहमनी वंश की ब्राह्मण उत्पत्ति असंदिग्ध रूप से सिद्ध नहीं हुई है, परन्तु इन बातों को देखकर फरिश्ता का कथन संदेहपूर्ण अवश्य बन गया है।

हो गया। अपनी मृत्यु-शय्या पर उसने राजकुमार मुहम्मद को अपना उत्तराधिकारी चुना और अपने अन्य पुत्रों, संबंधियों, सार्वजनिक एवं सैनिक अधिकारियों को आदेश दिया कि वह मुहम्मद के प्रति स्वामि-भक्त प्रदर्शित करें। कट्टर मुसलमानों के स्वभावानुरूप मुसलमान-इतिहासकार ने हसन के शासन के विषय में यह मंतव्य प्रकट किया है—"सुल्तान अलाउद्दीन शाह प्रजा की भलाई और धर्म का पालन करनेवाला न्यायप्रिय शासक था। उसके शासन में उसकी प्रजा तथा सेना पूर्ण सुख एवं सन्तोष के साथ समय बिताती थी और सच्चे दीन के प्रचार के लिए उसने बहुत कुछ किया।"

प्रथम मुहम्मदशाह—मुहम्मद का राज्यारोहण-समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया गया और इस समारोह में इतना अधिक व्यय किया गया कि राज्य-कोष बहुत रिक्त हो गया। अपने पिता की विजय-परम्परा को अविच्छिन्न रखने की इच्छा से उसने विजयनगर तथा तेलगाना पर आक्रमण करने का निश्चय किया। उसने इन देशों की ओर ससैन्य प्रयाण किया। हिन्दुओं ने प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध किया परन्तु मुहम्मद की सेनाओं ने उनको हरा दिया। विजयी सेना ने विजित देश को जी भर लूटा और मन्दिरों को भूमिसात किया। लूटपाट में चावल तथा रत्नों के ढेर एवं अरबी घोड़े और हाथी मुहम्मद की सेना के हाथ लगे।[६] इसके बाद बीस वर्ष तक मुहम्मद ने शान्ति का उपभोग किया परन्तु स्वभाव की उग्रता के कारण वह फिर तेलंगाना तथा विजयनगर के हिन्दू राजाओं से भिड़ गया। एक तुच्छ अपराध के लिए, जो युवावस्था की विवेकहीनता की एक साधारण घटना-मात्र था, उसने तेलंगाना के युवराज का निर्ममतापूर्वक वध करवा दिया। इस नृशंस व्यवहार से युद्ध की आग भड़क उठी। तेलंगाना के राजा ने दिल्ली के बादशाह फीरोज से सहायता की याचना की, परन्तु सुधार के कामों में व्यस्त फीरोज को सुदूर प्रान्त में युद्ध के लिए प्रयाण करने का अवकाश ही कहाँ था।[७] अतः राजा की यह प्रार्थना व्यर्थ हुई। मुहम्मद ने भी राजधानी को अपने मंत्री सैफुद्दीन गोरी की देखरेख में छोड़कर तेलंगाना की ओर प्रयाण किया; परन्तु हिन्दुओं ने सहज ही अधीनता स्वीकार न की और मुहम्मद

६. फरिश्ता ने इस युद्ध का यह कारण बताया है कि इन राजाओं ने कर देना अस्वीकार कर दिया था और हसन द्वारा छीने गये प्रदेशों को वापस लेने का प्रयत्न किया था। 'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने केवल इतना ही लिखा है कि सुलतान को देशों और नगरों को जीतने की इच्छा हुई।

७. इण्डि० एण्टि० २८, १८९९, पृ० १८०।

को दो वर्ष तक युद्ध में उलझा रहना पड़ा। अन्ततः संधि कर ली गई; राजा ने गोलकुंडा का दुर्ग तथा युद्धक्षति की पूर्ति के लिए ३३ लाख मुद्राएँ देना स्वीकार कर लिया। गोलकुंडा को दोनों राज्यों की सीमा निश्चित किया गया और जब सुल्तान ने सन्धिकी शर्तें स्वीकार कर लीं, तब राजा ने उसको एक सुनहला सिंहासन भेंट किया जो समारोहपूर्वक गुलबर्गा में सभा-भवन में स्थापित किया गया।

थोड़े समय बाद विजयनगर राज्य के साथ फिर लड़ाई छिड़ गई और इसने उग्र रूप धारण कर लिया। इस युद्ध का तात्कालिक कारण यह था कि विजयनगर के राय ने गुलबर्गा के दूत का अपमान किया था, जिसको राय से कर के रूप में विशाल धनराशि की माँग करने के लिए भेजा गया था मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व ही राय ने ३०,००० अश्वारोहियों, १,००,००० पदाति तथा ३०० हाथियों की सेना लेकर सुलतान के राज्य पर आक्रमण कर दिया और कृष्णा तथा तुंगभद्रा के बीच का प्रदेश उजाड़ दिया।[८] उसने मुद्गल के दुर्ग पर अधिकार कर दुर्ग मे स्थित मुसलमान सेना को तलवार के घाट उतार दिया। इस भयंकर दुर्घटना का समाचार पाकर मुहम्मद क्रोध से आगबबूला हो उठा और उसने हिन्दुओं से प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की तथा कसम खाई कि वह तब तक युद्ध से विरत न होगा जब तक एक लाख हिन्दुओं के प्राण न ले लेगा। ऐसा भयंकर निश्चय उसके उग्र एवं उद्दण्ड स्वभाव के सर्वथा अनुरूप था। उसने स्वयं सैन्य-संचालन करते हुए विजयनगर राज्य पर आक्रमण कर दिया। १५ सहस्र अश्वारोहियों, ५० सहस्र पदातियों तथा बारूदखाने से युक्त मुसलमान सेना ने तुंगभद्रा नदी के समीप ब्राह्मणों द्वारा युद्ध के लिए उत्तेजित हिन्दुओं का सामना किया। हिन्दुओं के प्रबल आघातो से मुसलमान सेना के दक्षिण एवं वाम पार्श्व तितर-बितर हो गये, परन्तु सुलतान ने नये सैन्य-दल सहित स्वयं उपस्थित होकर स्थिति सँभाल ली। हिन्दू परास्त हुए और पुरुष अथवा स्त्री, आयु अथवा पद-गौरव पर कुछ भी ध्यान न देकर नृशंस नर-संहार किया गया। इसके पश्चात् सुलतान विजयनगर की ओर बढ़ा। नगर की किलेबंदी इतनी दृढ़ थी कि सुलतान के सारे प्रयत्न विफल हुए और जब उसका धैर्य साथ छोड़ने लगा, तो उसने एक चाल चली। हिन्दुओं को दुर्ग से बाहर निकालने के लिए उसने तुंगभद्रा के पार भागने का बहाना किया। यह चाल सफल हुई। शत्रु-दल को भागता जानकर हिन्दुओं ने उसका पीछा किया, परन्तु शीघ्र ही मुसलमान सेना ने मुड़कर हिन्दुओं का सामना करना प्रारम्भ कर दिया और युद्ध मे उनको पूर्णतया

---

८. यह प्रदेश रायचूर दोआब कहा जाता है।

अभिभूत कर दिया। राजा के शिविर पर आक्रमण किया गया; वह बचकर भाग निकला, परन्तु निष्ठुर मुसलमान सैनिकों ने उसके नायकों, सैनिकों तथा पास-पड़ोस के निवासियों का निर्ममतापूर्वक वध किया। विजयनगर के राजा के साथ सन्धि कर ली गई और जब सुलतान इस युद्ध से गुलबर्गा वापस आया, वह पश्चात्ताप से इतना पीड़ित हुआ कि उसने भविष्य में कभी भी निर्दोष प्राणियों का रक्त न बहाने की शपथ ली।

कुछ समय पश्चात् सुलतान को दौलताबाद के प्रतिनिधि-शासक ब६राम खाँ मजन्दरानी के विद्रोह की सूचना मिली। इसने बरार के सरदार कोम्मदेव की सहायता से मराठा-प्रदेश की भूमि-कर की आय हड़प कर ली थी। सुलतान ने उसके विरुद्ध प्रयाण किया। सुलतान के सैन्य-प्रदर्शन से भयभीत होकर बहराम खाँ ने आत्म-समर्पण कर दिया। शेख जैनुद्दीन के बीच-बचाव के फलस्वरूप उसके प्राण न लिये गये और उसको केवल निर्वासन का दण्ड दिया गया।

अपनी गृह-नीति में मुहम्मदशाह बड़ी निर्दयता से काम लेता था। उसने सब सार्वजनिक मदिरालयों को बन्द करवा दिया और नियमों के विरुद्ध चलनेवालों का कठोरतापूर्वक दमन किया। १७ वर्ष एवं ७ मास तक शासन कर १३७३ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

'दीन' का कट्टरतापूर्वक अनुसरण करने के लिए फरिश्ता ने मुहम्मदशाह की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, परन्तु 'बुरहान-ए-मासिर'[१०] के लेखक ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि "उसने अधार्मिक आचरण के लक्षण प्रकट किये, जिसके कारण वह असहाय अवस्था में आ पड़ा।" दानवीय अत्याचारों में आनन्द का अनुभव करनेवाला तथा गर्हित विलास-क्रीड़ाओं में मग्न रहनेवाला मुहम्मदशाह, वास्तव में उस प्रशंसा के योग्य नहीं है, जो फरिश्ता ने उस पर बरसाई है।

---

६. फरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० २६४।

शम्स-ए-सिराज अफीफ ने लिखा है कि जब फीरोज गुजरात में ठट्ठ के विरुद्ध प्रयाण करने की तैयारी कर रहा था, उसको हसन कांगू के दामाद बहराम खाँ का दौलताबाद से पत्र मिला, जिसमें उसने हसन कांगू के पुत्र के विरुद्ध सुलतान की सहायता की याचना की थी। अफीफ के दक्षिण के विवरण स्पष्ट नहीं हैं।

शम्स-ए-सिराज अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० २२४।

इलियट—३, पृ० ३२८।

१०. 'बुरहान-ए-मासिर'—इण्डि० एण्टि०, २८, १८९९, पृ० १८०।

मुजाहिदशाह तथा उसके शक्तिहीन उत्तराधिकारी—१३७३ ई० में मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र मुजाहिदशाह सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने फारसवासियों तथा तुर्कों के प्रति पक्षपात प्रकट किया और स्थानीय सरदारों के प्रति उपेक्षा की उसकी नीतिसे दक्षिणियों तथा विदेशियों में वह पुराना द्वेष एवं कलह पुनः जाग उठे, जिनके कारण मुहम्मद तुगलक का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ था। बहमनी शासकों एवं विजयनगर के राय के बीच में उत्पन्न शत्रु-भाव इस काल की सर्वप्रमुख समस्या थी। रायचूर दोआब का प्रदेश इन प्रतिद्वन्द्वी राज्यों में झगड़े की जड़ था और इस प्रदेश पर अधिकार करने के लिए अनेक युद्धों में सहस्रों निरीह प्राणियों का रक्त बहाया गया था। जब मुजाहिदशाह ने विजयनगर के राय को यह प्रदेश छोड़ देने के लिए कहा तो राय ने इसके उत्तर में रायचूर एवं मुद्गल के दुर्गों की माँग की।[11]

इस समय तक विजयनगर राज्य बहुत शक्ति-सम्पन्न हो चुका था; दक्षिण के अनेक सरदार इसका प्रभुत्व स्वीकार कर चुके थे और इसको मुसलमानों के अत्याचारों के विरुद्ध संघटित एक महान् शक्ति समझते थे। मुजाहिद ने विजयनगर पर आक्रमण किया, परन्तु वह नगर पर अधिकार न कर सका। नई सेना लेकर उसने दूसरी बार नगर को घेर लिया, परन्तु हिन्दुओं ने दृढ़ संघटन कर सुलतान को लौट जाने के लिए बाध्य कर दिया।[12] नगर की प्राचीर से बाहर के मैदान में भीषण संग्राम हुआ, जिसमें मुसलमानों को करारी हार खानी पड़ी। वयोवृद्ध सैफुद्दीन गोरी ने दोनों पक्षों में संधि करवा दी, परन्तु सुल्तान को उसके चचेरे भाई दाऊद ने मार दिया[13] और उसने (दाऊद ने) १३७७ ई० में सिंहासन का अपहरण कर लिया। परन्तु इस नृशंस अपराध के लिए दाऊद को भी दण्ड भोगना पड़ा। मुजाहिद की धर्म-बहिन रूहपरवर आगा ने एक सहस्र 'हून' देकर एक दास को तैयार किया, जिसने मस्जिद में नमाज के लिए नत-मस्तक दाऊद का सिर धड़ से अलग कर दिया।

---

११. 'बुरहान-ए-मासिर' में लिखा है कि सुलतान ने विजयनगर के 'काफिरों' को समाप्त करने और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन पर आक्रमण करने का विचार किया।

इण्डि० एण्टि०, २८, १८६६, पृ० १८१।

रायचूर के वर्णन के लिए देखिए सीवेल के ग्रंथ में नुनोज का वर्णन पृ० ३३१-३२।

१२. देखिए—'बुरहान-ए-मासिर' का वर्णन, इण्डि०, एण्टि०, २८, १८६६, पृ० १८१।

१३. फरिश्ता ने इसको सुलतान का चचा बताया है।

दाऊद के वध के पश्चात्, अमीरों तथा पदाधिकारियों ने मुहम्मदशाह को[14] १३७८ ई० में सिंहासन पर बैठाया। मुहम्मदशाह शान्ति-प्रिय शासक था। अतः युद्धों में न फँसकर उसने साहित्य एवं विज्ञान की उन्नति की ओर ध्यान दिया। उसने मस्जिदें बनवाई, सार्वजनिक विद्यालय एवं मठ स्थापित किये और किसी को धर्म-विरुद्ध आचरण न करने दिया। उसके शासन-काल में कोई विद्रोह न हुआ और राज्य के सरदार एवं पदाधिकारी पूर्ण निष्ठापूर्वक अपने स्वामी की सेवा में संलग्न रहे। उसकी दानशीलता से आकर्षित होकर एशिया के प्रत्येक भाग से विद्वान् उसके दरबार में आने लगे। उसका आमंत्रण पाकर फारसी का प्रसिद्ध कवि हाफिज भारत की ओर चल पड़ा। परन्तु 'समुद्र और उसकी असंख्य आपत्तियों' ने उसको भारत आने का विचार त्यागने के लिए बाध्य कर दिया। फिर भी इस कवि ने एक कविता सुलतान के पास भेजी, जिससे अति प्रसन्न होकर सुलतान ने उसको बहुत पुरस्कार प्रदान किये।

मुहम्मद बहुत सरल एवं संयमी शासक था। शासक के पद के विषय में उसके बहुत उच्च विचार थे और उसका यह सिद्धान्त था कि शासक ईश्वरीय सम्पत्ति के संरक्षक मात्र होते हैं तथा अविचारपूर्वक अथवा अनावश्यक व्यय करना विश्वासघात करने के समान है। वह सदैव प्रजा के हित-साधन में तत्पर रहा। एक बार जब उसके राज्य में दुर्भिक्ष फैला तो उसने दुर्भिक्ष के कष्ट को दूर करने के लिए मालवा तथा गुजरात से अनाज मँगाया और इस कार्य के लिए दस सहस्र बैलगाड़ियाँ लगाईं। जीवन के अन्तिम दिनों में उसके धैर्यहीन पुत्रों ने सिंहासन हथियाने के लिए कुचक्र रचने प्रारम्भ किये, जिससे उसके अन्तिम दिन बहुत दुःख में बीते। १३९७ ई० में उसकी मृत्यु[15] के

१४. फरिश्ता ने इसका नाम महमूद लिखा है और 'बुरहान-ए-मासिर' में मुहम्मद लिखा हुआ है। परन्तु फरिश्ता ने अशुद्ध नाम लिखा है, क्योंकि सिक्कों पर के लेख से 'बुरहान-ए-मासिर' का समर्थन होता है। 'तजकिरात-उल-मुलूक' में भी मुहम्मद नाम लिखा है।

इण्डि० एण्टि०, २८, १८९९, पृ० १८३।

फरिश्ता—लखनऊ संस्करण पृ० ३०१।

१५. 'बुरहान-ए-मासिर' में उसकी मृत्यु की तिथि २६ रजब ७९९ हि० (२५ अप्रैल १३९७ ई०) दी हुई है और फरिश्ता ने १७ रमजान, ७९९ हि० बताई है। 'तजकिरात-उल-मुलूक' में लिखा है कि उसकी मृत्यु हि० सन् ८०१ में हुई।

इण्डि० एण्टि०, २८, १८९९, पृ० १८४।

फरिश्ता, लखनऊ संस्क०, पृ० ३०३-४।

पश्चात् उसके पुत्र गयासुद्दीन तथा शम्सुद्दीन क्रम से सिंहासन पर बैठे। परन्तु इनका प्रभुत्व केवल ६ मास तक ही रह पाया। शम्सुद्दीन के शासन-काल में दासों की दिन-प्रतिदिन बढती धृष्टता से क्रुद्ध होकर राज्य के प्रधान अमीरों ने सुल्तान अलाउद्दीन हसनशाह के पौत्रों फीरोजखां तथा अहमदखां को बुला भेजा, जो लालची के अत्याचारों से बचने के लिए अपने कुछ अनुयायियों को साथ लेकर सागर भाग गये थे। फीरोज ने गुलबर्गा पहुँचकर आकस्मिक आक्रमण द्वारा सुल्तान को बंदी बना लिया और तब १४ फरवरी १३९७ ई० को वह स्वयं गद्दी पर बैठा।

फीरोज शाह—'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने फीरोज के विषय में लिखा है कि वह एक अच्छा, न्याय-परायण एवं उदारचेता शासक था जो स्वयं कुरान की प्रतिलिपियाँ बनाकर तथा जिसके 'हरम' की स्त्रियाँ वस्त्रों पर बेलबूटे काढकर तथा उनको बेचकर जीविकोपार्जन करती थी।"[१६] इसी लेखक ने आगे लिखा है कि "शासक के रूप में वह अद्वितीय था और उसकी न्याय-परायणता की अनेक घटनाएँ आज भी काल के पृष्ठ पर अंकित है।" कदाचित् यह सुलतान के गुणों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है क्योंकि फरिश्ता ने असंदिग्ध शब्दों में लिखा है कि यद्यपि वह अपने धर्म के विधि-विधानों का कठोरतापूर्वक पालन करता था,[१७] परन्तु साथ ही वह अत्यधिक मात्रा मे मदिरापान भी करता था, संगीत का व्यसनी था और उसके 'हरम' में विभिन्न जातियों की स्त्रियों की बहुत बड़ी संख्या थी[१८]। मुसलमानों के धार्मिक नियमों के अनुसार वह चार से अधिक पत्नियाँ नही रख सकते, अतः मीर फजुल्ला अरीजू के सुझाव के अनुसार सुलतान ने 'मुता' विवाह-पद्धति[१९] द्वारा अपने 'हरम' मे स्त्रियों की

१६. इण्डि० एण्टि०, २८, १८९९, पृ० १९१।

१७. हाजी मुहम्मद कन्धारी के आधार पर फरिश्ता ने लिखा है कि वह प्रतिदिन कुरान का $\frac{1}{4}$ भाग नकल करता था।

वह मदिरा-पान तथा सगीत को छोड़कर और कोई भी ऐसा कार्य न करता था जिसका कुरान में निषेध हो। वह कहा करता था कि मदिरा-पान वह इसलिए करता था क्योंकि यह उसकी बुरे विचारों से रक्षा करता था और सगीत उसको ईश्वर-चिंतन मे सहायता देता था। फरिश्ता—लखनऊ संस्क०, पृ० ३०७।

१८. इसी लेखक ने लिखा है कि वह अपनी योरोपीय, चीनी, रूसी, तुर्की, सिरकासिया की, जार्जिया की, बगाली तथा अफगानी पत्नियों के साथ उन्हीं की भाषा में बोलता था। निस्सन्देह यह अतिशयोक्ति है।

१९. 'मुता' विवाह निश्चित समय तक के लिए होता है। शियाओं के

संख्या बढ़ाने का उपाय ग्रहण किया और कहा जाता है कि इस प्रकार उसके अंतःपुर में प्रतिदिन ८०० स्त्रियाँ प्रवेश करती थी। फीरोज बहुत कुछ निश्छल एवं विनोदप्रिय स्वभाव का था और सामाजिक समारोहों में भाग लेने मे आनंद लेता था तथा अपने साथियों के साथ थोड़ा भी छिपाव का व्यवहार न रखता था; परन्तु इन आनन्दोत्सवों में वह कभी भी सार्वजनिक विषयों की चर्चा न चलने देता था।

१३६८ ई० मे विजयनगर के राय द्वितीय हरिहर द्वारा मुद्गल दुर्ग पर अधिकार करने के विचार से रायचूर दोआव पर चढ़ाई किये जाने पर युद्ध छिड़ गया। राय का प्रतिरोध करने के लिए फीरोज ने अपनी सेना का संघटन किया परन्तु इसी बीच केहरला के राजा की प्रगति रोकने के लिए जो बरार पर चढ़ आया था उसको अपनी सेना का कुछ भाग बरार की ओर भेज देना पड़ा। हरिहर ने एक विशाल सेना लेकर कृष्णा नदी के तट पर युद्ध के लिए व्यूह-रचना की और मुसलमानों के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा। जब फीरोज नदी के समीप पहुँचा, काजी सिराज ने उसको एक ऐसी चाल सुझाई जिससे वह शत्रु-दल में अव्यवस्था पैदा कर सके। सात साथियों को लेकर काजी सिराज, राय के पुत्र की नर्तकियों के पास पहुँचा और उसने प्रधान नर्तकी से कहा कि वह नृत्य-गायन में अत्यन्त निपुण हैं और यदि उनको युवराज के सम्मुख उपस्थित किया जाये तो युवराज उनके नृत्य-गान से अवश्य बहुत प्रसन्न होंगे। नर्तकी ने काजी का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और उसको उसके साथियों-सहित युवराज के सम्मुख उपस्थित किया। काजी और उसके साथियों ने अपने गायन से उपस्थित लोगों को मन्त्रमुग्ध कर दिया परन्तु कुछ देर बाद वह दाक्षिणात्य नर्तकों की शैली में नगी तलवारें चमकाने लगे और उन्होंने राजकुमार पर आक्रमण कर उसको वही ढेर कर दिया। सुलतान की सेना ने नदी पार कर शत्रु-दल पर भयंकर प्रहार किया। फरिश्ता लिखता है:—"पुत्र-वध से दुखी तथा आक्रमणकारियों की वीरता से आतंकित देवलराय ने बहुत क्षीण प्रतिरोध किया। सूर्योदय से पूर्व वह अपने पुत्र के शव को लेकर सेना सहित भाग गया। शिविर में सुलतान के हाथ लूट-पाट का बहुत माल लगा और उसने विजयनगर के समीप तक भागते हुए राय का पीछा किया। मार्ग में अनेक युद्ध लड़े गये, जिनमें सुलतान की

'इस्ना-अशरी' नियम के अनुसार मुता विवाह अथवा निश्चित समय तक के लिए विवाह विधि-विहित समझा जाता है।

तय्यबजी 'प्रिंसिपल्स ऑव मुहम्मदन लॉ', बम्बई, १९१३, पृ० ६३-६४।

विजय हुई और सड़कें आहत हिंदुओं के शवों से पट गईं।" सुलतान ने अपने भाई अहमद को, जिसको उसने खानखानाँ की उपाधि दी थी, राय के विरुद्ध भेजा। राय को संधि करनी पड़ी। इस संधि से राय के अधिकार सुरक्षित रहे, परन्तु युद्ध में बंदी बनाये गये ब्राह्मणों को मुक्त कराने के लिए उसको दस लाख 'हून' देने पड़े।[२०]

परन्तु १४०६ ई० में विजयनगर के साथ इससे अधिक घोर युद्ध छिड़ा। इस युद्ध का तात्कालिक कारण यह था कि राय मुद्गल के एक किसान की रूपवती कन्या पर अधिकार करना चाहता था। एक ब्राह्मण से, जिसने इस लड़की को पढ़ाया था, उसकी अप्रतिम सुन्दरता का वर्णन सुनकर राय के हृदय में प्रेमाग्नि भड़क उठी, और जब उस लड़की ने यह कहकर कि वह राजकीय वैभव से कहीं अधिक मूल्यवान अपने सगे-संबंधियों के प्रेम को समझती है और किसी भी प्रकार उनसे अलग नहीं होना चाहती जब राय के अंत:पुर में आना उसने अस्वीकार कर दिया तो राय ने उसको बलपूर्वक पकड़ लाने के लिए मुद्गल पर आक्रमण कर दिया। विजयनगर की सेना के आगमन का समाचार पाकर मुद्गल के लोग भागने लगे। भागनेवालों में उस लड़की के माता-पिता भी थे। अपनी इच्छित वस्तु को न पाकर विजयनगर की सेना ने उस सारे प्रदेश को तथा फीरोज के अधिकृत अनेक गाँवों और नगरों को लूट लिया। जब इस लूट-पाट का समाचार सुलतान को मिला, वह क्रोध से लाल हो उठा और शीघ्र ही एक विशाल सेना लेकर वह विजयनगर की ओर चल पड़ा तथा नगर पर घेरा डाल दिया। देवराय के सहयोगी, जिन पर उसको बहुत भरोसा था, युद्ध-क्षेत्र में उपस्थित न हुए, जब कि सुलतान के भाई अहमद के नई सेना लेकर आने से गुलबर्गा की सेना और भी बढ़ गई। मुसलमान-सेना ने बंकापुर के दुर्ग पर अधिकार कर लिया और ६० सहस्र हिंदुओं को बंदी बनाया। अपने सहयोगियों की ढील-ढाल तथा शत्रु की दुर्दम्य सेना के प्रबल आघातों से बाध्य होकर राय को अत्यन्त अनिच्छापूर्वक विजेता द्वारा रखी हुई संधि की अपमानजनक शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं। संधि की शर्तें ये थीं कि राय अपनी कन्या सुलतान को ब्याह दे, दहेज के रूप में बंकापुर का दुर्ग दे तथा युद्ध की क्षति-पूर्ति के लिए हाथी, घोड़े तथा अन्य बहु-मूल्य वस्तुएँ दे। इस प्रकार सम्मान बेचकर शान्ति खरीदी गई और राज-

२०. स्कॉट ने फरिश्ता के ग्रंथ के अपने अनुवाद में इसका अनुमान ४,००,००० पौं० लगाया है और मैडोज टेलर ने इस धन-राशि को ४,४०,००० पौंड बताया है। दोनों में अतिशयोक्ति है।

कुमारी के विवाह के उपलक्ष मे दोनों ओर खूब धूमधाम से उत्सव मनाये गये।[21] फीरोज अपनी राजधानी मे लौट आया; वहाँ पहुँचकर उसने इस घोर युद्ध एवं रक्तपात का मूल कारण उस कृषक-कन्या को बुलाया और उसका विवाह अपने पुत्र हसनखाँ से कर दिया। परन्तु हसन के भाग्य मे शासक बनना न बदा था; प्रसिद्ध फकीर जमालुद्दीन हमानी ने, जो गेसू दराज के नाम से प्रसिद्ध है, भविष्यवाणी की थी कि बहमनी वंश का अगला शासक अहमद होगा।

१४२० ई० मे फीरोज ने पगल दुर्ग पर अकारण आक्रमण कर दिया। इससे पुनः विजयनगर के साथ युद्ध छिड गया।[22] दुर्ग का घेरा दो वर्ष तक चलता रहा, परन्तु सेना मे महामारी का प्रकोप हो जाने के कारण सुलतान के प्रयत्न पूर्णत: विफल हुए। हिंदुओ ने मुसलमान सेना को बुरी तरह परास्त किया। मुसलमान सेना का नायक मीर फजलुल्ला युद्ध में मारा गया और स्वयं सुलतान को घबराकर युद्ध-क्षेत्र से भागना पडा। विजयी हिंदुओं ने मुसलमानों का निर्दयतापूर्वक वध किया, उनके प्रदेशों को उजाड दिया और उनकी मस्जिदों को नष्ट किया।

फीरोज-सरीखे सफल योद्धा के लिए यह पराजय घोर संतापकारिणी बन गई। स्वास्थ्य गिर जाने के कारण उसने राज-काज अपने दासों ऐनुलमुल्क तथा निजाम बीदर-उल-मुल्क पर छोड दिये। इन्होंने उसको चेताया कि अहमद की बढ़ती हुई शक्ति राज्य के लिए भयंकर है। सुलतान को सूचित किया गया कि अहमद उसके प्राण लेने का कुचक्र रच रहा है। अहमद ने कुछ हब्शी दासों को लालच देकर अपनी ओर कर लिया। तैयारियाँ पूरी कर लेने पर एक दिन अहमद फीरोज का वध करने के लिए उसके महल के सामने आ धमका। फीरोज के अंगरक्षको मे तथा अहमद के दलवालों मे लड़ाई छिड़ गई। दोनों दलो के कुछ लोग धराशायी हुए। अपनी सेना में असंतोष फैलता देखकर फीरोज को विश्वास हो गया कि उसके पुत्र का शासक बनना असभव है। अतः उसने अपने पुत्र को अहमद का आधिपत्य मान लेने का परामर्श दिया और समझाया कि सेना के सहयोग के अभाव में कोई

२१. फरिश्ता ने इन विवाह के अवसर पर किये गये उत्सवों का विस्तृत वर्णन किया है और लिखा है कि परिस्थितियों से बाध्य होकर राय को इस विवाह-संबंध के लिए तैयार होना पड़ा। 'बुरहान-ए-मासिर' मे इस विवाह का उल्लेख नहीं है। फरिश्ता का कथन संदेहपूर्ण है।

२२. इस समय विजयनगर का शासक कदाचित् द्वितीय देवराय था। सीवेल—'ए फॉरगॉटन ऍम्पायर'—पृ० ६२-६३।

भी अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सकता। अहमद को मृत्यु-शय्या पर पड़े सुलतान के पास जाने दिया गया। वह सुलतान के पैरों पर गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा। अपने अपराध के लिए उसने सुलतान से क्षमा माँगी। फीरोज ने उसको राज्याधिकार दे दिया और हसन खाँ को उसके हाथों सौंप दिया। १४२२ ई० में फीरोज का देहान्त हो गया।[२३]

अहमदशाह—अहमदशाह निर्विरोध शासक बना। उसके मंत्री ने उसको परामर्श दिया कि वह फीरोजशाह के पुत्र को मारकर अपना मार्ग निष्कंटक कर ले, परन्तु उसने यह बात न मानी और इसके विपरीत उसने

---

२३. यह फरिश्ता का वर्णन है। वह लिखता है कि फीरोज का देहान्त स्वाभाविक मृत्यु से हुआ। परन्तु 'बुरहान-ए-मासिर' में लिखा है कि हब्शी जमादार सुलतान के कमरे में घुस आया और उसने तलवार से उसका अंत कर दिया। 'बुरहान-ए-मासिर' के इस वर्णन का समर्थन केवल 'तजकिरात-उल-मुलूक' के लेखक ने किया है, जिसको इस विषय का पूर्ण विश्वसनीय लेखक नहीं माना जा सकता। 'हाजी-उद-दवीर' का कहना है कि फीरोज स्वाभाविक मृत्यु से मरा। इनसे अधिक प्राचीन लेखक निजामुद्दीन अहमद का कहना है कि फीरोज पालकी में बैठकर अहमद का विरोध करने चला, परन्तु जब दोनों सेनाओं का सामना हुआ तो फीरोज के सैनिक शत्रु-दल में मिल गये। फीरोज नगर में लौट आया और उसने दुर्ग तथा कोष की कुंजियाँ अहमद के पास भिजवा दीं। अहमद ने सुलतान से भेंट की। सुलतान ने उसको गले से लगाया और राजगद्दी पर बैठाया।

फरिश्ता—लखनऊ संस्क०, पृ० ३१९; 'बुरहान-ए-मासिर'—इण्डि० एण्टि० २८, १८९९, पृ० १९२; 'तजकीरात-उल-मुलूक' इण्डि० एण्टि०, २८, १८९९, पृ० २१८; 'अरेबिक हिस्ट्री ऑव गुजरात'—सर डेनीसन रॉस सम्पादित, १, पृ० १६१। 'तबकात-ए-अकबरी'—लखनऊ संस्क०, पृ० ४१४; सीवेल—'ए फॉरगॉटन ऐम्पायर' पृ० ६६ मैडोज टेलर—'मैनुअल ऑव इण्डियन हिस्ट्री'। पृ० १६७; ग्रिबिल 'हिस्ट्री ऑव दि डेकन'—पृ० ८२-८४।

उपरिनिर्दिष्ट तीन आधुनिक इतिहासकारों ने फरिश्ता का कथन स्वीकार किया है। विसेण्ट स्मिथ ने 'बुरहान-ए-मासिर' के वर्णन का समर्थन किया है—'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया'—पृ० २७७। मैं फिरिश्ता के वर्णन के पक्ष में हूँ क्योंकि फरिश्ता की जानकारी बहुत प्रामाणिक थी। अधिकांश इतिहासकारों द्वारा फरिश्ता के कथन का समर्थन देखकर 'बुरहान-ए-मासिर' के उल्लेख को स्वीकार करना कठिन है।

इसके अतिरिक्त फरिश्ता के कथन का समर्थन इस बात से भी होता है कि अपने सरदारों द्वारा उकसाये जाने पर भी अहमद ने फीरोज के पुत्र के साथ दया एवं उदारता का व्यवहार किया। यदि वह अपने भाई का हत्यारा होता तो उसके वैध उत्तराधिकारियों को समाप्त करने का प्रयत्न अवश्य करता।

फीरोजशाह के पुत्र को फीरोजाबाद की जागीर प्रदान की, जहाँ राजनीतिक झगडों से दूर रहकर वह सुखोपभोग में समय बिताने लगा। अपनी सेना को सुसघटित कर अहमदशाह ने भूतपूर्व सुलतान की पराजय का प्रतिशोध लेने के लिए विजयनगर राज्य पर आक्रमण कर दिया। राय ने तेलंगाना के शासक से सहायता माँगी परन्तु इस सहयोगी ने ठीक युद्ध के समय पर अपनी सेना युद्ध-क्षेत्र से हटा ली। अहमदशाह तथा राय की सेनाओं की तुगभद्रा नदी के तट पर मुठभेड़ हुई। सुलतान की सेना ने राय की सेना के अगले भाग पर आक्रमण किया। वारगल की सेना के हट जाने के कारण क्षीण-बल राय को विजयनगर के दुर्ग में आश्रय लेना पड़ा। अहमद की सेना ने समस्त प्रदेश को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और उस संधि को भुलाकर जिसके अनुसार बहमनी शासक तथा विजयनगर के राय निरीह प्रजा का वध न करने के लिए वचन-बद्ध हुए थे, अहमद शाह ने निर्दयतापूर्वक २०,००० पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों का वध करवा दिया और इस नर-संहार के उपलक्ष मे उसने उत्सव मनाया। अहमदशाह के इस अमानुषिक व्यवहार से क्षुब्ध होकर ब्राह्मणों ने उसकी जान लेने की ठान ली और जब वह आखेट मे मग्न था, ब्राह्मणों ने उसका प्रचण्ड वेग से पीछा किया और "उसको घोरतम सकट में डाल दिया।" इस प्रकार आक्रांत अहमदशाह ने एक मिट्टी के बाड़े मे शरण ली। उसका पीछा करने-वालों ने वहाँ भी उस पर आक्रमण किया, परन्तु उसके कवच-वाहक अब्दुल कादिर ने एक सैनिक दल की सहायता से इनको तितर-बितर कर दिया। इस संकट से मुक्त होकर अहमदशाह ने विजयनगर के सारे मार्ग रोक दिए और वहाँ के निवासियों को इतने घोर कष्ट देने प्रारम्भ किये कि देवराय को सधि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसने सारा पिछला शेष कर देना स्वीकार किया और अपने पुत्र को स्वर्ण, रत्नों तथा वर्णनातीत मूल्यवान् वस्तुओं से लदे ३० हाथियों के साथ शाही शिविर मे भेजा, जहाँ उसका हार्दिक स्वागत किया गया।

१४२४ ई० मे सुलतान ने वारंगल पर आक्रमण किया। उसके सेना नायक खान-ए-आजम ने सफल युद्ध लडा, जिसमे हिंदू परास्त हुए तथा उनका सरदार मारा गया। वारंगल की स्वतंत्रता समाप्त हो गई और सुल्तान ने उसका बहुत भाग अपने राज्य में मिला लिया। इन विजयों से उत्साहित होकर अहमद शाह ने मालवा तथा अन्य पड़ोसी मुसलमान राज्यों से भी युद्ध छेड़ दिया। यह राज्य उसके आक्रमणो के आघात न सह सके। हुशंगशाह समर भूमि से भाग गया और सुलतान ने लूट मे प्रचुर

सम्पत्ति प्राप्त करने के साथ-साथ हुशंगशाह के दो सहस्र आदमियों को भी तलवार के घाट उतार दिया। इस प्रकार निरीह प्राणियों का वध कर यह क्रूर-कर्मा विजयोत्सव मनाता था और इस्लाम के प्रति अपनी सेवाओं के पुरस्कार के रूप में इसने 'वली' की उपाधि धारण कर ली थी। इस विजय से लौटने पर उसने बीदर[२४] नगर की नींव डाली, जो बाद में बहमनी राज्य की राजधानी के रूप में स्वीकृत हुआ। १४२९ ई० में उसने कोंकण के शासक पर चढ़ाई की और माहिम द्वीप[२५] पर आक्रमण करने के कारण उसको गुजरात के शासक से भी लोहा लेना पड़ा। अपने सेनानायक की करारी हार हो जाने के कारण उसको स्वयं युद्ध-क्षेत्र में उतरना पड़ा, परन्तु कुछ धार्मिक व्यक्तियों ने बीच-बचाव कर दोनों पक्षों में संधि करा दी।

अहमदशाह का अंतिम अभियान तेलंगाना पर हिंदुओं के विद्रोह का दमन करने के लिए हुआ। इसके पश्चात् उसने राज-काज से अवकाश ग्रहण कर सिंहासन तथा शासनाधिकार युवराज जफर खाँ को सौंप दिया तथा अपने अमीरों, सरदारों तथा पदाधिकारियों से उसके प्रति स्वामि-भक्ति की शपथ लिवाई। उसका स्वास्थ्य गिरने लगा और १४३५ ई० में वह इस संसार से कूच कर गया।

अहमदशाह रक्त-पिपासु धर्मान्ध तथा निर्दय अत्याचारी था। परन्तु 'दीन' के उत्साह में उसकी निर्दयता को भूलकर मुसलमान इतिहासकार ने उसके विषय में यह मत प्रकट किया है कि "उसका स्वभाव दया एवं सौहार्द्र के अलंकारों तथा संयम एवं श्रद्धा के रत्नों से विभूषित था।" अन्य अनेक अत्याचारियों के समान वह भी विद्वानों की संगति का प्रेमी था और बीदर में अपने महल की प्रशंसा में दो पद्य लिखने के लिए उसने शेख अजारी

२४. कहा जाता है जिस स्थान पर बीदर नगर बसाया गया था वहाँ प्राचीन काल में विदर्भ नगर था, जो राजा नल तथा दमयन्ती की कथा से संबंधित है और जिसका महाभारत में वर्णन आया है।

स्मिथ महोदय का यह कथन कि अहमदशाह ने बीदर को राजधानी बनाया, संदिग्ध है। यह सत्य है कि अहमदशाह बहुधा बीदर में निवास करता था, क्योंकि यहाँ की जलवायु बहुत स्वास्थ्यकर थी, परन्तु द्वितीय अलाउद्दीन के समय से पूर्व बीदर बहमनी राज्य की राजधानी न बना। मैंडोज टेलर महोदय ने भी, जिनका स्मिथ ने उद्धरण दिया है, यही बात लिखी है। बीदर के वर्णन के लिए देखिए—मैनुअल, पृ० १६६-७०।

२५. माहिम द्वीप उस स्थान पर था, जहाँ आज बम्बई का टापू है। इण्डि० एण्टि० ३८, १८९९, पृ० २१३।

को ७,००,००० दक्खिनी टके पुरस्कार के रूप मे प्रदान किये थे तथा उसके आने-जाने के व्यय के लिए २५,००० टके और दिए थे।[२६]

द्वितीय अलाउद्दीन—अहमदशाह के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र द्वितीय अलाउद्दीन के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। आशा की जाती थी कि उसका शासन-काल अत्यन्त समृद्धिपूर्ण रहेगा। प्रारम्भिक वर्षों में उसने एक अच्छे शासक के समान राज-कार्य चलाया, परन्तु बाद में वह सुख-भोगों तथा विषय-वासनाओं की तृप्ति में समय बिताने लगा।

उस समय की प्रथा के विपरीत उसने अपने भाई मुहम्मद के प्रति सद्व्यवहार रखा, परन्तु मुहम्मद ने उसकी स्नेहपूर्ण उदारता को भुला दिया। कुछ दुष्ट-प्रकृति के लोगों के भड़काने पर उसने विद्रोह कर दिया और सुलतान का विरोध करने के लिए विजयनगर के राय की सहायता से सेना एकत्र कर ली। उसने रायचूर दोआब, बीजापुर तथा अन्य प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। उसकी इस उद्दण्डता से विवश होकर सुलतान को उसका दमन करने के लिए प्रयाण करना पड़ा और विपक्षी दलों की युद्ध-क्षेत्र में मुठभेड़ हुई। भीषण नर-संहार के पश्चात् विजय सुलतान के हाथ लगी और मुहम्मद तथा उसके सहयोगी भाग गये। परन्तु जब इस भगेड़ राजपुत्र ने क्षमा-याचना की तो मुहम्मद ने उसको तत्काल क्षमा प्रदान कर दी और अत्यन्त उदारतापूर्वक रायचूर का प्रदेश जागीर के रूप में दे दिया। इस प्रकार के समझौते के उपरान्त इस राज-पुत्र ने फिर कभी उपद्रव न किया और मृत्युपर्यंत अपने भाई तथा शासक के प्रति निष्ठापूर्ण बना रहा।

१४३६ ई० मे सुलतान ने कोंकण प्रदेश को, जो समुद्र तथा घाटों के बीच की पट्टी है, विजय करने के लिए सेना भेजी। यह अभियान सफल रहा और लोनेखेड़ के हिंदू राजा ने सुलतान को अपनी पुत्री ब्याहकर बहमनी वंश के साथ संबंध स्थापित कर लिया। 'हरम' मे एक हिंदू राजपुत्री का प्रवेश बेगम को इतना खला कि उसने अपने पिता खान्देश के शासक नसीर खाँ से उसको इस निरादर एवं अपमान से बचाने के लिए प्रार्थना की। नसीर खाँ ने गुजरात के शासक अहमद शाह की सहायता से अपने दामाद पर आक्रमण कर दिया, परन्तु उसको पूर्णतः पराजित होना पड़ा।

---

२६. इस कवि की मृत्यु खुरासान में असफरायिन नामक स्थान मे ८२ वर्ष की वृद्धावस्था में हुई।

इण्डि० ऍण्टि०, २८, १८६६, पृ० २१६।

परन्तु विजयनगर के राय के साथ अलाउद्दीन की वंश-परम्परागत शत्रुता थी। १४४२ ई० के लगभग देवराय ने अपने प्रमुख अमात्यों तथा सरदारों की एक सभा आमंत्रित की और उनके साथ मुसलमानों की विजय के कारणों की विवेचना की गई। ज्ञात हुआ कि मुसलमानो की विजय के दो कारण हैं--मुसलमान अश्वारोही-सेना की उत्कृष्टता तथा धनुर्विद्या मे उनकी प्रवीणता। परिस्थिति के इस विवेचन से राय को मुसलमानों के प्रति अपने व्यवहार मे परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अब उसने मुसलमानों को राज्य की सेवा मे नियुक्त करना प्रारम्भ कर दिया, उनको जागीरें दी और उनके लिए नगर में एक मस्जिद बनवा दी। बहमनी राज्य पर अकारण आक्रमण कर देवराय ने युद्धाग्नि भड़का दी[२७] और विपक्षी सेनाएँ शीघ्र युद्ध-क्षेत्र मे उतर पड़ी। अनेक लड़ाइयाँ लड़ी गई, जिनमें कभी हिंदू सेना तथा कभी मुसलमान सेना की विजय होती रही और युद्ध का कोई निश्चित परिणाम न निकल पाया।

कुछ मास के घेरे के पश्चात् दोनों पक्षों में संधि हो गई और देवराय ने संधि की शर्तों के अनुसार कर देना स्वीकार कर लिया।[२८] सुल्तान की युद्ध-नीति सफल रही, परन्तु दक्खिनी मुसलमानों, जो अधिकांश सुन्नी थे तथा शिया सम्प्रदाय के अनुयायी विदेशी अरब, तुर्क, फारसवासी तथा मुगलों के

---

२७. यह फरिश्ता का कथन है।

अब्दुर्रज्जाक का कहना है कि अलाउद्दीन ने यह सुनकर कि राय उसको मारने का प्रयत्न कर रहा है, राय से कर की माँग की। राय ने इस माँग का तिरस्कार कर दिया और युद्ध की तैयारी कर ली। सीवेल पृ० ७५।

'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने भी फरिश्ता के कथन का समर्थन किया है। वह लिखता है कि मुहम्मद खाँ के विद्रोह से लाभ उठाकर काफिरो ने इस्लामी राज्य पर आक्रमण कर दिया और मुद्गल के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। इससे सुल्तान को राय के विरुद्ध प्रयाण करना पड़ा। इण्डि० एण्टि० २८, १८९९, पृ० २३८।

२८. 'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने तथा फरिश्ता ने दोनों पक्षों की किसी निश्चयात्मक लड़ाई का उल्लेख नहीं किया है। बुरहान के लेखक ने लिखा है कि घेरे के कुछ दिनों बाद हिंदुओं ने संधि की याचना की। परन्तु फरिश्ता ने लिखा है—और अनेक बातों में फरिश्ता की सूचनाएँ अधिक प्रामाणिक हैं—कि जब दो मुसलमान पदाधिकारी हिंदुओं के हाथ पड़ गये, तो सुल्तान ने राय को धमकी दी कि वह १,००,००० हिंदुओं को मारकर इनके वध का प्रतिशोध लेगा। इससे आतंकित होकर राय संधि के लिए तैयार हो गया।

इण्डि० एण्टि०, २८,१८९९,पृ०२३८। फरिश्ता-,लखनऊ संस्क०, पृ० ३३३।

पारस्परिक विद्वेष से राज्य की आन्तरिक व्यवस्था को बहुत क्षति उठानी पड़ी" इस विद्वेष ने एक नृशंस कृत्य को जन्म दिया। १४५४ ई० में खल्फ हसन मलिक-उल-तुज्जर को कोंकण के एक हिंदू सरदार के हाथों करारी हार खानी पड़ी। हसन के बचे हुए सैनिकों ने अपनी जान बचाने के विचार से चकन[30] का रास्ता पकड़ा, परन्तु दक्खिनी अमीरों ने सुलतान के कान भरे कि हसन राज-द्रोह करना चाहता है और इन अमीरों ने हसन तथा उसके दल को समाप्त करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। दक्खिनी वजीर चकन के समीप पहुँच गये और बनावटी उदारता दिखाकर इन शंका-रहित विदेशी मुसलमानों के विश्वास-पात्र बन गये। इन अमीरों ने उनको एक सहभोज में निमंत्रित किया और "अत्याचार की तलवार तथा विनाश के शर्बत से उनका स्वागत किया, जिसके परिणामस्वरूप १२०० अभिजात सैय्यद तथा सात वर्ष से १७ वर्ष तक की अवस्था के अन्य १,००० विदेशियों को तलवार के घाट उतरना पड़ा।"[31]

---

२९. यह विदेशी कौन थे ?

दक्षिण मे सबसे पहिले अरब लोग आये, जो सातवी, आठवी तथा नवी शताब्दी में गुजरात के तटवर्ती प्रदेशों को जीतने के लिए आये थे। उनके बाद पारसी आये तथा नवी, दसवी शताब्दी मे अनेक व्यापारी समुद्र तटवर्ती नगरों में आकर बसे। गुजरात मे अनहिलवाड़ के राजपूत राजाओं ने इन आगन्तुकों को प्रोत्साहित किया, ग्यारहवी तथा बारहवी शताब्दी में तुर्क लोग दक्षिण में आये।

तेरहवी शताब्दी से मुसलमान शरणार्थी, व्यापारी तथा दास विदेशों से दक्षिण में आते रहे। गुजरात मे ऐसे अनेक विदेशी बस गये थे। देखिए सर डेनीसन रॉस कृत 'अरेबिक हिस्ट्री आव गुजरात' जि० २ की भूमिका पृ० ३१-३२।

३०. चकन पूना से १८ मील उत्तर की ओर एक छोटा दुर्ग है। इसके चारों ओर ३० फीट चौड़ी तथा १५ फीट गहरी एक खाई है परन्तु केवल उत्तर की ओर ही इसमें पानी रहता है। यह बोरघाट दर्रे से केवल ३१ मील पूर्व की ओर है और अहमदनगर से कोंकण के समीपतम भाग पर स्थित है।

३१. 'बुरहान-ए-मासिर' के अनुसार खल्फ तथा अन्य अनेक धार्मिक पुरुष हिंदुओं के साथ युद्ध में मारे गये थे, और केवल युद्ध से बचे लोग ही चकन नगर की ओर गये थे। फरिश्ता का वर्णन इससे भिन्न है। वह लिखता है कि खल्फ अन्य सैय्यदों एवं विदेशी अमीरों के साथ दक्खिनियों द्वारा चकन के दुर्ग में मारा गया था।

इण्डि० ऐंटि० २८, १८९९, पृ० २३९-२४०।

फरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० ३३५।

रक्त-पात एवं नर-संहार की मृशंस लीलाओं से पूर्ण अलाउद्दीन का जीवन १४५७ ई० में समाप्त हुआ। 'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने, जिसके वर्णन की फरिश्ता के वर्णन से पुष्टि हो जाती है, लिखा है कि यद्यपि यह सुलतान आमोद-प्रमोदों में समय बिताता था, परन्तु प्रजा के हितों का भी ध्यान रखता था। उसने मस्जिदें बनवाईं, सार्वजनिक विद्यालय तथा अन्य हितकारिणी संस्थाएँ स्थापित कीं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध बीदर का चिकित्सालय था; यहाँ निर्धनों की चिकित्सा के लिए योग्य चिकित्सक नियुक्त किये गये थे। उसके राज्य में मादक पदार्थों का निषेध किया गया था और जो इस निषेध की अवहेलना करता था उसके गले में शीशा गलाकर डाला जाता था। डाकुओं तथा आवारा लोगों का कठोरतापूर्वक दमन किया गया और जनता में किसी उपयोगी व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन करने की भावना को प्रोत्साहन दिया गया। यद्यपि सुलतान की धार्मिक प्रवृत्तियाँ बहुत प्रबल न थी, परन्तु उसने 'दीन' का पालन कठोरतापूर्वक करवाया और पुलिस विभाग के अध्यक्षों को आज्ञा दी कि वह लोगों को इस्लाम के विधि-विधानों की शिक्षा दें और उनको समझाएँ कि कौन कौन कार्य विधि-विहित है और कौन विधि-विरुद्ध हैं।

हुमायूं—अलाउद्दीन के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र हुमायूं अपने छोटे भाई हसन को जिसको राज्य के कुछ अमीरों एवं मन्त्रियों ने राजगद्दी पर बैठा दिया था, सुगमतापूर्वक गद्दी से हटाकर स्वयं शासक बना। निर्दयता में वह पूरा दैत्य था और उसके क्रूर कर्मों को देखकर नीरो एवं कालीगुला का स्मरण हो जाता है। कहा जाता है कि एकबार कुछ कैदियों के भाग निकलने पर उसने इतनी जोर से अपने ओठ काटे कि उनसे रक्त बहने लगा और उसने नगर के २००० रक्षकों का अमानुषिक ढंग से वध करवा दिया क्योंकि वह इन बंदियों की पूरी-पूरी निगरानी न रख सके थे। उसकी विद्वत्ता, वाक्पटुता एवं बुद्धिमत्ता के प्रशंसक मुसलमान इतिहासकार ने लिखा है 'इतनी व्यक्तिगत विशेषताओं एवं आन्तरिक तथा वाह्य निपुणताओं से सम्पन्न होने पर भी वह उग्र प्रकृति का तथा रक्त बहानेवाला था; जो किसी अपराध के दोषी के प्रति थोड़ी भी दया न दिखाता था और अत्यन्त तुच्छ अपराधों के लिए मुसलमानों का रक्त निर्भयतापूर्वक बहाता था।'[३२] परन्तु इस हृदयहीन शासक का सौभाग्य था कि उसको नज्मुद्दीन महमूद बिन मुहम्मद गावान गिलानी के रूप में, जो इतिहास में महमूद गावान के नाम से प्रसिद्ध

३२. 'बुरहान-ए-मासिर'—इण्डि० एँण्टि० २८, १८९९, पृ० २४३।

है, एक ऐसा मंत्री मिल गया जो जीवन के अंतिम क्षण तक अनन्य भक्ति-भाव से राज्य की सेवा करता रहा।” उसकी नीति-निपुणता का ही परिणाम था कि बहमनी राज्य को विदेशी शत्रुओं से लड़ने के लिए सहयोगी प्राप्त हो सके और आन्तरिक उपद्रव दबाये जा सके। हुमायूँ के शासन-काल की ध्यान आकर्षित करनेवाली घटनाएँ न तो उसके विदेशी युद्ध हैं और न शासन-सुधार ही, वरन् नृशंसता के वे अधम कृत्य हैं जिनको उसने बर्बरों-जैसी निर्दयता के साथ सम्पन्न किया था। जब वह तेलंगाना में था उस समय राजधानी में एक षड्यन्त्र रचा गया, जिसके परिणामस्वरूप उसके भाई हसन तथा याहिया बंदीगृह से मुक्त हो गये। इस घटना का समाचार पाकर सुलतान के क्रोध की सीमा न रही। उसने हसन खाँ तथा दूसरे बंदी मिर्ज़ा हबीब उल्ला का पीछा करने के लिए, जो बीजापुर की ओर भाग गये थे, एक सेना भेजी। बीजापुर के प्रांताध्यक्ष सिराजखाँ ने भागे हुए राजपुत्र का स्वागत किया और उसको सुरक्षा का आश्वासन दिया, परन्तु बाद में विश्वासघात कर सिराज ने उनके घोड़ों तथा सामान पर अधिकार कर लिया और उनको बंदी बना लिया। हसन ने प्राण की प्रार्थना की और स्वयं को पूर्णतः सिराज की दया पर छोड़ दिया, परन्तु हबीबुल्ला पर धमकियों का कुछ भी असर न हुआ और उसने आत्मसमर्पण के [illegible]। हबीबुल्ला मारा गया और हसन को [illegible] लाया गया। सुलतान ने अपने [illegible] बाघ के सामने डलवा दिया जो [illegible]। जिन सैनिकों ने इस राज-पुत्र को मुक्त करने में [illegible] अथवा उबलते तेल के कड़ाहे में डाल दिया गया। सुलतान की निर्दयता सीमा का अतिक्रमण कर गई [illegible] उसके क्रूर कृत्यों का विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है कि—

रक्त-पात एवं नर-संहार की नृशंस लीलाओं से पूर्ण अलाउद्दीन का जीवन १४५७ ई० में समाप्त हुआ। 'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने, जिसके वर्णन की फरिश्ता के वर्णन से पुष्टि हो जाती है, लिखा है कि यद्यपि यह सुलतान आमोद-प्रमोदों में समय बिताता था, परन्तु प्रजा के हितों का भी ध्यान रखता था। उसने मस्जिदें बनवाईं, सार्वजनिक विद्यालय तथा अन्य हितकारिणी संस्थाएँ स्थापित कीं, जिनमें सबसे प्रसिद्ध बीदर का चिकित्सालय था; यहाँ निर्धनों की चिकित्सा के लिए योग्य चिकित्सक नियुक्त किये गये थे। उसके राज्य में मादक पदार्थों का निषेध किया गया था और जो इस निषेध की अवहेलना करता था उसके गले में शीशा गलाकर डाला जाता था। डाकुओं तथा आवारा लोगों का कठोरतापूर्वक दमन किया गया और जनता में किसी उपयोगी व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन करने की भावना को प्रोत्साहन दिया गया। यद्यपि सुलतान की धार्मिक प्रवृत्तियाँ बहुत प्रबल न थीं, परन्तु उसने 'दीन' का पालन कठोरतापूर्वक करवाया और पुलिस विभाग के अध्यक्षों को आज्ञा दी कि वह लोगों को इस्लाम के विधि-विधानों की शिक्षा दें और उनको समझाएँ कि कौन कौन कार्य विधि-विहित हैं और कौन विधि-विरुद्ध हैं।

हुमायूं—अलाउद्दीन के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र हुमायूं अपने छोटे भाई हसन को जिसको राज्य के कुछ अमीरों एवं मन्त्रियों ने राजगद्दी पर बैठा दिया था, सुगमतापूर्वक गद्दी से हटाकर स्वयं शासक बना। निर्दयता में वह पूरा दैत्य था और उसके क्रूर कर्मों को देखकर नीरो एवं कालीगुला का स्मरण हो जाता है। कहा जाता है कि एकबार कुछ कैदियों के भाग निकलने पर उसने इतनी जोर से अपने ओंठ काटे कि उनसे रक्त बहने लगा और उसने नगर के २००० रक्षकों का अमानुषिक ढंग से वध करवा दिया क्योंकि वह इन बंदियों की पूरी-पूरी निगरानी न रख सके थे। उसकी विद्वत्ता, वाक्पटुता एवं बुद्धिमत्ता के प्रशंसक मुसलमान इतिहासकार ने लिखा है 'इतनी व्यक्तिगत विशेषताओं एवं आन्तरिक तथा बाह्य निपुणताओं से सम्पन्न होने पर भी वह उग्र प्रकृति का तथा रक्त बहानेवाला था; जो किसी अपराध के दोषी के प्रति थोड़ी भी दया न दिखाता था और अत्यन्त तुच्छ अपराधों के लिए मुसलमानों का रक्त निर्भयतापूर्वक बहाता था।'[32] परन्तु इस हृदयहीन शासक का सौभाग्य था कि उसको नज्मुद्दीन महमूद बिन मुहम्मद गावान गिलानी के रूप में, जो इतिहास में महमूद गावान के नाम से प्रसिद्ध

३२. 'बुरहान-ए-मासिर'—इण्डि० एँण्टि० २८, १८९९, पृ० २४३।

पर आक्रमण करने की योजनायें बनाने लगे। सबसे पहले उड़ीसा एवं तेलंगाना के राय विशाल सेना लेकर युद्ध-क्षेत्र में उतरे। इस सम्मिलित आक्रमण से अविचलित राजमाता ने अपनी सेना संघटित कर शत्रु को भारी क्षति पहुँचाकर पीछे खदेड़ दिया। परन्तु मालवा के महमूद खिलजी के आक्रमण की तुलना में यह आक्रमण कुछ भी न था। महमूद निर्विरोध बीदर के अत्यन्त समीप पहुँच गया। ख्वाजा जहाँ तथा महमूद गावान आक्रांता का प्रतिरोध करने के लिए आगे बढ़े, परन्तु खिलजी की सेना ने दक्खिनी सेना को करारी हार दी और वह घबड़ाकर तितर-बितर हो गई।[35] तब खिलजी बीदर की ओर बढ़ा, उसने नगर पर घेरा डाल दिया और आस-पास का प्रदेश नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अमीरों तथा साधारण जनता सभी के मकान भूमिसात किये गये और उनकी सम्पत्ति लूट ली गई। राजमाता अपने पुत्र को लेकर भीमा के तट पर फिरोजाबाद मे चली गई और इस घोर संकट के समय उसने गुजरात के शासक से सहायता की प्रार्थना की। गुजरात के शासक ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और उसकी रक्षा के लिए ससैन्य प्रयाण कर दिया, परन्तु उसके प्रस्थान का समाचार पाकर महमूद खिलजी ने नगर का घेरा उठा लिया और बुरहानपुर तथा असीर होते हुए वह अपने राज्य की ओर लौट गया। अगले वर्ष (१४६२ ई० में) वह पुन: दौलताबाद होता हुआ दक्खिन की ओर चल पड़ा, परन्तु निजामशाह तथा गुजरात के शासक की मैत्री ने उसको इतना भयभीत कर दिया कि उसने आक्रमण का विचार त्याग दिया और अपने राज्य में लौट आया।

युद्धों से छुट्टी पाकर राजमाता अपने पुत्र के विवाह की तैयारियाँ करने लगी, जो अब तेरह वर्ष का हो चुका था, परन्तु अकस्मात् २० जुलाई, १४६३ ई० को अपनी स्नेहमयी माता तथा राजसभा को शोकमग्न कर वह इस संसार से कूच कर गया।

तृतीय मुहम्मदशाह—निजामशाह के देहान्त के पश्चात् अमीरों तथा उच्च पदाधिकारियों ने उसके भाई मुहम्मदशाह[36] को सुलतान मनोनीत किया।

---

३५. 'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने इस पराजय का उल्लेख नहीं किया है। उसने लिखा है कि सेना में अकस्मात् आतंक छा गया और वह हार खाये बिना ही "गड़रिये से रहित भेड़ों के झुंड के समान रेगिस्तान की ओर भाग खड़ी हुई।" परन्तु यह वर्णन बहमनी राज्य की सम्मान रक्षा के विचार से किया गया जान पड़ता है। बाद की घटनाओं से फरिश्ता के वर्णन का समर्थन होता है। इण्डि० ऐंटि०, २८, १८६६, पृ० २७८।
मेतुअल—पृ० १७३।

३६. 'बुरहान-ए मासिर' के लेखक तथा फरिश्ता दोनों ने ही इसको

हो जाते थे और पीड़ितों के हृदय से निकलते धुएँ से दिन का प्रकाश शाम के धुंधलके जैसा लगता था। उसकी क्रोधाग्नि इतनी प्रचण्ड थी कि वह थल एवं जल को जला देती थी; और उसकी उग्रता का दलाल दोषी एवं निर्दोष सभी को एक भाव बेचता था। अमीर तथा सरदार जब भी सुलतान से भेंट करने जाते अपने स्त्री-बच्चों से अंतिम बार भेंट कर तथा उत्तराधिकार पत्र बनाकर जाते। अधिकाश अमीर, राजकुमार तथा शासक पद के उत्तराधिकारी तलवार के घाट उतार दिये गये थे।"

अक्टूबर सन् १४६१ ई० में हुमायूँ की प्राकृतिक मृत्यु हुई, परन्तु फरिश्ता लिखता है कि यह वर्णन अधिक संभव प्रतीत होता है कि उसके परिचारकों ने उसको मदिरोन्मत्त दशा में मार दिया। उसकी मृत्यु से चार वर्षों से उसके अत्याचारों से पीड़ित निरीह प्रजा को चैन मिला।[34]

निजाम शाह—मृत्यु-शय्या पर पड़े हुये हुमायूँ ने मलिक शाह तुर्क, जिसका उपनाम ख्वाजा जहाँ था, महमूद गावान तथा राजमाता को, जो पूर्वीय देशों की नारियों में अत्यन्त उदाहरणीय स्त्री हुई है, उत्तराधिकार-निर्णय का कार्य सौंपा। इस निर्णायक-समिति ने आठ वर्ष के बालक निजाम शाह को शासक मनोनीत किया और उसके वयस्क होने तक राजमाता मखदूमाजहाँ को, जो सुलतान फीरोज की पौत्री थी, राज-काज चलाने का अधिकार दिया। महमूद गावान की सहायता से राजमाता अपने पति द्वारा सताये लोगों के दुःखों का निवारण करने के कार्य में जुट गई। उसने स्वेच्छाचारी हुमायूँ द्वारा बंदी बनाये गये निर्दोष व्यक्तियों को मुक्त कर दिया और जिन कर्मचारियों को अकारण पद-च्युत किया गया था, उनको पुनः उनके पूर्व-पदों पर नियुक्त किया।

इस नवीन शासन ने पर्याप्त शक्तिमत्ता का परिचय दिया परन्तु एक स्त्री की शासन चलाने की योग्यता के प्रति अविश्वस्त विदेशी राज्य बहमनी राज्य

३४. कवि नजीर ने इस अत्याचारी की मृत्यु से जनता के हर्ष को निम्न पद्यों मे प्रकट किया है—

"हुमायूँ शाह दुनिया से चल बसा है
प्रभु सर्वशक्तिमान् ! कैसा वरदान थी यह हुमायूँ की मृत्यु !
उसकी मृत्यु के दिन संसार आनंदमग्न हो उठा था
अतः उसकी मृत्यु-तिथि 'दुनिया की खुशी' प्रदान करती है।'

'दुनिया की खुशी' के लिए फारसी शब्द 'जौक-ए-जहान' है। इस पद के अक्षरों की संख्या जोड़ने मे ८६५ हि० सन् (१४६०-६१ ई०) आता है। यही उसकी मृत्यु-तिथि है। इण्डि० एंटि०, २८, १८६६ पृ० २४७ की टिप्पणी सं० ८ में जो इनका जोड़ ५८६ लिखा है वह छापे की भूल है।

पर आक्रमण करने की योजनायें बनाने लगे। सबसे पहले उड़ीसा एवं तेलंगाना के राय विशाल सेना लेकर युद्ध-क्षेत्र में उतरे। इस सम्मिलित आक्रमण से अविचलित राजमाता ने अपनी सेना संघटित कर शत्रु को भारी क्षति पहुँचाकर पीछे खदेड़ दिया। परन्तु मालवा के महमूद खिलजी के आक्रमण की तुलना में यह आक्रमण कुछ भी न था। महमूद निर्विरोध बीदर के अत्यन्त समीप पहुँच गया। ख्वाजा जहाँ तथा महमूद गावान आक्रांता का प्रतिरोध करने के लिए आगे बढ़े, परन्तु खिलजी की सेना ने दक्खिनी सेना को करारी हार दी और वह घबड़ाकर तितर-बितर हो गई।[३५] तब खिलजी बीदर की ओर बढ़ा, उसने नगर पर घेरा डाल दिया और आस-पास का प्रदेश नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अमीरों तथा साधारण जनता सभी के मकान भूमिसात किये गये और उनकी सम्पत्ति लूट ली गई। राजमाता अपने पुत्र को लेकर भीमा के तट पर फिरोजाबाद मे चली गई और इस घोर सकट के समय उसने गुजरात के शासक से सहायता की प्रार्थना की। गुजरात के शासक ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और उसकी रक्षा के लिए ससैन्य प्रयाण कर दिया, परन्तु उसके प्रस्थान का समाचार पाकर महमूद खिलजी ने नगर का घेरा उठा लिया और बुरहानपुर तथा असीर होते हुए वह अपने राज्य की ओर लौट गया। अगले वर्ष (१४६२ ई० मे) वह पुन: दौलताबाद होता हुआ दक्खिन की ओर चल पड़ा, परन्तु निजामशाह तथा गुजरात के शासक की मैत्री ने उसको इतना भयभीत कर दिया कि उसने आक्रमण का विचार त्याग दिया और अपने राज्य में लौट आया।

युद्धों से छुट्टी पाकर राजमाता अपने पुत्र के विवाह की तैयारियाँ करने लगी, जो अब तेरह वर्ष का हो चुका था, परन्तु अकस्मात् ३० जुलाई, १४६३ ई० को अपनी स्नेहमयी माता तथा राजसभा को शोकमग्न कर वह इस संसार से कूच कर गया।

तृतीय मुहम्मदशाह—निजामशाह के देहान्त के पश्चात् अमीरों तथा उच्च पदाधिकारियों ने उसके भाई मुहम्मदशाह[३६] को सुलतान मनोनीत किया।

---

३५. 'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने इस पराजय का उल्लेख नहीं किया है। उसने लिखा है कि सेना मे अकस्मात् आतंक छा गया और वह हार खाये बिना ही "गड़रिये से रहित भेड़ों के झुंड के समान रेगिस्तान की ओर भाग खड़ी हुई।" परन्तु यह वर्णन बहमनी राज्य की सम्मान रक्षा के विचार से किया गया जान पड़ता है। बाद की घटनाओं से फरिश्ता के वर्णन का समर्थन होता है। इण्डि० ऐंण्टि०, २८, १८९९, पृ० २७८।

मेनुअल—पृ० १७३।

३६. 'बुरहान-ए मासिर' के लेखक तथा फरिश्ता दोनों ने ही इसको

मुहम्मद अल्पवयस्क था; अतः उसकी माता और ख्वाजाजहाँ, जो शासन-तंत्र का प्रमुख नियंता था, राजकाज चलाने लगे। परन्तु ख्वाजा अपने पद का दुरुपयोग करने लगा और उसने राज-कोष से बहुत-सा धन हड़प कर लिया। अतः राजमाता ने, जिसको ख्वाजा ने महत्त्वहीन-सा बना दिया था, इससे छुटकारा पाने का निश्चय कर लिया। सुलतान ने खुले दरबार में ख्वाजा के कार्यों की निन्दा की और दरबार के एक अमीर द्वारा उसका वध करवा दिया। ख्वाजा का रिक्त पद महमूद गावान को सौंपा गया, जो अब ख्वाजाजहाँ की उपाधि पाकर राज्य का सर्वप्रधान पदाधिकारी बन गया। यद्यपि इस नये मंत्री को अधिकार असीम थे, परन्तु उसने सदैव अधिकारों के उपयोग में सावधानी से काम लिया और ऐसी अटूट लगन के साथ जैसी बहमनी राज्य के इतिहास में अन्यत्र कहीं न दिखाई दी, वह राज्य की सेवा में जुट गया। उसने लड़ाइयाँ लड़ीं, देश विजय किये और "बहमनी राज्य की सीमा का अभूतपूर्व विस्तार किया।" चौदह वर्ष की अवस्था में प्रवेश करने पर सुलतान का विवाह किया गया और राजमाता ने राज्य के कार्यों से अवकाश ग्रहण किया, परन्तु तब भी शासन-प्रबन्ध में उसका अत्यधिक प्रभाव रहा।

अपने पूर्वगामी शासकों के समान मुहम्मद ने भी 'काफिरों' के विरुद्ध 'जिहाद' करने की ठानी और ख्वाजाजहाँ को कोंकण के हिन्दू सरदारों के विरुद्ध भेजा। ख्वाजाजहाँ ने अनेक दुर्ग हस्तगत कर लिए और जब वह सोमेश्वर दुर्ग की ओर बढ़ा तो स्थानीय राय ने भयग्रस्त होकर सन्धि की प्रार्थना की और खलना (वर्तमान बीसलगढ़) का दुर्ग उसके दूतों के हाथ सौंप दिया। लूट का अपार धन लेकर ख्वाजा जहाँ राजधानी में लौट आया। सुलतान ने प्रसन्न होकर उसको उपाधियाँ प्रदान कीं और उसको दरबार के अमीरों में प्रमुख बना दिया। इसके पश्चात् अनेक अभियान किये गये, जिनमें विजय एवं सम्पत्ति दोनों प्राप्त हुईं।[37]

१४७४ ई० में दक्खिन में घोर दुर्भिक्ष पड़ा, जो बीजापुर के दुर्भिक्ष के नाम से प्रसिद्ध है। अनेक जिले इसकी लपेट में आये और इसके कारण जनता को अपार कष्ट सहने पड़े।

द्वितीय मुहम्मद शाह लिखा है, परन्तु यह भूल है। इससे पहले मुहम्मद नाम के दो शासक हो चुके थे, अतः यह इस नाम का तीसरा शासक था। इस परिच्छेद के अन्त में बहमनी सुलतानों की वंशावली देखिए।

३७. एक अभियान उड़ीसा के राजा पर किया गया जिसको कर देने के लिए बाध्य किया गया तथा दूसरा राय नरसिंह पर जिसने ७,००,००० पदाति एवं ५०० हाथियों की सेना लेकर सामना किया परन्तु अन्ततः परास्त हुआ। इण्डि० एण्टि०, २८, १८९९, पृ० २८८।

बीदर में एथनेसियम निकितिन का आगमन—सन् १४७० ई० में एथनेसियन निकितिन नामक एक रूसी व्यापारी बीदर में आया। उसने इस देश, यहाँ के शासन-प्रबन्ध तथा जन-जीवन के विषय में निम्नलिखित बातें लिखी हैं—

सुलतान—"सुलतान छोटे कद का, बीस वर्ष की वय का, अमीरों का वशवर्ती पुरुष है। खुरासानी लोग देश का शासन करते हैं और युद्धों के अवसर पर राज्य की सेवा करते हैं। मलिक तूची नाम का एक खुरासानी सामंत (बोयर) है जिसके अधिकार में २,००,००० सैनिक हैं, मलिक खाँ १,००००० सैनिक रखता है, सरात खाँ २०,००० और अन्य अनेक खान हैं जिनके पास १०,००० सशस्त्र लोग हैं।"

अमीर—"सुलतान अपनी निजी सेना के ३,००,००० लोगों के साथ बाहर निकलता है। देश लोगों से बहुत भरा है; परन्तु देहात के लोगों की दशा शोचनीय है, जब कि अमीर अत्यधिक धन-सम्पन्न और विलास-प्रिय हैं। उनका यह स्वभाव है कि वह चाँदी के आसनों पर बाहर निकलते हैं, ५० स्वर्णालंकृत घोड़े उनकी सवारी के आगे, तथा ३०० अश्वारोही, ५०० पदाति, दुन्दुभिधारी तथा १० मसालवाले और १० गायक पीछे चलते हैं।"

सुलतान के आखेट—"सुलतान अपनी माता तथा बेगम को साथ लेकर आखेट के लिए जाता है; उसके साथ १०,००० अश्वारोही, ५०,००० पदाति, स्वर्ण-खचित वस्त्रों से सजे २०० हाथी और आगे-आगे १०० अश्वारोही, १०० नाचनेवाले सुनहले वस्त्रों से सजे ३०० साधारण घोड़े, १०० बंदर तथा १०० रखेल—यह सब विदेशी होती हैं—चलती हैं।"

सुलतान का प्रासाद—"सुलतान के प्रासाद में सात प्रवेश द्वार हैं और प्रत्येक द्वार पर १०० रक्षक तथा १०० मुसलमान लेखक जो प्रत्येक आने-जाने-वाले का नाम लिख लेते हैं, बैठे रहते हैं। विदेशियों को नगर-प्रवेश की आज्ञा नहीं है। यह प्रासाद अद्‌भुत है; इसमें प्रत्येक वस्तु पर नक्काशी अथवा सोने का काम किया हुआ है और छोटे से छोटा पत्थर भी आश्चर्यजनक रूप से काटा हुआ तथा स्वर्णमंडित है। इस भवन में अनेक न्यायाधिकरण हैं। १,००० कवचधारी एवं मसाल लिए हुए कोतवाल सारी रात बीदर नगर में पहरा देते हैं।"

काञ्ची पर धावा—परन्तु इस सुलतान का सबसे प्रसिद्ध धावा काञ्ची अथवा काञ्जीवरम् पर हुआ। यह आक्रमण विजयनगर के राय नरसिंह के विरुद्ध युद्ध करते समय किया गया था। काञ्ची हिन्दुओं का तीर्थ-स्थान था

और वहाँ अनेक देवालय थे जो "उस काल के आश्चर्य थे और गुप्त कोषों, रत्नों एवं बहुमूल्य मोतियों तथा असंख्य सुन्दर कलाओं से परिपूर्ण थे।"

सुलतान ने कोंडापल्ली में डेरा डाल दिया; निजामुलमुल्क बहरी तथा यूसुफ खाँ तुर्क को साथ लेकर वह बलपूर्वक आगे बढ़ता हुआ १२ मार्च, १४८१ ई० को काञ्ची पहुँच गया। मंदिर के अन्दर से हिन्दुओं के दल मधुमक्खियों के समान बाहर निकल पड़े और देवालय की रक्षा के लिए हथेली पर जान रखकर युद्ध करने लगे। परन्तु उनका धर्मोत्साह कुछ भी काम न आया, क्योंकि सुलतान [illegible] सामग्री प्राप्त हो गई थी, प्रबल आक्र[illegible] । विजेताओं के हाथ अपरिमित सम्प[illegible] के लेखक के कथनानुसार "नगर को तथा इसके मन्दिरों को जमीन से मिला दिया और कुफ्र के सारे निशान मिटा दिये।"

यह विश्वास कर लेना कठिन है कि मुसलमानों ने काञ्ची के सब मंदिरों को ध्वस्त कर दिया, क्योंकि आज भी उस काल के कुछ भव्य देवालय वहाँ विद्यमान हैं। इस प्रसंग में फरिश्ता का वर्णन, जो बुरहान-ए-मासिर के वर्णन जैसा अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है, अधिक विश्वसनीय है।

शासन-प्रबन्ध—महमूद गावान शासन-प्रबन्ध में अत्यन्त कुशल था। उसने राज्य के सैनिक विभाग को व्यवस्थित किया और अमीरों की बढ़ती हुई शक्ति एवं अधिकारों को रोकने के उद्देश्य से उसने सेना का नियन्त्रण पूर्णतया सुलतान के हाथों सौंप दिया। राज्य में दो दल थे—एक दक्खिनियों का और दूसरा फारसवासी, अरब, मुगल, तुर्क आदि विदेशियों का। इन दलों का पारस्परिक कलह बहुत दुखदाई था, परन्तु महमूद गावान को अपने स्वामी का विश्वास पूर्णतया प्राप्त था। अत वह अपनी सुधार की योजनाओं को सफल बना सका। राज्य का कोई भी विभाग उसकी दृष्टि से दूर न रह पाया। उसने अर्थव्यवस्था की, शासन-तंत्र में सुधार किये, सार्वजनिक शिक्षा को प्रोत्साहित किया और भूमिकर को न्याय-संगत एवं सबके लिए समान बनाने के लिए गाँवों की भूमि की नाप-जोख कराई। भ्रष्टाचार समाप्त किया गया और अन्यायपूर्वक धन वसूलनेवालों की खबर ली गई। सेना में सुधार किया गया, अनुशासन लाया गया और सैनिकों की दशा सुधारी गई।

महमूद गावान की हत्या—गावान की सफलताओं एवं प्रभाव को देखकर दक्खिनी अमीर ईर्ष्या से जलने लगे, और उन्होंने उसके प्राण लेने का कुचक्र रचा। उन्होंने मंत्री की मोहर रखनेवाले को अपनी ओर मिला लिया और एक कोरे कागज पर मंत्री की मोहर लगवा ली। इस कागज पर उन्होंने गावान की ओर से विजयनगर के राय नरसिंह के लिए कुछ ऐसी बातें लिख दीं जो

बहमनी राज्य के लिए द्रोहपूर्ण थी। इसके बाद यह कागज सुलतान के सामने रखा गया। ख्वाजा के शत्रु सुलतान के कान भरते आ रहे थे। यह पत्र देखकर तो उसके क्रोध की कोई सीमा न रही। उसने ख्वाजा को अपने निजी कक्ष में बुलाया और इस जाली पत्र की कुछ भी जाँच न कर शराब के नशे में ख्वाजा का तत्काल वध कर देने की आज्ञा दे दी। ख्वाजा ने अपनी निर्दोषिता की पुकार की[38] परन्तु सुलतान ने इस पर भी ध्यान न दिया। इस प्रकार ५ अप्रैल सन् १४८१ ई० को इस सम्भ्रांत मंत्री की, जिसने अनेक विजयों से तथा अनेक सुधारों से बहमनी राज्य की शक्ति बढ़ाई थी, जल्लाद के हाथों हत्या हुई। बाद में सुलतान को ज्ञात हो गया कि ख्वाजा के शत्रुओं ने उसके साथ चाल खेली थी, परन्तु ख्वाजा के वध से सुलतान को तथा राज्य को जो क्षति उठानी पड़ी उसकी पूर्ति न हो सकी। आश्चर्यजनक शीघ्रता से राज्य में अव्यवस्था फैलने लगी और दुःख एवं पश्चात्ताप से संतप्त सुलतान अपने राज्य को अराजकता एवं कुशासन का शिकार बनाकर १२ महीने बाद ही संसार से कूच कर गया।

महमूद गावान का चरित्र एवं उसकी उपलब्धियाँ—मध्यकाल के राजनीतिज्ञों में महमूद गावान बहुत उच्च कोटि का अधिकारी है। मीडोज टेलर महोदय ने ठीक लिखा है कि उसके साथ बहमनी राज्य की एकसूत्रता एवं शक्ति भी चल बसी।[39] उसके समस्त जीवन-कार्य को एक शब्द में व्यक्त किया जा सकता है और वह है निष्ठा। बहमनी वंश की सेवा में उसकी निष्ठा थी, राज्य के सीमा-विस्तार में उसकी निष्ठा थी और शासन-तंत्र के सुधार में उसकी निष्ठा थी। उसने राज्य की शक्ति सुदृढ़ करने के लिए युद्ध किये, शासन-तंत्र में सुधार किये और जब वह शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर भी

जिसको देखकर ख्वाजा ... यह स्पष्ट जालसाजी है। ... में क्रूर सुलतान ने अपने ... का सिर धड़ से अलग कर दिया।

... फरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० ... 'बुरहान-ए-मआसिर' इण्डि० एण्टि० २८, १८९९, पृ० २९१;

३९. मैनुअल—पृ० १७७।

चढ़ गया, तब भी धनहीनों की भलाई करना न भूला। सादा जीवन, आपत्तिकाल मे साहस एवं दृढ़ता, स्वभाव में उदारता एवं विशाल-हृदयता, न्याय एवं उपकार-प्रियता, निरकुश शासन-तत्र में साधारणतया सुलभ प्रलोभनों के प्रति उपेक्षा, ऐसे समय में जब बड़े लोगों के घोर दुराचारों की ओर से लोग आंखे मूंद लेते थे उसकी आदर्श नैतिकता—यह सब गुण उसमें विद्यमान थे और सभी मुसलमान इतिहासकारों ने इस बात को एक स्वर से स्वीकार किया है। परन्तु इन इतिहासकारों, का यह कथन कि महमूद गावान मुसलमानों से भिन्न लोगों के विनाश मे अत्यन्त उत्साही था तथा अपने स्वामियों के समान ही उग्रता एव रक्त-पिपासुता प्रदर्शित करता था, सर्वथा स्वीकार्य नही है। अपने गुणों के बल पर ही उसने राज्य मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था और मृत्यु-पर्यंत इस स्थान पर बना रहा। उसकी आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थी; वह एक चटाई पर सोता था और उसका भोजन मिट्टी के पात्रो मे बनता था। शुक्रवार की रात्रि को वह सादे वस्त्र पहनकर नगर के विभिन्न मुहल्लों में निर्धनों एवं असहायो की सहायता करता हुआ घूमता था। अपने कोष को उसने दो भागों में बांटा था—एक राजकोष जिसमें से वह उन विशाल कार्यालयों का खर्च चलाता था, जो शासन-प्रबन्ध के लिए खोले गये थे और दूसरा व्यक्तिगत कोष जिसमें से वह अनुदान-सम्बन्धी व्यय किया करता था। गिलान से वह अपने साथ ४,००० 'लड़ियां' लाया था जिनसे वह वाणिज्य करता था और इसकी आय से वह प्रतिदिन १२ 'लडियां' अपने निजी व्यय के लिए लेता था और शेष धन का आधा भाग दान मे व्यय करता तथा आधा भाग अपने दूरस्थ संबंधियों को भेज देता था। वह बहुत विद्या-व्यसनी था और उसके पास ३,००० पुस्तकों का संग्रह था जो बीदर मे उसके विद्यालय[४०] मे रखी रहती थी जहां वह अपना खाली समय विद्वानों की संगति में बिताता था। वह गणित, चिकित्सा-शास्त्र तथा साहित्य मे निष्णात था और उसमें काव्य रचना की अद्भुत प्रतिभा थी। फरिश्ता ने उसको दो काव्य-ग्रंथों 'रौजत-उल-इन्शा' तथा 'दीवान-ए-अश्र' की रचना का श्रेय दिया है। इससे उसके बुद्धि-वैभव का पता लगता है। यद्यपि ख्वाजा बहुत विद्वान् एवं सदाचारी था परन्तु वह अपने समय की संकुचित कट्टर धार्मिकता से ऊपर न उठ सका, और उसके धार्मिक विचार मध्यकालीन धर्मविधिज्ञों जैसे ही बने रहे। फिर

४०. यह विद्यालय इतने सुन्दर ढंग से बना था कि जान पड़ता था जैसे अभी-अभी बना हो, परन्तु औरंगजेब के समय मे एक बारूद के धड़ाके से इसकी बहुत क्षति हुई थी।
ब्रिग्ज—२, पृ० ५१०।

भी, बीदर की राजसभा में होनेवाले क्रूर-कर्मो, नर-संहारों एवं विलासिताओं से दूर जनता के हित के सम्मुख निजी सुखों की अवहेलना करनेवाले इस मंत्री का पवित्र एवं संयमित जीवन सचमुच प्रशंसनीय है। ऐसे महान् एवं कर्मनिष्ठ व्यक्ति का क्रूर वध बहमनी साम्राज्य के लिए महान् संकट बन गया और इससे उस के पतन को गति प्राप्त हुई।

बहमनी राज्य का पतन—१४८२ ई० में मुहम्मदशाह का देहान्त हो गया और तब उसका १२ वर्ष का पुत्र महमूदशाह सुलतान बना। वयस्क होने पर यह सुलतान दुराचारी बन गया और भांडो और मसखरों की संगति में समय बिताने लगा। इतिहासकार लिखता है कि "अपने शासक का अनुकरण कर प्रजा भी विलासिता को छोड़ अन्य किसी बात में ध्यान न देने लगी। सम्मानित संत मदिरापात्रों मे अपने वस्त्रों तक को डुबाने लगे और धर्माचार्य विद्यालयों को छोड़कर मदिरालयों में जा बिराजे और पान-गोष्ठियों का सभापतित्व ग्रहण करने लगे।" निस्सन्देह यह वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण है परन्तु इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि शासक के आचरण का जनता पर बुरा प्रभाव पडा। सुलतान स्थिति सँभालने के योग्य न था, अतः चारों ओर अव्यवस्था फैलने लगी और प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र होने लगे। सर्वप्रथम बीजापुर में यूसुफ आदिलशाह ने स्वतन्त्रता की घोषणा की। अहमदनगर के प्रान्तीय शासक मलिक अहमद ने उसका अनुकरण कर अहमदनगर में स्वतंत्र निजामशाही वंश की नींव डाल दी। बरार में इमादुलमुल्क ने बुरहानपुर में अपने नाम का 'खुतबा' पढ़वाया और सन् १५१० ई० में कासिम बरीद[४१] की मृत्यु के पश्चात्, जिसने बीदर में प्रमुखता प्राप्त कर ली थी और सुलतान को अपने वश में कर लिया था, कुतुब-उल-मुल्क ने गोलकुंडा में स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। अब गोलकुंडा राज्य बीदर तथा आसपास के प्रान्तों तक ही सीमित रह गया। नया मंत्री अमीर बरीद वास्तव में शासक था, और महमूद को उसने अपना दास-सा बना लिया था। १५१८ ई० में महमूद की मृत्यु के पश्चात् बहमनी-वंश वास्तव मे समाप्त हो गया। यद्यपि महमूद के पश्चात् बहमनी-वंश के तीन सुलतान सिंहासनासीन हुए, परन्तु वह नाममात्र

४१. यह वास्तव में एक जार्जिया-निवासी दास था परन्तु महमूद बहमनी के समय में जो इसके हाथ का खिलौना-सा था, यह मंत्री बन गया था। इसका पुत्र भी १५२७ ई० तक इसी पद पर बना रहा। जब कि अन्तिम बहमनी सुलतान कलीम उल्ला अपने खोये अधिकारों को प्राप्त करने में हताश होकर अहमदनगर भाग गया, तब अमीर बरीद ने शासक का पद ग्रहण किया।

के सुलतान थे। इस वंश के अन्तिम शासक कलीम-उल्ला खाँ ने, जो १५२४ ई० में राजगद्दी पर बैठा था, अपने वंश के खोये अधिकार को पुनः प्राप्त करने के लिए बाबर से सहायता माँगी, परन्तु उसकी प्रार्थना पर ध्यान न दिया गया। उसकी मृत्यु के साथ बहमनी वंश भी १७८ वर्ष तक शासन कर समाप्त हो गया।

बहमनी राज्य निम्नलिखित स्वतंत्र राज्यों में बँट गया—

(१) बरार में इमादशाही वंश का राज्य।
(२) अहमदनगर में निजामशाही वंश का राज्य।
(३) बीजापुर में आदिलशाही वंश का राज्य।
(४) गोलकुंडा में कुतुबशाही वंश का राज्य।
(५) बीदर में बरीदशाही वंश का राज्य।

बहमनी वंश के शासन का सिंहावलोकन—बहमनी वंश में सब मिलाकर चौदह शासक हुए, जिनमें से कुछ को छोड़कर शेष सब रक्तपिपासु, अत्याचारी, उग्र एवं हृदयहीन तथा हिन्दुओं का वध करनेवाले और उनकी हत्या में गौरव का अनुभव करनेवाले हुए। इस वंश का संस्थापक निम्न श्रेणी से शासक के गौरवशाली पद पर आसीन हुआ था और दिल्ली में उसने शासन-प्रबन्ध का जो अनुभव प्राप्त कर लिया था, उसने उसको सुव्यवस्थित शासन-तंत्र स्थापित करने में बहुत सहायता दी। योग्य शासक होने पर भी हसन हिन्दू प्रजा के वध की स्वीकृति दे देता था। उसके बाद के शासक अधिकांश में विलासी एवं अमानुषिक रूप से अत्याचारी थे और उनकी शासन की नीति शासन-तंत्र की वास्तविक निपुणता को बढ़ानेवाली न थी। दक्खिनी तथा विदेशी अमीरों के पारस्परिक विद्वेष के कारण, सम्भवतः महमूद गवान के समय को छोड़कर, अन्य किसी भी समय शासन-प्रबन्ध सुधार न बन सका और बहमनी शासकों ने इस कलह को समाप्त करने का कभी प्रयत्न भी न किया। हिन्दुओं के प्रति अनावश्यक कठोरता दिखाई गई; यह सत्य है कि उनको शासन-तंत्र में निम्नश्रेणी के पदों पर नियुक्त किया गया, क्योंकि शासन-प्रबन्ध के ज्ञान एवं अनुभव में वह दूसरों से बढ़कर थे और इसलिए उनके बिना काम नहीं चल सकता था, परन्तु उच्च पद उनको अप्राप्य रहे। गाँवों का स्व ... और जब कभी बहमनी सुलतान अपने ... राज्य पर आक्रमण भी करते थे, ... छेड़छाड़ न करते थे और किसान भी बीदर अथवा विजयनगर की राजनीत

थे तटस्थ रहकर अपने खेतों को जोतने में लगे रहते। गावान के भूमि-कर सम्बन्धी सुधारों से कर उगाहने की व्यवस्था सुधर गई थी; किसानों को अधिकार दिया गया था कि वह स्वेच्छानुसार नकदी अथवा अनाज के रूप में लगान दें। एथनेसियस निकितिन ने बहमनी राज्य की दशा का रोचक वर्णन किया है। उसने लिखा है कि देश खूब आबाद था, खेतों की दशा अच्छी थी, सड़कें डाकुओं के भय से मुक्त थीं और राजधानी एक वैभव सम्पन्न तथा उद्यानों से सुशोभित नगरी थी। इस यात्री ने राजसभा के वैभव, अमीरों की अतुल सम्पत्ति के साथ ही निरीह प्रजा की विपन्नावस्था का भी वर्णन किया है और लिखा है कि एक ओर अमीर लोग अत्यधिक विलासिता का आनन्द लेते थे परन्तु दूसरी ओर देहात के लोग अत्यन्त विपन्नावस्था के दुःख भोगते थे। निकितिन के इस वर्णन से, जो केवल एक सुलतान के और वह भी निकृष्टतम शासक के शासन को देखकर किया गया है, विंसेण्ट स्मिथ ने यह निष्कर्ष निकाला कि सशस्त्र पुरुषों, स्त्रियों तथा पशुओं के इस अत्यधिक विशाल समवाय ने, जो अल्पसंख्यक विलासी एवं स्वार्थपरायण अमीरों द्वारा नियन्त्रित था, देश को पूरी तरह चूस लिया होगा। परन्तु स्मिथ महोदय यह भूल गये हैं कि मध्य-युग में राजकीय संस्था का विशाल होना ही नियम था, अपवाद नहीं। चौदहवीं शताब्दी में तुगलक सुलतान तथा सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी में मुगल बादशाह अपने वैभव के प्रदर्शन में विशाल धन-राशि व्यय करते थे। मध्ययुगीन शासक चाहे वह पूर्वीय देशों के रहे हों अथवा पश्चिमी देशों के—अपने वैभव-प्रदर्शन में जनता का धन पानी की तरह बहाते थे और इसका सीधा-सा कारण यह था कि उस युग में वह समस्यायें न उठी थीं जिनका आधुनिक राज्यों को सामना करना पड़ता है। बहमनी सुलतान अपने शत्रुओं के राज्यों को खूब लूटते थे और प्रत्येक विजय के साथ अपार धन-राशि उनके कोष में

ता कि उन्होंने

इसके विपरीत

के लिए सिंचाई

की सुविधायें उपस्थित की। बहमनी सुलतान—कभी-कभी इनमें से अत्यधिक अत्याचारी शासक तक—विद्या एवं कला के संरक्षक थे और शिक्षा को

४२. हिन्दुओं को शान्तिपूर्वक खेती करने दी जाती थी। अन्तर केवल यही था कि उनको हिन्दुओं के बजाय मुसलमान जमींदारों को कर देना पड़ता था। ग्रिब्ले 'हिस्ट्री ऑव दि डेक्कन', पृ० २०४।

उसका समर्थन करना कठिन है परन्तु प्रसिद्ध विद्वान् विंसेंट स्मिथ के अति प्रशंसनीय 'भारतवर्ष के इतिहास' में उनकी जैसी भर्त्सना की गई है, उसको मान लेना भी उतना ही कठिन है।

दक्षिण के पाँच मुसलमान राज्य

बरार—इमादशाही वंश के शासन की नींव फतहउल्ला इमादशाह ने डाली। यह पहले कर्नाटक का एक हिन्दू था और धर्म-त्याग कर मुसलमान बना था। उसने बरार में बहमनी सुलतान के प्रतिनिधि शासक खान-ए-जहाँ की सेवा में रहकर अपनी योग्यता का परिचय दिया था और बाद में इस पद पर प्रतिष्ठित हुआ था। सबसे पहले वह बहमनी राज्य से अलग हुआ और उसके वंश की स्वतन्त्रता १४८४ ई० से आरम्भ होती है। १५७४ ई० तक यह वंश राज्य करता रहा और इसके बाद यह निजामशाही राज्य में मिला लिया गया।

बीजापुर—यूसुफ आदिल खाँ ने आदिलशाही वंश के शासन की नींव डाली। अपने जीवन के प्रारम्भकाल में वह एक जार्जिया-निवासी दास के रूप में सर्वविदित था, और महमूद गावान ने उसको क्रय किया था। परन्तु फरिश्ता का कहना है कि वास्तव में वह राजघराने का था। वह तुर्की के सुलतान द्वितीय महमूद का, जिसकी १४५१ ई० में मृत्यु हुई थी, पुत्र था सुलतान महमूद की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद सुलतान बना और उसने राज-परिवार की समस्त पुरुष-संतति को समाप्त कर देने की आज्ञा दी। परन्तु यूसुफ की माता ने अद्भुत चतुराई से यूसुफ के स्थान पर एक दास-बालक रख दिया और यूसुफ को एक फारस के व्यापारी के हाथ सौंप दिया। यूसुफ फारस में रहने लगा, परन्तु वहाँ अपने आपको अरक्षित जानकर वह भारत चला आया। यहाँ अपने स्वामी महमूद गावान की कृपा से, जो उसको पुत्रवत् समझता था, वह उन्नति करता गया। बहमनी राज्य

फरिश्ता ने बीजापुर के राजाओं का विस्तृत इतिहास लिखा है जो राजकीय संरक्षण में लिखाये गये अन्य इतिहासों से अधिक तथ्यपूर्ण है। फरिश्ता १५८९ ई० में बीजापुर पहुँचा था और इब्राहिम आदिल-शाह ने उसका खूब स्वागत किया था। वहाँ अपने शाही आश्रयदाता की सहायता से उसने बीजापुर का इतिहास लिखना आरम्भ किया और संभवतः १५९६ ई० तक पूरा कर लिया।

इस इतिहास की हस्तलिपियाँ उपलब्ध हैं। स्काट ने इसका अँगरेजी में अनुवाद किया है और नवलकिशोर प्रेस ने इसका एक सुन्दर संस्करण निकाला है।

प्रोत्साहन देते रहते थे।[४३] गावों तथा नगरों में मस्जिदें बनाई गई थी, जहाँ मुल्ला लोग मुसलमान लड़कों को शिक्षा देते थे और दक्खिन के अधिकांश गाँवों में आज तक बहमनी सुलतानों के अनुदान चले आ रहे है। महमूद गावान का विद्यालय एक विशाल संस्था थी, जिसको स्वयं यह मंत्री अनुदान देता था और इसमें ३,००० पुस्तकों का संग्रह था।

बहमनी सुलतानों ने कुछ अन्य मुसलमान शासकों के समान विशाल भवनों का निर्माण नही कराया। तत्कालीन लेखकों ने बीदर को भव्य एवं विशाल भवनो से भरपूर नगर बताया है। बहमनी सुलतानों के समय में अनेक दुर्ग बनाये गये, जिनके विषय मे मैंडोज टेलर ने थोड़ी सी अतिशयोक्ति के साथ लिखा है कि यह दुर्ग "आकार की विशालता, पर्वतीय दुर्ग एव बनावट की निपुणता के चुने हुए नमूने है।" ग्वालीगढ़ एवं नारनल्ला दुर्ग ऐसी वास्तु-कला के उदाहरण हैं। पारेन्दा तथा औसा जैसे अन्य भी इस काल के दुर्ग है जो सामरिक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।[४४]

परन्तु, यह सब होने पर भी, यह मानना पड़ता है कि बहमनी वंश के इतिहास में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनकी तीव्र निन्दा की जानी चाहिए। इस वंश का इतिहास आयोजित हत्याओं, नर-संहारों, देवालयों के विध्वंस तथा राजसभा में प्रतिदिन चलनेवाली घृणित विलासक्रीडाओं से भरा है। राजकीय सेना बहुधा अनुशासनहीन भीड़ का-सा आचरण करती थी और जनता को सताती थी। बलात् धर्म-परिवर्तन से शासकों तथा हिन्दू-प्रजा के बीच कटुता उत्पन्न हो गई थी। परन्तु बहमनी शासकों के कार्यों की आलोचना आधुनिक काल के आदर्शों के अनुसार करनी उचित नही है। चौदहवी शताब्दी के योरोप के शासक भी भिन्न मतावलम्बी ईसाइयो को जीवित जला देते थे और अपने से भिन्न सम्प्रदायों के दमन के लिए घोर अत्याचार करते थे। बहमनी सुलतानों ने भी अपने से भिन्न धर्मावलम्बियों के प्रति इन्हीं जैसा व्यवहार किया। मैंडोज टेलर ने[४५] बहमनी सुलतानों की जो मुक्तकंठ से प्रशंसा की है

४३. 'लॉ, प्रोमोशन ऑव लर्निंग इन इंडिया ड्यूरिंग मुहम्मदन रूल,' पृ० ८०-६१।

फरग्यूसन—'आर्किटेक्चर एट बीजापुर' पृ० १२।

४४. पारेन्दा गुलबर्गा से ७० मील उत्तर-पश्चिम की ओर है और औसा गुलबर्गा से उत्तर-उत्तर-पश्चिम की ओर ७० मील है।

४५. मैनुअल पृ० १८६।

'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २८३।

उसका समर्थन करना कठिन है परन्तु प्रसिद्ध विद्वान् विंसेंट स्मिथ के अति प्रशंसनीय 'भारतवर्ष के इतिहास' मे उनकी जैसी भर्त्सना की गई है, उसको मान लेना भी उतना ही कठिन है।

दक्षिण के पाँच मुसलमान राज्य

बरार—इमादशाही वंश के शासन की नीव फतहउल्ला इमादशाह ने डाली। यह पहले कर्नाटक का एक हिन्दू था और धर्म-त्याग कर मुसलमान बना था। उसने बरार मे बहमनी सुलतान के प्रतिनिधि शासक खान-ए-जहाँ की सेवा मे रहकर अपनी योग्यता का परिचय दिया था और बाद मे इस पद पर प्रतिष्ठित हुआ था। सबसे पहले वह बहमनी राज्य से अलग हुआ और उसके वंश की स्वतन्त्रता १४८४ ई० से आरम्भ होती है। १५७४ ई० तक यह वंश राज्य करता रहा और इसके बाद यह निजामशाही राज्य मे मिला लिया गया।

बीजापुर—यूसुफ आदिल खाँ ने आदिलशाही वंश के शासन की नीव डाली। अपने जीवन के प्रारम्भकाल में वह एक जार्जिया-निवासी दास के रूप मे सर्वविदित था, और महमूद गावान ने उसको क्रय किया था। परन्तु फरिश्ता का कहना है कि वास्तव मे वह राजघराने का था। वह तुर्की के सुलतान द्वितीय महमूद का, जिसकी १४५१ ई० में मृत्यु हुई थी, पुत्र था सुलतान महमूद की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद सुलतान बना और उसने राज-परिवार की समस्त पुरुष-संतति को समाप्त कर देने की आज्ञा दी। परन्तु यूसुफ की माता ने अद्भुत चतुराई से यूसुफ के स्थान पर एक दास-बालक रख दिया और यूसुफ को एक फारस के व्यापारी के हाथ सौंप दिया। यूसुफ फारस में रहने लगा, परन्तु वहाँ अपने आपको अरक्षित जानकर वह भारत चला आया। यहाँ अपने स्वामी महमूद गावान की कृपा से, जो उसको पुत्रवत् समझता था, वह उन्नति करता गया। बहमनी राज्य

फरिश्ता ने बीजापुर के राजाओं का विस्तृत इतिहास लिखा है जो राजकीय संरक्षण में लिखाये गये अन्य इतिहासो से अधिक तथ्यपूर्ण है।
फरिश्ता १५८६ ई० मे बीजापुर पहुँचा था और इब्राहिम आदिल-शाह ने उसका खूब स्वागत किया था। वहाँ अपने शाही आश्रयदाता की सहायता से उसने बीजापुर का इतिहास लिखना आरम्भ किया और संभवतः १५९६ ई० तक पूरा कर लिया।

इस इतिहास की हस्तलिपियाँ उपलब्ध हैं। स्काट ने इसका अँगरेजी में अनुवाद किया है और नवलकिशोर प्रेस ने इसका एक सुन्दर संस्करण निकाला है।

को पतनोन्मुख देखकर उसने १४८९ ई० में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और बीजापुर को राजधानी बनाकर अपने लिए एक राज्य बना लिया।

कासिम बरीद के रूप में यूसुफ आदिल का एक दुर्दान्त शत्रु से पाला पड़ा, जो उसके विरुद्ध कुचक्र रचता रहा और विजयनगर के राय को बीजापुर पर आक्रमण करने के लिए उकसाता रहा। नरसिंह राय ने बरीद के प्रस्ताव का सहर्ष स्वागत किया, परन्तु वह अपने सहयोगियों सहित परास्त हुआ और इस पराजय से यह संघ भी समाप्त हो गया। हिन्दू सेना समर-भूमि से भाग खड़ी हुई, उसका शिविर लूटा गया और यूसुफ आदिलशाह की सेना के हाथ लूट में विपुल सम्पत्ति लगी। १४९५ ई० में गुलबर्गा के प्रांताध्यक्ष दस्तूर दीनार ने विद्रोह कर दिया; कासिम बरीद ने इस विद्रोही का दमन करने के लिए यूसुफ से सहायता माँगी। यूसुफ ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली; विद्रोही परास्त हुआ और कासिम बरीद ने उसको मारना चाहा, परन्तु यूसुफ ने बीच में पड़कर उसकी जान बचा ली और उसको गुलबर्गा का शासन-भार पुनः दिलवा दिया। बाद में यूसुफ ने गुलबर्गा को अपने अधिकार में लेना चाहा, जिससे कासिम बरीद अपने राज्य से वियुक्त हो जाय। कासिम बरीद ने उसका प्रतिरोध किया, परन्तु हार गया। दस्तूर दीनार ने भी कुछ हब्शियों की सहायता से युद्ध करने का निश्चय किया, परन्तु एक झड़प में वह मारा गया।

इस विजय से आदिलशाह की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई और बीजापुर की राजगद्दी पर उसका अधिकार दृढ़ हो गया। १५०२ ई० में उसने एक पुरानी शपथ के अनुसार शिया सम्प्रदाय को राज-धर्म घोषित किया और इस कार्य में उसने बड़ी सावधानी से काम लिया। सुन्नियों के प्रति पूर्ण सहनशीलता का भाव दिखाया गया और एक आज्ञा प्रचारित की गई कि किसी को अपना धर्म छोड़ने के लिए बाध्य न किया जाय। इसके परिणाम-स्वरूप उसके विरुद्ध बवंडर-सा उठ खड़ा हुआ और पड़ोसी राज्यों ने उसका विरोध करने के लिए संघ बना लिया। अपने विरुद्ध यह घोर संकट आया देख वह भागकर बरार के इमादशाह के पास गया। कुशल राजनीतिज्ञ इमादशाह ने उसको सुन्नी सम्प्रदाय को पुनः राजधर्म घोषित करने तथा खानदेश चले जाने का परामर्श दिया जो उसने स्वीकार कर लिया। इसी बीच इमादुलमुल्क ने मित्र-राज्यों को लिखा कि अमीर बरीद अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए उनकी शक्ति का उपयोग कर रहा था। अहमदनगर तथा गोलकुण्डा के सुलतान युद्ध-क्षेत्र से हट गये और यूसुफ आदिलशाह से लड़ने के लिए अमीर बरीद अकेला रह गया। अब यूसुफ का कार्य सरल हो गया; उसने अमीर बरीद

को परास्त कर दिया और विजयी होकर बीजापुर में प्रवेश किया। १५१० ई० में पुर्तगालियों ने सुलतान के प्रिय निवास-स्थान गोआ पर अधिकार कर लिया। उसने पर्याप्त सेना लेकर पुर्तगालियों का सामना करने के लिए प्रयाण किया और गोआ को उनसे छीन लिया। परन्तु थोड़े समय पश्चात् उसका देहान्त हो जाने के कारण पुर्तगालियों ने बड़ी सरलतापूर्वक आक्रमण कर गोआ पर पुनः अधिकार कर लिया।

यूसुफ आदिलशाह दक्षिण के प्रसिद्धतम शासकों में से है। वह ही उस काल का एक ऐसा मुसलमान शासक था जो धर्मोन्माद से मुक्त था और अपनी हिन्दू प्रजा के साथ सहिष्णुता का व्यवहार रखता था। उसने मुकुन्दराव नामक एक मराठा सरदार की, जिसको उसने हराया था, पुत्री से विवाह किया था[46] और बहुत कुछ इस रमणी के प्रभाव से यूसुफ धार्मिक बातों में इतना सहिष्णु बन गया था। यूसुफ ने विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया और फारस, तुर्किस्तान तथा रूम से अनेक विद्वान् उसकी राजसभा में आये। उसका व्यक्तिगत जीवन पवित्र था; अन्य मुसलमान शासकों के समान उसने 'हरम' न रखा था और न ही वह निजी सुख-भोगों में धन व्यय करता था। उसने हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त किया और विशेषाधिकार तथा उपाधियाँ प्रदान करते समय उसने अपनी प्रजा के विभिन्न वर्गों में कभी भेदभाव न रखा। किसी का धर्म उसकी राज-सेवा में नियुक्ति में बाधक न समझा गया। फरिश्ता ने उसकी बहुत प्रशंसा की है और लिखा है कि वह "आकृति में सुन्दर, भाषण में पटु, तथा विद्या, उदारता एवं वीरता में विख्यात था।" इसी इतिहासकार ने आगे लिखा है कि यद्यपि यूसुफ सुख-भोग एवं राज-काज दोनों ही साथ-साथ करता था, परन्तु उसने कभी भी सुख-भोगों को राज-काज में बाधक न बनने दिया और अपने मन्त्रियों को वह सदैव न्यायपूर्वक एवं सच्चाई से कार्य करने की चेतावनी देता रहता था तथा स्वयं अपने आचरण से उसने उनके सामने इन गुणों का आदर्श उपस्थित कर दिया था।

इस्माइल आदिलशाह—१५१०-१५३४ ई०—सिंहासनारूढ़ होने के समय इस्लाम की अवस्था केवल नौ वर्ष की थी; अतः कमाल खाँ नाम का एक अनुभवी पदाधिकारी, जिसको यूसुफ आदिल मरते समय अपने अल्पवयस्क

---

४६. इस रमणी का नाम बूबूजी खानम था। इससे यूसुफ के एक पुत्र तथा तीन कन्यायें हुई जिनका विवाह उसने दक्षिण के तीन सुलतानों से कर दिया जिससे उसकी अपनी शक्ति सुदृढ़ हो जाये। बूबूजी खानम बहुत योग्य एवं महदाकांक्षिणी नारी थी और उस काल की हलचलों में उसने जैसा भाग लिया उससे विदित होता है कि उसकी राजनीतिक प्रवृत्तियाँ बहुत तीव्र थी।

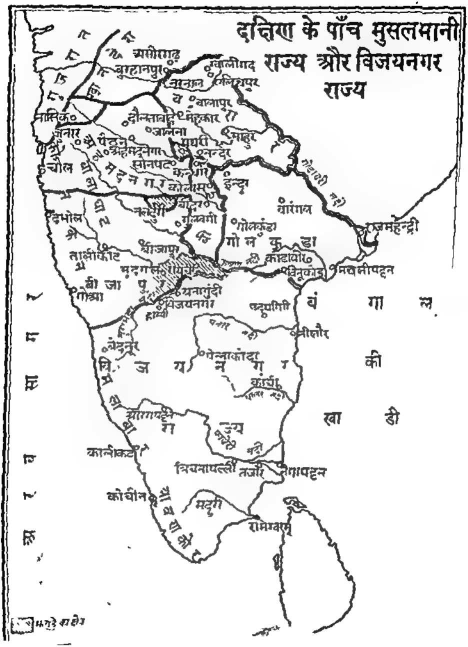
दक्षिण के पाँच मुसलमानी राज्य और विजयनगर राज्य
बुरहानपुर
नासिक
जुनार
पैठन
अहमदनगर
दौलताबाद
जालना
चौल
मेहकार
नांदेड़
सोनपट
कल्याणी
कोलास
इन्दूर
बीदर
नलदुर्ग
गुलबर्गा
गोलकुंडा
वारंगल
दाभोल
बीजापुर
तालीकोट
मुद्गल
रायचूर
कोंडावीर
विनुकोंडा
मछलीपट्टन
राजमहेन्द्री
गोआ
अनागुंदी
विजयनगर
नेल्लौर
गोदावरी नदी
कृष्णा नदी
पेनार नदी
कावेरी नदी
बंगाल की खाड़ी
कालीकट
कोचीन
त्रिचनापल्ली
तंजौर
नेगापट्टन
मदुरा
रामेश्वरम्

पुत्र का संरक्षक बना गया था। राजकाज चलाने लगा। परन्तु कमाल खाँ विश्वासघाती सिद्ध हुआ और अमीर बरीद से मिलकर सिंहासन का अपहरण करने का कुचक्र रचने लगा। अब इस्माइल ने शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया, परन्तु वह चारों ओर से ऐसे शक्तिशाली शत्रुओं से घिरा था जो उसका राज्य हड़पना चाहते थे। उसने विजयनगर तथा अहमदनगर के शासकों से युद्ध किया। सब युद्धों में उसकी शानदार विजय हुई और अंततः उसने विजयनगर के राय से रायचूर दोआब का प्रदेश छीन लिया। १५३४ ई० में इस्माइल चल बसा और तब मल्लू आदिलशाह सुलतान बना, परन्तु वह सर्वथा अयोग्य निकला, उसको सिंहासन-च्युत कर अन्धा बनाया गया और उसके भाई इब्राहीम को शासक घोषित किया गया। इन सब कार्यों में राजमाता ने प्रमुख भाग लिया।

प्रथम इब्राहीम आदिलशाह—१५३४-५८ ई०—इब्राहिम आदिलशाह ने शासक बनने पर सर्वप्रथम सुन्नी सम्प्रदाय के अनुरूप उपासना-पद्धति की पुनः स्थापना की। इसके पश्चात् उसने समस्त विदेशियों को राज-सेवा से हटा दिया और उनके स्थान पर दक्खिनी तथा हब्शी नियुक्त किये। इस कार्य की बुद्धि-शून्यता शीघ्र ही प्रकट हो गई। विजयनगर के राय ने इन लोगों को अपने यहाँ नियुक्त किया तथा उनके प्रति दयापूर्ण व्यवहार रखा और उनके धार्मिक विश्वासों का भी आदर किया। थोड़े समय बाद विजयनगर में विप्लव उठ खड़ा हुआ; होजी परमाल राव ने सिंहासन का अपहरण कर लिया और वह रामराज से निपटने के लिए युद्ध-भूमि में उतर आया। परन्तु रामराज सरलता से पराजित होनेवाला न था; अतः इस अपहर्त्ता ने इब्राहिम से सहायता माँगी और उससे एक सप्ताह अपनी राजधानी में बिताने की प्रार्थना की। सहायता के बदले में विशाल धन-राशि पाने के प्रलोभन से इब्राहिम विजयनगर पहुँच गया और वहाँ उसने एक सप्ताह आनन्दोत्सवों में बिताया। परन्तु हिन्दू राजाओं को परमाल राव की मुसलमान सुलतान के साथ यह मैत्री अच्छी न लगी और सुयोग पाकर रामराज ने राजधानी को घेर लिया और पुनः शासक बन गया।

इसके उपरान्त इब्राहीम ने अहमदनगर बीदर तथा गोलकुंडा के शासकों से लोहा लिया और अपने मंत्री असद खाँ की निर्भीकता, साहस एवं बुद्धिमत्ता के कारण वह विजयी हुआ।

सब भयों से मुक्ति पा लेने पर, इस्माइल निश्चित होकर सुख-भोगों में लिप्त हो गया। विलासिता एवं संयमहीनता ने शीघ्र अपना प्रभाव प्रकट किया। वह रुग्ण होकर १५५७ ई० में मर गया। उसको

आराम न पहुँचा सके तो कारण चिकित्सकों का वध करवा दिया गया अथवा हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया गया। इससे इस सुलतान के स्वभाव की चंचलता एवं मनुष्य-जीवन को तुच्छ समझने की प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। उसके शासन-काल में हिन्दुओं को भूमिकर एवं आय-व्यय-निरीक्षण विभाग में नियुक्त किया तथा आय-व्यय का लेखा-जोखा मराठी में रखा जाने लगा। परन्तु इस समय की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दक्षिण की राजनीति में विजयनगर के हिन्दू राज्य का महत्त्व बढ़ने लगा।

अली आदिलशाह—१५५८-८० ई०—सिंहासनारूढ़ होने के थोड़े समय उपरान्त ही इस नये सुलतान ने भूतपूर्व शासकों द्वारा उपेक्षित शिया सम्प्रदाय की पुनः प्रतिष्ठा की। यह कार्य उसने इतने अविचारपूर्ण ढंग से किया कि राज्य में इस धार्मिक नीति-परिवर्तन के कारण असंतोष उत्पन्न हो गया। १५५८ ई० में उसने विजयनगर के रामराज से मैत्री कर अहमदनगर राज्य पर धावा बोल दिया और इसके प्रदेशों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। हिन्दुओं ने भूतकाल में मुसलमानों द्वारा किये गये नर-संहारों का खूब बदला लिया और अत्यन्त नृशंसता प्रदर्शित की। परन्तु अहमदनगर के दुर्ग पर इन आक्रांताओं का घेरा विफल रहा और बरसात का आरम्भ हो जाने के कारण इनको घेरा उठा लेना पड़ा।

हिन्दुओं के इस नृशंस

क्षुब्ध हो उठा और वह वि

पर ध्यान देने लगा। दक्षि

प्रमुख कारण यह जान पड़ता

से भयभीत हो उठे थे। अ

मुसलमान राज्यों की स्वतं

भयप्रद थी। बीजापुर, बीद

बद्ध होकर विजयनगर के रा

में पूर्णत: परास्त कर दिया; इस युद्ध का विस्तृत वर्णन विजयनगर राज्य के इतिहास का वर्णन करते समय किया जायेगा। १५७९ ई० में अली आदिलशाह की एक चहेती रखैल ने, जिसको उसने किसी प्रकार रुष्ट कर दिया था, उसका वध कर दिया। उसके पश्चात् द्वितीय इब्राहीम आदिलशाह शासक बना।

द्वितीय इब्राहीम आदिलशाह—१५८०-१६२६ ई०—यह नया सुलतान अल्पवयस्क था; अतः उसकी माता चाँदबीबी राज-काज चलाने लगी। अहमदनगर

नगर की वीरतापूर्वक रक्षा करने के कारण चाँदबीबी का नाम इतिहास में विख्यात है। बीजापुर तथा अहमदनगर में बहुधा लड़ाई छिड़ जाती थी, परन्तु १५६४ ई० में अहमदनगर का सुलतान युद्ध में मारा गया और इब्राहीम विजयी हुआ। इब्राहीम का देहान्त १६२६ ई० में हुआ। वह इस वंश का सर्वाधिक विख्यात शासक हुआ है "और अधिकतम बातों में, इस वंश के संस्थापक को छोड़कर, वह सबसे योग्य एवं लोकप्रिय" रहा।

अहमदनगर—बीदर में दक्खिनी अमीरों के दल के नेता निजामुलमुल्क बहरी निजामशाही वंश का संस्थापक हुआ। महमूद गावान को मारने के लिये जो कुचक्र रचा गया था उसमें इस साहसिक का भी हाथ था और गावान के वध के पश्चात् वह मंत्री बनाया गया। इस पद पर प्रतिष्ठित होने पर वह असीम अधिकारों का उपभोग करने लगा। उसके पुत्र मलिक अहमद को जुनैर का प्रांताध्यक्ष नियुक्त किया गया। निजामुलमुल्क भी अपने पुत्र से जा मिलना चाहता था, परन्तु बीदर के प्रांताध्यक्ष पसंद खाँ ने सुलतान की आज्ञा प्राप्त कर उसको संसार से विदा कर दिया। १४६० ई० में मलिक अहमद ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और कुछ समय उपरान्त नव-निर्मित अहमदनगर को अपनी राजधानी बनाया। दौलताबाद तथा इसके अधीन प्रदेशों पर अधिकार करने के लिये वह लम्बे समय तक जी जान से युद्ध करता रहा और १४९९ ई० में अंततः उसकी यह इच्छा पूर्ण हुई। अहमद निजामशाह का देहान्त १५०८ ई० में हुआ और तब उसका पुत्र बुरहान निजामशाह राजगद्दी पर बैठा।

बुरहान निजामशाह और उसके उत्तराधिकारी—बुरहान निजामशाह (१५०८–५३ ई०) के अल्पवयस्क होने के कारण उसके पिता के वृद्ध पदाधिकारी शासन-प्रबंध करते रहे। इसको उच्च शिक्षा दी गई थी और फरिश्ता लिखता है कि उसने अहमदनगर के राजकीय पुस्तकालय में शासक के कर्त्तव्यों से संबंधित एक ग्रंथ देखा था, जिसकी इस शासक ने केवल दस वर्ष की आयु में प्रतिलिपि तैयार कर ली थी। उसने बीजापुर की शाहजादी से विवाह किया था और जब १५२९ ई० में गुजरात, खानदेश तथा बरार के शासकों ने अहमदनगर के विरुद्ध संघ बनाया, तब अपने साले तथा उसके ब्राह्मण मंत्री की सहायता से ही वह अपमान से बच सका। बाद में वह बीजापुर के शासक से लड़ बैठा और विजयनगर के राय से मैत्री कर उसने एक कूटनीतिक-क्रांति सी कर दी। इन मित्र-राज्यों की सम्मिलित सेनाओं ने बीजापुर पर धावा बोल दिया और बुरहानशाह ने शोलापुर का दुर्ग हस्तगत कर लिया। १५३३ ई० में बीजापुर में फैली हुई गड़बड़ से लाभ उठाकर बुरहान निजामशाह

ने बीजापुर पर घेरा डाल दिया परन्तु रोग-ग्रस्त हो जाने के कारण उसको घेरा उठा लेने के लिए बाध्य होना पड़ा और थोड़े समय बाद उसका देहान्त भी हो गया। उसके पश्चात् हुसैनशाह को शासक बनाया। उसने विजयनगर के विरुद्ध अली आदिलशाह द्वारा बनाये गये संघ में भाग लिया। १५६५ ई० में उसकी मृत्यु के पश्चात् मुर्तजा निजामशाह राज-गद्दी पर बैठा, परन्तु उसने सिंहासन का त्याग कर दिया और राज्य अपने मंत्रियों साहिब खाँ तथा सलाबत खाँ को सौंप दिया। इसके बाद का अहमदनगर का इतिहास महत्वहीन है। केवल राजकुमार मुराद के आक्रमण से अहमदनगर की रक्षा में चाँदबीबी के वीरतापूर्ण प्रतिरोध की घटना उल्लेखनीय है। पहिले तो चाँदबीबी ने बरार-प्रदेश देकर शान्ति मोल ली, परन्तु पुन. युद्ध छिड़ने पर वह मुगल सेना द्वारा परास्त हुई और शाही सेना ने १६०० ई० में अहमदनगर पर अधिकार कर लिया।

गोलकुंडा—गोलकुडा के कुतुबशाही वंश की नींव कुतुब-उल-मुल्क ने डाली जो तुर्कों की बहलू शाखा का वंशज था। सुशिक्षित होने के कारण महमूदशाह बहमनी के शासन-काल में उसको राज्य के एक कार्यालय का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। धीरे धीरे वह तेलंगाना का प्रांताध्यक्ष बन गया और भक्तिभाव से अपने स्वामी की सेवा करता रहा, परन्तु जब उसने देखा कि घमंडी एवं उद्दण्ड कासिम बरीद के साथ उसकी निभ नहीं सकती तो उसने १५१८ ई० में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।[४७] ९० वर्ष की अवस्था में कुतुबशाह का वध उसके पुत्र जमशेद ने कर दिया। उसके पश्चात् अनेक शक्ति-हीन शासक सिंहासनारूढ हुए, परन्तु उनके समय में कोई उल्लेखनीय घटना न हुई। १५६५ ई० में गोलकुडा के सुलतान ने भी विजय-नगर के विरुद्ध बनाये गये संघ में भाग लिया और १६११ ई० तक यह राज्य स्वतंत्र बना रहा। इसके पश्चात् इस राज्य का पृथक् अस्तित्व समाप्त हो गया। इस राज्य को अंततः औरंगजेब ने १६८७ ई० में मुगल-साम्राज्य में मिला लिया।

बीदर—जब बहमनी राज्य की शक्ति का ह्रास होने लगा, उस समय मंत्री कासिम बरीद राज्य के सर्वोच्च अधिकारों का उपभोग कर रहा था। यद्यपि सुलतान महमूदशाह नाम-मात्र का शासक था, परन्तु कासिम बरीद शाही सम्मान धारण करने का साहस न कर सका। १५०४ ई० में उसकी मृत्यु के

४७. गोलकुंडा के इस नये राज्य ने वारंगल के प्राचीन काकतीय राज्य का स्थान ग्रहण किया।

पश्चात् उसका पुत्र अमीर वरीद मंत्री बना, परन्तु अन्य सरदारों के समान उसने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा न की। वह समय की प्रतीक्षा करता रहा और जब अंतिम सुलतान कलीम उल्ला बीजापुर भाग गया, तब अमीर वरीद ने सुलतान की उपाधि धारण की और १५२६ ई० में स्वयं को स्वतंत्र शासक घोषित किया। यह वंश १६०६ ई० तक राज्य करता रहा। इसके उपरान्त आदिलशाही शासक ने इस प्रान्त को अपने राज्य में मिला लिया।

बहमनी वंश के सुलतान

	राज्यारोहण हिजरी स०	वर्ष ई० सन्
अलाउद्दीन हसन	७४८	१३४७
प्रथम मुहम्मद	७५६	१३५८
मुजाहिद	७७५	१३७३
दाउद	७८०	१३७८
द्वितीय मुहम्मद	७८०	१३७८
गयासुद्दीन	७९९	१३९७
फीरोज	८००	१३९७
अहमदशाह	८२५	१४२२
द्वितीय अलाउद्दीन	८३८	१४३५
हुमायूं	८६२	१४५७
निजाम	८६५	१४६१
तृतीय मुहम्मद	८६७	१४६३
महमूद	८८७	१४८२
अहमदशाह	९२४	१५१८
द्वितीय अलाउद्दीन शाह	९२७	१५२०
वली उल्ला शाह	९२९	१५२२
कलीम उल्ला शाह	९३२	१५२४

जलालुद्दीन अहसानशाह के विद्रोह से मदुरा के स्वतंत्र राज्य की स्थापना का सूत्रपात हुआ और इसके अगले वर्ष यादववंशीय संगम के पुत्रों हरिहर तथा बुक्का द्वारा विख्यात विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की गई। सीवेल महोदय ने अपने बहुमूल्य ग्रंथ 'ए फॉरगॉटन एम्पायर' में दक्षिण के इस महान् राज्य के उद्भव के विषय में सात अनुश्रुतियों का उल्लेख किया है।[1] परन्तु सर्वाधिक तथ्यपूर्ण वह अनुश्रुति विदित होती है, जिसके अनुसार हरिहर और बुक्का नामक दो भाइयों ने इस साम्राज्य की नींव डाली; यह दोनों वारंगल के शासक प्रताप रुद्रदेव काकतीय के कोषागार में काम करते थे और १३२३ ई० में मुसलमानों द्वारा यह देश आक्रांत किये जाने पर भाग गये थे। तब उन्होंने अनागोंदी के राजा की राजसभा में स्थान पाया[2] परन्तु जब अनागोंदी मुसलमानों के अधिकार में आया, सुलतान ने इस विजित प्रदेश के शासन के लिए मलिक नाइब को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। परास्त हिंदू राजा के मंत्री होने के कारण हरिहर और बुक्का बंदी हुए और दिल्ली ले जाये गये। परन्तु मुसलमानों के शासन से हिंदुओं के स्वाभिमान को आघात लगा। उन्होंने नये शासकों के प्रति विद्रोह खड़ा कर दिया। विवश होकर सुलतान को हरिहर और बुक्का को मुक्त करना पड़ा और अनागोंदी प्रदेश उनको सौंप देना पड़ा, जिस पर वह दिल्ली-साम्राज्य के सामंत के रूप में शासन करने लगे[3]। प्रसिद्ध विद्वान् एवं संत स्वामी विद्यारण्य की सहायता से उन्होंने मुसलमानों के अत्याचारों एवं उत्पीड़नों से त्राण पाने के लिए १३३६ ई० में तुंगभद्रा के तट पर विजयनगर की नींव डाली और हरिहर इस नये शासक-वंश का प्रथम शासक हुआ।[4]

---

१. सीवेल—'ए फॉरगॉटन एँम्पायर' पृ० २०-२२।
श्री० एम राव 'हिस्ट्री ऑव विजयनगर' भा० १, पृ० २३-२६।
मेजर—'इण्डिया इन दि फिफ्टीन्थ सेंचुरी' हक्ल्युत संस्क० पृ० २६।
अभिलेखों के अनुसार हरिहर के चार भाई थे—कम्पा, बुक्का, मरप्पा और मुदप्पा। वह यादव-वंशी संगम के पुत्र थे। यह पाँच थे। हरिहर ने अपने भाइयों के साथ बहुत अच्छा व्यवहार रखा और उनको महत्वपूर्ण जागीरें दी। उसके भाइयों ने नये नये प्रदेश विजय कर साम्राज्य-निर्माण में उसकी सहायता की।

२. अनागोंदी हैदराबाद राज्य के रायचूर जिले में तुंगभद्रा के तट पर है।

३. 'क्रॉनिकल्स ऑव नुनिज'—सीवेल पृ० २९६-९८।

४. लेविस राइस—'माइसोर एण्ड कुर्ग फ्रॉम दि इन्स्क्रिप्शन्स'—पृ० ११०।
वी० एस०राव, 'हिस्ट्री ऑव विजयनगर'—पृ० १०।
एपिग्रा० करना०, ६, विवरण २।
सीवेल—'ए फॉरगॉटन एम्पायर' पृ० २३-२४।

प्रारम्भिक शासक—हरिहर ने धीरे धीरे अपने छोटे से राज्य की सीमा का विस्तार करना प्रारम्भ किया और १३४० ई० के अंत तक उसने तुंगभद्रा की घाटी, कोंकण प्रदेश के कुछ भागों तथा मलाबार तट पर अधिकार स्थापित कर लिया। यद्यपि हरिहर और उसके भाइयों ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी, परन्तु उन्होंने राजसी उपाधियाँ धारण नहीं की;[1] इस कारण स्यात् यह था कि हैयसल-वंश का अंतिम महान् शासक तृतीय बल्लाल[2] अभी तक जीवित था और दक्षिणवर्ती प्रदेशों पर उसका प्रभुत्व था[3] तथा दक्षिण-पूर्ववर्ती प्रदेश मदुरा के सुलतान के अधिकार में थे। मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन से पता चलता है कि दक्षिण से मुसलमानों को निकाल बाहर करने के लिए १३४४ ई० में वारंगल के प्रताप रुद्रदेव के पुत्र कृष्णनायक ने जो संघ बनाया था उसमें प्रथम हरिहर ने भी भाग लिया था।

समसामयिक इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी लिखता है कि "जब यह (यहाँ पर लेखक का संकेत मुहम्मद तुगलक के समाना और सुनम पर अभियान की ओर है) चल रहा था, आरंगल के हिन्दुओं में विद्रोह फूट पड़ा। कन्नय्या नायक ने देश में शक्ति-संचय कर लिया था। नायब वजीर, मलिक मक़बूल, दिल्ली भाग गया और हिंदुओं ने आरंगल पर अधिकार कर लिया, जो इस प्रकार पूर्णतया हाथ से निकल गया। इसी समय कन्नय्या नायक के एक संबंधी ने, जिसको सुलतान ने कम्बाला (कम्पिल) भेज दिया था, इस्लाम त्याग दिया और विद्रोह भड़का दिया। इस प्रकार कम्बाला प्रदेश भी हाथ से निकल गया और हिन्दुओं के हाथों पड़ गया। केवल देवगिरि और गुजरात सुरक्षित रहे।"[4]

तामिल तथा संस्कृत ग्रंथों की खोज का १८९३–९४ का विवरण न० ४० कदूर जिले में शृंगेरी मठ के मठाधीश माधव का ही नाम विद्यारण्य था।

५. ऐंपिग्रा० करना०, १०, प्लेट ८२।

वीर बल्लाल की समस्त उपाधियाँ उल्लिखित है। १३४० ई० मे उसने अपने पुत्र को युवराज घोषित किया। ऐंपिग्रा० करना० १०, ३।

वीर बल्लाल की मृत्यु दो वर्ष पश्चात् अर्थात् १३४२ ई० मे मदुरा के सुलतान के साथ युद्ध करते हुए हुई। ऐंपिग्रा० करना० ६, ७५। इब्न बतूता, पेरिस संस्क० पृ० १९८।

६. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही', इलियट, ३, पृ० २४५-४६; बिब्लि० इण्डि० पृ० ४८४। मूलपाठ कम्बाला न होकर कम्पिला है, जैसा कि इलियट ने भी दिया है। विजयनगर की स्थापना के विषय मे फरिश्ता का वर्णन तिथि एवं घटनाक्रम दोनों ही बातों में गलत है। आधुनिक गवेषणाओं से प्रकट हो गया है कि ठीक पाठ कापय नायक है।

ब्रिग्स—१, पृ० ४२७।

अमिलेखों की साक्षी से भी यह बात प्रमाणित होती है कि प्रथम हरिहर ने भी इस संघ में भाग लिया था और वह मुसलमान सेना से लड़ा था।[7] बात जो कुछ भी हो, उस समय की विचित्र परिस्थितियों ने हरिहर की राज्य-विस्तार की योजनाओं को प्रोत्साहन दिया। हैयसल-वंश का अंतिम शासक, तृतीय बल्लाल का पुत्र और उत्तराधिकारी विरुपाक्ष बल्लाल १३४६ ई० में मदुरा के सुलतान के साथ युद्ध करते हुए मारा गया और ऐसे अवसर पर जब कि दिल्ली के सुलतान की शक्ति लुप्तप्राय हो चुकी थी, हैयसल शासक की मृत्यु ने पराक्रमी हरिहर और बुक्का को हैयसल-राज्य पर अधिकार करने का सुयोग प्रदान किया। अब इन दोनों महत्वाकांक्षी भाइयों ने विजय का कार्य प्रारम्भ किया और उनको इन अभियानों में ऐसी अपूर्व सफलता मिली कि *हरिहर के जीवन-काल में ही विजयनगर राज्य उत्तर में कृष्णा नदी से लेकर दक्षिण में कावेरी तक विस्तृत हो गया और पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र का मध्यवर्ती समस्त प्रदेश इसमें मिल गया।*[8] परन्तु उत्तर की ओर इस राज्य के विस्तार को बहमनी-राज्य ने रोक दिया, जिसकी स्थापना विदेशी अमीरों का

बर्नी को छोड़ अन्य किसी भी मुसलमान इतिहासकार ने हरिहर और बुक्का के इस्लाम ग्रहण करने का उल्लेख नहीं किया है। इस विषय में इब्नबतूता का कहना है कि अनागोंदी के बदी राजकुमारों ने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। इब्नबतूता का यह कथन बर्नी के कथन का समर्थन करता है। परन्तु, यदि उन्होंने कभी इस्लाम के प्रति भक्ति प्रकट भी की हो तो वह नाममात्र की रही होगी।

७. सीवेल—"लिस्ट्स ऑव एण्टिक्विटीज", २, पृ० १६१।

फरिश्ता लिखता है, "बल्लाल देव और कृष्ण नामक ने मावर तथा द्वारसमुद्र की, जो पहिले करनाटक-राज्य के करद थे, सेनाओं से अपनी सेनाएँ संयुक्त कर ली।"

ब्रिग्स, १, पृ० ४२७।

८. एपिग्रा० करना० ६, १२०।

मदुरा के सुलतान को "बल्लालों की समृद्धि की लता के लिए कुल्हाड़ी" कहा गया है।

आयंगर, 'सोर्सेज ऑव विजयनगर हिस्ट्री' पृ० २८।

६. इब्नबतूता लिखता है, "मलाबार के निवासी, हनौर के राजा को कर देते हैं, क्योंकि वह उसकी सामुद्रिक शक्ति से भय खाते है। उसकी सेना में भी लगभग ६ सहस्र व्यक्ति है। वह युद्धप्रिय एवं वीर जाति के है। वर्तमान शासक जमालुद्दीन मुहम्मद इब्नहसन है। वह सबसे अच्छे शासकों में से है; परन्तु वह स्वयं एक काफिर राजा के अधीन है, जिसका नाम होरेव है।"

यह होरेव, या और ठीक कहा जाय तो हरीव, विजयनगर का प्रथम शासक हरिहर ही है।

सरदार हसन दिल्ली साम्राज्य से विद्रोह कर १३४७ ई० में कर चुका था। तत्कालीन अव्यवस्था से लाभ उठाकर हसन ने अपने राज्य का पर्याप्त विस्तार कर लिया था और १३५८ ई० में उसकी मृत्यु के समय बहमनी राज्य उत्तर में पैनगंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक तथा पश्चिम में दमाल से लेकर पूर्व में भोनगिर तक विस्तृत हो गया था। राज्य-विस्तार की समान योजनाओं का अनुसरण करने के कारण बहमनी तथा विजयनगर दोनों राज्य बहुधा टकरा जाते थे और ऐसी भीषण उग्रता से लड़ते थे जो मध्यकालीन इतिहास में अद्वितीय है। दो शताब्दियों से भी अधिक समय तक यह दोनों राज्य प्रभुत्व के लिए परस्पर युद्ध-रत रहे और दक्षिण के राज्यों में प्रधानता प्राप्त करने के प्रयत्नों में इन्होंने जैसे नृशंसतम अत्याचार किये, उनका वर्णन बहमनी-वंश के प्रसंग में किया जा चुका है। हरिहर ने अलाउद्दीन हसन बहमनशाह को, जिसने १३५२ ई० में उसके राज्य पर आक्रमण किया था, अपने राज्य का कुछ भाग देकर, जो फरिश्ता के कथनानुसार "अदोनी की गद्दी के समीप" दक्षिण में तुंगभद्रा तक विस्तृत था, शांत किया। हरिहर ने अपने राज्य को प्रांतों में विभक्त किया, जिनका शासन उसने राज-परिवार के सदस्यों तथा विश्वसनीय प्रतिनिधियों को सौंपा जो दीर्घकाल तक भक्तिपूर्वक राज्य की सेवा कर अपनी राजभक्ति का परिचय दे चुके थे।[१०] प्रथम हरिहर का देहावसान १३५३ ई० के लगभग हुआ। तब बुक्का ने छत्र धारण किया। उसने विजयनगर का निर्माण पूर्ण किया और विजयों द्वारा राज्य का बहुत विस्तार कर लिया।[११] उसका शस्त्र-बल इतना प्रबल था कि अभिलेखों में उसको पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी समुद्रों का अधिपति, तुरुष्कों, कोंकण के सरदारों, आंध्रों,

---

१०. एपिग्रा० करना०, ६, ५६।

हरिहर और बुक्का दोनों ही मिलकर राज्य पर शासन करते थे, उनके राज्य में होयसल-राज्य का उत्तरी तथा मध्य भाग; कम्पा को उदयगिरि-राज्य (वर्तमान कड़ापा तथा नीलोर जिले) दिया गया था और मारप्पा आरग अथवा माल-राज्य (वर्तमान उत्तरी कन्नड़ और शिमोग जिले) पर शासन करता था और हृदयद गन्तरमा नामक मंत्री एक अन्य प्रमुख प्रांत का अधिपति था।

(अ) 'आर्कीऑलॉजीकल सर्वे रिपोर्ट ऑव इण्डिया', १९०७-०८, पृ० २३७, टिप्पणी सं० २।

(आ) 'नीलोर इन्स्क्रिप्शन्स', २, पृ० ७८६, सं० २८; देखिए अभिलेख सं० २८।

(इ) एपिग्रा० करना०, ८, ३७५।

(ई) 'एपिग्राफिकल कलेक्शन फॉर १९०१' में० सं० ५७।

११. उसने शत्रुओं से सौ राजधानियां मुक्त की और सातों छोरों में

गुर्जरों, कम्बोजों तथा कलुजों के लिए विभीषिका कहा गया है। यह अतिरञ्जित प्रशस्ति स्पष्ट करती है कि वह बहुत शक्तिशाली शासक था। उसने चीन के शासक सम्राट् ताइ-त्सू के पास अपना दूत भेजा[११] और बहमनी शासक मुहम्मदशाह तथा मुजाहिदशाह के विरुद्ध युद्ध लड़े, जिनकी नृशंसता का वर्णन फरिश्ता ने विस्तार से किया है। बुक्का धार्मिक विषयों में सहिष्णु और उदारचेता शासक था; एक बार उसने जैनों तथा उनके प्रबल विरोधी वैष्णवों में समझौता कराया था। उसने दोनों सम्प्रदायों के प्रमुख व्यक्तियों को बुलाया और वैष्णवों के हाथ मे जैनों का हाथ रखकर आदेश दिया कि प्रत्येक सम्प्रदाय समान रूप से स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी अपनी उपासना-पद्धति का अनुसरण करे। साम्राज्य मे इन प्रतिपक्षी सम्प्रदायों मे मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित करने के लिए यह राजाज्ञा विभिन्न स्थानों पर घोषित की गई।[१३]

द्वितीय हरिहर—१३७९ ई० में बुक्का की मृत्यु के पश्चात् द्वितीय हरिहर ने राजमुकुट धारण किया। वह इस वंश का [illegible] शासक था जिसने राजकीय उपाधियाँ धारण की और महाराजाधिराज कहलाया। उसने मंदिरों को दान दिये और अपने विशाल राज्य को सुव्यवस्थित किया। सीवेल लिखता है कि वह शांति-प्रिय शासक था और विल्क्स [illegible] ने भी सीवेल का अनुसरण करते हुए लिखा है कि मुसलमानों से [illegible] शान्ति बनाये रखी और इस शान्तिपूर्ण काल को उसने त्रिचनापल्ली तथा कांजीवरम् (कांची) समेत समस्त दक्षिण भारत में अपने साम्राज्य की सुदृढ़ [illegible] करने में लगाया।[१४] परन्तु अभिलेखों से विदित होता है कि [illegible] ई० से [illegible] तुगलकों ने अच्छी

भरपूर साम्राज्य पर शासन किया। [illegible] फ़ॉम दि इन्स्क्रिप्शन्स' ४६, पृ० [illegible]।

१२. ब्रेत्श्नेदर—'मीडियवल [illegible]' [illegible], पृ० [illegible]।

१३. लूइस राइस, "[illegible]"

इस राजाज्ञा की एक प्रति [illegible] मे सुरक्षित है। इस समझौते [illegible] ई० [illegible] है, वह गलत है। हरिहर [illegible] ई० [illegible] बुक्का शासक बना, [illegible] ई० [illegible]।

एपिग्रा० कर्ना०, [illegible]।

वही ११, १ व [illegible]।

१४. सीवेल, 'ए [illegible]', पृ० [illegible]।

स्मिथ, 'ऑक्सफ़र्ड [illegible]', पृ० [illegible]।

१५. [illegible] पाले मार्ग पर [illegible]। [illegible], पृ० [illegible]।

के पहाड़ी दुर्ग[15] पर अधिकार किया तो मल्लपा ओडेयर के पुत्र ने उनको परास्त किया और दुर्ग को हरिहर के अधिकार में कर दिया। तुरुष्कों ने पुनः आक्रमण किया परन्तु उनको खदेड़ दिया गया। साम्राज्य-प्रसार के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए उसने दक्षिण के अन्य राज्यों की ओर ध्यान दिया और उसके सेनापति गुंड ने केरल, तौलव, आंध्र एवं कुटक वंशों के राज्यों को जीत लिया; विजेता के हाथ अपार सम्पत्ति लगी।[16] अपने पूर्वगामी शासकों के समान द्वितीय हरिहर भी धार्मिक विषयों में बहुत सहिष्णु था जैसा कि विजयनगर में कमालपुरा के समीप के एक जैन-मंदिर के एक स्तंभ पर के १३८५ ई० के एक लेख से प्रकट होता है। ३० अगस्त, १४०४ ई० को द्वितीय हरिहर का देहान्त हुआ। जान पड़ता है उसके पश्चात् उसका पुत्र शासक बना, परन्तु उसका शासन बहुत थोड़े समय तक रहा। उसके पश्चात् देवराय सिंहासनारूढ़ हुआ, परन्तु हरिहर के एक अन्य पुत्र ने भी सिंहासन पर अपना अधिकार जतलाया और इन झगड़ों के कारण नवम्बर, १४०६ ई० तक देवराय की स्थिति निष्कंटक न बन पाई। देवराय को बार बार बहमनी शासकों से टक्कर लेनी पड़ी, जो समय-समय पर उसके राज्य की सीमा पर आक्रमण करते रहे। फरिश्ता का कहना है कि फीरोज राय के विरुद्ध अनवरत रूप से युद्ध करता रहा और एक अवसर पर उसने राय को विवश कर दिया कि वह अपनी कन्या का विवाह सुलतान से कर दे—जो कि सम्पूर्णतया आत्मसमर्पण का एक प्रमाण था और जिसके लिए कोई हिंदू घोरतम आपत्तिकाल में ही तैयार हो सकता था।[17] इस प्रकार सम्मान बेचकर सुरक्षा खरीदी गई, परन्तु इतने महँगे दाम चुकाने पर भी मुसलमान शासक संतुष्ट न हुआ और जब वह विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए विजयनगर आया तो केवल इतनी-सी बात पर राय से बिगड़ गया कि राय उसको पहुँचाने उस के शिविर तक न आया था। फीरोज के अंतिम दिन दुख एवं निराशापूर्ण रहे क्योंकि उसके पुत्र एवं युवराज हसन को हटाकर उसके महत्त्वाकांक्षी भाई अहमदशाह ने स्वयं सिंहासन पर अधिकार कर लिया

१६. लूइस राइस, 'माइसोर एण्ड कुर्ग फ्राम दि इन्सक्रिप्शंस' पृ० ११५। वही पृ० २२६।

१७. इस विवाह के विषय में केवल फरिश्ता का ही साक्ष्य प्राप्त होता है। 'बुरहान-ए-मासिर' के लेखक ने, जिसने घटनाओं का बहुत सही और विस्तृत वर्णन किया है, इस विवाह का कहीं संकेत भी नहीं किया। इस विषय में उसका मौन आश्चर्यजनक है, क्योंकि कट्टर मुसलमान होने के कारण, उसने इस महत्त्वपूर्ण घटना का बड़े उत्साहपूर्वक वर्णन किया होता। यह विवाह द्वारा समझौते की नीति बाद की घटनाओं से स्पष्टतः विफल सिद्ध हुई। इन तथ्यों के होते हुए, इस विवाह की सत्यता में संदेह होता है।

था। १४१० ई० में देवराय की मृत्यु हुई और तब उसका पुत्र विजयराय सिंहासनारूढ़ हुआ, जो केवल ६ वर्ष तक शासन कर पाया। उसके पश्चात् द्वितीय देवराय ने राजमुकुट धारण किया। इस भाग्यहीन शासक को बहमनी सुलतानों के हाथ अनेक पराजयें सहन करनी पड़ी।

द्वितीय देवराय १४१६-१४४६ ई०—फीरोज के उत्तराधिकारी अहमद शाह ने विजयनगर के प्रदेशों को आक्रांत किया। उसने स्त्रियों और शिशुओं का निर्ममतापूर्वक वध किया और हिंदू-रक्त बहाने मे वह अत्यधिक आनंद का अनुभव करने लगा। फरिश्ता लिखता है कि इस रक्त-पिपासु बर्बर ने तीन दिन तक नर-संहार का समारोह मनाया, जिसमे स्त्री-पुरुष-बच्चे सब मिलाकर बीस सहस्र निरीह हिंदुओं का वध किया गया। बहमनी राज्य से युद्ध चलता रहा और १४४२ ई० मे राय ने अपनी सैन्य-शक्ति को दृढ करने के लिए कदम उठाया। मुसलमानों की अश्वारोही सेना से प्रभावित होकर उसने मुसलमान घुड़सवारों को अपनी सेना में भर्ती करने का भयकर मार्ग अपनाया। इन मुसलमान सैनिकों की धार्मिक भावनाओं का उसने बड़ी सावधानी से आदर किया। जब १४४३ ई० मे पुनः युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो मुसलमानों ने उसको बहुत क्षति पहुँचाई और भेंट देने के लिए बाध्य कर दिया। उसके शासन-काल में दो विदेशी इटली का निकोलो कोण्टी और फारस का राजदूत अब्दुर्रज्जाक विजयनगर आये। यह दोनों विजयनगर साम्राज्य एवं नगर का बहुत महत्त्वपूर्ण वर्णन छोड़ गये है।

निकोलो कोण्टी—निकोलो कोण्टी १४२० या १४२१ ई० मे विजयनगर आया। वह खम्भात पहुँचा और वहाँ बीस दिन रहकर विजयनगर आया, जिसका उसने निम्नलिखित वर्णन किया है—

"बिजेंगलिया का अति महान नगर बहुत ढालू पहाडियों के समीप स्थित है। नगर की परिधि ६० मील है। इसकी दीवारें पहाड़ों तक चली गई है और उनके तल पर घाटियों को घेरती हैं, जिससे इसका विस्तार बढ़ गया है। इस नगर में अनुमानतः ६० सहस्र पुरुष शस्त्र-धारण करने योग्य हैं।

"इस देश के लोग अपनी इच्छानुसार अनेक स्त्रियों से विवाह करते हैं, जो अपने मृत पति के साथ जला दी जाती हैं। उनका राजा भारत के अन्य किसी भी राजा से अधिक शक्तिशाली है। उसने स्वयं अपने लिए १२,००० पत्नियाँ रखी हैं, जिनमें से ४००० तो जहाँ भी वह जाता है, उसके पीछे-पीछे पैदल चलती है और उनसे केवल रसोई का काम लिया जाता है। इतनी ही और सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, घोड़ों पर सवार होकर चलती हैं। शेष पालकियों में लोगों द्वारा ले जाई जाती है, जिनमे २,००० या ३,००० इस शर्त पर उसकी पत्नियाँ

आया। वह इस प्रसिद्ध नगर मे अप्रैल, १४४३ के प्रारम्भ तक रहा। उसने नगर तथा राय का विस्तृत वर्णन किया है। जो नीचे दिया जा रहा है—

राय—"एक दिन मुझे बुलाने के लिए, राजा के यहाँ से संदेश-वाहक आये और शाम के लगभग मैं दरबार मे गया। मैंने ५ सुन्दर घोड़े तथा दमिश्क और साटिन के नौ-नौ थानो से भरे दो थाल भेंट किये। राजा बहुत सजधज के साथ चालीस स्तम्भोवाले भवन मे विराजमान था और उसके दायें-बायें ब्राह्मणों तथा अन्य लोगो का एक विशाल समूह खड़ा था। वह 'जैतून' साटिन के वस्त्र पहने हुए था और उसके गले मे सच्चे मोतियों का एक अति उत्कृष्ट हार था, जिसका मूल्य आँकना किसी जौहरी के लिए भी कठिन था। वह जैतूनी रग का, छरहरे शरीर का और कुछ ऊँचे कद का था। वह बहुत युवक था, क्योकि केवल उसके कपोलों पर ही हल्की छाया थी और ठोढी पर बिलकुल नही थी। उसकी समस्त आकृति बहुत प्रभावशाली थी। उसके सामने उपस्थित किये जाने पर, मैंने अपना मस्तक नत किया। उसने अति सहृदयता से मेरा स्वागत किया, मुझे अपने पास बैठाया और बादशाह का शुभपत्र लेकर (दुभाषियो की ओर) बढ़ा दिया और कहा, "महाराज ने मेरे पास दूत भेजा, इससे मेरा हृदय अत्यन्त प्रसन्न है।" अत्यधिक गर्मी तथा शरीर पर बहुत वस्त्र होने के कारण, मुझे पसीने से तर देखकर, महाराज ने मुझ पर कृपा की और अपने हाथ का खटाई का पखा मुझे दिया। तब वह एक थाल लाये और मुझे पान के दो बीड़े, ५०० 'फनमो' की एक थैली और कपूर के लगभग २० 'मिश्काल' दिये और विदा लेकर मैं अपने निवासस्थान पर लौट आया। मुझे नित्यप्रति जो भोजन-सामग्री दी जाती थी, उसमें दो भेड़ें, चार पक्षियों के जोड़े, ५ मन चावल, १ मन मक्खन, १ मन खाँड और दो 'बरह' सोना दिया जाता था। यह नित्य का क्रम था। सप्ताह में दो बार मुझे शाम के समय भेंट के लिए बुलाया जाता, जब कि

अब्दुर्रज्जाक का जन्म हेरात में १४१३ ई० मे हुआ था, उसको फारस के शासक शाहरुख ने विजयनगर मे राजदूत बनाकर भेजा था। उसकी मृत्यु १४८२ ई० में हुई। उसकी अनेक कृतियों में 'मतल-उस-सादैन' सबसे महत्वपूर्ण है; इसमें सुलतान अबूसईद के शासन-काल के प्रारम्भ से अबूसईद गुरगांव के वध तक का फारस का इतिहास दिया हुआ है।

एदोआर्दो बार्बोसा नामक यात्री ने, जो १५१६ ई० में विजयनगर आया था, इस नगर के विषय मे लिखा है कि यह 'बहुत विस्तृत, घना बसा हुआ और देशी हीरो, पेगू के लालों, चीन और एलेक्जेंड्रिया के रेशम तथा कपूर, कस्तूरी, मलाबार के चंदन आदि के व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र है।"

लूइस राइस—'मैसूर', १, पृ० ३५३।

गई है, कि उसके मरने पर वे स्वेच्छा से उसकी चिता पर जल मरेंगी, जो कि उनके लिए बहुत बड़ा सम्मान समझा जाता है।

"वर्ष में एक निश्चित समय पर उनकी (उनके देवता की) मूर्ति, दो रथों के बीच रखकर, जिनमें बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से सुसज्जित युवतियां रहती हैं, जो देवता की स्तुतियां गाती हैं, और लोगों के विशाल समूह के साथ, नगर में निकाली जाती हैं। धार्मिक उत्साह से भरकर बहुत से लोग, रथ-चक्रों के सामने गिर पड़ते हैं, जिससे वह कुचले जाकर मर जायं। मृत्यु की यह एक ऐसी विधि है जिसको वह अपने देवताओं को प्रसन्न करनेवाली बताते हैं; दूसरे, अपने अंग को छेदकर और इस प्रकार अपने शरीर के बीच से रस्सी डालकर, अपने आप को अलंकार के रूप में रथ से लटका देते हैं और इस प्रकार लटकते हुए, अधमरी हालत में अपने इष्टदेव के साथ चलते हैं। इस प्रकार की बलि को वह सर्वोत्तम एवं सबसे अधिक ग्राह्य मानते हैं।

"वर्ष में तीन बार वह विशेष महत्त्वपूर्ण उत्सव मनाते हैं। इनमें से एक अवसर पर, सब आयु के स्त्री-पुरुष, नदी अथवा समुद्र में स्नान कर नये वस्त्रों से सुसज्जित होते हैं और पूरे तीन दिन नृत्य-गीत और सहभोजों में व्यतीत करते हैं। इनमें से एक अन्य उत्सव के समय वह अपने मंदिरों तथा बाहर की ओर अपनी छतों पर सरसों के तेल के असंख्य दीपक जलाते हैं जो दिन-रात जलते रहते हैं। तीसरे उत्सव पर, जो नौ दिन तक चलता है, वह सब प्रधान मार्गों पर छोटे जहाजों के मस्तूलों के समान बड़ी-बड़ी बल्लियाँ गाड़ते हैं, जिनके ऊपरी भाग पर सोने का काम किये हुए अनेक प्रकार के बहुत ही सुन्दर वस्त्र-खंड लगाये जाते हैं। इन बल्लियों के शिखर पर प्रतिदिन एक पवित्र आचरणोंवाला, धर्म पर समर्पित सब कुछ समभाव से सहन करनेवाला एक पुरुष रखा जाता है, जो भगवान् की कृपा के लिए प्रार्थना करता है। इन लोगों पर जनता संतरा, नीबू इत्यादि सुगंधि-युक्त फलों की वर्षा से आक्रमण करती है, जिसको यह बहुत धैर्य से सहन करते हैं। इनके अतिरिक्त तीन और उत्सव के दिन होते हैं, जिन दिनों वह लोग 'स्वयं राजा-रानी भी' राह चलतों पर सड़क के किनारे रखा हुआ केसरिया रंग छिड़कते हैं। सब लोग बड़ी हँसी के साथ इसको (रंग को) ग्रहण करते हैं।"

अब्दुर्रज्जाक का विजयनगर का वर्णन—निकोलो कोण्टी के बीस वर्ष पश्चात्, फारस का एक राजदूत अब्दुर्रज्जाक[१८] १४४२ ई० में विजयनगर

१८. अब्दुर्रज्जाक का पूर्ण विवरण ('मतल-उस-सादैन' इलियट, ४, पृ० १०५-१२० में दिया हुआ है। विजयनगर की समृद्धि मुसलमानों के विध्वंसकारी आक्रमण तक बनी रही।

आया। वह इस प्रसिद्ध नगर मे अप्रैल, १४४३ के प्रारम्भ तक रहा। उसने नगर तथा राय का विस्तृत वर्णन किया है। जो नीचे दिया जा रहा है—

राय—"एक दिन मुझे बुलाने के लिए, राजा के यहाँ से संदेश-वाहक आये और शाम के लगभग मैं दरबार मे गया। मैंने ५ सुन्दर घोड़े तथा दमिश्क और साटिन के नौ-नौ थानो से भरे दो थाल भेंट किये। राजा बहुत सजधज के साथ चालीस स्तम्भोंवाले भवन मे विराजमान था और उसके दायें-बायें ब्राह्मणो तथा अन्य लोगो का एक विशाल समूह खड़ा था। वह 'जैतून' साटिन के वस्त्र पहने हुए था और उसके गले में सच्चे मोतियों का एक अति उत्कृष्ट हार था, जिसका मूल्य आँकना किसी जौहरी के लिए भी कठिन था। वह जैतूनी रंग का, छरहरे शरीर का और कुछ ऊँचे कद का था। वह बहुत युवक था, क्योंकि केवल उसके कपोलों पर ही हल्की छाया थी और ठोढी पर बिलकुल नहीं थी। उसकी समस्त आकृति बहुत प्रभावशाली थी। उसके सामने उपस्थित किये जाने पर, मैंने अपना मस्तक नत किया। उसने अति सहृदयता से मेरा स्वागत किया, मुझे अपने पास बैठाया और बादशाह का शुभपत्र लेकर (दुभाषियो की ओर) बढ़ा दिया और कहा, "महाराज ने मेरे पास दूत भेजा, इससे मेरा हृदय अत्यन्त प्रसन्न है।" अत्यधिक गर्मी तथा शरीर पर बहुत वस्त्र होने के कारण, मुझे पसीने से तर देखकर, महाराज ने मुझ पर कृपा की और अपने हाथ का खटाई का पंखा मुझे दिया। तब वह एक थाल लाये और मुझे पान के दो बीड़े, ५०० 'फनमों' की एक थैली और कपूर के लगभग २० 'मिश्काल', दिये और बिदा लेकर मैं अपने निवासस्थान पर लौट आया। मुझे नित्यप्रति जो भोजन-सामग्री दी जाती थी, उसमें दो भेड़ें, चार पक्षियों के जोड़े, ५ मन चावल, १ मन मक्खन, १ मन खाँड और दो 'वरह' सोना दिया जाता था। यह नित्य का क्रम था। सप्ताह में दो बार मुझे शाम के समय भेंट के लिए बुलाया जाता, जब कि

अब्दुर्रज्जाक का जन्म हेरात मे १४१३ ई० मे हुआ था, उसको फारस के शासक शाहरुख ने विजयनगर मे राजदूत बनाकर भेजा था। उसकी मृत्यु १४८२ ई० में हुई। उसकी अनेक कृतियों मे 'मतल-उस-सादैन' सबसे महत्त्वपूर्ण है; इसमे सुलतान अबूसईद के शासन-काल के प्रारम्भ से अबूसईद गुरगाँव के वध तक का फारस का इतिहास दिया हुआ है।

एदोआर्दो बार्बोसा नामक यात्री ने, जो १५१६ ई० मे विजयनगर आया था, इस नगर के विषय में लिखा है कि यह 'बहुत विस्तृत, घना बसा हुआ और देशी हीरों, पेगू के लालों, चीन और एलेक्जेंड्रिया के रेशम तथा कपूर, कस्तूरी, मलाबार के चंदन आदि के व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र है।"

लूइस राइस—'मैसूर', १, पृ० ३५३।

राजा मुझसे 'खाकान-ए-सईद' के विषय में अनेक प्रश्न पूछता और प्रत्येक अवसर पर मुझे पान का बीड़ा, 'फनमो' की थैली और कुछ कपूर के 'मिश्काल' दिये जाते थे।

नगर—"हमारे पूर्व सम्बन्ध एवं यथास्थान वर्णन से सुविज्ञ पाठक समझ चुके होंगे कि (इस वर्णन का लेखक) अब्दुर्रज्जाक विजयनगर पहुँच चुका है। वहाँ उसने एक विशाल एवं घना बसा हुआ नगर और एक महान् शक्तिशाली एवं विशाल राज्य-सम्पन्न शासक, जिसका राज्य सरंदीप की सीमा से कुलवर्गा की सीमा तक और बंगाल से मलाबार तक, (इस प्रकार) १,००० परसंग से अधिक स्थान में विस्तृत था, देखे। देश का अधिकांश भाग कृषि के योग्य एवं उपजाऊ है और इस राज्य में लगभग ३०० अच्छे बन्दरगाह हैं। यहाँ पहाड़ों से विशाल एवं दैत्याकार १,००० हाथी हैं। सेना में ११ लाख सिपाही हैं। हिन्दुस्तान में उससे अधिक सर्वाधिकार सम्पन्न कोई 'राय' नहीं है, जिसके अधीन उस देश के राजा समझे जाते हैं। वह ब्राह्मणों का अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक आदर करता है। कलीला और दिम्ना की पुस्तक, जिससे अधिक सुन्दर पुस्तक फारसी भाषा में कोई नहीं है और जिसमें एक राय और एक ब्राह्मण की कहानी है, सम्भवतः इसी देश के विद्वानों की रचना है।

"बिजानगर का शहर ऐसा है कि जैसा न कभी आँखों ने देखा और न इसके समान समस्त पृथ्वी पर कोई स्थान सुनने में आया। यह इस प्रकार बना है कि इसमें एक के भीतर दूसरी किलेबन्द सात दीवारें हैं। बाहरी दीवार के घेरे के आगे लगभग ५० गज तक विस्तृत मैदान है, जिसमें आदमी के कद के पत्थर एक दूसरे से सटाकर लगाये गये हैं; एक-एक (पत्थर) मजबूती से जमीन में आधा गाड़ा गया है और दूसरा इससे आधी ऊँचाई तक उठा हुआ है, जिससे न अश्वारोही और न पैदल ही, चाहे वह कितना भी साहसी क्यों न हो, आसानी से बाहरी प्राचीर तक नहीं पहुँच सकता। यदि कोई हीराक नगर से इसका तुलना करना चाहे, तो उसको समझना चाहिए कि इसकी बाह्य प्राचीर मुस्तार की पहाड़ी तथा 'दो भाइयों के दर्रे' से लेकर नदी के तट तथा मलान के पुल तक, जो गिजार गाँव के पूर्व की ओर तथा सिवान गाँव के पश्चिम की ओर है, विस्तृत प्राचीर से समानता रखती है।

"दुर्ग, पहाड़ी की चोटी पर स्थित, वृत्ताकार है और चूने पत्थर से बना, मजबूत दरवाजों वाला है, जहाँ हमेशा रक्षक नियुक्त रहते हैं जो कर ('जजियात') वसूल करने में बहुत सतर्क रहते हैं। दूसरा दुर्ग उस स्थान से समानता रखता है, जो 'नई नदी' के पुल से कारा के दर्रे के पुल, रंगीना तथा जाकान

के पुल के पूर्व तथा जीवन्दा एवं जासान गाँव के पश्चिम तक विस्तृत है। तीसरा दुर्ग उतना स्थान घेरे है जितना इमाम फखरुद्दीन रजी के मकबरे से लेकर मुहम्मद सुल्तानशाह के गुबददार मकबरे तक के बीच मे है। चौथा 'दुर्ग' उस स्थान को प्रकट करेगा जो अंजील के पुल एव कराद के पुल के बीच है। पाँचवें को उतने स्थान के बराबर समझना चाहिए जितना जागान के बाग तथा जाकान नदी के पुल के बीच पडता है। छठवाँ 'दुर्ग' उस स्थान को प्रकट करेगा जितना बादशाही दरवाजा और फीरोजाबाद के दरवाजे के बीच पड़ता है। सातवाँ 'दुर्ग' दूसरे दुर्गों के केन्द्र मे स्थित है और हिरात के प्रधान बाजार से दसगुना अधिक स्थान घेरता है। इसमे राजप्रासाद है। बाह्य प्राचीर के उत्तरी द्वार से दक्षिणी द्वार तक के बीच दो 'परसंग' का फासला है और पूर्वी तथा पश्चिमी द्वार के बीच भी इतना ही अन्तर है। प्रथम, द्वितीय एव तृतीय प्राचीर के बीच जुते खेत, बाग और मकान हैं। तीसरी से सातवी प्राचीर तक दूकानें और बाजार पास-पास सटे हैं। राजप्रासाद के समीप चार बाजार आमने-सामने स्थित हैं। उत्तर की ओर राजकीय प्रासाद अर्थात् राय का निवासस्थान है। प्रत्येक बाजार सिरे पर एक उच्च मेहराब और शानदार गैलरी है, परन्तु राजप्रासाद इन सबसे ऊँचा है। बाजार बहुत चौड़े और लम्बे हैं, जिससे कि फूल बेचने वाले, यद्यपि वह अपनी दूकानों के सामने ऊँचे-ऊँचे चबूतरे रखते हैं, दोनों ओर से फूल बेच सकते है। इस नगर मे मधुर सुगंध-युक्त ताजे फूल किसी भी समय मिल सकते है, और यह देखकर कि इनके बिना लोग रह नहीं सकते, इनको जीवन की आवश्यक सामग्री समझा जाता है। प्रत्येक भिन्न व्यापारी-मण्डल अथवा कारीगरी की दूकानें एक दूसरे के समीप है। जौहरी अपने लाल और मोती और हीरे और पन्ने बाजार मे खुले रूप से बेचते है।

"उस मनोहर स्थल में, जहाँ राजप्रासाद स्थित हैं, रग किये हुए, समतल पत्थरों की नालियों से होकर अनेक नदी-नाले प्रवाहित होते है। सुलतान (महाराज) के प्रासाद के दायें हाथ 'दीवानखाना' अर्थात् सचिवालय है, जो बहुत विशाल है और 'चिहलसुतून' अर्थात् चालीस-स्तम्भोंवाले भवन का दृश्य उपस्थित करता है; और इसके सामने, एक आदमी के कद से ऊँची ३० गज लम्बी और ६ गज चौड़ी गैलरी है, जहाँ राज-पत्र रखे जाते हैं और लिपिक बैठते है।

"प्रत्येक व्यवसाय के प्रत्येक वर्ग के लोगों की दूकानें एक दूसरे से मिली हैं; जौहरी बाजार मे मोती, लाल, हीरे, पन्ने खुलेआम बेचते हैं। इस मनोहर स्थान में तथा राजा के महल में, दर्शक को पालिश किये कितने बढ़िया पत्थरों

से बने अनेक झरने और नहरें देखने को मिलती हैं। सुलतान (महाराज) के छज्जे के बाईं ओर 'दीवानखाना' (मंत्रणा-भवन) दीख पड़ता है, जो बहुत विशाल है और प्रासाद जैसा दिखाई देता है। इसके सामने एक कक्ष है, जिसकी ऊँचाई आदमी के कद से अधिक, लम्बाई ३० गज और चौड़ाई दस है। इसमें 'दफ्तरखाना' है जिसमें राज्य-सम्बन्धी कागजात रखे जाते हैं और यहाँ लिपिक बैठते हैं...। इस प्रासाद के मध्य में, एक ऊँचे चबूतरे पर, एक हिजड़ा बैठता है, जिसको दैयंग कहते हैं और केवल वही दीवान का अध्यक्ष-पद ग्रहण करता है। भवन के कोने पर चोबदार पंक्तिबद्ध खड़े रहते हैं। कोई भी आदमी जो यहाँ किसी काम से आता है, चोबदारों के बीच से होकर गुजरता है, कुछ भेंट देता है, जमीन की ओर मुँह कर दण्डवत् करता है, और तब उठकर वहाँ आने का कारण बताता है और दैयंग इस राज्य में व्यवहृत न्याय के नियमों के अनुरूप अपना निर्णय प्रकट कर देता है और इसके पश्चात् किसी को पुनः प्रार्थना करने की आज्ञा नहीं दी जाती।

सिक्के—"इस देश में तीन प्रकार की स्वर्ण-मुद्राएँ प्रचलित हैं; एक, 'वरहव' नाम का सिक्का है, जो तौल में दो दीनारों के बराबर के एक 'मिश्काल' के बराबर होता है; दूसरा 'कोपेकी', जो 'परतब' कहा जाता है, पहले का आधा होता है; तीसरा सिक्का, जिसको 'फनाम' कहते हैं, मूल्य में दूसरे सिक्के का दशमांश होता है। इन लोगों के विभिन्न सिक्कों में से 'फनाम' सबसे अधिक उपयोगी है। यह लोग शुद्ध चाँदी का एक सिक्का ढालते हैं, जो 'फनाम' का ⅙ होता है और इसको वह 'तार' कहते हैं। यह भी एक बहुत उपयोगी सिक्का है। एक ताँबे का सिक्का जो 'तार' का तृतीयांश होता है 'जीतल' कहा जाता है। इस साम्राज्य में प्रचलित प्रथा के अनुसार सब प्रान्त, एक निश्चित समय के पश्चात् अपना सोना टकसाल में लाते हैं। यदि किसी को दीवान से स्वर्ण के रूप में वृत्ति प्राप्त होती है, तो यह 'दरबखाना' से दी जाती है।"

नवीन वंश का उदय—देवराय की मृत्यु के पश्चात्, जो सम्भवतः १४४६ ई० में हुई उसके दो पुत्र मल्लिकार्जुन और विरूपाक्ष क्रमशः सिंहासनारूढ हुए। परन्तु वह साम्राज्य-संचालन में अयोग्य शक्तिहीन शासक थे। कुछ समय तक राज्य में कुचक्रों, अव्यवस्था एवं उपद्रवों का बोलबाला रहा, जिनको अन्ततः कर्नाटक एवं तैलंगाना[19] में सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न सामंत

१९. लूइस राइस—'माइसोर एँण्ड कुर्ग फ्रॉम दि इन्स्क्रिप्शंस,' पृ० ११७।

सुलुव-नरसिंह ने समाप्त किया। इसने विरूपाक्ष[20] के शासन-काल में साम्राज्य को विघटन से बचाने के लिए, सिंहासन का अपहरण कर लिया। विजयनगर के इतिहास में यह 'प्रथम अपहरण' कहा जाता है। नरसिंह ने अत्यन्त कुशलता एवं तत्परतापूर्वक शासन-तंत्र के सुधार का कार्य प्रारम्भ किया और अल्प-काल में ही वह राज्य की अर्थ-व्यवस्था सँभालने में सफल हो गया। सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था के कारण वह तामिल देश में युद्धों में प्रवृत्त हो सका, जहाँ उसने अनेक महत्त्वपूर्ण विजयें प्राप्त कीं। अपने पूर्ववर्ती शासकों के समान नरसिंह को भी बहमनी-शासकों से युद्ध करने पड़े, जिन्होंने उसको परास्त कर सन्धि करने के लिए बाध्य कर दिया। नरसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र इम्मादी नरसिंह ने शासन-सूत्र सँभाला, परन्तु उसके तुलुववंशीय सेनापति नरेश नायक ने १५०५ ई० में उसका वध कर, एक नवीन शासक-वंश की स्थापना की। यह घटना 'द्वितीय-अपहरण' के नाम से प्रसिद्ध है।

कृष्णदेव राय—१५०९-१५३० ई०—इस नवीन वंश का प्रसिद्धतम शासक कृष्णदेव राय हुआ, जिसका सिंहासनारोहण १५०९ ई० में हुआ बताया जाता है। उसके शासन से विजयनगर के इतिहास में एक नवीन काल का प्रारम्भ होता है, जिसमें यह साम्राज्य अभूतपूर्व समृद्धि एवं उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर सका। वह विजयनगर के विख्याततम एवं सर्वाधिक शक्तिशाली शासकों की पंक्ति में स्थान ग्रहण करता है। उसने दक्षिण की मुसलमान शक्तियों के

---

२०. सीवेल महोदय ने लिखा है कि अपहरण की यह घटना १४८७ ई० और १४९० ई० के बीच हुई

'ए फॉरगॉटन एम्पायर'—पृ० ९८।

लूइस राइस महोदय ने अभिलेखों की साक्षी के आधार पर अपहरण का समय १४७८ ई० में विरूपाक्ष के शासन-काल में बताया है। स्मिथ ने अपहरण की तिथि १४८६ ई० स्वीकार की है। 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री', पृ० ३०३।

विरूपाक्ष के अन्तिम लेख पर शुक्रवार, २९ जौलाई, १४८५ ई० की तिथि है। प्रथम लेख, जिसमें सुलुव नरसिंह अपनी राजकीय उपाधियों सहित दिखाई देता है, १ नवम्बर, १४८६ ई० का है। अपहरण की घटना इन दो तिथियों के बीच के समय में हुई होगी।

सुलुवा-वंश सरदारों का एक परिवार था, जिसको बहमनी-वंश ने अधिकार-च्युत कर दिया था। उन्होंने दक्षिण से मुसलमानों को निकालने में हरिहर और उसके भाइयों से सहयोग किया था। उनका प्रमुख स्थान चन्द्रगिरि था और वह वैष्णव थे। यह वर्णन अभिलेखों द्वारा समर्पित है।

सुलुवों और 'प्रथम अपहरण' के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—'मिथिक जरनल', ६, पृ० ७९-९८।

साथ बराबर की टक्कर ली और अपने पूर्वगामी शासकों के साथ किये गये दुर्व्यवहारों का प्रतिशोध लिया।

कृष्णदेव राय बहुत योग्य एवं रूपवान् पुरुष था। सभी विदेशियों ने, जिन्होंने उसको देखा, उसके गुणों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। 'पाइस'[२१] नामक यात्री ने, जिसने उसको स्वयं अपनी आँखों से देखा था, उसका इन शब्दों में वर्णन किया है—

"राजा सामान्य ऊँचाई का और सुन्दर रंग का तथा भव्य आकृति का, पतला होने की अपेक्षा कुछ मोटा-सा है; उसके चेहरे पर चेचक के दाग हैं। वह अत्यन्त प्रभावशाली और सर्वगुण सम्पन्न एक ऐसा शासक है, जो विनोदी स्वभाव का और बहुत प्रसन्न रहनेवाला है। वह एक ऐसा (व्यक्ति) है जो विदेशियों का सम्मान करने का प्रयत्न करता है और उनकी चाहे जैसी भी दशा हो, उनके हाल-चाल के विषय में पूछता हुआ, उनका सहृदयता से स्वागत करता है। वह एक महान् शासक है और बहुत न्याय-परायण है, परन्तु कभी-कभी क्रोधावेश का पात्र बन जाता है, और उसकी उपाधि है 'कृष्णराव मकाकाव, राजाधिराज, भारत के महानतम अधिपतियों का अधिपति, तीनों समुद्रों तथा प्रदेशों का अधिपति'। अपने अधीन सैन्यबल एवं एव प्रदेशों के कारण अन्य किसी से भी पद मे बड़ा अधिपति होने से ही उसकी यह उपाधि है, परन्तु जान पड़ता है कि (वास्तव मे) उसके जैसे व्यक्ति के पास जो कुछ होना चाहिए उसकी तुलना मे उसके पास कुछ भी नही है, प्रत्येक बात मे इतना पराक्रमी और सर्व-सम्पन्न है वह।"

इस काल का इतिहास प्रतिपक्षी शक्तियों में प्रमुखता के लिए रक्तपातपूर्ण संघर्षों का काल है, और ऐसे काल के इतिहास के बीच कृष्णदेव राय जैसे वीर एवं सुसंस्कृत शासक के चरित्र-चित्रण की ओर मुड़ते हुए निस्संदेह अत्यन्त विश्रान्ति का-सा अनुभव होता है। दक्षिण का कोई भी ऐसा हिन्दू अथवा मुसलमान शासक नही हुआ, जो कृष्णदेव राय की तुलना में ठहर सके। स्वयं वैष्णव होते हुए भी उसमें अन्य सम्प्रदायों के प्रति पूर्ण सहिष्णुता का भाव

२१. फरिश्ता ने इस शासक का नामोल्लेख तक नहीं किया है। परन्तु पाइस और नुनीज दोनों ने इसकी बहुत प्रशंसा की है। पाइस ने इसका स्वयं साक्षात्कार किया था; अतः इस विषय में वह बाद के इतिहासकार फरिश्ता से अधिक विश्वसनीय है।

पाइस ने अपना वृत्तान्त १५२२ ई० के लगभग लिखा था और नुनीज ने अपना ऐतिहासिक संक्षिप्त विवरण संभवतः १५३५-३७ ई० के बीच लिखा था।

सीवेल के 'ए फॉरगॉटन एम्पायर' पृ० २४६-४७ में पाइस का वर्णन।

था और उसने सबको पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की। पूर्वीय देशों में प्रचलित अतिथि-सत्कार की परम्परा का निर्वाह करते हुए, उसने जाति अथवा सम्प्रदाय का ध्यान न कर विदेशियों का उन्मुक्त हृदय से स्वागत किया। इन विदेशियों ने उसकी उदारता, उसके आकर्षक व्यक्तित्व एवं उसके सुसंस्कृत स्वभाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[२२] वह विनोद एवं वार्तालाप के लिए प्रसिद्ध था और विद्वानों की मुक्तकंठ प्रशंसा का पात्र था। अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि वह संस्कृत एवं तेलगू साहित्य का महान् संरक्षक था, और उत्तर भारत के प्रसिद्ध सम्राट् विक्रमादित्य के समान उसकी राजसभा में भी 'अष्ट दिग्गज' कहे जानेवाले आठ प्रसिद्ध कवि विराजमान थे।[२३] प्रजा के हित-साधन के लिए वह सदैव उत्सुक रहता था और मनुष्य-मात्र के कष्टों एवं दुखों को दूर करने की इच्छा से वह मुक्तहस्त दान देता था। अत्यधिक सम्पत्तिशाली होने के कारण वह देवालयों एवं ब्राह्मणों को प्रचुर दान दे सका, जिसमें उसका यश समस्त देश में व्याप्त हो गया। व्यक्तिगत जीवन में नम्र एवं स्नेहपूर्ण, मन्त्रणा में विवेकी एवं दूरदर्शी, काव्य सुनते समय वाग्मी एवं सुसंस्कृत, सार्वजनिक अवसरों पर गौरवान्वित एवं भयोत्पादक कृष्णदेवराय युद्ध में दुर्दम्य था और कभी-कभी पराजित शत्रु को नीचा दिखाने में बहुत आगे भी बढ़ जाता था। परन्तु ऐसा करने में वह समय की युद्ध-नीति की उस बर्बरता का प्रदर्शन-मात्र करता था, जिसके पूर्ण अनुगामी बहमनी शासक थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में 'जैसे को तैसा' यही सामान्य नीति थी; अतः अपने से युद्ध में परास्त मुसलमान-शासक के प्रति कृष्णदेव राय के व्यवहार के विषय में सीवेल के[२४] शब्दों का समर्थन कर सकना कठिन है

२२. साहित्य में स्वयं उसकी रचनाएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उसके राजनीतिक श्लोकों के विषय में देखिये जनरल ऑव इण्डियन हिस्ट्री, जि० ४, भा० ३ (१९२६), पृ० ६१-८८ में ए० रंगास्वामी सरस्वती का लेख 'पोलिटिकल मेक्सिम्स ऑव कृष्णदेव राय'।

२३. लूइस राइस 'माइसोर एण्ड कुर्ग फ्रॉम दि इन्स्क्रिप्शन्स' पृ० ११०।

स्वयं राय संस्कृत और तेलगू में कविता करता था। उसकी संस्कृत की कोई रचना नहीं बची है, परन्तु तेलगू में आज भी उसका 'अमुक्तमाल्यदा' अथवा 'विष्णुचित्तियम्' नामक एक काव्य प्राप्त होता है, जो एक उच्च कोटि की रचना कहा जाता है।

लॉंगहर्स्ट, 'हाम्पी रुइंस' पृ० २०।

२४. सीवेल—'ए फॉरगॉटन एम्पायर' पृ० १२२।

लॉंगहर्स्ट, 'हाम्पी रुइन्स' पृ० २१।

दोनों वर्णन फरिश्ता के आधार पर हैं, जिसने लिखा है कि २१५

सीवेल ने राय के पद एवं व्यक्तित्व का निम्न शब्दों में सुन्दर वर्णन किया है।[25]

"कृष्णदेव राय नाममात्र का शासक न था, परन्तु यह व्यावहारिक रूप में अपरिमित शक्तियुक्त एवं प्रबल व्यक्तिगत प्रभाव-सम्पन्न, निरंकुश अधिपति था। युवावस्था में वह शारीरिक दृष्टि से दृढ़ था, और कठिन शारीरिक व्यायामों से उसने अपना बल सदैव उत्कर्ष पर रखा। वह बड़े सवेरे उठता था और हिन्दुस्तानी मुद्‌गरों के तथा तलवार के प्रयोग से सारे अवयवों को मजबूत बनाता था; वह अच्छा घुड़सवार था और उसको प्रभावशाली आकृति प्राप्त हुई थी जिससे उसके सम्पर्क में आनेवाले लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ता था। वह अपनी विशाल सेनाओं का स्वयं संचालन करता था, योग्य, वीर एवं नीति-निपुण था और साथ ही बहुत विनीत एवं उदार स्वभाव का व्यक्ति था। सब लोग उसको चाहते थे और उसका आदर करते थे। उसके आचरण पर केवल एक यही धब्बा है कि मुसलमान राजा पर महान् विजय प्राप्त कर लेने पर वह अपनी माँगों में घमण्डी एवं उद्दण्ड हो उठा।"

उसकी विजयें—सिंहासन पर सुरक्षित रूप से प्रतिष्ठित हो जाने पर कृष्णदेव राय ने विजयों द्वारा साम्राज्य-विस्तार का दुष्कर कार्य हाथ में लिया। उसने सर्वप्रथम उम्मत्तुर (मैसूर जिला) के सरदार गंगराज पर आक्रमण किया, जिसने कृष्णदेव राय के आधिपत्य की अवहेलना कर दी थी और जो गंग-वंश की सन्तान होने के कारण पेनुगोंडा पर अपना अधिकार जतलाता था। विजयनगर की सेना ने उसके समस्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया और शिव सुन्दरम्[26] तथा श्रीरंगपट्टम् के दुर्ग छीन लिये। १५१३ ई० में राय की सेनाओं ने उड़ीसा नरेश के उदयगिरि के सुदृढ़ दुर्ग को (जो नैलोर जिले में है) हस्तगत कर लिया और विजय-चिह्न के रूप में वह कृष्ण की एक प्रतिमा विजयनगर ले गये, जहाँ बड़े समारोहपूर्वक इसको एक देवालय में स्थापित किया गया और इस देवालय के व्यय के लिए भूमि अर्पित की गई। उदयगिरि प्राप्त करने के बाद राय ने उड़ीसा-नरेश के एक दूसरे पर्वतीय

आदिलशाह को संदेश भेजा गया कि यदि वह उसके (राय के) पैर चूमने को आये तो उसके प्रदेश और दुर्ग लौटा दिये जायँगे।

२५. सीवेल—'ए फॉरगॉटन एम्पायर' पृ० १२१-२२।

२६. कावेरी के समुद्र से मिलने के स्थान पर स्थित शिवसमद्रम् टापू गंग राय का प्रमुख स्थान था, बँगलौर जिले के कुछ भाग शिवसमुद्रम् देश के नाम से कहे जाते थे। लूईस राइस—'माइसोर एण्ड कुर्ग फ्रॉम दि इन्स्-क्रिप्शन्स' पृ० ११६।

दुर्ग कोंडाविद पर आक्रमण किया। दो मास के घेरे के पश्चात् दुर्ग राय के हाथ आया और उड़ीसा-नरेश एक युद्ध मे परास्त हुआ। इसके बाद कोंडापल्ली के दुर्ग[२७] पर अधिकार किया गया और वहाँ राय ने उड़ीसा-नरेश की एक पत्नी और पुत्र को वंदी बनाया। अत्यन्त विपन्नावस्था में पड़कर दुर्भाग्य ग्रस्त उड़ीसा-नरेश ने दया की याचना की और तब संधि कर ली गई। उड़ीसा की एक राजकुमारी के साथ कृष्णदेव राय के विवाह ने इस संधि को और भी दृढ़ कर दिया।

बहमनी साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने से दक्षिण मे बहुत उथल-पुथल मच रही थी और आन्तरिक युद्ध एवं संघर्षों का बोलबाला हो गया था। विशृंखलित बहमनी-साम्राज्य के विभिन्न भागों में जो स्वतन्त्र राज्य बन गये थे वह अपनी सीमा का विस्तार करने के लिए परस्पर और हिन्दू-शासकों के साथ लड़ने भिड़ने लगे थे। कम्बमपेट के राजा सीतापति ने मुसलमानों से लड़ाई छेड दी, परन्तु गोलकुण्डा के सुलतान ने उस पर धावा बोलकर उसको परास्त कर दिया। परन्तु इस पराजय के बाद भी राजा युद्ध से विमुख न हुआ। उसने हिन्दू शासकों से सहायता की प्रार्थना की और विशाल सेना एकत्र कर ली। गोलकुण्डा के सुलतान ने पुनः उसके विरुद्ध प्रयाण किया और हिन्दुओ को बुरी तरह हरा दिया। मुसलमान-सेना ने दुर्ग पर अधिकार कर लिया, स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का जी भर संहार किया और राजा की स्त्रियों को भी पकड़ लिया। इन अत्याचारो को देख पास-पडोस के हिन्दू राजाओं ने दृढ़ संघ बनाकर पालिचिनूर नामक स्थान पर मुसलमानों का सामना किया, परन्तु यहाँ भी उनको करारी हार खानी पड़ी। अन्ततः एक संधि द्वारा गोदावरी नदी को गोलकुण्डा राज्य की पूर्वी सीमा निर्धारित कर यह संहार-लीला समाप्त की गई। इस अवसर पर कृष्णदेव राय युद्धभूमि में उतरा। कोंडाविद दुर्ग के लिए युद्ध छिड़ गया और बहुत समय तक लड़ने के बाद, मुसलमान को यह दुर्ग छोड़ देना पड़ा।[२८] परन्तु कुछ समय बाद मुसलमानों

२७. मद्रास मे कृष्णा जिले के बेजवाड़ा ताल्लुक में कोंडापल्ली नामक नगर और पर्वतीय दुर्ग है।

इम्पी० गजेटि० १५, पृ० ३८३।

२८. गन्तूर जिले में कोंडाविद नामक एक गाँव और पहाड़ी दुर्ग है। इसको १५१६ ई० मे जीता गया था और गणपति नरेश प्रतापरुद्र के पुत्र वीरभद्र को बन्दी बनाया गया था तथा बाद में उसका मैसूर के पश्चिम में मलेया बेन्नूर प्रदेश दिया गया था।

'माइसोर एण्ड कुर्ग फ्रॉम दि इन्स्क्रिप्शन्स' १०७, पृ० ११९।

ने इस दुर्ग पर पुनः आक्रमण किया और हिन्दुओं को कर देने के लिए बाध्य कर दिया ।[२८]

बीजापुर से युद्ध—कृष्णदेव राय को सर्वाधिक यश बीजापुर नरेश आदिलशाह के साथ युद्ध मे प्राप्त हुआ । राय की सेना ने, जिसमें लगभग १ लाख व्यक्ति तथा बहुसंख्यक हाथी थे, रायचूर की घाटी मे प्रयाण किया और दुर्ग को घेर लिया । दुर्ग की रक्षा के लिए बीजापुर का शाह १,४०,००० अश्वारोहियों की सेना लेकर आ पहुँचा और उसने रायचूर से ६ मील पर डेरा डाला । १६ मई, १५२० ई० को दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई और घोर संग्राम के बाद बीजापुर की सेना को अत्यधिक क्षतिग्रस्त होकर पीछे हटना पड़ा ।[३०] मुसलमान सेना साहस बटोरकर पुनः रणभूमि मे उतरी, परन्तु उसको पुनः विफल-प्रयत्न होना पड़ा । मुसलमान छावनी लूटी गई और हिन्दुओं को लूट से विपुल सम्पत्ति प्राप्त हुई । फरिया-ए-सोजा तथा नुनीज दोनों ने लिखा है कि युद्ध के पश्चात् कृष्णदेव राय ने बीजापुर के सुलतान के सामने अत्यन्त अपमानजनक शर्तें रखी । इनसे मुसलमान-शासकों के आत्मसम्मान को इतना गहरा आघात लगा कि वह विजयनगर साम्राज्य की समाप्ति के उपाय ढूँढ़ने लगे । परन्तु इस पराजय से बीजापुर का सुलतान इतना भयभीत हुआ कि उसने जीवन-पर्यन्त फिर कभी विजयनगर की सीमा मे उपद्रव करने का नाम न लिया । सीवेल ने इस युद्ध के राजनीतिक परिणामों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है । इस पराजय से आदिलशाह की प्रतिष्ठा इतनी गिर गई कि उसने दक्षिण मे और कोई युद्ध लड़ने का विचार त्याग दिया और भावी युद्ध के लिए अपने समस्त साधन एकत्र करने पर ही ध्यान केन्द्रित कर दिया । दक्षिण के अन्य मुसलमान-राज्य विजयनगर-साम्राज्य की शक्ति के उत्कर्ष को रोकने के लिए उपाय खोजने लगे । इस विजय से हिन्दुओं का अभिमान और उद्दण्डता इतनी बढ़ गई कि मुसलमान-क्षेत्रों में वह सर्वत्र घृणा के पात्र बन गये । इस युद्ध का पुर्तगालियों पर भी

देखिए सीवेल के 'ए फॉरगॉटन एम्पायर' में नुनीज का वर्णन । उसका कहना है कि राय ने उड़ीसा-नरेश से यह दुर्ग छीना था ।

२६. सीवेल, पृ० ३२१-२२ ।

३०. फरिश्ता का वर्णन ऊपर दिये हुए वर्णन से भिन्न है । परन्तु नुनीज समकालीन इतिहासकार होने के कारण अधिक विश्वसनीय है । साथ ही, नुनीज के वर्णन से विदित होता है कि वास्तविक वस्तुस्थिति को जानने के सुयोग नुनीज को प्राप्त थे ।

नुनीज के इस युद्ध के वर्णन के लिए देखिए—सीवेल 'ए फॉरगॉटन एम्पायर' पृ० ३३४-४५ ।

कम महत्त्वपूर्ण प्रभाव न पड़ा। पुर्तगालियों के व्यापार की समृद्धि हिन्दू-साम्राज्य के संपन्न-सम्पन्न नगरों पर निर्भर थी, परन्तु हिन्दू-साम्राज्य के पतन के साथ इन विदेशी व्यापारियों के व्यापार-क्षेत्र भी जाते रहे और व्यापार मंदा पड़ गया।

कृष्णदेव राय और पुर्तगाली—पुर्तगालियों ने समुद्र-तटवर्ती स्थानों पर अपनी बस्तियाँ बना ली थीं और यद्यपि वह छोटे-छोटे हिंदू सरदारों तथा 'मूरों' से लड़ पड़ते थे, परन्तु विजयनगर के राय के साथ उन्होंने मित्रता स्थापित कर ली थी। राय को भी उनके घोड़ों तथा अन्य वस्तुओं के व्यापार से बड़ा लाभ होता था। पुर्तगाल की सरकार ने भारत में व्यापार करनेवाले पुर्तगालियों को हिंदुओं के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार बनाये रखने का आदेश दिया था और पुर्तगाली-गवर्नर अलबुकर्क ने आत्म-रक्षा के लिए भटकल में दुर्ग बनाने की स्वीकृति लेने के लिए विजयनगर दरबार में एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजा। राय ने इस मण्डल के प्रति बहुत कृपाभाव प्रकट किया, परन्तु गवर्नर की प्रार्थना का उसने कोई संतोषजनक उत्तर न दिया। पुर्तगालियों के गोआ पर अधिकार करने पर, राय ने उनको बधाई दी और उनकी पूर्व-प्रार्थना भी स्वीकार कर ली। मुसलमानों ने गोआ पर पुनः अधिकार किया, परन्तु पुर्तगालियों ने इसको उनसे फिर छीन लिया। दक्षिण के हिंदू और मुसलमान *शासकों के पारस्परिक संघर्षों से इन विदेशी व्यापारियों का राजनीतिक* महत्त्व बहुत बढ़ गया, क्योंकि यह प्रतिपक्षी दल समय-समय पर उनकी सहायता लेने लगे।

साम्राज्य का विस्तार—कृष्णदेव राय की विजयों से विजयनगर साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ़ गया। वह उस समस्त प्रदेश में फैल गया, जो आज मद्रास प्रेजीडेंसी, मैसूर तथा दक्षिण की कुछ अन्य रियासतों के अंतर्गत है। पूर्व में कटक तथा पश्चिम में सालसिट तक विजयनगर-साम्राज्य विस्तृत हो गया और दक्षिण की ओर यह दक्षिण भारत के सुदूरतम सीमा को छूने लगा।

अवनति का काल—कृष्णदेव राय की मृत्यु के पश्चात् विजयनगर साम्राज्य अवनति की ओर बढ़ने लगा। उसके पश्चात् उसका भाई अच्युतराय सिंहासनारूढ़ हुआ, परन्तु वह अयोग्य व्यक्ति था और चारों ओर से प्रबल एवं ईर्षालु शत्रुओं से घिरे इतने विशाल साम्राज्य का संचालन करने की निपुणता उसमें न थी। बीजापुर के सुलतान ने रायचूर एवं मुद्गल के दुर्गों पर अधिकार कर लिया और फरिश्ता लिखता है कि इन विजयों के उपलक्ष में उसने "मदिरापान किया और जी भर आनंद-समारोह मनाये।" सिंहासनारूढ़ होने के कुछ समय पश्चात् अपने सामंतों एवं पदाधिकारियों के कुचक्रों से त्राण पाने के लिए अच्युत ने बीजापुर के सुलतान इब्राहीम आदिलशाह को सहायता

के लिए बुलाया और इस सहायता के बदले उसको विशाल धन-राशि एवं बहुमूल्य उपहार दिये। किसी भी इतिहासकार ने उन विचित्र परिस्थितियों को स्पष्ट नहीं किया है, जिनसे बाध्य होकर अच्युत को यह मार्ग अपनाना पड़ा। अच्युत की कायरता एवं शक्तिहीनता की तीव्र निंदा करनेवाले नुनीज ने इसका कारण उसकी "कापुरुषता एवं सर्वथा अयोग्यता" बताया है।[31]

सदाशिव राय—१५४२ ई० में अच्युत की मृत्यु के पश्चात् उसके अल्पवयस्क पुत्र का राजतिलक किया गया, परन्तु थोड़े समय बाद ही वह चल बसा और तब उसके स्वर्गवासी भाई के पुत्र सदाशिव ने छत्र धारण किया। सदाशिव नाममात्र का शासक था; वास्तव मे राजशक्ति कृष्णदेव राय के विख्यात मंत्री सालूवा तिम्मा के पुत्र रामराजा सालूवा के हाथ में थी। रामराजा मे निपुणता की कमी न थी, परन्तु उसने परिस्थितियों के गंभीर विवेचन एव अपने तथा शत्रु के बल के ठीक-ठीक परिज्ञान का कभी प्रयत्न न किया और अपने अभिमान भरे एवं उद्दण्ड व्यवहार से वह अपने सहयोगियों तथा प्रतिपक्षियों को रुष्ट करता रहा। घटना-क्रम कुछ इस प्रकार चल पड़ा, जिससे विजयनगर के विनाश का मार्ग स्पष्ट होने लगा। १५४३ ई० मे बुरहान निजामशाह ने रामराजा तथा गोलकुण्डा के कुतुबशाह से सन्धि कर बीजापुर पर आक्रमण कर दिया। विकट परिस्थिति मे घिरे अलीआदिल शाह ने अपने निपुण मत्री असद खाँ से सहायता माँगी और इस राजनीति की चालों मे दक्ष मंत्री ने राज्य का कुछ भाग देकर बुरहान से सधि कर ली और विजयनगर के राय को भी इस संघ से हटा लिया। इस प्रकार इस सघ को तोड़कर उसने गोलकुण्डा के कुतुबशाही शासक पर आक्रमण कर दिया और उसको युद्ध में घायल कर दिया। चौदह वर्ष उपरान्त १५५७ ई० में इब्राहीम आदिलशाह की मृत्यु के पश्चात् शासक के परिवर्तन से लाभ उठाकर हुसैन निजामशाह ने बीजापुर की सीमा पर आक्रमण कर दिया। इस अकारण आक्रमण का बदला लेने के लिए बीजापुर के अली आदिलशाह ने गोलकुण्डा तथा विजयनगर को अपनी ओर मिलाकर अहमदनगर पर धावा बोल दिया और कल्याण तथा शोलापुर लौटाने की माँग की। अहमदनगर के सुलतान ने इस माँग का तिरस्कार किया; अत. युद्ध अनिवार्य हो गया। फरिश्ता लिखता है—

३१. अच्युत यथार्थ में रणकुशल शासक न था। अभिलेखों (२४, १२) से विदित होता है कि उस पर धर्माधिकारियों का बहुत प्रभाव था। उसने ब्राह्मणों को मुक्तहस्त दान दिये और उनके लाभ के लिए 'आनंदनिधि' नाम से एक निधि स्थापित की।

"सारे देश को इस प्रकार उजाड़ दिया गया कि पोरन्देह से खैबर तक और अहमदनगर से दौलताबाद तक, आबादी का कोई भी चिह्न शेष न रह गया। बीजानगर के काफिरों ने, जो अनेक वर्षों से ऐसी घटना की ताक में थे, कोई निर्दयता बाकी न रखी। उन्होंने मुसलमान स्त्रियों का सम्मान भ्रष्ट किया, मस्जिदों का विनाश किया और पवित्र कुरान तक का अपमान किया।"

विशाल संघ—हिंदुओं के अत्याचारपूर्ण आचरणों से मुसलमानों की भावनाओं को प्रबल आघात लगा और वह सहयोगी मुसलमान राज्यों की सहानुभूति भी खो बैठे। अपने बीच एक ऐसे शक्तिशाली हिंदू-राज्य का अस्तित्व, जो धन एवं सैन्य-शक्ति में उनसे कहीं अधिक बढ़-चढ़कर हो, मुसलमान-राज्यों की आँखों में बुरी तरह खटकने लगा और क्योंकि अकेले-अकेले इस राज्य का विनाश कर सकना संभव न था, अतः दक्षिण के चारों मुसलमान-राज्य अपने आपसी झगड़े भुलाकर विजयनगर की समाप्ति के लिए संघबद्ध हुए। गोलकुण्डा के इब्राहीम कुतुबशाह ने मुसलमान राज्यों को संघटित करने में प्रमुख भाग लिया। निजामशाह को अपनी पुत्री चाँदबीबी का विवाह आदिलशाह से कर देने और दहेज के रूप में शोलापुर का दुर्ग देने के लिए राजी किया गया और इस संबंध को और भी दृढ़ करने के विचार से आदिलशाह ने अपनी पुत्री का विवाह निजामशाह के ज्येष्ठ पुत्र सुलतान मुर्तजा से कर दिया। बरार के सुलतान को इस संघ में सम्मिलित होने के लिए न बुलाया गया और वह इससे अलग रहा। इन चारों राज्यों की सम्मिलित सेनाओं ने २५ दिसम्बर, १५६४ ई० के दिन दक्षिण की ओर प्रयाण किया और वह कृष्णा के तट पर तालीकोट नगर के समीप एकत्र हुईं।

तालीकोट का युद्ध, १५६५ ई०—मुसलमानों की संयुक्त सेना के आगमन पर राय ने कुछ भी ध्यान न दिया और मन में यह सोचकर कि आज तक कोई भी मुसलमान-शक्ति विजयनगर और इसके समीपवर्ती प्रदेशों को लूटने में सफल नहीं हो सकी है, वह आश्वस्त बना रहा और उसने इनकी गतिविधियों के प्रति पूर्ण उदासीनता प्रकट की। समृद्ध एवं विलास-मग्न जनता को भावी संकट का कुछ भी आभास न हो पाया और मुसलमान-सेनाओं के प्रदर्शन नगर के जीवन की शान्ति को थोड़ा भी भंग न कर सके; लोग पूर्णतया निश्चिन्त भाव से अपने-अपने कार्यों में लगे रहे। अपने आपको भुलावे में रखने की अद्भुत क्षमता-सम्पन्न रामराजा अब भी उदासीन बना रहा और [illegible] के शब्दों में उसने "मित्र-राज्यों के दूतों से साथ तिरस्कारपूर्ण भाषा का प्रयोग किया और इस शत्रुता को महत्त्वहीन समझा।" परन्तु सुरक्षा की [illegible]

भावना अधिक समय तक स्थिर न रह सकती थी, और अंततः सन्निकट संकट का विश्वास हो जाने पर राय ने अपनी सेना का संगठन आरम्भ कर दिया। उसने अपने सबसे छोटे भाई तिरूमल को २०,००० अश्वारोही, १,००,००० पदाति तथा ५०० गज-सेना लेकर कृष्णा के प्रत्येक घाटे की रक्षा के लिए भेजा, अपने दूसरे भाई को दूसरी सेना के साथ भेजा और तब स्वयं साम्राज्य की शेष सेनाओं के साथ चल पड़ा। प्रांतीय सेनाओं ने साम्राज्य की सेना की संख्या बहुत बढ़ा दी; सीमा-प्रान्तों से कन्नड तथा तेलगू सेनाएँ, पश्चिम तथा केंद्र से मैसूर तथा मालाबार की सेनाएँ मुसलमानों से लड़ने के लिए तामिल सेना के साथ आ मिली। शत्रु-बल से सुपरिचित मुसलमान-मित्र-राज्यों ने भी पूरी-पूरी तैयारियाँ की थीं। वयोवृद्ध हुसैन निजामशाह, जिसके नेतृत्व में यह सहयोगी-राज्य चल रहे थे, केन्द्र में रखा गया और दक्षिण तथा वाम पार्श्वों का संचालन क्रमशः अली आदिलशाह और कुतुबशाह को सौंपा गया। इस युद्ध में भाग लेनेवाली सेनाओं का ठीक-ठीक ब्योरा देना संभव नहीं है, क्योंकि फरिश्ता द्वारा दी गई संख्याएँ बहुत कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं।[३२] परन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि दक्षिण के मैदानों में इससे पूर्व इतनी विशाल सेनाएँ समर-भूमि मे न उतरी थी। हिंदुओं ने प्राणों का मोह त्याग-कर प्रचण्ड वेग से आक्रमण प्रारम्भ किया और सहस्रों शत्रु-सैनिकों का संहार करते हुए, शत्रु-सेना के दक्षिण तथा वाम पार्श्वों को पीछे ढकेल दिया। दोनो पक्षो मे भयंकर जन-हानि हुई; रामराजा ने अपने कोषाध्यक्ष को आज्ञा दी कि वह अपने पास सोना, चाँदी, रत्न और आभूषण रखे और जो सैनिक अंतिम समय तक युद्ध करने का दृढ़ निश्चय कर अपने स्थान पर डटे रहें उनको खूब पुरस्कार दे। हिंदुओं ने दूसरी बार इतना प्रचण्ड आक्रमण किया कि शत्रुओं को विजय की कोई आशा न रह गई और पीछे हटने की सोचने लगे। परन्तु मित्र-राज्यों के तोपखाने के सक्रिय होते ही पांसा पलट गया; ताँबे के सिक्कों से भरे थैलों की मार ने हिंदू-सेना के ५,००० सैनिकों को तत्काल धराशायी कर दिया। तत्पश्चात् मुसलमान-अश्वारोही-सेना शत्रु-दल को चीरते हुए आगे बढ़ी और उसको चारों ओर तितर-बितर कर दिया। रामराजा पकड़ा गया और डी कूतो लिखता है कि हुसैन निजामशाह ने स्वयं अपने हाथों से यह कहते हुए कि "अब मैंने तुमसे अपना बदला चुका लिया। खुदा मेरे

३२. फरिश्ता के अनुसार विजयनगर की सेना मे ही ९,००,००० पदाति, ४५,००० अश्वारोही, २,००० हाथी, १,००० मजदूर तथा १५,००० सेवक थे। परन्तु अपने विवरण मे भिन्न-भिन्न स्थान पर उसने भिन्न-भिन्न संख्याएँ दी हैं।

माथ अब चाहे जो कुछ करे !" उसका शिरच्छेद किया । अपने राजा एव नेता के पकड़े जाने का समाचार हिन्दू-सेना पर वज्र के समान गिरा और वह भय-संत्रस्त होकर इधर-उधर भागने लगे । युद्ध का परिणाम हिन्दू-सेना की केवल पराजय ही नहीं अपितु पूर्ण पतन हुआ । हिन्दू-सेना के विभिन्न दलों के नायकों ने अपने-अपने दल को सँभालने का कोई प्रयत्न न किया और फरिश्ता लिखता है कि हिंदुओं का अत्यन्त बर्बरतापूर्वक सहार किया गया । लगभग १ लाख हिंदू मारे गये और लूट में इतनी विशाल सामग्री विजेताओ के हाथ लगी कि "संयुक्त-सेना का प्रत्येक व्यक्ति सोना, जवाहरात, तम्बू, हथियार, घोड़े और दासों से मालामाल हो गया, क्योंकि सुलतानों ने अपने लिए केवल हाथी रखकर बाकी जिस सैनिक ने जो कुछ प्राप्त किया था, वह उसके ही पास रहने दिया ।"

विजयनगर की लूट—परन्तु विनाश के भावी ताण्डव की तुलना मे यह पराजय कुछ भी न थी । आइए, इम वैभव-सम्पन्न नगरी के विनाश की कथा इसके विकास एवं उत्कर्ष के अध्ययन मे वर्षो अथक परिश्रम करनेवाले सीवेल महोदय के करुणापूर्ण शब्दों में सुनें ।[1]

"इसलिए, स्वयं नगर की सुरक्षा के लिए, कुछ भी भय न था । वह तो निस्संदेह सुरक्षित थी । लेकिन अब युद्ध से भागते हुए निराशाभिभूत सैनिक आने लगे और सबसे पहले आनेवालो मे से थे भय-विह्वल राज-परिवार के राजकुमार । कुछ ही घण्टों मे इन कायर सरदारों ने जो कुछ भी कोष हाथ लग सका उसको लेकर शीघ्रता से महल छोड़ दिया । सौ करोड़ से भी अधिक मूल्य के स्वर्ण, रत्नों एव मणियों से लदे ५५० हाथी राज-पताका एवं प्रसिद्ध रत्न-जटित सिंहासन लेकर राज-भक्त सैनिकों के दल की निगरानी मे नगर छोड़कर चल दिये । राजा सदाशिव को, बंदीगृह का अध्यक्ष तिरुमल, जो अपने भाइयों की मृत्यु के पश्चात् एकमात्र संरक्षक बन गया था, नगर से ले चला और राज-परिवार तथा उसके अनुचरों का विशाल दल दक्षिण की तरफ पेनुकोण्डा दुर्ग की ओर भाग चला ।

"तब नगर भय से आक्रांत हो उठा । अंततः वास्तविकता प्रकट हो गई । यह केवल एक पराजय-मात्र न थी, यह प्रलय थी । कोई आशा शेष न रही थी । नगर के सहस्रशः निवासियों को असुरक्षित छोड़ दिया गया था । केवल कुछ को छोड औरों के लिए पीछे हटना या भागना भी संभव न था, क्योंकि सामान ढोनेवाले बैल और गाड़ियाँ सब युद्ध मे चले गये थे और वहाँ

३३. सीवेल 'ए फॉरगॉटन एम्पायर' पृ० २०६-८ ।

से लौटे नहीं थे। खजानों को भूमि में गाड़ देने, युवकों को शस्त्र-सज्जित करने और प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त और कुछ भी न किया जा सकता था। दूसरे दिन यह नगर लुटेरी जातियों और पड़ोस के जंगली लोगों का आखेट बन गया। ब्रिजारी, लम्बाडी, कुरुव सरीखी जातियों के दल निरीह नगर पर टूट पड़े और भण्डारों तथा दूकानों को लूटकर विशाल धन-राशियाँ ले गये। कूतो लिखता है कि उस दिन भर में ६ बार इन लोगों के आक्रमण हुए।

"तीसरे दिन संहार का प्रारम्भ हुआ। विजेता मुसलमान विश्राम और मनोविनोद के लिए युद्ध-क्षेत्र में ठहर गये थे, परन्तु अब वे राजधानी में पहुँच गये थे, और तब से लेकर पाँच मास तक विजयनगर को चैन की साँस लेने का अवकाश न मिला। शत्रु विनाश के लिए आये थे और वह अविश्रान्त रूप से अपने उद्देश्य की पूर्ति में जुट गये। उन्होंने लोगों को निर्दयतापूर्वक तलवार के घाट उतारा, मंदिरों एवं प्रासादों को ध्वस्त किया और राजाओं के निवास-स्थानों से ऐसा प्रतिशोध लिया कि कुछ विशाल प्रस्तर-निर्मित मंदिरों और दीवालों को छोड़ आज उस स्थान का परिचय देने के लिए जहाँ विशाल अट्टालिकाएँ खड़ी थीं, खण्डहरों के ढेर के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहा है। उन्होंने मूर्तियों का ध्वंस किया और एक-प्रस्तर-निर्मित नरसिंह की मूर्ति तक की भुजाओं को तोड़ने में वे सफल रहे। उनसे कोई भी वस्तु बचती न दिखाई दी। उन्होंने विशाल मंचों पर निर्मित उन प्रेक्षागृहों को तोड़ दिया, जहाँ से राजा लोग उत्सवों को देखा करते थे और कारु-कला की सब कृतियों को उन्होंने नष्ट कर दिया। नदी के समीप विट्ठल स्वामी के मंदिर के अत्यधिक अलंकृत विशाल भवनों में उन्होंने जगह-जगह आग लगा दी और इसके अनिंद्य सुन्दर प्रस्तर-शिल्प को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अग्नि और तलवार से, लौह शलाकाओं एवं फरसों से, दिन प्रतिदिन यह विनाश का कार्य सम्पन्न करते रहे। संसार के इतिहास में, ऐसे भव्य नगर का ऐसा विनाश, इतने अकस्मात् रूप से, स्यात् कभी नहीं हुआ। (वह नगर जो) एक दिन धन-सम्पन्न एवं व्यवसाय-संलग्न जनता से भरा हुआ वैभव के बाहुल्य से पूर्ण था, वही दूसरे दिन आक्रांत, धर्षित और ध्वस्त होकर वर्णनातीत बर्बर-नरसंहार एवं पैशाचिक कृत्यों का क्रीड़ास्थल बना हुआ था।"[१४]

---

३४. पुर्तगाली इतिहासकार फेरिया-ए-सूजा लिखता है—

"यद्यपि स्थानीय लोग पहले ही एक सिंहासन, जिसका मूल्य नहीं आँका जा सकता तथा स्वर्ण के १० करोड़ भारों सहित १,५५० हाथियों को धन एवं रत्नों से लादकर ले जा चुके थे, फिर भी मुसलमानों ने पाँच महीनों तक विजयनगर को लूटा, आदिलशाह ने लूट के हिस्से में एक घंटे के बराबर

विजयनगर के इस भाग्य-विपर्यय से पाठकों को इतिहासकार गिबन के वे नैराश्यपूर्ण शब्द स्मरण हो जायेंगे कि इतिहास मानवता के अपराधों एवं दुर्भाग्यों के लेखे से कुछ अधिक नहीं है। यह गंभीरता भरे शब्द तथ्य-हीन नहीं है। परन्तु कष्टों से ही मानव का परिष्कार होता है; और मानव-विकास का बलशाली प्रवाह शताब्दियों के दीर्घ व्यवधान में अपने शरीर को पुष्ट करता हुआ अबाध गति से निरन्तर बढ़ता ही जाता है; और मानवता के भाग्य के उतार-चढ़ावों तथा मानवीय संस्थाओं की समृद्धि एवं समाप्ति के अध्ययन में समय लगा. वाले इतिहासकार का यही सबसे बड़ा संतोष भी होना चाहिए।

विवेक हीनता एवं दुर्बलताओं के होते हुए भी रामराजा अपने कुछ गुणों के कारण प्रशंसा का पात्र है। ८० वर्ष की वृद्धावस्था में भी उसमें युवक जैसी शक्ति एवं स्फूर्ति थी और युद्ध-भूमि में उसने स्वयं सैन्य-संचालन किया था। उसकी बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए मुसलमान-राज्यों की विशाल तैयारियाँ और विफलता उसकी शक्ति की दुर्दमनीयता की परिचायक है। शत्रु की शक्ति को कम समझना कभी भी कल्याणकारी नहीं होता और यदि रामराजा ने अपने उन शत्रुओं की शक्ति का, जो उसके साथ जीवन-मरण के संघर्ष में जुट जाने के लिए धीरे-धीरे शक्ति संचय करते आ रहे थे, परिहास न किया होता तो वह अपने साम्राज्य को इस विनाश से अवश्य बचा लेता।

बड़ा और एक इससे छोटा परन्तु असाधारण आकार का हीरा तथा गणनातीत मूल्य के रत्न प्राप्त किये।"

फैरिया-ए-सूजा के विषय में सूचना के लिए देखिए, 'कमेन्टरीज ऑव एल्फोन्सो अल्बुकर्क, हक्लुयत सोसाइटी' २, पृ० ११२-१३।

सीजर फ्रेडरिक, जो इस युद्ध के दो वर्ष पश्चात् विजयनगर आया था, लिखता है "रामराजा का विनाश अपने दो मुसलमान सेना-नायकों के कारण हुआ, जो युद्ध के बीच उसके विरुद्ध हो गये। मुसलमानों ने नगर को लूटने और कोने-कोने में गड़ा धन खोजने में ६ मास लगाये। मकान खड़े थे, परन्तु खाली थे। राज-दरबार विजयनगर से दक्षिण की ओर ८ दिन की यात्रा की दूरी पर पेनुकोण्डा में चला गया था, नगर-वासी कोई दिखाई न पड़ता था, वह अन्यत्र चले गये थे, आसपास का प्रदेश चोरों से ऐसा भर गया था कि उसको अपने निश्चय किये समय से ६ मास अधिक विजयनगर में ही रुकना पड़ा। अंततः जब वह गोआ की ओर चला तो उस पर नित्य आक्रमण हुए और उसे प्रत्येक ऐसे अवसर पर धन देकर छुटकारा पाना पड़ा।"

इसके किये हुए राजप्रासाद के वर्णन के लिए देखिए—'मैसूर'—लूइस राइस, १, पृ० ३५५-५६।

में इस वंश का धीरे-धीरे पतन होने लगा। मुसलमानों ने विजयनगर-साम्राज्य का बहुत सा भाग प्राप्त कर लिया था और मदुरा तथा तंजौर के नायकों ने साम्राज्य के टुकड़ों में से अपने लिए राज्य बना लिये थे।

विजयनगर की शासन-प्रणाली

शासन-प्रणाली का स्वरूप—विजयनगर-साम्राज्य उस क्रांतिकारी आन्दोलन का परिणाम था जो दक्षिण से मुसलमानों को निकाल बाहर करने के लिए प्रारम्भ हुआ था। काफूर की दक्षिण-विजय के समय से ही इस देश की आक्रांत जातियाँ इस देश में उत्पात फैलानेवाले, नरसंहारक, पवित्र स्थानों के विध्वंसक और जनता की सम्पत्ति के अपहरणकर्ता मुसलमान-उत्पीडकों के प्रति तीव्र घृणा का भाव मन में बसाये हुए थे। १३२७ ई० में काकतीय-वंश के पतन और हौयसल-वंश की शक्तिहीनता ने एक नई शक्ति का अभ्युदय संभव कर दिया था और विजयनगर-साम्राज्य जो इस शक्ति का प्रतीक था, उत्तर के मुसलमान आक्रांताओं के विरुद्ध हिंदुओं का एक विशाल संघ बन गया। इस साम्राज्य को जन्म देनेवाली परिस्थितियों ने इसकी शासन-प्रणाली को निर्धारित कर दिया और अपने अस्तित्व के अंतिम क्षण तक यह राज्य प्रधानतया एक सैनिक एवं धार्मिक राज्य बना रहा। मुसलमानों के आक्रमणों से हिंदुओं की रक्षा के मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति के लिए जन्म लेने के कारण, इस साम्राज्य को मुसलमान राज्यों से टक्कर लेने के लिए, जिनका यह प्रमुख प्रतिद्वंद्वी था और जिनके दक्षिण-प्रसार को रोकना इसका प्रमुख उद्देश्य था, समर्थ बनाने में कोई कसर न रखी गई। शासन-विज्ञान में कुशल ब्राह्मणों के प्रभाव में रहने के कारण विजयनगर के शासकों ने अपने इस नवीन साम्राज्य को सुदृढ़ एवं समर्थ बनाने के लिए सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली स्थापित करने का प्रयत्न किया। यह कार्य न नवीन था और न कठिन ही, क्योंकि जिन राज्यों का विजयनगर-साम्राज्य ने स्थान ग्रहण किया था, वह विशाल जनता पर शासन करने की कला में खूब अनुभव-सम्पन्न थे। हरिहर और बुक्का ने, जो बहुत महत्त्वाकांक्षी सरदार थे, शीघ्र ही राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित कर दी और उन प्राचीन परम्पराओं को पुनः अनुप्राणित किया जिन पर चलकर उनके उत्तराधिकारी विजयनगर साम्राज्य को सभ्यता, समृद्धि एवं संस्कृति का केन्द्र बना पाये—ऐसा भव्य केंद्र दक्षिण में उससे पूर्व कभी न रहा था।

राजा और मन्त्रि-परिषद्—विजयनगर-साम्राज्य एक विशाल सामंती संघटन था, और राजा इस समस्त संघटन का अध्यक्ष था। उसकी सहायता के

तालीकोट का युद्ध—एक निश्चयात्मक युद्ध—तालीकोट का युद्ध भारत के इतिहास में सर्वाधिक निर्णायक युद्ध हुआ है। इसने दक्षिण मे हिंदू साम्राज्य के विनाश का डंका बजा दिया और उस अस्त-व्यवस्तता को जन्म दिया, जो किसी विशाल राजनीतिक संघटन के समाप्त होने पर अवश्यम्भावी होती है। इसके परिणामस्वरूप पुर्तगाली व्यापार को भी बहुत क्षति हुई, क्योंकि जिन नगरों और मण्डियों में उनकी वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता था, वह इस युद्धाग्नि मे समाप्त हो चुकी थी।[३५] अपने प्रबल प्रतिपक्षी के पतन पर मुसलमान राज्यों ने खूब आनंद मनाया, परन्तु इस पतन से उनको राज्य के कुछ टुकड़ों के अतिरिक्त कुछ स्थायी लाभ प्राप्त हुआ हो, इसमें संदेह है। विजयनगर साम्राज्य का भय उनको सजग एवं सतर्क बनाये रखता था; अनवरत युद्धों मे उलझने के कारण उनको अपने सैन्य संघटन की दृढ़ता का ध्यान रहता था। परन्तु इस भय के दूर होते ही वह पारस्परिक ईर्षा एवं कलह के शिकार बनकर इतने शक्तिहीन बन गये कि उत्तरी भारत के मुगल-साम्राज्य ने उनको सुगमता से समाप्त कर दिया। पतन का ऐसा ज्वलंत उदाहरण भारत के मध्य-कालीन इतिहास मे अन्यत्र कही दिखाई नही देता।

नवीन-शासक-वंश—रामराजा के निधन के पश्चात् उसका भाई तिरूमल सदाशिव के नाम पर शासन करने लगा, परन्तु १५७० ई० में उसने सिंहासन का अपहरण कर एक नये शासक-वंश की नीव डाली। यहाँ पर इस काल के इतिहास को कलुषित करनेवाली हत्याओ, विश्वासघातों, षड्यन्त्रों, कुचक्रों और शक्ति हथियाने के लिए किये गये उत्पातों की कथा को दुहराना पाठकों को उकतानेवाला होगा। तिरूमल के द्वितीय पुत्र द्वितीय रंगा के पश्चात् १५८६ ई० मे प्रथम वेंकट ने छत्र धारण किया। वह इस वंश का बहुत प्रसिद्ध शासक हुआ है। वह योग्य एवं चरित्रवान् था और कवियों तथा विद्वानों का संरक्षक था। वेंकट के उत्तराधिकारी उस छोटे से राज्य को भी सुरक्षित रखने मे असमर्थ निकले जो उन्हें उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ था और इस प्रकार उनके शासन

३५. फेडरीसी मासेटी तथा कूतो सभी पुर्तगाली लेखकों ने एक-स्वर से कहा है कि पुर्तगाली लोग विजयनगर के साथ बहुत लाभप्रद व्यापार करते थे, और इस नगर के विध्वंस से इस देश में उनके व्यापार को बहुत क्षति पहुँची। परन्तु सीवेल ने इसके अतिरिक्त पुर्तगालियों के धार्मिक अत्याचारों को भी इसका कारण बताया है। चर्च के धर्माचार्यों ने हिंदू एवं मुसलमानो को यातनाएँ देने तथा मंदिरों एवं मस्जिदों को तोड़ने की स्वीकृति दे दी थी; इससे पुर्तगाली लोग अप्रिय हो गये थे और गोआ में उनका प्रभाव बहुत घट गया था।

सीवेल—'ए फॉरगॉटन ऐम्पायर' पृ० २१०-११।

में इस वंश का धीरे-धीरे पतन होने लगा। मुसलमानों ने विजयनगर-साम्राज्य का बहुत सा भाग प्राप्त कर लिया था और मदुरा तथा तंजौर के नायकों ने साम्राज्य के टुकड़ों में से अपने लिए राज्य बना लिये थे।

विजयनगर की शासन-प्रणाली

शासन-प्रणाली का स्वरूप—विजयनगर-साम्राज्य उस क्रांतिकारी आन्दोलन का परिणाम था जो दक्षिण से मुसलमानों को निकाल बाहर करने के लिए प्रारम्भ हुआ था। काफूर की दक्षिण-विजय के समय से ही इस देश की आक्रात जातियां इस देश में उत्पात फैलानेवाले, नरसंहारक, पवित्र स्थानों के विध्वसक और जनता की सम्पत्ति के अपहरणकर्ता मुसलमान-उत्पीडकों के प्रति तीव्र घृणा का भाव मन में बसाये हुए थे। १३२७ ई० मे काकतीय-वंश के पतन और हौयसल-वंश की शक्तिहीनता ने एक नई शक्ति का अभ्युदय सभव कर दिया था और विजयनगर-साम्राज्य जो इस शक्ति का प्रतीक था, उत्तर के मुसलमान आक्रांताओं के विरुद्ध हिंदुओं का एक विशाल सघ बन गया। इस साम्राज्य को जन्म देनेवाली परिस्थितियों ने इसकी शासन-प्रणाली को निर्धारित कर दिया और अपने अस्तित्व के अंतिम क्षण तक यह राज्य प्रधानतया एक सैनिक एव धार्मिक राज्य बना रहा। मुसलमानों के आक्रमणों से हिंदुओं की रक्षा के मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति के लिए जन्म लेने के कारण, इस साम्राज्य को मुसलमान राज्यों से टक्कर लेने के लिए, जिनका यह प्रमुख प्रतिद्वंद्वी था और जिनके दक्षिण-प्रसार को रोकना इसका प्रमुख उद्देश्य था, समर्थ बनाने में कोई कसर न रखी गई। शासन-विज्ञान मे कुशल ब्राह्मणों के प्रभाव में रहने के कारण विजयनगर के शासकों ने अपने इस नवीन साम्राज्य को सुदृढ एवं समर्थ बनाने के लिए सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली स्थापित करने का प्रयत्न किया। यह कार्य न नवीन था और न कठिन ही, क्योंकि जिन राज्यों का विजयनगर-साम्राज्य ने स्थान ग्रहण किया था, वह विशाल जनता पर शासन करने की कला मे खूब अनुभव-सम्पन्न थे। हरिहर और बुक्का ने, जो बहुत महत्त्वाकांक्षी सरदार थे, शीघ्र ही राज्य में शान्ति एव व्यवस्था स्थापित कर दी और उन प्राचीन परम्पराओं को पुन: अनुप्राणित किया जिन पर चलकर उनके उत्तराधिकारी विजयनगर साम्राज्य को सभ्यता, समृद्धि एवं संस्कृति का केन्द्र बना पायें—ऐसा भव्य केंद्र दक्षिण मे उससे पूर्व कभी न रहा था।

राजा और मन्त्रि-परिषद्—विजयनगर-साम्राज्य एक विशाल सामंती संघटन था, और राजा इस समस्त संघटन का अध्यक्ष था। उसकी सहायता के

लिए मंत्रियों, प्रान्तीय शासकों, सेनानायकों, ब्राह्मणों एवं कवियों की एक परिषद् थी। यहाँ निर्वाचन की प्रणाली न चलती थी और इस परिषद् के सभी सदस्यों को राजा नियुक्त करता था। राजा तथा मंत्रियों के संबंध की घनिष्ठता पारस्परिक व्यक्तिगत संबंध के अनुरूप होती थी। सभी मध्यकालीन शासकों के समान विजयनगर का राजा भी निरंकुश शासक के से अधिकार रखता था। वह सार्वजनिक शासन का निरीक्षण करता था, साम्राज्य की सैन्य-व्यवस्था का संचालन करता था और उन मामलों का निर्णय करता था जो उसके न्यायाधिकरण में रखे जाते थे। कभी-कभी वह अत्यन्त शान्तिपूर्ण ढंग से झगड़ों का इस प्रकार समाधान करता था, जिससे दोनों पक्ष संतुष्ट हो जाते थे। बुक्काराय के शासन-काल में एक बार जब जैनों और वैष्णवों में झगड़ा हुआ, तो उसने दोनों पक्षों के नायकों की बातें सुनने के बाद, जैनों का हाथ वैष्णवों के हाथ में रखकर दोनों सम्प्रदायों में समझौता करा दिया।[36] कभी-कभी राजा के हस्तक्षेप का अत्यन्त कल्याणकारी प्रभाव पड़ता था, जैसा कि साम्राज्य के कुछ भागों में ब्राह्मणों में प्रचलित वधू के मूल्य की प्रथा के संबंध में हुआ। राजा द्वितीय देवराय ने सब वर्गों के ब्राह्मणों के प्रतिनिधियों को बुलाकर उनके साथ इस प्रथा की वैधता पर विचार-विनिमय किया।[37] अंत में यह राजाज्ञा हुई कि भविष्य में 'कन्यादान' के अनुसार विवाह हुआ करें और उसमें वर अथवा वधू को क्रय करने का कोई प्रश्न न उठाया जाये। "शास्त्रीय विधान" के प्रतिकूल कार्य करनेवालों के लिए कठोर दण्ड निर्धारित किये गये। राजकीय न्याय में निष्पक्षता की परंपरा को कभी न भुलाया गया और नाममात्र के राजा सदाशिव तक ने कुछ ब्राह्मणों को वृत्ति के रूप में दी हुई भूमि के झगड़े का न्याय करने में इस परम्परा का पूर्णतः पालन किया।[38]

प्रधान मंत्री, मुख्य कोषाध्यक्ष, रत्न-भण्डार का रक्षक तथा पुलिस-निरीक्षक यह राज्य के प्रमुख पदाधिकारी थे और इनकी सहायता के लिए अन्य छोटे-छोटे पदाधिकारी नियुक्त किये जाते थे। प्रधान मंत्री सब महत्वपूर्ण विषयों पर राजा को परामर्श देता था। पुलिस-निरीक्षक का कार्य नगर में व्यवस्था बनाये रखना था और वह मुगल-काल के कोतवाल का-सा स्थान रखता था। इन सब पदाधिकारियों को बड़ी-बड़ी जागीरें प्राप्त होती थीं, जिनको राजा

३६. लूइस राइस—'मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रॉम दि इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० १७७, १३६।

३७. मद्रा एपिग्रा० कलेक्शन्स फॉर १८८७, सं० ४६ 'साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स', १, सं० ३में, पृ० ८२-८४।

३८. 'लोकल रिकॉर्ड्स' मेकेंजी हस्तलिपि, १, पृ० ४१-४५।

स्वेच्छा से छीन भी सकता था। नुनीज के कथनानुसार पुलिस-निरीक्षक पर राजधानी में होनेवाली चोरियों का उत्तरदायित्व रहता था, इसलिए देश में चोरियाँ अधिक न हो पाती थी।[३९] भ्रष्टाचार अवश्य चलता था; एक बार एक व्यापारी को राजा से भेंट करने के लिए अनेक कर्मचारियों को घूस देनी पड़ी, क्योंकि प्राप्ति के बिना यह लोग कुछ भी करने को तैयार न होते थे।[४०] संभवतः घूस को उस जमाने में घृणित अपराध न समझा जाता था। चौदहवी शताब्दी में इब्नबतूता को, जो उस समय दिल्ली के प्रधान काजी के पद पर था, एक रकम का जो उसके लिए स्वीकृत हुई थी, शीघ्र भुगतान कराने के लिए अपने एक सहकार्यकर्ता कर्मचारी को घूस देनी पड़ी थी।

राजसभा—मध्य-काल में पूर्व तथा पश्चिम के सभी देशों में राजसभा की सजधज परम आवश्यक समझी जाती थी और विजयनगर के शासक भी अपने वैभव के प्रदर्शन में विपुल धन व्यय किया करते थे। उनकी राजसभा में सामंत, विद्वान् ब्राह्मण, ज्योतिषी एवं गायक स्थान पाते थे और जनता पर प्रभाव डालने के लिए कभी-कभी सार्वजनिक समारोहों का आयोजन किया जाता था। जिन विदेशी आगतुकों ने अपनी आँखों से इन समारोहों को देखा, उन्होंने इनकी हार्दिक प्रशंसा की है। निकोलो कोण्टी ने चार उत्सवों का वर्णन किया है जो स्पष्टतः संवत्सर-प्रवेश, दीपावली, महानवमी और होली के उत्सव प्रतीत होते हैं और अब्दुर्रज्जाक ने भी इन अवसरों पर आतिशबाजी, खेलों और अन्य मनोरंजनों का सजीव वर्णन कर कोण्टी के वर्णन की पुष्टि की है।[४१] इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव महानवमी का था, जो सितम्बर में नौ दिन तक चलता था। अब्दुर्रज्जाक लिखता है—

"विजयनगर के राजा ने आज्ञा दी कि उसके देश के, जो चार या पाँच मास की यात्रा में समाप्त होनेवाले भूभाग में विस्तृत था, प्रत्येक प्रान्त से अभिजात वर्ग के लोग और सामंत राजकीय निवास में एकत्र हों। वे अपने साथ समुद्र के समान गंभीर घोष करनेवाले, बादलों के समान गरजनेवाले, कवच-परिवेष्ठित और हौदों से सजे एक सहस्र हाथी लाये, जिन पर मदारी और नफ्ता चलाने वाले बैठे थे; और हाथियों के मस्तकों, सूँड़ों तथा कानों पर तथा दूसरे रंगों से

---

३९. मेजर—'इण्डिया इन दि फिफ्टीन्थ सेंचुरी' भा० १, पृ० ३०।
'क्रॉनिकल् ऑव नुनीज'—सीवेल पृ० ३८०-८१।

४०. 'क्रॉनिकल् ऑव नुनीज', पृ० ३८०।

४१. मेजर, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० २८, २९। वही पृ० ३५-३८; सीवेल पृ० ९३-९४।

असाधारण आकृतियाँ चित्रित की गई थी।"[42] इन्हीं नौ दिनों में राजा प्रांताध्यक्षों से 'कर' प्राप्त करता था और उनको बहुमूल्य पुरस्कार देता था।"[43]

प्रांतीय शासन—साम्राज्य को २०० से[44] अधिक प्रांतों में विभक्त किया गया था और इन प्रांतों को भी 'नाडु' अथवा 'कोट्टम' नाम के छोटे-छोटे भागों में बाँटा गया था और इन विभागों के अन्तर्गत भी गाँवों एवं नगरों के समूह बनाये गये थे। प्रत्येक प्रान्त का शासन राजा के एक प्रतिनिधि के हाथ में रहता था, जो या तो राजपरिवार का सदस्य होता था अथवा साम्राज्य का कोई शक्तिशाली सामंत या शासक-वंशों का[45] कोई प्रतिनिधि होता था। प्रत्येक प्रांत साम्राज्य की प्रतिकृति था। प्रांताध्यक्ष अपनी सेना रखता था, उसकी अपनी राजसभा होती थी, वह वृत्तियाँ प्रदान करता था, और अपनी सीमा में सर्वाधिकार सम्पन्न होता था। परन्तु साम्राज्य के संबंध में उसकी स्थिति साम्राज्य के आज्ञाकारी सामंत की सी होती थी। उसको अपनी अध्यक्षता में किये जानेवाले कार्यों का ब्यौरा सम्राट् के समक्ष उपस्थित करना पड़ता था और युद्ध-काल में साम्राज्य की सैनिक-सेवा करनी पड़ती थी। यद्यपि अपनी सीमा में उसके अधिकार निस्सीम थे परन्तु साम्राज्य के प्रति विश्वासघात करने अथवा अपनी प्रजा को सताने के लिए उसको कठोर दंड भुगतना पड़ता था।[46] राजा का किसी को दी गई सम्पत्ति छीनने का अधिकार बहुत विस्तृत था और जब कभी साम्राज्य का कोई प्रतिनिधि अथवा प्रांताध्यक्ष अपने कर्तव्य से विमुख दिखाई देता था, अथवा षड्यन्त्र में लिप्त पाया जाता था तो राजा अपने इस अधिकार का पूर्ण उपभोग करता था। प्रधान पदाधिकारी अपनी आय का ½ भाग राज्य को देते थे और शेष ½ भाग से अपने अधीनस्थ कार्यालयों का व्यय चलाते थे। उनको रसीद न दी जाती थी, परन्तु यदि वह निश्चित रकम देने में गड़बड़ करते थे, तो उनको कठोर दंड दिया जाता था और उनकी जागीर छीन ली जाती थी।[47] परन्तु प्रतीत होता है कि कार्यकाल की इस अनिश्चितता के होते हुए भी, प्रांताध्यक्ष जब तक इस पद पर रहते थे, खूब आनन्दोपभोग करते थे।

४२. मेजर, पृ० ३५, इलियट, ४, पृ० ११७।
४३. 'क्रॉनीकल ऑव नुनीज'—सीवेल पृ० ३७६।
४४. 'क्रॉनीकल ऑव नुनीज' पृ० ३८६।
४५. वही—पृ० २८०-८१, ३७४, ३८४।
४६. दुवार्ती बारबोसा—'हकल्युत सोसाइटी' १, पृ० २०६।
'क्रॉनीकल ऑव नुनीज'—सीवेल पृ० ३०४, ३८०, ३८३।
४७. 'क्रॉनीकल ऑव नूनिज'—सीवेल पृ० ३८६।

स्थानीय शासन—जैसा कि अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा था, यहाँ भी गाँव ही शासन-तंत्र की इकाई था। उत्तर भारत की ग्राम-पंचायतों के समान, यहाँ भी ग्राम-सभाएँ आनुवंशिक रूप से चले आते हुए प्रधान की अध्यक्षता में गाँव की समस्याओं का स्वयं समाधान कर लेती थीं। ग्राम-सभा का प्रधान 'आयंगर' कहलाता था।[४८] इन प्रधानों को या तो वेतन के रूप में भूमि मिली होती थी या उपज का कुछ भाग प्राप्त होता था। इनमें से कुछ शासकीय एवं न्यायकर्ता के अधिकारों का उपभोग करते थे, गाँव के छोटे-मोटे झगड़ों का फैसला करते, राजस्व एकत्र करते और शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखते थे। यह ग्राम-सभाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति करती थीं; यह जनता का केंद्रीय शासन के साथ सम्पर्क बनाये रखती थीं।

अर्थ-व्यवस्था—राज्य की आय का प्रमुख स्रोत भूमि-कर था। प्राचीन काल से भारत में राज्य भूमि की उपज का कुछ भाग कर के रूप में लेते रहे हैं और हिन्दू-विधि के अनुसार उपज का $\frac{१}{६}$ भाग राज्य का माना गया है। परन्तु इतने थोड़े भाग से ही अपने वैभव एवं गौरव को अक्षुण्ण रखना विजयनगर जैसे विशाल साम्राज्य के लिए असम्भव था। नुनीज लिखता है, "समस्त भूमि पर राजा का अधिकार है और उसी के हाथों से यह सरदारों को प्राप्त होती है। यह लोग भी उसको किसानों को दे देते हैं जो उपज का भाग अपने स्वामियों को देते है, जो स्वयं इसका $\frac{१}{२}$ भाग राजा को देते हैं।"[४९] नुनीज का यह वर्णन कि राजस्व इतना अधिक था, स्वीकार कर लेना कठिन है, क्योंकि उपज के केवल $\frac{१}{१०}$ भाग पर ही किसान गुजर नहीं कर सकते। भूमि-कर के अतिरिक्त और भी अनेक कर राज्य अपने कोष की वृद्धि के लिए उगाहता था; यह कोई असाधारण बात न थी, क्योंकि मध्य-काल के मुसलमान-शासक भी इस प्रकार के अनेक कर लगाते थे। फीरोज तुगलक ने अपने सिंहासनारोहण के अवसर पर इस प्रकार के २३ उत्पीड़क कर बंद किये थे और सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में औरंगजेब ने ऐसे ४८ करों को समाप्त किया था। राज्य अपने अधिकारों के प्रति इतना जागरूक था कि जब कभी कोई व्यक्ति किसी प्रकार के अनुदान की स्थापना करता था, राज्य इसके ग्रहण-कर्त्ताओं के राज्य के प्रति कर्त्तव्यों को स्पष्टतया

४८. जरन० बॉम्बे ब्राच ऑव रॉयल एशि० सोसा०, १२, पृ० ३६४-६८ यह पदाधिकारी साधारणतया १२ होते थे।
मद्रास अभिलेख संग्रह, सं० २१, सन् १६१७-१८।
४९. 'क्रॉनीकल ऑव नुनीज'—सीवेल, पृ० ३७६।
मोरलैंड—'इंडिया एट दि डेथ ऑव अकबर' पृ० ९८।

निर्धारित करा लेता था।[50] भूमि-कर के अतिरिक्त अन्य अनेक करों का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं।[51]

कर-व्यवस्था कितनी पूर्ण थी, यह बात अब्दुर्रज्जाक के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है कि वेश्याएँ भी करों से मुक्त न थीं और उनसे राज्य को १२,००० फनम की आय होती थी, जो नगर-रक्षक की अधीनता में कार्य करनेवाले १२,००० पुलिस कर्मचारियों पर व्यय किये जाते थे।[52]

दुर्भाग्यवश यह सत्य है कि अर्थ-व्यवस्था में भूमि जोतनेवालों के हितों का सदैव ध्यान न रखा जाता था। किसानों से पारिश्रमिक दिये बिना काम कराया जाता था और उनको भूमिकर के अतिरिक्त गोबर का तथा विवाह का भी कर अपने स्वामी को देना पड़ता था।[53] इनके अतिरिक्त, जनता को अनाज, फल, सब्जी, घी, तेल तथा सब प्रकार के पशुओं पर चुंगी के रूप

---

५०. प्रथम बुक्का के पुत्र द्वितीय कम्पा के एक १३७४-७५ ई० के लगभग के एक दान-पत्र में, जिसके अनुसार एक दानी ने किसी मंदिर को एक गाँव भेंट किया है, उन शर्तों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जिन पर इस दान के लिए राजकीय अनुमति प्राप्त हुई थी। मूल दान-पत्र इस प्रकार है—

"यह ग्राम, समस्त ग्राम जो इस देवता की पुण्य-भूमि है, अपनी चारों ओर की सीमाओं से परिवेष्ठित तथा इसमे पड़ी बंजर भूमि, सिंचित भूमि तथा उद्यान-भूमि, अपने समस्त दायित्वों एवं प्राप्तियों सहित, जिनमें गाँव के बाहर रहनेवालों के व्यक्तिगत, दायित्व, करघों के कर, जातीय-दायित्व, कोल्हुओं, 'विल-वरी', 'वसल-बरी' (गृह-कर), 'क्रिमिनपत्रम' (मछली पकड़ने का कर), पशु एवं वृक्ष, 'उवच्च वरी', 'उलुपलवरी' अच्छी गाय एवं भैंस, 'कत्तिगइप्पवइ', 'तिरुव्पुदिमिदु', प्रत्येक फसल में ग्राम-प्रहरी का भाग, बाजार-कर, 'असुवदिमक्कल्पेर' के दायित्व, ग्राम-सेवकों का वेतन तथा इसी नये अथवा पुराने दायित्व जो (इसके बाद से) प्रत्येक भूमिधारी को देने होंगे, इन सबके सहित, हमने मंदिर की पूजा तथा देख-रेख के लिए 'सर्वमान्य' अनुदान के रूप में भेंट किया है, जिससे यह आचन्द्रदिवाकर स्थिर रहे।"

मद्रास के अभिलेखों का विवरण—१६११-१२, पृ० ७७-७८, क्र० सं० ४६।

५१. एपिग्रा० करना०, ४, २१ तथा २२।

मद्रास अभिलेखों का विवरण—१६१२-१३, पृ० १२०, क्र० सं० ५४; १६१४-१५ का विवरण, पृ० १०६-१०७ क्र० सं० ४४।

एपिग्रा० करना० ३, ६५; ४, ११।

५२. 'मतल-उस-सादैन', इलियट, ४, पृ० १११-१२। मेजर, पृ० २६।

५३. सोलहवीं शताब्दी के प्रथम २५ वर्षों में कृष्णदेव राय ने विवाह-

में अप्रत्यक्ष-कर देने पड़ते थे।[53] नगर में प्रवेश करने के लिए केवल एक ही द्वार था और इस पर इतना कड़ा पहरा रहता था कि चुंगी या महसूल दिये बिना नगर में प्रवेश पाना असंभव रहा होगा। करों की वसूली ठेके पर दी जाती थी और इनकी वसूली में जनता को कम असुविधायें न उठानी पड़ती होंगी। राजधानी का वर्णन करते हुए नुनीज ने लिखा है, "प्रवेश द्वार प्रतिवर्ष १२,००० 'पारदाओं' के ठेके पर दिया जाता था और देहाती अथवा विदेशी कोई भी उतना दिये बिना जितना यह ठेकेदार माँगे, इसमें प्रवेश नहीं पा सकता......प्रतिदिन इन द्वारों से २,००० मवेशी प्रवेश करते हैं और प्रत्येक के लिए तीन 'विन्ती' देने पड़ते है, केवल कुछ सींगरहित मवेशी कर-मुक्त थे, इन पर राज्य के किसी भाग मे कुछ भी नही देना पड़ता।"[54]

इन साधनों से राज्य की पर्याप्त आय होती रही होगी, जिसका बहुत बड़ा भाग राजकीय ठाठबाट एवं सजधज में व्यय किया जाता था। सार्वजनिक व्यय का कोई खाता न था और राजा अपने परिवार के भरण-पोषण तथा अपनी विशाल सेनाओं पर, जो मुसलमान शक्तियों से लोहा लेने के लिए सदैव सन्नद्ध रखी जाती थी, विपुल धन-राशि व्यय करता था। विदेशी पर्यटकों के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि राजधानी मे जनजीवन बहुत सुख-सुविधामय था और वाणिज्य एवं व्यवसायों की उन्नति वहाँ की समृद्धावस्था को प्रमाणित करती है। परन्तु किसी समसामयिक हिन्दू लेखक ने उस काल के साधारण लोगों के जीवन पर प्रकाश नही डाला है और ऐसे प्रमाणों के अभाव मे इस बात का ठीक-ठीक अनुमान लगाना असम्भव है कि यह अर्थ-व्यवस्था जीवन-

---

कर तोड़ा था और उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों ने इस नीति को जारी रखा। मद्रास एपिग्रा० रिपोर्ट, १९०९-१०, पृ० १०२-३ ;

देखिए—एपिग्रा० करना० ११, ११०। एपिग्रा० करना०, ११, १०७, वही, ११, १७ व १११।

५४. एपिग्रा० करना० ५, ७५; ३, ११८ व ९५। एपिग्रा० इण्डि० ६, पृ० २३०-३९।

५५. 'क्रॉनीकल ऑव नुनीज', सीवेल, पृ० ३६६।

सीवेल ने 'वितम्' की कीमत १७-२० पें० आँकी है। देखिये, टिप्पणी सं० ३, पृ० ३६६।

'परदओ' एक स्वर्ण-मुद्रा थी; देखिए पाएस का विवरण, सीवेल, पृ० २१३। वश्री मोरलैंड ने ५०० परदओं को १,००० अकबरी रुपयों के बराबर ताया है। 'इंडिया एट दि डेथ ऑव अकबर', पृ० ७६।

संघर्ष में जुटे हुए साम्राज्य के विभिन्न भागों में रहनेवाले लक्ष-लक्ष जनों पर वास्तव में कैसा प्रभाव डाल रही थी।

न्याय-व्यवस्था—अभिलेखों में किसी प्रकार की नियमित न्याय-व्यवस्था का उल्लेख नहीं हुआ है, और बहुत हद तक यह निश्चित जान पड़ता है कि अधिकारियों की विवेक-बुद्धि के अनुसार तत्काल न्याय किया जाता रहा होगा। मध्यकाल में सभी देशों के समान, यहाँ भी राजा ही प्रधान न्यायाधीश होता था और महत्त्वपूर्ण मामलों में उसका हस्तक्षेप बहुत प्रभावशाली होता था। राजा के अथवा प्रधान मंत्री के समक्ष लोग न्याय के लिए प्रार्थना-पत्र उपस्थित कर सकते थे और तब विषय के महत्त्व के अनुसार निर्णय दे दिया जाता था। १४४१ ई० में विजयनगर में आनेवाले यात्री अब्दुर्रज्जाक ने लिखा है—

"सुलतान (सम्राट्) के छज्जे के बाईं ओर 'दीवानखाना' (मंत्रणा-भवन) दीख पड़ता है, जो बहुत विशाल है और प्रासाद जैसा दिखाई देता है। इस प्रासाद के मध्य में एक ऊँचे चबूतरे पर, एक हीजड़ा बैठता है, जिसको दैयंग कहते हैं और केवल वही दीवान का अध्यक्ष-पद ग्रहण करता है। भवन के कोने पर चोबदार लोग पंक्ति-बद्ध खड़े रहते हैं। कोई भी आदमी, जो वहाँ किसी काम से आता है, चोबदारों के बीच से होकर गुजरता है, कुछ भेंट देता है, जमीन की ओर मुँह कर दण्डवत् करता है, और तब उठकर यहाँ आने का कारण बताता है और दैयंग इस राज्य में व्यवहृत न्याय के नियमों के अनुरूप अपना निर्णय प्रकट कर देता है और इसके पश्चात् किसी को पुनः प्रार्थना करने की आज्ञा नहीं दी जाती।"[१]

दीवानी मामलों में हिन्दू-विधि तथा देशाचार के अनुसार न्याय किया जाता था और अब्दुर्रज्जाक लिखता है कि देश में प्रचलित न्याय-प्रणाली के अनुसार सताये हुए लोगों की प्रार्थनाओं पर निर्णय दिया जाता था और अन्य किसी व्यक्ति को इस निर्णय का विरोध करने का अधिकार न था।[५७] दस्तावेजों पर गवाहों के हस्ताक्षर कराये जाते थे और किसी स्वीकृति विधि अथवा

५६. मेजर—'इंडिया इन दि फिफ्टीन्थ सेंचुरी', १, पृ० २५, क्रॉनीकल ऑव नुनीज, सीवेल, पृ० ३८०।

इस 'दीवान' के विवरण के लिए इलियट, भा० ३, पृ० १०८ भी देखिए; यहाँ इस हिजड़े की उपाधि 'दनैक' दी हुई है और एक टिप्पणी में लिखा है कि इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी की हस्तलिपि यह उसी प्रकार से लिखा गया है।

५७. 'मतल-उस-सादैन', इलियट, ४, पृ० १०८।

देशाचार के विरुद्ध आचरण करनेवाले को कठोर दंड दिया जाता था। दीवानी कानून का भग करनेवाले को अर्थ दड भी दिया जाता था। फौजदारी मामलों का न्याय-विधान कठोर एवं बर्बर था। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से पूर्व योरोप तक मे न्याय-विधान पक्षपातपूर्ण एवं उत्पीड़क था। सचाई प्रकट कराने के लिए अपराधी को तरह-तरह से यातना देना सर्वाधिक सफल उपाय माना जाता था और दण्ड-विधान कल्पनातीत कठोर था। चोरी, व्यभिचार एव द्रोह के लिए प्राण-दण्ड अथवा अंगभंग निश्चित थे।[५८] कभी कभी राजा अपराधी को हाथी के सामने फेंक देने की आज्ञा देता था और इस प्रकार अपराधी हाथी से कुचलवा कर मारा जाता था। स्थानीय पदाधिकारियों को भी न्याय करने का अधिकार दिया जाता था और क्योंकि बार बार राजधानी तक पहुँचना संभव न था, इसलिए अधिकांश मामलों का फैसला स्थानीय अधिकारी ही करते रहे होंगे। एक ऐसी राजाज्ञा लिपिबद्ध प्राप्त हुई है जिसके द्वारा 'नायकों' अथवा 'गौड़ों' को न्याय करने का अधिकार दिया गया है। यह राजाज्ञा इस प्रकार है— "नगरों के शासक 'नायक' और 'गोड' इसका ध्यान रखेंगे। यदि देश मे जातिगत कलह उत्पन्न हो, तो वह विपक्षी दलों को बुलाकर उनको उचित परामर्श दें। और क्योंकि उनको दण्ड देने का अधिकार है, इसलिए विपक्षी दल उनके परामर्श के अनुसार चलें। यह कार्यवाही नि शुल्क हो।"[५९] इस राजाज्ञा से हमारे वर्तमान शासक भी बहुत कुछ लाभजनक शिक्षा ग्रहण कर सकते है।

सेना—सार्वजनिक शासन के समान सैनिक-व्यवस्था भी सामंती ढंग की थी। राजा की निजी सेना के अतिरिक्त प्रांताध्यक्ष भी युद्ध-काल में निश्चित संख्या मे सैनिक दिया करते थे और ऐसे अवसर पर उनको सब प्रकार का सहयोग देना पड़ता था। नुनीज लिखता है कि यह राजा लोग जितने चाहें उतने सैनिक जुटा सकते हैं और अपनी विशाल सम्पति के कारण उनको इसमे कुछ कठिनाई नही होती।[६०] विजयनगर साम्राज्य की सेना की सख्या विभिन्न लेखकों

५८. 'क्रानीकल ऑव नुनीज'—सीवेल, पृ० ३८३।

नुनीज ने इन बर्बर दण्डों का विस्तृत वर्णन किया है। वह लिखता है; "विश्वासघात करनेवाले सरदारों को एक लकड़ी की सूली पर जो उनके पेट मे घुसाई जाती है, जीवित लटका दिया जाता है और निम्न श्रेणी के लोगों का, उनका चाहे कोई भी अपराध हो, वह (राजा) बाजार मे सिर काटने की आज्ञा देता है, और हत्या का भी यही दण्ड दिया जाता है केवल मल्ल-युद्ध में प्राण-हरण को छोड़कर।"

५९. एपिग्रा० करना०, १२, ७६।

६०. 'क्रॉनीकल ऑव नुनीज'—सीवेल, पृ० ३७३।

ने भिन्न भिन्न लिखी है और इनमें से किसी संख्या को ठीक मान लेना कठिन है। पाएस ने लिखा है कि १५२० ई० में कृष्णदेव राय ने युद्ध-भूमि में जो विशाल सेना उतारी थी उसमें ७,०३,००० पदाति, ३२,६०० अश्वारोही, ५५१ हाथी और बहुत बड़ी संख्या में शिविर-अनुचर तथा अन्य सेवक थे।[61] "नुनीज" ने भी ऐसा ही वर्णन किया है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन दोनों लेखकों द्वारा दी गई यह संख्याएँ बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। यह सत्य है कि उस काल में राजा लोग सुगमता से विशाल सेना जुटा लेते थे, परन्तु साम्राज्य की स्थायी सेना इतनी विशाल न रही जितनी पाएस ने बताई है।[62] सेना में हाथी, अश्वारोही तथा पदाति होते थे और अनेक अवसरों पर इसने अद्भुत शौर्य का प्रदर्शन भी किया है, परन्तु शक्ति, धैर्य एवं सहनशीलता में यह सेना उत्तर की मुसलमान सेनाओं की बराबरी न कर सकती थी जैसा कि मुसलमान सेना द्वारा अनेक बार इसकी करारी हार से प्रकट होता है। इस हीनता का कारण यह था कि सैनिक-शिक्षा की व्यवस्था ठीक न थी; सचमुच, अवसर पड़ने पर साम्राज्य के विभिन्न भागों से जुटाई जानेवाली सेनाओं को युद्ध-कला का अभ्यास कराना था भी असमव। दक्षिण में अच्छी जाति के घोड़े न मिलने के कारण विजयनगर की अश्वारोही-सेना निर्बल थी; अरब और फारस से भी पर्याप्त मात्रा में घोड़े सुलभ न थे क्योंकि बहुत समय तक इनका आयात उत्तर की मुसलमान शक्तियों के हाथ में था। हाथियों पर बहुत भरोसा किया जाता था, परन्तु प्रतिपक्षी की सुदक्ष धनुर्धारी एवं अश्वारोही सेना के सम्मुख यह ठहर न पाते थे। जब कभी हिंदू-सेना में भय का संचार हो जाता तो पलायन करती हुई सेना को सँभालना असंभव हो जाता था और तब पराजय सरलता से सार्वजनिक संहार का रूप धारण कर लेती थी।

सामाजिक दशा—राजसभा के वैभव-सम्पन्न एवं विलासितापूर्ण और झोपड़ियों के निर्धनता एवं दुखपूर्ण जीवन की तुलना पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं। विदेशी आगंतुकों ने राजधानी में होने वाले उत्सवों तथा राजकीय जलूसों की अपूर्व सजधज का एकस्वर से समर्थन किया है और

६१. सीवेल पृ० १४७।

६२. नुनीज लिखता है कि राजा की सेना में हमेशा, ५०,००० पदाति, २०,००० भाले तथा ढालों से सुसज्जित सैनिक हाथियों की देखभाल करने के लिए ३००० सेवक, १६०० सईस ३०० अश्व-शिक्षक, २०००, लोहार, राज-मिस्त्री तथा धोबी यह कर्मकार रहते हैं।

'क्रॉनीकल ऑव नुनीज'—सीवेल पृ० ३८१।

पाएस ने एक सैन्य-निरीक्षण के विषय में अपना यह मतव्य प्रकट किया है कि "तब, सामंतों एवं उच्च पदाधिकारियों की जैसी सजधज दिखाई दी, मेरे लिए उसको ठीक ठीक वर्णन कर सकना सम्भव नहीं है और यदि मैं ऐसा करूँ भी तो कोई उस पर विश्वास न करेगा।....सचमुच मैं इतना आत्म-विभोर हो उठा कि मुझे यह सब स्वप्न सा प्रतीत हुआ और लगा कि जैसे मैं स्वप्नावस्था में हूँ।"[63] नुनीज ने राजसभा की सजधज और ठाठबाट का वर्णन करने के साथ साथ सामाजिक रीतिरिवाजों पर भी प्रकाश डाला है। द्वंद-युद्ध झगड़े निपटाने की सर्वमान्य विधि थी; द्वंद्व-युद्ध करनेवालों का बहुत सम्मान किया जाता था और विजेता को इस युद्ध में निहत प्रतिपक्षी की सम्पत्ति प्राप्त होती थी। परन्तु मंत्री से आज्ञा प्राप्त किये बिना कोई द्वंद्व-युद्ध न कर सकता था। द्वंद्व-युद्ध की प्रथा मुसलमानों ने सोलहवीं शताब्दी में दक्षिण में प्रचलित की थी। फरिश्ता ने इसको बहुत निन्दनीय बताया है। मुसलमान राज्यों में सभी वर्गों के लोगों में द्वंद्व-युद्ध होते थे और दार्शनिक एवं संत लोग तक इस बर्बरतापूर्ण प्रणाली द्वारा विवादों का निर्णय करते थे। सती की प्रथा खूब प्रचलित थी और ब्राह्मण लोग इस प्रकार से शरीर-त्याग करने की बहुत प्रशंसा करते थे।"[64] परन्तु राजधानी में स्त्रियों की स्थिति बहुत संतोषजनक थी। वहाँ स्त्रियाँ भी मल्लयुद्ध में भाग लेती थी, ज्योतिषी और भविष्यवक्ता का कार्य करती थी और नुनीज ने लिखा है कि राजा ने अनेक स्त्रियों को व्यय का लेखा लिखने के लिए अपनी सेवा में नियुक्त किया था। नुनीज ने स्त्री-लेखिकाओं के एक दूसरे वर्ग का भी उल्लेख किया है जिनका कार्य राज्य की घटनाओं को लिपिबद्ध करना और अपने लेखे को बाहर के लेखकों के वर्णन से मिलाना होता था।"[65] इस वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियों को संगीत आदि स्त्रियो-चित कलाओं के अतिरिक्त शास्त्रीय उच्च शिक्षा भी प्राप्त होती थी, जिसके अभाव में आय-व्यय का ठीक ठीक हिसाब रखना और उसकी जाँच करना संभव न हो सकता था, जिसका पुर्तगाली इतिहासकार ने वर्णन किया है; इस विदेशी आगंतुक का ऐसी अनेक स्त्री-लेखिकाओं से अवश्य ही साक्षात्कार हुआ होगा। भोजन में बहुत स्वच्छन्दता थी और नुनीज लिखता है कि ब्राह्मण लोग, जिनको वह विजयनगर की जनता का सर्वाधिक परिष्कृत वर्ग बताता है, कभी किसी

६३. 'पाएज नैरेटिव'—सीवेल, पृ० २७८-७९।
६४. 'क्रॉनीकल ऑव नुनीज'—सीवेल पृ० ३९१।
६५. वही—पृ० ३८२।
६६. 'क्रॉनीकल ऑव नुनीज'—सीवेल, पृ० ३९०।

प्राणी की हत्या नही करते और कदापि मांस भक्षण नही करते; परन्तु साधारण जनता सब प्रकार का आमिष-भोजन करती थी। पाएस तथा नुनीज ने लोगों के भोजन के लिए बाजार में बिकनेवाले नाना प्रकार के पशु-पक्षियों का उल्लेख किया है। गाय अथवा बैल के मांस का कड़ा निषेध था और राजा लोग स्वयं भी इस नियम का कठोर पालन करते थे। इनके अतिरिक्त, खाद्य के रूप में काम आनेवाले पशुओं की संख्या बहुत विशाल थी। राजाओं की भोजन-विषयक नीति के विषय में, जिसका जनता भी अनुसरण करती थी, नुनीज लिखता है—

"यह बिसनागा (विजयनगर) के राजा लोग बैल अथवा गाय के मांस के अतिरिक्त, जिनका इन विधर्मियों के समस्त देश में कभी भी वध नही किया जाता, क्योंकि यह लोग उनकी पूजा करते हैं, अन्य सभी प्रकार का मांस खाते हैं। वह भेड़, सुअर, हिरन का मांस, तीतर, खरगोश, फाख्ता, बटेर और सब प्रकार के पक्षियों (का मास) खाते हैं; गौरय्या और चूहे और बिल्लियाँ और छिपकलियाँ तक (खाई जाती हैं) जो बिसनागा के बाजार में बिकती हैं।

"प्रत्येक (भक्ष्य) जीव को जीवित दशा में बेचना होता है, जिससे हरेक जान जाये कि वह क्या खरीद रहा है—कम से कम व न-पशुओं के संबंध में तो अवश्य ही ऐसा होता है—और नदियों से बहुत बड़े परिमाण में मछलियाँ लाई जाती हैं।"[६७]

यदि इस इतिहासकार का यह वर्णन यथार्थ है, तो जैसा कि विंसेंट स्मिथ महोदय ने लिखा है, यह भोजन-सामग्री उन राजाओं एवं प्रजा-जनों के लिए बड़ी विचित्र लगती है, जो कृष्णदेव राय और अच्युत राय के समय में, विष्णु के उपासक कट्टर हिंदू थे। ब्राह्मणों का बहुत आदर किया जाता था; वह शासन-संचालन करते थे और उनके विषय में नुनीज लिखता है कि वह "सत्यपरायण, वाणिज्य-व्यवसाय में संलग्न, बहुत तीव्र और व्युत्पन्न, हिसाब-किताब में बहुत निपुण, दुबले-पतले एवं सुघड़ शरीरवाले, परन्तु कठोर परिश्रम के बहुत कम उपयुक्त"[६८] होते थे। यह वर्णन संसार के प्राचीनतम

६७. 'नैरेटिव ऑव पाएस'—सीवेल, पृ० २४५।

पाएस ने ब्राह्मणों को इस देश के सुन्दरतम स्त्री-पुरुष कहा है। जो ब्राह्मण मंदिर के अध्यक्ष होते हैं वह कोई ऐसी वस्तु नही खाते जो मारनी पड़े, न मास और न मछली, और न कोई ऐसी वस्तु जो पककर लाल हो, क्योंकि वह इसको रक्त समझते हैं।

६८. 'क्रॉनीकल ऑव नुनीज'—सीवेल, पृ० ३६०।

'नैरेटिव ऑव पाएस'—सीवेल, पृ० २४५-४६।

सरस्वती-पुत्रों के स्वभाव से पूरा-पूरा मिल जाता है और आज भी जब इस वर्ग के विशेषाधिकारों पर अनेक आघात किये जा चुके है, यह अपनी इन विशेषताओं को बनाये हुए है।

रक्तपूर्ण बलियाँ चढाने की प्रथा थी; पाएस लिखता है कि एक उत्सव पर राजा की उपस्थिति में २४ भैंसों और १५० भेड़ों की बलि दी जाती थी और इन पशुओं के सिर तलवार की एक ही चोट मे काटे जाते थे। प्रसिद्ध महानवमी के उत्सव की समाप्ति पर अंतिम दिन २५० भैंसे और ४,५०० भेड़ें मारी जाती थी। परन्तु जान पड़ता है देश में पशुओं की संख्या इतनी अधिक थी कि उनके इतनी अधिक संख्या मे बलि चढ़ाये जाने पर किसी प्रकार की आर्थिक हानि का अनुभव न हो पाता था।

राजधानी मे धन की विपुलता के कारण विलासिता को प्रोत्साहन मिला जिससे अनेक दोष भी जन-जीवन मे प्रवेश कर गये। वेश्या-वृत्ति साधारण सी बात बन गई थी, और अब्दुर्रज्जाक के वर्णन से ज्ञात होता है कि नगर में वेश्यालय थे जहाँ चरित्रहीन स्त्रियाँ अपना जाल बिछाकर लोगों को बुरे मार्ग पर प्रवृत्त करती थी। अब्दुर्रज्जाक का वर्णन इस प्रकार है :—

"एक उल्लेखनीय बात यह है कि टकसाल के पीछे एक तरह का बाजार है जो ३०० गज से अधिक लम्बा और २० गज चौड़ा है। इसके दोनों ओर भवन (खानहा) है और आंगन (सफहा) है और भवनों के सम्मुख, कुर्सियों के स्थान पर बहुत सुन्दर पत्थर के चबूतरे बने है और मकानों के सिरों पर सिंह, बाघ, चीते और दूसरे पशुओ की मूर्तियाँ बनी है, जो इतनी सुन्दर रँगी है कि सजीव लगती है। मध्याह्न प्रार्थना के पश्चात् इन मकानो के सामने, जो बड़े सुन्दर ढग से सजाये रहते है, कुर्सियाँ और आसन रखे जाते है, जिन पर गणिकाएँ बैठती है। प्रत्येक मोतियों, बहुमूल्य रत्नों और मूल्यवान् वस्त्रों से सुसज्जित होती है। प्रत्येक व्यक्ति जो इस स्थान से होकर जाता है, अपनी इच्छानुसार किसी को चुन लेता है। उन वेश्यालयों के सेवक आगंतुक की वस्तुओं की निगरानी रखते है और यदि कोई वस्तु खो जाती है तो उनको निकाल दिया जाता है। इन सात दुर्गों के भीतर अनेक वेश्यालय और उनसे, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, १२,००० फनाम कर-रूप में प्राप्त होते हैं जो नगर-रक्षकों की व्यवस्था में व्यय किये जाते है। इन लोगों का कार्य यह है कि यह इन सात प्राकारों के अन्तर्गत होनेवाली सभी बातों और घटनाओं की खबर रखें और जो भी चीज खो जाय अथवा चोरी जाय, उसकी खोज करें; नहीं तो उनको अर्थदण्ड दिया जाता है।"[६६]

६६. 'मतल-उस्-सादैन' इलियट, ४, पृ० ११२-१३।

पेरिस तथा दिल्ली जैसे आधुनिक नगरों से सुपरिचित लोगों को विजयनगर मे इन कुख्यात स्थानों के अस्तित्व से आश्चर्य न होगा। वेश्याओं को सार्वजनिक उत्सवों में आने दिया जाता था और राज्य के बड़े से बड़े अभिजातवर्गीय लोग उनके सहवास का आनंद लेते थे और यह बुरा भी न समझा जाता था। भारत मे अभी कुछ समय पूर्व तक गणिकाएँ उत्सवों मे भाग लेती थी। लेकिन शिक्षा के प्रसार के साथ साथ यह बात उठती जा रही है।

पंद्रहवी शताब्दी मे इटली के मैकियावेली ने यह प्रबल आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किया था कि "राज्य शक्ति है।" राज्य की यह परिभाषा विजयनगर साम्राज्य पर पूर्णतया घटित होती है। यह साम्राज्य हिंदुओं की सुरक्षा के लिए स्थापित किया गया था और उसके अस्तित्व के अंतिम क्षण तक यह उद्देश्य शासन-तंत्र का मुख्य ध्येय रहा। यहाँ कठोरता थी; सती एवं पशु-बलि जैसी क्रूर प्रथाएँ भी प्रचलित थीं; परन्तु सहिष्णुतापूर्ण नीति का अवलम्बन करने के कारण यह राज्य उन हिंदुओं का आश्रय बन गया था जो मुसलमानों के अत्याचारों से बेघर होकर निराश्रित हो जाते थे। साम्राज्य मे सब प्रकार की उपासना-पद्धतियों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई थी, जिससे "प्रत्येक व्यक्ति (इस साम्राज्य में स्वेच्छानुसार) आ सकता था, जा सकता था और किसी परेशानी अथवा इस बात की पूछताछ के बिना कि वह ईसाई, यहूदी, मूर अथवा नास्तिक है, अपने धर्म के अनुसार रह सकता था।"[70] परन्तु इस साम्राज्य में विकास का कोई सिद्धान्त लक्षित न होता था; इसके सम्मुख मानवीय-विकास का कोई आदर्श न था, इसलिए यह स्थायित्व प्राप्त न कर सका। अपने जैसे अन्य अनेक साम्राज्यों के समान यह भी उन्ही कारणों से समाप्त हो गया, जिनके कारण उसका उदय हुआ था।

---

७०. एपिग्रा० करना० ३, १५; वही २, १३६।

अध्याय १६

शक्तिहीन शासकों का युग

परिस्थिति—खिज्र खाँ ने दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार जमा तो लिया था, परन्तु उसकी स्थिति असंदिग्ध रूप से सुरक्षित न थी। वह सार्वजनिक रूप से शासक की पदवी ग्रहण करने का साहस न कर सका और यही प्रदर्शित करता रहा कि वह तैमूर के प्रतिनिधि के रूप में शासन कर रहा है। तैमूर के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली साम्राज्य की प्रतिष्ठा और सीमा प्रांताध्यक्षों की महत्त्वाकांक्षा एवं अधिकार-लिप्सा के कारण बहुत घट चुकी थी और विघटन की प्रक्रिया अभी तक समाप्त न हो पाई थी। राजधानी में विभिन्न दल अधिकार के लिए कलह-रत थे और आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ पक्ष-परिवर्तन कर रहे थे। इन दलों के उच्चाकांक्षी, सिद्धान्तहीन एवं अवसरवादी नेता, अपने स्वार्थों के पोषण में संलग्न थे। दोआब प्रदेश बलबन के समय से ही विद्रोहों का प्रमुख केंद्र रहा था और अब इटावा, जहाँ के जमींदार अधिकतर राठौर जाति के राजपूत थे, राजद्रोह का केन्द्र था। कटेहर, कन्नौज एवं बदाऊँ के जमींदारों ने भी कर देना बंद कर केंद्रीय सरकार का तिरस्कार कर दिया था। वे उपद्रव खड़े करने में इतने कटिबद्ध रहते थे कि उनका दमन करने के लिए बार-बार सेना भेजनी पड़ती थी। मालवा, जौनपुर एवं गुजरात के राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र हो चुके थे। यह राज्य अपने पड़ोसी राज्यों से तथा परस्पर युद्धरत रहते थे और कभी कभी दिल्ली की सीमा का भी उल्लंघन कर जाते थे। मालवा तथा गुजरात के शासक परस्पर घोर रक्तपातपूर्ण युद्धों में डूबे रहते थे और राजपूतों को भी लड़ाइयों में उलझाये रहते थे, जिससे वह भी दिल्ली की राजनीति में भाग न ले सकें। राजधानी के समीप ही मेवाती लोग असंतोष से भरे थे; उन्होंने कर देना बंद कर दिया था और उनकी राजभक्ति विचलित हो रही थी। उत्तरी सीमा पर खोखर मुलतान तथा लाहौर में उपद्रव मचा रहे थे और इस अराजकता से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते थे। ऐसी अर्ध-सभ्य लुटेरी जातियों को दबाना दिल्ली की राजसभा के चारों ओर चक्कर काटनेवाले विश्रान्तिप्रिय मुसलमानों की शक्ति से बाहर था। सरहिंद के तुर्क-बच्चे भी कम आरामतलब न बन गये थे और वे भी अधिक साहसी एवं उत्साही जातियों से मिलकर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के उद्देश्य से कुचक्र रच रहे थे। मुसलमान प्रांताध्यक्ष स्वेच्छा से अपने पड़ोसियों के साथ लड़ाई ठान

लेते थे और केंद्रीय सरकार को अनेक बार इन अनाधिकार चेष्टाओं को रोकने के लिए बीच में पड़ना पड़ता था। शासक की प्रतिष्ठा यद्यपि सर्वथा समाप्त नहीं हुई थी, परन्तु क्षीण अवश्य हो गई थी। शासकों की अयोग्यता इसका सबसे बड़ा कारण थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि फीरोज के पश्चात् दिल्ली को कोई भी निपुण शासक न मिला; प्रतीत होता है कि पिछले बीस वर्षों से पतन की किसी अप्रत्यक्ष प्रक्रिया शासक-परिवार की बुद्धि एवं चरित्र को शक्तिहीन बना रही थी। इस पीढ़ी के विलासिता-प्रिय मुसलमान अपने पूर्वजों के समान सूत्रबद्ध अथवा संघटित न हो सकते थे और इनकी बिलगाव की प्रवृत्ति ने इनको एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न युयुत्सु-पक्षों में विभाजित कर दिया था। इस समय भी लूटमार में लगे साहसिक सैनिकों अथवा स्वार्थपरायण राजनीतिज्ञों की कमी न थी; परन्तु ऐसे लोग अव्यवस्था को दूर कर व्यवस्था स्थापित करने और पारस्परिक कलहों के कारण दुर्दशा में पड़े हुए देश में सुव्यवस्थित शासन-तन्त्र की प्रतिष्ठा करने के कभी योग्य नहीं होते। यह समझना भूल है कि शासक जाति का हिंदुओं के सम्पर्क में आना शासक की प्रतिष्ठा के ह्रास का कारण बना। वास्तव में हिंदू-मुसलमानों में यथार्थ सम्पर्क स्थापित न हो सका था। अब भी वह एक दूसरे से सर्वथा विलग वर्गों के रूप में रह रहे थे। फीरोज तक के शासनकाल में, जो राजपूत-माता की संतान था, हिंदुओं का स्थान मुसलमानों से हीन समझा जाता रहा और राज्य के शासक-वर्ग में केवल मुसलमान ही स्थान पाते रहे। राजपरिवारों में जो विजातीय विवाह हुए भी वह स्वेच्छा से न होकर, विवशता के कारण हुए और यह विवाह-संबंध पारस्परिक कटुता को घटाने की अपेक्षा बढ़ाने में ही सफल हुए।[1] इनसे एकता की अपेक्षा बिलगाव को ही प्रोत्साहन मिला। मध्ययुगीन राजनीति में व्यक्तित्व का सर्वाधिक प्रभाव होता था और राज्यों तथा साम्राज्यों की उन्नति-अवनति बहुत कुछ शासक के शक्तिशाली अथवा शक्तिहीन होने पर निर्भर होती थी। वैधानिक शासन-प्रणाली अथवा विधिपूर्ण शसन से अपरिचित युग में इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता था? बहुधा तलवार की लम्बाई ही प्रभुत्व के विस्तार की सीमा का निर्धारण करती थी और परिस्थितियों के सम्मुख अन्य किसी बात की चिंता न कर अयोग्य व्यक्तियों को निर्दयतापूर्वक हटाने में कोई देर न लगाई जाती थी अथवा

---

१. रणमल भाटी की पुत्री, फीरोज तुगलक की माँ बीबी नैला के विवाह की घटना इसका प्रमाण है। शम्सेसिराज अफीफ ने इस घटना का वर्णन किया है कि तुगलक शाह ने कैसे उसका बलपूर्वक हरण कर सिपहसालार रजब से विवाह कर दिया था।

ऐसे शासकों को अपने से अधिक योग्य व्यक्ति के लिए सिंहासन रिक्त करना पड़ता था। अतः सैय्यदों के सम्मुख कोई सरल कार्य न था। उनके वंश का भविष्य इन परिस्थितियों का नियन्त्रण कर सकने में उनकी सफलता पर अवलम्बित था। सामाजिक पुनर्निर्माण के इस महान् कष्टसाध्य कार्य के सम्मुख साहस खो देने में भी क्या आश्चर्य हो सकता है।

खिज्र खाँ (१४१४-१४२१ ई०)—खिज्र खाँ सय्यद[2] था और बचपन में उसका लालन-पालन मुलतान के प्रांताध्यक्ष मलिक नसीर-उल-मुल्क मरदान दौलत ने किया था, जिसके देहान्त के पश्चात् फीरोज तुगलक ने उसकी जागीर खिज्र खाँ को दे दी थी। फीरोज की मृत्यु के पश्चात् जब दिल्ली साम्राज्य में अव्यवस्था फैली तब प्रसिद्ध नायक मल्लू इकबाल खाँ के भाई सारंग खाँ ने खिज्र खाँ को ७९८ हि० स० (१३९५ ई०)[1] में मुलतान में घेर लिया था। परन्तु खिज्र खाँ निकल भागने में सफल हुआ और तैमूर के दल में जा मिला। तैमूर ने भारत से लौटते समय मुलतान की जागीर और इसके अधीन प्रदेश खिज्र खाँ को सौंप दिये थे। दिल्ली में व्याप्त राजनीतिक अव्यवस्था से लाभ उठाकर उसने पर्याप्त शक्ति-संचय कर लिया और १४१४ ई० में दौलत खाँ को दबाकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। यद्यपि खिज्र खाँ स्वतन्त्र शासक के अधिकारों का उपभोग करता था, परन्तु वह यही कहता रहा कि वह तैमूर के नाम पर शासन कर रहा है और उसने जो उपाधियाँ धारण की उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह तैमूर का प्रतिनिधि बना रहा। तैमूर के नाम के सिक्के ढलवाये गये, खुतबा पढ़ा गया और तैमूर की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी राजकुमार शाहरुख के नाम का खुतबा पढ़ा गया; अधीनता प्रदर्शित करने के लिए खिज्र खाँ कभी कभी अपने स्वामी के लिए भेंट भेज देता था। दिल्ली

---

२. 'तारीख-ए-मुबारक शाही' में खिज्र खाँ के सैय्यद होने के प्रमाणस्वरूप दो बातें बताई गई हैं। एक तो यह कि एक बार सैय्यदों का प्रधान जलालुद्दीन बुखारी मलिक मरदान के घर आया और जब अभ्यागतों के लिए भोजन परोसा गया, मलिक मरदान ने खिज्र के भाई सुलेमान को सैय्यद साहब के हाथ धुलाने के लिए कहा, परन्तु सैय्यद साहब ने कहा, "यह सैय्यद है, और ऐसा काम इसके लिए उचित नहीं है।" दूसरा कारण यह बताया गया है कि वह "उदार, वीर, नम्र, आतिथ्यपूर्ण, वचनों का पालन करनेवाला और दयालु था। यह गुण पैगम्बर के लक्षण थे और उसमें प्रकट हुए थे।',

३. 'तारीख-ए-मुबारकशाही'—इलियट, ४, पृ० ३२, ३४।

खिज्र खाँ को अपने अन्य साथियों सहित तैमूर से भेंट करने की अनुमति प्राप्त हुई। तैमूर ने और सबको कारागार में डाल दिया, परन्तु उसके प्रति कृपाभाव प्रदर्शित किया।

पर अधिकार स्थापित कर लेने पर खिज्र खाँ प्रारम्भिक व्यवस्था में जुट गया। उसने निर्धनों और निराश्रितों के लिए, जिनकी संख्या राजनीतिक उथल-पुथल के कारण बहुत बढ़ गई थी, निधि स्थापित की। शासनतंत्र को अधिक कार्यक्षम बनाने के विचार से पदाधिकारियों की नये सिरे से नियुक्तियां की गईं। वजीर का पद मलिक-उस-शर्क मलिक तुहफा को ताज-उल-मुल्क की उपाधि सहित दिया गया; बाद की घटनाओं से इस चुनाव की आवश्यकता सिद्ध हो गई। सहारनपुर की जागीर सैय्यदों के प्रधान सैय्यद सलीम को दी गई, जो अपने प्रदेश में व्यवस्था स्थापित करने के लिए तत्काल रवाना हो गया। मुलतान और फतेहपुर की जागीर स्वर्गीय मलिक सुलेमान के दत्तकपुत्र अब्दुर्रहीम को 'आला-उल-मुल्क' की उपाधि सहित दी गई और दोआब का प्रदेश इख्तियार खाँ को सौंपा गया। मलिक सरवर को राजधानी का 'शह्ना' नियुक्त किया गया और सुलतान की अनुपस्थिति में उसके प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने का अधिकार दिया गया। मलिक दाऊद को राज्य-सचिव बनाया गया, मलिक काल् को गजाध्यक्ष और मलिक खैरुद्दीनको 'अरीज-ए-ममालिक' के उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया गया। राज्य के पदाधिकारियों को उन जागीरों और भूखण्डों का अधिकार दिया गया जो उन्हें सुलतान महमूद के समय प्राप्त हुए थे।

नई सरकार के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या दोआब तथा उन प्रदेशों में व्यवस्था स्थापित करने की थी जो अब भी दिल्ली-साम्राज्य का प्रमुत्व मानते थे। निर्भीक वजीर ताज-उल-मुल्क ने १४१४ ई० में कटेहर की ओर प्रयाण किया और सारे प्रदेश को रौंद डाला। राय हरसिंह विरोध किये बिना भाग गया, परन्तु शाही सेना ने उसका पीछा किया और उसको आत्मसमर्पण करने के लिए विवश कर दिया। खोर[4], कम्पिल, सकीट[5], परखम, ग्वालियर, सिउनी और चन्दवार के हिंदू जमीदारों ने अधीनता स्वीकार कर ली और कर देने लगे। चन्दवार के सरदार से जलेसर[6] छीनकर इसके पहले के मुसलमान अधिकारियों को दे दिया गया। दोआब, बियाना तथा ग्वालियर में बार बार विद्रोह होते रहे, परन्तु इनका दमन कर शान्ति स्थापित की गई और स्थानीय सरदारों से दिल्ली का प्रमुत्व स्वीकार कराया गया।

---

४. खोर, उत्तर प्रदेश, जिला फर्रुखाबाद में है। इसका वर्तमान नाम शमसाबाद है। बूढ़ी गंगा के दक्षिणी तट पर फतेहगढ़ से १८ मील उत्तर की ओर यह नगर स्थित है। फर्रुखाबाद डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पृ० १२३-१२४।

५. सकीट नामक स्थान, कम्पिल और रापरी के बीच, एटा से १२ मील दक्षिण-पूर्व की ओर है। इसी परगने के बदौली नामक स्थान पर ग्वालियर के आक्रमण से लौटते समय बहलोल लोदी की मृत्यु हुई थी।

६. जलेसर, उत्तर प्रदेश में मथुरा से ३८ मील की दूरी पर है।

थोड़े समय बाद खिज्र खाँ को उत्तरी सीमा की ओर ध्यान देना पड़ा। वहाँ तुर्क बच्चों ने धोखे से मलिक साधू का वध कर दिया था, जिसको वहाँ राजकुमार मुबारक के स्थान पर भेजा गया था। इन्होंने सरहिंद के दुर्ग पर अधिकार कर लिया और जब इनका दमन करने के लिए शाही सेना पहुँची, वे पहाड़ों में भाग गये। १४१७ ई० में तुगान रईस और तुर्क-बच्चों ने विद्रोह किया, परन्तु समाना के अमीर जीरक खाँ ने इसका दमन कर रईस को भविष्य में अपनी राजभक्ति का विश्वास दिलाने के लिए अपना पुत्र शाही दरबार मे रखने के लिए बाध्य किया। दोआब का प्रदेश दिल्ली-साम्राज्य का सर्वाधिक अशांत और उपद्रवी भाग था। खिज्र खाँ तथा उसके बाद के शासकों को इन उपद्रवों और विद्रोहों का दमन करने के लिए बार-बार जो अभियान करने पड़े उनका पूरा ब्योरा देना पाठकों को उकतानेवाला ही होगा। इस प्रदेश में पूर्ण अराजकता की स्थिति थी और दिल्ली से कुछ ही मील की दूरी पर शक्तिशाली जमींदार साम्राज्य के आधिपत्य की अवहेलना कर रहे थे। कटेहर के जमींदार हरसिंह ने पुन: विद्रोह किया और विद्रोहियों का दमन करने के लिए सदैव सन्नद्ध ताज-उल-मुल्क जैसे ही वहाँ पहुँचा विद्रोही हरसिंह अपना माल-असबाब शत्रु के लिए छोड़कर कुमायूँ की पहाड़ियों मे भाग गया।

इसी समय इटावा मे राय सरवर ने विद्रोह किया। बदाऊँ के अमीर महावत खाँ ने इसका दमन कर दिया। १४१६ ई० मे खिज्र खाँ ने स्वयं कटेहर की ओर प्रयाण किया और कोल, सम्भल तथा बदाऊँ में, जहाँ महावत खाँ ने विद्रोह खड़ा कर दिया था, शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित की। परन्तु इसी समय अपने विरुद्ध एक षड्यन्त्र की सूचना पाकर उसको राजधानी में लौट आना पड़ा, जहाँ उसने षड्यन्त्रियों को मरवा दिया।

ताज-उल-मुल्क के भाग्य में आराम करना न बदा था। जैसे ही वह एक ओर के विद्रोहों का दमन कर पाता था वैसे ही दूसरी ओर विद्रोहाग्नि भड़क उठती थी। इन अनवरत विद्रोहों से स्पष्ट विदित हो जाता है कि केंद्रीय सरकार का प्रभाव कितना गिर चुका था। कोल से कटेहर तक का समस्त प्रदेश अशांतिमय बना हुआ था और जब इटावा के राय सरवर ने कर देना बंद कर स्वतन्त्र होने की चेष्टा की, तब उसका दमन करने के लिए सेना भेजना आवश्यक हो गया। सदैव तत्पर रहनेवाले वजीर ने उसको घेर लिया और अधीनता स्वीकार करने तथा कर की सारी बकाया रकम चुकाने के लिए विवश कर दिया। कोल, बरन तथा मन्दवार के जिलों को भी जीता गया और कटेहर के राय हरसिंह ने भी अधीनता स्वीकार कर ली।

उत्तरी सीमा पर तुगन रईस ने पुनः विद्रोह किया, परन्तु मलिक सैफुद्दीन ने उसको जसरथ खोखर के देश में भगा दिया और उसकी जागीर जीरक खाँ को दे दी। खिज्र खाँ ने स्वयं प्रयाण कर मेवातियों को बहादुर नाहिर के दुर्ग कुटीला में घेर लिया। दुर्ग को ध्वस्त कर मेवातियों को हराया गया। ७ मुहर्रम, हि० सं० ८२४ ई० (१२ जनवरी, १४२१ ई०) को ताजुद्दीन का देहान्त हो गया। इस अथक परिश्रमी और मृत्युपर्यंत साम्राज्य-भक्त वजीर की मृत्यु से समय समय पर उभड़नेवाले विद्रोहों का दमन करने का कार्य खिज्र खाँ पर आ पड़ा। परन्तु खिज्र खाँ का अंत भी समीप आ रहा था। इटावा तथा ग्वालियर के सरदारों का, जिन्होंने उसके आधिपत्य के विरुद्ध पुनः विद्रोह कर दिया था, दमन कर दिल्ली लौटने पर वह बीमार पड़ गया और १७ जमाद-अल-अव्वल, हि० स० ८२४ (२० मई, १४२१ ई०) को इस संसार से चल बसा।

खिज्र खाँ ने सच्चे सैय्यद का सा जीवन व्यतीत किया। उसने कभी अनावश्यक रूप से रक्त नहीं बहाया और अपनी शक्ति दृढ़ करने अथवा अपने शत्रुओं का दमन करने के लिए भी कभी किसी नृशंस कार्य के लिए आदेश न दिया। यदि वह शासन-प्रबन्ध में सुधार न कर सका, तो यह उसका दोष न था। उस समय चारों ओर फैली हुई अशान्ति और उपद्रवों ने उसे क्षण भर के लिए भी चैन न लेने दिया और मृत्युपर्यंत वह उन भागों मे विद्रोहों का दमन करने में लगा रहा जो अब भी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। फरिश्ता ने इन शब्दों मे उसकी उचित प्रशंसा की है; "खिज्र खाँ एक महान् और बुद्धिमान् शासक था, दयालु और वचन निभानेवाला था; उसकी प्रजा के हृदय मे उसके लिए कृतज्ञतापूर्ण प्रेम था, जिससे कि बड़े-छोटे, स्वामी-सेवक, सभी ने तीन दिन तक काली पोशाक मे बैठकर उसकी मृत्यु का शोक मनाया और इसके बाद मातमी वस्त्रों को उतारकर उसके पुत्र मुबारकशाह को सिंहासन पर बैठाया।"

मुबारकशाह (१४२१-१४३४ ई०)—खिज्र खाँ ने मृत्यु-शय्या पर अपने पुत्र मुबारक को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था और १७ जमाद-अल-अव्वल[७] के दिन युवराज ने राज्य के अमीरों और सरदारों की सहमति से राजकीय चिह्न धारण किये। उसके शासन-काल का इतिहास यहिया-बिन-अहमद ने 'तारीख-ए-मुबारक शाही' के नाम से लिखा है; यह ग्रंथ उससे शासन

७. 'तारीख-ए-मुबारक शाही' की जिस प्रति का मैंने उपयोग किया है उसमे १७ जमाद-अल-अव्वल की तिथि लिखी है, जब कि इलियट महोदय के अनुवाद में १६ जमाद-अल-अव्वल की तिथि दी गई है।

इलियट ४, पृ० ५३।

काल की घटनाओं का परिचय प्राप्त करने का मुख्य साधन है। यह शासन-काल भी राज्य में स्थान-स्थान पर विद्रोहों और उनको दमन करने के लिए किये गये सैनिक उद्योगों की नीरस घटनाओं से पूर्ण अपने पिता के समान मुबारक ने भी अमीरों और सरदारों को भूमि-स्वत्व प्रदान किया और उनके प्रति बहुत कृपाभाव प्रदर्शित किया।

मुबारकशाह के शासन-काल में सर्वप्रथम उत्तरी सीमाप्रान्त में जसरथ खोखर और तुगान रईस का विद्रोह हुआ। 'तारीख-ए-मुबारक शाही' में इस विद्रोह का कारण यह बताया गया है कि—

"जसरथ खोखर एक अविवेकी गँवार था। विजयोन्माद से भरकर और अपनी सनाओं की शक्ति के घमण्ड मे आकर वह दिल्ली (पर अधिकार करने) का स्वप्न देखने लगा। खिज्र खाँ की मृत्यु का समाचार पाने पर वह कुछ अश्वारोही एवं पदाति सेना लेकर बियाह (व्यास) और सतलदर (सतलज) नदियों को पार कर तालवडी में राय कमालुद्दीन मैन पर चढ बैठा। राय फीरोज उसके सामने से मरुभूमि की ओर पलायन कर गया। तत्पश्चात् जसरथ ने लुधियाना नगर से लेकर सतलज पर अरूबर (रूपर) तक के प्रदेश को लूटा।"

तब उसने सरहिन्द के दुर्ग पर घेरा डाल दिया, परन्तु इस पर अधिकार न कर सका। इस विद्रोह का समाचार पाकर, सुलतान ने आमना की ओर प्रयाण किया और खोखर सरदार सरहिंद का घेरा उठाकर लुधियाना लौट आया। शाही सेना ने विद्रोही का पीछा किया, परन्तु वह पहाड़ों में भाग गया। लाहौर में शान्ति स्थापित कर सुलतान राजधानी में लौट आया, परन्तु थोड़े ही समय पश्चात् उसको समाचार मिला कि जसरथ खोखर ने रावी पार कर लाहौर पर चढ़ाई कर दी है। लाहौर का प्रांताध्यक्ष मलिक महमूद हसन उसका विरोध करने के लिए बढ़ा। शत्रु-दल के साथ उसकी खूब झड़पें हुईं और ३५ दिन तक खोखर अडिग भाव से डटा रहा। तब जसरथ कालानोर की ओर हटा, परन्तु यहाँ से भी उसको पहाड़ों में शरण लेने के लिए भागना पड़ा। इसी समय दीपालपुर, सरहिंद और दिल्ली से नई सेना पहुँच गई; राय भीम ने भी एक सैनिक टुकड़ी सहायता के लिए भेजी। इस सम्मिलित सेना ने कालानोर और भोह के कस्बे के बीच रावी नदी पार कर खोखरों को करारी हार दी। महमूद हसन को जलन्धर बदल दिया गया और लाहौर का प्रान्त, जिसके शासन के लिए एक योग्य एवं शक्तिशाली व्यक्ति की नितान्त आवश्यकता थी, मलिक सिकन्दर को सौंपा गया और राजधानी में इसका स्थान राजधानी के 'शहना' मलिक-उस-शर्क सरवर ने ग्रहण किया।

दोआब में अभियान—दोआब में पुनः विद्रोह उठ खड़े हुए

दमन करने के लिए १४२३ ई० में सुलतान ने कटेहर पर चढ़ाई कर स्थानीय सरदारों को अधीनता स्वीकार करने और कर देने के लिए बाध्य किया। इसके बाद कम्पिल तथा इटावा के राठौरों का, जो सर्वाधिक दुर्दम्य थे और जिन्होंने कभी स्थायी रूप से अधीनता स्वीकार न की थी, दमन किया गया और राय सरवर के पुत्र ने राजभक्ति प्रदर्शित की तथा कर की पिछली रकम चुकाई। धार के प्रान्ताध्यक्ष अलप खाँ को, जो ग्वालियर पर चढ़ आया था, परास्त किया गया और उसके साथ सन्धि की गई। सुलतान ने १४२४ ई० ई० में पुनः कटेहर की ओर प्रयाण किया और जब गंगा के तट पर पहुँचा, राय हरसिंह ने आकर अधीनता स्वीकार कर ली। मेवातियों ने बहादुर नाहिर के पौत्र जल्लू और कद्दू के नायकत्व में विद्रोह का झंडा उठाया और अपने ही देश को रौंदने लगे। उनका अन्दवार का गढ़ तोड़ा गया और तब शाही सेना अलवर की ओर बढ़ी जहाँ उन्होंने शरण ली थी। शाही सेना द्वारा घिरकर आखिर उनको आत्म-समर्पण करना पड़ा और सुल्तान ने उनको क्षमा कर दिया।

बियाना के प्रांताध्यक्ष मुहम्मद खाँ का विद्रोह मुबारिज खाँ ने शीघ्र दबा दिया और सुलतान ने मुबारिज खाँ को बियाना का प्रांताध्यक्ष बनाया। परन्तु इसी समय यह उद्विग्नकारी समाचार प्राप्त हुआ कि इब्राहीम शर्की एक विशाल सेना लेकर कालपी की ओर बढ़ रहा है। जौनपुर के शासक का भाई मुखल्तास खाँ इटावा की सीमा पर चढ़ आया। सुलतान ने महमूद हसन को उसके विरुद्ध भेज दिया और स्वयं भी युद्ध-स्थल की ओर प्रयाण किया। इब्राहीम काली नदी के किनारे-किनारे बढ़ता हुआ इटावा के अन्तर्वर्ती प्रदेश बुरहानपुर मे पहुँच गया और उधर मुबारकशाह ने चन्दवार में जमुना पार कर शत्रु से ८ मील की दूरी पर डेरा डाल दिया। दोनों पक्षों की अनेक छोटी-छोटी झड़पें हुईं परन्तु किसी को भी खुल कर समरभूमि मे उतरने का साहस न हुआ। आखिर, बीस दिन के उपरांत शर्की शासक का धैर्य जाता रहा और उसने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। मध्याह्न से सायंकाल तक युद्ध चलता रहा, परन्तु प्रतिपक्षी को प्रबल जानकर शर्की शासक जमुना की ओर पीछे हटा और उसने अपने देश की ओर प्रयाण कर दिया। इस विजय से हर्षित होकर सुलतान दिल्ली लौट गया और वहाँ उसने विगत युद्ध में शर्की शासक की सहायता करने के अपराध के दण्डस्वरूप कद्दू मेवाती के वध की आज्ञा दी। मलिक सरवर को मेवातियों का दमन करने के लिए भेजा गया, परन्तु मेवातियों के सरदारों ने इतना कठोर प्रतिरोध किया कि सरवर को थोड़े से धन की भेंट से ही सन्तुष्ट होकर लौट आना पड़ा।

जसरथ खोखर का पुनः दमन—हि० स० ८३१ के जिलकदा मास मे

(१४२८ ई०) जसरथ खोखर ने कालानोर पर घेरा डाल दिया। मलिक सिकंदर दुर्ग की रक्षा के लिए आगे बढा, परन्तु खोखर ने उसको परास्त कर दिया। इस सफलता से बल पाकर उसने जालंधर पर आक्रमण किया, परन्तु इसको जीत न कर सका और पुन. कालानोर लौट गया। इन घटनाओं की सूचना पाकर सुलतान ने समाना तथा सरहिन्द के अमीरों को मलिक सिकन्दर की सहायता करने का आदेश दिया। परन्तु इन अमीरों के घटनास्थल पर पहुँचने से पूर्व ही मलिक सिकन्दर ने खोखर सरदार को परास्त कर पहाड़ों मे भगा दिया।

पौलाद का विद्रोह—१४२९-३० ई०—ऊपर जिन विद्रोहों का वर्णन किया गया है, इनसे कहीं अधिक शक्तिशाली विद्रोह पौलाद[८] तुर्क-बच्चा ने किया। वह सैय्यद सलीम का दास था और सैय्यद के पुत्रों ने उसको विद्रोह करने के लिए उकसाया था। विद्रोही ने बहुत बड़ी सख्या में अनुयायी एकत्र कर लिये और वह भटिंडा के दुर्ग में डट गया। उसने अपने सहयोगी मलिक यूसुफ सरूप और हेनू भट्टी को रापरी पर अधिकार करने के लिए प्रोत्साहित किया और इन गतिविधियों से बाध्य होकर सुलतान को इनका विरोध करने के लिए इमाद-उल-मुल्क को भेजना पड़ा। पौलाद ने सुलतान के पास संदेश भेजा कि यदि उसको जीवन दान दिया जाये तो वह इस स्थान को छोड़ने के लिए तैयार है। सुलतान ने यह बात स्वीकार कर ली, परन्तु इमाद-उल-मुल्क के एक मूर्ख अनुचर ने उसको सूचना दी कि सुलतान के आश्वासन का कोई भरोसा नहीं है। अब तो पौलाद ने अन्तिम समय तक डटे रहने का निश्चय कर लिया और सब तरफ से सेना एकत्र करनी आरम्भ कर दी। उसने काबुल के प्रांतपति अमीर शेखजादा अली मुगल और खोखरों से सहायता मांगी। खोखरों ने उसके दल की संख्या की खूब वृद्धि की। शेख अली ने सरहिंद पहुँचकर शाही सेना को भगा दिया। इस सहायता के बदले पौलाद ने उसको दो सहस्र टंके तथा अन्य बहुमूल्य उपहार भेंट किये। पंजाब प्रदेश खूब रौंदा गया और शेख अली ने लूटपाट से अपनी सहायता का पूरा-पूरा पारिश्रमिक वसूल कर लिया। लाहौर में उसने शेख सिकन्दर से एक वर्ष की आय वसूल की और दीपालपुर पहुँचकर २० दिन तक इस प्रदेश को खूब तहस-नहस किया। शीघ्र ही वह मुलतान पहुँच गये और यहाँ ४ मील तक का प्रदेश काबुलियों ने खूब नष्ट-भ्रष्ट किया। इन उपद्रवों का समाचार पाकर सुलतान ने अपने अनेक सेनानायकों को ससैन्य भेज दिया, जिनकी सहायता से इमादुल मुल्क ने एक भीषण संग्राम में शेख अली को परास्त किया। शेख अली काबुल

८. सर यदुनाथ सरकार की हस्तलिपि में यह नाम पौलाद है।

भाग गया, परन्तु उसकी सेना पूर्णतया नष्ट हो गई। इमादुल मुल्क मुलतान लौट आया, परन्तु सुलतान उसके प्रति ईर्षालु हो गया और उसको पदच्युत कर दिया। उसका स्थान खैरुद्दीन खानी ने ग्रहण किया, जो सीमाप्रान्त की स्थिति को वश में रखने योग्य न था। 'तारीख-ए-मुबारकशाही' के लेखक के अनुसार यह परिवर्तन अत्यन्त नीति-विरुद्ध था, क्योंकि इसके कारण मुलतान जिले में उपद्रव उठ खड़े हुए।

सुलतान के इस अविचारपूर्ण कार्य का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि जसरथ खोखर ने पुनः युद्ध छेड़ दिया और वह लाहौर को घेरने के लिए आगे बढ़ा। शेख अली ने भी आक्रमण करने आरम्भ कर दिये और वह मुलतान की सीमा में चढ़ आया। सुलतान ने १४३२ ई० में सरवर-उल-मुल्क को विद्रोहियों के विरुद्ध भेजा और उसको मुलतान का प्रांतपति नियुक्त किया। शेख अली और जसरथ पीछे हट गये, परन्तु पौलाद सरहिंद के दुर्ग में डट गया। सरवर की सफलता ने सुलतान की ईर्षा को उभाड़ दिया और उसने सरवर को पुनः वजीर के पद पर वापिस बुला लिया परन्तु इमादुल मुल्क विद्रोहियों से लड़ता रहा। सरहिन्द पर अधिकार कर लिया गया और पौलाद मारा गया। उसका सिर मीरां-ए-सदर ने हि० स० ८३७ के रबी-उल-अव्वल मास में (नवम्बर, १४३३ ई०) सुलतान के सम्मुख उपस्थित किया।

सुलतान के विरुद्ध षड्यन्त्र—सरवर-उल-मुल्क को पुन. वजीर पद पर बुला दिया गया था और शासन-प्रबन्ध में दक्षता लाने के लिए कमाल-उल-मुल्क को 'दीवान-ए-अशरफ' बनाया गया था। दोनों पदाधिकारियों को सहयोग से कार्य करने को कहा गया था। परन्तु कमाल-उल-मुल्क के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर उसके सहयोगी के मन में ईर्ष्या जाग उठी और उसने अध्यक्ष-पद के इस कार्य-विभाजन का विरोध किया। "अब उसके विचार खून की ओर मुड़ गये थे। दीपालपुर की जागीर से अलग किया जाना, उसके मन में शूल के समान चुभ रहा था और अब उसकी बुद्धि राज्य में कोई क्रान्ति करने पर तुली हुई थी।" उसने कांगू के पुत्रों तथा काञ्ची खत्री जैसे लोगों के साथ गुप्त मंत्रणा की और अनेक असन्तुष्ट उच्च-पदस्थ मुसलमान उसके साथ मिल गये।[१] जब सुलतान अपने नये बसाये नगर मुबारकबाद के निर्माण

१. जान पड़ता है कि सुलतान के विरुद्ध इस षड्यन्त्र में हिन्दू और मुसलमान सभी सम्मिलित थे। मुसलमानों में से 'मीरां-ए-साहिब', अमीर-ए-मामालिक' का उपाध्यक्ष, काजी अब्दुल समद खाँ हाजिब तथा अन्य बहुत से लोग थे।

इलियट ४, पृ० ७८।

का निरीक्षण करने के लिए हि० स० ८३७ के रजब मास की ६वीं तिथि को (२० फरवरी, १४३४ ई०)[10] वहाँ पहुँचा, तो काजू के पौत्र सिद्धपाल ने उस पर आक्रमण किया और उसके सिर पर तलवार का ऐसा प्रबल प्रहार किया कि उसका तत्काल प्राणान्त हो गया। मुसलमन इतिहासकार ने बड़े मार्मिक एवं संक्षिप्त रूप में अपने आश्रयदाता का गुणानुवाद इन शब्दों में किया है;

"एक दयालु एवं उदार शासक, जो महान् गुणों से पूर्ण था।"

मुबारकशाह के उत्तराधिकारी—मुबारक के प्राणान्त के पश्चात् खिज्र खाँ के एक पौत्र राजकुमार मुहम्मद को, जिसको विगत सुलतान ने गोद लिया था, सिंहासनारूढ़ किया गया। परन्तु समस्त सत्ता अपने अधिकार में रखने के इच्छुक सरवर ने कोष और भण्डार, भवन एवं गज तथा राज्य के समस्त शस्त्रागार अपने अधिकार में कर लिये। उसने खान-ए-जहाँ की उपाधि धारण की और वह तत्काल अपने साथियों में पदाधिकार वितरण करने के कार्य में जुट गया। बियाना, अमरोहा,[11] नारनौल[12], कुहराम[13] जैसी कुछ जागीरें और दोआब के कुछ परगने सुलतान के हत्यारे सिद्धपाल और उसके सम्बन्धियों को प्रदान किये गये। दूसरे हिन्दू तथा मुसलमान षड्यन्त्रकारी भी इसी प्रकार पुरस्कृत हुए और उनको उच्च पद प्रदान किये गये, जिनका उन्होंने कभी स्वप्न भी न देखा होगा। परन्तु एक खिज्र खाँ के वंश का मात्र ऐसा स्वाभिमानी पुरुष भी था जो सरवर और उसके साथियों से मुबारक की हत्या का बदला लेना चाहता था। वह दरबार में आता, उसने नये सुलतान के प्रति सम्मान प्रकट करता और चुपचाप अवसर की प्रतीक्षा में रहता। [illegible] वह पुरुष कमाल-उल-मुल्क था।

सरवर-उल-मुल्क सीरी के दुर्ग में जा छिपा। कमाल-उल-मुल्क और उसके सहयोगियों ने बड़ी तत्परता से दुर्ग को घेर लिया।

सुलतान यद्यपि घिरे हुए दल के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता था, परन्तु मन ही मन वह अपने पूर्वगामी सुलतान की हत्या के प्रतिशोध का इच्छुक था। सरवर और उसके साथी सुलतान पर विश्वास न करते थे और वह उसका वध करने के उद्देश्य से महल की ओर चले, परन्तु उनके घृणित उद्देश्य की पहले ही सूचना पाकर सुलतान ने उनको पकड़कर सार्वजनिक रूप से दरबार के सामने मार डालने का आदेश दे दिया। शीघ्र ही कमाल-उल-मुल्क अपने साथियों सहित आ पहुँचा और उसने बदमाशों को तितर-बितर कर उनके घृणित अपराधों का उचित दण्ड दिया।

कमाल-उल-मुल्क ने अब नया मन्त्रिमण्डल स्थापित किया और अपने सहयोगियों और समर्थकों को सत्तारूढ कराया। सुलतान शासन-तंत्र मे कुछ समय के लिए नवीन चेतना डालने मे सफल हो गया, परन्तु कमाल-उल-मुल्क के पुनः संघटन मे स्थायित्व के तत्त्वों का अभाव था। देश के भिन्न-भिन्न भागों से उपद्रवों और विद्रोहो के समाचार आने लगे। इब्राहीम शर्की ने दिल्ली-राज्य के अनेक परगनों पर अधिकार कर लिया और ग्वालियर के राय ने कुछ अन्य हिन्दू सरदारों के साथ मिलकर कर देना बन्द कर दिया। इस अव्यवस्था से उत्साहित होकर मालवा का शासक महमूद खिलजी दिल्ली तक बढ़ आया, परन्तु अपनी राजधानी माडू पर गुजरात नरेश अहमदशाह के आक्रमण का समाचार पाकर वह मुहम्मदशाह के साथ सन्धि कर शीघ्र ही लौट भी गया। लाहौर और सरहिन्द के प्रांताध्यक्ष बहलोल लोदी ने, जो मुहम्मदशाह की सहायता के लिए आया था, लौटती हुई मालवा की सेना का पीछा किया और उसकी बहुत-सी सामग्री छीन ली। मुहम्मदशाह ने लोदी के प्रति अपनी प्रसन्नता प्रगट करने के लिए उसको खान-ए-खानान की उपाधि प्रदान की और उसको अपना पुत्र कहकर उसके प्रति स्नेह प्रकट किया।

परन्तु सदा के उपद्रवी जसरथ खोखर द्वारा दिल्ली का सिंहासन हथियाने के लिए उकसाये जाने पर बहलोल की राजभक्ति डगमगा उठी। शासक के उच्च पद के लोभ में पड़कर बहलोल ने अफगानों का दल संघटित कर दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दिया, परन्तु वह इसको जीत न सका और उसको लौट जाना पड़ा। दिल्ली तो बच गई, परन्तु सैय्यद-वंश का पतन केवल समय की बाट देख रहा था। साम्राज्य की दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी और निजामुद्दीन लिखता है कि "राज्य के कार्य में दिन-प्रतिदिन अव्यवस्था आने लगी, और स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई कि दिल्ली से केवल बीस 'क्रोस' की दूरी

पर ही ऐसे अमीर विद्यमान थे, जो राज-भक्ति त्याग कर प्रतिरोध की तैयारियाँ कर रहे थे।"

अलाउद्दीन आलमशाह—हि० स० ८४६ (१४४५ ई०)[१४] में मुहम्मदशाह के देहान्त के पश्चात् अमीरों और सरदारों ने उसके पुत्र को अलाउद्दीन आलमशाह की उपाधि से सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया। परन्तु यह नया शासक अपने पिता से भी अधिक "लापरवाह और अयोग्य" था और बहलोल ने केन्द्रीय शासन की दुर्बलता से पूरा-पूरा लाभ उठाया। १४४७ ई० में सुलतान बदाऊँ चला गया और अपने दरबारियों एवं मंत्रियों के घोर विरोध करने पर भी उसने इसको अपना स्थायी निवासस्थान बना लिया।[१५] उसने अपने वजीर हामिद खाँ का वध करने का प्रयत्न कर भारी भूल की। हामिद खाँ ने बहलोल लोदी को दिल्ली आकर सिंहासन पर अधिकार करने के लिए आमंत्रित किया। स्वयं राजधानी में विश्वासघाती दल के होने पर, बहलोल की सफलता में संदेह ही क्या हो सकता था और एक सफल आक्रमण से दिल्ली पर अधिकार कर उसने अपना पुराना स्वप्न सार्थक कर लिया। अलाउद्दीन आलमशाह ने अपने प्रिय जिले बदाऊँ के अतिरिक्त सारा राज्य स्वेच्छापूर्वक बहलोल को दे दिया। बहलोल ने 'खुतबा' से आलमशाह का नाम हटा दिया और अपने को सार्वजनिक रूप से दिल्ली का शासक घोषित कर दिया (१९ अप्रैल, १४५१ ई०)।[१६]

---

१४. इस तिथि के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है।

फरिश्ता ने इसकी तिथि ८४९ हि० स० बताया है। ब्रिग्ज, १, पृ० ५३९। लखनऊ सम्क० (पृ० १७१) में लिखा है कि सुलतान ने १२ वर्ष और कुछ मास तक शासन किया। बदाऊनी (रैंकिंग-'अल बदाऊनी', १, पृ० ३९९) ने ८४७ हि० स० बताया है और एडवर्ड टामस ने यही तिथि मानी है ('दि-क्रॉनीकल्स' पृ० ३३६।)

परन्तु 'तारीख-ए-मुबारकशाही' में लिखा है कि मुहम्मदशाह ने १३ वर्ष, ३ मास और १६ दिन राज्य किया। इस प्रकार फरिश्ता का कथन उसके एक समसामयिक लेखक द्वारा समर्थित है। ८४९-५० हि० स० ठीक तिथि होगी। 'तारीख-ए-मुबारकशाही' का कथन, विपक्ष में पुष्ट प्रमाणों के अभाव में, मान्य होना चाहिए।

१५. फरिश्ता लिखता है कि बदाऊँ की जलवायु उसके स्वास्थ्य के लिए अधिक अनुकूल थी। ब्रिग्ज, १ पृ० ५४१।

निजामुद्दीन ने कोई कारण नहीं बताया है। एडवर्ड टॉमस का कहना है कि स्यात् सुलतान का यह विचार रहा हो कि कुचक्रों एवं षड्यन्त्रों से पूर्ण दिल्ली की अपेक्षा वह बदाऊँ में अधिक सुरक्षित रह सकेगा।

१६. 'तारीख-ए-इब्राहीमशाही' और 'तारीख-ए-निजामी' में लिखा है कि बहलोल सुलतानशाह लोदी का, जो मल्लू इकबाल की मृत्यु के उपरान्त इस्लाम

आरामपसंद, अलाउद्दीन ने अपने जीवन का शेष भाग निर्बाध विश्रान्तिपूर्वक बदाऊँ में बिताया; ऐसा प्रतीत होता है कि उसको इस घटना से न कुछ खेद हुआ और न उसने इसमें अपमान का ही अनुभव किया। वहीं १४७८ ई० में उसकी मृत्यु हो गई।

खाँ की उपाधि देकर सरहिन्द का सूबेदार बनाया गया था, भतीजा था। सुलतानशाह लोदी के भाइयों ने भी, जिनमे बहलोल का पिता मलिक काली भी था, उसकी समृद्धि में हिस्सा बँटाया। बहलोल के गुणों से प्रसन्न होकर मलिक सुलतान ने उसको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और उसकी मृत्यु के बाद बहलोल सरहिन्द का सूबेदार बना। फरिश्ता लिखता है कि इस्लाम खाँ ने अपनी पुत्री बहलोल को ब्याह दी और स्वयं अपने पुत्रों को छोड़कर उसने उसी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया क्योंकि वह इन सबसे योग्य था। परन्तु इस्लाम खाँ का पुत्र कुतुब खाँ इस बात से असन्तुष्ट होकर बहलोल के विरुद्ध सहायता माँगने दिल्ली गया। हसन खाँ को बहलोल के विरुद्ध भेजा गया, परन्तु वह हार गया।

बहलोल के विषय में एक मनोरंजनक कथा कही जाती है कि अपने चाचा के समय में वह एक दिन अपने मित्रों सहित एक दरवेश सय्यद अायेन के दर्शनार्थ सामाना गया। दरवेश ने कहा "क्या कोई ऐसा आदमी है जो दो हजार टके देकर मुझसे दिल्ली का साम्राज्य खरीद ले ?" बहलोल ने तत्काल दरवेश को यह धनराशि दे दी, जिस पर दरवेश ने कहा "दिल्ली-साम्राज्य का तेरे हाथों कल्याण हो।" सौभाग्य से दरवेश की वाणी सत्य हुई।

डोर्न—'मखजन-ए-अफगाना" पृ० ४३।

'तारीख-ए-दाऊदी' में २,००० के स्थान पर १,३०० टके लिखे है। प्रयाग विश्वविद्यालय की हस्त प्रति पृ० ३।

अध्याय १७

अफगान साम्राज्य—उत्थान और पतन

साम्राज्य का विघटन—खिज्र खाँ के उत्तराधिकारी अपने अधिकार को सुदृढ़ करने मे विफल मनोरथ हुए थे और अलाउद्दीन आलमशाह ने बदाऊँ मे बसकर सम्मानपूर्वक सैय्यद वंश के शासन का अन्त कर दिया था। दिल्ली का प्राचीन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था; समस्त हिन्दुस्तान अनेक स्वतन्त्र राज्यों एवं सूबों में विभक्त हो चुका था। दक्खिन, गुजरात, मालवा, जौनपुर तथा बगाल में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो चुके थे। पजाब के लाहौर, दीपालपुर और सरहिन्द इन उत्तरवर्ती जिलों से लेकर दक्षिण मे हाँसी, हिसार और पानीपत तक बहलोल का आधिपत्य था; मेहरौली[1] तथा सराय लादू तक दिल्ली के लगभग १४ मील आसपास का प्रदेश अहमद खाँ मेवाती के अधिकार में था, दिल्ली के पड़ोस तक संभल प्रान्त पर दरिया खाँ लोदी का अधिकार था। दोआब के सूबे सब प्रकार से स्वतन्त्र थे, कुतुब खाँ रेवाड़ी, चन्दवार और इटावा जिलों पर शासन कर रहा था, और कोल, जलाली[2] तथा जलेसर[3] ईसा खाँ तुर्क के अधिकार मे थे। बियाना पर दाउद खाँ लोदी तथा एक हिन्दू सरदार आधिपत्य जमाये हुए थे। राजा प्रतापसिंह पटियाली तथा कम्पिल प्रदेशों पर (यह प्रदेश आजकल फर्रुखाबाद और एटा जिले मे है) शासन कर रहा था। सैय्यद सरदारों ने पतनोन्मुख साम्राज्य को सुरक्षित रखने का यथाशक्ति प्रयत्न किया था, परन्तु भारतीय इतिहास में विशेष रूप से अभिलक्षित होनेवाली विश्रृंखलता की प्रवृत्ति को रोकना उनकी सामर्थ्य से बाहर का काम था। युद्ध-कला में निपुण बहलोल ने प्रारंभ में बड़ी सतर्कता से काम लिया और साम्राज्य के खोये प्रदेशों तथा प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए प्रभावशाली वैदेशिक नीति अपनाई।

---

१. मेहरौली दिल्ली प्रान्त के वल्लभगढ तहसील में एक गाँव है। दिल्ली गजेटि० पृ० १०१।

२. जलाली, उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले का एक कस्बा है।

३. जलेसर उत्तर प्रदेश के एटा जिले में मथुरा से एटा को जानेवाले मार्ग पर स्थित एक नगर है।

बहलोल का शक्ति-संचयन—पाठकों को स्मरण होगा कि बहलोल ने दिल्ली का सिंहासन मन्त्री हामिद खाँ की सहायता से प्राप्त किया था, जो अपने स्वामी अलाउद्दीन का कोपभाजन बन गया था। विनम्रता, उभरती हुई महत्वाकांक्षा को सोपान-स्वरूप होती है, अतः हामिद का समर्थन एवं विश्वास प्राप्त करने के लिए बहलोल ने सतर्क सावधानी एवं कृत्रिम नम्रतापूर्वक चलना प्रारंभ किया। उसने हामिद से शासक-पद ग्रहण करने का आग्रह किया और स्वयं उसकी सेनाओं का अध्यक्ष बनकर साम्राज्य के हित के लिए उसकी आज्ञाओं का पालन करने की इच्छा व्यक्त की। हामिद के प्रति उसने अत्यधिक सम्मान प्रदर्शित किया और इस शक्तिशाली सचिव की आज्ञाओं का पालन करने में कभी-कभी तो वह अत्यंत विनम्र सेवक का-सा भाव प्रदर्शित करने लगा। परन्तु मन्त्री के प्रभावोत्कर्ष से मन ही मन वह जल रहा था, क्योंकि उसकी अपनी महत्वाकांक्षा थी जिसे वह पूरी करना चाहता था। इस मन्त्री को अपने मार्ग से हटाने के लिए उसने एक विलक्षण चाल चली, अपने अफगान अनुयायियों को उसने वजीर के सम्मुख अत्यंत सीधा-सादा एवं गँवार बन जाने और "ऐसा आचरण प्रदर्शित करने के लिए कहा, जिसमें अत्यंत बुद्धिशून्यता और साधारण सूझ-बूझ का सर्वथा अभाव टपकता हो जिससे वह उनको परम मूर्ख समझ बैठे और उनके प्रति उसके मन में कोई शंका अथवा भय न रह जाय।" मक्कार अफगानों ने अपने सरदार के आदेशानुसार कार्य करना प्रारंभ किया और इनके मूर्खतापूर्ण आचरणों को देखकर हामिद ने बहलोल से इसका कारण पूछा। बहलोल ने उत्तर दिया कि यह गँवार लोग हैं और सभ्य समाज के चलन-चलन से सर्वथा अपरिचित हैं। दूसरे दिन जब बहलोल मन्त्री से भेंट करने गया तो उसके ये साथी द्वाररक्षकों से झगड़ पड़े और अन्दर जाने की आज्ञा माँगने लगे। हामिद को इन लोगों से किसी प्रकार के द्रोह की शंका तो थी नहीं; अतः उसने इनको अन्दर आने की आज्ञा दे दी, परन्तु जब बहलोल के चाचा कुतुब खाँ ने अपनी जेब में छिपाकर रखी हुई बेड़ियाँ निकालकर उससे कहा कि कुछ समय तक अज्ञात रूप में रहना ही उसके लिए बुद्धिमत्तापूर्ण होगा, तो वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। बहलोल की कृतघ्नता से विस्मय में पड़े हुए मन्त्री ने इन लोगों से पूछा कि वह अपने परम हितैषी के प्रति ऐसा द्रोह क्यों कर रहे हैं। परन्तु इन दुष्टों ने, जिनको अधिकारलिप्सा एवं स्वार्थपरायणता ने मानवीय भावों से शून्य कर दिया था, कठोरतापूर्वक उत्तर दिया कि वह एक ऐसे व्यक्ति का कभी विश्वास नहीं करते, जिसने अपने स्वामी के प्रति विश्वासघात किया हो। अब इन षड्यन्त्रकारियों ने अलाउद्दीन से सुलह की बातचीत प्रारंभ

की ओर उसको सिंहासन देना चाहा। परन्तु उसने इनके प्रस्ताव को स्वीकार न किया; कदाचित् वह ऐसे अशान्तिपूर्ण वातावरण में शासन करना अपनी सामर्थ्य से बाहर समझता था और बदाऊँ मे ही गौरवहीन विश्रान्ति का आनन्द लेना पसन्द करता था। अपनी स्थिति को और भी सुरक्षित एवं दृढ करने के लिए बहलोल ने सेना में उपहारों की वर्षा कर दी और अमीरों तथा सरदारों को पदोन्नति का प्रलोभन दिया। इस प्रकार यद्यपि बहलोल का नाम 'खुतबा' मे पढ़ा जा चुका था, परन्तु अब भी बहुत से असंतुष्ट लोग सिंहासन पर उसके अधिकार को स्वीकार न करते थे और जब सुलतान उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की व्यवस्था करने के लिए सरहिन्द गया, तो इन लोगों ने महमूद शाह शर्की को राजधानी मे आने का आमन्त्रण दिया। इसके अतिरिक्त महमूद की पत्नी ने भी, जो सुलतान अलाउद्दीन की पुत्री थी, उसको अपने पिता के सिंहासन के अपहर्ता को दिल्ली से निकाल बाहर करने के लिए उत्तेजित किया और यहाँ तक कह दिया कि यदि वह इस दिशा में सचेष्ट न होगा तो वह स्वयं बहलोल से लड़ने जायगी।

इन गतिविधियों की सूचना पाकर बहलोल ने अपनी अवसरवादी नीति के अनुसार इस समय झुकना ही उचित जानकर महमूद शाह को आश्वासन दिया कि वह उसके हार्दिक स्वागत के लिए सदैव प्रस्तुत है। परन्तु महमूद शाह इन आश्वासनों की खोखलापन भली भाँति समझता था। अतः उसने बहलोल के वचनो और प्रस्तावों पर कुछ भी ध्यान न दिया और १,७०,००० अश्वारोहियों एवं १४०० हाथियों की विशाल सेना के साथ बढ़कर उसने दिल्ली पर घेरा डाल दिया।[४] इस महान् विपत्ति का समाचार पाकर बहलोल दिल्ली की ओर लौटा, परन्तु मार्ग मे ही फतेह खाँ (हर्वी) के नेतृत्व में शर्की सेना ने, जिसमें ३०,००० अश्वारोही एवं ३० हाथी थे, उसका प्रतिरोध किया। दोनों सेनाओं का सामना होने पर उस समय के निपुणतम धनुर्धर कुत्ब खाँ लोदी ने दरिया खाँ लोदी को अपने स्वभाव-शत्रुओं का साथ देने के लिए खरी-खोटी सुनाई। उसके व्यंग दरिया खाँ के हृदय मे चुभ गये और उसने इस शर्त पर युद्ध-भूमि से हट जाने का वचन दिया कि उसका पीछा न किया जाय। ऐसे शक्तिशाली सहयोगी के हट जाने से शर्की पक्ष की बहुत हानि हुई। उसकी देखा-

४. 'तारीख-ए-दाऊदी'—प्रयाग वि० वि० की प्रति पृ० १३-१४।
'मखजान-ए-अफगाना' मे केवल इतना लिखा है कि महमूद एक विशाल सेना लेकर दिल्ली की ओर बढ़ा। डोर्न—पृ० ४७।

देखी दूसरे अफगान सरदारों ने भी शर्की पक्ष का साथ छोड़ दिया और इस प्रकार फतेह खाँ का सैन्यबल बहुत क्षीण हो गया और वह सरलता से हरा दिया गया। स्वयं फतह खाँ पकड़ा गया और एक राजपूत सरदार ने, जिसके भाई को फतेह खाँ ने मरवा दिया था, उसका सिर काटकर बहलोल के पास पहुँचा दिया। बहलोल की सुसंगठित एवं अनुशासित सेनाओं का अधिक काल तक सामना कर सकना असंभव जानकर महमूद जौनपुर लौट गया।

प्रांतों पर अधिकार—शर्की शासक जैसे प्रबल प्रतिपक्षी पर इस प्रारम्भिक विजय ने बहलोल के शत्रु एवं मित्र सभी पर गहरा प्रभाव डाला।[५] राजधानी में इसके फलस्वरूप इस नये शासक-वंश के विरोधी भयभीत हो उठे और बहलोल की स्थिति दृढ़ हो गई और राजधानी से बाहर सरदार और सूबेदार डरकर अधीनता स्वीकार करने लगे। अब सुलतान मेवात की ओर बढ़ा;

---

५. 'तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना' के लेखक अहमद यादगार ने बहलोल की सेनाओं के दो ऐसे कार्यों का वर्णन किया है, जिनका अन्य किसी इतिहासकार ने उल्लेख नहीं किया। एक तो बहलोल का मेवाड़ के राणा पर अभियान है और दूसरा अहमद खाँ भट्टी पर आक्रमण है, जिसका राज्य जीतकर दिल्ली साम्राज्य में मिला लिया गया था।

(१) सुलतान ने एक विशाल सेना लेकर राणा के विरुद्ध प्रयाण किया और अजमेर में डेरा डाला। मेवाड़ की सेना का नायकत्व राणा का भानजा प्रसिद्ध छत्रसाल कर रहा था, जिसने शाही सेनापति कुतुब खाँ के साथ एक युद्ध लड़ा। पहली मुठभेड़ में राजपूत विजयी हुए, परंतु अंत में कुतुब खाँ और खान-ए-खाना फारमुली ने उनको परास्त कर संधि करने के लिए बाध्य कर दिया। सुलतान के नाम के सिक्के ढाले गये और खुतवा पढ़ा गया।

(२) दूसरा अभियान अहमद खाँ भाटी पर किया गया, जिसने सिंध में बहुत शक्ति-संचय कर लिया था और मुलतान के प्रांताध्यक्ष के आधिपत्य को ठुकरा दिया था। उसकी सेना में २०,००० अश्वारोही थे और इनको लेकर वह मुलतान में उपद्रव मचा रहा था। सुलतान ने उमर खाँ और राजकुमार बायजीद को ३०,००० 'वीर अश्वारोहियों' के साथ उसका दमन करने के लिए भेजा। अपनी शक्ति का बहुत गर्व करनेवाले अहमद ने अपने विलासी भतीजे नैरंग खाँ को १५,००० अश्वारोहियों सहित सामना करने के लिए भेजा। नैरंग खाँ ने भी १०,००० अश्वारोहियों सहित दाऊद खाँ को शाही सेना का सामना करने के लिए भेजा। दाऊद खाँ परास्त होकर मारा गया। तब नैरंग स्वयं समरभूमि में उतरा और उसने "ऐसा पराक्रम एवं निर्भयता प्रकट की" की शाही सेना को भारी क्षति सहन करनी पड़ी। परंतु अंत में वह भी मारा गया। उसकी मृत्यु का समाचार पाकर उसकी वीरांगना पत्नी स्वयं समरभूमि में उतरी और उसने स्वयं को अहमद का पुत्र जतलाया। उसके नेतृत्व में भट्टी सेना ने शाही सेना पर ऐसा भीषण आक्रमण किया कि शाही सेना को तितर-बितर होना

वहाँ अहमद खाँ ने स्वेच्छापूर्वक उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया। सुलतान ने उसके सात परगने ले लिये। सम्भल के प्राताध्यक्ष दरिया खाँ के साथ उसके पिछले द्रोह पर ध्यान न देकर सौजन्यपूर्ण व्यवहार किया गया, केवल उसके [redacted] परगने उससे निकाल लिये गये। कोल में ईसा खाँ के अधिकृत प्रदेश उसी के अधिकार में रहने दिये गये। सकीट[६] के प्राताध्यक्ष मुबारक खाँ तथा राजा प्रताप सिंह के प्रति भी ऐसा ही व्यवहार किया गया। मैनपुरी तथा भोगांव जिलों पर राजा प्रतापसिंह का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। रेवाड़ी में सुलतान को हुसेन खाँ अफगान के पुत्र कुत्व खाँ के थोड़े से विरोध का सामना करना पड़ा, परन्तु समझाने-बुझाने पर कुत्व खाँ ने भी अधीनता स्वीकार कर ली और उसको अपने पद पर रहने दिया गया। चन्दवार इटावा तथा दोआब के अन्य जिलों में भी, जो पिछले शासकों को सदैव हैरान किये रहते थे, शांति स्थापित की गई और वहाँ दिल्ली का आधिपत्य स्वीकार कराया गया।

जौनपुर से युद्ध—दोआब के सरदारों को पूर्णतया परास्त किया जा चुका था, परंतु इतने से ही सुलतान को चैन न मिल सका। उसका प्रबलतम शत्रु जौनपुर का शासक था, जिसके विरुद्ध वह जीवनपर्यंत युद्ध करता रहा और इस राज्य की स्वतन्त्रता को मिटा कर ही उसने चैन की साँस ली। अपने 'हरम' की प्रधान बेगम द्वारा उकसाये जाने पर जौनपुर के शासक महमूदशाह ने पुनः दिल्ली साम्राज्य पर अधिकार करने के उद्देश्य से प्रयाण किया और वह इटावा जिले की सीमा में घुस आया। परंतु कुत्व खाँ और राजा प्रतापसिंह ने मध्यस्थता कर दोनों पक्षों में संधि करवा दी, जिसके अनुसार यह निश्चय हुआ कि दोनों राज्यों के भूतपूर्व शासकों—सैय्यद मुबारक और इब्राहीम शर्की के समय में

पड़ा। इस रमणी की वीरता से प्रसन्न होकर अहमद खाँ ने इसको १०,००० रुपये के आभूषण पुरस्कार में दिये। परतु इसी बीच दिल्ली से नई सेना आ जाने से शाही पक्ष प्रबल हो गया, और दीर्घ काल तक घोर संग्राम करने के बाद अहमद खाँ परास्त होकर मारा गया और उसके प्रदेश साम्राज्य में मिला लिये गये।

अहमद यादगार ने शाही सेना द्वारा मुनखार नामक प्रदेश की विजय का भी उल्लेख किया है। 'तारीख-ए-दाउदी' में मुनखार परगने के केवल एक गाँव का उल्लेख है।

५ 'तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना'—इलियट ५, पृ० ४-७।

६. फरिश्ता ने बुरहानाबाद लिखा है, परंतु 'मखजन-ए-अफगाना' में इस स्थान का नाम सकीट दिया हुआ है।

जो सीमा थी वही अब भी मानी जाय और बहलोल विगत युद्ध में छीने गये हाथियों को लौटा दे तथा जौनपुर का शासक जूनाशाह को पदच्युत कर दे।

इस संधि की शर्तों के अनुसार बहलोल शमसावाद पर अधिकार करने के लिए, जिसको शर्की शासक ने जूना खाँ को दे रखा था, दोग्राव के अंतरवर्ती प्रदेश में प्रयाण किया, परन्तु महमूदशाह ने उसका विरोध किया। युद्ध में कुत्व खाँ लोदी, जो दिल्ली की सेना के एक पार्श्व का नायकत्व कर रहा था, पकड़ा गया, और दूसरे दिन महमूद शाह की मृत्यु का समाचार प्राप्त होने पर जौनपुर के सरदारों के साथ, जिन्होंने अब मुहम्मद शाह को गद्दी पर बैठा दिया था, सुगमता से संधि कर ली गई, परंतु विचित्र बात यह है कि बहलोल ने इस संधि में कुत्व खाँ लोदी को लौटाने की शर्त न रखी। इससे पुनः युद्ध छिड़ गया जिसमें जौनपुर के शासक का भाई जलाल खाँ बंदी बनाया गया और शाही सेनानायक कुत्व खाँ के मुक्त न किये जाने तक रोक रखा गया। इसी बीच जौनपुर में उथल-पुथल हुई, जिसके परिणामस्वरूप हुसैन खाँ ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। वह बहुत योग्य शासक था और उसने अविचलित धैर्यपूर्वक बहलोल के विरुद्ध युद्ध जारी रखा। आखिर चार वर्ष के लिए संधि हो गई और कुत्व तथा जलाल मुक्त कर दिये गये। परंतु यह संधि निरर्थक सिद्ध हुई और थोड़े समय बाद हुसैन ने दिल्ली पर उस समय धावा बोल दिया, जब बहलोल मुलतान गया हुआ था। दिल्ली की सेना परास्त हुई और चन्दवार तथा इटावा पर शत्रु का अधिकार हो गया। परंतु इस पराजय से भी अधिक हानिकर बात दिल्ली साम्राज्य के लिए यह हुई कि बहलोल के दो सहयोगी अहमद खाँ मेवाती और बियाना का प्रांताध्यक्ष ईसा खाँ, जिसने शर्की शासक को सहयोग दिया था, उसका पक्ष छोड़ गये। इन आकस्मिक विपर्ययों से सर्वथा अविचलित बहलोल द्रुतगति से युद्ध-क्षेत्र की ओर बढ़ा, परंतु दोनों पक्ष लड़ते-लड़ते थक चुके थे; अतः पुनः संधि कर ली गई और दोनों पक्षों ने अपनी-अपनी सीमा में रहना स्वीकार किया।

परंतु हुसैन अपने वचनों से बद्ध होनेवाला व्यक्ति न था। बदाऊँ में विलास-प्रिय अलाउद्दीन आलमशाह की मृत्यु होने पर हुसैन ने उसके प्रदेश के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया और दिल्ली के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। वास्तव में, राजसभा के चाटुकारों ने उसके मन में यह बात बैठा दी थी कि बहलोल राज्यापहर्त्ता है और नीच-कुलोत्पन्न है तथा हुसैन ही दिल्ली के सिंहासन का वास्तविक अधिकारी है। महत्वाकांक्षा ने हुसैन की बुद्धि पर ऐसा परदा डाल दिया कि उसने अपनी शक्ति के विषय में अतिरंजित धारणा बना ली और अपनी सफलता के अवसरों पर विचार करना बिलकुल भूल गया। यमुना

प्रथम अफगान साम्राज्य
काश्मीर
काबुल
गजनी
पेशावर
लाहौर
दिपालपुर
मुलतान
सिंध नदी
सिंध
पानीपत
दिल्ली
आगरा
कन्नौज
जौनपुर
बनारस
पटना
गौड़
बंगाल
अजमेर
मथुरा
ग्वालियर
रणथम्भौर
चित्तौड़
चंदेरी
अहमदाबाद
मालवा
जूनागढ़
नर्मदा नदी
बुरहानपुर
खानदेश
असीरगढ़
ताप्ती नदी
महानदी
गोंडवाना
अहमदनगर
गोदावरी
तेलंगाना
बीदर
गोलकुंडा
गुलबर्गा
बीजापुर
कृष्णा नदी
विजयनगर
अरब सागर
बंगाल की खाड़ी
नदी

नदी पार की, परंतु कुछ मुठभेड़ों के उपरांत, जिनमें जौनपुर की सेना का ही पलड़ा भारी रहा, पुनः संधि हो गई, जिसके अनुसार गंगा नदी दोनों राज्यों की सीमा मानी गई। अपने शिविर एवं माल-असबाब को पीछे छोड़कर, हुसैन जौनपुर लौट आया।

परंतु सौजन्य एवं सम्मानपूर्ण व्यवहार का सर्वथा ध्यान भुलाकर बहलोल ने लौटती हुई जौनपुरसेना पर आक्रमण कर दिया, हुसैन का कोष एवं माल-असबाब छीन लिया और यहाँ तक कि शर्की बेगम मलिका जहान भी उसके हाथ पड़ गई। सुलतान ने अपने इस गौरवशाली बंदी के प्रति पूरा-पूरा सम्मान प्रदर्शित किया और अपने 'ख्वाजा सरा' के संरक्षण में उसको जौनपुर पहुँचा दिया। पूर्वी प्रदेशों में लड़ाई-झगड़ा चलता ही रहा, परंतु पूर्व स्वीकृत शर्तों पर पुनः संधि कर ली गई। अब संधि भंग करने की हुसैन की बारी थी। बहलोल का अनुचित व्यवहार उसके मन में खटक रहा था, और वह उस पर चढ़ाई करने के सुयोग की प्रतीक्षा में था। बहलोल के प्रति मलिका जहान के मन में तीव्र घृणा बसी हुई थी, यद्यपि बहलोल ने उसके प्रति अत्यंत सम्मनपूर्ण व्यवहार प्रदर्शित किया था, और नारी की घृणा शर्की शासक को युद्ध के लिए और भी भड़का रही थी। दोनों ने सेनाएँ सुसंगठित कीं और पहली मुठभेड़ में हुसैन को परास्त होकर रापरी लौट आना पड़ा, जहाँ से करारी हार के बाद वह ग्वालियर की सीमा में घुस पड़ा।[७] स्वतन्त्रता के अभिलाषी स्थानीय राजा ने हुसैन का स्वागत किया और उसको सैनिक सहायता दी और वह अपनी सेनाओं सहित उसके साथ कालपी तक आया। बहलोल ने इटावा में प्रयाण कर सूबेदार को निकाल बाहर किया और वह शीघ्रता से कालपी की ओर बढ़ा। हुसैन युद्ध के लिए प्रस्तुत था। अपने प्रबल प्रतिपक्षी द्वारा स्थान-स्थान पर हार खाते हुए हुसैन ने भावी युद्ध के लिए तैय्यारी करने में कोई कमी न रखी थी, परंतु भाग्य ने इस बार भी उसका साथ न दिया और वह पुनः बहलोल के हाथों काली नदी के तट पर पराजित हुआ। विजयी सुलतान ने अब जौनपुर पर धावा बोला और वर्षों के संघर्ष के पश्चात् अब वह सरलता से अपने प्रबल विपक्षी के देश पर अधिकार कर सका। जौनपुर का शासन उसने मुबारक खाँ लोहानी को सौंप दिया और आस-पास के सूबों में कुत्ब खाँ लोदी तथा कुछ और अफगान सरदारों को नियुक्त किया। थोड़े समय बाद कुत्ब खाँ का देहांत हो जाने पर अफगान दल यद्यपि बाहर से राजभक्ति प्रकट करता रहा, परंतु

७. 'मखजान-ए-अफगाना' के लेखक का कहना है कि हुसैन का परिवार और बच्चे यमुना में डूब मरे, जिससे वह शोकमग्न हो गया।

मन ही मन दिल्ली के आधिपत्य से मुक्त होने की इच्छा करने लगा और गुप्त रूप से शत्रुभाव रखने लगा। इसी बीच हुसैन ने अपने खोये राज्य को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया परतु इस बार भी वह पराजित हुआ और जौनपुर से निकाल दिया गया। अफगान सरदारों के गुप्त शत्रुभाव को भाँप कर सुलतान ने उनको अधिकारपूर्ण पदो पर रखना उचित न समझा और बहुत स्पष्ट कारणों से उसने अपने पुत्र बारबक शाह को जौनपुर का शासन सौंपने का निश्चय किया। कालपी[8], धौलपुर[9] बाड़ी[10] तथा अलापुर[11] के प्रदेश विजय किये गये और स्थानीय सरदारों ने सुलतान के प्रति राज-भक्ति प्रकट की। थोड़े समय पश्चात् ग्वालियर के विद्रोही राजा पर आक्रमण किया गया और वह आठ लाख टके कर-रूप मे देने के लिए बाध्य किया गया। परतु इस अभियान में सुलतान का स्वास्थ्य बिगड गया और लौटते समय ज्वर-ग्रस्त होकर वह जलाली के समीप १४८८ ई० में चल बसा।

बहलोल की उपलब्धियाँ—एक नये शासक-वश के स्थापक के रूप में तथा दिल्ली-साम्राज्य की क्षीण होती हुई प्रतिष्ठा के पुनरुद्धारक के रूप में बहलोल इतिहास मे उच्च स्थान का अधिकारी है। यह सत्य है कि निरन्तर युद्धो मे सलग्न रहने के कारण वह शासन-तंत्र के सुधार में ध्यान न दे सका, परतु युद्धों में उसकी अपूर्व विजयों ने हिन्दुस्तान में पुनः मुसलमान-शक्ति का सिक्का जमा दिया। व्यक्तिगत जीवन में बहलोल अपने सन्निकट पूर्ववर्ती शासको से कहीं अधिक चरित्रवान् था, वह वीर, उदार, ईमानदार तथा मानवीय भावों से पूर्ण था और अपने धर्म का कठोर पालन करता था। ऐश्वर्य-प्रदर्शन में वह कभी लिप्त नही हुआ; अन्य मध्ययुगीन शासको के समान वह कभी भड़कीले वस्त्रों से सुसज्जित होकर रत्नजटित सिंहासन पर नही बैठा। वह कहा करता था कि इसके लिए क्या इतना ही कुछ कम है कि राजकीय वैभव के प्रदर्शन के बिना भी लोग उसको शासक मानते जानते है। गरीबों का उसको सदैव ध्यान रहता था और कोई भी भिक्षुक कभी उसके द्वार से खाली नही लौटा। यद्यपि वह स्वयं पढ़ा-लिखा न था, परतु विद्वानों का बहुत आदर करता था और अत्यत उदारतापूर्वक उनको आश्रय देता था। न्याय का वह इतना प्रेमी था कि

८ कालपी उत्तर प्रदेश के जालौन मे एक नगर है।

९. धौलपुर आगरा और ग्वालियर के बीच एक नगर है।

१०. बाड़ी धौलपुर रियासत मे धौलपुर से १६ मील पश्चिम की ओर एक कस्बा है।

११. अलापुर ग्वालियर रियासत मे मोरेना के पास है।

स्वयं न्याय-प्रार्थनाएँ सुनता था और उन पर निर्णय देता था। उसका कोई व्यक्तिगत कोष न था और युद्धों में प्राप्त धन को वह प्रसन्नतापूर्वक अपने अनुयायियों में वितरण कर देता था। अपने सगोत्रों के प्रति उसने कभी भेद-भाव नहीं रखा और उनके साथ सदैव समानता का व्यवहार किया। परंतु, जैसी कि पुरानी कहावत है कि अत्यधिक घनिष्ठता निरादर उत्पन्न करती है, वही बात यहाँ भी हुई। अफगान सरदार उन प्रतिबंधों को असह्य भार समझने लगे जो शासन-तन्त्र की भलाई के लिए उन पर लगाये जाने आवश्यक हो गये थे और वे अपने स्वामी तक की अवहेलना करने लगे। उनकी उद्दण्डता इतनी बढ़ गई कि बहलोल का उत्तराधिकारी सिकन्दर अत्यंत कठिनता से उन पर नियन्त्रण रख सका। 'तारीख-ए-दाऊदी'[12] के लेखक ने निम्नलिखित शब्दों में बहलोल के चरित्र का वर्णन किया है—

"सामाजिक सम्मेलनों के अवसर पर वह कभी सिंहासन पर नहीं बैठा और न उसने अपने सरदारों को खड़ा रहने दिया; आम दरबार तक में वह सिंहासन पर न बैठकर एक गलीचे पर बैठता था। जब कभी वह अपने किसी अमीर को 'फरमान' लिखता था तो उसको 'मसनद आली' शब्द से सम्बोधित करता था; और यदि कभी वह उससे रुष्ट हो जाते तो उनको शांत करने के लिए वह इतना प्रयत्न करता था कि स्वयं उनके घर जाता था, अपनी कमर पर बँधी तलवार निकालकर उनके सामने रख देता था, यही नहीं, अपितु कभी-कभी वह सिर से पगड़ी उतारकर क्षमा-याचना करता और कहता "यदि तुम मुझको इस पद के अयोग्य समझते हो; तो किसी दूसरे को चुन लो और मुझे कोई दूसरा कार्य सौंप दो" वह अपने सरदारों तथा सैनिकों के साथ भाईचारा निबाहता था और यदि कोई बीमार पड़ जाता, तो स्वयं जाकर उसकी पूछ-ताछ करता था।"

सिकंदर का सिंहासनारोहण—बहलोल का देहान्त हो जाने पर, उसका पुत्र निजाम खाँ सिकन्दर शाह की उपाधि धारण कर सिंहासनारूढ़ हुआ।[13] परंतु सिंहासन प्राप्त करने से पहले उसको विरोध का सामना करना पड़ा। बहलोल ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को जौनपुर का शासक बना दिया था, और संभवतः उसकी यह इच्छा थी कि उसके पश्चात् उसका तीसरा पुत्र निजाम खाँ सिंहासनारूढ़ हो; परंतु अफगान सरदारों ने यह कहकर निजाम के उत्तराधिकार का विरोध किया कि वह एक सुनारिन की संतान है और एक राजकुमार की

१२. इलियट ४, पृ० ४३६-३७।

१३. सिकंदरशाह के राज्यारोहण की तिथि १७ शाबान, शुक्रवार, हि० स० ८९४=१७ जौलाई १४८९ ई० है।

'तबकात-ए-अकबरी'—लखनऊ संस्क० पृ० १५९।

अपेक्षा नीचकुलोत्पन्न सा अधिक दीखता है। कहीं निजाम खाँ शासक-पद ग्रहण न कर ले, इस भय से उसको शाही लश्कर में बुलाया गया, परंतु उसकी माँ और उसके हितैषियों ने उसको वहाँ न जाने की चेतावनी दी। कुछ सरदार बारबक शाह के पक्ष में थे और कुछ बहलोल के ज्येष्ठ पुत्र ख्वाजा बायजीद के पुत्र आजम हुमायूँ को शासक बनाना चाहते थे; अतः उन्होंने सुलतान से आग्रह किया कि वह अपना अधिकार प्रकट करे और अंततः उन्होंने शाही शिविर में उसकी उपस्थिति की माँग की। निजाम खाँ ने यह बहाना बनाकर कि वह यात्रा की तैयारी कर रहा है, इस आज्ञा के पालन में देर लगाई। इसी बीच सुलतान का देहांत हो गया और निजाम खाँ की माँ जीबा सरदारों से इस बात पर तर्क-वितर्क करने लगी कि वह सिंहासन पर उसके पुत्र के अधिकार का विरोध क्यों कर रहे हैं। बहलोल का चचेरा भाई ईसा खाँ इस अपमान को सह न सका और उसने स्पष्ट कह दिया कि सुनार की पुत्री का पुत्र राजमुकुट का अधिकारी कभी नहीं हो सकता। सत्य होते हुए भी यह व्यंग समयोचित न था और इससे चिढ़कर खान-ए-खानाँ फरमूली तथा कुछ और सरदार अपमानित जीबा के पक्ष में हो गये। शीघ्र ही निजाम खाँ के पक्ष-समर्थकों का दल बन गया और वह १७ जौलाई, १४८६ ई० को सिकंदरशाह के नाम से सुलतान घोषित किया गया। नये सुलतान ने राज्यारोहण के उपलक्ष में शानदार दावत दी और जिन अमीरों एवं सरदारों ने उसको अपना स्वामी मानकर उसके प्रति स्वामिभक्ति की शपथ ली, उनको उसने पद एवं प्रतिष्ठा प्रदान की। सिकन्दर धर्मोन्मत्त व्यक्ति था और संभवतः उसके समर्थकों की दृष्टि में उसकी धर्मान्धता उसका अति स्पृहणीय गुण था। अपने पिता के समान सिकन्दर भी दिल्ली साम्राज्य के अधिकार की सुरक्षा एवं विस्तार में जुट गया, जिससे अनेक शक्तिशाली सामंतों के साथ उसको टक्कर लेनी पड़ी। 'वाकयात-ए-मुश्ताकी' के लेखक ने तत्कालीन हिन्दुस्तान की दशा का नीचे उद्धृत शब्दों में सजीव वर्णन किया है।[१४]

"समस्त देश का आधा भाग फरमूलियों को और शेष आधा भाग दूसरी अफगान जातियों को 'जागीर' में दिया गया। इस समय लोहानी एवं फरमूली प्रमुख थे। सरवानियों का सरदार आजम हुमायूँ था और लोदियों के चार सरदार थे—महमूद खाँ, जिसको जागीर में कालपी मिला था; मियाँ आलम, जिसको इटावा और चन्दवार दिये गये थे; मुबारक खाँ, जिसकी जागीर लखनऊ में थी; और दौलत खाँ, जिसके अधिकार में लाहौर था। साहू खैलों के सरदार

१४. इलियट व डॉउसन, ४, पृ० ५४५, ५४७-४८।

हुसैन खाँ तथा खान जहान थे और यह दोनों उन्हीं पूर्वजों की सन्तान थे जिनके वंश में बहलोल हुआ; फीरोज खाँ का पुत्र हुसैन खाँ तथा कुतुब खाँ, लोदी साहू खैल जो सुलतान बहलोल के समय में हुआ।

"सारन और चम्पारन के जिले मियाँ हुसैन के अधिकार में थे, अवध, अम्बाला तथा होधना मियाँ मुहम्मद काला पहाड़ के; कन्नौज मियाँ गदाई के; शम्साबाद, थानेसर और शाहाबाद मियाँ इमाद के, मरहरा मियाँ मुहम्मद के भाई तातार खाँ के तथा हरियाना, देगुआ एवं इनके साथ के परगने ख्वाजगी शेख सैद के अधिकार में थे।

"सैफ खाँ अचा-खैल सुलतान सिकन्दर के समय के बड़े सरदारों में से था। उसके अधीन ६,००० अश्वारोही थे और वह कड़ा के जागीरदार आजम हुमायूँ का, जो प्रतिवर्ष कुरान की २,००० प्रतियाँ खरीदता था और जिसके अधीन ४५,००० अश्वारोही तथा ७०० हाथी थे, सचिव था; इसके अतिरिक्त ४,००० अश्वारोहियों का स्वामी दौलत खाँ खानी, इतने ही अश्वारोहियों का स्वामी अली खाँ उगो, ६००० अश्वारोही-सेना का अधिपति फीरोज खाँ सरवानी अन्य प्रमुख सरदार थे। अन्य सरदारों में २५,००० घुड़सवार बँटे गये थे। जमाल खाँ लोदी सारंग खानी के पुत्र अहमद खाँ की अधीनता में भी, जब उसको जौनपुर में नियुक्त किया गया, २०,००० अश्वारोही थे।"

सुलतान ने स्वयं रेवाड़ी के सूबेदार आलम खाँ के विरुद्ध प्रयाण किया, जो शाही सेना के पहुँचने पर भाग कर गया; उसका सूबा खान-ए-खाना लोहानी को दिया गया। सिकन्दर शाह ने अपने भाई बारबक शाह के साथ, जिसने जौनपुर के शासक की उपाधि धारण कर ली थी, दिल्ली साम्राज्य का प्रभुत्व स्वीकार करने की बात चलाई. परन्तु बारबक शाह ने सुलह के इन प्रयत्नों का गर्वमुक्त घृणा से तिरस्कार किया और वह युद्ध की तैयारियाँ करने लगा, क्योंकि वह जानता था कि युद्ध अनिवार्य है।

जौनपुर से युद्ध—सिकन्दर ने बारबक के विरुद्ध प्रयाण किया। बारबक के सेनाध्यक्ष काला पहाड़ ने उसका सामना किया, संभवत: अद्भुत शारीरिक शक्ति के कारण इस सेनानायक का नाम काला पहाड़ पड़ा था। परन्तु काला पहाड़ परास्त हुआ और बन्दी बनाया गया। सिकन्दर ने उसके साथ अत्यधिक सौजन्यपूर्ण व्यवहार किया और फरिश्ता लिखता है कि इस सिद्धान्त-विहीन नायक ने शत्रु-पक्ष ग्रहण करने में देर न लगाई और अपने पूर्व स्वामी के विरुद्ध लड़ने लगा। अपने एक प्रसिद्ध नायक को शत्रुपक्ष में सम्मिलित देखकर बारबक की आश्चर्यचकित सेना का साहस टूट गया और वह समर-भूमि से पलायन कर गई। स्वयं बारबक बदाऊँ की ओर भागा, परन्तु शाही

सेना ने उसका पीछा किया और उसको आत्म-समर्पण करने के लिए बाध्य कर दिया। हुसैनशाह शर्की अब भी बिहार में स्थानीय सरदारों को अपने साथ मिलाकर अपने खोये हुए राज्याधिकार को पुन. प्राप्त करने की आयोजना बनाने मे सलग्न था, अत सिकन्दर शाह ने अपने भाई बारबक को जौनपुर का शासन फिर से सौप देना ही उचित समझा, परन्तु उस पर नियन्त्रण रखने के लिए उसने अपने कुछ विश्वसनीय अफगान सरदारों को उसके साथ शासन-प्रबंध मे सहयोग देने के लिए नियुक्त कर दिया।

जौनपुर के झगड़े का निपटारा कर लेने पर, सुलतान ने कालपी पर चढ़ाई की और अपने भतीजे आजम हुमायूँ को अधिकार-च्युत कर यह सूबा महमूद खाँ लोदी को सौंप दिया। तत्पश्चात् ग्वालियर के सरदार तथा बियाना एवं आगरा[१५] के सूबेदार को देकर सुलतान १४९२ ई० के लगभग दिल्ली लौट आया।

जौनपुर तथा सुलतान हुसैन के विरुद्ध—यद्यपि सिकन्दर शाह की सेना जौनपुर में विजयी हुई थी, परन्तु स्थानीय जमीदारो एव पास-पड़ोस के सरदारों का विरोध बहुत शक्तिशाली होता जान पडने लगा। वह इतने दुर्दम्य हो गये कि बारबक शाह को जौनपुर छोड़कर काला पहाड़ के नाम से विख्यात मुहम्मद खाँ फरमूली के यहाँ शरण लेनी पड़ी। आखिर सुलतान सिकन्दर ने इन जमीदारों पर चढ़ाई की और उनको पराजित कर बारबक शाह को पुनः जौनपुर के शासक के पद पर प्रतिष्ठित किया। परन्तु सुलतान के पीठ फेरते ही जमीदारो ने पुन. विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया; बारबक शाह इस बार भी स्थिति पर नियन्त्रण न कर सका। उसकी असमर्थता से क्रुद्ध होकर उसको बेड़ियों में जकड़कर दरबार मे उपस्थित करने के लिए सुलतान ने अपने कुछ प्रधान पदाधिकारियो को भेजा।[१६] सुलतान की इस आज्ञा

---

१५. इस समय आगरा बियाना सूबे के अन्तर्गत था, और आगरे का दुर्ग हैबत खाँ जलवानी के अधिकार मे था, जो बियाना के सूबेदार सुलतान शर्फ के अधीन था।

१६. जान पड़ता है कि बारबक की सेना के प्रमुख अधिकारी समझ चुके थे कि बारबक में उपद्रव संकुल प्रान्त को नियन्त्रण मे रख सकने की योग्यता नहीं है। 'मखजन-ए-अफगाना' तथा 'तारीख-ए-दाऊदी' के लेखको का कहना है कि सुलतान ने यह सुनकर कि बारबक जौनपुर के जमीदारों का दमन नही कर सका है, मुहम्मद खाँ फारमूली आजम हुमायूँ, खान-ए-जहाँन और खान-खानान लोदी को आदेश दिया कि वह बारबक को बेड़ियाँ पहनाकर दिल्ली लायें। इन दोनों लेखकों से अधिक सूचना रखनेवाले फरिश्ता ने भी इस बात का समर्थन किया है।

का अक्षरशः पालन किया गया और अभागे राजपुत्र बारबक को राजकीय बन्दी के रूप में हैबत खां और उमर खां शेरवानी की देख-रेख में रखा गया।

अब सुलतान ने स्वयं चुनार की ओर प्रयाण किया और वहां पहुंचकर स्थानीय जमीदारों का दमन किया; परन्तु ऊबड़-खाबड़ मार्गों एवं रसद के अभाव के कारण उसको भारी क्षति उठानी पड़ी। दुर्भिक्ष एव रोग ने उसकी अश्वारोही सेना को क्षीण कर दिया और उसकी सेना को अस्त-व्यस्तता से परिचित जौनपुर के जमीदारों ने हुसैन शर्की को अपने पूर्वजों के राज्य पर पुनः अधिकार स्थापित करने के लिए आमन्त्रित किया। जमीदारों का आमन्त्रण पाकर हुसैन एक विशाल सेना लेकर समर भूमि में उतरा, असन्तुष्ट हिन्दू जमीदार उसके साथ थे ही। परन्तु बनारस के समीप एक युद्ध में खान-ए-खानान ने उसको परास्त कर दिया। उसकी सेना रणभूमि से भाग गई और स्वय वह भी लखनौती भाग गया, जहां उसने अपना शेष जीवन व्यतीत किया। इस प्रकार मलिक-उस-शर्क ख्वाजाजहां द्वारा स्थापित शासक-वंश का राज्याधिकार हमेशा के लिए समाप्त हो गया। १४९५ ई० तक बिहार प्रान्त सरलता से खान-ए-खानान के अधिकार मे आ गया और सुलतान ने अपने पदाधिकारी नियुक्त कर समस्त प्रान्त में व्यवस्था स्थापित की। इसी समय खान-ए-जहां लोदी की मृत्यु हो गई और सुलतान ने उसके ज्येष्ठ पुत्र अहमद खां को आजम हुमायूं की उपाधि प्रदान की। अपनी सेना को व्यवस्थित कर सुलतान ने बंगाल की ओर प्रयाण किया। बंगाल के शासक ने अपने पुत्र को सुलतान का प्रतिरोध करने के लिए भेजा, परन्तु दोनों पक्षों मे युद्धोत्साह अधिक न होने के कारण सन्धि हो गई जिसके अनुसार दोनों पक्षों ने एक दूसरे की सीमा मे छेड़छाड़ न करने का वचन लिया और बंगाल के शासक ने हिन्दुस्तान से भागकर आनेवाले लोगों को अपने दरबार में शरण न देने का वचन दिया। सुलतान ने आजम हुमायूं को तिरहुत के सरदारों से कर वसूल करने के लिए नियुक्त किया और बिहार का शासन दरिया खां को सौंप दिया, जिसके पिता मुबारक खां लोहानी का देहांत दरवेशपुर मे हो चुका था।

अफगानों के विरुद्ध—अब सिकन्दर शाह ने बड़ी-बड़ी जागीरों के स्वामी अफगान सरदारों की ओर ध्यान दिया। सुलतान ने कुछ प्रमुख अफगान सरदारों के हिसाब-किताब की जांच-पड़ताल करवाई, जिससे अनेक रोमांच-

---

डॉर्न—'मखजन-ए-अफगाना' पृ० ५७।

'तारीख-ए-दाऊदी'—इलियट, ४, पृ० ४६१।

ब्रिग्ज—१, पृ० ५७०।

कारी रहस्यों का उद्घाटन हुआ।[17] इस प्रकार की जाँच-पड़ताल को अपने विशेषाधिकारियों पर हस्तक्षेप समझकर अनेक अफगान सरदार क्रोध से भर गये। सुलतान ने उनके दमन में जो कठोरता दिखाई, उससे हैबत खाँ आदि अफगान सरदारों ने सुलतान के प्राण हरण करने का षड्यन्त्र किया और अपनी इस योजना को पक्का कर लेने पर उन्होंने सुलतान के भाई राजपुत्र फतह खाँ को इसमें सहयोग देने के लिए आमन्त्रित किया, परन्तु इस राजपुत्र ने बुद्धिमत्तापूर्वक अपनी माता और शेख काबुली से इस विषय में परामर्श लिया। दोनों ने ही उसको इस कुचक्र से दूर रहने की चेतावनी दी और सुल्तान से इसका भण्डाफोड़ कर देने के लिए कहा। फतह खाँ ने उनके परामर्श को शिरोधार्य कर सुलतान के सम्मुख इस कुचक्र का रहस्य खोल दिया। परिणाम-स्वरूप, कुचक्रियों को अत्यत कठोर दण्ड दिये गये।

१४०५ ई० में सिकन्दरशाह सम्मलपुर चला गया और इस स्थान की स्वास्थ्यप्रद जलवायु का आनन्द लेने तथा उत्तर के अफगान सूबेदारों [illegible] नियन्त्रण करने के उद्देश्य से वह यहाँ चार वर्ष तक रहा।

छोटे-छोटे विद्रोह—सुलतान के सम्मलपुर निवास के समय [illegible] के छटपुट विद्रोहों का दमन करने के लिए बहुत से अभियान [illegible]। दिल्ली में सुलतान के प्रतिनिधि असगार ने विद्रोह किया, परन्तु [illegible] के प्रान्तपति खवास खाँ ने शीघ्र ही उसका दमन कर दिया। [illegible] धौलपुर के सरदारों को भी कई दिनों के कड़े युद्ध के पश्चात् [illegible] गया।

आगरा की स्थापना—सुलतान को अनुभव हो [illegible], बियाना, कोल, ग्वालियर और धौलपुर के सूबेदारों [illegible] बनाये रखने के लिए उस स्थान पर जहाँ आज [illegible] सैनिक छावनी बनाना अत्यन्त आवश्यक है। [illegible] सिद्ध करने के लिए उसने हि० स० ९१० [illegible] नगर की नींव डाली। 'मखजान-ए-अफगाना' [illegible] कि सुलतान ने "विचारशील एवं बुद्धिमान् [illegible] दिल्ली से इटावा और चन्दवार तक के [illegible]

१७. फरिश्ता लिखता है कि [illegible] पाया गया।

१८. मच्छीवाड़ा पंजाब प्रान्त के [illegible] मील लुधियाना से २७ मील की दूरी [illegible] है।
इम्पी० गजेटि० १६, पृ० २२२।

कर उस स्थान को चुना जहाँ वर्तमान नगर स्थित है। धीरे-धीरे वहाँ एक भव्य नगर बस गया और बाद में सुलतान भी वहीं रहने लगा।"

आगरा में भूकम्प—अगले वर्ष (हि० स० ९११–१५०५ ई०) ६ जौलाई के दिन आगरा मे एक भीषण भूचाल आया, जिसने पृथ्वी की तह को झकझोर दिया और अनेक सुन्दर भवनों एवं मकानों को धूल में मिला दिया। तत्कालीन इतिहासकार लिखता है कि "वास्तव में यह इतना भीषण था कि पहाड़ भी हिल गये और सब ऊँची ऊँची इमारतें गिरकर जमीन में मिल गई; बचे हुए लोग समझने लगे कि कयामत का दिन आ गया है और मरे हुए सोचने लगे कि मुक्ति का दिन आ पहुँचा है।"[२०] ऐसा भूचाल पहले कभी न हुआ था और इससे अत्यधिक प्राणी नष्ट हुए।

शासन के अन्तिम वर्ष—सुलतान के जीवन का शेष भाग राजपूतों तथा अपने ही सूबेदारों के विद्रोह के दमन मे बीता। विद्रोह की प्रवृत्ति इतनी सामान्य बन चुकी थी कि सुलतान को अपने मुसलमान सामन्तों तक पर स्थायी आधिपत्य बनाये रखना असमभव हो गया, फिर हिन्दू सरदारों का तो कहना ही क्या था; उनमें तो मुसलमान-प्रभुत्व से मुक्त होने की इच्छा स्वाभाविक भी थी। ग्वालियर तथा धौलपुर मे पुनः उपद्रव उठ खड़े हुए और विद्रोही सरदारों का दमन करने के लिए सुलतान ने स्वयं उस ओर प्रयाण किया। १५०६ ई० में नरवर[२१] के घेरे मे शाही सेना एवं हिन्दुओं की कठोर शक्ति-परीक्षा हुई, परन्तु यहाँ भी पराजय हिन्दुओं की ही हुई। मुसलमान दल मे भी विश्वासघातियों की कमी न थी और यह मालूम होने पर कि कुछ मुसलमान सरदार घिरे हुए हिन्दुओं के साथ गुप्त मन्त्रणाएँ कर रहे है, सुलतान ने घेरे मे पूरी शक्ति लगा दी, परन्तु रसद समाप्त हो जाने के कारण हिन्दुओं को आत्म-समर्पण करना पड़ा। नरवर की विजय से मध्य प्रदेश मे अन्य स्थानों की विजय का मार्ग प्रशस्त हो गया और चन्देरी के दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया तथा

---

१९. 'तारीख-ए-दाऊदी' में लिखा है कि सुलतान साधारणतया आगरा में रहता था; पहिले यह एक गाँव था।
प्रयाग वि० वि० की हस्तलिपि पृ० ४२।

२०. डॉर्न—'मख़जन-ए-अफ़गाना' पृ० ६२।
'तारीख-ए-दाऊदी' प्रयाग वि० वि० की हस्तलिपि पृ० ६६।
यह भूचाल रविवार, ३ सफर, हि० स० ९११ (७ जौलाई, १५०५ ई०) को आया।

२१. नरवर मध्यभारत मे ग्वालियर राज्य में है। इम्पी० गजे० १८, पृ० ३६६।

अफगान पदाधिकारियों को सौंपा गया, जो उस प्रदेश की व्यवस्था करने के लिए तत्काल रवाना हो गये। एक वर्ष उपरान्त १५१० ई०[22] में नागौर के सूबेदार मुहम्मद खाँ ने, जिसके विरुद्ध सुलतान के पास बहुत सी शिकायतें पहुँच चुकी थीं, समय रहते अधीनता स्वीकार कर अपने शत्रुओं के मनसूबों को तोड़ दिया और सुलतान के नाम का खुतबा पढवा दिया।

चन्देरी के शासक ने, जो मालवा के अधीन था, बजाहत खाँ के प्रयत्नों से दिल्ली-साम्राज्य का सामंत बनने की इच्छा प्रकट की। नगर पर उसका नाममात्र का अधिकार रहने दिया गया, परन्तु शासन-प्रबंध अफगान पदाधिकारियों को सौंपा गया।

सिकन्दर शाह के शासन-काल का अंतिम अभियान नागौर के अली खाँ के कारण हुआ। अली खाँ ने दौलत खाँ से मिलकर रणथम्भौर दुर्ग को दिल्ली-साम्राज्य के लिए हस्तगत करने का जाल रचा। परन्तु वह विश्वासघाती व्यक्ति था; बाद में वह सिकन्दर के विरुद्ध हो गया और सूबेदार दौलत खाँ को, भी उसने डटे रहने के लिए कहा।[23] अली खाँ का सूबा उससे छीनकर उसके भाई आबूबक्र को दे दिया गया। सिकन्दर आगरा लौट आया और हि० स० ९२३ (१५१७ ई०) में उसने ग्वालियर के शासक का दमन करने के उपायों पर विचार करने के लिए अपने प्रधान सूबेदारों, सरदारों, एवं पदाधिकारियों की एक सभा बुलाई। परन्तु जब वह इन तैयारियों में अपनी स्वाभाविक सक्रियता के साथ जुटा था, वह बीमार पड़ गया और ७ जिलकदा हि० स० ९२३ (१ दिसंबर, १५१७ ई०) को इस संसार से कूच कर गया।[24] उसके पश्चात् उसके पुत्र इब्राहीम लोदी ने शासन-सूत्र सँभाला।

---

२२. 'मखजन' में हि० स० ९१६ और फरिश्ता ने हि० स० ९५१ की तिथि दी है।
डॉर्न—पृ० ६४।
फरिश्ता—लखनऊ संस्क० पृ० १८५।

२३. यह स्पष्टतया ज्ञात नहीं होता कि अली सुलतान के विरुद्ध क्यों हो गया था। 'तबकात-ए-अकबरी' में केवल इतना लिखा है कि 'किसी कारण से वह शत्रु बन गया।' लखनऊ संस्क० पृ० १६९।
फरिश्ता लिखता है: "जिस वस्तु को पाने के लिए उसने यह सब आयोजन किया था, उसकी प्राप्ति में हताश हो कर।"
लखनऊ संस्क० पृ० १८६।

२४. 'मखजन' में केवल ९२३ हि० स० लिखा है। डॉर्न पृ० ६५।
फरिश्ता ने ७ जिलकदा हि० स० ९२३ लिखा है।
लखनऊ संस्क० पृ० १८६।
केवल बदाऊनी ने १७ जिलकदा लिखा है।

शासन-प्रबंध—सिकन्दर शाह को इतना अवकाश न मिल सका कि वह शासन-प्रबंध में सुधार कर सके और शासन-तन्त्र की नये सिरे से व्यवस्था कर सके। जीवन-पर्यंत वह विद्रोही सरदारों एवं उपद्रवी पड़ोसियों के दमन में व्यस्त रहा। तब भी उसने शासन में बहुत कुछ सुधार किया और मुसलमान इतिहासकारों के वर्णन से ज्ञात होता है कि अपनी अद्भुत योग्यता के कारण वह साम्राज्य की समस्त शक्ति अपने मे केन्द्रित करने मे बहुत कुछ सफल हो सका। अफगान सरदारों पर उसने कठोर नियन्त्रण रखा और उसकी स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति का दमन किया। उसने अफगान सरदारों के हिसाब-किताब की कड़ी जाँच प्रारंभ की और राजस्व के दुरुपयोग अथवा अपहरण के लिए कठोर दण्ड दिये।[२४] बंगाल के अभियान के पश्चात् जब मुबारक खाँ लोदी के हिसाब की जांच की गई, तो सुलतान ने उसके प्रति कुछ भी पक्षपात न दिखाया और उससे बकाया रकम कठोरतापूर्वक वसूल की गई। सुलतान के भाइयों को भी उसके अन्य पदाधिकारियों के साथ मिलकर कार्य करना पड़ता था, ताकि वह स्वतन्त्र होने की चेष्टा न कर सकें।[२५] सूबेदार सुलतान के 'फरमानों' को अपने प्रमुख निवासस्थान से दो या तीन कोस की दूरी पर लेने जाते थे और यदि वह 'फरमान' गुप्त न होता तो जनता के सामने पढ़कर सुनाते थे। इससे विदित होता है कि लोगों पर सुलतान का कितना आतंक और भय था[२६] गुप्तचरों का जाल सा बिछा दिया गया था और साधारण से साधारण बात तक सुलतान के कामों मे इतनी बारीकी

रैंकिंग—'अल-बदाऊँनी' १, पृ० ४२५।
'तारीख-ए-दाऊदी' तथा 'तबकात-ए-अकबरी' ने फरिश्ता का समर्थन किया है।
प्रयाग वि० वि० हस्तलिपि पृ० ६६।
'तबकात' लखनऊ संस्क० पृ० १७०।
सिकन्दर को एक रोग लग गया, जो [illegible] बढ़ता गया फिर भी वह काम में जुटा रहा। अंततः उसने [illegible] सराय [illegible] भी वह एक ग्रास भोजन भी न खा पाता था [illegible] पाता था।
ब्रिग्ज का कहना है (१, पृ० [illegible] कि [illegible] था, परन्तु मूल ग्रन्थ में [illegible]
एक पद्य में सुलतान [illegible]
२५. 'मख़ज़न-ए-अफ़[illegible]
२६. वही, पृ० ५६ [illegible]
२७. 'तबकात'—लख[illegible]
'तारीख-ए-दाऊदी'—

से पहुँच जाती थी कि उस काल के सरल विश्वासी लोग उसको अमानवीय शक्ति-संपन्न मानने लगे थे।[२८] सुलतान स्वयं बड़े-बड़े अमीरों के अनुचर नियुक्त करता था क्योंकि उनको उनकी स्वामि-भक्ति में संदेह था। परन्तु निर्धन प्रजा के हित का सुलतान को, सदैव ध्यान रहता था। उसने अनाज का महसूल बन्द कर दिया था और कृषि को प्रोत्साहन दिया, तथा व्यापारियों एवं व्यवसायियों की सुरक्षा का भी समुचित प्रबंध किया। प्रतिवर्ष सुलतान गरीब एवं असहाय व्यक्तियों की सूची बनवाता था और उनको उनकी आवश्यकताओं के अनुसार ६ मास की सामग्री प्रदान करता था। ईद, आशुरा जैसे त्योहार के दिनों पर बंदी मुक्त किये जाते थे; केवल वही लोग मुक्त न किये जाते थे जो राजस्व का अपहरण करने अथवा किसी व्यक्ति के धन का दुरुपयोग करने के कारण कारागार में पड़े हों। अकारण किसी की जागीर न छीनी जाती थी और सर्वमान्य परम्परा को भंग न किया जाता था। हिन्दू जमींदारों का कठोरतापूर्वक दमन किया गया था और मार्गों को चोर डाकुओं के भय से मुक्त कर दिया गया था। 'तारीख-ए-दाऊदी' के निम्न उद्धरण से शासन की सुव्यवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है।

"सुलतान को प्रतिदिन सब वस्तुओं के भावों तथा साम्राज्य के विभिन्न जिलों की घटनाओं की सूचना प्राप्त होती थी। यदि उसको कहीं थोड़ी भी त्रुटि दिखाई देती तो वह तत्काल उसकी जाँच करवाता था।.......उसके शासन में व्यवसाय शान्तिपूर्वक, ईमानदारी तथा स्पष्टता के साथ चलते थे। ......साहित्य के अध्ययन को भी न भुलाया गया था।..'राज्य के कारखानों की ऐसी व्यवस्था की गई थी कि सब युवक सामंत एवं सैनिक उपयोगी कार्यों में व्यस्त रहते थे।..... सिकन्दर के सब सामंत एवं सैनिक संतुष्ट थे। उसके प्रत्येक सरदार को एक जिले का शासन सौंपा गया था और जनता की शुभेच्छाएँ एवं प्रेम प्राप्त करने के लिए वह विशेषतया इच्छुक था। अपने पदाधिकारियों एवं सैनिक-दलों के लिए ही, उसने अपने समय के अन्य शासकों एवं सामंतों से युद्ध और झगड़े न छेड़े और वैमनस्य एवं कलह का मार्ग बन्द कर दिया। वह अपने पिता से प्राप्त राज्य-सीमा में ही संतुष्ट रहा और अपना समस्त जीवन उसने अत्यंत सुरक्षा एवं आनन्द में बिताया और बड़े छोटे सबके मन जीत लिये।"

२८. 'तबकात'—लखनऊ संस्क० पृ० १७०।
'मखजन'—पृ० ६७।

शासन-प्रबंध—सिकन्दर शाह को इतना अवव
शासन-प्रबंध में सुधार कर सके और शासन-तन्त्र
कर सके। जीवन-पर्यंत वह विद्रोही सरदारों एवं उ
व्यस्त रहा। तब भी उसने शासन में बहुत कुछ
मान इतिहासकारों के वर्णन से ज्ञात होता है कि
कारण वह साम्राज्य की समस्त शक्ति अपने
कुछ सफल हो सका। अफगान सरदारों पर उसने
उसकी स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति का दमन किया
हिसाब-किताब की कड़ी जाँच प्रारंभ की और
अपहरण के लिए कठोर दण्ड दिये।[1] बंगाल
मुबारक खाँ लोदी के हिसाब की जाँच की गई, तो
भी पक्षपात न दिखाया और उससे बकाया रकम
सुलतान के भाइयों को भी उसके अन्य पदाधिका
करना पड़ता था, ताकि वह स्वतन्त्र होने की चेष्टा
सुलतान के 'फरमानों' को अपने प्रमुख निवासस्
की दूरी पर लेने जाते थे और यदि वह 'फरमान'
सामने पढ़कर सुनाते थे। इससे विदित होता है कि
कितना आतंक और भय था[1] गुप्तचरों का जाल
और साधारण से साधारण बात तक सुलतान के

रैंकिंग—'अल-बदाऊनी' १, पृ० ४२५।
'तारीख-ए-दाऊदी' तथा 'तबकात-ए-अकबरी'
किया है।
प्रयाग वि० वि० हस्तलिपि पृ० ६६।
'तबकात' लखनऊ संस्क० पृ० १७०।
सिकन्दर को एक रोग लग गया, जो धीरे-ध
फिर भी वह काम में जुटा रहा। अंततः उसकी दशा
वह एक ग्रास भोजन भी न खा पाता था और ए
पाता था।
ब्रिग्ज का कहना है (१, पृ० ५८५) कि सुलतान
था, परन्तु मूल ग्रन्थ में इसका उल्लेख नहीं हुआ है।
एक पद्य में सुलतान की मृत्यु तिथि हि० स० ९२३
२५. 'मखजन-ए-अफगाना'—डॉर्न, पृ० ५६।
२६. वहीं, पृ० ५६।
२७. 'तबकात'—लखनऊ संस्क० पृ० १७०।
'तारीख-ए-दाऊदी'—प्रयाग वि० वि० हस्तलिपि।

फरिश्ता ने समसामयिक इतिहासकारों के ग्रन्थों का परिशीलन भी किया है।[१०] सुलतान सिकन्दर शाह की आकृति सुन्दर थी, वह आखेट में रुचि रखता था और अपने पद के लोगों के लिए उचित सभी गुणों से युक्त था। सभी इतिहासकार इस बात में एक मत हैं कि अपने धर्म में उसकी दृढ़ आस्था थी और उसके परिपोषण में उसकी बहुत लगन थी। मुल्लाओं और मौलवियों की संगति वह बहुत पसन्द करता था और अन्य धर्मों के प्रति उसकी असहिष्णुता हिन्दुओं के दमन तथा अपने राज्य में मूर्तिपूजा समाप्त करने के प्रयत्नों में प्रकट हुई। उसमें अपने धर्म के प्रसार के लिए इतना उत्कट उत्साह था कि उसने मथुरा के देवालयों को तुड़वाकर उनके स्थान पर मस्जिदें और सरायें बनवाईं। 'तारीख-ए-दाऊदी' में लिखा है कि मूर्तियों को उसने कसाइयों को दे दिया, जिन्होंने इनको मांस तोलने के बाँट बना दिया।[११] उसने हिन्दुओं को जमुना के तटवर्ती घाटों पर स्नान करने और नाइयों को उनका मुंडन करने का निषेध कर दिया।[१२] उसके शासन-काल में नमाज सार्वजनिक रूप से पढ़ी जाती थी और सर्वत्र इस्लाम की विजय का डंका बजता था।

यद्यपि सिकन्दर संकुचित विचारोंवाला धर्मान्ध था, परन्तु उसमें हृदय एवं मस्तिष्क के अच्छे गुणों की भी कमी न थी। निर्धनों के प्रति उसमें बहुत दया थी और प्रतिवर्ष वह राजकोष से विशाल धन-राशि दरिद्रों में वितरण करवाता था। राज्य के धनी लोग भी इस बात में उसका अनुसरण करने लगे थे। न्याय के लिए उसके हृदय में अगाध प्रेम था। वह पीड़ितों की प्रार्थनायें स्वयं सुनता और न्याय करता था। राज्य में होनेवाली प्रत्येक घटना की वह सूचना प्राप्त कर लेता था और सूबेदारों को आदेश देता तथा अपने आदेशों का पूर्णतया पालन करवाता था। बाजार भावों पर सतर्क दृष्टि रखी जाती ...और प्रति दिन भावों की सूचना उसके पास पहुँचाई जाती थी। जब कभी ...में कोई संदेह उठता तो वह तत्काल जाँच करवाता और वस्तुओं

...। लिखता है कि उसने एक समसामयिक ग्रंथ 'फरहंग सिकंदरी' ... परन्तु उसका वर्णन 'तबकात-ए-अकबरी' के वर्णन का अनुवाद ...। सबसे पहले लिखा गया था; अतः उसके लेखक ने सम... उपयोग किया होगा।

...—प्रयाग वि० वि० की हस्तलिपि पृ० ३६।

...।

प्रयाग वि० वि० की हस्तलिपि पृ० ३६।

सिकन्दर ने शासन-तन्त्र में नवीन जीवन एवं उत्साह भरने के लिए बहुत कुछ किया, परन्तु धर्म का प्रभाव पुनः बढ़ गया और राज्य धर्म-प्रधान बन गया। हिन्दुओं पर राज्य की ओर से इस्लाम लादा जाने लगा। कैथन निवासी बुधन नामक ब्राह्मण का उदाहरण स्पष्ट दिखा देता है कि उस समय कितनी असहिष्णुता एवं धर्मोन्माद का राज्य था और 'उलमा' का राज्य में कितना प्रभाव था। इस ब्राह्मण का अपराध यह था कि उसने कुछ मुसलमानों के सामने अपने धर्म को पैगम्बर के धर्म के समान अच्छा कहा था। सिकन्दर ने इसका दण्ड निर्णय करने के लिए धर्माचार्यों की सभा बुलाई। उन्होंने फैसला किया कि ब्राह्मण या तो मुसलमान बन जाय अथवा मृत्यु का आलिंगन करे।[२९] ब्राह्मण ने अपने धर्म का त्याग करना स्वीकार न किया और धैर्यपूर्वक अपने प्राण दिये। बुधन जैसे मध्य-कालीन महात्माओं के कारण ब्राह्मण धर्म को बहुत शक्ति एवं दृढ़ता प्राप्त हुई।

परन्तु वर्तमान काल के मानदण्डों से सिकन्दर के कार्यों का मूल्यांकन करना उचित नहीं है। उसके युग में योरप तक में धार्मिक-सहिष्णुता का अभाव था और कैथोलिक सम्प्रदाय के श्रेष्ठतम पुण्यात्मा एवं धर्मपरायण धर्माचार्य विरोधियों को मिटाने के लिए नृशंसतम उपायों का अवलम्बन करते थे। सिकन्दर की मृत्यु के चार वर्ष बाद ही तो पंचम-चार्ल्स जैसे धर्मात्मा समझे जानेवाले शासक ने सुधार-आन्दोलन के जन्म-दाता लूथर को अपने साम्राज्य से निर्वासित घोषित कर चर्च के प्रति अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त की थी।

सिकन्दर का व्यक्तित्व—लोदी वंश के इस सर्वश्रेष्ठ शासक के व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करना पाठकों के लिए कम रुचिकर न होगा। सब मुसलमान इतिहासकारों ने उसके गुणों का खूब बखान किया है और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि सिकन्दर उनके धार्मिक आदर्शों को सन्तुष्ट करनेवाला व्यक्ति था। परन्तु संतुलित आलोचक निजामुद्दीन अहमद ने सिकन्दर का जो विस्तृत वर्णन किया है, फरिश्ता के वर्णन से भी उसकी पुष्टि होती है और

२९. बुधन का नाम विभिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखा है। फरिश्ता के लखनऊ संस्क० में (पृ० १८२) कैथन का बोधां लिखा है। ब्रिग्ज ने इसको लखनऊ के समीप कैथन का बुधन लिखा है। 'मखजन' में यही बुधन है (पृ० ६५)। इलियट (४, पृ० ४६४) में यह कनेर का लोधन है।

'तारीख-ए-दाऊदी' में लिखा है कि सुलतान धार्मिक वादविवादों में बहुत रुचि रखता था। उसने सम्भल में 'उलमा' का सम्मेलन किया था, जिसमें बोधां का निर्णय किया गया। इस्लाम स्वीकार न करने पर बोधां को मार डाला गया और धर्माचार्य पुरस्कृत हुए।

फरिश्ता ने समसामयिक इतिहासकारों के ग्रन्थों का परिशीलन भी किया है।[३०] सुलतान सिकन्दर शाह की आकृति सुन्दर थी, वह आखेट में रुचि रखता था और अपने पद के लोगों के लिए उचित सभी गुणों से युक्त था। सभी इतिहासकार इस बात में एक मत हैं कि अपने धर्म में उसकी दृढ़ आस्था थी और उसके परिपोषण में उसकी बहुत लगन थी। मुल्लाओं और मौलवियों की संगति वह बहुत पसन्द करता था और अन्य धर्मों के प्रति उसकी असहिष्णुता हिन्दुओं के दमन तथा अपने राज्य में मूर्तिपूजा समाप्त करने के प्रयत्नों में प्रकट हुई। उसमें अपने धर्म के प्रसार के लिए इतना उत्कट उत्साह था कि उसने मथुरा के देवालयों को तुड़वाकर उनके स्थान पर मस्जिदें और सरायें बनवाई। 'तारीख-ए-दाऊदी' में लिखा है कि मूर्तियों को उसने कसाइयों को दे दिया, जिन्होंने इनको मांस तोलने के बाँट बना दिया।[३१] उसने हिन्दुओं को जमुना के तटवर्ती घाटों पर स्नान करने और नाइयों को उनका मुंडन करने का निषेध कर दिया।[३२] उसके शासन-काल में नमाज सार्वजनिक रूप से पढ़ी जाती थी और सर्वत्र इस्लाम की विजय का डंका बजता था।

यद्यपि सिकन्दर संकुचित विचारोंवाला धर्मान्ध था, परन्तु उसमें हृदय एवं मस्तिष्क के अच्छे गुणों की भी कमी न थी। निर्धनों के प्रति उसमें बहुत दया थी और प्रतिवर्ष वह राजकोष से विशाल धन-राशि दरिद्रों में वितरण करवाता था। राज्य के धनी लोग भी इस बात में उसका अनुसरण करने लगे थे। न्याय के लिए उसके हृदय में अगाध प्रेम था। वह पीड़ितों की प्रार्थनायें स्वयं सुनता और न्याय करता था। राज्य में होनेवाली प्रत्येक घटना की वह सूचना प्राप्त कर लेता था और सूबेदारों को आदेश देता तथा अपने आदेशों का पूर्णतया पालन करवाता था। बाजार भावों पर सतर्क दृष्टि रखी जाती थी और प्रति दिन भावों की सूचना उसके पास पहुँचाई जाती थी। जब कभी किसी विषय में कोई संदेह उठता तो वह तत्काल जाँच करवाता और वस्तुओं

---

३०. फरिश्ता लिखता है कि उसने एक समसामयिक ग्रंथ 'फरहंग सिकंदरी' से सहायता ली थी; परन्तु उसका वर्णन 'तबकात-ए-अकबरी' के वर्णन का अनुवाद मात्र है। 'तबकात' इन सबसे पहले लिखा गया था; अत. उसके लेखक ने समसामयिक ग्रन्थों का अवश्य उपयोग किया होगा।

३१. तारीख-ए-दाऊदी'—प्रयाग वि० वि० की हस्तलिपि पृ० ३६।
डॉर्न—'मखजन' पृ० ६।

३२. 'तारीख-ए-दाऊदी'—प्रयाग वि० वि० की हस्तलिपि पृ० ३६।

सिकन्दर ने शासन-तन्त्र में नवीन जीवन एवं उत्साह भरने के लिए बहुत कुछ किया, परन्तु धर्म का प्रभाव पुनः बढ गया और राज्य धर्म-प्रधान बन गया। हिन्दुओं पर राज्य की ओर से इस्लाम लादा जाने लगा। कैंथन निवासी बुधन नामक ब्राह्मण का उदाहरण स्पष्ट दिखा देता है कि उस समय कितनी असहिष्णुता एवं धर्मोन्माद का राज्य था और 'उलमा' का राज्य में कितना प्रभाव था। इस ब्राह्मण का अपराध यह था कि उसने कुछ मुसलमानों के सामने अपने धर्म को पैगम्बर के धर्म के समान अच्छा कहा था। सिकन्दर ने इसका दण्ड निर्णय करने के लिए धर्माचार्यों की सभा बुलाई। उन्होंने फैसला किया कि ब्राह्मण या तो मुसलमान बन जाय अथवा मृत्यु का आलिंगन करे।[२९] ब्राह्मण ने अपने धर्म का त्याग करना स्वीकार न किया और धैर्यपूर्वक अपने प्राण दिये। बुधन जैसे मध्य-कालीन महात्माओं के कारण ब्राह्मण धर्म को बहुत शक्ति एवं दृढ़ता प्राप्त हुई।

परन्तु वर्तमान काल के मानदण्डों से सिकन्दर के कार्यों का मूल्यांकन करना उचित नहीं है। उसके युग में योरप तक में धार्मिक-सहिष्णुता का अभाव था और कैथोलिक सम्प्रदाय के श्रेष्ठतम पुण्यात्मा एवं धर्मपरायण धर्माचार्य विरोधियों को मिटाने के लिए नृशंसतम उपायों का अवलम्बन करते थे। सिकन्दर की मृत्यु के चार वर्ष बाद ही तो पंचम-चार्ल्स जैसे धर्मात्मा समझे जानेवाले शासक ने सुधार-आन्दोलन के जन्म-दाता लूथर को अपने साम्राज्य से निर्वासित घोषित कर चर्च के प्रति अपनी दृढ़ आस्था व्यक्त की थी।

सिकन्दर का व्यक्तित्व—लोदी वंश के इस सर्वश्रेष्ठ शासक के व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करना पाठकों के लिए कम रुचिकर न होगा। सब मुसलमान इतिहासकारों ने उसके गुणों का खूब बखान किया है और यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि सिकन्दर उनके धार्मिक आदर्शों को सन्तुष्ट करनेवाला व्यक्ति था। परन्तु संतुलित आलोचक निजामुद्दीन अहमद ने सिकन्दर का जो विस्तृत वर्णन किया है, फरिश्ता के वर्णन से भी उसकी पुष्टि होती है और

२९. बुधन का नाम विभिन्न प्रतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखा है। फरिश्ता के लखनऊ सस्क० में (पृ० १८२) कैंथन का बोधां लिखा है। ब्रिग्ज ने इसको लखनऊ के समीप कैंथन का बुधन लिखा है। 'मखजन' में यही बुधन है (पृ० ६५)। इलियट (४, पृ० ४६४) में यह कनेर का लोधन है।

'तारीख-ए-दाऊदी' में लिखा है कि सुलतान धार्मिक वादविवादों में बहुत रुचि रखता था। उसने सम्भल में 'उलमा' का सम्मेलन किया था, जिसमें बोधां का निर्णय किया गया। इस्लाम स्वीकार न करने पर बोधां को मार डाला गया और धर्माचार्य पुरस्कृत हुए।

अफगान शासन-तन्त्र का स्वरूप—इब्राहीम के शासन-काल में शासन-तन्त्र का स्वरूप परिवर्तित हो गया। वह हठी एवं क्रोधी स्वभाव का था और अपनी धृष्टता एवं घमण्ड के कारण वह अफगान सरदारों की सहानुभूति से हाथ धो बैठा।[35] अफगान सरदार शासक को अपना साथी जैसा समझते थे और उसका स्थान अपने से थोड़ा सा ही ऊँचा मानते थे तथा अपना प्रधान मानकर उसके प्रति स्वेच्छा से सम्मान प्रकट करते थे। लोहानी, फरमूली एवं लोदी वंश के लोग राज्य में उच्च पदो पर प्रतिष्ठित थे। यह सदैव उद्दंड एवं झगड़ालू रहे थे; और राज्य मे अपनी उच्च-स्थिति के कारण वह अनेक बार शासक के विरुद्ध षड्यन्त्र भी रच चुके थे। शासक के प्रति उनकी भक्ति शासक के व्यक्तित्व के अनुसार दृढ अथवा नाम-मात्र की होती थी। सिकन्दर ने उनका कठोर नियन्त्रण रखा था और जब कभी उन्होने राजभक्ति मे अस्थिरता दिखाई, उनको कठोर दण्ड दिया था। परन्तु जब इब्राहीम ने, जो किसी प्रकार से भी अयोग्य शासक न था[36] शासन को सुदृढ बनाने के लिए उनकी स्वेच्छाचारिता का कठोरतापूर्वक दमन करने का प्रयत्न किया, तो उन्होने उसका विरोध किया और लड़ने के लिए उद्यत हो गये। जैसा एर्स्किन ने लिखा है, वे लोग अपनी जागीर को "शासक की कृपा अथवा उदारता के फलस्वरूप मिली हुई न समझकर अपने अधिकार के कारण और अपनी तलवार से मोल ली हुई अपनी ही समझते थे।"[37] इब्राहीम के सामने कठिन परिस्थिति आ गई। साम्राज्य की सीमा[38] बहुत बढ़ गई थी; सामंत-वर्ग अनियन्त्रित हो रहा था और वर्षों से साम्राज्य की तह मे एकत्र होता हुआ असंतोष फूटने लगा था। हिन्दू सिकन्दर की धार्मिक-नीति के कारण असंतुष्ट थे और अपने धार्मिक विधि-विधानों पर रोक लगानेवाले शासन के अन्त की कामना कर रहे थे। इब्राहीम के सामने वैसी ही वस्तुस्थिति उपस्थित थी, जैसी पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में इंगलैण्ड के ट्यूडर शासकों के सम्मुख आ गई

३५. 'तारीख-ए-दाऊदी' प्रयाग वि० वि० की हस्तलिपि, पृ० ११३।
डॉर्न—'मखजन-ए-अफगाना' पृ० ७०।

३६. 'तबकात-ए-अकबरी' लखनऊ संस्क० पृ० १७३।

३७. एर्सकाइन—'हिस्ट्री ऑव इण्डिया' १, पृ० ४०६।

३८. सिकन्दर की मृत्यु के समय साम्राज्य की सीमाएँ यह थीं—दक्षिण-पूर्व की ओर बंगाल तक; आगरा के समीप, धौलपुर, चन्देरी और बियाना इसमें शामिल थे, पंजाब ने दिल्ली का आधिपत्य मान लिया था और मध्य भारत में यह बुन्देलखण्ड तक फैला था।

के उचित ढंग से बेचे जाने का सदैव ध्यान रखता। धर्म के प्रति अनुराग होने के कारण वह अश्लीलता एवं विलासिता से घृणा करता था और चरित्रहीन लोग उसके समीप न पहुँच पाते थे। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी, जिसके कारण उसने बहुत-सा उपयोगी ज्ञान संचित कर लिया था। विद्वानों का वह संरक्षक था और स्वयं भी फारसी में सुन्दर कविता कर लेता था। कविता में वह 'गुलरुख' उपनाम रखता था। उसकी ही प्रेरणा से मियाँ भुआ ने एक वैद्यक-ग्रंथ का संस्कृत से फारसी में 'तिब्ब-ए-सिकन्दरी' नाम से अनुवाद किया था।[33]

सुलतान बहुत रूढ़िवादी था। उसने कभी किसी परम्परा का उल्लंघन नहीं किया और किसी पद पर नियुक्ति करते समय वह सदैव अभिजात्य का ध्यान रखता था। 'तारीख-ए-दाऊदी' में उसके विषय में एक मनोरंजक बात लिखी है कि मध्यरात्रि के भोजन से पूर्व वह सत्रह विद्वानों को अपने सामने बुलाता, जो भूमि पर उसके सामने पलथी मारकर बैठ जाते, तब इनके सामने भोजन परोसा जाता, परन्तु जब तक सुलतान भोजन न कर चुके, तब तक वे अपने सामने परोसे भोजन को छू भी न सकते थे और सुलतान के भोजन कर लेने पर वे इन भोजन के थालों को अपने घर ले जाते थे। संभवत: अपना पद-गौरव बढ़ाने के लिए सुलतान ऐसा करता था। 'उलमा' इस व्यवहार से कुढ़ते भले ही हों, परन्तु घर आने पर उन्हें राजकीय भोजन का आस्वादन करने का सौभाग्य तो प्राप्त हो ही जाता था।

अपने जीवन-काल में सिकन्दर ने दृढ़ नीति का अनुसरण कर साम्राज्य में व्यवस्था स्थापित कर ली थी और उद्दंड सामंतों पर कड़ा नियन्त्रण रखा था, परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् शासन-सूत्र एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में आये, जो उसके समान न तो योग्य था और न चरित्रवान था; अत: जिन शक्तियों को उसने नियन्त्रण में रखा था, वे बंधन तोड़कर उन्मुक्त हो गई और साम्राज्य की नींव हिलने लगीं।[34]

---

३३. 'तारीख-ए-दाऊदी' प्रयाग वि० वि० की हस्तलिपि पृ० ४३।

इलियट (४, पृ० ४५१) में इस संस्कृत ग्रंथ का नाम 'अरगर महाबदक' दिया हुआ है; यह किसी आयुर्वेद-ग्रंथ का अशुद्ध लिखा हुआ नाम जान पड़ता है।

'वाकियात-ए-मुश्ताकी' में लिखा है कि मियाँ भुआ ने अनेक लिपिकों तथा विद्वानों को एकत्र कर उनको प्रत्येक शास्त्र-संबंधी ग्रंथ लिखने में लगाया। उसने खुरासान से अनेक ग्रन्थ लाकर विद्वानों को दिये और खुरासान तथा हिन्द के चिकित्सा-शास्त्रियों को एकत्र कर उनसे चिकित्सा-शास्त्र का एक ग्रंथ लिखवाया, जो अनेक ग्रन्थों को अध्ययन कर लिखा गया। इस ग्रंथ का नाम 'तिब्ब-ए-सिकन्दरी' रखा गया।

३४. अफगान अमीरों के विवरण के लिए, देखिए, इलियट, ५, परिशिष्ट 'जी', पृ० ५३४-५४१ में 'वाकयात-ए-मुश्ताकी'।

अफगान शासन-तन्त्र का स्वरूप—इब्राहीम के शासन-काल में शासन-तन्त्र का स्वरूप परिवर्तित हो गया। वह हठी एवं क्रोधी स्वभाव का था और अपनी धृष्टता एवं घमण्ड के कारण वह अफगान सरदारों की सहानुभूति से हाथ धो बैठा।[३५] अफगान सरदार शासक को अपना साथी जैसा समझते थे और उसका स्थान अपने से थोड़ा सा ही ऊँचा मानते थे तथा अपना प्रधान मानकर उसके प्रति स्वेच्छा से सम्मान प्रकट करते थे। लोहानी, फरमूली एवं लोदी वंश के लोग राज्य में उच्च पदों पर प्रतिष्ठित थे। यह सदैव उद्दण्ड एवं झगड़ालू रहे थे; और राज्य में अपनी उच्च-स्थिति के कारण वह अनेक बार शासक के विरुद्ध षड्यन्त्र भी रच चुके थे। शासक के प्रति उनकी भक्ति शासक के व्यक्तित्व के अनुसार दृढ़ अथवा नाम-मात्र की होती थी। सिकन्दर ने उनका कठोर नियन्त्रण रखा था और जब कभी उन्होंने राजभक्ति में अस्थिरता दिखाई, उनको कठोर दण्ड दिया था। परन्तु जब इब्राहीम ने, जो किसी प्रकार से भी अयोग्य शासक न था[३६] शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए उनकी स्वेच्छाचारिता का कठोरतापूर्वक दमन करने का प्रयत्न किया, तो उन्होंने उसका विरोध किया और लड़ने के लिए उद्यत हो गये। जैसा एर्स्किन ने लिखा है, वे लोग अपनी जागीर को "शासक की कृपा अथवा उदारता के फलस्वरूप मिली हुई न समझकर अपने अधिकार के कारण और अपनी तलवार से मोल ली हुई अपनी ही समझते थे।"[३७] इब्राहीम के सामने कठिन परिस्थिति आ गई। साम्राज्य की सीमा[३८] बहुत बढ़ गई थी; सामंत-वर्ग अनियन्त्रित हो रहा था और वर्षों से साम्राज्य की तह में एकत्र होता हुआ असंतोष फूटने लगा था। हिन्दू सिकन्दर की धार्मिक-नीति के कारण असंतुष्ट थे और अपने धार्मिक विधि-विधानों पर रोक लगानेवाले शासन के अन्त की कामना कर रहे थे। इब्राहीम के सामने वैसी ही वस्तुस्थिति उपस्थित थी, जैसी पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरणों में इंगलैण्ड के ट्यूडर शासकों के सम्मुख आ गई

३५. 'तारीख-ए-दाऊदी' प्रयाग वि० वि० की हस्तलिपि, पृ० ११३।
डॉर्न—'मखजन-ए-अफगाना' पृ० ७०।

३६. 'तबकात-ए-अकबरी' लखनऊ सस्क० पृ० १७३।

३७. एर्सकाइन—'हिस्ट्री ऑव इण्डिया' १, पृ० ४०६।

३८. सिकन्दर की मृत्यु के समय साम्राज्य की सीमाएँ यह थीं—दक्षिण-पूर्व की ओर बंगाल तक; आगरा के समीप, धौलपुर, चन्देरी और बियाना इसमें शामिल थे, पंजाब ने दिल्ली का आधिपत्य मान लिया था और मध्य भारत में यह बुन्देलखण्ड तक फैला था।

थी। परन्तु इब्राहीम में उस नीति-पटुता, दूरदर्शिता एवं शक्तिमत्ता का अभाव था जिसके बल पर सप्तम हेनरी ने शासक के अधिकारों पर आघात करनेवाले सामंतों का कठोरतापूर्वक दमन कर दिया था। सरदारों का दमन करने के लिए इब्राहीम ने जो कठोर उपाय अपनाये, उनसे अर्द्ध-राजभक्त सामतवर्ग रुष्ट हो गया और इस प्रकार अफगान साम्राज्य के पतन का मार्ग प्रशस्त होने लगा। परन्तु इब्राहीम पर ही साम्राज्य की समाप्ति का समस्त दोष लगाना ठीक नही है। साम्राज्य का पतन अनिवार्य था, और यदि इब्राहीम अपने सरदारों को अपने पक्ष मे भी बनाये रखता, तब भी यह निश्चित था कि वे अपने-अपने लिए स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की चेष्टा करते और उसको नाममात्र का सुलतान बना देते। शासन-तन्त्र मे स्थायित्व के तत्त्वो का अभाव था और इब्राहीम की निष्क्रियता के कारण स्थिति कभी भी सुधर न सकती थी। इतना अवश्य था कि सामंतों के प्रति नीतिपूर्ण एवं कृपापूर्ण व्यवहार बनाये रखकर इब्राहीम कुछ समय के लिए विघटनकारिणी शक्तियो को रोक सकता था। परन्तु उसने पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने के प्रयत्न में अपने असामयिक दुर्व्यवहार के कारण अपने ही सगोत्र सरदारों को अपना विरोधी बना लिया और ये असंतुष्ट एव रुष्ट सरदार उसको शीघ्र ही अधिकार-विहीन बनाने के कुचक्र रचने लगे।

सस्ते भाव—इब्राहीम यद्यपि अपने सरदारों के बढ़ते हुए प्रभाव से जलता था और उनके कुचलने के लिए सचेष्ट रहता था, परन्तु जनता की भलाई का उसे सदैव ध्यान रहता था। उसके शासन-काल मे अनाज की उपज खूब होती थी और दैनिक जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के भाव इतने सस्ते थे कि आज उन पर विश्वास नहीं होता। किसानों से अनाज के रूप में लगान वसूल किया जाता था और जमीदारों तथा सरदारों को अनाज के रूप मे कर वसूल करने का आदेश दिया गया था। उसके शासन-काल में कभी भी अनाज की कमी न पड़ी। 'तारीख-ए-दाऊदी' के लेखक का कहना है कि उस युग में ५ टके में किसी हृष्ट पुष्ट आदमी की सेवाएँ प्राप्त की जा सकती थी और दिल्ली से आगरा तक की यात्रा एक 'बहलोली' में संपन्न की जा सकती थी; इतने मे ही यात्री का निजी व्यय, उसके घोड़े तथा अनुचरों का खर्च भी चल जाता था।[३६]

राजकुमार जलाल का विद्रोह—जैसा पीछे कहा जा चुका है इब्राहीम

३६. 'तारीख-ए-दाऊदी'—प्रयाग वि० वि० हस्तलिपि, पृ० १३७। इलियट, ४, पृ० ४७६। इस ग्रन्थ मे भावों की तालिका भी दी हुई है, जो इस प्रकार है—

ने अपने अविचारपूर्ण कठोर व्यवहार द्वारा अपने अमीरों और सरदारों को रुष्ट कर दिया था। अतः उसके राज्यारोहण के कुछ समय बाद इन्होंने उसके भाई राजपुत्र जलाल को जौनपुर का शासक बनाने का षड्यन्त्र रचा। इस योजना के अनुसार जलाल ने कालपी से जौनपुर पहुँचकर, वहाँ का शासन अपने हाथ मे ले लिया। परन्तु खान-ए-जहाँ लोदी ने, जो बहुत उच्च-विचारोंवाला सरदार था, इस कार्य का विरोध किया और इसके लिए अफगान सरदारो की भर्त्सना की और उन्हें समझाया कि एक ही साम्राज्य मे दो-दो शासक बना देना साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध होगा। अफगान सरदार अपनी भूल समझ गये और उन्होंने राजपुत्र जलाल को जौनपुर छोड़ देने के लिए मनाने के लिए हैबत खाँ को उसके पास भेजा; परन्तु वह इसके लिए तैयार न हुआ। तब सुलतान ने उसको समझा बुझाकर जौनपुर से लौटा लाने के लिए शेखजादा महमूद, मलिक इस्माइल तथा काजी हमीदुद्दीन हाजिब को भेजा। परन्तु जलाल कोई न कोई बहाना बनाकर उनको टालता रहा।[40] समझाने बुझाने के प्रयत्नों मे विफल होकर, सुलतान ने एक 'फरमान' निकाला जिसमें साम्राज्य के अमीरो और पदाधिकारियों को जलाल को किसी प्रकार की सहायता न देने और उसके अधिकार को किसी भी रूप में स्वीकार न करने का आदेश दिया गया और इस आदेश की अवहेलना करने वाले के लिए कठोर दण्ड निर्धारित किया गया। बड़े-बड़े अमीरो को पुरस्कार देकर जलाल के पक्ष से विमुक्त कर लिया गया। अब जलाल ने स्थानीय जमीदारों की सहायता से अपनी सैनिक-शक्ति बढ़ाई और आजम हुमायूँ से सहायता की प्रार्थना की। आजम हुमायूँ सुलतान से किसी बात पर जला-भुना बैठा था। अतः उसने जलाल का पक्ष ग्रहण किया और दोनों की सम्मिलित सेनाओं ने अवध पर आक्रमण

एक बहलोली..........................१० मन धान

" ....५ सेर घी

" ....१० गज कपड़ा

टॉमस—'दि क्रॉनीकल्स' पृ० ३६०।

भावों के सस्तेपन की जानकारी के लिए इलियट के 'दि हिस्टोरियन्स', १, पृ० २९२ में 'जुब्द-उत्-तवारीख' देखिए। इस ग्रन्थ के लेखक ने 'तारीख-ए-दाऊदी' का समर्थन किया है।

४०. 'तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना' के लेखक ने इन परिस्थितियों का कुछ भिन्न प्रकार से वर्णन किया है।

इलियट, ५, पृ० ८-९।

देखिए—सम्पादक की टिप्पणी पृ० ९।

कर वहाँ के सूबेदार मुबारक खाँ लोदी के पुत्र सैद खाँ को परास्त कर लखनऊ भगा दिया। अब इब्राहीम ने अपने सब भाइयों को हाँसी के दुर्ग मे बन्दी बनाकर, स्वयं जलाल के विरुद्ध प्रयाण किया। इस बीच आजम हुमायूं ने जलाल का पक्ष त्याग दिया था, जिससे उसका सैन्यबल बहुत क्षीण हो गया था। सुलतान की सेना ने कालपी के दुर्ग पर घेरा डाल दिया और कड़े प्रतिरोध का सामना कर दुर्ग को तोड डाला। जलाल आगरा की ओर भाग गया, जहाँ स्थानीय सूबेदार ने उसके साथ संधि-वार्ता प्रारंभ कर दी और उसको इस शर्त पर कालपी का पूर्ण अधिकार देना स्वीकार किया कि वह भविष्य मे शासक-पद पर अधिकार न जतलाये।[४१] जब सुलतान को इस सन्धि की सूचना प्राप्त हुई, जो उसकी स्वीकृति के बिना कर ली गई थी तो उसने "अपने असीम गर्व, उग्र स्वभाव एवं यौवनोन्माद के कारण" इसको अस्वीकार ही नही किया, अपितु विद्रोही राजपुत्र के वध की भी आज्ञा दे दी। जलाल प्राण बचाने के लिए भागकर ग्वालियर नरेश के पास पहुँचा।

इब्राहीम आगरा लौट आया और साम्राज्य की शासन-व्यवस्था ठीक करने में जुट गया। जलाल के विद्रोह तथा अफगान सरदारो के द्रोहपूर्ण आचरण ने उसके स्वभाव को और भी कटु बना दिया था और अब वह पूर्ण स्वेच्छाचारी बन गया। उसने अपने पिता के प्रसिद्ध सचिव मियाँ भुआ को पदच्युत कर कारागार मे डाल दिया, जहाँ वह कुछ काल पश्चात् मर गया।[४२] साम्राज्य का शासन-प्रबंध सुव्यवस्थित कर लेने पर, सुलतान ने आजम हुमायूं को ग्वालियर-दुर्ग पर अधिकार करने के लिए भेजा। दीर्घकालीन घेरे के पश्चात् दुर्ग पर शाही सेना का अधिकार हो गया और राजा मानसिंह ने, जिसको फरिश्ता ने "बहुत पराक्रमी एव योग्य" शासक बताया है, दिल्ली का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। अब जलाल मालवा की ओर भागा, परन्तु महमूद खिलजी से रूखा व्यवहार पाकर वह गढ़ कन्टक[४३] की ओर बढ़ा परन्तु मार्ग में उसको गोंडवाना के जमीदारों ने पकड़ लिया और बेड़ियाँ पहिनाकर इब्राहीम के पास भेज दिया। इस शाही बन्दी को हँसी के दुर्ग

---

४१. 'मखजन-ए-अफगाना' के लेखक का कहना है कि जलाल को मलिक काफर ने मीठे शब्दों से शान्त कर दिया, परन्तु फरिश्ता लिखता है कि आगरा के सूबेदार आदम खां ने इब्राहीम से परामर्श किये बिना ही उसके साथ सन्धि कर ली।

४२. संदेह किया जाता है कि उसको विष देकर मारा गया।

४३. 'तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना' के अनुवाद मे गर्र-कन्टक (गढ़-कन्टक) लिखा है। इलियट, ५, पृ० १२।

की ओर ले जाया गया, परन्तु सुलतान की आज्ञा से मार्ग में ही चुपचाप उसका वध कर दिया गया।

आजम हुमायूं के विरुद्ध—सुलतान ने संदेह के वशीभूत होकर आजम हुमायूं तथा अन्य सरदारों को ग्वालियर से वापिस बुला लिया और आजम हुमायूं तथा उसके पुत्र फतह खाँ को कारागार मे डाल दिया। आजम के दूसरे पुत्र इस्लाम खाँ से कड़ा-मानिकपुर की सूबेदारी छीन ली गई।[४४]

आजम के इस अपमान से अफगान सरदार सशंकित हो उठे और इस्लाम खाँ के झंडे के नीचे एकत्र हो गये। इब्राहीम की नीति से इतना तीव्र क्षोभ उत्पन्न हो गया था कि यह विद्रोही थोड़े ही समय मे ४०,००० अश्वारोहियों, ५०० हाथियों तथा बहुत बड़ी संख्या मे पदातियों की सेना एकत्र करने मे सफल हो गये; उधर शाही सेना मे केवल ५०,००० सैनिक थे। विद्रोही सरदार युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये, परन्तु शेख राजू कुरवारी नामक संत से इस झगड़े को निपटाने का आश्वासन पाकर वे अपने-अपने शिविर मे लौट गये। विद्रोहियों ने आजम हुमायूं की मुक्ति की माँग की और अपनी शर्तें मान ली जाने पर अपनी सेना का विघटन करना स्वीकार कर लिया। परन्तु जब यह शर्तें इब्राहीम के पास पहुँचाई गईं, वह क्रोध से आग-बबूला हो उठा और उसने इन शर्तों को अस्वीकार करने के साथ-साथ दरिया खाँ लोहानी तथा अन्य अमीरो के नाम इन विद्रोहियो का विनाश करने का 'फरमान' निकाला। बिहार, गाजीपुर तथा अवध की सम्मिलित सेनाओ ने इन विद्रोहियों के विरुद्ध कूच किया। शाही-पक्ष एवं विद्रोही-पक्ष मे तुमुल युद्ध छिड़ गया, जिसका 'मखजन-ए-अफगाना' के लेखक ने निम्न शब्दो में सजीव वर्णन किया है।

"लाशों के ढेर पर ढेर से रण-भूमि पट गई; और भूमि पर पड़े हुए कटे सिरों का अनुमान लगाना सामर्थ्य से बाहर है। मैदान मे खून की नदियाँ बह चली और हिन्दुस्तान मे जब कभी कोई युद्ध कुछ समय तक चलता रहता, तो बूढ़े लोग कहा करते कि इस युद्ध की समानता किसी युद्ध से नही की जा सकती, पारस्परिक लज्जा एवं स्वभावगत वीरता से उत्तेजित होकर भाई-भाई के विरुद्ध, पिता पुत्र के विरुद्ध लड़ रहा था; धनुष-बाण एक ओर रख दिये गये थे और कुल्हाड़ियों, तलवारों, छुरियो तथा गदाओं से संहार किया जा रहा था।"[४५] आखिर इस्लाम खाँ मारा गया; सईद खाँ पकड़ा गया और विद्रोहियों को भारी क्षति के साथ परास्त किया गया।

---

४४. तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना' मे उसको आगरा का सूबेदार कहा गया है।

४५. डॉर्न, 'मखजन' पृ० ७६।

मेवाड़ के साथ युद्ध—इस समय तक मेवाड़ राजपूताना का सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न राज्य बन गया था और इसका शासक राणा सांगा 'युद्ध में अपने पराक्रम के लिए समस्त हिन्दुस्तान मे ख्याति प्राप्त कर चुका था।' मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए इब्राहीम ने एक विशाल सेना संघटित की और उसका नेतृत्व मियाँ हुसैन खाँ जरबख्स, मियाँ खान-ए-खानान फर्मूली, और मियाँ मखन सहित मियाँ मारूफ जैसे सब सेनाध्यक्षों को सौंपा। जब यह सेना मेवाड़ की सीमा मे पहुँची, सुलतान ने मियाँ मखन को मियाँ हुसैन तथा मियाँ मारूफ को बन्दी बनाने के लिए लिखा। मियाँ हुसैन को इसकी खबर लग गई और उसने मियाँ मखन के सब प्रयत्नों को व्यर्थ कर दिया। अपने जीवन के लिए शंकित हुसैन एक सहस्र अश्वारोहियो सहित राणा से जा मिला। सुलतान के क्रूर-व्यवहार को भुलाकर मियाँ मारूफ शाही-पक्ष का साथ देता रहा। मियाँ मखन ने ३०,००० अश्वारोही एवं ५०० हाथी लेकर राणा से युद्ध करने के लिए प्रयाण किया। हिन्दू सेना ने प्रबल आक्रमण कर मुसलमान सेना को भारी क्षति पहुँचाकर पीछे हटा दिया। इस संकट के अवसर पर मियाँ मखन को विश्वासघाती मियाँ हुसैन का सन्देश मिला कि यदि वह मध्य-रात्रि में मियाँ मारूफ को युद्ध के लिए सुसज्जित सेना सहित उसके पास भेज दे तो वह शाही पक्ष मे मिल जायेगा। मियाँ मारूफ शत्रु की छावनी की ओर बढ़ा और मियाँ हुसैन उससे आ मिला। दोनों की सम्मिलित सेनाओं ने निश्शंक राजपूत सेना पर अकस्मात् आक्रमण कर दिया और 'नरसिंहों और मारू बाजों के तुमुल नाद ने उनकी (राजपूतो के) चेतना के कानों से रुई हटा दी और राजपूत हताश हो गये। अफगान प्रबल वेग से राजपूतों पर टूट पड़े और बहुतों को धराशायी कर दिया। राणा को बहुत से घाव लगे, परन्तु वह युद्धक्षेत्र से बचकर निकल आया। जो राजपूत समरभूमि में रह गये, वह तलवार के घाट उतारे गये। इब्राहीम ने मियाँ मारूफ तथा विश्वासघाती मियाँ हुसैन का स्नेह एवं कृपा-पूर्ण शब्दों से सम्मान किया।'[४६]

४६. 'तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना', 'वाकयात-ए-मुश्ताकी' तथा 'तारीख-ए-दाऊदी' के अतिरिक्त अन्य किसी प्रामाणिक इतिहासकार ने इस अभियान का वर्णन नहीं किया है। निजामुद्दीन बदाऊँनी और फरिश्ता इसके विषय में मौन हैं। राजपूत-गाथाओं मे भी इसका उल्लेख नही है। मेवाड़ तथा दिल्ली में बहुधा युद्ध हुआ करते थे, परन्तु उनके परिणामों को निश्चयपूर्वक नही जाना जा सकता क्योंकि राजपूत या मुसलमान कोई भी इतिहासकार अपने पक्ष को पराजित बताने को तैयार

इब्राहीम और अफगान सरदार—अब इब्राहीम ने सामंतों को समाप्त करने की चेष्टा की, परंतु उसके यह प्रयत्न स्वयं उसके विनाश के कारण बन गये। सामंतों के प्रति उसने जैसा निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया, उसका वर्णन किया जा चुका है। वृद्ध मियाँ भुआ उसका कोप-भाजन बना था, और आजम हुमायूँ को उसने धोखे से कारागार में मरवा दिया था। बड़े से बड़े सरदारों को भी जीवन का भय बना रहता था और सुलतान के क्रूर व्यवहार की शंका से दरिया खाँ, खान-ए-जहाँ लोदी तथा हुसैन खाँ फरमूली ने स्पष्ट विद्रोह कर दिया। हुसैन खाँ फरमूली को चान्देरी के कुछ मुसलमान संतों ने उसकी शय्या में मार डाला, इस निर्मम हत्या से अफगान सरदार सुलतान के घोर शत्रु बन गये और उनको उसकी घातक चालों का विश्वास हो गया। दरिया खाँ के पुत्र बहादुर खाँ ने मुहम्मद शाह की उपाधि धारण कर ली, अपने नाम के सिक्के ढलवाये और एक विशाल सेना एकत्र कर सुलतान के दमनकारी प्रयत्नों का सफलतापूर्वक सामना किया।[47] दौलत खाँ लोदी के पुत्र के प्रति इब्राहीम के निर्दय

न था। इब्राहीम तथा राणा के युद्ध के विषय में टॉड ने लिखा है; "साँगा ने अपनी सेना को तैयार किया, जिसके साथ वह सदैव रणभूमि में उपस्थित रहता था, और तैमूर के वंशज के साथ युद्ध का अवसर आने से पहले वह १८ संग्रामों में विजय पा चुका था, जो दिल्ली तथा मालवा के शासकों के साथ किये गये थे। इनमें से बाकरोल तथा घटोली के युद्धों में इब्राहीम ने स्वयं उसका सामना किया था; घटोली के युद्ध में शाही सेना की बुरी तरह हार हुई और उसका खूब संहार हुआ तथा एक शाही-परिवार के शाहजादे को बंदी बनाकर चित्तौड़ में यश-लाभ किया।"

'टॉड, ऐनल्स एण्ड ऐंन्टिक्विटीज ऑव राजस्थान' क्रुक द्वारा संपादित १, पृ० ३४६।

चारणों की गाथाओं में राणा की जिन सामरिक सफलताओं का वर्णन किया गया है, तथा मुसलमान इतिहासकारों ने भी जो उसके सैनिक साधनों की विशालता स्वीकार की है, उससे यह परिणाम बहुत कुछ ठीक जान पड़ता है कि अहमद यादगार ने जो दिल्ली की विजय का उल्लेख किया है, वह केवल अपने पक्ष का गौरव बढ़ाने के लिए कहा गया एक झूठ ही है।

४७. मुहम्मदशाह के पास एक विशाल सेना थी, जिसमें 'मखजन-ए-अफगाना' के अनुसार १,००,००० सैनिक थे; फरिश्ता ने लिखा है कि उसके अधिकार में उसके पिता की जागीर सम्भल तक थी।

डॉर्न—'मखजन' पृ० ७६।

ब्रिग्ज—१, पृ० ५६७।

व्यवहार से तो सामंतों का क्षोभ चरम सीमा पर पहुंच गया। दौलत खाँ को शाही दरबार में बुलाया गया था, परंतु वह यह कहकर कि वह राज-कोष लेकर बाद में आयेगा, इस आज्ञा को टाल गया और सुलतान का क्रोध शांत करने के लिए उसने अपना पुत्र दिलावर खाँ दरबार में भेज दिया। सुलतान ने दिलावर खाँ को कारागार में ले जाकर दिवालों से टंगे शाही बंदी दिखलाये और भय से कांपते हुए इस अफगान युवक को संबोधित कर सुलतान ने कहा, "देख ली तुमने मेरी आज्ञा की अवहेलना करने वालों की दशा ?" इन अर्थपूर्ण शब्दों का मर्म समझकर दिलावर खाँ ने पूर्ण अधीन भाव से सिर झुका लिया और चुपचाप अपने पिता के पास भाग गया तथा उसको यह सारा वृतांत सुना दिया। अपनी सुरक्षा के प्रति शंकित होकर दौलत खाँ ने अपने पुत्र दिलावर खाँ के हाथों काबुल के शासक बाबर को हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने का निमंत्रण भेज दिया।[४८]

---

४८. इस विषय में चार आधिकारिक लेखकों के विवरण परस्पर भिन्न है। 'मखजन' (पृ० ७७) मे लिखा है कि दौलत खाँ ने गाजी खाँ तथा पंजाब के अन्य अमीरो के साथ मिलकर, आलम खाँ के हाथ बाबर को आमंत्रण भेजा। फरिश्ता ने केवल इतना ही लिखा है कि अपनी तथा अपने परिवार की सुरक्षा के लिए संशक होकर दौलत खाँ ने सुलतान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और काबुल के मुगल शासक बाबर को भारत विजय करने के लिए, आमंत्रित किया। बाबर से पहले शाहजादा अलाउद्दीन (आलम खाँ), जो अपने भाई इब्राहीम के पास से भागकर काबुल मे रहने लगा था, भारत में आया और दिल्ली की ओर बढ़ा, परंतु इब्राहीम ने उसको हरा दिया।

अहमद यादगार का कहना है कि बाबर को भारत पर आक्रमण करने का बुलावा देने के लिए दिलावर खाँ को भेजा गया; बाबर ने २,००० मुगल अश्वारोहियो के साथ जहाँगीर कुली खाँ को मार्गों तथा घाटों की रक्षा के लिए भेजा। बुधवार, २ शव्वाल (जौलाई, १५२६ ई०) को वह रवाना हुआ और पेशावर पहुँचा। वहाँ दौलत खाँ ने उसको १०,००० सोने की अशरफियाँ तथा २० हाथी दिये। जब इब्राहीम को इन गतिविधियों की सूचना मिली तो उसने दौलत खाँ को इस मूर्खतापूर्ण योजना का त्याग करने के लिए लिखा। परंतु दौलत खाँ ने इब्राहीम को उत्तर दिया कि तेरे ही कर्मों के फल-स्वरूप बाबर भारत में आया है। पंजाब पर अधिकार कर मुगल-सेना दिल्ली की ओर बढी जिसको विद्रोहियों ने घेर रखा था। मुगलो ने इनको तितर-बितर कर दिया और बराबर इब्राहीम लोदी के साथ अंतिम मुठभेड़ की तैयारियों मे जुट गया।

'तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना' इलियट, ५, पृ० २५-२७।

'तारीख-ए-खान-ए-जहाँ-लोदी' ने भी 'मखजन' के समान यही लिखा है कि बाबर को बुलाने के लिए आलम खाँ को काबुल भेजा गया था। आलम खाँ एक सेना के साथ हिन्दुस्तान भेजा गया और अन्य अफगानों से अलग होकर

बाबर बहुत समय से हिन्दुस्तान की शस्य-श्यामला भूमि पर लोलुप दृष्टि गड़ाये हुए था; अतः इस आमंत्रण का उसने हार्दिक स्वागत किया। दौलत खाँ का उद्देश्य पंजाब में अपनी ही सत्ता स्थापित करना जान पड़ता है। अतः उसने इब्राहीम को हटाकर आलम खाँ को सिंहासनारूढ़ कराने के लिए बाबर को बुलाया था और प्रकट रूप में इसी उद्देश्य को सामने रखकर बाबर ने १५२४ ई० में काबुल से प्रयाण किया। वह लाहौर की ओर बढ़ा, जहाँ उसका सामना युद्ध के लिए तैयार एक शाही सेना के साथ हुआ। यह सेना सरलता से परास्त कर दी गई और लाहौर बाबर के अधिकार में आ गया। परन्तु दौलत खाँ को बाबर की यह गतिविधि पसंद न आई और यद्यपि बाहर से वह पूर्ण अधीनता का भाव प्रदर्शित करता रहा, परंतु मन ही मन बाबर का साथ छोड़ने की योजना बनाने लगा। बाबर को विश्वासघात की थोड़ी भी शंका न थी और दौलत खाँ पर विश्वास कर उसने उसको जालंधर और सुलतानपुर के सूबे सौंप दिये थे। परंतु अपने द्रोहपूर्ण आचरण से दौलत खाँ को अपमानित होना पड़ा। उसके सूबे उससे छीनकर उसके पुत्र दिलावर खाँ को दे दिये गये। अब बाबर ने इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने से पहले उसको अपनी सेना को शक्तिशाली बना लेना चाहिए। अतः पंजाब के शासन की व्यवस्था कर वह काबुल लौट गया। बाबर के लौटते ही दौलत खाँ ने दिलावर खाँ से सुलतानपुर का सूबा छीन लिया और आलम खाँ को दीपालपुर से निकाल दिया। आलम खाँ बाबर की सहायता प्राप्त करने के लिए काबुल पहुँचा। बाबर ने उसको इस शर्त पर दिल्ली के सिंहासन पर बैठाना स्वीकार कर लिया कि वह पंजाब को पूर्णतया उसके अधिकार में रहने दे। आलम खाँ ने शर्त स्वीकार कर ली। बाबर ने अपने सरदारों के लिए कुछ आदेशों सहित आलम खाँ को हिन्दुस्तान भेजा, परंतु दौलत खाँ ने उसको अपने पक्ष में कर लिया और बाबर के साथ की हुई संधि को भंग करने के लिए उत्तेजित किया। अब इन दोनों ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया और रात में सुलतान की सेना पर आक्रमण कर उसको बुरी तरह हरा दिया। परंतु दूसरे दिन सवेरे सुलतान ने अपनी सेना को संघटित कर शत्रु दल पर प्रबल

वह ४०,००० सैनिक लेकर दिल्ली की ओर बढ़ा। परंतु इब्राहीम ने उसको हरा दिया। आगे इस ग्रंथ में पानीपत के युद्ध का वर्णन है। इलियट, ५, पृ० १०६-७।

एर्स्किन—'हिस्ट्री आव इण्डिया', १, पृ० ४२७-३२।

आक्रमण किया और भीषण संहार करते हुए इन दोनों को युद्ध-क्षेत्र से भगा दिया।

बल्ख में उज़्बेगों के उपद्रवों का दमन करने के उपरांत, बाबर ने हिन्दुस्तान की ओर ध्यान दिया। पिछले कुछ महीनों की घटनाओं से उसको विश्वास हो गया था कि दिल्ली में अफगान शक्ति को समाप्त किये बिना पंजाब पर स्थायी अधिकार स्थापित करना असंभव है। उसको स्पष्ट विदित हो गया था कि अफगान बिलकुल भी विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि इस बीच वह अपने विश्वासघाती स्वभाव का परिचय दे चुके थे। अब बाबर ने स्वयं अपने लिए हिन्दुस्तान पर अधिकार प्राप्त करने का साहसपूर्ण निश्चय कर लिया।

पानीपत का युद्ध, १५२६ ई०—१२,००० सैनिकों को लेकर बाबर काबुल से प्रयाण कर पंजाब में पहुँचा। दौलत खाँ लोदी का पुत्र दिलावर खाँ उसके साथ आ मिला। दौलत खाँ ने भी विरोध करना व्यर्थ समझकर अधीनता स्वीकार कर ली और बाबर ने अपनी सहज उदारतावश उसको क्षमा कर दिया और उसके तथा उसके परिवार के गाँवों को उन्हीं के अधिकार में रहने दिया। पंजाब में अफगानों का विरोध शात कर बाबर दिल्ली की ओर बढ़ा। अपनी आत्मकहानी में उसने लिखा है कि "दृढ़ निश्चय की रकाब में पाँव रखकर और हाथों में दीन की लगाम थाम कर, मैंने सुलतान बहलोल लोदी अफगान के पुत्र सुलतान सिकंदर के पुत्र सुलतान इब्राहीम के विरुद्ध प्रयाण किया, जिसके अधिकार में उस समय दिल्ली नगर तथा हिन्दुस्तान का राज्य था।" मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह ने बाबर को सहयोग का आश्वासन दिया था परंतु जान पड़ता है राणा ने युद्ध में भाग न लिया। २१ अप्रैल, १५२६ ई० को पानीपत का प्रसिद्ध युद्ध हुआ, जिसमें इब्राहीम लोदी पूर्णत पराजित हुआ।[४६] अपने पाँच या छः सहस्र चुने हुए सैनिकों को साथ ले प्राण हथेली पर रखकर युद्ध करते हुए इब्राहीम रणभूमि में मारा गया। दिल्ली की प्रबल सेना के विरुद्ध बाबर की विजय का कारण उसकी रणनिपुणता तथा अश्वारोही-सेना एवं तोपखाने का कुशल प्रयोग था। पानीपत की विजय ने लोदी-वंश की शक्ति का अन्त कर दिया और हिन्दुस्तान का शासन अफगानों से छीनकर मुगलों के हाथ में दे दिया।

---

४६. इस युद्ध का विस्तृत वर्णन अगले के परिच्छेद में किया जायेगा।

अध्याय १८

पूर्व मध्यकालीन समाज और संस्कृति

भारत में इस्लामी राज्य—"तुम लोक-कल्याण के लिए एक राष्ट्र बनो" यह कुरान का पवित्र आदेश है। अरब का पैगम्बर एक नये धर्म-मत का संस्थापक मात्र न था, अपितु एक सैनिक-राष्ट्र का जन्मदाता भी था, जिसने उसकी मृत्यु के पश्चात् दुर्दम्य शक्ति संचित कर ली। पैगम्बर साहब के अनुयायी 'काफिरों' के विरुद्ध युद्ध करना अपना सर्वोच्च धार्मिक कर्तव्य मानने लगे, और अपने धर्म के प्रसार के लिए निरन्तर युद्ध करते रहे। इन युद्धों में उनकी विजय के कारण, जैसा कि प्रो० मार्गोलिअथ ने कहा है, तीन थे—वैज्ञानिक युद्ध-प्रणाली, अनुशासन एवं उत्साह।[1] स्वयं पैगम्बर युद्ध-कला मे निष्णात था और अपने जीवन-काल में उसने अनेक युद्धों का सफल संचालन किया था। मुसलमानों की दिनचर्या में ५ बार की नमाज एव रमजान जैसे उपवासों ने उनके जीवन को अनुशासित कर दिया था। पैगम्बर साहब का प्रत्येक अनुयायी अपने को संसार में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ईश्वरीय कार्य सम्पन्न करने के लिए भेजा गया ईश्वर का दूत समझता था, जिससे उसको अदम्य उत्साह प्राप्त होता था। उत्तर-कालीन मुसलमान विधि-निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से यह सम्मति प्रकट की कि मुसलमानों का सैनिक संघटन 'काफिरों' के विरुद्ध 'जिहाद'[2] कर 'दरुल

---

१. मार्गोलिअथ—'मोहम्मदनिजम' पृ० ७५।

२. ह्यूज—'डिक्शनेरी ऑव इस्लाम' पृ० २४३।

खुदाबख्श—'ओरियन्ट अन्डर दि केलिफ्स' पृ० २७७।

'जिहाद' उन लोगों के विरुद्ध धर्म-युद्ध है जो मुहम्मद के मत मे विश्वास नहीं करते। यह कुरान में तथा परम्परा द्वारा निर्दिष्ट एक ऐसा पवित्र आदेश है जो इस्लाम के प्रचार तथा मुसलमानों से बुराइयाँ दूर रखने के लिए निबद्ध किया गया।

ह्यूज—'डिक्शनेरी ऑव इस्लाम' पृ० २४३-४८।

'गयास-उल-लुगात' के अनुसार 'दारुल हर्ब' वह काफिर देश है जिस पर इस्लाम का अधिकार नहीं हुआ है।

'दारुल इस्लाम' वह देश है, जहाँ इस्लाम के आदेशों का पूर्णतया पालन होता है।

ह्यूज—पृ० ६९, ७०। 'दि एन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम' पृ० ९१७-१८।

हुर्ब' (काफिर-देश) को 'दारुल इस्लाम' (मुसलमान-देश) बनाना था। विजित जातियाँ पूर्णतया इन विजेताओं की कृपा पर अवलम्बित रहती थीं और यद्यपि स्वयं पैगम्बर ने ईसाइयों तथा यहूदियों के प्रति सहृदयतापूर्ण व्यवहार रखा था,[3] परन्तु उसके अनुयायियों ने इस्लाम को न माननेवाले सभी वर्गों के लोगों का कठोर दमन करना प्रारम्भ किया। पराजित शत्रुओं के प्रति यह लोग अत्यन्त निर्दयता का व्यवहार करने लगे; वह या तो मारे जाते, अथवा इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किये जाते या एक प्रकार का कर देना स्वीकार करने पर 'जिम्मी' की स्थिति में रखे जाते। प्रो० मार्गोलिअथ के शब्दों में पैगम्बर ने रचनात्मक राजनीति में "आश्रित सम्प्रदायों" की स्थापना का प्रयोग किया था, जिसके अनुसार जनता के वर्ग-विशेष को एक विशेष स्थिति में रखा जाता और कुछ शर्तों पर जीवित रहने दिया जाता था।[4] 'काफिरों' पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये जाते थे; खलीफा द्वितीय उमर के एक आदेश के अनुसार ईसाई अथवा यहूदी व्यापारियों पर मुसलमान-व्यापारियों की अपेक्षा दुगना कर लगाया जाता था।[5] तबरी के ऐतिहासिक लेखों में खलीफा अल-मुतवक्किल द्वारा प्रचारित एक आदेश का उल्लेख है जिसमें ईसाइयों के वस्त्रों एवं उनके द्वारा प्रयुक्त घोड़े की काठियों का निर्धारण किया गया था। क्रेमर ने ऐसे ही एक अन्य आदेश का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार मुसलमानों से भिन्न लोगों को राजकीय पदों पर नियुक्ति का निषेध किया गया था।[6] धार्मिक उत्साह एवं राजनैतिक आवश्यकताओं से उत्पन्न असहिष्णुता की यह भावना उन संस्थाओं में पूर्णतया प्रतिफलित हुई, जिनकी स्थापना खलीफाओं ने अपने अधीन-प्रदेशों के शासन के लिए की; बाद में समस्त मुसलमान-जगत ने इन संस्थाओं को अपनाया। कट्टर विधिज्ञों के अनुसार राज्य की आय के साधन यह थे—(१) 'जजिया', जो 'काफिर' प्रजा पर लगाया जाता था, (२) 'उश्र'[7] जो राजकीय भूमि प्राप्त करनेवाले मुसलमानों पर लगाया जाता था और उपज का $\frac{1}{10}$ होता था; (३) व्यापार पर कर; (४) प्रजा से वसूल

३. मदीना में यहूदियों के प्रति पैगम्बर का व्यवहार यहाँ उल्लेखनीय है। अमीर अली—'दि स्पिरिट ऑव इस्लाम' पृ० १७५, २४५।

होगार्थ—'ए हिस्ट्री ऑव अरेबिया' पृ० ४१-४२।

४. मार्गोलिअथ—'अर्ली डिवलप्मेंट ऑव मुहम्मदनिज्म' हिवर्ट लेक्चर्स—पृ० ६६।

५. वही—पृ० ६६।

६. 'ओरियन्ट अन्डर दि केलिफ्स'—पृ० २११।

७. 'उश्र' मुसलमान-राज्य को दिया जानेवाला $\frac{1}{10}$ भाग है।

की गई प्राकृतिक उपज; (५) विदेशी राज्यों से भेंट; (६) युद्ध में लूट से प्राप्त सम्पत्ति का ⅕; (७) तथा 'खिराज'[८], जो उन मुसलमान-भिन्न लोगों से लिया जाता था जिनके पास भूमि होती थी। खिलाफत के समस्त पदाधिकारी मुसलमान होते थे और यह लोग विधर्मियों के सहार एवं अन्यायपूर्ण रूप से उनके अधिकार छीनने की नीति का अवलम्बन करते थे। यह नीति अंततोगत्वा मुसलमान-साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई। क्रेमर महोदय ने ठीक ही लिखा है कि "कट्टर 'उलमा' एवं जनता के आदर्श इस धर्मात्मा शासक (द्वितीय उमर) ने उस युग के स्वभाव के विपरीत पड़नेवाली दशाओं को पुन: स्थापित करने का प्रयत्न कर अपने राज्य की नीव ही नष्ट कर दी।"[९] अन्य देशों में भी जिन मुसलमान शासकों ने ऐसी नीति का अनुसरण किया, उन्हें भी यही फल प्राप्त हुआ।

भारत मे मुसलमान-आक्रमणो के साथ एक नये युग का उदय हुआ। भारत में मुसलमानों की राजनैतिक विजयों के इतिहास का पिछले परिच्छेदों मे वर्णन किया जा चुका है। आठवी शताब्दी के प्रारम्भ मे भारत में सर्वप्रथम अरबों का आगमन हुआ; अरब लोग बाद मे आनेवाले तुर्कों से कही अधिक सभ्य एवं सुसस्कृत थे। इस समय हिंदू-समाज का वह वर्ग, जिसको इन विदेशी आक्रमणों के आघात झेलने पड़े, क्षीण-बल हो चुका था। हर्ष की मृत्यु के पश्चात् भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्य बन गये थे, जो सदैव पारस्परिक कलह एवं ईर्षा से जलते रहते थे। परन्तु राजनैतिक दृष्टि से शक्ति-हीन होने पर भी भारत की दार्शनिक एवं आध्यात्मिक महानता अक्षुण्ण थी और जब अरब-निवासी हिंदुओं के सम्पर्क मे आये, तो वे हिंदुओं के दार्शनिक विचारों की गम्भीरता एव श्रेष्ठता से प्रभावित हुए बिना न रह सके। इस विविध भावमयी आश्चर्यकारिणी अत्यन्त उच्च संस्कृति के सामने उनको अपनी संस्कृति तुच्छ प्रतीत होने लगी। अलबरूनी ने हिंदू-समाज का अपनी आंखो देखा सजीव वर्णन किया है और उसके वर्णन से हम तत्कालीन हिंदू-समाज मे विकसित सभ्यता की श्रेष्ठता का कुछ अनुमान लगा सकते है। परन्तु इस गमीर दार्शनिक एवं धार्मिक वृत्ति ने हिंदू-समाज को राजनीति की ओर से उदासीन बना दिया और परिणामत: उसकी उस व्यावहारिक सक्रियता की शक्ति एवं

---

८. 'खिराज' मूलत: मुसलमान भिन्न जातियों से प्राप्त होनेवाली भूमि के लिए भेंट थी, परन्तु अब यह शब्द भूमि-कर के लिए प्रयुक्त होता है—ह्यूज—पृ० ६५५, २६६।

९. देखिए—क्रेमर का खिलाफत का वर्णन 'ओरियन्ट अन्डर दि केलिफ्स' पृ० २१८-४०।

कौशल को दबा दिया, जिसका अवलम्बन करने से ही वह तुर्क जैसे प्रबल शत्रुओं से लोहा ले सकता था। भारतीय समाज के बहुत बड़े भाग ने इन असंख्य आक्रांताओं का प्रतिरोध करने में कुछ भी उत्साह प्रदर्शित न किया था; वह शान्त, गंभीर निराशा में पड़ा हुआ इनको मनमानी करने देता रहा और जब मुसलमानों का भारत में प्रवेश हो गया, वह भी इनके प्रति ऐसी ही उपेक्षा का व्यवहार करने लगे। भारत का योद्धा-वर्ग, जो वीरोचित उदारता, युद्ध-प्रेम, सच्चाई एवं सम्मान की भावनाओं की गंभीरता के लिए संसार के इतिहास में अद्वितीय था, पारस्परिक कलहों से छिन्न-विच्छिन्न होकर कभी शत्रु का सामूहिक रूप से सामना न कर सका। परिणामतः राजपूतों को पराजित होना पड़ा, उनकी राजनैतिक शक्ति समाप्त हो गई और विदेशी विजेताओं ने उनकी गौरवशाली वंश-परंपरा पर कुछ भी ध्यान न दिया। परन्तु यह विजय केवल भौतिक विजय थी वैसी ही जैसी कि रोमवालों की यूनान-विजय। भारत की समृद्ध आध्यात्मिक परंपरा अक्षत रही और विजेता तुर्कों के प्रति हिंदुओं के मन में सहज घृणा ने जन्म लिया, क्योंकि उनके पास न तो कोई ऐसी संस्कृति थी, जिसका वह अभिमान कर सकें और न उनमें सच्चा धर्मोत्साह ही था; उनका युद्धोत्साह मूर्ति-पूजा के प्रति घृणा के भाव से जितना उत्तेजित होता था, उतना ही धन-लोलुपता से भी। मुसलमान-धर्म की सरलता को बहुत से लेखक बहुत महत्त्व देते हैं, और उनका कहना है कि इसकी बुद्धि-ग्राह्यता एवं समान-बंधुता के आदर्श ने स्वार्थपरता के कारण अभिजात-वर्ग द्वारा दबाये गये कुछ वर्गों को हिंदुओं को बहुत आकर्षित किया।[१] यह सत्य है कि धार्मिक विधि-विधानों की जटिलता से सर्वथा मुक्त इस्लाम-धर्म को समझने के बौद्धिक शक्ति की अधिक आवश्यकता नहीं होती, और इसके मूल-सिद्धान्त सर्वत्र मान्य भी हैं। परन्तु, मुसलमान-धर्म का आधारभूत एकेश्वरवाद का सिद्धान्त हिंदुओं को अरब के पैगम्बर से बहुत समय पहले से ही सुविदित था। यह सिद्धान्त उपनिषदों में स्पष्टतया प्रतिपादित है और विभिन्न भक्ति-मार्गों में, जिनमें से कुछ

---

१०. आर्नाल्ड—'दि प्रीचिंग ऑव इस्लाम'—पृ० ४१३।

फारकुहर का कहना है कि १४०० ई० से पूर्व भारतीय साहित्य में इस्लाम का प्रभाव दिखाई नहीं देता। उसने १३५० ई० से इसके प्रभाव का प्रारम्भ माना है। १३०० ई० से पूर्व तो इसके प्रभाव का प्रारम्भ नहीं माना जा सकता।

'एन आउटलाइन ऑव दि रिलिजस लिटरेचर ऑव इण्डिया' पृ० २८४।

तथा इसी प्रकार के अन्य प्रलोभनों के वशीभूत होकर इस्लाम-धर्म ग्रहण कर लिया। विपुल प्रभाव एवं शक्ति के नियन्ता मुसलमानों के दैनिक सम्पर्क में आने के कारण भी बहुत से लोगों ने उनका धर्म ग्रहण कर लिया, परन्तु इस प्रकार की श्रद्धा बहुत से लोगों मे केवल दिखावे मात्र के लिए रही होगी।[13] कुछ लोग, हिंदू समाज में अपनी निम्न स्थिति से क्षुब्ध होकर मुसलमान बने होंगे, परन्तु ऐसे लोगों की सख्या अधिक न रही होगी। ऐसे लोग बहुत ही कम थे जिन्होंने इस्लाम के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर उसको अपनाया हो, क्योंकि हिंदुओं के हृदय मे अपनी स्वतंत्रता के अपहरणकर्ता एवं अपने धर्म का घोर अपमान करनेवाले इन विदेशी आगतुकों के लिए घृणा का ऐसा तीव्र भाव उत्पन्न हो गया था, जो पद अथवा धन के प्रलोभन से शांत न हो सकता था। हिंदुओं में पुराण-पंथी भावना इतनी गहरी जड़ जमा चुकी है कि आधुनिक काल तक में, जब कि समाज के निम्नवर्गीय लोगों में वर्ग-चेतना सजग हो गई है, इन निम्नवर्गीय लोगों द्वारा इस्लाम-ग्रहण करने की घटनाएं बहुत कम होती है, जबकि यह लोग भली भाँति जानते हैं कि मुसलमान हो जाने पर वे मुसलमान जाति मे उच्चतम वर्ग के लोगों के साथ समानता प्राप्त कर सकते हैं। लगभग पाँच शताब्दियों तक हिंदू और मुसलमान एक ही राज्य मे सर्वथा भिन्न वर्गो के रूप मे रहे है। हिंदुओं को धार्मिक एवं राजनैतिक कारणो से मुसलमानों के असंख्य अत्याचार सहने पड़े, परंतु जिन हिंदुओं मे पौरुष और पराक्रम सर्वथा विलुप्त न हो गया था, वे निरन्तर उनका कड़ा विरोध करते रहे। स्वेच्छा से कभी किसी हिंदू ने मुसलमान राज-परिवार के साथ विवाह-संबंध किया हो, इसका कोई प्रमाण नही मिलता। चौदहवीं शताब्दी मे तुगलिल शाह द्वारा राणामल भट्टी की कन्या के बलात्

यदि कोई व्यक्ति अथवा वस्तु अशुद्ध हो गई हो तो वह या यह (वस्तु) शुद्धता प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। उनके किसी ऐसे व्यक्ति का स्वागत करने की आज्ञा नही है जो उनसे संबंधित न हो, चाहे वह इसका अभिलाषी क्यों न हो, और उसका उनके धर्म की ओर झुकाव क्यों न हो। इससे भी उनके साथ किसी प्रकार का संबंध असभव है, और वह उनके और हमारे बीच सबसे बड़ी खाई है।" सखाउ—'अलबरूनी का भारत' पृ० १९-२०।

१३. अकबर के समय में राजा मानसिंह तथा टोडरमल ने 'दीन-इलाही' स्वीकार नहीं किया था। अकबर का संबंधी होते हुए भी राजा मानसिंह ने 'दीन-इलाही' स्वीकार करना स्पष्ट एवं कठोर शब्दों में अस्वीकार कर दिया और अबुल फजल ने लिखा है कि टोडरमल पर इस्लाम का कुछ भी प्रभाव न पड़ सका था।

अपहरण ने अत्यन्त कटु भावनाएँ पैदा कर दी। इस विवाह ने हिंदू-मुसलमानों मे ऐक्य लाने की अपेक्षा पारस्परिक विरोध को ही उत्तेजित किया और इस विवाह-संबंध से उत्पन्न फीरोज तुगलक जैसे धर्मान्ध के रूप मे हिंदुओं को अपने धर्म का कट्टर विरोधी ही मिला।

भारत मे मुसलमान राज्य धर्मप्रधान ही बना रहा। मुसलमान शासक के रूप में सीजर तथा पोप दोनों एकत्र हो गये थे, परन्तु धार्मिक विषयों मे उस अधिकार शरियत द्वारा पूर्ण रूप से नियन्त्रित थे। मुसलमान आचार्य कहते थे कि "वह पृथ्वी पर ईश्वर की छाया है, जिसकी शरण में हम जीवन की अदृष्ट घटनाओं से दुख पाकर दौड़ पडते हैं।"[१४] परन्तु उसका काम केवल ईश्वरेच्छा को कार्यान्वित करना है और उसके शासन के नियम धर्म-विधान पर आश्रित होने चाहिएँ। ऐसी स्थिति में शासन-तन्त्र में धर्माचार्यों का अत्यधिक प्रभाव होना स्वाभाविक था। हिन्दुस्तान के मुसलमान शासक ने स्वयं सप्रभु थे; वह अपने नाम के सिक्के ढलवाते और 'खुतबा' पढ़वाते थे। यद्यपि ईल्तुतमिश, मुहम्मद तुगलक तथा फीरोज तुगलक ने अवश्य खलीफा से अपने अधिकार की स्वीकृति प्राप्त की थी। राज्य सैनिक-वर्ग पर आधारित होता था, जिनमें से अधिकांश 'दीन' के अनुयायी होते थे। 'उलमा' लोग 'दीन' के इन सैनिकों को यह कहकर इस्लाम की पवित्र ध्वजा के नीचे रहकर युद्ध करने के लिए उत्तेजित करते रहते थे कि समर-भूमि मे धर्म के लिए प्राण-त्याग करने से उनको बलिदानी का सम्मान प्राप्त होगा। साहसिकता से प्रेम तथा धन-प्राप्ति की आशा के अतिरिक्त धार्मिक-क्षेत्र मे यशोपार्जन की लालसा से भी अनेक उत्साही मुसलमान धर्म के लिए प्राणों को संकट में डालने के लिए प्रस्तुत रहते थे। ऐसे राज्य मे स्वभावतः 'उलमा' का प्रभाव अपरिमित रहा। मूर्ति-पूजा का विनाश, इस्लाम के अतिरिक्त अन्य सब धर्म-मतों की समाप्ति, काफिरों को मुसलमान बनाना—यह आदर्श मुसलमान-राज्य के कर्तव्य समझे जाने लगे। अधिकांश मुसलमान शासकों ने अपनी शक्ति एवं परिस्थितियों के अनुसार इन कर्तव्यों को निभाने का प्रयत्न किया और जो शासक 'उलमा' की आशाओं को पूर्ण कर सके उनका मुसलमान इतिहासकारों ने, जो अधिकतर 'उलमा' वर्ग के होते थे, खूब गुण-

१४. टॉमसन—'प्रेक्टिकल फिलोसोफी ऑव दि मुहम्मडन पीपुल' पृ० ३७७ (यह 'अखलाक जलाली' का अनुवाद है।)

अमीर अली—'दि स्पिरिट ऑव इस्लाम' पृ० २६१।

इसने इमाम फखरुद्दीन के शासक एवं शासितों के पारस्परिक अधिकारों सम्बन्धी विचारों का उद्धरण दिया है। सरकार 'स्टडीज इन मुगल इण्डिया' भी देखिए।

गान किया। परन्तु भारत के प्रारम्भिक मुसलमान शासकों में अलाउद्दीन ही ऐसा निकला जिसने सर्वथा नवीन मार्ग अपनाया। अकबर के समान वह भी शासन-तन्त्र में धर्माचार्यों के हस्तक्षेप का विरोधी था। उसके राजनैतिक विचार उसके उन शब्दों में स्पष्टतया व्यक्त हुए हैं, जो उसने राज्य में शासक की वैधानिक स्थिति पर परामर्श लेते हुए काजी मुगीस से कहे थे। धार्मिक हस्तक्षेप से शासन-तन्त्र की दुरावस्था से भली भाँति परिचित होने के कारण उसने शासक-पद के विषय में एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और स्वयं को सांसारिक विषयों मे ईश्वर का वैसा ही प्रतिनिधि बतलाया जैसा कि आध्यात्मिक क्षेत्र में पुरोहित समझा जाता है। जनता ने भी उसके सिद्धान्त को निर्विरोध स्वीकार कर लिया, क्योंकि उस समय देश का शासन-सूत्र सँभालने के लिए अलाउद्दीन जैसे शक्तिशाली व्यक्ति की नितांत आवश्यकता थी, जो मंगोलों के अत्याचारों से निरीह जनता को सुरक्षित रख सके और देश में शांति स्थापित कर सके। मुहम्मद तुगलक के बुद्धिवाद ने तो 'उलमा' को उसका घोर विरोधी बना दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि 'उलमा' ने उसकी किसी योजना को सफल न होने दिया। मुहम्मद के निर्वीर्य उत्तराधिकारी के शासन-काल में 'उलमा' की शक्ति पुनः बढ़ गई और उन्होंने उससे शासन-तन्त्र को पूर्णतया धर्म-प्रभावित बना दिया। राज-करों को कुरान के आदेशों के अनुसार घटाया गया[१५] और काफिरों का दमन करने मे राज-कर्मचारियों से पूरा-पूरा लाभ उठाया गया। फीरोज की मृत्यु के पश्चात् साम्राज्य में फैली अव्यवस्था के दूर होते ही 'उलमा' का भी पुनः प्रभावोत्कर्ष हुआ और सिकन्दर लोदी के शासन-काल में हिंदुओं का खूब दमन किया गया। इस प्रकार पूर्व-मध्यकाल में 'उलमा' का शासन-तन्त्र में बहुत प्रभाव रहा। सचमुच उनके परामर्शों की अवहेलना करने तथा धर्म-विधि को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से शासन की नीति निर्धारित करने के लिए बहुत दृढ़ संकल्पी शासक की आवश्यकता थी। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शासन-तन्त्र मे 'उलमा' का हस्तक्षेप राज्य के लिए बहुत हानिकारक हुआ।

मुसलमानों के अतिरिक्त दूसरी जातियों पर राज्य की ओर से अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये थे। बलात् धर्म-परिवर्तन कराने का आदेश भी राज्य की ओर से दिया गया था, परन्तु अनवरत युद्धों एवं मंगोलों के उपद्रवों का दमन करने

---

१५. 'फतूहात-ए-फीरोज शाही', इलियट ३, पृ० ३७७।
'सीरत-ए-फीरोज शाही' प्रयाग वि० वि० हस्तलिपि पृ० ११८।

में व्यस्त रहने के कारण राज्य इस आदेश का नियमित रूप से पालन न करवा सका। मुसलमान-भिन्न जातियों को 'जिम्मी' कहा जाता था और इन्हें अपने जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए 'जजिया' नामक कर देना पड़ता था।[१६] यह एक प्रकार से सैनिक सेवाओं से मुक्ति के बदले में लिया जाता था। शरियत में विनम्रता एवं आज्ञाकारिता को यह इन लोगों का कर्तव्य बताया गया है। कुरान बलात्-धर्म परिवर्तन कराने की स्वीकृति नहीं देती।[१७] उसमें लिखा है कि "धर्म में किसी प्रकार का बलात्कार नहीं होना चाहिए। क्या तू लोगों को श्रद्धालु बनने के लिए बाध्य कर सकता है? ईश्वर-प्रेरणा के बिना कोई श्रद्धालु नहीं बन सकता।" आर्नल्ड ने यह स्वीकार किया है कि मुसलमान-शासित राज्यों में ईसाई सम्प्रदायों एवं वर्गों के अस्तित्व से यह सिद्ध होता है कि उनके प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित की गई और उन्हें यदि कभी दण्ड सहने भी पड़े तो वह धार्मिक नीति के कारण नहीं अपितु किन्हीं विशेष तात्कालिक कारणों से

१६. इनको धर्म-शास्त्रियों के अनुसार मुसलमान-भिन्न जातियों को अपने प्राणों की सुरक्षा के लिए 'जजिया' देना पड़ता है। एगनाइदीज—'दि मुहम्मदन थ्योरीज ऑव फाइनान्स, ७०, पृ० ३९८, ४०७। यह कथन पूर्णतया स्वीकार्य नहीं है। ठीक मत यह है कि जिम्मियोंपर यह एक प्रकार का सैनिक-कर है।

भिन्न मतावलम्बियों पर, जो 'अमान' का अधिकार चाहते हों, मुसलमान-शासक का 'जजिया' कर लगाना कुरान के एक आदेश पर आधारित है—

"जिनको धर्म-ग्रंथ दिये जा चुके हों, उनमें से ऐसे लोगों से, जब तक कि वह अपने हाथ से भेंट न दें और नम्र न हो जायें, तब तक युद्ध छेड़ो, जो खुदा या कयामत में विश्वास नहीं करते, तथा उन बातों को त्याज्य नहीं मानते जिनको खुदा और उसके पैगम्बरों ने त्याज्य माना है और जो सत्य-धर्म को स्वीकार नहीं करते।"

ह्यूज—'डिक्शनरी ऑव इस्लाम' पृ० २४८।

१७. कुरान के १०९ अध्याय में पैगम्बर साहब ने कहा है—

"ओ अविश्वासियो! मैं उसकी उपासना नहीं करूँगा, जिसकी तुम करते हो; नहीं तुम उसकी उपासना करोगे, जिसकी मैं करता हूँ। तुम्हारा अपना धर्म है और मेरा अपना।"

सेल—'अल कुरान'—पृ० ५०३।

पैगम्बर ने कहा है; "जो तुम्हारा त्याग करें, उनके साथ लगे रहो; अपने हृदय से सच बोलो; जो भी तुम्हारे साथ बुराई करे, उसके साथ भलाई करो।" आर्नाल्ड—दि प्रीचिंग ऑव इस्लाम' पृ० ४२०।

पैगम्बर ने स्पष्ट कहा है कि यहूदियों तथा ईसाइयों के धर्म में तब तक हस्त-क्षेप न किया जाय जब तक वह कर देते रहें।

जिम्मियों के विषय में देखिए—ह्यूज 'डिक्शनरी ऑव इस्लाम' पृ० ७१०-१३।

'एन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम', पृ० ४२०।

सहने पड़े।[18] अमीर अली ने भी अपनी पुस्तक "दि स्पिरिट ऑव इस्लाम" मे इस कथन की पुष्टि की है।[19] ऐसा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि पैगम्बर ने इस्लाम स्वीकार करवाने में बल-प्रयोग का निषेध कर उपदेश एव प्रचार का आदेश दिया था, परन्तु उसके धर्मोन्मत्त अनुयायी उसकी आज्ञाओं को भूल गये।[20] इनके द्वारा मुसलमानों के अतिरिक्त जातियों पर घोर अत्याचारो के उदाहरण कम नही है। उनको सेना में भर्ती न होने दिया जाता था, चाहे वे कितना भी चाहें। उनको थोडा भी सार्वजनिक रूप मे अपने धार्मिक क्रिया-कलापों को करने की आज्ञा न थी और ऐसे भी दृष्टात मिलते है जब इस निषेध का उल्लघन करने-वालों को प्राणों से हाथ धोने पडे। अनेक मुसलमान-शासक इतने धर्मान्ध थे कि वह नये मंदिरों का निर्माण और पुरानों की मरम्मत न होने देते थे[21] और सिकन्दर लोदी जैसे शासकों ने तो अनेक मदिरों का विध्वस भी करवाया। भारत मे पूर्व मध्यकालीन मुसलमान-शासकों के समय मे धार्मिक सहिष्णुता का भाव साधारणतया भुला दिया जाता था और मुहम्मद तुगलक जैसे शासक को इस्लाम की प्रतिष्ठा गँवानेवाला बतलाकर 'उलमा' वर्ग दोषी ठहरा देता था। कट्टरपंथी यही चाहते थे कि धर्म-विहित नियमों का अक्षरशः पालन किया जाये, भले ही उसका कुछ भी परिणाम हो।

जनता पर प्रभाव—इस्लामी-राज्य ने शासक-वर्ग के लोगों मे विलासिता को प्रोत्साहित किया। राज्य के प्रधान पद मुसलमानों के अधिकार में रहते थे और उच्च पद प्राप्त करने के लिए योग्यता की इतनी आवश्यकता न होती थी, जितनी कि सुलतान की कृपा की, क्योंकि वही स्वेच्छा से नियुक्तियाँ करता था। सरलता से विपुल सम्पत्ति प्राप्त हो जाने तथा शाही दरबार के विलासितापूर्ण उत्सवो मे भाग लेते रहने के कारण पदाधिकारियों में अनेक दोष उत्पन्न हो गये थे और चौदहवीं शताब्दी के अंत तक मुसलमानों में पहले जैसी शक्ति एव पौरुष न रह गया। ईल्तुतमिश, बलबन, अलाउद्दीन जैसे प्रारम्भिक मुसलमान शासकों की सेवा मे रहनेवाले मुसलमान धर्म पर प्राण न्योछावर करनेवाले वीर सैनिक थे, परन्तु उनके वंशज, जिनमे न अपने पूर्वजों जैसा युद्धोत्साह रह गया था और न योग्यता ही, उस उच्च स्थिति से पतित होकर निर्वीर्य बन गये थे। राज्य द्वारा उनके प्रति पक्षपात ने उनको

१८. आर्नल्ड—'प्रीचिंग ऑव इस्लाम', पृ० ४२०।

१६. अमीर अली—'दि स्पिरिट ऑव इस्लाम पृ० २४६-४८।

२०. आधुनिक काल मे अफगान सरकार ने मौलवी नियामत उल्लाह को नास्तिक विचारों के लिए पत्थरों की मार मे मरवाया था।

२१. 'फतूहात-ए-फीरोज शाही', इलियट, ३, पृ० ३८०-८१।

स्वावलम्बन-वृत्ति को समाप्त कर दिया था और उनके लिए राज्य द्वारा 'खानकाहों' (सदावर्तों) की स्थापना से, जिनका इब्नबतूता तथा शम्स-ए-सिराज अफीफ ने विस्तृत वर्णन किया है, उनको आजीविका उपार्जन करने की भी आवश्यकता न रह गई और आत्म-सम्मान, पौरुष अथवा साहसिकता से हीन होकर यह लोग राज्य के लिये भारस्वरूप बन गये। सख्या में कम होने के कारण मुसलमान कठोर श्रम से भी बच जाते थे; कठोर श्रम करना तो मुसलमान से भिन्न जातियों के निरीह कृषकों के भाग्य में ही बदा था। वह भूमिपति थे और राज्य को उन्हे केवल 'उशुर' (१/१० भाग) देना पडता था; इस प्रकार वह सरलता से उन सुखों का उपभोग कर सकते थे, जिनकी मुसलमानेतर लोगों को कल्पना भी न हो सकती थी। हिंदुओं पर मुसलमान-प्रभुत्व का दूसरा ही प्रभाव पडा। वह प्रतिबन्धों के भार के नीचे कराहते थे। चारों ओर से अर्द्ध-पराजित एवं विरोधी जातियों से घिरे होने के कारण मुसलमान-शासक हिंदुओं के विद्रोहों एवं षड्यन्त्रों से सदैव सतर्क रहते थे और इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होने हिंदुओं का दमन करने के लिए कठोर नीति अपनाई। उन पर उनकी सामर्थ्य से अधिक कर लगाये गये; जिया बर्नी लिखता है कि अलाउद्दीन ने दोआब के हिंदुओ से उपज का ५० प्रतिशत कर के रूप मे वसूल किया। इस इतिहासकार ने मध्यकालीन धर्मान्ध व्यक्ति के समान अत्यन्त हर्षित होकर हिंदुओं की विपन्नता, दुर्भाग्य एवं अपमानित अवस्था का वर्णन किया है। उनके पास धन संचित करने के कोई साधन न रह गये थे और उनमें से अधिकाश को निर्धनता, अभावो एव आजीविका के लिए निरन्तर संघर्ष मे जीवन बिताना पड़ता था। प्रजा का रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न कोटि का था; करों का सारा भार उन्ही पर पड़ता था। राजपद उनको अप्राप्य थे। इस प्रकार उपेक्षित होकर एवं अविश्वास का पात्र बनकर, हिंदुओं की राजनीतिक प्रतिभा को विकसित होने का अवसर न मिला। मुसलमानों की शासन-नीति के परिणामस्वरूप जनता के चारित्रिक एवं आर्थिक पतन का वर्णन करते हुए प्रो० यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि—

"जब किसी वर्ग के लोगों पर सार्वजनिक रूप से कानून तथा शासकीय व्यवहार दोनों तरह से दमन एवं अत्याचार किये जाते हैं तो वे पशुओ जैसा जीवन बिताने मे ही संतोष मानने लगते है। जब कि हिंदुओं की उदार भावनाओं को पूर्णतया कुचला जा रहा था और जब कि उनके बौद्धिक संस्कार उनको अपनी अपमानित दशा का और भी तीखा अनुभव करा रहे थे, तब ऐसी स्थिति में उनसे उस उत्कृष्टतम सृजन की आशा नही की जा सकती थी, जिसके

वे समर्थ थे। उनके हिस्से तो अपने स्वामियों का लकड़हारा और कहार बनना, राजस्व की चक्की में पीसने की सामग्री जुटाना और स्वयं अपने परिश्रम के फलों को बचाने के लिए ओछी मक्कारी और चापलूसी को एकमात्र साध के रूप में अपनाना ही, आया था। ऐसी सामाजिक स्थिति में मानवीय श्रम एवं बुद्धि श्रेष्ठतम फल नहीं प्राप्त कर सकती; मानव-हृदय उच्चतम स्तर पर आरूढ़ नहीं हो सकता। हिंदू बुद्धि की अनुर्वरता और उच्च-वर्ग के हिंदुओं में नीच प्रवृत्तियाँ, भारत में मुसलमान-शासन के सबसे बड़े अभिशाप थे। इस्लामी राजनैतिक-वृक्ष, उसके फलों को देखते हुए, पूर्णतया निष्फल रहा।"[२२]

औरंगजेब के प्रसिद्ध इतिहासकार के ऊपर उद्धृत विचारों से पूर्ण सहमति प्रकट करना कठिन है। यह सत्य है कि पूर्व मध्य-काल में खूब दमन एवं रक्तपात किया गया और शासक-वर्ग शासित लोगों के सम्मान, सम्पत्ति एवं धर्म को तुच्छ समझता रहा। हिंदुओं को अपना धर्म पालने में कठिनाई हुई; उन पर अनेक कर लगाये गये; उनका अपमान भी हुआ। परन्तु हिन्दू संस्कृति ने इस्लामी राजसत्ता का विरोध कर अपनी रक्षा करने का भरसक प्रयत्न किया। यहाँ पर शासन की बुराइयों, अत्याचारों एवं अन्यायों का वर्णन करना पिष्टपेषण मात्र होगा। इस युग के इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर उनकी गहरी छाप पड़ी हुई है और इसको चलती नजर से पढ़नेवाले पाठक की दृष्टि से भी वह छिप नहीं सकते। परन्तु समग्र मुसलमान शासन के विषय में ऐसी धारणा बना लेना उचित नहीं है। अकबर तथा जहाँगीर के शासनकाल में हिंदू जाति ने महान् कवियों, दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों तथा योद्धाओं को जन्म दिया, जिन्होंने अपने युग को प्रकाशित किया। मुगल-काल से पहले भी रामानन्द, चैतन्य एवं नानक जैसे भक्तों ने संसार को मंगल एवं आशा का संदेश दिया। इस युग में कुछ प्रथम श्रेणी के कवियों ने अपनी महान् कृतियों से अपने देश के साहित्य को समृद्ध किया। यह एक आश्चर्यकारी तथ्य है कि असंख्य विदेशी आक्रमणों के आघातों को झेलते हुए भी हिंदू जाति की उर्वरता एवं शक्तिमत्ता नष्ट न हुई और रामानन्द, चैतन्य, वल्लभाचार्य, विद्यापति, तुलसीदास और टोडरमल जैसे व्यक्तियों का इस युग में जन्म लेना इस मत का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है कि मुसलमान-विजय से हिंदुओं का बौद्धिक विकास सर्वथा कुंठित हो गया था। मुसलमानों के संरक्षण की चिंता न कर, हिंदू-हृदय उच्चतम स्तर पर आरूढ़ हुआ और महानतम सत्यों को प्रकाशित करता रहा। मिथिला,

२२. सरकार—'हिस्ट्री ऑव औरंगजेब' ३, पृ० २६६-२६७।

बंगाल तथा दक्षिण के विद्वानों एवं वैष्णव मतों की कृतियाँ हिंदू जाति की ऐसी अमूल्य निधियाँ हैं, जिनसे वह अत्यधिक गौरवान्वित हुई है।

सामाजिक दशा—मुसलमान लोग राज्य के अनुकृपा-प्राप्त लोग थे।[23] दीन-परस्तों की सुख-सुविधाओं का राज्य को सदैव ध्यान रखना पड़ता था, क्योंकि उन्हीं के बल-बूते पर सब कुछ निर्भर था। समय-समय पर राज्य को उनकी धार्मिक माँगों को पूरा करना पड़ता था और उनके हितों पर सबसे पहले ध्यान देना पड़ता था। मुसलमानों में भी सामाजिक स्थिति के अनुसार भेद-भाव था और कुछ शासकों ने अभिजात वर्गीय लोगों के अतिरिक्त अन्य किसी को राजकीय पदों पर नियुक्त नहीं किया। राजसभा में शिष्टाचार के कड़े पालन के इच्छुक बलबन ने साहसा उन्नत स्थिति प्राप्त करनेवाले लोगों को कभी मुँह नहीं लगाया और एक अवसर पर उसने फखरू नामक एक व्यक्ति की भेंट को अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उच्च कुल का न था और अवैध उपायों से धनिक बन गया था।[24] मदिरापान तथा द्यूतक्रीड़ा बारहवीं एवं तेरहवीं शताब्दी में सर्वत्र व्याप्त बुराइयाँ जान पड़ती हैं। बलबन ने मादक-पेयों के निषेध की आज्ञा निकाली थी और लाहौर में 'शहीद शाहजादा' मुहम्मद के आचारण से, जो मदिरापान अत्यल्प मात्रा में करता था और अपनी उपस्थिति में अश्लील बातें न होने देता था, उसके आसपास की जनता के आचार-व्यवहार एवं चरित्र पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था। अलाउद्दीन ने भी मदिरापान रोकने के लिए कठोर उपाय अपनाये थे और अमीरों का पारस्परिक सम्पर्क रोक दिया था। उसके जीवन-काल तक इन नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करवाया जाता रहा, परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् यह प्रतिबन्ध शिथिल पड़ गये। केवल कुछ वृद्ध 'अलाई अमीर' ही मुबारकशाह के दरबार के चारित्रिक-पतन को देखकर आश्चर्य में पड़े, क्योंकि और सब इस पतन के शिकार बन चुके थे; बर्नी लिखता है कि उस समय किसी लौंडे अथवा सुन्दर हिजड़े या लौंडी का मूल्य ५०० से १००० अथवा २००० टके तक हो गया था।[25] परन्तु तुगलकशाह एवं उसके प्रतिभाशाली पुत्र मुहम्मदशाह के शासन-काल में सामाजिक-चरित्र सुधरने लगा और फीरोजशाह के समय में भी साम्राज्य के सैनिक पक्ष को छोड़कर अन्य बातों में राज्य चुका पूर्ण नैतिक पतन न हुआ; कुछ अपवादों को छोड़कर शासन-तन्त्र में प्रतिभा

२३. मुसलमानों के शासन में सामाजिक संघटन के लिए, देखिए—'एन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम' पृ० ४८४-८६।

२४. ब्रिग्ज—१, पृ० २५०।

२५. बर्नी—'तारीख़-ए-फीरोजशाही', बिब्लि० इण्डि० पृ० ३६७।

इतना धन शेष था कि मुहम्मद तुगलक अपनी योजनाओं पर विशाल धन-राशियाँ व्यय कर सका। मुहम्मद की अर्थ-नीति सर्वथा विफल हुई; उसकी प्रतीक मुद्रा की योजना न चल सकी। परन्तु इससे राज्य की साख पर कोई प्रभाव न पड़ सका, क्योंकि राज-कोष में पर्याप्त धन था और मुहम्मद ने ताँबे के सिक्कों को लौटाकर उनके बदले सोने-चाँदी के सिक्के देकर राज्य के प्रति लोगों के विश्वास को कम न होने दिया। इसके पश्चात् बीस वर्षों तक देश में दुर्भिक्ष की विभीषिका ने जनता को अत्यन्त दीन-हीन बना दिया। राज्य की ओर से दुर्भिक्ष के कष्टों को दूर करने के लिए बहुत उद्योग किया गया; बर्नी ने लिखा है कि राज्य ने किसानों में दो वर्षों में 'तकावी' के रूप में ७० लाख टंके वितरण किये।[१४] इब्नबतूता ने सुलतान की दुर्भिक्ष-नीति का विस्तृत वर्णन किया है; वह लिखता है कि लोगों को शाही भंडारों से अन्न दिया गया तथा 'फकीह' एवं 'काज़ी'[१५] लोगों को आज्ञा दी गई कि वह सुलतान के विचारार्थ प्रत्येक मुहल्ले के सहायता के योग्य व्यक्तियों की सूची बनायें। एक अन्य अन्न-संकट के अवसर पर राज्य के काजियों, अमीरों तथा अन्य कर्मचारियों ने प्रत्येक मुहल्ले में जाकर १½ रितल प्रतिदिन के हिसाब से अन्न वितरण किया।[१६] बड़े-बड़े 'खानकाहों' में दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों को भोजन दिया जाता था; इब्नबतूता लिखता है कि कुतुबद्दीन के खानकाह में, जिसका वह मुतवल्ली था, प्रतिदिन सैकड़ों लोगों को भोजन कराया जाता था; इस 'खानकाह' में ४६० सेवक कार्य करते थे।[१७] राज्य की ओर से व्यवसायों को प्रोत्साहन दिया जाता था; राज्य का एक निजी कारखाना था जिसमें ४०० रेशम के बुनने वाले काम करते थे जो हर तरह का कपड़ा बुनते थे;[१८] सुलतान की सेवा में ५०० जरी के कारीगर भी नियुक्त थे जो शाही परिवार तथा अमीरों के लिए जरीदार वस्त्र तैयार करते थे। विदेशों के साथ व्यापार होता था; मार्कोपोलो तथा इब्नबतूता ने समुद्री बन्दरगाहों का उल्लेख किया है और लिखा है कि यहाँ विदेशों के व्यापारी आया करते थे। भड़ोच एवं कालीकट प्रसिद्ध बन्दरगाह थे और कालीकट के विषय में इब्नबतूता ने लिखा है कि यहाँ संसार भर के व्यापारी क्रय-विक्रय के लिए आते थे।[१९] 'मसालिक-

का प्रभाव अवश्य प्रकट होने लगा। राजसी ठाठ-बाट के प्रदर्शन में मुसलमान शासक सदैव पूर्ण तत्पर रहे; अफीफ ने लिखा है कि शुक्रवार की सार्वजनिक प्रार्थना के पश्चात् लगभग दो या तीन सहस्र संगीतज्ञ, पहलवान, कहानी सुनानेवाले आदि लोग राजकीय प्रासाद में जनता का मनोविनोद करने के लिए एकत्र होते थे।[२६] दास-प्रथा का प्रचलन था और खान-ए-जहाँ मकबूल जैसे योग्य दास राज्य में उच्चतम पद प्राप्त कर सकते थे। धन की अधिकता हो जाने के कारण मुसलमानों पर धर्म का प्रभाव कम होने लगा था और उनमें अन्ध-विश्वास एवं अज्ञान बढ़ने लगा था। फीरोज ने अपनी 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में लिखा है कि उसने दीन के विपरीत चलने-वाले अनेक सम्प्रदायों का कठोरता से दमन किया था और उनके नेताओं को या तो कारागार में डलवा दिया था अथवा मरवा दिया था। स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर बन्धन लगाये जाने लगे थे; उनको नगर से बाहर संतों की दरगाहों की यात्रा के लिए भी न जाने दिया जाता था और फीरोज ने इस आज्ञा का उल्लंघन करनेवाली स्त्रियों के लिए कठोर दंड निर्धारित कर उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट की थी।[२७]

राजनैतिक शक्ति हाथ से निकल जाने के कारण हिंदुओं का नैतिक पतन होने लगा था। ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरूनी ने उनके विषय में लिखा था कि उनका दम्भ एवं आत्म-प्रवंचना इतने बढ़े हुए हैं कि यदि कोई उनको खुरासान या फारस में किसी विज्ञान अथवा विद्वान् के विषय में बतलाता है तो वह उसको मूर्ख और झूठा समझते हैं।[२८] वह मुसलमानों से घृणा करते थे और उनको 'म्लेच्छ' कहते थे; विदेशियों के साथ वह किसी प्रकार का विवाह अथवा खान-पान आदि का संबंध न रखते थे और समझते थे कि ऐसा करने से वह पतित हो जायेंगे।[२९] परन्तु सत्य एवं आत्म-सम्मान के प्रति उनका बहुत आग्रह था और उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता अब भी अक्षुण्ण थी। रशीद-उद-दीन ने अपने ग्रंथ 'जाम-उत-तवारीख'[३०] में हिंदुओं की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि वे स्वभावतः न्यायप्रिय हैं और अपने आचरणों में कभी इसका त्याग नहीं करते। अपने व्यवसाय में श्रद्धा,

---

२६. शम्स-ए-सिराज अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० ३६७।

२७. 'फतूहात'–इलियट, ३, पृ० ३७०-८०।

२८. सख़ाउ—'अलबरूनी का भारत', १, पृ० १९-२०।

२९. वही—पृ० १९।

३०. रशीदुद्दीन ने १३१० ई० में यह ग्रंथ पूर्ण किया था।

सचाई एवं विश्वास के लिए वे प्रसिद्ध हैं और उनके इन गुणों से आकर्षित होकर प्रत्येक दिशा से लोग उनके पास आते हैं, जिससे उनका देश समृद्ध और सम्पन्न है। मुसलमानों की विजय ने हिंदुओं की इस सामाजिक श्रेष्ठता पर आघात किया। यद्यपि हिंदुओं के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक नेता इन परिवर्तनों से कुछ भी प्रभावित न होकर अपनी श्रेष्ठता बनाये रहे, परन्तु जन-साधारण को शासक-परिवर्तन का कटु अनुभव होने लगा। राजनैतिक पराधीनता के बाद सामाजिक पतन प्रारम्भ हुआ। मुसलमान-शासक हिंदुओं को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझते रहे। कुछ अपवादों को छोड़कर, उन्हें राज्य में कभी कोई उच्च पद न दिया गया और 'जजिया' देना स्वीकार करने पर ही उन्हें जीवित रहने का अधिकार दिया गया। अलाउद्दीन के शासन-काल में दोआब के हिंदुओं के साथ, राजनैतिक कारणों से, अत्यन्त कठोरता का व्यवहार किया गया और खूतों, बलाहारों, चौधरियों तथा मुकद्दमों को घोर विपन्नावस्था में डाल दिया गया। मुसलमान राज्य में हिंदुओं की स्थिति के विषय में काजी मुगीसुद्दीन के विचार जो एक पिछले परिच्छेद में बताये जा चुके हैं, साधारणतया प्रत्येक मध्यकालीन मुसलमान धर्माचार्य के इस विषय के विचारों के अनुरूप हैं और सामान्यतया प्रत्येक मुसलमान शासक इन विचारों के अनुसार चलने का प्रयत्न करता था। "कोई हिंदू सिर न उठा सकता था और उनके घरों में सोने या चाँदी के टके अथवा जीतल का कोई चिह्न न दिखाई देता था, और चौधरियों तथा खूतों के पास घोड़े की सवारी करने, शस्त्र जुटाने, सुन्दर वस्त्र प्राप्त करने अथवा पान-सुपारी का भोग करने के पर्याप्त साधन न रह गये थे।" बर्नी लिखता है कि इन लोगों की दशा इतनी हीन हो गई थी कि इनकी स्त्रियों को मुसलमानों के घरों में काम-काज करने के लिए जाना पड़ता था।[31] राज्य धर्म-परिवर्तन को प्रोत्साहन देता था। कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के शासन का वर्णन करते हुए इब्नबतूता ने लिखा है कि इस्लाम-ग्रहण करने के इच्छुक हिंदू को सुलतान के सामने उपस्थित किया जाता था और सुलतान उसको बहुमूल्य वस्त्र और सोने के कंकण प्रदान करता था।[32] कट्टर मुसलमानों में हिंदुओं के प्रति घृणा का भाव इतना अधिक था कि मुबारकशाह के शासन-काल में अलाउद्दीन के समय के कठोर नियमों में शिथिलता आ जाने के कारण तथा खुसरो के पक्षपात के कारण हिंदुओं की दशा में थोड़ा सा सुधार हुआ देखकर बर्नी ने इस पर दुख प्रकट

३१. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० २८८।

३२. इब्नबतूता—पेरिस संस्क० ३, पृ० १९७-९८।

का प्रभाव अवश्य प्रकट होने लगा। राजसी ठाठ-बाट के प्रदर्शन में मुसलमान शासक सदैव पूर्ण तत्पर रहे; अफीफ ने लिखा है कि शुक्रवार की सार्वजनिक प्रार्थना के पश्चात् लगभग दो या तीन सहस्र संगीतज्ञ, पहलवान, कहानी सुनानेवाले आदि लोग राजकीय प्रासाद में जनता का मनोविनोद करने के लिए एकत्र होते थे।[२६] दास-प्रथा का प्रचलन था और खान-ए-जहाँ मकबूल जैसे योग्य दास राज्य में उच्चतम पद प्राप्त कर सकते थे। धन की अधिकता हो जाने के कारण मुसलमानों पर धर्म का प्रभाव कम होने लगा था और उनमें अन्ध-विश्वास एवं अज्ञान बढ़ने लगा था। फीरोज ने अपनी 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में लिखा है कि उसने दीन के विपरीत चलनेवाले अनेक सम्प्रदायों का कठोरता से दमन किया था और उनके नेताओं को या तो कारागार में डलवा दिया था अथवा मरवा दिया था। स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर बन्धन लगाये जाने लगे थे; उनको नगर से बाहर संतों की दरगाहों की यात्रा के लिए भी न जाने दिया जाता था और फीरोज ने इस आज्ञा का उल्लंघन करनेवाली स्त्रियों के लिए कठोर दंड निर्धारित कर उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट की थी।[२७]

राजनैतिक शक्ति हाथ से निकल जाने के कारण हिंदुओं का नैतिक पतन होने लगा था। ग्यारहवीं शताब्दी में अलबरूनी ने उनके विषय में लिखा था कि उनका दम्भ एवं आत्म-प्रवंचना इतने बढ़े हुए हैं कि यदि कोई उनको खुरासान या फारस में किसी विज्ञान अथवा विद्वान् के विषय में बतलाता है तो वह उसको मूर्ख और झूठा समझते हैं।[२८] वह मुसलमानों से घृणा करते थे और उनको 'म्लेच्छ' कहते थे; विदेशियों के साथ वह किसी प्रकार का विवाह अथवा खान—पान आदि का संबंध न रखते थे और समझते थे कि ऐसा करने से वह पतित हो जायेंगे।[२९] परन्तु सत्य एवं आत्म-सम्मान के प्रति उनका बहुत आग्रह था और उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता अब भी अक्षुण्ण थी। रशीद-उद-दीन ने अपने ग्रंथ 'जाम-उत-तवारीख'[३०] में हिंदुओं की बहुत प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि वे स्वभावतः न्यायप्रिय हैं और अपने आचरणों में कभी इसका त्याग नहीं करते। अपने व्यवसाय में श्रद्धा,

२६. शम्स-ए-सिराज अफीफ—'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० ३६७।

२७. 'फतूहात'—इलियट, ३, पृ० ३७०-८०।

२८. सखाउ—'अलबरूनी का भारत', १, पृ० १९-२०।

२९. वही—पृ० १९।

३०. रशीदुद्दीन ने १३१० ई० में यह ग्रंथ पूर्ण किया था।

सचाई एवं विश्वास के लिए वे प्रसिद्ध है और उनके इन गुणों से आकर्षित होकर प्रत्येक दिशा से लोग उनके पास आते है, जिससे उनका देश समृद्ध और सम्पन्न है। मुसलमानों की विजय ने हिंदुओं की इस सामाजिक श्रेष्ठता पर आघात किया। यद्यपि हिंदुओं के बौद्धिक एव आध्यात्मिक नेता इन परिवर्तनों से कुछ भी प्रभावित न होकर अपनी श्रेष्ठता बनाये रहे, परन्तु जन-साधारण को शासक-परिवर्तन का कटु अनुभव होने लगा। राजनैतिक पराधीनता के बाद सामाजिक पतन प्रारम्भ हुआ। मुसलमान-शासक हिंदुओं को अपना सबसे बडा शत्रु समझते रहे। कुछ अपवादों को छोड़कर, उन्हें राज्य में कभी कोई उच्च पद न दिया गया और 'जजिया' देना स्वीकार करने पर ही उन्हे जीवित रहने का अधिकार दिया गया। अलाउद्दीन के शासन-काल मे दोआब के हिंदुओ के साथ, राजनैतिक कारणों से, अत्यन्त कठोरता का व्यवहार किया गया और खूतों, बलाहारो, चौधरियो तथा मुकद्दमो को घोर विपन्नावस्था मे डाल दिया गया। मुसलमान राज्य मे हिंदुओं की स्थिति के विषय मे काजी मुगीसुद्दीन के विचार जो एक पिछले परिच्छेद में बताये जा चुके है, साधारणतया प्रत्येक मध्यकालीन मुसलमान धर्माचार्य के इस विषय के विचारों के अनुरूप है और सामान्यतया प्रत्येक मुसलमान शासक इन विचारों के अनुसार चलने का प्रयत्न करता था। "कोई हिंदू सिर न उठा सकता था और उनके घरों में सोने या चाँदी के टके अथवा जीतल का कोई चिह्न न दिखाई देता था, और चौधरियों तथा खूतों के पास घोड़े की सवारी करने, शस्त्र जुटाने, सुन्दर वस्त्र प्राप्त करने अथवा पान-सुपारी का भोग करने के पर्याप्त साधन न रह गये थे।" बर्नी लिखता है कि इन लोगों की दशा इतनी हीन हो गई थी कि इनकी स्त्रियों को मुसलमानों के घरों में काम-काज करने के लिए जाना पड़ता था।[३१] राज्य धर्म-परिवर्तन को प्रोत्साहन देता था। कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के शासन का वर्णन करते हुए इब्नबतूता ने लिखा है कि इस्लाम-ग्रहण करने के इच्छुक हिंदू को सुलतान के सामने उपस्थित किया जाता था और सुलतान उसको बहुमूल्य वस्त्र और सोने के कंकण प्रदान करता था।[३२] कट्टर मुसलमानों में हिंदुओं के प्रति घृणा का भाव इतना अधिक था कि मुबारकशाह के शासन-काल में अलाउद्दीन के समय के कठोर नियमों में शिथिलता आ जाने के कारण तथा खुसरो के पक्षपात के कारण हिंदुओं की दशा में थोड़ा सा सुधार हुआ देखकर बर्नी ने इस पर दुख प्रकट

---

३१. बर्नी—'तारीख-ए-फीरोजशाही' बिब्लि० इण्डि० पृ० २८८।

३२. इब्नबतूता—पेरिस सस्क० ३, पृ० १९७-९८।

करते हुए लिखा है कि "हिन्दुओं को पुनः आनन्द एवं सुख मिलने लगा और वह खुशी से आपे से बाहर हो गये।"[33] प्रथम दो तुगलक शासकों ने हिन्दुओं का नियमित रूप से दमन न किया था,[34] परन्तु फीरोज ने उनकी नीति के विपरीत चलना प्रारम्भ किया। उसने ब्राह्मणों तक पर, जो इससे पूर्व 'जजिया' कर से मुक्त थे, जजिया लगाकर अपना धार्मिक उत्साह प्रकट किया। अफीफ लिखता है कि दिल्ली में यह कर तीन प्रकार का था—(१) चालीस टके (२) बीस टके (३) दस टके। जब ब्राह्मणों ने इस कर का विरोध किया तो सुलतान ने इसकी दर घटा दी।[35] फीरोज की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली-साम्राज्य में जो अव्यवस्था फैली, उससे हिन्दुओं ने बहुत लाभ उठाया, परन्तु लोदी-वंश के शासन में उनकी स्थिति पुनः चिन्तनीय हो गई। सिकन्दर ने उनको दण्डित करना प्रारम्भ किया और आर्थिक संकट न होने पर भी साम्राज्य में उनकी स्थिति दासों जैसी हो गई।

इब्नबतूता ने चौदहवीं शताब्दी के भारत का बहुत रोचक वर्णन किया है। उसके वर्णन से तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों पर बहुत प्रकाश पड़ता है। उस काल में विद्वानों की प्रतिष्ठा बहुत कम हो गई थी और न्याय में कठोर मुहम्मद तुगलक शेखों तथा मुल्लाओं को भी दुर्व्यवहार के लिए दण्ड देता था। दास-प्रथा खूब प्रचलित थी, परन्तु राज्य उनकी मुक्ति की प्रथा को प्रोत्साहित करता था।[36] दासियाँ रखना उस समय सभ्यता का चिह्न समझा जाता था; प्रसिद्ध कवि बदर-ए-चाच को एक रूपवती एवं गुण-सम्पन्ना दासी

३३. वही, पृ० ३८५।

३४. इब्नबतूता ने लिखा है कि एक बार मुहम्मद तुगलक ने एक हिन्दू को १७ करोड़ में दौलताबाद का ठेका दिया था।

३५. इलियट ने मूल के अनुवाद में गलती की है। उसने लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति पर दस टके और पचास 'कनियाँ' कर निर्धारित किया गया था; परन्तु यह कथन मूल के अनुरूप नहीं है। स्मिथ '(ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ० २५१) ने इलियट के अनुवाद का अनुसरण कर लिखा है कि यह कर दस टके और पचास जीतल स्थित किया गया था; यह कथन अशुद्ध है। 'अफीफ' के कलकत्ता की प्रति का पाठ यह है—

इसका अर्थ है कि पचास 'कनियों' के दस टके लिए जाने चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक टके में १४ कनियाँ कम की गई; यह छूट सचमुच पर्याप्त न थी। कलकत्ता की प्रति के पाठ में 'टका' शब्द के ऊपर 'हमजा' लगा है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि एक टके के स्थान पर ५० कनियाँ देनी होंगी। यदि 'हमजा' मूल में लगा हो तो अर्थ यह लगेगा कि १० टके के स्थान पर केवल ५० कनियाँ देनी पड़ेंगी। यह वास्तव में संतोषजनक कमी है।

३६. इब्नबतूता ३ पृ० २३६।

खरीदने के लिए ६०० दीनार व्यय करने पड़े थे। इस यात्री ने हिन्दुओं के अतिथि सत्कार की बहुत प्रशंसा की है और लिखा है कि वर्ण-व्यवस्था का कठोरता से पालन किया जाता था। हिन्दुओं को मुसलमानों से निम्न स्तर का समझा जाता था। जब कोई हिन्दू सुलतान के लिए दरबार में भेंट लाता था तो 'हाजिब' पुकार कर कहते थे 'हदाक अल्लाह' जिसका अर्थ होता है 'भगवान् तुम्हें सत्य-पथ पर लायें।' चारित्रिक अपराधों के लिए कठोर दंड दिया जाता था और राजकीय परिवार के सदस्यों को भी साधारण लोगों के समान दण्ड दिये जाते थे। राजकुमार मसऊद की माता को व्यभिचार के अपराध में पत्थरों की मार से मारा गया था। मदिरापान का निषेध था; 'मसालिक-अल-अब्सार' के लेखक का कहना है कि हिन्दुस्तान के लोग मदिरापान में रुचि नहीं रखते और पान-सुपारी से ही सन्तोष कर लेते हैं।[३७] इसी लेखक ने आगे लिखा है कि लोगों का धन-संग्रह में बहुत चाव है और यदि किसी से उसके धन की मात्रा के विषय में पूछा जाये तो वह उत्तर देता है कि "मैं नहीं जानता, परन्तु मैं इस कुल में दूसरा या तीसरा व्यक्ति हूँ जिसने किसी पूर्वज द्वारा किसी तहखाने अथवा गड्ढे में रखे गये कोष को बढ़ाने का प्रयत्न किया है और मैं नहीं जानता कि यह धन कितना हो गया है।"[३८] लोग जमीन में धन गाड देते थे और दैनिक लेन-देन में सिक्कों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की मुद्रा न लेते थे। इब्नबतूता ने चौदहवीं शताब्दी में प्रचलित ऋण-सम्बन्धी विधि का रोचक वर्णन किया है और मार्कोपोलो के वर्णन से उसके वर्णन का समर्थन होता है। साहूकार लोग अपना रुपया वसूल करने के लिए सुलतान की सहायता लेते थे। जब किसी बड़े अमीर से सरलता से ऋण वसूल न हो पाता था तो ऋणदाता उसका मार्ग रोककर खड़ा हो जाता था और सुलतान की सहायता की याचना करता हुआ उच्च स्वर से पुकार करता था। इस अवांछित स्थिति में पड़कर या तो अमीर तत्काल ऋण चुका देता था अथवा आगे की किसी तिथि का वचन देता था। कभी-कभी स्वयं सुलतान हस्तक्षेप कर साहूकार का धन दिलवा देता था।[३९] सती और आत्म-बलिदान की प्रथा भी प्रचलित था, परन्तु सती होने के लिए सुलतान से स्वीकृति लेनी

---

३७. 'मसालिक' इलियट, ३, पृ० ५८१।

३८. वही, पृ० ५८४। मोरलैंद—'इण्डिया एण्ड दि डेथ ऑव अकबर' पृ० २८४।

उसका कहना है कि धन-संग्रह प्रधानतया हिन्दू-सभ्यता का लक्षण है।

३९. इब्नबतूता, ३, पृ० ४११। मूल-मार्को पोलो" २, पृ० २७६।८०।

स्वर्ण-मुद्राएँ रखकर, शाही शिविर के बाहर एकत्र जन-
की गई थी।[4] उसके शासन-काल में भूमि-कर को
या गया और नायब वज़ीर-ए-ममालिक की हिन्दुओं को
र देने की नीति ने समस्त दोआब को पूर्णतया अधीन
ओं में उपज का ५० प्रतिशत भूमिकर के रूप में ले
इसके अतिरिक्त गृह-कर, चारणभूमि-कर जैसे अनेक
े थे।[5] करों का भार किसानों को ही सहन करना
ग किसान हिन्दू थे। संख्या में कम होने के कारण
सार्वजनिक अथवा सैनिक विभागों में नियुक्ति पा जाते
एवं मुकद्दमों की दशा अत्यन्त हीन हो गई थी और
पन्नावस्था पर बहुत संतोष प्रकट किया है।[6] परन्तु
स्था का सबसे सफल कार्य बाजार-भावों का नियन्त्रण
माव इतने गिर गये थे कि कोई सिपाही, अपने
, वर्ष भर २३४ टकों में सुखपूर्वक रह सकता था, इन
व्यय २० टके में भी कम आता था, जितने में कि
खर्च पूरा नहीं होता। शाही भंडारों में अनाज एकत्र
अन्न-कष्ट के समय सस्ते भाव पर जनता को दिया
लेखता है कि उसने स्वयं अपनी आँखों से अलाउद्दीन
ों को देखा था। परन्तु राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था के
न होने के कारण यह अर्थ-व्यवस्था अलाउद्दीन की
हो गई। 'बाजार' के लोग इससे अत्यन्त प्रसन्न हुए,
भावों पर अपना माल बेच सकते थे।[7] अब नौकर
लगे। जो नौकर पहले दस या बारह टके में मिल
र, अस्सी या सौ टके तक माँगने लगा। अलाउद्दीन
ग्त हो गये; वर्षा ने वस्तुओं की महँगाई पर दुष्प
तना होने पर भी देश में अन्नाभाव नहीं हुआ और
मी न हुई। नासिरुद्दीन दूसरों ने अमीरों को अपना
र धन को पानी की तरह बहाया था, फिर भी

पड़ती थी।" [illegible] थी और [illegible] समझी जाती थी। यदि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई अपराध सिद्ध हो जाता तो उसे कोड़े लगाकर गधे पर बैठाकर घुमाया जाता था।" मध्यकालीन लोगों की भाँति हिन्दुस्तान के लोग भी मंत्र-तंत्र, चमत्कार आदि में विश्वास करते थे और मुसलमान भी हिन्दू ज्योतिषियों से चमत्कार देखा करते थे। सम्पन्न लोग दान देने में बहुत उत्साही थे। लोग 'खानकाहों' में दान देते थे, जहाँ निर्धनों को भोजन दिया जाता था। यद्यपि कुरान के बहुपत्नित्व का मुसलमान समाज पर बलात्कारी प्रभाव पड़ा, परन्तु ज्ञात होता है कि लोग वैवाहिक-बन्धन की परिपाटी को पवित्र मानते न थे। इब्नबतूता जैसे व्यक्ति ने भी अत्यन्त उत्तरदायित्व-शून्य ढंग से चार से अधिक विवाह किये और फिर एक-एक चार पत्नियों को तलाक दे दिया।"[41] स्त्री-शिक्षा सर्वथा उपेक्षित न थी; इब्नबतूता ने लिखा है कि हनोर में उसने लड़कियों के लिए १३ और लड़कों के लिए २३ विद्यालय देखे, जिनसे उसको बहुत आनन्दपूर्ण आश्चर्य हुआ।"[43]

यद्यपि स्त्रियों का बहुत सम्मान किया जाता था, परन्तु कन्या का जन्म अशुभ समझा जाता था। प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो का अपनी कन्या के जन्म पर दुःख प्रकट करना इसका एक उदाहरण है। स्त्रियों के लिए परदे में रहना ही उचित समझा जाता था। अमीर खुसरो ने अपनी पुत्री को उपदेश दिया था कि वह कभी परदे का साथ न छोड़े और दरवाजे की तरफ पीठ फेरकर तथा दीवाल की ओर मुँह कर बैठे, जिससे कोई उसको देख न सके।"[44]

४०. इब्नबतूता, २, पृ० १३७-३६। लोग गंगा में डूबकर प्राणत्याग करना अत्यन्त धार्मिक कृत्य समझते थे, इसको 'जल-समाधि' कहते थे। इब्नबतूता से पहले के लेखक दिमिश्की ने डूबकर प्राण देने की प्रथा का उल्लेख किया है। जैनों में 'सल्लेखन' की प्रथा भी इसी दृष्टि से चली थी; इसके अनुसार यह भोजन की मात्रा घटाते हुए उसका पूर्ण त्याग कर प्राण-त्याग करते थे। 'कॉस्मोग्राफी दे शमसुद्दीन, अबू-अब्दुल्ला मोहम्मद' दिमिश्की पृ० १७४। नूरुल हसन—'माइग्रेशन एण्ड [illegible] फ़ाम दि [illegible]' पृ० १८५। अरब लेखक अबू जैद ने भी आत्म-बलिदान की प्रथा का उल्लेख किया है।

४१. इब्नबतूता, ३, पृ० ४४१।

४२. इब्नबतूता, ३, पृ० ३३७-३८। उसने मालदिव द्वीप-समूह में चार ब्याह किये; इससे पहले वह जलालुद्दीन अहसनशाह की पुत्री से विवाह कर चुका था। इसको इब्नबतूता ने त्याग दिया था, क्योंकि उसने एक स्थान पर लिखा है कि, "मैं नहीं जानता कि उसका और उससे उत्पन्न कन्या का क्या हुआ।"

४३. इब्नबतूता, ४, पृ० ६७।

४४. इस कवि ने अपने "लैला मजनूँ" काव्य में कन्या-जन्म पर अपनी

राज-कवि के इन संकुचित विचारों पर खेद अवश्य होता है, परन्तु स्त्रियों के चरित्र को शुद्ध रखने के प्रसंग में एक दरबारी कवि द्वारा चर्खे का उल्लेख आश्चर्य और आनन्दजनक है।

दक्षिण के लोगों के आचार-व्यवहार उत्तर-भारत के निवासियों से बहुत कुछ भिन्न थे। अनेक अभिलेखों में अग्नि-परीक्षा आदि द्वारा अपराध-निर्णय का उल्लेख है। आत्म-बलिदान तथा सती-प्रथा वहाँ भी प्रचलित थी। वहाँ के सभी शासक-वंशों ने सती-प्रथा को मान्यता दी थी और इस नृशंस प्रथा के अनेक प्रस्तर-स्मारक आज भी इसका स्मरण दिलाने के लिए विद्यमान हैं। लोग आत्म-बलिदान की शपथ लेते थे और अनेक सरदार अपनी सेना की विजय होने पर अपने सिर की बलि चढ़ाने की शपथ लेते थे।[४५] ऐसे अनेक स्त्री-पुरुषों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने किसी शपथ के अनुसार अपने सिर की बलि चढ़ाई थी। ब्राह्मणों का बहुत आदर किया जाता था और उनसे कर के रूप में आनेवाला धन केवल स्पर्श कर उनको लौटा दिया जाता था। विद्या-प्राप्ति के लिए खूब परिश्रम किया जाता था और स्मरण-शक्ति के अनेक चमत्कार देखने में आते थे। १२२३ ई० में विश्वनाथ नामक एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है जो दोनों हाथों से लिख लेता था और ऐसे ही अनेक कार्यों से लोगों को चकित कर देता था।[४६] इब्नबतूता ने अपने समय के मालाबार के लोगों के विषय में लिखा है कि इन लोगों में किसी व्यक्ति की संतान अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं होती। पुरुष-संतति तक इस अधिकार से वंचित रहती है और बहिन के पुत्र ही उत्तराधिकारी होते हैं।[४८] अली आदिल-शाह के समकालीन जैनुद्दीन नामक इतिहास-लेखक ने भी इस बात की पुष्टि की है।[४९] उसने स्पष्ट लिखा है कि नैयर स्त्रियों में बहु-पति-प्रथा प्रचलित है

निराशा इन शब्दों में व्यक्त की है, "मैं चाहता था, कि तुम्हारा जन्म ही न होता और यदि होता भी तो पुत्र के रूप में। कोई भाग्य का विधान नहीं बदल सकता। परन्तु मेरे पिता ने भी एक स्त्री से जन्म लिया और मुझे भी तो एक स्त्री ने ही पैदा किया।" कवि ने अपनी पुत्री को जो सीख दी वह भी "लैला मजनूँ" काव्य में है।

शिब्ली—'शेर-उल-अजम' भा० २, पृ० १२३।

४५. लुइस राइस, 'माइसोर एण्ड कुर्ग'—पृ० १८७।

४६. वहीं, पृ० १८७।

४७. वही, पृ० १९०-९१।

४८. इब्नबतूता, ४, पृ० ७६।

४९. जैनुद्दीन—'हिस्टोरिया दोस पोर्चुगीसेस नो मालाबार' (अरबी पाठ) पृ० ३०।

पड़ती थी।[40] गधे की सवारी आजकल की भाँति घृणास्पद समझी जाती थी। यदि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई अपराध सिद्ध हो जाता तो उसे कोड़े लगाकर गधे पर बैठाकर घुमाया जाता था।[41] मध्यकालीन योरोप की भाँति हिन्दुस्तान के लोग भी मन्त्र-तन्त्र, चमत्कार आदि में विश्वास करते थे और सुल्तान भी हिन्दू जोगियों के चमत्कार देखा करता था। सम्पन्न लोग दान देने में बहुत उत्साही थे। लोग 'खानकाहों' में दान देते थे, जहाँ निर्धनों को भोजन दिया जाता था। यद्यपि सुल्तान की सच्चरित्रता का मुसलमान समाज पर कल्याणकारी प्रभाव पड़ा, परन्तु जान पड़ता है कि लोग वैवाहिक-बंधन की पवित्रता को अधिक मान्यता न देते थे। इब्नबतूता जैसे व्यक्ति ने भी अत्यन्त उत्तरदायित्व-शून्य ढंग से चार से अधिक विवाह किये और फिर एक-एक चारों पत्नियों को तलाक दे दिया।[42] स्त्री-शिक्षा सर्वथा उपेक्षित न थी; इब्नबतूता ने लिखा है कि हनोर में उसने लड़कियों के लिए १३ और लड़कों के लिए २३ विद्यालय देखे, जिनसे उसको बहुत आनन्दपूर्ण आश्चर्य हुआ।[43]

यद्यपि स्त्रियों का बहुत सम्मान किया जाता था, परन्तु कन्या का जन्म अशुभ समझा जाता था। प्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो का अपनी कन्या के जन्म पर दुःख प्रकट करना इसका एक उदाहरण है। स्त्रियों के लिए परदे में रहना ही उचित समझा जाता था। अमीर खुसरो ने अपनी पुत्री को उपदेश दिया था कि वह कभी चर्खे का साथ न छोड़े और दरवाजे की तरफ पीठ फेरकर तथा दीवाल की ओर मुँह कर बैठे, जिससे कोई उसको देख न सके।[44] इस

४०. इब्नबतूता, ३, पृ० १३७-३८। लोग गंगा में डूबकर प्राणत्याग करना अत्यन्त धार्मिक कृत्य समझते थे, इसको 'जल-समाधि' कहते थे। इब्नबतूता से पहले के लेखक दिमिश्की ने डूबकर प्राण देने की प्रथा का उल्लेख किया है। जैनों में 'सल्लेखन' की प्रथा भी इसी दृष्टि से चली थी; इसके अनुसार वह भोजन की मात्रा घटाते हुए उसका पूर्ण त्याग कर प्राण-त्याग करते थे।

'कॉस्मोग्राफी दे शमसुद्दीन, आबू-अब्दुल्ला मोहम्मद' दिमिश्की पृ० १७५।

सूडम राइस—'माइसोर एण्ड कुर्ग फ्राम दि इन्सक्रिपशन्स' पृ० १९५।

अरब लेखक आबू जैद ने भी आत्म-बलिदान की प्रथा का उल्लेख किया है।

४१. इब्नबतूता, ३, पृ० ४४१।

४२. इब्नबतूता, ३, पृ० ३३७-३८।

उसने मालदिव द्वीप-समूह में चार ब्याह किये; इससे पहले वह जलालुद्दीन अहसनशाह की पुत्री से विवाह कर चुका था। इसको इब्नबतूता ने त्याग दिया था, क्योंकि उसने एक स्थान पर लिखा है कि, "मैं नहीं जानता कि उसका और उससे उत्पन्न कन्या का क्या हुआ।"

४३. इब्नबतूता, ४, पृ० ६७।

४४. इस कवि ने अपने "लैला मजनूँ" काव्य में कन्या-जन्म पर अपनी

राज-कवि के इन संकुचित विचारों पर खेद अवश्य होता है, परन्तु स्त्रियों के चरित्र को शुद्ध रखने के प्रसग मे एक दरबारी कवि द्वारा चर्खे का उल्लेख आश्चर्य और आनन्दजनक है।

दक्षिण के लोगों के आचार-व्यवहार उत्तर-भारत के निवासियों से बहुत कुछ भिन्न थे। अनेक अभिलेखों मे अग्नि-परीक्षा आदि द्वारा अपराध-निर्णय का उल्लेख है। आत्म-बलिदान तथा सती-प्रथा वहाँ भी प्रचलित थी। वहाँ के सभी शासक-वशो ने सती-प्रथा को मान्यता दी थी और इस नृशंस प्रथा के अनेक प्रस्तर-स्मारक आज भी इसका स्मरण दिलाने के लिए विद्यमान है। लोग आत्म-बलिदान की शपथ लेते थे और अनेक सरदार अपनी सेना की विजय होने पर अपने सिर को बलि चढाने की शपथ लेते थे।[४५] ऐसे अनेक स्त्री-पुरुषो का उल्लेख मिलता है जिन्होंने किसी शपथ के अनुसार अपने सिर की बलि चढाई थी। ब्राह्मणों का बहुत आदर किया जाता था और उनसे कर के रूप में आनेवाला धन केवल स्पर्श कर उनको लौटा दिया जाता था। विद्या-प्राप्ति के लिए खूब परिश्रम किया जाता था और स्मरण-शक्ति के अनेक चमत्कार देखने मे आते थे। १२२३ ई० में विश्वनाथ नामक एक व्यक्ति का उल्लेख मिलता है जो दोनों हाथो से लिख लेता था और ऐसे ही अनेक कार्यो से लोगों को चकित कर देता था।[४६] इब्नबतूता ने अपने समय के मालाबार के लोगो के विषय मे लिखा है कि इन लोगों मे किसी व्यक्ति की संतान अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नही होती। पुरुष-संतति तक इस अधिकार से वंचित रहती है और बहिन के पुत्र ही उत्तराधिकारी होते हैं।[४८] अली आदिल-शाह के समकालीन जैनुद्दीन नामक इतिहास-लेखक ने भी इस बात की पुष्टि की है।[४९] उसने स्पष्ट लिखा है कि नैयर स्त्रियों मे बहु-पति-प्रथा प्रचलित है

निराशा इन शब्दों में व्यक्त की है, "मैं चाहता था, कि तुम्हारा जन्म ही न होता और यदि होता भी तो पुत्र के रूप मे। कोई भाग्य का विधान नही बदल सकता। परन्तु मेरे पिता ने भी एक स्त्री से जन्म लिया और मुझे भी तो एक स्त्री ने ही पैदा किया।" कवि ने अपनी पुत्री को जो सीख दी वह भी "लैला मजनूं" काव्य में है।

शिब्ली—'शेर-उल-अजम' भा० २, पृ० १२३।

४५. लूइस राइस, 'माइसोर एण्ड कुर्ग—पृ० १८७।

४६. वही, पृ० १८७।

४७. वही, पृ० १९०-९१।

४८. इब्नबतूता, ४, पृ० ७६।

४९. जैनुद्दीन—'हिस्टोरिया दोस पोर्चुगीसेस नो मालाबार' (अरबी पाठ) पृ०३०।

और इसको अनैतिक नही समझा जाता तथा इसके कारण झगड़े नही होते। केवल ब्राह्मण-स्त्रियाँ परदा करती थीं और नैयर स्त्रियाँ स्वच्छन्द विचरण करती थी।[५०] इब्नबतूता के यात्रा-वृतान्त से विदित होता है कि मालाबार में दण्ड-विधान बहुत कठोर था और छोटे-छोटे अपराधों के लिए भी कठोर दण्ड दिये जाते थे। चोरी के लिए बहुत कठोर दण्ड दिया जाता था और कभी-कभी तो नारियल तक की चोरी के लिए प्राण-दण्ड दिया जाता था।[५१]

आर्थिक दशा—मुसलमानों की विजय के प्रारम्भिक दिनों में इन विजेताओं का ध्यान लूटपाट मे ही लगा रहा; बैहाकी ने उस अपार सम्पत्ति का वर्णन किया है जो महमूद गजनवी भारत से लूटकर ले गया था। प्रारम्भिक मुसलमान शासक नये-नये प्रदेशों की विजय में ही व्यस्त रहे। बलवन प्रथम मुसलमान शासक था जिसने आतरिक शान्ति, व्यवस्था एवं आर्थिक दशा के सुधार की ओर ध्यान दिया। कम्पिल तथा पटियाली प्रदेशों को डाकुओं और लुटेरों से मुक्त कर दिया था, जिससे वहाँ खेती तथा वाणिज्य व्यवसाय की उन्नति होने लगी और व्यापारी लोग निश्शक होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक अपना माल ले जाने लगे।[५२] खिलजी-शासन मे आर्थिक दशा मे मौलिक परिवर्तन हुए; इनका वर्णन पिछले परिच्छेद मे हो चुका है। फीरोज के शासन-काल मे एक भयकर दुर्भिक्ष हुआ; बर्नी ने लिखा है कि इस समय गेहूँ का भाव १ जीतल प्रति सेर हो गया था और शिवालिक के पर्वतीय-प्रदेश में स्थिति इतनी असह्य हो गई थी कि वहाँ के हिन्दू दिल्ली चले आये और उनमे से बीस या तीस ने, अन्नकष्ट से तग आकर यमुना में डूबकर प्राणत्याग कर दिया था।[५३] परन्तु विदित होता है कि सरकार ने अन्न-कष्ट दूर करने के लिए प्रयत्न नही किया। इन मुसलमान-शासकों मे अलाउद्दीन बहुत साहसी अर्थ-शास्त्रज्ञ और राजस्व-नियामक था। विश्व-विजय की अत्यन्त उच्च आकाक्षा से प्रेरित होकर उसने जिस सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था की स्थापना की वह मध्ययुगीन राजनीति मे अत्यन्त आश्चर्यकारिणी सफलता है। उस समय देश में धन की कमी न थी और राज्य-भार ग्रहण करने के पश्चात् जब अलाउद्दीन ने दिल्ली मे प्रवेश किया तो उसने खुले हाथों धन की बखेर की। एक

---

५०. वही, १ पृ० ३३।
नैयरों के रीति-रिवाजों के लिए देखिए, 'कास्टस एण्ड ट्राइब्स ऑव सदर्न इण्डिया'—थर्सटन कृत, भा० ५, पृ० ३०७-८।

५१. इब्नबतूता, ४, पृ० ७४।

५२. इलियट, ३, पृ० १०५।

५३. बर्नी—पृ० २१२।

'मन्जनीक' में ५ मन स्वर्ण-मुद्राएँ रखकर, शाही शिविर के बाहर एकत्र जन-समूह में उनकी वर्षा की गई थी।[५४] उसके शासन-काल में भूमि-कर को पूर्णतया व्यवस्थित किया गया और नायब वजीर-ए-ममालिक की हिन्दुओं को 'पूर्णतया निस्वत्व' कर देने की नीति ने समस्त दोग्राव को पूर्णतया अधीन बना दिया था। हिन्दुओं से उपज का ५० प्रतिशत भूमिकर के रूप में ले लिया जाता था और इसके अतिरिक्त गृह-कर, चारणभूमि-कर जैसे अनेक कर उन पर लगाये गये थे।[५५] करों का भार किसानों को ही सहन करना पड़ता था और अधिकांश किसान हिन्दू थे। सख्या मे कम होने के कारण सब मुसलमान राज्य के सार्वजनिक अथवा सैनिक विभागों में नियुक्ति पा जाते थे। खूतों, चौधरियों एव मुकद्दमों की दशा अत्यन्त हीन हो गई थी और बर्नी ने उनकी इस विपन्नावस्था पर बहुत सतोष प्रकट किया है।[५६] परन्तु अलाउद्दीन की अर्थ-व्यवस्था का सबसे सफल कार्य बाजार-भावों का नियन्त्रण था। इससे वस्तुओं के भाव इतने गिर गये थे कि कोई सिपाही, अपने घोड़े का व्यय मिलाकर, वर्ष भर २३४ टकों में सुखपूर्वक रह सकता था, इस प्रकार उसका मासिक व्यय २० टके से भी कम आता था, जितने में कि आज एक घोडे का भी खर्च पूरा नही होता। शाही भंडारों मे अनाज एकत्र किया जाता था और अन्न-कष्ट के समय सस्ते भाव पर जनता को दिया जाता था। इब्नबतूता लिखता है कि उसने स्वय अपनी आँखों से उलाउद्दीन के चावल के भंडार-गृहों को देखा था। परन्तु राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्तों पर आधारित न होने के कारण यह अर्थ-व्यवस्था अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो गई। 'बाजार' के लोग इससे अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि अब वह मनमाने भावों पर अपना माल बेच सकते थे।[५७] अब नौकर भी चौगुना वेतन माँगने लगे। जो नौकर पहले दस या बाहर टके मे मिल जाता था, वही अब सत्तर, अस्सी या सौ टके तक माँगने लगा। अलाउद्दीन के निर्धारित भाव समाप्त हो गये; बर्नी ने वस्तुओं की महँगाई पर दुख प्रकट किया है। परन्तु इतना होने पर भी देश मे अन्नाभाव नही हुआ और राज्य को कभी धन की कमी न हुई। नासिरुद्दीन खुसरो ने अमीरों को अपना समर्थक बनाने के लिए धन को पानी की तरह बहाया था, फिर भी

५४. बर्नी—पृ० २४५।
५५. बर्नी—पृ० २८७।
५६. बर्नी—पृ० २८८।
५७. बर्नी—पृ० ३८५।

इतना धन शेष था कि मुहम्मद तुगलक अपनी योजनाओं पर विशाल धन-राशियाँ व्यय कर सका। मुहम्मद की अर्थ-नीति सर्वथा विफल हुई; उसकी प्रतीत मुद्रा की योजना न चल सकी। परन्तु इससे राज्य की साख पर कोई प्रभाव न पड़ सका, क्योंकि राज-कोष में पर्याप्त धन था और मुहम्मद ने ताँबे के सिक्कों को लौटाकर उनके बदले सोने-चाँदी के सिक्के देकर राज्य के प्रति लोगों के विश्वास को कम न होने दिया। इसके पश्चात् बीस वर्षों तक देश में दुर्भिक्ष की विभीषिका ने जनता को अत्यन्त दीन-हीन बना दिया। राज्य की ओर से दुर्भिक्ष के कष्टों को दूर करने के लिए बहुत उद्योग किया गया; बर्नी ने लिखा है कि राज्य ने किसानों में दो वर्षों में 'तकावी' के रूप में ७० लाख टके वितरण किये।[५८] इब्नबतूता ने सुलतान की दुर्भिक्ष-नीति का विस्तृत वर्णन किया है; वह लिखता है कि लोगों को शाही भंडारों से अन्न दिया गया तथा 'फकीह' एवं 'काजी'[५९] लोगों को आज्ञा दी गई कि वह सुलतान के विचारार्थ प्रत्येक मुहल्ले के सहायता के योग्य व्यक्तियों की सूची बनायें। एक अन्य अन्न-संकट के अवसर पर राज्य के काजियों, अमीरों तथा अन्य कर्मचारियों ने प्रत्येक मुहल्ले में जाकर १½ रितल प्रतिदिन के हिसाब से अन्न वितरण किया।[६०] बड़े-बड़े 'खानकाहों' में दुर्भिक्ष-पीड़ित लोगों को भोजन दिया जाता था; इब्नबतूता लिखता है कि कुतुबद्दीन के खानकाह में, जिसका वह मुतवल्ली था, प्रतिदिन सैकड़ों लोगों को भोजन कराया जाता था; इस 'खानकाह' में ४६० सेवक कार्य करते थे।[६१] राज्य की ओर से व्यवसायों को प्रोत्साहन दिया जाता था; राज्य का एक निजी कारखाना था जिसमें ४०० रेशम के बुनने वाले काम करते थे जो हर तरह का कपड़ा बुनते थे; [६२] सुलतान की सेवा में ५०० जरी के कारीगर भी नियुक्त थे जो शाही परिवार तथा अमीरों के लिए जरीदार वस्त्र तैयार करते थे। विदेशों के साथ व्यापार होता था; मार्को पोलो तथा इब्नबतूता ने समुद्री बन्दरगाहों का उल्लेख किया है और लिखा है कि यहाँ विदेशों के व्यापारी आया करते थे। भड़ौच एवं कालीकट प्रसिद्ध बन्दरगाह थे और कालीकट के विषय में इब्नबतूता ने लिखा है कि यहाँ संसार भर के व्यापारी क्रय-विक्रय के लिए आते थे।[६३] 'मसालिक-

५८. बर्नी, पृ० ४९९।
५९. इब्नबतूता, ३, पृ० २९०।
६०. इब्नबतूता, ३, पृ० ३७२।
६१. वहीं, ३, पृ० ४३२-३४।
६२. मसालिक-इलियट ३, पृ० ५७८।
६३. इब्नबतूता, ४, पृ० ८९।

अल-अब्सार' के लेखक का भी कहना है कि देश-देश के व्यापारी "भारत में शुद्ध स्वर्ण लाना और बदले में जड़ी-बूटियों की वस्तुएँ ले जाना कभी बन्द नही करते।"[६४] राज्य विदेशी व्यापारियों को भी प्रोत्साहन देता था; इब्नबतूता ने सैयद अब्दुलहसन अबादी का उल्लेख किया है जो इराक एवं खुरासान से मुलतान के लिए माल लाता था।[६५]

तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी में व्यापार की दशा उन्नत रही। वस्साफ ने गुजरात को एक समृद्ध देश बताया है और लिखा है कि इसमें ७,००० गाँव और नगर थे तथा यहाँ के निवासी बहुत धनी थे। काले अंगूरों की फसल साल में दो बार होती थी। मिट्टी इतनी उपजाऊ थी कि कपास के पौधे अपनी शाखाओं का खूब विस्तार कर लेते थे और अनेक वर्षों तक उनसे कपास प्राप्त होती रहती थी। मार्को पोलो ने भी कपास की खेती की उन्नत दशा का वर्णन किया है, उसने लिखा है कि कपास के पौधे ६ कदम ऊँचे होते थे और इनकी आयु बीस वर्ष होती थी।[६६] अदरक, नील इत्यादि की खेती खूब की जाती थी। स्थानीय कारीगर लाल तथा नीले चमड़े की चटाइयाँ बनाते थे, जिन पर पशु-पक्षियों के चित्र अंकित किये रहते थे और सोने-चाँदी के तार बुने रहते थे।[६७] खम्भात को भी व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र कहा गया है, यहाँ नील की पैदावार बहुत होती थी। विदेशी व्यापारी जहाज और माल लेकर आते थे परन्तु वह अधिकतर सोना, चाँदी और ताँबा लाते थे। यह यात्री लिखता है कि 'यहाँ के निवासी अच्छे लोग है और अपने व्यापार और व्यवसाय से जीवन-निर्वाह करते है।"[६८] मावर खूब समृद्ध था, परन्तु मार्कोपोलो ने लिखा है कि यहाँ का अधिकांश धन घोड़े क्रय करने में व्यय होता था, क्योंकि यहाँ अच्छे घोड़े बहुत कम थे। किस, हुरमुज, दोफर, सोअर आदि देशों के व्यापारी मावर में घोड़े बेचने के लिए लाते थे और इस व्यापार से बहुत लाभान्वित होते थे।[६९] चौदहवीं

६४. मसालिक, इलियट, ३, पृ० ५६३।

६५. इब्नबतूता, ३, पृ० ४०५।

६६. मूल-ट्रेवल्स ऑव 'मार्को पोलो' २, पृ० ३२८।

६७. वही, २, पृ० ३२८।

६८. वही, पृ० ३३३।

अबुल फिदा के समसामयिक दिमिश्की ने भी खम्भात को एक प्रसिद्ध एवं विशाल नगर बताया है और लिखा है कि उसके समय में भड़ौंच एक बहुत बड़ा देश था और इसमें चार सहस्र गाँव थे। कॉस्मोग्राफी पृ० १७२।

६९. मूल—'ट्रेवल्स ऑव मार्को पोलो' २, पृ० २७६।

शताब्दी में इब्नबतूता ने बंगाल को धन-धान्यपूर्ण देश बताया है। भाव सस्ते थे और लोग थोड़ी आय में भी सुखी जीवन बिता सकते थे।

१३५१ ई० से १३८८ ई० तक देश की आर्थिक दशा बहुत उन्नत रही। राज्य की ओर से सिंचाई की व्यवस्था हो जाने से कृषि की दशा में बहुत सुधार हुआ और भूमि-कर से राज्य की आय बहुत बढ़ गई। दिल्ली-प्रदेश में ६ करोड़ ८५ लाख टके की आय बढ़ी और केवल दोआब से ही भूमि-कर के रूप में ८५ लाख टके मिलने लगे। वस्तुओं के सस्ते भावों के कारण अमीर लोगों ने खूब धन एकत्र कर लिया; अफीफ ने लिखा है कि मलिक शाही शहना की मृत्यु के बाद उसके घर में ५० लाख टके तथा बहुत रत्न एवं अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ मिली थी।[70] भाव इतने सस्ते थे कि लोग थोड़े से व्यय में ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक आ-जा सकते थे। दिल्ली से फीरोजाबाद जानेवाले यात्री को मझली के लिए ४ चाँदी के जीतल, खच्चर के लिए ६ जीतल, घोड़े के लिए १२ और पालकी के लिए ½ टका देना पड़ता था। मजूरी सरलता से मिल जाते थे और अफीफ लिखता है कि उनकी आय पर्याप्त होती थी।[71] इस तत्कालीन लेखक का यह कथन कि किसी भी व्यक्ति को सोने-चाँदी की कमी न थी, कोई स्त्री ऐसी न थी जिसके पास आभूषण न हों और कोई घर ऐसा न था जहाँ पलँग और गद्दे न हों, अतिशयोक्ति मात्र है। परन्तु 'अफीफ' ने बाजार-भावों की जो तालिका दी है, उससे इतना अवश्य विदित होता है कि चौदहवीं शताब्दी के मध्य में उत्तर-भारत की आर्थिक दशा सुखकर थी।

चौदहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते आर्थिक संकट का काल प्रारम्भ हो गया। दिल्ली-साम्राज्य छिन्न-विच्छिन्न होने लगा था और १३९९ ई० में तैमूर के आक्रमण से तो देश में सर्वत्र अव्यवस्था व्याप्त हो गई और धन इस विदेशी आक्राता के साथ चला गया। वाणिज्य-व्यवसाय ग्रस्त-व्यस्त हो गये और तैमूर के मार्ग में पड़नेवाले नगर लूट लिये गये। दिल्ली-साम्राज्य का महत्त्व लुप्तप्राय हो गया और अब प्रादेशिक राज्य धन-समृद्धि, सैनिक-बल एवं कला के विकास के लिए प्रसिद्धि प्राप्त करने लगे। इनका वर्णन उचित स्थान पर किया गया है।

७०. इलियट, ३ पृ० ३४७।

७१. इलियट, ३, पृ० ३६३।

भावों की सस्ताई के लिए देखिए—'दि क्रॉनोकल्स ऑव पठान किंग्स', पृ० २८३।

७२. जनरल ऑव रॉय० एशि० सोसा०, १८९५, पृ० ५३०-३१ पर, फिलिप्स का 'दि चाइनीज एकाउण्ट ऑव बंगाल इन १४०६' शीर्षक लेख।

चीन के राजदूत चेंग-हो के दल के, जो १४०६ ई० मे बंगाल आया था एक दुभाषिये माहुआन ने बंगाल का जो वर्णन किया है उससे तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक दशा पर बहुत प्रकाश पड़ता है। माहुआन ने लिखा है कि :—

"धनवान् लोग जहाज बनवाते है, जिनमे वह विदेशी राष्ट्रों के साथ व्यापार करते है; बहुत लोग व्यापार मे लगे है और बहुत से लोग कृषि-कार्य में व्यस्त रहते है; और दूसरे लोग अपना व्यवसाय चलाते हैं।...इस देश की मुद्रा एक चाँदी का सिक्का है, जिसको 'तनगा' (टका) कहते है, जो तोल मे दो चीनी सिक्कों के बराबर होता है। इसका व्यास १$\frac{2}{१०}$ इंच होता है और दोनों ओर से खुदा होता है, परन्तु छोटी-छोटी खरीदो के लिए वह लोग कौड़ी का उपयोग करते हैं, जिनको विदेशी लोग 'कओ-ली' कहते हैं।"[७२]

इस लेखक ने वर्ष में चावल की दो फसलों का उल्लेख किया है और लिखा है कि यहाँ गेहूँ, सरसों, सब प्रकार की दालें, बाजरा, अदरक, राई, प्याज, सन तथा अनेक प्रकार की साग-सब्जियाँ बहुलता से उत्पन्न होती हैं। यहाँ अनेक प्रकार के फल होते है, जिनमे से केला भी एक है। इस देश मे चाय नही होती और यहाँ के निवासी अतिथि-सत्कार के लिए चाय के स्थान पर सुपारी का उपयोग करते है। चावल, नारियल आदि से मादक-पेय तैयार की जाती है और बाजार में बेची जाती है। इस यात्री ने स्थानीय व्यवसायों मे पाँच या ६ सुदर सूती वस्त्रों[७३] का उल्लेख किया है और लिखा है कि इस देश मे जरी के काम के रेशमी रूमाल और टोपियाँ, रँगे हुए बर्तन, घड़े, प्याले, इस्पात, बन्दूकें, चाकू, छुरी यह सब बनाये जाते है। एक प्रकार के वृक्ष की छाल से सफेद कागज भी बनाया जाता है जो हिरन की खाल के समान चिकना और चमकदार होता है।

पन्द्रहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध भी आर्थिक समृद्धि का काल था और इस विषय में सभी प्रामाणिक इतिहासकार सहमत हैं कि उस समय भाव बहुत सस्ते थे और लोगों को कभी किसी कमी का अनुभव न हुआ।[७४]

कला—मुसलमानों की विजय से पूर्व भारत में अपनी विशिष्ट कला का विकास हो चुका था और भारतीय शिल्प-शास्त्रियों ने अनेक भव्य मदिरो

७२ इस लेख में माहुआन के जो उद्धरण दिये गये हैं वह मार्को पोलो, इब्न-बतूता आदि से कम महत्त्वपूर्ण नही है।

७३. जरन० रॉय० एशि० सोसा०, १८९५, पृ० ५३१।

७४. वही, पृ० ५३२।

एवं मठों का निर्माण किया था; जो उनकी प्रतिभा की सर्वांगसुन्दर कृतियाँ थीं। हिन्दू एवं बौद्ध दोनों ही युगों में राजकीय प्रोत्साहन एवं कलाप्रेमी व्यक्तियों की दानशीलता से कला का खूब विकास हुआ था और उस काल की कला-कृतियों के अवशेष आज भी मुसलमान-शासन-काल से पूर्व के भारतीय कलाकारों की अगाध निपुणता का परिचय दे रहे हैं। जब मुसलमानों ने भारत को विजय कर अपना शासन स्थापित कर लिया और हिन्दू-स्थापकों को अपनी सेवा में नियुक्त किया तो इन हिन्दू-शिल्पियों ने अपनी कला को ऐसा रूप दे दिया जिससे वह इन नये स्वामियों की धार्मिक रुचि के अनुकूल बन सके। परिणामतः प्रारम्भिक-काल के मुसलमान-भवनों में कठोर अनुशासन-पूर्ण धार्मिक विचारों से सादृश्य रखनेवाली सरलता के दर्शन होते हैं। योरोपीय विद्वानों का भारतीय कला में विदेशी प्रभाव ढूंढ़ने का बहुत आग्रह रहा है और फरग्यूसन महोदय ने मुसलमान-काल की भारतीय कला में विदेशी मुसलमान-कला के प्रभाव की स्पष्ट छाप बताई है। परन्तु इस विषय के अन्य अधिकारी विद्वान् हैवेल महोदय को यह मत मान्य नहीं है। मुसलमान आक्रमण हिन्दू-शिल्पियों को उद्विग्न न कर सके और वे अपनी सहिष्णु भावनाओं के कारण अपनी कला को मुसलमान-विजयों द्वारा उत्पन्न नई परिस्थितियों के अनुकूल सरलता से बना सके। अब वह मुसलमान-स्वामियों के लिए भी उसी प्रकार भवन-निर्माण करने लगे, जैसे वह हिंदुओं, जैनों अथवा बौद्धों के लिए करते आये थे और हैवेल महोदय के कथनानुसार उन्होंने कभी विदेशी आदर्शों का अनुकरण न किया। इसी विद्वान् कला-समीक्षक का मत है कि भारत में मुसलमान-शिल्प पर इसी देश की कला की गहरी छाप पड़ी है और इसके मूलभूत विचार एवं अभिव्यंजना के प्रकार विशुद्ध भारतीय हैं, वह विदेशों से नहीं लाये गये हैं। हैवेल महोदय का यह मत भले ही पूर्णतया मान्य न हो, परन्तु इतना तो निश्चित रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि भारत में मुसलमान-संस्कृति के विकास के साथ-साथ कला में भी ऐसे परिवर्तन किये जाने लगे जो नवीन संरक्षकों को रुचिकर हो सकें और भले ही हिन्दू-शिल्पियों ने पश्चिमी एशिया के कला-सम्बन्धी आदर्शों को न अपनाया हो, परन्तु उन्होंने प्रसाधन के नवीन आदर्शों को अवश्य अपना लिया तथा अरबी-अक्षर-विन्यास के नियमों को अक्षत रहने दिया।

भारत में अपना शासन स्थापित करनेवाले तुर्क और अफगान केवल बर्बर-योद्धा ही न थे। उनकी युद्ध-प्रणाली अवश्य हृदयहीन थी और वह अपने शत्रुओं के वध में जैसी नृशंसता प्रदर्शित करते थे वह भारत के इतिहास में समानता नहीं रखती; परन्तु कला एवं संस्कृति के भी उनके अपने आदर्श थे और

कुतुबुद्दीन तथा अलाउद्दीन जैसे उनके निर्दय योद्धा भवन-निर्माण में भी उतनी ही रुचि रखते थे जितनी मानव-जाति के संहार में। उन्होंने हिन्दू तथा जैन-मंदिरों को मस्जिदों में बदल दिया और अपने भवनों के प्रसाधन के लिए हिन्दू-शिल्पियों को नियुक्त किया। इस प्रकार, हिन्दू तथा मुसलमान कलाओं में स्पष्ट भेद होने पर दोनों में सामंजस्य स्थापित हो गया। हिन्दू शिल्पियों ने अपनी कला को इस प्रकार ढाल दिया कि वह नये स्वामियों के आदर्शों के अनुकूल बन जाय। सर जान मार्शल ने इन दोनो कलाओं की उन सामान्य समताओं पर आधिकारिक ढंग से विचार किया है, जिनके कारण मुसलमान-काल की भारतीय कला में इन दोनों का समीकरण हो सका। उन्होंने लिखा है :—

"इस प्रकार अनेक हिन्दू-मंदिरों तथा प्रायः प्रत्येक मुसलमान मस्जिद का एक विशेष लक्षण उनके मध्य में खुले आँगन का होना था जो चारों ओर कक्षों से परिवेष्टित रहता था—यह लक्षण पूर्वीय देशों के निवास-गृहों से लिया गया था और भारत के समान ही एशिया के अन्य देशों में भी सुपरिचित लक्षण था; इस प्रकार से बने हुए मन्दिर स्वभावतया मजिस्दों के रूप में परिणत किये जा सकते थे तथा ऐसे ही मंदिर विजेताओं द्वारा इस उद्देश्य (मस्जिद के रूप में बदलने) के लिए सर्वप्रथम चुने गये होंगे। इसके अतिरिक्त एक दूसरा आधारभूत लक्षण जो इन दोनो शैलियों में समानता स्थापित करता था, वह यह था कि इस्लामी तथा हिन्दू—दोनों ही कलाएँ प्रकृत्या आलंकारिक थी। अलंकार दोनों शैलियों के समान रूप से प्राण थे; दोनों का ही अस्तित्व इस पर टिका हुआ था। भारतीय शिल्प में प्रसाधन की रुचि सहज थी; यह उसको आर्यों से पूर्ववर्ती जातियों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी और उसके रोम-रोम में समाई हुई थी। दूसरी ओर मुसलमानों ने आलंकारिक एवं विविधतामय शैली विशेषतया सूसा तथा बाइजेन्टियम के साम्राज्यों से प्राप्त की थी और भले ही अलंकारों की योजना में उनकी रुचि हिन्दुओं जितनी परिष्कृत न रही हो, परन्तु इनको वह हिन्दुओं से किसी प्रकार कम महत्त्व न देते थे। इस प्रकार जब भारत की विजय ने उनकी आँखों के सामने कला के अभिनव क्षेत्र उपस्थित कर दिये, तो उन्होंने तत्काल उनकी विशाल सम्भावनाओं को माप लिया और उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाना प्रारम्भ कर दिया।"[७५]

भारतीय वास्तु-कला का अध्ययन करने पर, इसमें शैलियों की विविधता

७५. मध्यकालीन भारतीय-कला पर सर जॉन मार्शल के विचार (केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, भा० ३, पृ० ५६८-७३) बहुत शिक्षा-प्रद एवं रोचक है।

पर अध्येता का ध्यान आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। यहाँ शिल्प का कोई ऐसा सर्वसामान्य आदर्श प्राप्त नहीं होता, जिसका अनुसरण शिल्प-कृतियों में सर्वत्र किया गया हो। मुसलमानों ने जिन विभिन्न प्रदेशों एवं राज्यों को जीता, वहाँ उन्हें अपने पूर्ववर्ती शासकों द्वारा निर्मित अनेक विशाल एवं सुन्दर भवन मिले। कहीं-कहीं तो वे अपने ही कला के आदर्शों का अनुसरण करते रहे, परन्तु अन्य स्थानों पर उन्हें स्थानीय शिल्प की शैली ने बहुत प्रभावित किया। मुसलमान-शक्ति के केन्द्र एवं गढ़ दिल्ली में तो हिन्दू-शिल्पी अपने आदर्शों का स्वच्छन्दतापूर्वक निर्वाह न कर सके, परन्तु बंगाल, जौनपुर, गुजरात, काश्मीर आदि प्रादेशिक राज्यों में वह अपनी ही शैली का अनुसरण करते रहे और उनके स्वामियों ने भी उनके कार्य में बाधा न डाली। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि मुसलमानों ने भारतीय स्थापत्य-कला के विकास में कुछ भी नवीनता का समावेश न किया; वास्तव में इन्होंने ही भारतीय कला को नव-जीवन एवं नई शैली प्रदान की।

अरब-निवासियों की विजय भारतीय इतिहास में एक क्षणिक घटना-मात्र थी; इसका कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव न पड़ सका था। यद्यपि अरब-निवासियों ने भारत में भवनों का निर्माण न किया, परन्तु वह भारतीय संस्कृति तथा स्थापत्य-कला एवं शिल्पियों की निपुणता से बहुत प्रभावित हुए। ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गजनवी के निरन्तर आक्रमणों के पश्चात् इस्लाम का भारतीय कला पर प्रभाव पड़ने लगा। महमूद गजनवी भारतीय स्थापत्य-कला के सौन्दर्य एवं विशालता से बहुत प्रभावित हुआ था और फरिश्ता ने लिखा है कि उसने गजनी के प्रतिनिधि-शासक को भेजे गये अपने एक पत्र में इन शब्दों में मथुरा के देवालयों के शिल्प की प्रशंसा की थी; "यहाँ दीन-परस्तों की श्रद्धा के समान दृढ़ एक सहस्र भवन हैं; उनमें से अधिकतर संगमरमर के बने हैं, और इनके अतिरिक्त असंख्य देवालय हैं; यह सम्भव नहीं है कि लाखों दीनार व्यय किये बिना इस नगर ने यह भव्यता प्राप्त की हो, न ही इस प्रकार के दूसरे नगर का दो शताब्दियों से कम समय में निर्माण सम्भव है।"[७६] वह हिन्दुओं के शिल्प-सौन्दर्य से इतना प्रभावित हुआ कि गजनी लौटते हुए अपने साथ सहस्रों भारतीय शिल्पियों को ले गया, जिनको उसने 'स्वर्गीय वधू' नाम से प्रसिद्ध मस्जिद के निर्माण में लगाया। महमूद के पश्चात् अन्य सेनानायकों ने ११९३-१२३६ ई० के मध्य में उत्तर भारत की विजय का कार्य सम्पन्न किया।

७६. ब्रिग्ज—१, पृ० ५८-५९।

मुहम्मद गोरी ने दिल्ली के चौहान-सम्राट् को परास्त कर हिन्दुस्तान में मुसलमान साम्राज्य की नीव डाली और उसके सेनानायकों कुतुबुद्दीन तथा ईल्तुतमिश ने स्वतन्त्र सरदारों को अधीन करने तथा मुसलमान-शासन को व्यवस्थित करने का कार्य पूरा किया। इन शासकों के समय मे अजमेर की मस्जिद, दिल्ली में कुतुबी मस्जिद अथवा कुव्वत-उल-इस्लाम तथा मीनार, बदाऊँ की प्रधान मस्जिद का द्वार तथा दिल्ली मे सुलतान ईल्तुतमिश का मकबरा इन भवनों का निर्माण हुआ। इनमें से अधिकांश भवन विध्वस्त देवालयों की सामग्री से बनाये गये थे और कहा जाता है कि कुतबी मस्जिद के निर्माण के लिए २७ हिन्दू-देवालयों को ध्वस्त किया गया था। इन भवनों के निर्माण में हिन्दू-शिल्पियों को नियुक्त किया गया था और इन पर हिन्दू प्रभाव स्पष्ट झलकता है। कुतबी मस्जिद की सबसे बडी विशेषता उसमें ग्यारह नोकदार मेहराबों का पर्दा है, जिसकी फरग्यूसन ने बहुत प्रशंसा की है। कुतुबमीनार,[७७] जिसका निर्माण ईल्तुतमिश ने पूर्ण किया था बगदाद के समीप उश नामक स्थान के निवासी सत कुतुबुद्दीन की स्मृति में बनाई गई थी। इस मीनार में कुतुबुद्दीन तथा ईल्तुतमिश के अभिलेख हैं। फीरोज तुगलक के समय में बिजली के आघात से इसकी चौथी मजिल टूट गई थी और फीरोज ने इसके स्थान पर दो छोटी-छोटी मजिलें बनवा दी थी। पाँचवी मंजिल में फीरोज का एक अभिलेख है जिसमें इस मरम्मत का उल्लेख है। १५०३ ई० में सिकन्दर लोदी ने इसके ऊपरी भाग की पुनः मरम्मत करवाई थी। यह लगभग २४२ फीट ऊँची है और मुख्यतया हिन्दू शिल्पियो की कृति है, जिन्होंने अपनी शैली मे इस्लाम की सैद्धान्तिक सरलता के अनुरूप सुधार कर लिया था।

इस मीनार में देवनागरी लिपि मे कुछ छोटे-छोटे अभिलेखों को देखकर कुछ लोगों ने इस मीनार को हिंदू-निर्माण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। सर जॉन मार्शल को यह मत मान्य नही है; उन्होंने स्पष्ट शब्दो में स्वीकार किया है कि इस मीनार की सारी बनावट और सजावट मूलतः इस्लामी है। सर जॉन मार्शल ने आगे लिखा है कि;

"इस दृढ़ एवं विशाल कृति के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु मुसलमान-शक्ति का अधिक प्रभावोत्पादक अथवा यथार्थ प्रतीक नही हो सकती; न कोई अन्य वस्तु इसके अलंकृत परन्तु सयमित शिल्प से बढ़कर सर्वांगसुन्दर हो सकती है।"[७८]

---

७७. कुतुब मीनार के पूर्ण विवरण के लिए देखिए श्री पेज की 'मेम्वायर्स ऑव दि आर्कालॉजीकल सर्वे ऑव इण्डिया।'

७८. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ३, पृ० ५७६।

'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' नामक प्रसिद्ध भवन का निर्माण कुतुबुद्दीन ने १२०० ई० मे किया था और ईल्तुतमिश ने इसको सजाया था। इसका यह नाम मराठों के समय में पड़ा, क्योंकि तब यहाँ ढाई दिन का एक मेला लगता था। रजिया तथा बलबन के मकबरे दास-वंश के समय के अन्य भवन हैं। बलबन का मकबरा किला राय पिथौरा के दक्षिण पूर्व में बना है; यह बहुत सीधा-सादा भवन है और इसमें कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता भी नही है।

चौदहवी शताब्दी के प्रथम दशक में अलाउद्दीन के शासन-काल मे दिल्ली-साम्राज्य का विस्तार बहुत बढ गया था। अलाउद्दीन ने निर्भीक होकर नई साम्राज्य-नीति व्यक्त की थी और उत्तर तथा दक्षिण भारत के देशों पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। यद्यपि उसका अधिकांश समय युद्धों में ही बीतता था, परन्तु भवन-निर्माण की ओर से वह उदासीन न था और उसने अनेक दुर्ग, तालाब एवं महल बनवाये थे। सर सैय्यद अहमद खाँ के अनुसार उसने १३०३ ई० में किला राय पिथौरा से दो मील उत्तर की ओर सीरी नामक गाँव में सीरी-दुर्ग का निर्माण करवाया था। इस दुर्ग की दिवालें चूने पत्थर से बनाई गई थी और इसकी किलेबंदी बहुत दृढ़ थी।[७९] 'हजार सितून' (सहस्र स्तम्भोंवाला) प्रासाद अलाउद्दीन ने ही बनवाया था। बर्नी लिखता है कि सहस्रों मंगोलों के मुंड इस प्रासाद की नीव तथा दिवालों में गाड़े गये थे और इसमें सुलतान ने अपनी उस विपुल सम्पत्ति का खूब प्रदर्शन किया था, जिसको काफूर दक्षिण से ले आया था। भारतीय मुसलमान-स्थापत्य का निश्चित रूप से विकास होने लगा था। १३१० ई० में बनाये गये अलाउद्दीन खिलजी के द्वार मे, जो "इस्लामी स्थापत्य के सर्वश्रेष्ठ सुरक्षित रत्न है" यह विकास स्पष्ट दिखाई देता है। परन्तु भारत के तथा-कथित शासकों ने भव्य-भवनों का निर्माण नही किया और हैवेल महोदय ने लिखा है कि पठानों के विषय में यह धारणा कि वह टाइटनों (यूनानी पौराणिक गाथाओं के दैत्यों) के समान भवन-निर्माण करते थे और स्वर्णकारों के समान इस निर्माण को पूर्ण करते थे, एक ऐतिहासिक भ्रम है।[८०] चौदहवीं शताब्दी दिल्ली-साम्राज्य के लिए अत्यन्त संकटमय रही। मंगोलों के निरन्तर आक्रमण हो रहे थे और उत्तर तथा दक्षिण भारत के हिंदू-राजा अपनी स्वतंत्रता के अपहरण से क्षुब्ध होकर बार-बार विद्रोह का झंडा खड़ा कर देते थे। राज्य के अमीर लोग आन्तरिक अशान्ति के कारण बने हुए थे। ऐसी स्थिति मे राज्य

७९. शरफुद्दीन के 'जफरनामा' मे तैमूर का सीरी दुर्ग का वर्णन देखिए, इलियट ३, पृ० ५०४।

८०. हैवेल—'इंडियन आर्किटेक्चर' पृ० ३६।

का सारा ध्यान सामरिक प्रयत्नों में केंद्रित था। यह विषय राजनैतिक स्थिति तुगलक-काल के विशाल और सीधे-सादे भवनों में स्पष्ट झलकती है। उस समय राज्य का ध्यान स्थापत्य कला के प्रदर्शन में न लगकर विदेशी-आक्रमणों के भय से देश को सुरक्षित रखने के प्रयत्नों में लगा था। इस काल की स्थापत्य-शैली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तुगलक शाह का मकबरा है जिसकी विशालता उत्तरकालीन सर्वांगसुन्दर शिल्प-कृतियों के सर्वथा विपरीत दिखाई देती है।[८१] तुगलकाबाद नगर, जो आजकल उजाड़ पड़ा है, मंगोल आक्रमणों के प्रतिरोध के विचार से शीघ्रता से बनवाया गया था। आज वहाँ चारों ओर खण्डहर नजर आते है, फिर भी इसकी "दुर्भेद्य दृढ़ता एवं उदास विशालता" आज भी दर्शकों को प्रभावित करती है। मुहम्मद बिन तुगलक, जो १३२५ ई० में सिंहासनासीन हुआ था, अपने समय की सब कलाओं तथा शास्त्रों में निपुण था, परन्तु उसके शासन-काल के उपद्रवों ने उसको शिल्प की महान् कृतियों के निर्माण में प्रवृत्त होने का अवसर न दिया। आदिलाबाद-दुर्ग तथा अनेक छावनियों के निर्माण तथा मरम्मत के अतिरिक्त सुलतान ने 'जहाँपनाह' नगर की भी नींव डाली थी और यहाँ अपने लिए एक 'हजार सितून' महल बनवाया था, जिसका इब्नबतूता ने विस्तार से वर्णन किया है।[८२] फीरोज

८१. फरग्यूसन का मत भी ठीक यही है। 'हिस्ट्री ऑव आर्किटेक्चर', २, पृ० ६५३।

स्मिथ—'ए हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इण्डिया' १, पृ० ३९८।

कनिंघम—'आर्कीलॉजीकल रिपोर्ट्स', १, पृ० २१६।

'हिस्टोरीकल रिकॉर्ड्स् कमीशन रिपोर्ट' (४, पृ० ३४-४१) में श्री शार्प के 'बिल्डिंग्स ऑव दि तुगलक्स' लेख में बहुत कुछ उपादेय सामग्री है।

सर जॉन मार्शल के अनुसार तुगलकों के समय में भवन-निर्माण-कला में जो परिवर्तन हुए, उनके कारण यह थे—(१) मुबारक तथा खुसरो की फजूल खर्ची के परिणामस्वरूप मितव्ययिता अपनानी पड़ी। (२) मुहम्मद तुगलक तथा फीरोज की धार्मिक नीति, (३) अकाल के कारण भूमि-कर की आय में कमी, (४) राजधानी का दौलताबाद ले जाया जाना।

कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, ३, पृ० ५८५।

अपनी सादगी तथा बनावट की सरलता के कारण यह मकबरा दर्शक को अभिभूत कर देता है। यह एक ऐसे दोष-रहित व्यक्ति का, जिसने बड़ी सादगी से जीवन बिताया और इस्लामी राज्य को पतन से बचाया, सरलतम स्मारक है।

८२. इब्न-बतूता—पैरिस-संस्क० ३, पृ० २१७-२०।

इस अफ्रीकी यात्री ने लिखा है कि इसके स्तम्भ लकड़ी के बने थे।

स्थापत्य का बहुत प्रेमी था और अपने दीर्घ एवं शान्तिपूर्ण शासन-काल में उसने अनेक नगरों, महलों मस्जिदों, जलाशयों एवं उद्यानों के निर्माण में विपुल धन-राशि व्यय की थी। उसके दो प्रधान शिल्पी मलिक गाजी शहना और अब्दुलहक भवन-निर्माण कार्य में उसको सहयोग देते थे। भवनों की योजनाएँ 'दीवान-ए-विजारत' मे लाई जाती थीं, जहाँ उन पर विचार कर उनके लिए स्वीकृति दी जाती थी। शम्स-ए-सिराज अफीफ ने फीरोज के शासन-काल में बनाये गये अनेक भवनों का उल्लेख किया है और 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' मे स्वय सुलतान ने अपनी कला-कृतियों का विस्तृत वर्णन किया है। उसने अनेक नये भवन एवं जलाशय बनवाये और पुरानों का जीर्णोद्धार करवाया।[८३] उसने जौनपुर, फतहाबाद, हिसारफीरोजा और दिल्ली में फीरोजाबाद नगर बसाये। फीरोजाबाद को उसने अपना राजनैतिक निवास-स्थान बनाया। उसके समय के स्थापत्य-कला के निर्माणों मे—कोटिला फीरोजशाह, जिसको उसने फीरोजाबाद मे बनवाया था, विद्या-पीठ, हौज खास, खानजहाँ का मकबरा, जिसकी मृत्यु १३६८-६९ ई० मे हुई थी और काली मस्जिद, जिसको जूनाशाह ने अपने पिता के देहावसान के दो वर्ष पश्चात् बनवाया था—उल्लेखनीय है। तुगलक काल का दूसरा प्रसिद्ध भवन कबीरुद्दीन औलिया की समाधि है, जो 'लाल गुम्बद' के नाम से प्रसिद्ध है; यह नासिरुद्दीन महमूद शाह के शासन-काल मे (१३८९-९२) मे बनाई गई थी। कट्टर मुसलमान होने के कारण फीरोज ने अपनी शिल्प-निर्मितियों मे नई मुसलमान शैली की सादगी को अक्षुण्ण रखा; उसकी मृत्यु के पश्चात् विकास पानेवाले प्रादेशिक राज्यों के शासक-वंशों ने कलात्मक प्रवृत्तियों को अभूतपूर्व प्रोत्साहन दिया। इन राज्यों के शिल्पियों ने कुछ सुन्दरतम भवन बनाये हैं जो आज भी विद्यमान है और अपनी बनाई हुई मस्जिदों, महलों, उद्यानों तथा जलाशयों में इन्होंने हिंदू-कला के सुन्दरतम आदर्शों को पुनरुज्जीवित किया है। चौदहवीं शताब्दी का अंत भारतीय मुसलमान-स्थापत्य के पुनरुत्थान का प्रारम्भ है।

जहाँपनाह नगर बहुत विस्तृत था; इसमें तेरह द्वार थे, ६ द्वार उत्तर-पश्चिम की ओर, एक हौज खास की ओर तथा शेष दक्षिण-पूर्व की ओर थे।

बदर-ए-चाच ने गुर्रमाबाद के महल की बहुत प्रशंसा की है; इसको प्रसिद्ध शिल्पी जहीर-उल-जयूश ने बनाया था। इलियट, ३, पृ० ५७६।

८३. फीरोज द्वारा बनवाये भवनों के पूर्ण विवरण के लिए देखिए, इलियट, ३, पृ० ३५४-५५ तथा ३८३-८५ और 'दि क्रानीकल्स ऑव पठान किंग्स' पृ० २८९-९५। आर्क्योलॉजीकल सर्वे रिपोर्ट तथा दिल्ली के प्राचीन भवनों पर जफर हसन के लेख में बहुत उपादेय सामग्री है।

तैमूर ने जब हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया तो उसको यहाँ बहुत बड़ी संख्या में निपुण शिल्पी तथा कुशल कारीगर प्राप्त हुए, जिनको वह अपने साथ समरकन्द ले गया; वहाँ उसने इन लोगों को प्रसिद्ध जाम-ए-मस्जिद के निर्माण में लगाया। जो भी संगतराश अथवा शिल्पी पकड़े जाते थे, वह विजेता तैमूर की सेवा के लिए अलग रख दिये जाते थे।[८४]

तैमूर के आक्रमण से स्थापत्य-कला के विकास को गहरा आघात लगा। देश धन-हीन हो गया था और दिल्ली-साम्राज्य का कोष इतना क्षीण हो गया था कि स्थापत्य के विकास में अधिक व्यय न किया जा सका। सैय्यद और लोदी-शासकों ने विशाल भवनों का निर्माण नहीं किया। सैय्यद-वंश के शासन-काल के प्रसिद्ध भवन मुबारकपुर में मुबारक सैय्यद और मुहम्मद शाह की समाधियाँ हैं, जिनको अलाउद्दीन आलम शाह ने बनवाया था। लोदियों के बनवाये हुए भवनों की यह विशेषता है कि उनमें रंगबिरंगी खपरैलों का प्रयोग किया गया है। सिकन्दर का मकबरा, जिसको इब्राहीम ने १५१७-१८ ई० में बनवाया था इसका एक उदाहरण है। इस काल के सुन्दरतम भवन यह है—बड़े खाँ और छोटे खाँ की समाधियाँ, बड़ा गुम्बद (१४९४), शाहगुम्बद, शिहाबुद्दीन ताज खाँ की समाधि (१५०१) तथा दादी का गुम्बद एवं पोली का गुम्बद नाम की प्रसिद्ध समाधियाँ। मोठ की मस्जिद इस काल की उल्लेखनीय मस्जिद है, जिसको सिकन्दर के प्रधान-मंत्री ने बनवाया था। इसमें उस काल की स्थापत्य-कला की सुन्दरतम शैली प्रकट हुई है।

जौनपुर के मुसलमान-शासक बहुत कला-प्रेमी थे। उनके बनवाये हुए भवन उनके शिल्प-प्रेम के जीते-जागते प्रमाण हैं। इन स्थापत्य-निर्मितियों की प्रधान विशेषता यह है कि इनमें "हिंदू तथा मुसलमान भवन-निर्माण शैलियों का रोचक एवं अभिनव समन्वय दिखाई देता है; समन्वय का यह प्रयत्न गौड़ के हुसैन शाह द्वारा हिंदू-मुसलमानों में उपासना के क्षेत्र में ऐक्य स्थापित करने के उद्देश्य से प्रवर्तित 'सत्यपीर' नामक धर्म-सम्प्रदाय के प्रवर्तन से सादृश्य रखता है।"[८५] अटाला मस्जिद, जो इब्राहीम के शासन-काल में (१४०१-३६ ई०)

८४. इस मस्जिद के सम्बन्ध में सर जॉन मार्शल का कथन बहुत रोचक है। कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया–३, पृ० ५५६-९७।

८५. हैवेल—'ए हैंडबुक ऑव इण्डियन आर्ट' पृ० ११९। दन्तकथा के अनुसार हुसैनशाह ने 'सत्यपीर' नामक एक मत स्थापित करना चाहा; इस नाम का प्रथम शब्द 'सत्य' संस्कृत का और दूसरा शब्द 'पीर' अरबी का है। दिनेशचन्द्र सेन, 'ए हिस्ट्री ऑव बेंगाली लेंगुएज एण्ड लिटरेचर' पृ० ७९७।

पूरी हुई थी, जाम-ए-मस्जिद, जो हुसैनशाह के समय में (१४५२-७८ ई०) बनवाई गई थी, लाल-दरवाजा मस्जिद, झंझीरी का टूटा हुआ भाग और खालिस मुखलिस—भारत में मुसलमान स्थापत्य-कला के कुछ सुन्दरतम उदाहरण हैं। इन भवनों का निर्माण विध्वस्त मंदिरों की सामग्री से किया गया था परन्तु इसमें संदेह नहीं कि शर्की शासकों ने इस सामग्री से पूरा-पूरा लाभ उठाने में कोई प्रयत्न शेष न रखा था। जैसा कि फ्यूरर ने लिखा है, इन भवनों का निर्माण हिंदू शिल्पियों ने किया था परन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि उन्हें विदेशी शिल्पियों के निर्देशानुसार कार्य करना पड़ता था। हिंदू-शिल्पियों को अपने स्थापत्य-कला के आदर्शों का अनुसरण करने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई थी, उन्हें इतना ध्यान अवश्य रखना पड़ता था कि उनकी निर्मितियाँ इस्लामी धार्मिक-विधियों के प्रतिकूल न हों। इन भवनों में सबसे अधिक अलंकृत एवं आकर्षक भवन अटाला की मस्जिद है, जिसमें हिंदू एवं मुसलमान शैलियों का विलक्षण समन्वय हुआ है। बरजैस ने शर्की स्थापत्य के विषय में लिखा है कि—

"इन मस्जिदों पर बने हुए आलंकारिक शिल्प की अपनी विशेषता है, इनमें से कुछ की छतों के ऊपरी भागों की शैली में हिंदू तथा जैन मंदिरों के इसी प्रकार के हिस्सों की शैली से सादृश्य रखते हुए भी, सूक्ष्म एवं कोमल होने की अपेक्षा विशाल एवं प्रभावोत्पादक है। इनके मेहराबों में अत्यधिक सरलता परिलक्षित होती है; वे प्रवेश-द्वारों तथा बाहरी दिवालों पर बने आलों के आदर्श पर बने हैं, जिनके पृष्ठ भाग समतल हैं एवं जिनके ऊपर मेहराब हैं। ये भवन मुगल-शासन-काल की प्रिय शैली के विकासक्रम में एक कड़ी हैं।"[८९]

फखरुद्दीन मुबारकशाह के दिल्ली-साम्राज्य से सफल विद्रोह के उपरान्त गौड़-प्रदेश स्वतंत्र हो गया था। सुन्नी-आक्रमणकारियों ने हिंदू तथा बौद्ध मंदिरों एवं मठों को विध्वस्त कर उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण किया तथा दिल्ली तथा जौनपुर की शैली से भिन्न अपनी ही एक शैली का विकास किया जिसकी प्रधान विशेषता फर्ग्यूसन के अनुसार यह है कि इसमें ईंटों से बने मेहराबों और गुम्बदों को सहारा देने के लिए पत्थर के भारी और छोटे स्तम्भों का प्रयोग किया गया है। बंगाल के भवन पूर्णतया ईंटों के बने हैं और इनमें हिंदू देवालयों के स्थापत्य का अनुकरण स्पष्ट अभिलक्षित होता है। हुसैनशाह का मकबरा, बड़ी और छोटी सुनहली मस्जिद और नुसरतशाह

डा० सेन ने लिखा है कि बंगाल में इस नवीन उपास्य को लेकर अनेक कविताएँ रची गईं।

८९. इम्पी० गजे० २, पृ०, १८५।

का बनाया हुआ कदम रसूल—गौड़ के प्रसिद्ध भवन हैं। छोटी सुनहली मस्जिद एक ठोस बनी हुई इमारत है जो "अंदर तथा बाहर काटकर बनाये गये सुन्दर चित्रों से अंकित है, जिनमें भारतीय कमल भी है।" परन्तु कला-समीक्षकों के अनुसार गौड़ से बीस मील दूर पांडुआ में अदीना मस्जिद इस स्थापत्य-कला का सुन्दरतम नमूना है; इसको सुलतान सिकन्दर शाह ने १३६८ ई० में बनवाया था।[८७]

प्रादेशिक स्थापत्य-शैलियों में गुजरात की शैली सुंदरतम थी। मुसलमानों के आगमन से पूर्व गुजरात में जैन-धर्म का बोलबाला था, परन्तु पवित्र एवं सौन्दर्यपूर्ण जैन-शिल्प-कला, प्रधानतः हिंदू-कला ही थी। मूलतः यह कला जीवन एवं धर्म विषय हिंदू-विचारों पर आधारित थी, परन्तु समय के साथ यह जैन-विचारों के साँचे में ढल गई थी। जब मुसलमानों ने इस प्रदेश को जीता, उनके सामने, जैसा कि फर्ग्युसन ने कहा है, यह समस्या उपस्थित हुई कि विधर्मी स्थापत्य-शैली को किस प्रकार मूर्ति-पूजा से घृणा करनेवाले धर्म के अनुरूप बनाया जाये। जिन शिल्पाचार्यों को मुसलमानों ने अपने भवनों के निर्माण के लिए नियुक्त किया उन्होंने हिंदू तथा जैन शैलियों को इस्लाम के धार्मिक क्रिया-कलापों के अनुरूप परिवर्तनों के साथ अपनाया।[८८] आबू के विख्यात जैन-मंदिर में, जो जैन-शैली की सुन्दरतम कृति है, उसने इन शिल्पाचार्यों की शैली को बहुत प्रभावित किया। अहमदशाह एक महान् भवन-निर्माता था। उसने पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में अहमदाबाद नगर की नींव डाली और मस्जिदें तथा महल बनवाये। उसके विचार एवं आदर्श पूर्णतः भारतीय थे; अतः उसने अपने शिल्पियों को पूर्ण स्वतंत्रता से अपनी शैली का प्रयोग करने दिया। शाही मस्जिद रामपुर स्थित राणा कुम्भा के मंदिर से अत्यधिक साम्य रखती है; इससे विदित होता है कि हिंदू एवं मुसलमान शासकों के शिल्पी एक ही जाति के थे और जैसा कि हैवेल ने लिखा है, उनमें ऐसे किसी भी शिल्प-निर्माण की पूरी पूरी योग्यता थी जो उनके शासक उनको सौंप

---

८७. इन भवनों के पूर्ण विवरण के लिए देखिए—इम्पी० गजे०, २ पृ० १८८-९३।

८८. डा० बरजैस ने लिखा है कि अहमदाबाद की मुसलमानी कला जैन-कला से इतनी प्रभावित है कि जैन-कला के ज्ञान के बिना भारत की इस विख्यात मुसलमानी कला का ठीक-ठीक विवेचन नहीं हो सकता। यह उतना ही असंभव है जितना कि आधारभूत रोमन-कला के ज्ञान के बिना माइकल एन्जेलो तथा पेलादिओ द्वारा प्रवर्तित इटली की कला के पुनरुत्थान का विवेचन। 'आर्कलॉजीकल सर्वे ऑव वेस्टर्न इण्डिया'। भा० २, पृ० ११-१२।

देते थे, चाहे वह हिंदू हों या मुसलमान।[८९] पंद्रहवीं शताब्दी में अहमदाबाद, खम्भात, चम्पानेर तथा अन्य प्रमुख स्थानों में अनेक भवनों का निर्माण किया गया। मुहाफिजखाँ की मस्जिद, जो पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में बनी थी, यहाँ के सुन्दरतम भवनों में से है। मस्जिदों एवं मकबरों के अतिरिक्त गुजरात की बावलियाँ, नहरें तथा सार्वजनिक उद्यान भी बहुत प्रसिद्ध है। अहमदाबाद के समीप असरवा का सीढ़ीदार कुआँ इस प्रकार की सुन्दरतम कृति है। गुजरात की प्राचीन एवं मध्यकालीन वास्तुकला-कृतियों का सांगोपांग वर्णन डा० बरजेस ने 'आर्कोलॉजीकल सर्वे' के पाँच भागों में किया है। आज भी अहमदाबाद का शिल्प-निर्माण-कौशल बहुत कुछ सुरक्षित है और इस नगर के दानशील सज्जनों ने इसको अनेक भव्य-भवनों से सजाया है।

मालवा के मुसलमान-राज्य में भी पंद्रहवीं शताब्दी में भवन-निर्माण-कार्य पर्याप्त मात्रा में हुआ था[९०] मांडू की स्थापत्य-कला विशेषतया मुसलमानी है और दिल्ली की स्थापत्य-कला से सादृश्य रखती है। आज भी यहाँ जो विशाल भवन सुरक्षित है, वह मांडू के सुलतानों के वैभव एवं ऐश्वर्य का प्रमाण है। जाम-ए-मस्जिद, हिंडोला महल, जहाज महल, हुशंगशाह का मकबरा तथा बाजबहादुर एवं रूपमती के महल यहाँ की सुन्दरतम शिल्प-कृतियाँ हैं।

बहमनी शासकों के भवन-निर्माण-कार्यों का पिछले परिच्छेद में वर्णन किया जा चुका है। बहमनी सुलतानों ने नगरों, भवनों, मस्जिदों तथा महलों का निर्माण कर वास्तु-कला को बहुत प्रोत्साहन दिया था। गुलबर्गा तथा बीदर की मस्जिदें दक्षिण की शिल्प-कला के गौरवशाली उदाहरण है। परन्तु बीजापुर की शिल्प-शैली दक्षिण के राज्यों में सबसे अधिक उल्लेखनीय है। मुहम्मद आदिल शाह के मकबरे में, जो गोल गुम्बज के नाम से प्रसिद्ध है, एक विशेष शैली प्रकट हुई है, जिसमें एक कला-समीक्षक के अनुसार तुर्क-शैली का प्रभाव झलकता है। बीजापुर के आदिलशाही शासकों की वास्तु-कला-कृतियाँ आकार की

---

८९. हैवेल—'इण्डियन आर्किटेक्चर' पृ० ६८।

हैवेल—'आर्यन रूल' पृ० ३४१-४२।

हिंदू-कला पर मुसलमानी-प्रभाव का आग्रह करनेवाले फर्ग्युसन महोदय गुजरात की कला की प्रशंसा में हिचकते हैं; रामपुर के मंदिर की मस्जिद से तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है कि मंदिर की कला में कविता का साक्षात्कार होता है, परन्तु मस्जिद की कला में जो गंभीरता है, वह अधिक सुसंस्कृत रुचि की परिचायिका है।

९०. धार और मांडू के भवनों का विस्तृत विवरण जरन० बॉम्बे० ब्रा० राय० ऐशि० सोसा०, १६०३, पृ० ३३६-६० में दिया हुआ है।

विशालता एवं सुघड़ता में भारत की अन्य किसी शिल्प-कृति से किसी प्रकार निम्न-कोटि की नहीं हैं। बीजापुर के शासक भवन-निर्माण में किसी से पीछे न थे। यूसुफ द्वारा प्रारम्भ की गई और अली द्वारा पूर्ण की गई नगर की बाहरी दिवाल तथा अली की बनवाई हुई मस्जिद आज भी उनके स्थापत्य-कला के सौंदर्य को प्रमाणित कर रही है। उनकी बनवाई हुई कुछ समाधियाँ एवं मकबरे भारतीय एवं विदेशी प्रभावों के समन्वय से निष्पन्न कला के आश्चर्यजनक नमूने हैं। इन शासकों ने विद्यालय एवं पुस्तकालय भी बनवाये थे जो काल के उदर में समा गये हैं।

विजयनगर के प्राचीन भवनों का विस्तृत-विवरण 'आर्कोलॉजीकल सर्वे-विभाग के दक्षिण क्षेत्र के अधिकारी श्री लांगहर्स्ट ने 'हाम्पी रुइन्स' नामक पुस्तक में किया है। विजयनगर के शासकों ने मंत्रणा-गृहों, सार्वजनिक कार्यालयों, सिंचाई के साधनों, देवालयों तथा प्रासादों के निर्माण में बहुत उत्साह दिखाया और इन शिल्प-कृतियों को खूब अलंकृत किया। नुनीज ने नगर के अंदर सिंचाई की अद्‌भुत व्यवस्था और विशाल जलाशयों का वर्णन किया है। राजकीय परकोटे के अंतर्गत अनेक प्रासाद, भवन एवं प्रमोद-उद्यान बनाये गये थे। राजकीय परिवार की स्त्रियों के निवास-स्थान के अंतर्गत अनेक सुन्दर भवन थे, जिनमें कमल-प्रासाद सुन्दरतम था। यह भारतीय वास्तु-कला का एक अद्‌भुत उदाहरण था। विजयनगर के असंख्य देवालयों का पूर्ण वर्णन, जो ब्राह्मण-प्रभाव के कारण बनाये गये थे, पाठकों को उकतानेवाला होगा। अतः यहाँ हम केवल एक देवालय का ही संक्षिप्त-विवरण देंगे। यह विख्यात विट्ठल मंदिर है, जिसको फर्ग्युसन ने द्रविड-शैली की सर्वाधिक उदाहरणीय कलाकृति बताया है।[1] इसका निर्माण कृष्णदेव राय ने प्रारम्भ किया था, परन्तु यह कभी पूरा न किया जा सका, अत. देवता को अर्पित भी न हुआ। १५६५ ई० मे जब मुसलमानों ने इस नगर का विध्वंस किया, इस देवालय का निर्माण-कार्य रुक गया। यद्यपि मुसलमानों ने इसके स्तम्भों एवं दिवालों के अलंकारों को नष्ट कर दिया था, तब भी यह "दक्षिण भारत में अपने ढंग का सुन्तरतम भवन" है और फर्ग्युसन के शब्दों में यह भवन प्रसाधन की सन्दरता मे स्थानीय शैली का चरम विकास प्रकट करता है। मूर्ति-कला एवं चित्र-कला भी यहाँ उपेक्षित न थी और पुर्तगाली इतिहासकारों तथा फारस के

६१. फर्ग्युसन—'हिस्ट्री ऑव आर्किटेक्चर', १, पृ० ४०१।
लांगहर्स्ट—'हाम्पी रुइन्स'—पृ० १२४-३२।
आर्कोलॉजिकल डिपार्टमेंट, दक्षिण-क्षेत्र का वार्षिक विवरण, मद्रास, पृ० ४५-४६।

राजदूत अब्दुर्रज्जाक के वर्णन से विदित होता है कि कलाकारों ने इन कलाओं में भी पर्याप्त कुशलता प्राप्त कर ली थी।

साहित्य—यहाँ पर मध्य-कालीन साहित्य के विभिन्न पक्षों के विकास पर विस्तार से विचार करना सम्भव नहीं अतएव हम यहाँ साहित्यिक विकास की रूपरेखा पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे। यह समझना भूल है कि प्रारम्भिक मुसलमान आक्रमणकारी बर्बर योद्धा मात्र थे और १२०० ई० से १५०० ई० तक के काल में भारतीय प्रतिभा कुंठित हो गई थी। वास्तव में कुछ मुसलमान शासक बहुत साहित्य-प्रेमी थे और उनका संरक्षण पाकर विद्वानों ने उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण किया था। महाकवि अमीर खुसरो ने, जो हिन्द का तोता कहा गया है, अनेक साहित्यिक रचनाओं द्वारा अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया था। सौभाग्य से इस महाकवि को लगातार अनेक शासकों का संरक्षण प्राप्त होता रहा। खुसरो केवल कवि ही न था; वह योद्धा एवं व्यवहारपटु भी था और अनेक युद्धों में उसने भाग लिया था, जिनका उसने अपनी रचनाओं में वर्णन किया है। यहाँ पर इस महान् साहित्यकार की सभी रचनाओं की समीक्षा करना संभव नहीं है; इसके लिए तो एक स्वतंत्र पुस्तक अपेक्षित होगी। इतना कह देना ही पर्याप्त है कि वह प्रतिभान्वित कवि एवं गायक था, जिसकी उच्च कल्पना-शक्ति, भाषा पर अधिकार, विषयों की विविधता तथा मानवीय भावों एवं आकांक्षाओं, प्रेम तथा युद्ध के दृश्यों के वर्णन में अधिकारपूर्ण कौशल, यह सब गुण उसको किसी भी समय के महान् कवियों की पंक्ति में स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त हैं। वह गद्य-लेखक भी था और यद्यपि उसके गद्य में स्पष्टता एवं सरल प्रवाह न होकर कल्पना का ही प्राधान्य है, जैसा कि उसके ग्रंथ 'खजायन-उल-फ़तूह' से प्रकट होता है, फिर भी गद्य-काव्य लिखने में उसकी निपुणता असंदिग्ध है। महान् लेखक के साथ-साथ वह महान् गायक भी था जैसा कि चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध हिंदू संगीतज्ञ गोपाल नायक के साथ उसके वाद-विवाद से ज्ञात होता है।[९२] अमीर खुसरो का समकालीन मीर हसन देहलवी भी प्रसिद्ध कवि हुआ

---

९२. शिब्ली—"शैर-उल-अजम" २, पृ० १३६।

मौलाना शिब्ली ने 'रागदर्पण' का आधार लिया है। उसका कथन है कि उसके पास इस ग्रंथ की एक प्राचीन हस्तलिपि थी। मूल संस्कृत-ग्रंथ ग्वालियर के राजा मानसिंह के आग्रह पर लिखा गया था। हि० स० १०७३ (१६६२-६३ ई०) में फकीरउल्ला की इस ग्रंथ पर दृष्टि पड़ी और उसने इसका फारसी में अनुवाद किया; यह अनुवाद संभवतः १६६५-६६ ई० में पूरा किया गया। इस ग्रंथ का मूल नाम 'मान कुतूहल' था। एथे, 'कैटेलॉग ऑव पर्शियन मैनुस्क्रिप्ट्स इन इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी' पृ० ११२०-२१।

है। अब्दुल हक ने उसको 'संगीत-प्रवीण एवं आनन्ददायक' कवि बताया है। यह कवि लाहौर में बलवन के पुत्र मुहम्मद के दरबार में पाँच वर्षों तक रहा था और मंगोलों के साथ युद्ध में इसके मारे जाने पर इस कवि ने गद्य में एक शोक प्रकट करनेवाली रचना की थी जिसको बदाऊनी ने उद्धृत किया है।[93] इसके पश्चात् इस कवि को मुहम्मद बिन तुगलक के दरबार में प्रश्रय मिला; यहाँ उसने एक 'दीवान' लिखा और अपने संरक्षक संत निजामुद्दीन औलिया की स्मृतियों को लिपि-बद्ध किया; यह ग्रंथ उसने हि० स० ७२० में पूर्ण किया। पचास वर्ष तक कविताएँ लिखते रहने के उपरान्त हि० स० ७२७-२८ में दौलताबाद में इस कवि का देहान्त हुआ।[94] बदरुद्दीन इस काल का एक अन्य प्रसिद्ध कवि था; अपने जन्म-स्थान चाच अथवा ताशकद के नाम पर इसका नाम बदर-ए-चाच प्रसिद्ध हो गया था। यह कवि मुहम्मद-बिन-तुगलक की राजसभा में आया था और सुलतान की प्रशंसा में इसने प्रशस्तियाँ लिखी थीं। उसकी कविता श्लेष एवं अलंकारों तथा क्लिष्ट कल्पनाओं के कारण दुर्बोध है। ऐतिहासिक गद्य लेखकों में मिनहाज-उस-सिराज, जिया-उद्दीन बर्नी, शम्स-ए-सिराज अफीफ, ऐन-उल-मुल्क मुल्तानी तथा 'तारीख-ए-मुबारक शाही' का लेखक गुलाम यहिया बिन अहमद प्रसिद्ध हैं। जैसा अब्दुल हक ने लिखा है 'तबकात-ए-नासिरी' का लेखक मिनहाज-उस-सिराज की गद्य-शैली परिष्कृत एवं प्रवाहपूर्ण नहीं है, परन्तु उसकी जैसी स्पष्ट एवं ओजपूर्ण समास-शैली इस काल की अन्य रचनाओं में नहीं मिलती। जिया-उद्दीन बर्नी इस काल का विस्तारपूर्ण ग्रंथों का रचयिता है और उसकी शैली बहुत अलंकारपूर्ण है। उसने एक स्थान पर स्वयं लिखा है कि 'तारीख-ए-फीरोज शाही की रचना में उसने बहुत परिश्रम किया था और इसको यथा-संभव उपयोगी ज्ञान का कोष बनाने का प्रयत्न किया था। बर्नी को मुहम्मद-बिन-तुगलक तथा फीरोज तुगलक दोनों का संरक्षण प्राप्त था, परन्तु फीरोज

---

९३. रैंकिंग—अल-बदाऊनी, १, पृ० १८८-९६।

९४. बदाऊनी ने हि० स० ७२७-२८ लिखा है।-१ पृ० २७१-७२।

बदाऊनी ने स्पष्ट लिखा है कि इस कवि की मृत्यु उस वर्ष हुई जब मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली को उजाड़कर दौलताबाद बसाया था। रैंकिंग ने एक टिप्पणी में मूल से इसकी तिथि हि० सं० ७३९ बताई है—१, पृ० २७०, टिप्पणी सं० ६।

'कैटेलॉग ऑव पर्शियन मैनुस्क्रिप्ट्स इन इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी' के सम्पादक ने इसकी तिथि हि० स० ७२७ (१३२७ ई०) बताई है, जो ठीक है। १, पृ० ७०७।

के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में दीन-हीन दशा में उसकी मृत्यु हुई। शम्स-ए-सिराज ने वर्नी की 'तारीख-ए-फीरोजशाही' के वर्णन को आगे बढ़ाया; अपने वर्णनों मे यह लेखक अपने पूर्ववर्ती लेखक से अधिक सतर्क एवं नियमित है। परन्तु सभी पूर्वीय देशों के लेखकों के समान इसकी रचना भी अपने आश्रयदाता की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा, अनावश्यक पुनरुक्तियों तथा शब्दाडम्बर से पूर्ण है; उसके समय मे साहित्यिक लोगों की शैली ही ऐसी थी।

मुहम्मद-बिन-तुगलक की राजसभा के साहित्यकारों में हुसैनी, तलखीस तथा मिफ्ताह का टीकाकार मौलाना मुअय्यनुद्दीन उमरानी भी विद्यमान था। सुलतान ने मौलाना को काजी अब्दुल मुल्लतवा-उद्-दीन अलीची को एक ग्रंथ लिखने के लिए बुला लाने को शीराज भेजा था। परन्तु मौलाना के आने का उद्देश्य जानने पर सिराज के शासक ने काजी से भारत न जाने का आग्रह कर, मौलाना के कार्य को सफल न होने दिया। मौलाना के अतिरिक्त मुहम्मद की राजसभा मे अनेक विद्वान्, कवि, तार्किक, दार्शनिक तथा चिकित्सा-शास्त्रज्ञ थे, जिनके साथ वह विचार-विनिमय किया करता था। फीरोज के शासनकाल में मौलाना ख्वाजगी, अहमद थानेसरी तथा काजी अब्दुल मुक्तदिर शनीही विख्यात साहित्यकार बताये जाते हैं। काजी बहुश्रुत विद्वान् था। वह फारसी, अरबी मे पद्य-रचना करता था। उसकी अरबी की रचनाएँ फारसी रचनाओं से भी उत्कृष्ट है। 'अखबार-उल-अखयार', अहमद थानेसरी की प्रतिभा का परिचायक है। ऐन-उल-मुल्क मुलतानी, जिसने अलाउद्दीन, मुहम्मद-बिन-तुगलक तथा फीरोज तुगलक के समय में राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर कार्य किया था, तत्कालीन साहित्याकाश का एक प्रभापूर्ण नक्षत्र था। शम्स-ए-सिराज अफीक ने उसके विषय मे लिखा है कि "ऐनुलमुल्क बहुत चतुर एव अत्यधिक योग्यतासम्पन्न निपुण व्यक्ति था। उसने मुहम्मद-बिन-तुगलक तथा फीरोज तुगलक के शासन-काल में कुछ उच्चकोटि के ग्रंथों की रचना की थी। इनका एक ग्रंथ 'ऐन उल-मुल्की' है जो लोकप्रसिद्ध एवं सर्वमान्य रचना है।" उसका एक ग्रंथ 'मुन्शात-ए-माहरू' अथवा 'इन्शा-ए-माहरू' जिसमे राजकीय पत्र-व्यवहार के नमूनों के रूप मे पत्रों एवं राजकीय सूचनाओं का संकलन किया गया है, आज भी सुरक्षित है। इनसे उस काल की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक स्थिति पर बहुत प्रकाश पड़ता है। मुहम्मद के शासन-काल की दूसरी प्रसिद्ध काव्य-रचना इसामी का 'फतूह-ए-सलातीन' है जिसमें तीन सौ वर्षों से अधिक का भारतीय इतिहास वर्णित है। 'तारीख-ए-मुबारक शाही' के लेखक यहिया की शैली सरल एवं प्रवाहमयी है और क्लिष्ट कल्पनाओं से मुक्त होने

के कारण दुर्बोध नहीं होने पाई है। अपने समय के इतिहास का यह बहुत प्रामाणिक ग्रंथ है और अनेक स्थलों पर मिनहाज, बर्नी तथा अफीफ के विवरणों का पूरक है। प्रादेशिक राज्यों में भी बहुत साहित्य-सृजन हुआ; इसका पहले कुछ वर्णन किया जा चुका है।[९५] जौनपुर विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र था। इब्राहीम की दानशीलता से आकर्षित होकर उसकी राजसभा में अनेक विद्वान् एकत्र हो गये थे। काजी शिहाबुद्दीन दौलताबादी तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वान् हुआ है; उसने 'हवाश-काफिया-इरशाद' तथा 'बाद-उल-बयान' की रचना की। जौनपुर के मौलाना शेख इलादाद ने 'हिदाया' की व्याख्या लिखी। दार्शनिक विषयों पर भी ग्रंथ लिखे गये; मुगीस हन्सवी के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक विषयों के लेखों से पूर्वीय साहित्य के अध्येता सुपरिचित थे। जहीर देहलवी, जिसको 'जहीर' की उपाधि सिकन्दर लोदी से प्राप्त हुई थी, मौलाना हसन नक्शी, मौलाना अली अहमद निशानी तथा नूरुल हक इस काल के अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यकार थे।[९६]

मुसलमान विद्वान् संस्कृत के प्रति सर्वथा उदासीन न थे। यह धारणा ठीक नहीं है कि अकबर के समय में ही सर्वप्रथम संस्कृत के ग्रंथों का फारसी में अनुवाद किया गया।[९७] अरब संस्कृति पर संस्कृत के प्रभाव का उल्लेख हो चुका है। अरब निवासियों ने हिन्दुओं से वैद्यक, दर्शन एवं ज्योतिष का बहुत ज्ञान प्राप्त किया था और खलीफा अल-मामून के समय में, जो अरबी साहित्य का स्वर्ण-काल था, अरब के विद्वानों ने संस्कृत का भी ज्ञान प्राप्त किया था और मुहम्मद-बिन-मूसा ने बीजगणित पर तथा मिकाह एवं इब्न दहन ने

९५. देखिए—एन. एन. लॉ का प्रादेशिक शासक-वंशों के समय में मुहम्मदी विद्याओं के विकास पर संक्षिप्त लेख।

'प्रमोशन ऑव लर्निंग इन इण्डिया ड्यूरिंग मुहम्मदन रूल'—पृ० ८०-११३।

९६. इलियट—६, पृ० ४८७।

९७. इलियट ने संस्कृत के एक ज्योतिष-ग्रंथ का फारसी अनुवाद लखनऊ में नवाब जलालुद्दौला के पुस्तकालय में देखा था। यह अनुवाद फीरोज तुगलक के शासन-काल में हुआ था।

इलियट ने पशु-चिकित्सा विषयक एक ग्रंथ के अनुवाद का उल्लेख किया है जो गयासुद्दीन मुहम्मदशाह खिलजी के समय में हि० स० ७८३ (१३८१) ई० में किया गया था। इसका नाम 'गुर्रत-उल-मुल्क' है। यह संस्कृत के 'शालोत्तर' ग्रंथ का अनुवाद बताया जाता है। परन्तु शासक का नाम संदिग्ध है, क्योंकि १३८१ ई० में दिल्ली अथवा अन्य कहीं इस नाम का खिलजी शासक न था। इलियट का विचार है कि यह ग्रंथ अकबर से बहुत पहले लिखा गया होगा। इलियट, ६, पृ० ५७३-७४; परिशिष्ट पृ० ५७३-७४।

चिकित्सा शास्त्र पर ग्रंथ लिखे थे। अलबरूनी ने, जो महमूद गजनवी के साथ भारत आया था, संस्कृत का अध्ययन कर संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद किया था। चौदहवीं शताब्दी में फीरोज तुगलक को नगरकोट की विजय में एक संस्कृत पुस्तकालय प्राप्त हुआ था और उसने मौलाना ईजुद्दीन खलीद खानी को दर्शन, भविष्य-विचार तथा शकुन-विचार विषयक एक संस्कृत ग्रंथ का फारसी में अनुवाद करने का आदेश दिया; इस अनुवाद का नाम दलायल-ए-फीरोजशाही रखा गया। सिकन्दर लोदी के शासन-काल में संस्कृत के एक आयुर्वेद ग्रंथ का फारसी में अनुवाद किया गया था जिसका पहले जिक्र किया जा चुका है।

यहाँ पर उस विशाल लौकिक एवं धार्मिक साहित्य का विस्तार से विवरण देना सम्भव नहीं है जिसका पूर्व-मध्य-काल में हिन्दुओं ने सृजन किया। मुसलमान-विजयों से हिन्दुओं की बौद्धिक प्रगल्भता एवं प्रतिभा कुंठित न हो सकी थी और उत्तर भारत में राज्य का संरक्षण प्राप्त न होने पर भी हिन्दू-साहित्य मुसलमान प्रभाव से दूर के प्रदेशों में विकास पाता रहा। धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य की खूब अभिवृद्धि हुई। ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुज ने ब्रह्म-सूत्रों पर भाष्य लिखा जिसमें उन्होंने अपने भक्ति-विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और भक्ति को ज्ञान का ही एक प्रकार बताया। पार्थसारथि मिश्र ने १३०० ई० के लगभग कर्म-मीमांसा पर अनेक ग्रंथ लिखे; इनमें से 'शास्त्र दीपिका' का बहुत प्रचार हुआ।[९८] इस काल में योग, वैशेषिक तथा न्याय-दर्शन पर अनेक ग्रंथ रचे गये। विक्रम-शिला में बौद्धों ने तर्कशास्त्र के विकास में बहुत परिश्रम किया और जैन-विद्वानों ने भी इस पर अनेक ग्रंथ लिखे। तर्कशास्त्र का महानतम जैन-विद्वान् देवसूरि बारहवीं शताब्दी में हुआ।[९९] भक्ति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने दार्शनिक साहित्य की अभिवृद्धि की और उनकी रचनाओं का उनके अनुयायियों में बहुत प्रचार हुआ। गीति-काव्य भी रचे गये; संभवतः बारहवीं शताब्दी में लिखा गया जयदेव का 'गीत-गोविन्द' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें कृष्ण और राधा के प्रेम, विरह और मिलन का

---

९८. फार्कुहर—'एन आउटलाइन ऑव दि रिलिजस लिटरेचर ऑव इण्डिया' पृ० २२०-२१।

९९. वही—पृ० २२५।

संस्कृत वैयाकरण हेमचन्द्र जैन था, और पंचतंत्र के दो उत्तर भारतीय पाठों पर जैन प्रभाव स्पष्ट है। मैकडानेल के अनुसार जैन-धर्म का स्वर्ण-काल ९५० ई० से १२०० ई० तक रहा। इम्पी० गजेटि०, २, पृ० २६१।

तथा व्रज की गोपियों के बीच कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। इन गीतों का रचना-कौशल माधुर्य, शब्द-चयन तथा भावों की विविधता सभी कुछ प्रशंसनीय है। जयदेव ने विषय-प्रतिपादन की अपनी दक्षता का अच्छा परिचय दिया है, पद-विन्यास एवं अत्यन्त क्लिष्ट छंदों के सफल प्रयोग में उच्चकोटि का काव्य-कौशल प्रकट किया है।[१००] प्रो० कीथ ने जयदेव की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसने लिखा है कि "जयदेव का रीति एवं पद-विन्यास पर पूरा अधिकार है और सबसे अधिक महत्त्व की बात तो यह है कि वह छंदों में ही निपुण नहीं है, अपितु उसने भावों के साथ पद-ध्वनि का इतना सुन्दर सामंजस्य किया है कि उसकी रचना को अनुवाद में उपस्थित करने के प्रयत्न पूर्णतया सिद्ध नहीं हो पाते।[१०१] मुसलमान-विजय का नाट्य-साहित्य पर अहितकर प्रभाव पड़ा। प्रो० कीथ ने ठीक लिखा है कि "निस्सदेह हिन्दू नाट्य-साहित्य ने देश के उन भागों मे शरण ली, जहाँ मुसलमान-शक्ति के विस्तार की गति अत्यन्त शिथिल थी, परन्तु यहाँ भी मुसलमान-शासकों ने अधिकार जमा लिया और नाटक का अभिनय अथवा रचना तब तक व्यर्थ हो थी, जब तक कि हिन्दू-पुनरुत्थान भारतीय राष्ट्रीय भावनाओं को पुनः मान्यता न दिला देता और प्राचीन राष्ट्रीय गौरव के पुनर्जागरण को उत्तेजित न कर देता।[१०२] इस काल में रचे गये नाटकों में 'हरकेलि नाटक' तथा 'ललित विग्रहराज नाटक', जो बारहवी शताब्दी की रचनाएँ है, प्रसिद्ध नैयायिक जयदेव का 'प्रसन्न राघव' नाटक (१२०० ई०), जयसिंह सूरि कृत 'हम्मीर-मद-मर्दन' (१२१०-२९ ई०), केरल-नरेश रविवर्मा (जन्मतिथि १२६६ ई०) का 'प्रद्युम्नाभ्युदय', विद्यानाथ का 'प्रतापरुद्र कल्याण' (१३०० ई०), वामन भट्ट बाण का 'पार्वती परिणय' (१,४०० ई०), गंगाधर का 'गंगादास प्रताप विलास' नाटक, जिसमें चम्पानेर-नरेश का गुजरात के द्वितीय मुहम्मदशाह के साथ युद्ध का वर्णन है, तथा हुसैनशाह के मंत्री रूप गोस्वामी द्वारा १५३२ ई० के लगभग रचे गये 'विदग्ध माधव' एवं 'ललित माधव' नाटक[१०३] प्रसिद्ध हैं। रूप गोस्वामी के

---

१००. संस्कृत-साहित्य पर मैकडानेल्ड का लेख—इम्पी० गजे० २, पृ० २४३।

१०१. कीथ—'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर'—हेरिटेज ऑव इण्डिया सीरीज—पृ० १२१।

१०२. कीथ—'क्लासिकल संस्कृत ड्रामा', पृ० २४२। दिनेशचन्द्र सेन—'दि वैष्णव लिटरेचर ऑव मीडियवल बंगाल' पृ० २०-३२।

१०३. नाटक-साहित्य की कृतियों तथा उनकी विशेषताओं के संक्षिप्त विवरण के लिए देखिए—कीथ, 'संस्कृत ड्रामा' पृ० २४४-५१।

नाटकों में उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा के दर्शन होते हैं और डा० दिनेशचन्द्र सेन के शब्दों में वह "सिद्ध करते हैं कि धर्म एवं विश्वास मृतवत-प्राणियों के लिए भी कोई कटु कार्य नहीं है और अस्थि-चर्ममय शरीर को निग्रह एवं तपस्याओं के क्लेश में डालना ही संन्यास नहीं समझना चाहिए।" जीव गोस्वामी भी इस काल का विख्यात रचनाकार था। उसने संस्कृत में २५ ग्रंथ लिखे जो असाधारण विद्वत्ता एवं समन्वय की शक्ति के कारण अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

स्मृति-साहित्य में भी इस काल में कुछ सर्वाधिक मान्य टीकाएँ लिखी गई, विज्ञानेश्वर ने 'याज्ञवल्क्य स्मृति' पर प्रसिद्ध टीका 'मिताक्षरा' मैकडानेल के मतानुसार ११०० ई० में लिखी। 'दायभाग' का रचयिता जीमूतवाहन बारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ; 'दायभाग' के आधार पर ही बंगाल के उत्तराधिकार एवं सम्पत्ति-विभाजन कानून बने हैं।[१०४] तेरहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक मिथिला में स्मृति-साहित्य का इतना विकास हुआ कि इस विषय में मैथिल-सम्प्रदाय की ही बन गई। मिथिला में अनेक प्रसिद्ध ग्रंथकार हुए, जिनमें पद्मदत्त भट्ट, विद्यापति उपाध्याय तथा वाचस्पति मिश्र, जो पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए, बहुत प्रसिद्ध है। खगोल-शास्त्र भी उपेक्षित न रहा; इस विषय के अन्तिम महान् भारतीय लेखक भास्कराचार्य ने १११४ ई० में जन्म लिया। परन्तु खेद है कि अन्य क्षेत्रों में प्रगाढ़ पाण्डित्य प्रदर्शित करनेवाले भारतीय मनीषियों का इतिहास की ओर ध्यान न गया; इतिहास नाम से यदि किसी रचना को थोड़ा बहुत अभिहित किया जा सकता है तो वह कल्हण की 'राजतरंगिणी (शासकों की सरिता) है, जिसमें कश्मीर के राजवंश का वर्णन किया गया है; यह ग्रंथ बारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में लिखा गया था।

सौभाग्य से मिथिला का प्रदेश मुसलमानों की विजयों से होनेवाले विनाश से सुरक्षित रहा। उत्तर में तराई तथा दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में क्रमशः गंगा, कौशिकी एवं गंडकी से सुरक्षित होने के कारण मिथिला में शान्ति का राज्य रहा, जिससे विद्वान् लोग निश्चिन्त होकर ज्ञान-चर्चा में लगे रह सके। चौदहवीं शताब्दी में कार्णाट वंश ने संस्कृत को बहुत प्रोत्साहन दिया; चंडेश्वर तथा अन्य विद्वानों ने स्मृति-साहित्य की खूब अभिवृद्धि की। पद्मभट्ट ने व्याकरण के एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की और भवदत्त मिश्र ने अलंकार एवं शृंगार के ग्रंथों की रचना की, नैषध पर भवदत्त की टीका, जो आज भी रुचिपूर्वक पढ़ी

---

१०४. मनमोहन चक्रवर्ती के 'मिथिला में स्मृति-साहित्य' निबन्ध में (जरन० एशि० सोसा० बंगा० १९१५, पृ० ३१३) बहुत उपादेय सामग्री संगृहीत है।

जाती है, इसी काल में लिखी गई थी। मैथिल-भाषा के विकास का भी प्रयत्न हुआ और अनेक पण्डितों ने इसमे योग दिया। विद्यापति ठाकुर ने संस्कृति, हिन्दी तथा मैथिली में साहित्य-रचना की; इसका रचनाकाल चौदहवी शताब्दी का अन्त तथा पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। बंगाल मे भी साहित्यिक गति-विधि शिथिल न थी; न्याय, स्मृति, भक्ति-दर्शन पर वहाँ अनेक ग्रंथ लिखे गये और रघुनन्दन मिश्र की स्मृति-सम्बन्धी रचना तो सुविख्यात ही है।

दक्षिण-भारत मुसलमान-प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त रहा; अतः वहाँ साहित्यिक गति-विधि जितनी तीव्र रही, उतनी भारत के अन्य किसी भाग में न रही। दक्षिण के हिन्दू राजवशों ने साहित्य-सृजन तथा सांस्कृतिक विकास को बहुत प्रोत्साहन दिया और विजयनगर-साम्राज्य में तो इस प्रकार के उद्योगों को सर्वथा अनुकूल परिस्थिति प्राप्त हुई। एक अभिलेख मे लिखा है कि विजय-नगर नरेश मारप्पा तथा उसके मंत्री माधव ने मिलकर 'शिवागम-स्तोत्र' की रचना की। वेदों का प्रसिद्ध भाष्यकार सायण द्वितीय हरिहर का मंत्री था और उसका भाई माधव बुक्का का मंत्री था। सलुवा-वंश के शासकों ने साहित्य को खूब प्रोत्साहन दिया; कृष्णदेव राय संस्कृत एवं तेलगू साहित्य का महान् संरक्षक था। इस साम्राज्य के अभिलेखों से विदित होता है कि यहाँ संस्कृत का खूब प्रचार था और यहाँ के राजकवि एवं लेखक राजकीय-पत्रों को तैयार करने में बहुत निपुण थे।

इस काल में जैनों ने भी धार्मिक एवं लौकिक साहित्य को समृद्ध किया। धार्मिक-ग्रंथों के प्रणेताओं के अतिरिक्त 'पम्पा-रामायण' का रचयिता नागचन्द्र, जो अभिनव पम्पा के नाम से अधिक विख्यात है, तथा अनेक नाटकों का रचयिता 'हस्तिमल्ल' यह दोनों दाक्षिणात्य थे, जैन कर्मकाण्ड तथा आचार-शास्त्र पर अनेक ग्रंथों एवं टीकाओं का रचयिता असधर, अनेक पौराणिक एव आचार-सम्बन्धी ग्रंथों का लेखक प्रभाचन्द्र तथा सकलकीर्ति, जो पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य-भाग में हुआ, इस काल के अन्य लेखक है। इस युग में रचा गया 'अपभ्रंश' साहित्य जो आज भी हमें प्राप्त होता है, इस काल का विशेष उल्लेखनीय कार्य है। दिगम्बर-सम्प्रदाय के जैन-विद्वानों ने लोक-भाषाओं में अपने ग्रंथों का प्रणयन किया; इससे कन्नड़ तथा तामिल भाषाओं को साहित्यिक रूप प्राप्त हो गया। ग्यारहवी शताब्दी तक श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के जैन-विद्वान् अपने धार्मिक-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में ही व्यस्त रहे; परन्तु ग्यारहवी शताब्दी के पश्चात् उन्होंने स्वतन्त्र दार्शनिक एवं काव्य-ग्रंथों का प्रणयन किया। इस काल के लेखकों में हेमचन्द्र सर्वाधिक प्रसिद्ध था।

इस युग के भाषा-साहित्य का भी थोड़ा-सा दिग्दर्शन करा देना ठीक होगा। भारत की वर्तमान भाषाओं का उद्भव, बारहवी शताब्दी से प्राचीन नही कहा जा सकता। हिन्दी का सर्वप्रथम कवि चन्दवरदाई बताया जाता है, जिसने ६६ खंडों एवं १,००,००० पद्यों मे 'पृथ्वीराजरासो' की रचना की। इस महाकाव्य मे चन्द ने दिल्ली के चौहान सम्राट् के युद्धों एवं प्रणयलीलाओं का वर्णन किया है। परन्तु इस महाकाव्य में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ दन्तकथाओं एवं लोकवार्ताओं को इस प्रकार मिला दिया गया है कि उनको अलग करना सम्भव नही है। चन्दवरदाई के काल-निर्धारण के लिए विद्वानों की सम्मतियाँ एक दूसरे के इतनी विपरीत हैं कि निश्चयपूर्वक कोई निर्णय दे सकना कठिन है, इस महाकाव्य का अधिकांश भाग बहुत बाद की रचना जान पड़ता है, परन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि बारहवीं शताब्दी में चन्द्र नाम का कोई कवि अवश्य विद्यमान था, जिसने अपने संरक्षक पृथ्वीराज चौहान के सम्मान में काव्य-रचना की थी। 'आल्हखंड' का रचयिता जगनिक चन्दवरदाई का समकालीन था;[१०५] इस काव्य में महोबा के परमाल के सामंतों, आल्हा और ऊदल के प्रेम एवं युद्ध की घटनाओं का फड़कती भाषा में वर्णन किया गया है। इनके बाद के लेखकों में 'हम्मीर रासो' एवं 'हम्मीर काव्य' का रचयिता सारंगधर, भूपति, मुल्ला दाऊद एवं अमीर खुसरो, जिसका पीछे उल्लेख हो चुका है, प्रसिद्धतम हैं। खुसरो प्रधानतः फारसी का कवि था, परन्तु हिंदी की भी कुछ कविताएँ उसकी रची हुई बताई जाती है। एक स्थान पर खुसरो ने हिन्दी भाषा की बहुत प्रशंसा की है और इसकी अभिव्यंजना की शक्ति एवं अलंकार-समृद्धि की चर्चा की है।[१०६] अरबी, फारसी एवं हिन्दी की तुलना करते हुए खुसरो ने लिखा है कि :—

"..........परन्तु मैं भूल में था, क्योंकि यदि इस विषय पर गम्भीर विचार किया जाय, तो हिन्दी भाषा फारसी से किसी प्रकार निम्नकोटि की प्रतीत न होगी। यह अरबी से, जो सब भाषाओं मे प्रधान है, निम्नकोटि की है। राय तथा रूम (फारस के नगर, जिनको इलियट ने भूल से राय और राम लिख दिया है) में प्रचलित भाषा को, इस विषय पर ठीक-ठीक विचार करने पर मैं हिन्दी से हीन समझता हूँ........हिन्दी भाषा अरबी से इस बात मे समानता रखती है कि दोनों भाषाओं में संधियों को स्थान नही मिला है। यदि अरबी में व्याकरण एवं पद-संगति है, तो हिन्दी मे भी इनका एक

१०५. के—'हिन्दी लिटरेचर' पृ० १५।

१०६. इलियट, ३, परिशिष्ट, पृ० ५५६।

अक्षर कम नहीं है। यदि तुम पूछो कि इसमें अभिव्यंजना एवं अलंकार-शास्त्र है, तो मैं उत्तर दूंगा कि इन दोनों में हिन्दी किसी प्रकार से हीन नहीं है। जिस किसी ने इन तीनों भाषाओं का संग्रह किया है, वही जान सकेगा कि मैंने अशुद्धि अथवा अतिशयोक्ति-रहित बात कही है।"[१०७]

खुसरो के पद्यों में 'प्रवान, सुन्दर'कामिन' जैसे संस्कृत-हिन्दी के अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। खुसरो ने फारसी-हिन्दी का एक छन्दोबद्ध कोष लिखा है जो 'खालिकबारी' के नाम से अभिहित है। इस ग्रन्थ के द्वारा हिन्दी जानने वालों को फारसी के और केवल फारसी जानने वालों को हिन्दी के समानार्थक शब्दों का ज्ञान हो सकता है। इस ग्रन्थ का आरम्भ उसने इस प्रकार किया है—'खालिकबारी सरजनहार, वाहिद एक बदा करतार।' चौदहवीं शताब्दी में गोरखनाथ ने भी ग्रथरचना की, परन्तु उसके ग्रथ अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं।[१०८] उत्तर-भारत में भक्ति-आन्दोलन ने हिन्दी-साहित्य को बहुत समृद्ध किया। भक्ति-संप्रदाय के अनेक आचार्यों ने हिन्दी को अपनाया और संसार के कुछ अद्वितीय भक्तिपूर्ण पद्यों की रचना की। मराठा संत नामदेव ने मुख्य रूप से मराठी मे रचना की, परन्तु 'ग्रंथ' में उसके कुछ हिन्दी-पद्य भी संगृहीत हैं। रामानन्द ने भी अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए लोकभाषा को अपनाया, और यद्यपि उसकी रचनाएँ अधिक नहीं है, परन्तु हिन्दी मे एक स्तुति 'आदि ग्रंथ' में सुरक्षित है। रामानन्द का प्रधान शिष्य 'कबीर-पंथ' का सस्थापक कबीर था। कबीर ने अत्यंत स्पष्ट शब्दों मे धार्मिक रूढ़ियों एवं मूर्ति-पूजा का खण्डन किया और ईश्वर-साक्षात्कार एवं पवित्र जीवन बिताने का उपदेश दिया। कबीर की बाणी साखी एवं रमैनी के रूप में है। यद्यपि कबीर की बाणी में उच्च कोटि का काव्य-कौशल नहीं है, परन्तु यह बाणी धर्म के नाम पर प्रचलित रूढ़ियों, आडम्बरों और दुराचारों के प्रति उग्र विद्रोह करनेवाले, सत्य-धर्म के प्रकाश के लिए छटपटानेवाले हृदय से निकली हुई बाणी है। धर्म के बाह्याचारों और आडम्बरों की उन्होंने तीव्र भर्त्सना की है और इस सम्बन्ध में उन्होंने धर्म के ठेकेदारों की खूब खबर ली है। धर्म के ये ठेकेदार भले ही पण्डित-पुरोहित हों या मुल्ला-मौलवी। जपमाला, छापा-तिलक, मूर्ति-पूजा, व्रत-उपवास, रोजा इत्यादि की तीव्र आलोचना की है। रोजा को लेकर एक स्थल पर मुसलमानों को फटकारते हुए वे कहते हैं :—

---

१०७. इलियट, ३, परिशिष्ट, पृ० ५५६।

१०८. मिश्र-बन्धुओं ने इसका समय १३५० ई० माना है। 'मिश्र-बन्धु-विनोद'—भा० १, पृ० २।

दिन भर रोजा रखते है, राति हनत है गाय।
एक तो खून एक बन्दगी, कैसे खुसी खुदाय ॥

इसी प्रकार हिन्दुओं की मूर्ति पूजा की आलोचना करते हुए कहा है :-

दुनिया ऐसी बावरी पाथर पूजन जाय।
घर की चकिया कोऊ न पूजै जाका पीसा खाय ॥

इस प्रकार कबीर धर्म के वाह्याडम्बरों को छोडकर हृदय की निर्मलता पर जोर देते थे। उनका कहना था कि ईश्वर के प्रति प्रेम ही जीवन का सार तत्त्व है। बिना प्रेम के उच्च से उच्च ज्ञान भी महत्त्वहीन हो जाता है। जैसा कि उनकी निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट होता है—

पोथी पढि-पढि जग मुवा पण्डित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पण्डित होय ॥

कबीर को रहस्यवादी कवि कहा जाता है। उनके काव्य में ब्रह्म या परमात्मा के साथ आत्मा के मिलन के स्वर गूंजते हैं। आत्मा और परमात्मा के महामिलन में एक बहुत बड़ी बाधा है, वह है माया। कबीर के अनुसार जब तक जीव जगत् के सम्मोहक मोह-पाश में बँधा है, माया में फँसा है तबतक उसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। योगी, यती, मुनि, पीर, पैगम्बर सभी माया के वशीभूत हैं। उन्होंने माया को रमैया की दुल्हन का नाम दिया है :—

रमैया की दुल्हनी लूटा बजार।
सुरपुर लूट नागपुर लूटा,
तीन लोक मचा हाहाकार।
ब्रह्मा लूटे, महादेव लूटे,
नारद मुनि के परी पिछार।

के ने ठीक ही लिखा है कि हिन्दी-धार्मिक-साहित्य को लोकप्रिय बनाने तथा इसके प्रभाव का विस्तार करनेवाला प्रथम सन्त कवि कबीर ही था। हिन्दी का तत्कालीन धार्मिक-साहित्य कबीर का बहुत ऋणी है।[१०९]

कबीर के पश्चात् सिख-धर्म के संस्थापक नानक ने गुरुमुखी तथा हिन्दी मिले हुए धार्मिक पद्यों की रचना की, जो कबीर की वाणी के समान तीव्र अनुभूति, कथन-कौशल एवं मौलिकतापूर्ण न होने पर भी 'स्पष्ट है और काव्य-गुणों से हीन नहीं हैं'।[११०] इसी काल में मेवाड़ की राजवधू मीराबाई ने अपने भाव-प्रवण, स्वानुभूति की तीव्रता से ओत-प्रोत तथा करुणापूर्ण मधुर

१०९. के—हिन्दी लिटरेचर—पृ० २५।

११०. नानक की एक प्रसिद्धतम रचना 'जपजी', है, जो नित्य जप करने के उद्देश्य से लिखी गई।

संगीतमय कृष्ण-भक्ति के गीतों में लक्ष-लक्ष जनों के हृदयों को भाव-विभोर किया। राधा-कृष्ण संप्रदाय के आचार्यों ने भी हिन्दी-साहित्य के भंडार की अभिवृद्धि में योग दिया। मिथिला के विद्यापति ठाकुर ने राधा-कृष्ण प्रेम, विरह और भक्ति के गीत लिखे और विट्ठलनाथ ने ब्रजभाषा-गद्य में एक छोटे ग्रंथ की रचना की। मिश्र-बन्धुओं ने 'पारिजात-हरण' तथा 'रुक्मिणी-परिणय' की रचना का श्रेय विद्यापति ठाकुर को दिया है, परन्तु आधुनिक गवेषणाओं से सिद्ध हुआ है कि पहिले ग्रन्थ की रचना मिथिला के उमापति उपाध्याय ने की थी, दूसरे ग्रन्थ के प्रणेता के विषय में अभी असंदिग्ध रूप में कोई निर्णय नहीं दिया गया है।[111]

बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र एवं सुदूर दक्षिण में स्थानीय भाषाओं में भी साहित्य का विकास हुआ। नरसी मेहता गुजरात में उस काल का प्रसिद्धतम कवि हुआ है; उसके छोटे-छोटे भक्तिभाव पूर्ण धार्मिक गीत आज भी सहस्रों कंठों में स्थान पाते हैं। बंगाल में कृत्तिवास ने, जिसका जन्म १३४६ ई० में हुआ था, संस्कृत 'रामायण' का बँगला में अनुवाद किया। बंगाली भाषा एवं साहित्य के विद्वान् इतिहास-लेखक दिनेशचन्द्र सेन ने इस कृति के विषय में लिखा है कि "वास्तव में यह गंगा की घाटी के लोगों की बाइबिल है और अधिकतर कृषक लोग ही इसे पढ़ते हैं।"[112] नुसरतशाह के दरबारी मालाधर वसु ने १४७३ ई० में भागवत के दशम एवं एकादश स्कन्द का अनुवाद प्रारंभ किया और इसको १४८० ई० में पूर्ण किया। हुसैनशाह के एक सेनाध्यक्ष परागल खाँ के आग्रह करने पर कवीन्द्र परमेश्वर ने महाभारत का स्त्री-पर्व तक अनुवाद किया। नुसरतशाह ने भी महाभारत का बँगला में अनुवाद करवाया और यह शासक बँगला साहित्य को सदैव प्रोत्साहित करता रहा। महाभारत का सबसे प्राचीन पाठ कृत्तिवास के समकालीन संजय नामक ब्राह्मण ने प्रस्तुत किया था।[113] इस काल में बंगाल में जिस विशाल चैतन्य-साहित्य का सृजन हुआ उसका विस्तृत वर्णन स्थानाभाव के कारण यहाँ संभव नहीं है।

नामदेव की अधिकांश रचना मराठी में है और 'ग्रंथ' में सुरक्षित है। ज्ञानोबा, जिसने 'भगवतगीता' की टीका लिखी और मुकुन्दराय, जिसने वेदान्त

१११. मिश्र-बन्धु-विनोद, भा० १, पृ० २४७।

११२. दिनेशचन्द्र सेन—'हिस्ट्री ऑव बेंगाली लैंगुएज ऐण्ड लिटरेचर' पृ० १७०।

११३. वही, पृ० २००।

पर बहुत कुछ लिखा है, नामदेव के समकालीन थे ।[114] तामिल तथा कन्नड़ी में सबसे पहले जैन विद्वानों ने रचना की, परन्तु तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी में शैव-आन्दोलन से इनमें साहित्य-सृजन के कार्य को बहुत प्रेरणा मिली। तेलगू साहित्य को विजयनगर के शासकों से बहुत प्रोत्साहन मिला। कृष्णदेव राय स्वयं भी साहित्य-रचना में रुचि रखता था और उसने 'अमुक्तमाल्यद' नामक एक काव्य लिखा था। उसका राजकवि अल्लसनी पेद्दन की रचनाओं में मौलिकता पर्याप्त मात्रा में है; 'स्वारोचिष मनुचरित्र' उसकी प्रसिद्धतम रचना है, जो मार्कण्डेय पुराण की एक कथा पर आधारित है।

धार्मिक सुधार-भक्ति-आन्दोलन—मुसलमानों के आगमन से पूर्व ब्राह्मण धर्म समस्त भारत में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुका था। बौद्ध और जैन धर्मों ने इसके जटिल कर्मकाण्ड एव वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह अवश्य किया था और धीरे-धीरे इसकी समकक्षता भी प्राप्त कर ली थी, जैसा कि सम्राट् हर्षवर्धन का बौद्ध एव ब्राह्मण दोनों ही उपासना-पद्धतियों का अनुसरण करना तथा दोनों ही धर्मालम्बियों को दान देना प्रकट करता है, परन्तु अन्ततोगत्वा ब्राह्मण धर्म अपने प्रतिद्वंद्वी धर्म-मतों को दबाकर पुनः उच्च स्थिति प्राप्त करने में सफल हो गया। ब्राह्मण-धर्म की इस सफलता का अधिकतर श्रेय उदयन एवं शंकराचार्य को है। आचार्य शंकर ने बौद्ध-धर्म का अकाट्य तर्कों से खण्डन किया। इस शास्त्रार्थ-कला में दक्ष महान् धर्माचार्य के अथक प्रयत्नों के सम्मुख बौद्ध-धर्म टिक न सका और भारत से लुप्त ही हो गया। जैन-धर्म ने सर्वमान्य धर्म-मत बनने का विचार त्यागकर थोड़े से अनुयायियों तक सीमित रहने में ही संतोष लाभ किया। परन्तु शंकराचार्य ने जिस निर्गुण सच्चिदानन्द ब्रह्म का प्रतिपादन किया, वह भक्ति का आलम्बन न बन सकता था और शंकराचार्य के मायावाद ने इस वास्तविक संसार में प्रेम एवं दया के लिए कोई स्थान न रहने दिया। भक्ति का विषय अनन्त-विभूति-सम्पन्न ब्रह्म ही बन सकता है। अतः शंकर के अद्वैतवाद ने वैष्णव सम्प्रदाय के मूल में ही कुठाराघात किया।[115] शंकर के मायावाद के विरुद्ध ग्यारहवीं शताब्दी में भक्ति-मार्ग ने सिर उठाया और शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन करने के लिए रामानुजाचार्य ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा। रामानुज को दक्षिण के तामिल संतों से बहुत प्रेरणा प्राप्त हुई थी।[116]

११४ ग्रियर्सन—'वर्नाक्यूलर लिटरेचर'—इम्पी० गजेटि० २, पृ० ४३१।

११५. भण्डारकर—'वैष्णविज्म' पृ० ५१

११६. भण्डारकर—'वैष्णविज्म' पृ० ५१।

की प्रतिष्ठा की। रामानुज का जन्म १०१६ ई० के आसपास हुआ था।[120] उन्होंने कांची मठ के आचार्य यादव प्रकाश से, जो अद्वैतवाद के अनुयायी थे, वेद-वेदांगों की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् वह शृंगेरि मठ में यमुनाचार्य की गद्दी पर प्रतिष्ठित हुए। आचार्य की प्रतिष्ठा एवं विद्वत्ता से जलकर कुछ दुष्टों ने उनके वध का विफल षड्यन्त्र किया। जीवन के अंतिम वर्षों में रामानुज को चोल नरेश कुलोत्तुंग ने बहुत यातनाएँ दीं और शैव-मत ग्रहण करने के लिए कहा। सुरक्षा के विचार से रामानुज होयसल-नरेश विष्णुवर्धन के राज्य में चले आये; यहाँ उन्होंने तत्कालीन शासक के भाई को वैष्णव-संप्रदाय का अनुयायी बनाया। तामिल-देश के अल्वरों (संतों) में रामानुज ने 'भक्ति' की मूल भावना प्राप्त की। रामानुज की निर्गुण भक्ति और ईश्वर के निर्गुण रूप में कोई आस्था नहीं थी। रामानुज ने जिस सिद्धांत (विशिष्टाद्वैत) का प्रतिपादन किया, उसमें भक्ति को स्थान प्राप्त हुआ। रामानुज का सिद्धांत यह था कि जीवात्मा और ब्रह्म सर्वथा एक नहीं है; जीवात्माएँ ब्रह्म से उसी प्रकार उत्पन्न होती है जैसे अग्नि से स्फुलिंग। ब्रह्म निर्गुण नहीं है। वह सगुण ईश्वर है; उसमें अनन्त कल्याणकारी गुण है। भक्ति से ही जीवात्मा ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त कर सकती है और भक्ति ज्ञान का ही एक रूप है। उपासक की आध्यात्मिक प्रगति की चरम स्थिति ईश्वर के अनन्त कल्याणकारी गुणों के ध्यान में समाधिस्थ हो जाना है। इस प्रकार रामानुज ने शंकर के मायावाद का खंडन कर भक्ति की प्रतिष्ठा की। ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? इसके उत्तर में रामानुज ने कृष्ण के इन शब्दों का निर्देश किया है "जो अनन्य भक्तिभाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनको मैं वह ज्ञान देता हूँ, जिससे वह मुझको प्राप्त कर सकें।" इच्छाओं के अभाव से ही भक्ति प्राप्त होती है। संन्यास भावना से कार्य में तत्पर होना चाहिए और फलेच्छा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यही ज्ञान-प्राप्ति का उपाय है। उत्तर-भारत में रामानुज के अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं है, परन्तु दक्षिण भारत में इनकी संख्या बहुत अधिक है। ये विष्णु तथा उसकी शक्ति लक्ष्मी की अनन्य भक्तिभाव से उपासना करते हैं और विष्णु को ब्रह्म एवं सबका जन्मदाता मानते हैं।

शंकर के मायावाद के दूसरे विरोधी आचार्य निम्बार्क रामानुज के समकालीन थे। इनका जन्मस्थान निम्ब था, जिसको भण्डारकर ने मद्रास के

१२०. परम्परागत मत के अनुसार रामानुज १२० वर्ष तक जीवित रहे (१०१७-११३७ ई०)। आयंगर—'एन्शियन्ट इण्डिया' पृ० १९२-२२१।

शताब्दी में प्रचलित था। महाभारत के 'नारायणीय' खंड के अध्ययन से विदित होता है कि बाद में इस आन्दोलन ने संप्रदाय का रूप ग्रहण कर लिया और यह 'पंचरात्र' तथा 'सात्वत-धर्म' के नाम से अभिहित हुआ। सात्वत-जाति ने इसको अपनाया। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में मेगास्थनीज ने इसको प्रचलित पाया था। धीरे-धीरे नारायण एवं विष्णु संप्रदायों के समन्वय से वैष्णव सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। ४००-४६४ ई० के मध्य गुप्त-सम्राटों ने 'परम-भागवत' की उपाधि धारण की थी।[119] सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त सातवीं शताब्दी में मगध के गुप्त-शासक आदित्य सेन ने गया जिले में एक मन्दिर विष्णु को समर्पित किया था, और विष्णु के साथ हर एवं ब्रह्मा को रखा था। अभिलेखों से आठवीं शताब्दी के अन्त तक भागवत-धर्म की प्रगति का परिचय मिलता है।

ईसा की नवीं शताब्दी में महान् आचार्य शंकर ने 'अद्वैत'-सिद्धांत का प्रचार किया। शंकराचार्य का समस्त जीवन शास्त्रार्थों एवं भारत के कोने-कोने में 'अद्वैतवाद' के प्रचार में व्यतीत हुआ। अनवरत परिश्रम से तथा अप्रतिम बुद्धि के बल पर शंकराचार्य ने बौद्ध-धर्म को सर्वत्र परास्त किया। देश में सर्वत्र शंकराचार्य का प्रभाव व्याप्त हो गया। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुज ने शंकर के मायावाद का खंडन कर विशिष्टाद्वैत

११९. भागवत-धर्म ईसा से तीन या चार शताब्दी पूर्व विद्यमान था—इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। पतंजलि ने महाभाष्य में वासुदेव का उपास्य के रूप में उल्लेख किया है। मेगास्थनीज ने लिखा है कि सौरसेनी (शूरसेन-प्रदेश) में, जिसके अन्तर्गत मथुरा है तथा जमुना बहती है, हेरेक्लीज की उपासना की जाती थी। यह धर्म कुछ थोड़े से भिन्न रूप में गुप्त-काल तक चला आता रहा, जब कि गुप्त-सम्राटों ने 'परम भागवत' की उपाधि धारण की। अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि भागवत धर्म की विधि के अनुसार विष्णु-पूजा चौथी से ग्यारहवीं शताब्दी तक होती रही। गोपालकृष्ण की विभिन्न लीलाओं का संकेत इन अभिलेखों में कदाचित् ही मिलता है। अतः जान पड़ता है कि गोपालकृष्ण को विष्णु का अवतार बहुत बाद के समय में माना जाने लगा। इससे पूर्व भागवत-धर्म का भारतीय जनता पर सर्वाधिक प्रभाव रहा।

इन्डि० एण्टि० ३, पृ० ३०५; ५, पृ० ३६३।

बाण के 'हर्ष चरित' में दिवाकर मित्र भागवतों तथा पंचरात्रों से घिरा है। आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में राष्ट्रकूट राजा द्वारा बनवाये एलोरा के दशावतार-मंदिर में कृष्ण की गोवर्धन-पर्वत उठाये हुए, एक मूर्ति है। इलाहाबाद से ३२ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर पावोसा में एक गुफा के चित्रों में, जिनको ब्यूहलर ने सातवीं या आठवीं शताब्दी का बताया है, कृष्ण और गोपियों को अंकित किया गया है—एपिग्रा, इण्डि० ३, पृ० ४८२।

की प्रतिष्ठा की। रामानुज का जन्म १०१६ ई० के आसपास हुआ था।[120] उन्होंने कांची मठ के आचार्य यादव प्रकाश से, जो अद्वैतवाद के अनुयायी थे, वेद-वेदांगों की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् वह शृंगेरि मठ में यमुनाचार्य की गद्दी पर प्रतिष्ठित हुए। आचार्य की प्रतिष्ठा एवं विद्वत्ता से जलकर कुछ दुष्टों ने उनके वध का विफल षड्यन्त्र किया। जीवन के अंतिम वर्षों में रामानुज को चोल नरेश कुलोत्तुंग ने बहुत यातनाएँ दीं और शैव-मत ग्रहण करने के लिए कहा। सुरक्षा के विचार से रामानुज होयसल-नरेश विष्णुवर्धन के राज्य में चले आये; यहाँ उन्होंने तत्कालीन शासक के भाई को वैष्णव-संप्रदाय का अनुयायी बनाया। तामिल-देश के अल्वरों (संतों) से रामानुज ने 'भक्ति' की मूल भावना प्राप्त की। रामानुज की निर्गुण भक्ति और ईश्वर के निर्गुण रूप में कोई आस्था नहीं थी। रामानुज ने जिस सिद्धांत (विशिष्टाद्वैत) का प्रतिपादन किया, उसमें भक्ति को स्थान प्राप्त हुआ। रामानुज का सिद्धांत यह था कि जीवात्मा और ब्रह्म सर्वथा एक नहीं हैं; जीवात्माएँ ब्रह्म से उसी प्रकार उत्पन्न होती है जैसे अग्नि से स्फुलिंग। ब्रह्म निर्गुण नहीं है। वह सगुण ईश्वर है; उसमें अनन्त कल्याणकारी गुण है। भक्ति से ही जीवात्मा ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त कर सकती है और भक्ति ज्ञान का ही एक रूप है। उपासक की आध्यात्मिक प्रगति की चरम स्थिति ईश्वर के अनन्त कल्याणकारी गुणों के ध्यान में समाधिस्थ हो जाना है। इस प्रकार रामानुज ने शंकर के मायावाद का खंडन कर भक्ति की प्रतिष्ठा की। ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? इसके उत्तर में रामानुज ने कृष्ण के इन शब्दों का निर्देश किया है "जो अनन्य भक्तिभाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनको मैं वह ज्ञान देता हूँ, जिससे वह मुझको प्राप्त कर सके।" इच्छाओं के अभाव से ही भक्ति प्राप्त होती है। संन्यास भावना से कार्य में तत्पर होना चाहिए और फलेच्छा का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यही ज्ञान-प्राप्ति का उपाय है। उत्तर-भारत में रामानुज के अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं है, परन्तु दक्षिण भारत में इनकी संख्या बहुत अधिक है। ये विष्णु तथा उसकी शक्ति लक्ष्मी की अनन्य भक्तिभाव से उपासना करते है और विष्णु को ब्रह्म एवं सबका जन्मदाता मानते है।

शंकर के मायावाद के दूसरे विरोधी आचार्य निम्बार्क रामानुज के समकालीन थे। इनका जन्मस्थान निम्ब था, जिसको भण्डारकर ने मद्रास के

१२०. परम्परागत मत के अनुसार रामानुज १२० वर्ष तक जीवित रहे (१०१७-११३७ ई०)। आयंगर—'एन्शियन्ट इण्डिया' पृ० -१६२-२२१।

वेलारी जिले में निम्बपुर बताया है;[१२१] इनका देहान्त ११६२ ई० में हुआ। निम्बार्क तैलंग ब्राह्मण थे और इनके पिता भागवत-धर्म के अनुयायी थे। निम्बार्क ने भी, कार्पेन्टर के शब्दों में, रामानुज के 'विशिष्टाद्वैत' के समान विभिन्न धार्मिक-सिद्धांत में समन्वय स्थापित किया।[१२२] निम्बार्क का सिद्धांत अद्वैत एवं द्वैत दोनों में सामंजस्य स्थापित करना है।[१२३] "निर्जीव संसार, जीवात्मा तथा ब्रह्म परस्पर भिन्न भी है और एक भी।"[१२४] ब्रह्म जगत् का उपादान कारण भी है और.....कारण भी। निम्बार्क के मत में गोपालकृष्ण त्रिभुवनपति है और आनंद-प्राप्ति का एकमात्र उपाय कृष्ण के चरणों में भक्ति है। इस प्रकार निम्बार्क-संप्रदाय में ही सर्वप्रथम 'लीला' तत्त्व प्रकट हुआ जो बाद में वैष्णव संप्रदाय का प्रधान अंग बना।[१२५] मथुरा के आसपास निम्बार्क के अनुयायी पर्याप्त संख्या में हैं।

१२०० ई० के लगभग शृंगेरी से चालीस मील पश्चिम की ओर दक्षिण कन्नड-प्रदेश के उदीपी जिले में कल्याणपुर में माध्वाचार्य का जन्म हुआ। इन्होंने युवावस्था में ही संन्यास ग्रहण किया और इधर-उधर भ्रमण करने लगे। उस समय भारत में शास्त्रार्थों की धूम मची थी और इस युवक संन्यासी ने अपने आपको परस्पर विरोधरत मतों से घिरा पाया। अनेक वर्षों तक अध्ययन एवं विचार-विनिमय में कठोर श्रम करने के उपरान्त माध्व ने दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया और अनेक प्रमुख प्रतिपक्षी मत के आचार्यों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। हिमालय में तपस्या करने के पश्चात् वह हरिद्वार में आये, यहाँ उन्होंने वेदान्त सूत्रों पर अपना भाष्य प्रकाशित किया। माध्व के मत में मानव-जीवन का अंतिम लक्ष्य हरि का साक्षात्कार है, इसी से मोक्ष-प्राप्ति होती है। माध्व ने भी भक्ति को ज्ञान का ही एक रूप माना है और सगुण ईश्वर के निरन्तर ध्यान को आध्यात्मिक प्रगति का अंतिम सोपान बताया है। उन्होंने आत्मा को तीन श्रेणियों में रखा—(१) स्वर्गीय सुख की अधिकारिणी (२) जन्म-मरण के चक्र में सदैव घूमनेवाली (३) सदैव नरक में वास

१२१. कार्पेन्टर—'थीज्म इन मीडियवल इण्डिया' पृ० ४०४।

१२२. वही—पृ० ४०५।

१२३. भण्डारकर—'वैष्णविज्म' पृ० ६३।

१२४. वही—पृ० ६३।

१२५. वही, पृ० ६६। रामानुज और निम्बार्क के मतों में प्रधान अन्तर यह है कि रामानुज ने केवल विष्णु और लक्ष्मी, भू और लीला को उपास्य माना और निम्बार्क ने राधा-कृष्ण को ही एकमात्र उपास्य स्वीकार किया। भण्डारकर 'वैष्णविज्म'—पृ० ६५-६६।

करनेवाली, भक्ति और ज्ञान ही जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति दिला सकते हैं।

चौदहवीं शताब्दी में [१२६] रामानन्द ने जाति-भेद समाप्त करने का प्रयत्न किया। शास्त्रों की शिक्षा पूर्ण कर, उन्होंने 'विशिष्टाद्वैत' के आचार्य राघवेन्द्र का शिष्यत्व ग्रहण किया और मायावाद का खंडन करते हुए तीर्थ-स्थानों की यात्रा करने लगे; सीताराम उनके उपास्य थे, वह सर्वप्रथम आचार्य थे जिन्होंने अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए बोलचाल की भाषा अपनाई। उनके शिष्यों में सभी जाति के लोग थे। उत्तर भारत में रामानन्द के शिष्यों की संख्या बहुत अधिक है; वे सीता-राम की उपासना करते हैं और नाभाजी का भक्त-माल उनका प्रिय ग्रन्थ है। रामानन्द के शिष्यों में कबीर सर्वाधिक विख्यात हुए।

वैष्णव संप्रदाय की दूसरी प्रधान शाखा कृष्णभक्ति के प्रमुख आचार्य वल्लभ हुए। उनका जन्म १४७९ ई० में तेलगू प्रान्त में लक्ष्मण भट्ट नामक तैलंग ब्राह्मण के घर में हुआ। बाल्य-काल से ही अद्‌भुत बुद्धि-वैभव प्रकट करने के कारण लोग उनको सरस्वती का अवतार समझने लगे। शिक्षा पूर्ण कर उन्होंने तीर्थयात्रा प्रारंभ की और विजयनगर के शासक कृष्णदेव राय की राजसभा में शैव-आचार्यों को शास्त्रार्थ में परास्त किया।[१२७] तत्पश्चात् उन्होंने मथुरा, वृन्दावन आदि स्थानों की यात्रा की और उसके बाद बनारस में रहने लगे; यहाँ इन्होंने १७ ग्रन्थों की रचना की जिनमें श्रीमद्‌भागवत की 'सुबोधिनी टीका' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसके दशम-स्कध

१२६. भण्डारकर ने 'अगस्त्य-संहिता' से रामानन्द की जन्म-तिथि उद्धृत की है; यह कलि सं० ४४००—विक्र० सं० १३५६-१२९९ या १३०० ई० है। एक मत के अनुसार उसका जन्म १२९९ ई० में प्रयाग के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ; प्रखर-बुद्धि-संपन्न बालक रामानन्द को १२ वर्ष की अवस्था में शास्त्राध्ययन के लिए बनारस भेजा गया। कार्पेन्टर—'थीइज्म इन मीडियवल इण्डिया' पृ० ४२८, टिप्पणी १। भण्डारकर ने १२९९-१३०० ई० की तिथि मानी है। 'वैष्णविज्म' पृ० ६७। मैकोलिफ ने रामानन्द का जन्म मैसूर में मालीकोट में बताया है और चौदहवीं शताब्दी का अंतिम तथा पन्द्रहवीं शताब्दी का आरम्भिक भाग उसका समय माना है। फार्कुहर ने पहिले इस मत को स्वीकार किया (जनरल रॉय० एशि० सोसा० १९०० पृ० १८७) परन्तु बाद में अस्वीकार कर दिया (जरन० रॉय० एशि०) सोसा० १९२२, पृ० ३७३ में 'दि हिस्टोरिकल पोजीशन आव रामानन्द' लेख)। मोनियर विलियम्स का कहना है कि वह चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ। 'हिन्दूइज्म' पृ० १४२।

१२७. कृष्णदेव राय का समय १५०९-१५२९ ई० है।

में उन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है । वल्लभाचार्य ने 'शुद्धाद्वैत' मत की स्थापना की। उनके मतानुसार माया ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अपितु ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है; ब्रह्म, जीव और जगत् में कोई भेद नहीं है, माया जीव और जगत् के बीच संबंध स्थापित करती है। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए भक्ति के विभिन्न अंगों की शरण लेनी चाहिए। वल्लभाचार्य का मत 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है जिसका योरोपीय विद्वानों ने भूल से 'सुखभोगों का मार्ग' अर्थ किया है परन्तु वास्तव में इसका अर्थ प्रभु की कृपा प्राप्त करानेवाला मार्ग है; भक्ति से ही प्रभु-कृपा प्राप्त होती है। संसार के सुख भोगों से निर्लिप्त रहना तथा आत्म-संन्यास यह वल्लभ के मत के प्रमुख उपदेश है। वल्लभाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है कि "सांसारिक कार्यों के केन्द्र गृह का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यदि यह संभव न हो तो मनुष्य को चाहिए कि वह इसको ईश्वरार्पण कर दे, क्योंकि वही दुःखों से मुक्ति देनेवाला है।" एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है कि जब तक शरीर में वासनाएँ विद्यमान हैं, तब तक ईश्वर-साक्षात्कार संभव नहीं है। परन्तु बाद में श्री वल्लभाचार्य के अनुयायियों ने उनके उपदेशों को भुला दिया और वह कृष्ण की बाल्य-क्रीड़ाओं पर बल देने लगे तथा यह प्रचार करने लगे कि मानवीय गुणों से विभूषित भगवान् की उपासना व्रत एवं पूजा से न होनी चाहिए, अपितु सांसारिक विलास-क्रीड़ाओं को ही उसकी सेवा मानकर ग्रहण करना चाहिए। शुद्ध वैष्णव-मत के अनुसार गोपियों के साथ कृष्णलीला का आध्यात्मिक अर्थ होता है परन्तु श्री वल्लभाचार्य के कुछ अनुयायियों ने इसका सांसारिक अर्थ ग्रहण किया। उनके ऐसा करने से सम्प्रदाय की बड़ी हानि हुई।

इस प्रकार वल्लभ-संप्रदाय में अनेक कुप्रथाओं का प्रवेश हो गया और वह विलासितापूर्ण बन गया। इसके अनुयायी आत्म-निग्रह एवं आत्म-शुद्धि की ओर प्रवृत्त न होकर वासनाओं की तृप्ति में लिप्त होने लगे, जिससे इस सम्प्रदाय में अनेक दोषों का प्रवेश हो गया। इसके अनेक आचार्य विषय भोगों के लिए कुख्यात हो चुके हैं। गुजरात, राजपूताना तथा मथुरा के आसपास के प्रदेश के धनी व्यापारी इस संप्रदाय के अनुयायी हैं। उनको अपनी समस्त सम्पत्ति गुरु को अर्पित करने का उपदेश दिया गया और कभी-कभी, तो इस उपदेश का अक्षरशः पालन कराने में, भी चूक न की गई।[१२८]

१२८. भण्डारकर—'वैष्णविज्म' पृ० ८२।

इस प्रसंग में इस संप्रदाय के संकल्प-वाक्य जो प्रत्येक भक्त को इसमें

डा० भण्डारकर ने लिखा है कि "इस सम्प्रदाय का प्राण विलासमय सुखोपभोग जान पड़ता है, और इससे यही आशा की जा सकती है कि अपने अनुयायियों के साधारण आचार-व्यवहारों को इसने अवश्य प्रभावित किया होगा। सांसारिक भोगों के प्रति उदासीन बनानेवाली चारित्रिक शुद्धता इस संप्रदाय का लक्षण नहीं प्रतीत होता। इस सम्प्रदाय के दुराचारों की प्रतिक्रिया उन्नीसवीं शताब्दी में स्वामी नारायण द्वारा प्रारंभ किये गये आन्दोलन के रूप में हुई। वर्तमान काल में कई आचार्य ऐसे हुए हैं जिन्होंने शुद्ध धर्म की व्याख्या की है। उनकी विद्वत्ता, तपस्या तथा त्याग से जनता प्रभावित हुई है। उनके प्रयत्न से सम्प्रदाय में बहुत कुछ सुधार हुआ है।"[१२६]

बंगाल के प्रसिद्ध भक्ति-मार्ग-प्रवर्तक चैतन्य का जन्म १४८५ ई० में हुआ। पच्चीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने संसार त्याग दिया और संन्यास ग्रहण कर ६ वर्ष तक स्थान-स्थान प्रेममयी भक्ति का उपदेश देते हुए अनेक अद्वैतवादियों को अपना अनुयायी बनाया। देशाटन के उपरान्त वे चैतन्यपुरी में रहने लगे और अपने जीवन के शेष सोलह वर्ष उन्होंने यहीं बिताये। चैतन्य ने जाति-भेद का विरोध कर मानव-मात्र की बन्धुता, कर्मकाण्ड-मात्र की फलहीनता, हरि-भक्ति तथा हरि-नाम संकीर्तन का उपदेश दिया।

प्रेम और लीला चैतन्य के मत की विशेषताएँ हैं। श्रीकृष्ण परब्रह्म है, उनकी सुन्दरता पर कामदेव भी मोहित हो जाता है, गोकुल में कृष्ण की शाश्वत लीला चलती रहती है। चैतन्य का वेदान्त-सिद्धान्त निम्बार्क के समान 'भेदाभेदवाद' है। इसके अनुसार भक्ति से ही जीवात्मा परब्रह्म को प्राप्त

प्रवेश करते समय उच्चारण करने पड़ते हैं, विचारणीय हैं—ग्राउस, 'मथुरा ए, डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर' पृ० २६५।

१२६. भण्डारकर—'वैष्णविज्म' पृ० ८२।

भक्तों से अपनी सारी संपत्ति गुरु को समर्पित कर देने की माँग ने बहुत से जघन्य कृत्यों को जन्म दिया, जो बंबई हाईकोर्ट की १८६२ ई० की प्रसिद्ध जाँच में प्रकाश में आये।

हिन्दू-धर्म पर अपनी एक छोटी सी पुस्तिका में डा० बार्नेट ने इस प्रथा पर जो टीका की है, मुझे प्रामाणिक सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि वह भ्रान्त एवं अज्ञान-प्रसूत है। ग्राउस-'मथुरा' पृ० २६३।

'पुष्टि मार्ग' सिद्धांत ग्रन्थों में इन दुराचारों को कहीं भी स्वीकृति नहीं दी गई है, वह धनी अनुयायियों तथा सांसारिक अर्थ लगानेवालों के कारण इस संप्रदाय में आये हैं।

फार्कुहर—'एन आउटलाइन ऑव दि रिलिजस लिटरेचर ऑव इण्डिया' पृ० ३१२—१७।

कर सकती है।[130] कृष्ण को प्रेमी मानकर उसकी शाश्वत-लीलाओं में विभोर हो जाना ही जीवात्मा की सर्वोच्च अवस्था है। परब्रह्म कृष्ण के अनन्य-प्रेम के सागर में मग्न जीवात्मा ही राधा है। वह आदर्श-प्रेम-मात्र है। मनुष्य का परम पुरुषार्थ मुक्ति नहीं है अपितु कृष्ण को स्वामी, मित्र, पिता और अंततः प्रेमी के रूप में भजना ही मानव-जीवन का परमोद्देश्य है। इस प्रकार प्रतीत होता है कि चैतन्य के मत का लक्ष्य जीवात्मा की बुद्धि की अपेक्षा भावनाओं का संस्कार है।[131] चैतन्य-सम्प्रदाय में भावनाओं का सूक्ष्म-विवेचन किया गया है और इस भक्ति-सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रंथ कहीं-कहीं पर सूक्ष्म-भावनाओं की विवेचना करनेवाले मनोविज्ञान के ग्रंथ से जान पड़ते हैं।

चैतन्य ने स्वयं कुछ नहीं लिखा। दूसरे आचार्यों ने जो कार्य अपने भाष्यों से सम्पन्न किया चैतन्य ने वही कार्य अपने व्यक्तित्व के आकर्षण से पूर्ण किया। चैतन्य के हृदय में प्रेम का इतना प्राबल्य था कि मुरली बजाते हुए कृष्ण का, वृन्दावन के हरित वनों का, हरे-भरे मैदानों में चरती हुई गायों का तथा जमुना के घाटों पर स्नान करती हुई गोपियों का ध्यान आते ही वह समाधिस्थ हो जाते थे। प्रेम ही चैतन्य सम्प्रदाय का मूल मंत्र है; प्रेम की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"प्रत्येक जीव अपने शरीर एवं आत्मा को उसको समर्पित कर दे और व्यक्तिगत सुखोपभोगों से विरत हो जाये। उसको अपने प्रभु की इच्छा का पालन करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए और ऐसा करने में किसी भी त्याग से विमुख न होना चाहिए। उसको कृष्ण की मूर्ति की पूजा करनी चाहिए, उसकी चर्चा करनी चाहिए, उसके लिए माला गूंथनी चाहिए, उसके लिये धूप जलानी चाहिए और उसके मंदिर में चँवर डुलाना चाहिए तथा रात-दिन प्रभु तथा जगत् की सेवा में तत्पर रहना चाहिए। यह पुनः कह देना आवश्यक है कि वैष्णव-धर्म एकांतवासी का धर्म नहीं है और न ही पूर्णतया आत्म-समर्पण न करनेवाले का ही।"

१३०. चैतन्य का वेदान्त-सिद्धान्त भण्डारकर ने सूत्र रूप से इन शब्दों में रखा है, "जैसे मधुमक्खी मधु से भिन्न है, इसके चारों ओर चक्कर काटती रहती है और इसका पान करने पर इससे भर जाती है अर्थात् इसमें एकाकार हो जाती है, इसी प्रकार जीवात्मा पहले परमात्मा से भिन्न रहती है, निरन्तर उसको खोजती रहती है, और जब प्रेम द्वारा परमात्मभाव से भर जाती है तो अपने स्वतंत्र अस्तित्व को भूलकर उसी में समा जाती है।" 'वैष्णविज्म' में—पृ० ८५।

१३१. चैतन्य के भक्ति-सिद्धान्त के विवेचन के लिए देखिए—"चैतन्य चरितामृत"

चैतन्य की ओर जनता के आकर्षण का कारण उनकी सैद्धान्तिक व्याख्याएँ न होकर उनका अगाध प्रेम था। उनका कहना था कि प्रेम अनेक साधनों से बढ़ता है, इसकी उत्पत्ति श्रद्धा के निर्मल-प्रवाह से होती है और यह अनेक रूप धारण कर लेता है; कृष्ण के नाम-संकीर्तन में जाति-भेद के लिए कोई स्थान नहीं है; कृष्ण का नाम-स्मरण सब अशुद्धियों को दूर कर देता है। मानव-मात्र चैतन्य की दृष्टि में समान थे और बंगाल में इस प्रेम-भक्ति का प्रचार करने के लिए अपने दो शिष्यों को भेजते समय महाप्रभु चैतन्य ने उनको आदेश दिया कि "चाडालों तक प्रत्येक मनुष्य को कृष्ण-भक्ति का उपदेश करो और भक्ति तथा प्रेम का पाठ सभी को पक्षपात-रहित होकर सिखाओ।"[१३२] दुखमग्न मानवता को देखकर उनके संतप्त हृदय के उद्गार इन शब्दों में फूट पड़ते थे—

"मानवता के दुखों को देखकर मेरा हृदय फट पड़ता है। हे कृष्ण! उसके समस्त पापों का भार मेरे सिर पर डाल दो; उनके पापों के लिए मैं नारकीय यातनाएँ भोगूँ, जिससे तुम अन्य सभी प्राणियों के सांसारिक क्लेशों को दूर कर दो।" यह थी चैतन्य की प्रेम में पगी भक्ति, जिसका उन्होंने उच्च-नीच, ब्राह्मण-शूद्र सभी को आस्वादन कराया। बंगाल और उड़ीसा में चैतन्य के अनुयायी बहुत बड़ी संख्या में है और आज भी अनेक घरों में संध्याकाल के आनंद भरे समाजों में चैतन्य का नाम मध्ययुग की सी अगाध एवं उत्कट भक्ति और श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।

नामदेव, कबीर और नानक के उपदेशों में इस्लाम का प्रभाव दिखाई देता है। इन सब संतों ने जाति-पाँति, बहुदेववाद और मूर्ति-पूजा की निंदा की है और निष्कपटता, सदाचार तथा पवित्रता को सच्चा धर्म बताया है। ये संत इस सिद्धान्त पर जोर देते थे कि "हिन्दू तथा मुसलमान सबका ईश्वर एक ही है, वही ब्राह्मणों और चाण्डालों का जन्मदाता है, उसकी दृष्टि में सभी समान हैं और यदि कोई व्यक्ति सत्मार्ग पर चलना चाहे तो उसको जाति-पाँति के भेदभाव तथा अंध-विश्वासों को त्यागना पड़ेगा। इन संतों में सर्वप्रथम महाराष्ट्र संत नामदेव थे। इनका जन्म एक निम्न-वर्ग के परिवार में हुआ था और इनका जन्म तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में माना जाता है।[१३३] नामदेव ने ईश्वर की एकता का

१३२. सरकार—पिलग्रिमेजेज एण्ड टीचिंग्स, पृ० १६६, १७३ 'चैतन्य चरितामृत'।

१३३. मेकौलिफ ने नामदेव की जन्म-तिथि १२७० ई० लिखी है। 'दि सिक्ख रिलिजन', N, पृ० १८। डा० भण्डारकर ने भी यही तिथि मानी है। 'वैष्णविज्म' पृ० ८६।

उपदेश दिया और मूर्ति-पूजा तथा बाह्याडम्बरों का खंडन किया। ईश्वर में उसका अटूट विश्वास निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जायेगा।

'मेरे हृदय में बसनेवाले प्रभु के लिए मेरा प्रेम कभी क्षत न होगा; 'नाम' ने अपना मत सच्चे नाम में लगा दिया है; जैसा प्रेम माता-पुत्र में होता है, प्रभु के लिए ऐसे ही प्रेम से मेरा हृदय पूर्ण है।"[134]

नामदेव का भगवान् पर भरोसा तथा अहंकारशून्यता इन पंक्तियों में कितनी स्पष्ट झलकती है—

"यदि तू मुझे साम्राज्य प्रदान कर दे, तो इससे मेरा क्या यश बढ़ेगा? यदि तू मुझसे भीख मँगवाये, तो इससे मेरा क्या अपमान? ओ मेरे मन! भगवान् का भजन कर और तुझे मुक्ति का गौरव प्राप्त हो जायेगा, और तब तुझे जन्म-मरण का दुःख न झेलना पड़ेगा। हे प्रभो! तूने ही सबको जन्म दिया, तू ही सबको भ्रमित करता है; जिसको तू ज्ञान देता है, वह तुझे समझ जाता है। एक पत्थर पूजा जाता है, दूसरा पैरों तले कुचला जाता है, यदि (इनमें से) एक भगवान् है तो दूसरा भी अवश्य भगवान् है—नामदेव कहता है, मैं सच्चे ईश्वर का उपासक हूँ।"[135]

रामानन्द के शिष्यों में कबीर प्रधान थे। इनका जन्म १३६८ ई० के लगभग हुआ।[136] इनके विषय में यह दंत-कथा प्रचलित है कि यह एक विधवा

फार्कुहर ने अब यह मत प्रकट किया है कि नामदेव का काल १४०० से १४३० ई० या इसके आसपास का काल होगा; यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जरन० रॉय० एशि० सोसा० १६२०, पृ० १८६।

कारपेंटर—'थीज्म इन मीडियवल इण्डिया' पृ० ४५२।

कारपेंटर ने मैकोलिफ की गलत तिथि मानी है।

प्रो० रानाडे ने अपने नवीनतम ग्रंथ 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र' में नामदेव की जन्मतिथि १२७० ई० और मृत्युतिथि १३५० ई० मानी है; वह जाति का दर्जी था और महाराष्ट्र के महानतम संतों में उसकी गिनती होती है।

हिस्ट्री ऑव फिलॉसॉफी, भा० ७, पृ० १८५-८७।

१३४. मेकौलिफ ६, पृ० ४८, ६८।

१३५. वही, पृ० ४४-४५।

१३६. वही, पृ० १२१।

वेस्टकॉट ने कबीर का जन्म १४४० ई० माना है—'कबीर एँण्ड कबीर पन्थ'—पृ० ७।

मिस अंडरहिल ने यह तिथि १४४०-१५१८ ई० के बीच निर्धारित की है।

देखिए—फार्कुहर द्वारा निर्धारित रामानन्द का समय। यह १४००-७० के बीच है। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम' पृ० ५६३ भी देखिए। रामानन्द का शिष्य होने के कारण कबीर का जन्म भी इसी काल में मानना चाहिए।

ब्राह्मणी की संतान थे, जिसने लोक-लाज के भय से इनको लहरतारा तालाब के किनारे छोड़ दिया था। नीरू नाम का जुलाहा उसको उठाकर घर ले आया और उसका पालन-पोषण करने लगा। बड़े होने पर कबीर ने भी जुलाहे का काम सँभाला; परन्तु दार्शनिक एवं उपदेशात्मक पद्यों की रचना के लिए भी वह समय निकाल लेता था; ऐसे पद्यों का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

अस जुलहा का मरम न जाना।
जिन्ह जग आनि पसारिन्हि ताना॥
महि अकास दोउ गाड़ खदाया।
चांद सुरज दोउ नरी बनाया॥
सहस तार ले पूरनि पूरी।
अजहूँ बिनब कठिन है दूरी॥
कहहिं कबीर करम से जोरी।
सूत-कुसूत बिनै भल कोरी॥

कबीर के विचारों की पृष्ठभूमि पूर्णतया हिंदू है। उन्होंने राम का वर्णन किया है; वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति चाहते हैं और भक्ति को इसका साधन बताते हैं; वाह्याडम्बरों की वह तीव्र-निंदा करते थे। उनकी दृष्टि में हिंदू-मुसलमानों में कोई भेद न था। उनका कहना था कि दोनों ही एक मिट्टी के बने घड़े हैं और भिन्न मार्गों से चलने पर भी दोनों का लक्ष्य एक ही है। ग्रियर्सन का यह मत कि कबीर को ईसाई विचारधारा से प्रेरणा मिली निराधार है।[१३७] कबीर ने लोगों को समझाया कि धर्म के उच्चादर्शों के प्रति मौखिक श्रद्धा व्यर्थ है; यदि हृदय अपवित्र है तो पत्थर पूजने अथवा गंगा-स्नान करने से क्या लाभ; यदि कोई मुसलमान कपटपूर्ण हृदय से काबा की ओर बढ़ता है तो मक्का की यात्रा निष्फल है। कबीर का उपदेश है कि—"व्रत, पूजा-पाठ अथवा कर्मकाण्ड से स्वर्ग-प्राप्ति नहीं होती। यदि मनुष्य को सत्य का साक्षात्कार हो जाय तो मक्का का अंतःप्रदेश उसी के हृदय में स्थित है। अपने मन को काबा, शरीर को इसका मंदिर और ज्ञान को गुरु बनाओ; क्रोध, शंका एवं कपट का त्याग करो; धैर्य को पांच बार की नमाज बनाओ। हिंदुओं और मुसलमानों का प्रभु एक ही है।"[१३८]

संक्षेप में यह कबीर के उपदेश हैं। उनकी दृष्टि में भगवान् ही सबका जन्मदाता है और जन्ममरण सब उसी के आश्चर्यकारी खेल हैं। जीवन के

१३७. जरन० रॉय० एशि० सोसा० १६०७; पृ० ३२५, ४६२।
१३८. मेकौलिफ—६, पृ० १४०; पृ० १५८।

सुखों और दुःखों में सर्वत्र भगवान् का वास है। कबीर को अमरत्व-प्राप्ति का, ईश्वर के साथ साकार हो सकने का पूर्ण विश्वास है क्योंकि उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि "जैसे नदी समुद्र में प्रवेश करती है, ऐसे ही मेरा हृदय तेरा स्पर्श करता है।"[१३९]

इस युग के दूसरे बड़े सन्त सिक्ख-पंथ के संस्थापक नानकदेव थे। उनका जन्म तलवन्दी नामक स्थान में १४६९ ई० में हुआ था। तलवन्दी गुजरांवाला जिले में एक गाँव है। बाल्य-काल से ही नानकदेव की धर्म में रुचि थी। पढ़ने-लिखने में उनका मन न लगता था। कबीर की भाँति उन्होंने भी ईश्वर को एक माना, मूर्ति-पूजा का खंडन किया और ईश्वर की दृष्टि में मानव मात्र को समान बताया। उन्होंने लोगों को छल, कपट, झूठ, सांसारिकता का परित्याग कर सत्कर्मों मे लगने का उपदेश दिया और समझाया कि ईश्वर के दरबार में सबके कर्मों का लेखा है; इसलिए कोई भी सत्कर्म किये बिना सद्‌गति नहीं पा सकता। उनकी शिक्षा का सार इन पंक्तियों में आ जाता है—

"धर्म का तत्व केवल शब्दों में नहीं है;
जो सब मनुष्यों को समान समझता है, वह धार्मिक है।
मकबरों, श्मशानों में जाना अथवा समाधि लगाना धर्म नहीं है।
विदेशों में घूमना अथवा तीर्थों में स्नान करना धर्म नहीं है।
संसार की अपवित्रताओं के बीच पवित्र बने रहो; इस प्रकार तुम धर्म के मार्ग पर पहुँचोगे।"[१४०]

यह सुधार-आंदोलन नानक तक ही समाप्त न हो गया। यह विचार-धारा अबाध गति से प्रवाहित होती रही; नानक के पश्चात् अनेक संत एवं सुधारक हुए; अगले भाग में उनका वर्णन किया जायगा।

पूर्व-मध्यकाल अंधकार-युग नहीं था—ऊपर १००० ई० से १५०० ई० तक का जो वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस युग को भारतीय इतिहास का 'अंधकार-युग' नहीं कहा जा सकता। प्राचीन-काल में एक प्रथा थी कि जब कोई साँड़ बलि चढ़ाने के लिए ले जाया जाता था, तो उसके शरीर के काले धब्बों को सफेद खड़िया से ढक दिया जाता था, जिससे वह भेंट निर्दोष दिखाई दे। आज हमें यह खड़िया फेंककर निष्पक्ष भाव से

१३९. रवीन्द्रनाथ ठाकुर—'वन हन्ड्रेड पोयम्स ऑव कबीर' पृ० ३४।
१४०. मेकौलिफ, १ पृ० ६०।
कनिंघम 'हिस्ट्री ऑव दि सिक्खस' पृ० ४३-४४।
नानक की वाणी का संग्रह सिक्खों के धर्म-ग्रंथ 'ग्रंथ-साहब' में किया गया है।

उन सभी दोषों को प्रकाश में लाना है, जो इस युग में सर्वत्र मानवता को यातनाएँ देते रहे, परंतु साथ ही हमें मुसलमान-विजेताओं की उन सेवाओं को भी भुलाना नहीं है, जिन्होंने भारतीय सभ्यता को अभिनव रूप प्रदान किया। यह भ्रांत धारणा कि मुसलमानों की विजय भारत के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई, तथ्यों से प्रमाणित नहीं होती। यह अवश्य सत्य है कि मुसलमानों की विजय से हिंदुओं की राजनीतिक-शक्ति समाप्त हो गई और स्वतन्त्रता छिन जाने से उनका पतन भी होने लगा; धार्मिक मतभेद के कारण शासक एवं शासित वर्ग में कटुता उत्पन्न हो गई और मुसलमान शासकों ने हिंदुओं पर कभी-कभी तो धर्म के नाम पर घोर नृशंस अत्याचार किये। मुसलमानों की भारत-विजय नार्मनों की इंगलैंड विजय के समान न थी, जिसने आंग्ल एवं नार्मन जनता के भेदभाव को मिटाकर एक जातीयता को जन्म दिया था। भारत में हिंदू और मुसलमान एक दूसरे से अलग रहे; उनके रहन-सहन, खान-पान और यहाँ तक कि बोल-चाल की शैली तक में एकता स्थापित न हो सकी। मुसलमानों की रूढ़िवादिता इस सीमा तक बढ़ी हुई थी कि जब मुगल काल में सम्राट् अकबर ने बुद्धि-सम्मत सिद्धान्तों का समन्वय कर हिंदू-मुसलमान एकता का प्रयत्न किया तो कट्टर मुसलमान उसका घोर विरोध करने लगे और उसको [illegible] का शत्रु कहने लगे। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या है, यदि [illegible] के मुसलमान धर्माचार्य हिंदुओं से अलग रहने और उनके साथ [illegible] में भी समानता का व्यवहार न करने का उपदेश देते रहे हों। [illegible] में पूर्व तथा पश्चिम में सर्वत्र ही ऐसी धार्मिक-असहिष्णुता [illegible] थी। [illegible] कैथोलिक चर्च का इतिहास भिन्न मतावलम्बियों पर घोर [illegible] की घटनाओं से पूर्ण है। परतु भारत के मुसलमान-[illegible] ने हिंदुओं के प्रति [illegible] के इन धर्मान्धों से अधिक सहिष्णुता का [illegible] का द्वितीय फिलिप यह विचार प्रकट कर [illegible] शासन करने से तो शासक-पद का [illegible] की रानी एलिजाबेथ आयरलैंड के [illegible] रही थी, भारत में शेरशाह और [illegible] उठकर देश को समृद्ध बनाने [illegible] सहिष्णुता एवं सद्भावना के [illegible] हिंदुओं के पौरुष को [illegible] जमींदार देश के [illegible] समाप्त करने के [illegible] तारीख-ए-[illegible]

पर्याप्त प्रमाण है कि दोआब के हिंदुओं ने कभी भी मुसलमानों का प्रभुत्व चुपचाप स्वीकार न कर लिया और जब भी उन्हें सुयोग प्राप्त हुआ वे मुसलमान-शासन के विरुद्ध प्रबल विद्रोह करते रहे; मुसलमान-शासकों को उन्होंने कभी चैन से न बैठने दिया। मुसलमानों के शासन में देश में धन का अभाव न हुआ; कोई शासक भले ही अत्यधिक अपव्ययी रहा हो, परन्तु उसके द्वारा पानी की तरह बहाया जानेवाला धन भारत में ही तो व्यय होता था। अन्तर केवल यही था कि हिन्दुओं का कोष मुसलमानों के अधिकार में आ गया था परंतु मुसलमानों के भारत में स्थायी रूप से बस जाने के कारण यह धन भारत में ही बना रहा। राजनीतिक परिस्थितियाँ चाहे जितनी भी संकटमय रही हों और दुर्भिक्ष के समय पर भले ही अन्न-कष्ट हुआ हो, परंतु सामान्यतया भारत में इस काल में अन्नाभाव न था, जिससे जनता की शारीरिक दशा बहुत उन्नत थी।

सांस्कृतिक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस्लाम के प्रभाव से भारतीय कला को एक नया ही रूप प्राप्त हुआ। मुसलमान-शासकों को भारतीय शिल्पियों से ही काम लेना पड़ता था; इसका परिणाम यह हुआ कि विश्वजनीन भावनाओं से ओत-प्रोत इन शिल्पियों ने हिंदू-कला की सजावट, भावुकता एवं लाक्षणिकता के साथ इस्लामी सादगी, कट्टरता एवं शुद्धता का अपूर्व समन्वय कर दिया। मूर्ति-कला एवं चित्र-कला का इस युग में विकास न हो सका, क्योंकि कट्टर मुसलमान इन कलाओं को मूर्ति-पूजा का पोषक समझते थे; इसलिए हिंदू शिल्पियों को वास्तुकला तक ही सीमित रहना पड़ा। परंतु समय के साथ-साथ कला के आदर्शों में भी परिवर्तन हुआ। खिलजी तथा तुगलक-काल के सीधे-सादे भारी भरकम भवनों से जौनपुर एवं अहमदाबाद के अलंकृत एवं कोमल-प्रसाधनपूर्ण भवनों की कला तक के विकास में यह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है और यहाँ हमें पुनः प्रसाधन-पूर्ण भारतीय कला के उत्थान के दर्शन होते हैं। मुसलमानों के आगमन ने हिन्दू-विचारधारा को भी कम प्रभावित नहीं किया। ब्राह्मण लोग मुसलमानों को घृणा की दृष्टि से देखते रहे और उनको विधाता के भेजे हुए बर्बर-दूत समझते रहे। उत्तर-भारत से ब्राह्मणों का दक्षिण भारत में पलायन बहुत फलप्रद हुआ; इस प्रकार दक्षिण की द्रविड़ संस्कृति आर्य-संस्कृति के रंग में रँगी जा सकी। राज्य के कार्यों से विलग हो जाने पर हिंदू-प्रतिभा धर्म के क्षेत्र में पूर्णतया प्रकट हुई और धर्म के नाम पर समाज में जो अंधविश्वास, कुप्रथाएँ और बाह्याडम्बर प्रवेश पा गये थे, उनको दूर कर धार्मिक सुधार के आंदोलन प्रारम्भ हो गये। रामानन्द, चैतन्य, कबीर और नानक के नाम अंधविश्वासों एवं कुप्रथाओं के ज्ञान में सरलता ने फैलनेवाली मानवता के लिए

सदैव प्रकाश-स्तम्भ बने रहेंगे। ऐसे महापुरुषों का जन्म इस धारणा को सर्वथा असत्य सिद्ध कर देता है कि मुसलमानों के आधिपत्य में हिंदू-प्रतिभा कुंठित हो गई थी। इसके विपरीत इसने हिंदुओं की बौद्धिक शक्ति एवं समृद्धि पूर्णतया प्रमाणित हो जाती है। यह धारणा भी ठीक नहीं है कि मुसलमान शासक सभ्य-शासनतंत्र से अपरिचित बर्बर मात्र थे। पूर्व मध्य-काल में बलबन तथा अलाउद्दीन जैसे शासन-पटु एवं युद्ध-कला-कुशल, मुहम्मद-बिन-तुगलक एवं इब्राहीम शाह शर्की जैसे साहित्य एवं कला-प्रेमी तथा नासिरुद्दीन एवं फीरोज तुगलक जैसे दयालु एवं शान्ति-प्रिय शासकों और उलुग खाँ, जफर खाँ, मलिक काफूर सरीखे अनेक सेनानायकों पर गर्व कर सकता है। मध्य-युग के इस्लामी इतिहास के पट पर यह बहुत आकर्षक चित्र है। यह सत्य है कि इन शासकों ने हिन्दुओं पर अत्याचार किये, उनके धर्म का तिरस्कार किया और उनका पूर्ण रीति से दमन किया। मुसलमान लेखकों ने स्वयं इनका सविस्तार वर्णन किया है। उन्होंने अन्याय एवं अनीति को छिपाने का बहुत कम प्रयत्न किया है। हिन्दुओं में भी धार्मिक उत्साह तथा आत्मसम्मान की मात्रा काफी थी। उन्होंने भी अपने प्राणों की बलि देकर अपनी संस्कृति की रक्षा की। परन्तु यह कहने में अतिशयोक्ति होगी कि मुसलमान असभ्य थे और शासन-सिद्धान्तों से अनभिज्ञ थे। इन शासकों में मौलिकता का भी अभाव न था और उनमें से कुछ ने धार्मिक-प्रभाव से दूर, जन-कल्याण के आदर्शों से प्रेरित शासन-नीति भी अपनाई थी। परंतु वह युग ऐसे आदर्शों के अनुकूल न था; अतः यह नीति विफल रही। इस आदर्श को पूर्ण करने का भार मुगलों के हिस्से में आया; परन्तु वे भी इसको पूर्णतया सफल न कर सके। मुगलों ने पूर्व-कालीन अनियमित शासन-तंत्र को नियमित किया; अपने विशाल साम्राज्य पर नियन्त्रण रखने के लिए नये-नये विधानों और संस्थाओं को जन्म दिया और इस प्रकार एक ऐसे शासन-तन्त्र की स्थापना की जो पहिले से बहुत विकसित था और जो अपने ही गुणों से गौरवान्वित था। परतु यह भूल जाना सर्वथा अन्याय होगा कि मुगल-शासकों के लिए मार्ग प्रस्तुत करनेवाले पूर्व-मध्य-कालीन मुसलमान शासक ही थे, जिन्होंने एक अपरिचित एवं शत्रुभावापन्न देश में मुसलमान सभ्यता के लिए स्थान बनाया और इस देश के लोगों के सम्मुख वह विचार-धारा उपस्थित की, जो उनके लिए सर्वथा नवीन थी। मुगल-काल के इतिहास-लेखक को उत्साह में बहकर यह न भूल जाना चाहिए कि मुगल-शासक अपने पूर्वगामी भारतीय शासकों के बहुत ऋणी हैं, जिन्होंने उनके शक्तिशाली एवं विशाल साम्राज्य की नीव तैयार की थी और जिनकी स्थापित की हुई प्रथाओं का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव उनकी शासन-प्रणाली एवं राजनीतिक-संस्थाओं पर पड़ा है।

१३३०	ई०	प्रतीक-मुद्रा चलाना।
१३३३	"	इब्नबतूता का भारत में आगमन।
१३३४-३५	"	माबर के जलालुद्दीन अहसान शाह का विद्रोह।
१३३६	"	विजयनगर-साम्राज्य की स्थापना।
१३३७	"	बंगाल में फखरुद्दीन का विद्रोह।
१३४०-४१	"	ऐनुल्मुल्क मुलतानी का विद्रोह।
१३४४	"	कृष्ण नायक का विद्रोह।
१३४७	"	बहमनी-राज्य की स्थापना।
१३५१	"	मुहम्मद तुगलक का देहान्त और फीरोज तुगलक का राज्यारोहण।
१३५३-५४	"	फीरोज का प्रथम बंगाल-अभियान।
१३५९-६०	"	द्वितीय बंगाल-अभियान।
१३६०-६१	"	नगरकोट की विजय।
१३७१-७२	"	ठठ्ठा की विजय।
१३८८	"	फीरोज तुगलक का देहान्त।
१३९४	"	नासिरुद्दीन महमूद तुगलक का राज्यारोहण।
१३९८	"	तैमूर का आक्रमण।
१४०१	"	गुजरात और मालवा का स्वतन्त्र होना।
१४१२	"	तुगलक-वंश के अंतिम सुलतान महमूद की मृत्यु।
१४१४	"	खिज्र खाँ का दिल्ली पर अधिकार।
१४१७	"	तुगान रईस और तुर्क-बच्चाओं का विद्रोह।
१४२०-२१	"	निकोलो कोण्टी का विजयनगर आना।
१४२१	"	खिज्र खाँ के वजीर ताजुल्मुल्क की मृत्यु।
१४२८	"	जसरथ खोखर का कालानौर पर घेरा।
१४२९-३०	"	पौलाद का विद्रोह।
१४३३	"	पौलाद की पराजय एवं मृत्यु।
१४३४	"	मुबारकशाह का वध।
१४३७	"	अहमदशाह का मालवा के महमूद खिलजी पर अभियान।
१४४०	"	मालवा के महमूद खिलजी का दिल्ली और चित्तौड़ के विरुद्ध प्रयाण।
१४४२	"	अब्दुर्रज्जाक का विजयनगर आना।
१४४५	"	अलाउद्दीन आलमशाह का राज्यारोहण।
१४४७	"	बहलोल लोदी का दिल्ली के सिंहासन पर अधिकार जमाना।

१४७०	ई०	एथेनेसियस निकितिन का बीदर आना।
१४७६	"	वल्लभाचार्य का जन्म।
१४८६	"	सिकंदरशाह का सिंहासनारोहण।
१४६३	"	बंगाल के हुसैनशाह का राज्यारोहण।
१५०४	"	आगरा की नींव पड़ना।
१५०५	"	आगरा में भीषण भूचाल।
१५०७	"	महमूद बीगड़ का पुर्तगालियों के विरुद्ध अभियान।
१५०६	"	विजयनगर में कृष्णदेव राय का राज्याभिषेक।
१५१७	"	सिकन्दर लोदी का देहांत और इब्राहीम लोदी का राज्यारोहण।
१५२६	"	पानीपत का प्रथम-युद्ध; बाबर के हाथों इब्राहीम लोदी की पराजय।

दिल्ली के सुलतान

दास-वंश

१. मुईजुद्दीन मुहम्मद-बिन साम (११९३—१२०५)

२. कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६—१०)

- ३. आरामशाह (१२१०)
- पुत्री ४
- (दास) शम्सुद्दीन इल्तुतमिश (१२१०—३५)
  - ५. रुक्नुद्दीन फीरोज प्रथम (१२३५—३६)
    - ८. अलाउद्दीन मसूद (१२४१—४६)
  - ६. जलालुद्दीन रजिया (१२३६—३९)
  - ७. मुईजुद्दीन बहराम (१२३९—४१)
  - ९. नासिरुद्दीन महमूद प्रथम (१२४६—६५)
  - १०. गयासुद्दीन बलबन (१२६५—८७)
    - बुगरा खाँ (बंगाल का प्रांताध्यक्ष)
      - ११. मुईजुद्दीन कैकुबाद (१२८७—९०)
        - १२. शम्सुद्दीन कैयमुर्स

खिजली वंश

- १३. जलालुद्दीन फीरोज द्वितीय (१२९०—९५)
  - १४. रुक्नुद्दीन इब्राहीम प्रथम (१२९५)
- फीरोज द्वितीय का भतीजा
  - १५. अलाउद्दीन मुहम्मद द्वितीय (१२९६—१३१६)
    - १६. शिहाबुद्दीन उमर (१३१५-१६)
    - १७. कुतुबुद्दीन मुबारक प्रथम (१३१६—२०)

१८. नासिरुद्दीन खुसरो, प्रथम मुबारक का वजीर (१३२०)।

तुगलक-वंश

१९. गयासुद्दीन तुगलक प्रथम (१३२०—२५)—सिपहसालार रजब, प्रथम तुगलक का भाई।

- १९. गयासुद्दीन तुगलक प्रथम (१३२०—२५)
  - २०. मुहम्मद-बिन-तुगलक (१३२५—५१)
- सिपहसालार रजब
  - २१. फीरोज तृतीय (१३५१—८८)
    - फतह
      - २२. तुगलक द्वितीय (१३८८)
      - २७. नुसरतशाह (१३९४—९९)
    - जफर
      - २३. अबू बक्र (१३८८—८९)
    - २४. मुहम्मद चतुर्थ (१३८९—९२)
      - २५. सिकन्दर प्रथम (१३९२)
      - २६. महमूदशाह द्वितीय (१३९२-९४; पुन (१३९९—१४१२)

२८. दौलत खाँ (१४१२)

सैय्यद-वंश

- २९. खिज्र खाँ सैय्यद (१४१४—२१)
  - ३०. मुबारक द्वितीय (१४२१—३३)
  - फरीद
    - ३१. मुहम्मदशाह चतुर्थ (१४३३—४५)
      - ३२. आलमशाह (१४४५—५१)

लोदी-वंश

- ३३. बहलोल लोदी (१४५१—८८)
  - ३४. सिकन्दर द्वितीय (१४८८–१५१७)
    - ३५. इब्राहीम द्वितीय (१५१७—२६)

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

अफ़ीफ, शम्स-ए-सिराज : 'तारीख-ए-फ़ीरोजशाही'—बिब्लियोथिका इंडिका।

अब्दुल्ला : 'तारीख-ए दाऊदी'—फारसी हस्तलिखित पोथी।

अबुलफ़ज़ल : 'आईन-ए-अकबरी'—देखिए ब्लॉकमैन।

अल-कुरान : देखिए 'सेल, जॉर्ज'।

अल-बदाऊनी : 'मुन्तखब-उत्-तवारीख' (देखिए 'रेन्किंग तथा लोवी')

अलबरूनी का भारत : डॉ० एडवर्ड सी० सखाओ द्वारा अनूदित, दो जिल्दें ('ट्रुब्नर्स ओरियंटल सीरीज'), लंदन, १९१०।

अली, अमीर : 'दि स्पिरिट ऑव इस्लाम', कलकत्ता : १९२२।

अली, अमीर : 'ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव दि सेरेसेन्स', लंदन, १८९९।

अशरफ मुहम्मद : 'लाइफ एण्ड कन्डीशन ऑव दि पीपुल ऑव हिन्दुस्तान', जनरल ऑव दि रॉयल सोसा० ऑव बंगाल, जिल्द १, १९३५ से पुनर्मुद्रित।

अहमद, सर सैयद : 'असार्‌उस्-सनादीद', लखनऊ संस्क०।

अहमद शाह : 'दि बीजक ऑव कबीर' हमीरपुर, १९१७।

आगा, मेंहदी हुसैन : 'राइज एण्ड फॉल ऑव मुहम्मद-बिन-तुगलक', लुजाक एण्ड कम्पनी, लंदन, १९३८।

आनन्दगिरि : 'शंकर दिग्विजय', तर्क पञ्चानन द्वारा सम्पा०, बैप्टिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता, १८६८।

आयंगर, कृष्ण स्वामी : 'सोर्सेज ऑव विजयनगर हिस्ट्री', मद्रास, १९१९।

आयंगर, कृष्ण स्वामी : 'साउथ इंडिया एण्ड हर मुहम्मदन इनवेडर्स', मद्रास, १९२१।

आयंगर, कृष्ण स्वामी : 'एनशियंट इंडिया', लुजाक एण्ड कम्पनी।

आर्किऑलॉजिकल सर्वे : वार्षिक विवरण, १९०२–१४, कलकत्ता।

आर्नाल्ड, टी० डब्ल्यू० : 'दि प्रीचिंग ऑव इस्लाम', लंदन, १९१३।

इण्डियन एन्टिक्वेरी :

इब्न बतूता : 'वॉयेजेज द' इब्न बतूता, तेक्स्त अरब एकोम्पेर द' उन त्रेदक्सन', पार सी० देफ्रेमरी ए० डॉ० बी० आर० सेंग्यूनेती, चार जिल्दें, पेरिस, १९१४।

इब्न बतूता : देखिए 'ली, रेवरेंड सेमुएल' तथा गिब।

इलियट, सर हेनरी : 'दि हिस्ट्री ऑव इन्डिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन

हिस्टोरियन्स'—'दि मुहम्मदन पीरियड', सम्पा० जॉन डॉसन, ८ जिल्दें, लंदन।
इलियट हेनरी : 'हिस्टोरियन्स ऑव मुहम्मदन इण्डिया', जिल्द १, लंदन, १८४६।
इलियास, ने० तथा ई० डेनीसन रॉस : 'ए हिस्ट्री ऑफ दि मोग़ल्स ऑव सेन्ट्रल एशिया', मिर्जा मुहम्मद हैदर दुग़लात के ग्रन्थ 'तारीख़-ए-रशीदी' का अनुवाद, लंदन, १८९८।
इसामी : 'फ़्तूह-उस-सलातीन' (फ़ारसी), आग़ा मेहदी हुसैन द्वारा सम्पा०, एजुकेशनल प्रेस, आगरा १९३८।
एथे : 'केटेलॉग ऑफ़ पर्शियन मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी', ऑक्सफोर्ड, १९०३।
ऐन्साइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम : विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखित; लंदन, १९११।
ऐपिग्राफ़िया कर्नाटिका : विभिन्न विद्वानों द्वारा सम्पा० बंगलौर।
एर्संकाइन, विलियम : 'ए हिस्ट्री ऑव इंडिया अंडर दि टू फर्स्ट सॉवरेन्स ऑव दि हाउस ऑव तैमूर, बाबर एण्ड हुमाहूँ', दो जिल्दें, लंदन, १८५४।
एल्फिस्टन, माउंट स्टुअर्ट : 'दि हिस्ट्री ऑव इंडिया, दि हिन्दू एण्ड मुहम्मदन पीरियड्स' ई० बी० कॉवेल की टिप्पणियों तथा परिवर्धनों सहित, नवाँ संस्करण, लंदन, १९११।
ऐयर, सुब्रह्मण्य : 'हिस्टोरिकल स्केचेज ऑव दि डेकन', मद्रास, १९१७।
ऐन-उल-मुल्क मुल्तानी : 'इन्शा-ए-माहरू'—फ़ारसी हस्तलिखित प्रति।
ओझा, गौरीशंकर, रायबहादुर : 'राजपूताना का इतिहास' ३ भाग, अजमेर, १९२६।
ऑफ़्रेट, थ्योडोर : 'लाइफ एण्ड कन्डीशन ऑव दि पीपुल ऑव हिन्दुस्तान' जर० ऑव दि रॉय० एशि० सोसा०, जिल्द १, १९३५ से पुनर्मुद्रित।
ऑसले, विलियम : 'इब्न हौकल के पूर्वीय देशों के भूगोल का अँगरेजी अनुवाद।
कनिंघम, ए० : 'रिपोर्टस ऑव दि आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया'।
कनिंघम, जोसेफ डेवी : 'हिस्ट्री ऑव दि सिक्ख्स' गैरेट द्वारा सम्पा०, ऑक्सफोर्ड, १९१८।
कबीर : देखिए 'शाह, अहमद' तथा 'टैगोर, रवीन्द्रनाथ'।
कल्हण : देखिए 'स्टाइन, एम० ए०'।
क्वाट्रेमेर, टॉमस : 'नोटिसेज-ए-एक्सट्रेट्स, जिल्द १३, पेरिस।
क्रुवा, पेता दे ला : 'हिस्ट्री ऑव चंगेज खान, दि ग्रेट, लंदन, १७२२।
कारपेंटर, जे० एस्तलिन : 'थीज़्म इन मेडीवल इंडिया'. (दि हिब्बर्ट लेक्चर्स; दूसरी भाषण माला), लंदन, १९२१।

किंग, जे० एस० : 'बुरहान-ए-मासिर' का अँगरेजी अनुवाद, इंडियन एन्टिक्वेरी, जिल्द २८, १८९९, बम्बई।

किन्सेड, सी० ए० तथा पेरेस्निस डी० बी० : 'ए हिस्ट्री ऑव दि मराठा पीपुल', २ जिल्दें, ऑक्सफोर्ड, १९१८, १९२२।

कीथ, ए० बी० : 'क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' (दि हैरिटेज ऑव इंडिया सिरीज), लंदन, १९२३।

कीथ, ए० बी० : 'दि संस्कृत ड्रामा, इट्स ओरिजिन डिवेलपमेंट, थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस' ऑक्सफोर्ड, १९२४।

कुरेशी : 'मेडीवल एडमिनिस्ट्रेशन'।

के, एफ० ई० : 'ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिटरेचर' (दि हैरिटेज ऑव इंडिया सिरीज), १९२०।

कैनेडी, प्रिंगल : 'ए हिस्ट्री ऑव दि ग्रेट मोगल', २ जिल्दें, कलकत्ता, १९११।

क्रोशे, बेनेडेटो : 'ऑन हिस्ट्री', लंदन, १९२१।

कॉमिसरियट : 'हिस्ट्री ऑव गुजरात सल्तनत' बम्बई, १९१६।

कॉडियर, हैनरी : देखिए 'मार्को पोलो', शोधित द्वितीय सस्करण, २ जिल्दें।

क्रजिन्स हैनरी : 'आर्किटेक्चर ऑव बीजापुर', बम्बई, १९१६।

खाँ, मुतमाद : 'इकबालनामा-ए-जहाँगीरी', बिब्लियोथिका इंडिका का संस्करण।

खुदाबख्श : 'ओरियन्ट' अन्डर दि कैलिफ्स' वॉन क्रेमर के 'कल्तूरगेशिश्ते देस ऑरियन्त्स' का अनुवाद, कलकत्ता, १९२०।

गिब्ब, एच० ए० आर० : 'इब्न बतूता ट्रैवल्स इन एशिया एण्ड अफ्रीका (१३२५-१३३४)', अनुवादित एवं संकलित, ब्रॉडवे ट्रैवलर्स, लंदन, १९२९।

ग्रिबल, जे० डी० बी० : 'हिस्ट्री ऑव दि डेकन' जिल्द १, लंदन, १८९६।

ग्रियर्सन, जॉर्ज ए० : 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान', कलकत्ता, १८८९।

ग्राउस, एफ० ऐस० : 'मथुरा' ए डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर्स', द्वितीय सस्क०, १८८०; उत्तर-पश्चिमी-प्रान्त तथा अवध गवर्नमेंट प्रेस द्वारा प्रकाशित।

चन्द बरदाई : 'पृथ्वीराज रासो', सम्पा० श्यामसुंदरदास, बनारस।

चन्द्र नय : हम्मीर काव्य।

चेम्स-एद्द-दीन (शमसुद्दीन) : देखिए 'दिमिश्की'।

जरनल एशियाटिक : पेरिस।

जरनल ऐंन्ड प्रोसीडिंग्स ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल।

जरनल ऑव इन्डियन हिस्ट्री : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित।

जरनल ऑव दि एंन्थ्रोपोलॉजीकल इन्स्टीटयूट।
जरनल ऑव दि बॉम्बे ब्रान्च ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी।
जरनल ऑव दि यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी।
जरनल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव ग्रेट ब्रिटेन ऐंन्ड आयरलेंड।
जरनल ऑव मिथिक सोसायटी।
जहाँगीर : 'तुजक-ए-जहाँगीरी' (जहाँगीर के संस्मरण), एलेग्जैन्डर रॉजर द्वारा अँगरेजी में अनूदित, हैनरी बैवरिज द्वारा सम्पादित, (ओरियंटल ट्रान्सलेशन फंड), नई सिरीज, जिल्द १६, लंदन, १६०६।
जातक : रॉबर्ट चामर्स द्वारा अँगरेजी में अनूदित, ६ जिल्दें, लंदन, १८६५।
जायसवाल, काशीप्रसाद : 'ऐनशियंट हिन्दू पॉलिटी', कलकत्ता, १६२४।
जारेट, एच० एस० : 'आईन-ए-अकबरी', जिल्द २ और ३, कलकत्ता, १८६१, १८६४।
जैनुद्दैन : 'तुहफतुह मुजाहिदीं फि बजल बाह् अल पुर्तगाली' अरबी पाठ, लिस्बन, १८६८।
ट्रांसेक्शन्स ऑफ् दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव बेंगाल : कलकत्ता।
टेलर मेडोज : 'ए स्टूडेंट्स मैनुअल ऑव दि हिस्ट्री ऑव इंडिया' लंदन, १८७०।
टैगोर, रवीन्द्र नाथ : 'वन हन्ड्रेड पोयम्स ऑव कबीर', लंदन, १६१४।
टॉड, लेफ्टि० कर्नल, जेम्स : 'ऐनेल्स एण्ड एन्टिक्विटीज ऑव राजस्थान'—विलियम क्रुक द्वारा विषय-प्रवेश तथा टिप्पणियों सहित सम्पा०, ३ जिल्दें, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १६२०।
टॉमस एडवर्ड : 'दि क्रॉनिकल्स ऑव दि पठान किंग्स ऑव डेल्ही, इलस्ट्रेटेड इन्स्क्रिप्शन्स एण्ड अदर एन्टिक्वेरियन, रिमेन्स', लन्दन, १८७१।
टॉमसन डब्ल्यू० एफ० : 'प्रैक्टिकल फिलॉसॉफी ऑव दि मुहम्मदन पीपुल', जलालुद्दीन दरवानी के 'अखलाक-ए-जलाली' का अनुवाद, लन्दन, १८३६।
डिस्ट्रिक्ट गजेटियर : फर्रुखाबाद, जिल्द ६, इलाहाबाद, १६११।
जेम्स लौंगवर्थ : 'दि बुक ऑव दुआर्ते बारबोसा', दो जिल्दें, लंदन।
डेवी, मेजर : 'इन्स्टीटयूट्स ऑव तैमूर', ऑक्सफोर्ड, १७८३।
डैन्वर्स, फ्रेडरिक चार्ल्स : दि पोर्चगीज इन इंडिया, बिइंग ए हिस्ट्री ऑव दि राइज एण्ड डिक्लाइन ऑव देयर ईस्टर्न एम्पायर', दो जिल्दें लंदन, १८६४।
डॉर्न बेन्हार्ड : 'हिस्ट्री ऑव दि अफगान्स' 'मखजान-ए-अफगान' का अँगरेजी अनुवाद, लंदन, १८२६।
तिफिनथेलर, ला पेरेजोसेफ : 'दस्क्रिप्शन हिस्तोरीक एत ज्योग्रफीक द ल' इन्द', ३ जिल्दें, बर्लिन, १७६१।

तारीख-ए-दाऊदी : बाँकीपुर की हस्तलिखित प्रति।
तोपा ईश्वर : 'पॉलिटिक्स इन प्री मुगल टाइम्स', किताबिस्तान, इलाहाबाद, १९३८।
तय्यबजी बदरुद्दीन : 'प्रिन्सिपल्स ऑव मुहम्मदन लॉ', बम्बई, १९१३।
थर्सटन एडगर : 'कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स ऑव सदर्न इंडिया', ७ जिल्दें, मद्रास, १९०९।
द्योसों दे एम० : 'ईस्त्वार दे मांगोलस', ४ जिल्दें, पेरिस, १८३४।
दास श्यामसुंदर : 'रासो-सार', बनारस।
दास श्यामसुंदर : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
दिमिश्की : 'कौस्मोग्राफी दे चेम्स-एद्-दीन ग्राबू ग्रब्दुल्ला मोहम्मद', ग्ररबी पाठ, लीपजिग, १९२३।
दुगलत मिर्ज़ा हैदर : 'तारीख-ए-रशीदी' (देखिए)
दे, बी० : 'तबकात-ए-अकबरी' का अँगरेजी अनुवाद, बिब्लि० इन्डिका सिरीज।
देफ्रेमरी, सी० तथा सॅग्वीनेती, बी० आर० : 'वायेजेज द' इब्न बतूता'' ४ जिल्दें।
दोज़ी, आर० : 'हिस्तोयर द इस्लामिज़्म'—विक्टर चाँविन का अनुवाद, लीदेन, १८७९।
दो साभी एदाजी : 'हिस्ट्री ऑव गुजरात'।
नाज़िम मुहम्मद : 'दि लाइफ एण्ड टाइम्स ऑव सुल्तान महमूद ऑव गज़नी', कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३१।
निज़ामुद्दीन, अहमद : 'तबकात-ए-अकबरी' फारसी पाठ, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ।
पेज, जे० ए० : 'मेम्वायर्स ऑव दि आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, ए गाइड टू दि कुतुब'।
प्रबोध चन्द्रोदय (संस्कृत नाटक) : बम्बई, १८९८।
फरग्यूसन, जेम्स : 'आर्किटेक्चर ऑव बीजापुर'।
फरग्यूसन, जेम्स : 'हिस्ट्री ऑव इंडिया एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर', संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, दो जिल्दें, लन्दन, १९१०।
फसीहुद्दीन : 'दि शर्की मौनुमेन्ट्स ऑव जौनपुर', जौनपुर, १९२२।
फारकूहर, डॉ० जे० एन० : 'ऐन आउटलाइन ऑव दि रिलिजस लिटरेचर ऑव इंडिया', लंदन १९२०।
फिरिश्ता : 'मुहम्मद कासिम हिन्दू शाह, गुलशन-ए-इब्राहीमी', फारसी पाठ लखनऊ।

फोर्ब्स, एलेग्जेन्डर किनलॉक् : 'रगमाला' २ जिल्दें।
फ्यूरर, ए० तथा विन्सेंट ए० स्मिथ : 'दि शर्की आर्किटेक्चर ऑव जौनपुर, कलकत्ता, १८८६।
बाक़ी, अब्दुल : 'मासिर-ए-रहीमी' (बंगाल की एशियाटिक सोसा० द्वाराप्रकाशित
बनर्जी, राखाल दास : 'बांगलार इतिहास' (बँगला), कलकत्ता।
बरजेस, जेम्स तथा भगवान लाल : 'आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ वेस्टर्न इंडिया', बम्बई, १८८१।
बरजेस, जेम्स : 'आर्किटेक्चर ऑव वेस्टर्न इंडिया' (अहमदाबाद), दो भागों में, लंदन, १९००-१९०५।
बरजेस, जेम्स : 'आर्किटेक्चर ऑव वेस्टर्न इंडिया' (गुजरात), लंदन, १८९६।
बरनी जियाउद्दीन : 'तारीख-ए-फिरोजशाही' (बाँकीपुर ओरियंटल लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति तथा बिब्लि० इन्डि० का संस्करण)।
बार्नेट, लिओनेल डेविड : 'हिन्दूइज्म', लंदन, १९१३।
बिर्च, डब्ल्यू० दे जी० : 'दि कमेन्टरीज ऑव दि ग्रेट एल्फॉन्सो देल्बोकर्क', ४ जिल्दें, १८७५-८३।
बिल्हण : 'विक्रमांक चरितम्' जॉर्ज ब्यूहलर द्वारा भूमिका सहित सम्पा०, बम्बई, १८७५।
बील, सेमुएल : 'दि लाइफ ऑव ह्वेनत्साँग बाइ दि शमन हुइ ली' लंदन, १९११।
बील, टॉमस विलियम : 'एँन ओरियंटल बायोग्राफिकल डिक्शनेरी', जॉर्ज कीन द्वारा संशोधित नया संस्करण, लंदन, १९१०।
बेली, सर एडवर्ड क्लाइव : 'दि हिस्ट्री ऑव इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, दि लोकल मुहम्मदन डाइनेस्टीज, गुजरात, लंदन, १८८६।
बेवेरिज, हैनरी : 'मेम्वायर्स ऑव जहाँगीर, ट्रांसलेटेड इन्टू इंगलिश बाई एलेक्जेन्डर रॉजर्स' ('जहाँगीर' भी देखिए)।
ब्यूहलर, जॉन जॉर्ज : 'एपिग्राफिका इन्डिका'।
ब्राउन, एडवर्ड जी० : 'ए लिटरेरी हिस्ट्री ऑव पर्शिया', दो जिल्दें, लंदन, १९०६-९।
ब्रिग्स, जॉन : 'हिस्ट्री ऑव दि राइज ऑव दि मोहम्मदन पावर इन इंडिया टिल दि इयर ए० डी० १६१२, ट्रांसलेटेड फ्रॉम दि ओरिजनल पर्शियन ऑव मोहम्मद कासिम फिरिश्ता', ४ जिल्दें, कलकत्ता, १९१०।
ब्रेत्शनीडेर, ई० : मेडीवल रिसर्चेज फ़ॉम ईस्टर्न एशियाटिक सोर्सेज', दो जिल्दें, लंदन, १९१०।

ब्लॉकमन, हेनरी : 'दि आईन-ए-अकबरी ऑव अबुल फजल अल्लामी', कलकत्ता, १८७३।

भंडारकर, दे० रा० : 'दि कारमाइकल लेक्चर्स, १९१८', कलकत्ता, १९१९।

भंडारकर, रा० गो० : 'अर्ली हिस्ट्री ऑव दि डेकन', बम्बई, १८८४।

भंडारकर, रा० गो० : 'वैष्णविज्म, शैविज्म, एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स', स्ट्रासबर्ग, १९१३।

मासूम, मीर : 'तारीख-ए-मासूमी' (बाँकीपुर ओरियंटल लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति)।

मार्गोलिआँथ, डी० एस० : 'दि अर्ली डिवेलपमेंट ऑव मोहम्मदनिज्म' (हिब्बर्ट व्याख्यान-माला, द्वितीय चक्र), लंदन, १९१४।

मिश्र, श्यामबिहारी : 'मिश्र बन्धु विनोद' ३ भाग, खंडवा, १९१३।

मुकर्जी, राधा कुमुद : 'लोकल गवर्नमेंट इन इन्शियंट इंडिया', ऑक्सफोर्ड, १९२०।

मुहम्मद, यासीन, सोशल हिस्ट्री ऑव इंडिया (१६०५–१७४८) लखनऊ, १९४८।

मेकॉलिफ़, मेक्स ऑर्थर : सिक्ख रिलिजन, इट्स गुरुज, सैक्रेड राइटिंग्ज, एण्ड ऑथर्स', ६ जिल्दें, ऑक्सफोर्ड, १९०९।

मेजर, आर० एच० : 'इंडिया इन दि फिफ्टीन्थ सेंचुअरी' (हक्लुयत), लंदन, १८५७।

मोरलैंड, डब्ल्यू० एच० : 'इंडिया ऐट दि डेथ ऑव अकबर—ऐन इकोनॉमिक स्टडी', लंदन, १९२०।

मोरलैंड : 'एग्रेरियन सिस्टम्स ऑव मोस्लेम्स इन इंडिया' लंदन।

यजदानी : 'एपिग्राफिया इन्डो-मोस्लेमिका (१९१३-१४), कलकत्ता, १९१७।

यहिया बिन अब्दुल्ला : 'तारीख-ए-मुबारकशाही' प्रयाग-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में फारसी हस्तलिखित प्रति; यदुनाथ सरकार की प्रति की प्रतिलिपि। गायकवाड़ ओरीएन्टल सीरीज में प्रकाशित।

यूल, कर्नल हेनरी : 'कथे एण्ड दि वे यिदर, बिइंग ए कलेक्शन ऑव मेडीवल नोटिसेज ऑव चाइना', दो जिल्दें, लंदन, १८६६।

यूल, कर्नल हेनरी : 'ट्रैवल्स ऑव मार्को पोलो', दो जिल्दें।

रज्जाक, अब्दुर : 'मत्ला-उस-सादैन' (बाँकीपुर ओरियंटल लाइब्रेरी की हस्त-लिखित प्रति)

राजी, अमीन अहमद : 'हफ्त-ए-इक्लीम' (खुदाबख्श हस्तलिपि)।

राइट, डेनियल : 'हिस्ट्री ऑव नेपाल', कैम्ब्रिज, १८७७।

रानाडे, आर० डी० : 'हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी' जिल्द ७, पूना, १९३३।
राइस, एडवर्ड : 'हिस्ट्री ऑव कनारीज लिटरेचर'।
राइस बी०, लेविस : 'मादमोर एण्ड कुर्ग फ्रॉम दि इन्स्क्रिप्शन्स' (सरकार के लिए प्रकाशित), लंदन, १९०९।
राय सुजान : 'खुलासात-उत-तवारीख', खा० ब० मौलवी जफर हुसन द्वारा सम्पा०, दिल्ली।
राव, बी० एन० : 'एंशियंट हिन्दू डाइनेस्टीज (ऑव इंडिया), दो जिल्दें, बम्बई, १९२०।
रिज्ले, सर हर्बर्ट : 'दि पीपुल ऑव इंडिया' लंदन, १९१५।
रेनेल, जेम्स : 'मैम्वायर ऑव ए मैप ऑव हिन्दुस्तान', लंदन, १७९३।
रेनों, एम : 'ज्योग्रफी द अबोलफेदा', ४ जिल्दें, पेरिस, १८४८।
रेनॉल्ड्स जेम्स : 'किताब-ए-यमीनी'—उत्बी के इतिहास का अनुवाद।
रेवर्टी, मेजर एच० जी० : 'तबकात-ए-नासिरी—ए जनरल हिस्ट्री ऑव दि मुहम्मदन डाइनेस्टीज ऑव एशिया इन्क्लूडिंग हिन्दुस्तान'—मूल फारसी ग्रन्थों से अनूदित, दो जिल्दें, लन्दन, १८८१।
रैंकिंग जॉर्ज, एस० ए० तथा लो, डब्ल्यू० एच० : 'अल-बदाऊनी : ए ट्रांसलेशन ऑव 'मुन्तखब-उत्-तवारीख' ३ जिल्दें, कलकत्ता, १८९८।
राव, बी० एस० : 'दि हिस्ट्री ऑव विजयनगर' भाग १, मद्रास १९०५।
रॉस, डेनीसन : 'एन अरेबिक हिस्ट्री ऑव गुजरात', हाजी-उद-दबीर के 'जफर-उल-वालीह वि मुजफ्फर वालीह का अनुवाद, २ जिल्दें, लंदन, १९१०, १९२१।
ली, रेवरेंड सेमुएल : 'ट्रैवल्स ऑव इब्न बतूता—ट्रांसलेशन विद नोट्स लंदन १८२९।
लीस, मेजर : *'तबकात-ए-नासिरी ऑव मिन्हाज-उस्-सिराज',* जिल्द १ और २।
लेनपूल, स्टानली : 'मेडीवल इंडिया (दि स्टोरी ऑव दि नेशन्स सिरीज) लंदन, १९१०।
लेवी, सिलवाँ : 'ला थियेटर ऍदियान, पेरिस, १८९०।
लॉ, नरेन्द्र नाथ 'प्रोमोशन ऑव लर्निंग इन इंडिया अन्डर मुहम्मदन रूल, लन्दन, १९१६।
लौंगहर्स्ट, ए० एच० : 'हाम्पी रूइन्स', सनमद्रास, १९१७।
विलियम्स, एल० एफ० रशब्रुक : 'एन एम्पायर बिल्डर ऑव दि सिक्सटीन्थ सेंचुरी', लौंगमैन्सग्रीन एण्ड कं०, लंदन, १९१८।

विलियम्स, मोनियर : 'हिन्दूइज्म', लंदन, १८७७।

वेस्टकॉट, जी० एच० : 'कबीर एण्ड दि कबीर पंथ', कानपुर, १९०७।

वैद्य, चिंतामणि विनायक : 'हिस्ट्री ऑव मेडीवल हिन्दू इंडिया', ३ जिल्दें, पूना, १९२१-२४।

सखाओ, डॉ० एडवर्ड सी० : देखिए 'अलबरूनी'।

सरकार, जदुनाथ : 'चैतन्यज लाइफ एण्ड टीचिंग्स' ('चैतन्यचरितामृत' से) कलकत्ता, १९२२।

सरकार, जदुनाथ : 'चैतन्यज पिलिग्रिमेजेज एण्ड टीचिंग्स', कलकत्ता, १९१३।

सरकार, जदुनाथ : 'हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, बेस्ड ऑन ओरिजनल सोर्सेज', ४ जिल्दें, कलकत्ता, १९२०।

सरकार, जदुनाथ : 'स्टडीज इन मुगल इन्डिया', कलकत्ता, १९१९।

सिकन्दर, बिन मुहम्मद : 'मीरात-ए-सिकन्दरी' फारसी हस्तलिपि।

सीरत-ए-फिरोजशाही : (बाँकीपुर ओरियंटल लाइब्रेरी की हस्तलिपि), यह एक दुर्लभ तथा अमूल्य समसामयिक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार का नाम ज्ञात नहीं होता।

सीवेल, रॉबर्ट : 'ए फॉरगौटन एम्पायर (विजयनगर)—ए कान्ट्रिब्यूशन टू दि हिस्ट्री ऑव इंडिया', लंदन, १९००।

सीवेल, रॉबर्ट : आर्किऑलोजिकल सर्वे ऑव सदर्न इंडिया', २ जिल्दें, मद्रास १८८४।

सीवेल, रॉबर्ट : 'लिस्ट्स ऑव एन्टिक्विटीज ऑव मद्रास', दो जिल्दें, मद्रास, १८८४।

सेन, राय साहब दिनेशचन्द्र : 'हिस्ट्री ऑव दि बँगाली लैंगुएज एण्ड लिटरेचर'। कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९११।

सेन, राय साहब दिनेशचन्द्र : 'दि वैष्णव लिटरेचर ऑव मैडीवल बेंगाल,' कलकत्ता-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९१७।

सेल, जॉर्ज : 'दि कोरान, कॉमनली कॉल्ड दि अल-कोरान ऑव मुहम्मद' लंदन, १८४४।

स्कॉट : 'फिरिश्ता-रचित हिस्ट्री ऑव दि डेकन' ४ जिल्दें, श्यूसबरी, १९१७।

स्टाइन एम० ए० 'कल्हण राजतरंगिणी, ट्रांसलेशन विद् ऐन इन्ट्रोडक्शन, कमेन्टरी एण्ड ऐपेन्डिसेज', ४ जिल्दे, वेस्ट मिनिस्टर १९००।

स्टीफन, कार : 'दि ऑर्किऑलॉजी एण्ड मोनुमेंटल रिमेन्स ऑव देल्ही', शिमला, १८७६।

स्टुअर्ट, चार्ल्स : 'दि हिस्ट्री ऑव बेंगाल, फ्रॉम दि फर्स्ट मुहम्मदन इनवेजन अन्टिल दि वर्चुअल कौंक्वेस्ट ऑव दैट कन्ट्री बाइ दि इंगलिश', ए० डी० १७५७, कलकत्ता, १९०३।

स्मिथ, विन्सेंट ए० : 'ए हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इंडिया एँण्ड सीलोन', ऑक्सफोर्ड, १६११।
स्मिथ, विन्सेंट ए० : 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया', ऑक्सफोर्ड, १६२०।
स्मिथ, विन्सेंट ए० : 'दि अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया फ्राम ६०० बी० सी टु दि मुहम्मदन कौंक्वेस्ट इन्क्लुडिंग दि इनवेजन ऑव एलैक्जेन्डर दि ग्रेट', ऑक्सफोर्ड, १६२४।
शर्फुद्दीन का 'जफरनामा' : (बिब्लि० इन्डि० सिरीज) कलकत्ता।
शारदा, हर विलास : 'अजमेर हिस्टोरिकल एण्ड डिस्क्रिप्टिव' अजमेर, १६११।
शारदा, हर विलास : 'महाराणा कुम्भा : सॉवरेन, सोल्जर, स्कॉलर'—अजमेर, १६१७।
शाह, दि रेवरेंड अहमद : 'दि बीजक ऑव कबीर' अँग्रेजी अनुवाद हमीरपुर, १६१७।
शिब्ली, नुमानी : 'शेर-उल-अजम', अलीगढ़, १३२४ हिजरी।
शुक्ल, रामचन्द्र : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।
शेरवानी : 'महमूद गावान'।
हन्टर, (दि) इम्पीरियल गजेटियर ऑव इन्डिया : 'दि इंडियन एम्पायर', जिल्द २, ऐतिहासिक, नया संस्क०, ऑक्सफोर्ड, १६०८।
हबीब, मुहम्मद : 'महमूद ऑव गजनीन', बम्बई, १६२७।
हाजी-उद्-दबीर : देखिए 'राम डेनीसन'।
हुसैन वहीद : 'एँडमिनिस्ट्रेशन ऑव जस्टिस ड्यूरिंग मुस्लिम रूल इन इंडिया', कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १६३४।
हेग, सर वोल्सले : 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया' भा० ३, कैम्ब्रिज, १६२८।
हैवेल, ई० बी० : 'ए हैंडबुक ऑव इंडियन आर्ट' लंदन, १६२०।
हैवेल, ई० बी० : 'एन्शियंट एण्ड मेडीवल आर्किटेक्चर ऑव इंडिया', लंदन, १६१५।
हैवेल, ई० बी० : 'इंडियन आर्किटेक्चर', लंदन, १६१३।
हैवेल, ई० बी० : 'हिस्ट्री ऑव आर्यन रूल इन इंडिया', लंदन, १६१८।
होगर्थ, डी० जी० : 'ए हिस्ट्री ऑव अरेबिया' आक्सफोर्ड, १६२२।
होवर्थ, हैनरी, एच० : 'हिस्ट्री ऑव दि मॉगोल्स फ्रॉम दि नाइन्थ टु दि फोर्टीन्थ सेंचुरी', ४ भाग, लंदन, १८४०।
ह्यूज, टी० पी० : 'डिक्शनरी ऑव इस्लाम' लंदन, १८८५।
हाइटवे, आर० एस० : 'दि राइज ऑव दि पोर्चुगीज पावर इन इंडिया' (१४६७-१५५०), वेस्ट मिनिस्टर, १८६६।

सम्मतियाँ और समालोचनाएँ

१—उत्तर-प्रदेश के भूतपूर्व गवर्नर तथा प्रयाग-विश्वविद्यालय के भू० पू० चान्सलर हिज ऐक्सिलेंसी सर विलियम मॉरिस के प्राइवेट सेक्रेटरी का पत्र :

'सर विलियम मॉरिस ने मुझे निर्देश किया है कि मैं आपको अपनी 'भारतीय मध्यकाल का इतिहास' पुस्तक की एक प्रति कृपापूर्वक उनके पास भेजने के लिये धन्यवाद दूँ, जो (पुस्तक) उनकी दृष्टि में लेखक तथा प्रयाग विश्व-विद्यालय के इतिहास-विभाग दोनों को गौरव प्रदान करती है। चान्सलर महोदय को इसमें संदेह नहीं है कि यह पुस्तक भारतीय इतिहास के मध्यकाल के ज्ञान का प्रसार करने में, जो इसका विषय है, बहुमूल्य कार्य करेगी।

२—प्रो० ए० बी० कीथ, ऍम० ए० ; डी० सी० एल० डी० लिट्; एडिनबरा विश्व-विद्यालय :

मुझे यह रचना उस उद्देश्य के लिये सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होती है, जिसको पूर्ण करने के लिए यह प्रस्तुत की गई है। यह (पुस्तक), ज्ञान का दृढ़ आधार प्रदान कर जिस पर विद्यार्थी आगे गवेषणाओं में प्रवृत्त हो सकते हैं अपने चुने हुए काल का सम्यक् विवेचन करती है और मैं ऐसे और किसी ग्रन्थ को नहीं जानता जो इस उद्देश्य की इसी परिमाण में पूर्ति करता हो। इसमें कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं जिन पर आपके विचार आलोचना के विषय प्रतीत होते हैं, परन्तु यह बात तो किसी भी इतिहास में अनिवार्य है और आपके मतों की सामान्य पुष्टता प्रामाणिक एवं प्रशंसनीय है।

३—प्रो० मार्गोलिओथ, ऍम० ए०, डी० लिट्०, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय :

'मध्यकालीन भारत' पर आपकी शानदार रचना (है)। इसमें जिस काल का वर्णन है, वह सार्वाधिक महत्व का है।.....आपकी कृति (प्रथम संस्करण) के पढ़ने में मुझे अत्यधिक आनन्द और लाभ पाने की आशा है।

४—महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा, एम० ए०, डी० लिट्०, एल० एल० डी०, भूतपूर्व वाइस चान्सलर, प्रयाग विश्वविद्यालय :

मैं इतना इतिहासज्ञ नहीं हूँ कि इस कृति के गुणों की समीक्षा कर सकूँ; परन्तु मुझे प्राचीन ग्रन्थों से काम लेने का इतना ज्ञान अवश्य है कि मैं आपके परिश्रम और इससे भी अधिक, अपनी सामग्री को एकत्र करने में उसका समझ-बूझ के साथ तथा सर्वाधिक उपयोगी ढंग से प्रयोग करने में आपकी ईमानदारी की प्रशंसा कर सकता हूँ। मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ (भविष्य में) आपकी

तीव्र लेखनी से (जन्म लेनेवाले) और अनेक ग्रन्थों का पूर्वगामी मात्र बनने-वाला है।

५—प्रो० जदुनाथ सरकार, एम० ए०, सी० आई० ई०, कलकत्ता-विश्वविद्यालय के भूतपूर्व वाइस चान्सलर, कलकत्ता-विश्वविद्यालय :

मैंने आपका सुलिखित एवं सुन्दर ढग से मुद्रित 'भारतीय मध्यकाल का इतिहास' सधन्यवाद प्राप्त किया। इसमे विषय के उन पक्षों पर बल दिया गया है जिनको साधारण इतिहास छूते ही नहीं या केवल हल्के ढग से चित्रित कर देते हैं।

६—प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, लखनऊ विश्व-विद्यालय :

मध्य-युगीन भारत पर आपका चिरस्मरणीय ग्रन्थ . . . .। भारतीय इतिहास के इस धूमिल काल पर एक विद्वत्तापूर्ण कृति की बहुत समय से आवश्यकता थी और मुझे प्रसन्नता है कि इस आवश्यकता की पूर्ति का कार्य एक भारतीय विद्वान् के लिये ही छूटा था . . . इस पुस्तक के सूक्ष्म अध्ययन ने आपकी भारतीय इतिहास के क्षेत्र मे मौलिक एव उच्चकोटि के कार्य की क्षमता के विषय मे मेरी सम्मति को और भी पुष्ट कर दिया है।

७—'दि लीडर', प्रयाग :

प्रो० ईश्वरीप्रसाद की पुस्तक उस सामग्री के विवेचनात्मक अध्ययन का फल है, जिसका भारतीय-इतिहास के लेखक सामान्यतः उपयोग नही करते और (यह पुस्तक) कॉलिज के विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक तथा इस विषय मे विशेष अध्ययन के इच्छुक (विद्यार्थियो) के लिये मार्ग-दर्शक, इस दोहरे उद्देश्य की पूर्ति करती है।

८—जनरल ऑव दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑव ग्रेट ब्रिटेन :

मि० ईश्वरीप्रसाद ने, जो भारत मे मध्यकाल को पानीपत के प्रथम युद्ध तक ले गए हैं, अपने विषय का विस्तृत विवेचन किया है और हमे उन मुसलमान वंशों का बहुमूल्य वर्णन दिया है, जिन्होंने आठवी शती के प्रारम्भिक दिनों मे सिन्ध पर अरबों की विजय से लेकर तैमूर-वंशीय बाबर द्वारा लोदी-वंश के पराभव तक भारत पर प्रभुत्व बनाए रखा। सब मिलाकर, उनकी कृति का विशेष गुण है वह विवेचनात्मक शक्ति और पुष्ट निर्धारण-शक्ति जिसे हम प्रयाग विश्व-विद्यालय के इतिहास-विभाग के साथ सम्बद्ध करते हैं, जहाँ इतिहास का अध्ययन और लेखन उन विवेचना-शून्य इतिहासकारों से बहुत भिन्नदृष्टि से किया जाता है, जिनके पृष्ठों को इतिहासकारों को अपने अधिकांश तथ्यो के लिए टटोलना पड़ता है।

इस पुस्तक का सर्वाधिक बहुमूल्य भाग कदाचित् वह है जिसमें प्रारम्भिक (मुस्लिम) विजयों के समय भारत की दशा का तथा विजेताओं और भारत मे मुस्लिम-इतिहास के प्रारम्भिक काल के लगभग सभी महत्तर व्यक्तियों की उपलब्धियों एवं चरित्रो का वर्णन किया गया है। महमूद गजनवी का वर्णन तथा मूल्यांकन विचारपूर्ण एव पक्षपात से सर्वथा शून्य है।

९—दि अमेरिकन हिस्टॉरिकल रिव्यू :

लेखक ने मौलिक तथा आनुषगिक, दोनो प्रकार की सामग्रियों का विस्तृत उपयोग किया है और अपनी सामग्री को स्वतत्र एव विचारपूर्ण ढग से प्रस्तुत किया है। यह (पुस्तक) भारतीय कॉलेजो के अडर ग्रेजुएटों के लिये सदर्भ-ग्रन्थ का अच्छा काम देगी, जो कि इसका प्रस्तावित उद्देश्य है।

१०—दि हिस्ट्री :

मध्य-कालीन भारत के इतिहास की सुन्दर पर्यालोचना करनेवाली पुस्तक एक अत्यावश्यक कृति है। एल्फिन्स्टन की (कृति) पुरानी पड गई है; लेनपूल की बहुत हल्की है; जिससे कि मि० ईश्वरीप्रसाद के 'भारतीय मध्य काल का इतिहास' जैसे ग्रन्थ के लिये पर्याप्त स्थान है और हम समझते है कि यह बहुतों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। वर्णन पर्याप्त रूप से विस्तृत हैं और ग्रन्थकार की सामान्य दृष्टि तर्क-सगत है।

११—दि जरनल ऑव इन्डियन हिस्ट्री :

मि० प्रसाद ने सचमुच ही सर हेनरी इलियट के अनुवादों का अपने पूर्ववर्ती लेखकों की अपेक्षा अधिक पूर्णतया उपयोग किया है और प्रतीत होता है कि उन्होंने मूल फारसी तथा अरबी ग्रन्थों का भी परिशीलन किया है। उन्होंने सामान्य पाठक के सामने वह सब सामग्री प्रस्तुत कर दी है जो अब तक बिखरी हुई थी और पुस्तक को आधुनिकतम बनाने का प्रयास किया है। उन्होंने एक पर्याप्त पूर्ण ग्रन्थ-सूची भी जोड़ दी है जो उन विद्यार्थियों के लिये सहायक होगी जिनकी रुचि विषय की और गहराई में प्रवेश करने की है। उनकी विद्वत्तापूर्ण एव विस्तृत टिप्पणियों ने तथा उपयुक्त मान-चित्रों एवं चित्रो ने पुस्तक के गुणों को और भी बढ़ा दिया है।

सब मिलाकर, यह पुस्तक इस विषय के पिछले लेखकों की कृतियो का यदि पूर्णतः स्थान ग्रहण नही करती, तब भी उनसे उत्कृष्ट अवश्य है और हम ऐसा उच्चकोटि का ग्रन्थ प्रस्तुत करने के लिये लेखक का हृदय से अभिनन्दन करते हैं।

१२—दि मॉडर्न रिव्यू :

एलिफस्टन का (भारतीय इतिहास का) दिग्दर्शन स्थायी गुणों के होते हुए भी आज पुराना पड़ गया है और लेनपूल का वर्णन, शानदार तो है ही, परन्तु आज अपर्याप्त प्रतीत होता है। मि० प्रसाद मुगल-काल से पहले के अंधेरे कक्षों को प्रकाशित करने के लिए आगे बढ़े हैं। उन्होंने अपने वर्णन को यथा-समय बुद्धि-ग्राह्य बनाने के लिये कोई परिश्रम उठा न रखा है और उनकी पुस्तक का हमारे कॉलेजों के अध्यापकों तथा विद्यार्थियों द्वारा स्वागत किया जाएगा।

हमारे ध्यान में इस पुस्तक की एक और विशेषता आती है। मध्यकालीन भारत का इतिहास सामान्यतः मुस्लिम-भारत के इतिहास का पर्यायवाची समझा जाता रहा है। ऐतिहासिक मतवादों में निश्चित विकृति का कारण यह तथ्य है कि मुस्लिम-भारत के बहुत कम इतिहासकार भारतीय इतिहास के समसामयिक हिन्दू-स्रोतों का उपयोग करने की योग्यता रखते थे या यहाँ तक कि वे (हिन्दू-स्रोतों के) अस्तित्व तक से अपरिचित थे। मि० ईश्वरीप्रसाद इस बात के लिए गौरव के न्यायोचित अधिकारी है कि उन्होंने इस्लाम-पंथियों की अनैतिहासिक आत्म-प्रशंसा को भेद दिया है और हमारे सामने भारतीय-मुस्लिम इतिहास का वह चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें विजित हिन्दू भी उतना ही महत्त्वपूर्ण भाग लेते है जितना कि विजेता मुसलमान। ग्रन्थकार को इस बात का श्रेय है कि उसने हिन्दू-भारत के इस्लामी-विजेताओं के प्रति पूर्णतः न्याय किया है।

१३—दि न्यू इण्डिया :

एक विद्वत्तापूर्ण कृति है, जिसके लिये ग्रन्थकार का अभिनन्दन किया जाना चाहिये। यह पिछली कृतियों से निश्चित ही परिष्कृत है। वर्णन की पूर्णता, ऐतिहासिक तथ्यों का पक्षपात-रहित विवेचन, आलोचनात्मक-दृष्टि तथा सतुलित-निर्णय की क्षमता, जिसका लेखक ने अपनी कृति में उपयोग किया है, ये सब बातें इस कृति को भारतीय इतिहास के सभी प्रेमियों की प्रशंसा का विषय बनाती है।

१४—दि हिन्दुस्तान रिव्यू :

जहाँ तक हम जानते हैं, अब तक अन्य किसी पुस्तक में मध्य-काल में भारतीयों की राजनीतिक संस्थाओं तथा सामाजिक एवं साहित्यिक प्रगति का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया था। मुस्लिम-संस्कृति के विषय में ग्रन्थकार का सहानुभूतिपूर्ण विवेचन भारतीय-इस्लामी सभ्यता के इतिहास के लिये एक महत्त्वपूर्ण देन है, और इसका महत्त्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि यह उच्च-कोटि के प्रमाणों पर आधारित है। सब बातों पर विचार करने

पर (प्रतीत होता है) कि ६५० पृष्ठों का यह ग्रन्थ भारतीय इतिहास में एक प्रशंसनीय देन है और यह सोचकर बहुत हर्ष होता है कि एक भारतीय विद्वान् हमारे ऐतिहासिक-साहित्य में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अभाव की पूर्ति करने में समर्थ हुआ है।

१५—दि हितवाद :

विद्वान् एवं उत्साही ग्रन्थकार ने प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों का उपयोग किया है और मध्य-काल का रोचक एवं हृदयग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है। मध्यकालीन-भारत के इतिहास का सही-सही तथ्यपूर्ण एवं सहानुभूतिपूर्ण तथा सुपाठ्य वर्णन करनेवाली एक सर्वाङ्गपूर्ण कृति के अभाव की पूर्ति करने के लिये मि० प्रसाद भारतीय-इतिहास के विद्यार्थियों की प्रशंसा और अभिनन्दन के पात्र हैं। पुस्तक की छपाई-सफाई सुन्दर है और उचित चित्रों से युक्त है।

१६—प्रो० डी० एस० मार्गोलिओथ, ऑक्सफोर्ड :

कृपया अपने 'भारतीय मध्यकाल का इतिहास' के तीसरे संस्करण के लिये, जो अब एक प्रामाणिक ग्रन्थ बन गया है, मेरे धन्यवाद स्वीकार करें।

१७—प्रो० एफ० जे० सी० हर्नशॉ, लंदन विश्वविद्यालय :

यह (ग्रन्थ) स्पष्टतः भारतीय इतिहास के अज्ञात स्रोतों की परिश्रम-साध्य गवेषणाओं का फल है। मुझे आशा है इस ग्रन्थ से भारतीय विद्यार्थियों तथा इँगलैंड के विद्यार्थियों का भारत विषयक ज्ञान बढ़ेगा।

१८—रिव्यू ईस्तोरीक, पेरिस :

ग्रन्थ पूर्णतः ठोस सामग्री पर आधारित, स्पष्ट और सुलिखित है और बहुत प्रशंसित होगा।

१९—सर डेनिसन रॉस :

आपका प्रशंसनीय 'भारतीय मध्य-काल का इतिहास'। मुझे यह देखकर प्रसन्नता होती है कि आपको इसमें इतनी सफलता मिली है। यह सफलता जितनी असाधारण है, उतने ही आप उसके पात्र हैं।

२०—सर शाह मुहम्मद सुलेमान :

आपकी उत्कृष्ट कृति बहुत खोजों, विद्वत्ता तथा [illegible] है और निस्संदेह इस काल पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

२१—सर तेजबहादुर सप्रू :

मुझे यह (ग्रन्थ) बहुत रोचक और [illegible]

है मैं उस काल के हिन्दू-समाज के विषय में आपके कुछ मतों का उपयोग कर सकूँगा।

२२—प्रो० ई० कंवेगन्याक् स्ट्रासबर्ग विश्वविद्यालय :

आपका मध्यकालीन भारत का उत्कृष्ट इतिहास। मध्यकालीन-भारत के इतिहास के विद्यार्थी इसे अत्यधिक उपयोगी पाएँगे।

२३—खान बहादुर हाफिज हिदायत हुसैन :

आपका विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ प्रयाग-विश्वविद्यालय के गौरव का विषय है। आपने मुसलमान-इतिहास के प्रमुख पक्षों का सही, विवेचन युक्त एवं सहानुभूतिपूर्ण ढग से वर्णन किया है। पुस्तक इतिहास के उच्च-स्तर के विद्यार्थियों तथा सामान्य पाठकों के लिये निश्चित रूप से लाभदायक सिद्ध होगी।

२४—हेनरी डॉडवेल, प्रोफेसर, लंडन-विश्वविद्यालय :

मुझे आपका 'भारतीय मध्यकाल का इतिहास' बहुत उपयोगी लगा और मैंने अपने लोगों से इसकी सिफारिश की है, यद्यपि मैं चरित्रों के आपके सभी मूल्यांकनों से सहमत नहीं हो पाता हूँ; परन्तु ये तो ऐसी बातें है जिन पर व्यक्ति-व्यक्ति के मत में भिन्नता निश्चित है।

पृथ्वीराज चौहान

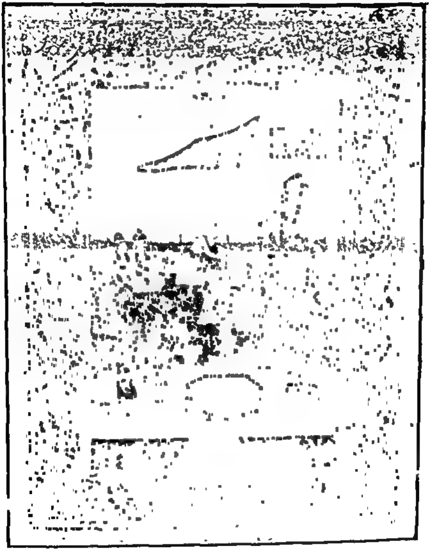

कैकुबाद का दर्बार

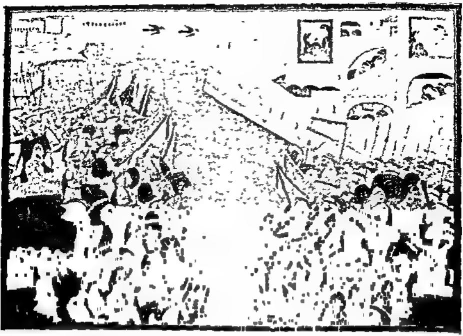

युद्ध के लिए सुसज्जित दिल्ली और रणथम्भौर की सेनाएँ

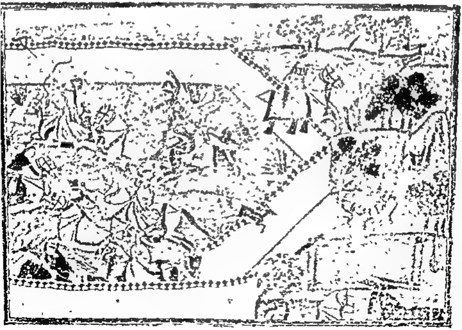

अलाउद्दीन अपनी बेगमों के साथ शिकार पर

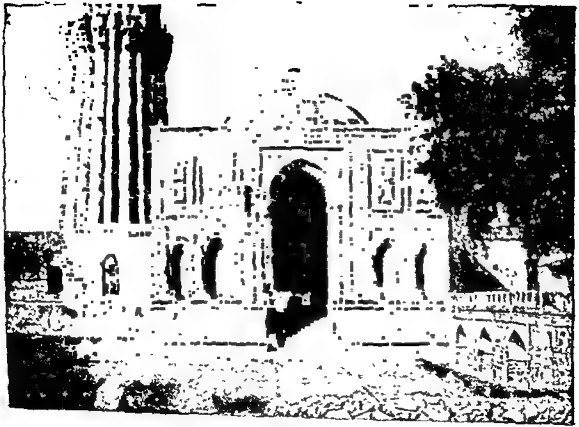

अलाई दरवाजा

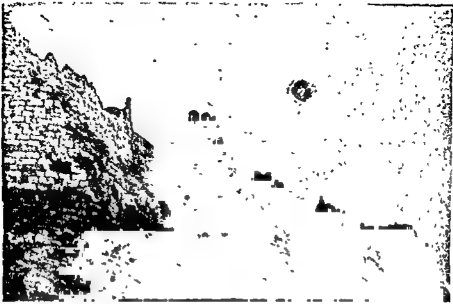

तुगलकाबाद के किले की दीवार

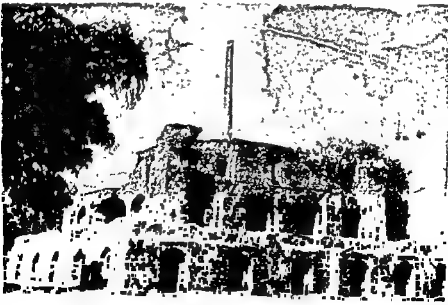

फीरोजशाह कोटिला

तैमूरलंग

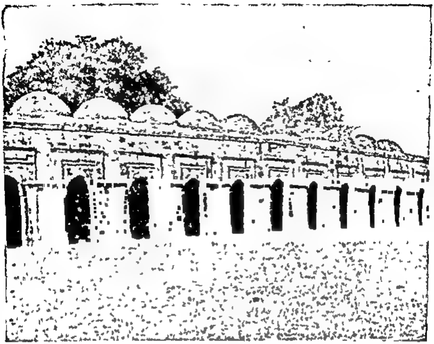

वड़ा सोना मसजिद—गौड़, मालदा

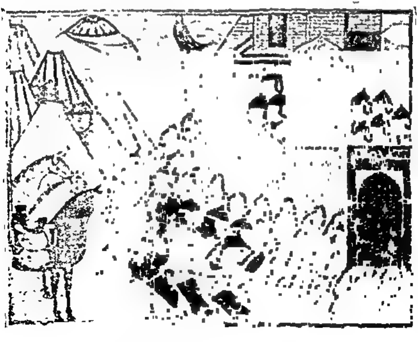

मंगोलों के घेरे का दृश्य

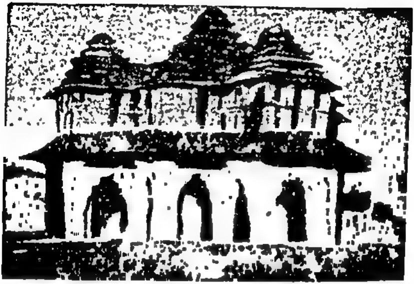

विजयनगर का कौंसिल चेम्बर

बीदर का किला

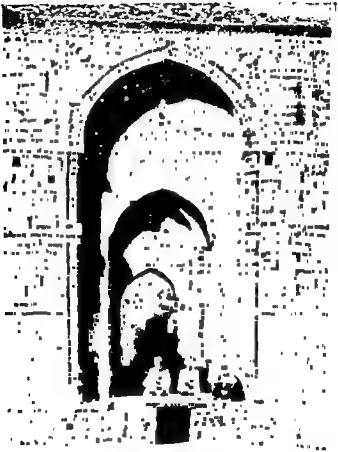

इल्तुतमिश की कब्र—दिल्ली

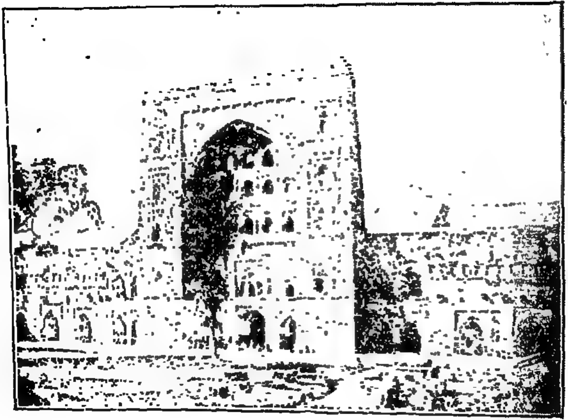

अटाला मसजिद—जौनपुर

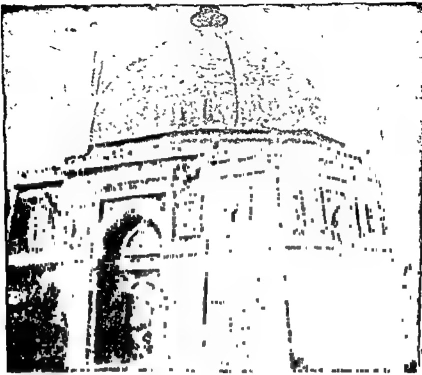

तुगलकशाह का मकबरा

दौलताबाद का किला

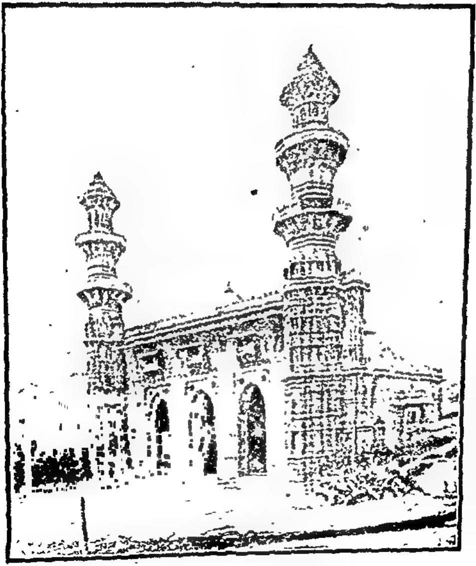

मुहाफिज खाँ की मस्जिद—अहमदाबाद

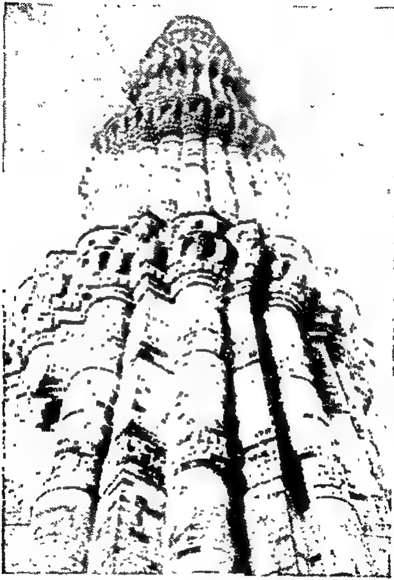

कुतुब मीनार—दिल्ली

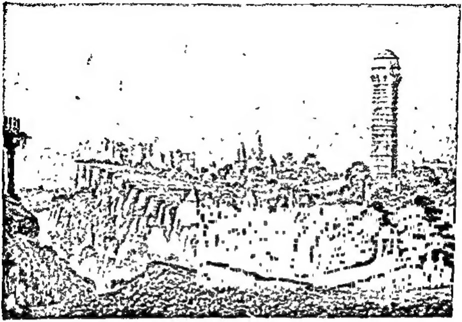

चित्तौर का किला

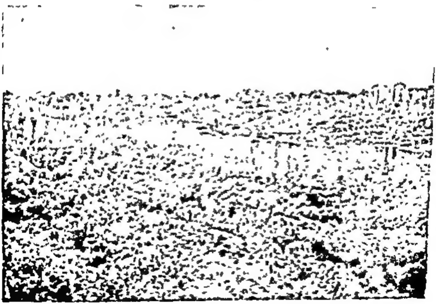

रणथम्भोर का किला